प्रकाशक
रघुनाथप्रसाद सिंहानिया
७३ए, चासाधोवापाड़ा स्ट्रीट,
कलकत्ता ।

मुद्रक
भगवतीप्रसाद सिंह
न्यू राजस्थान प्रेस
७३।ए, चासाधोवापाड़ा स्ट्रीट,
कलकत्ता ।

समर्पण

श्रद्धास्पद शिवप्रसादजी सराफ

डाक्टर लक्ष्मीप्रसाद चौधरी

और

मित्रवर राधाकृष्ण टीबड़ेवाला

इन तीनों स्वर्गीय आत्माओं की प्रेरणा, संसर्ग और प्रोत्साहन से ही हिन्दी लिखने-पढ़ने में मेरी प्रवृत्ति हुई, जिसके कारण ही मैं आज समाज की सेवा में यह ग्रन्थ उपस्थित करने में समर्थ हुआ।

अतएव

उन्हीं के आशीर्वाद, शुभ कामना और प्रोत्साहन का

यह फल

मैं अत्यन्त विनम्र होकर उन्हीं की पवित्र स्मृतियों को

सादर-सप्रेम

समर्पित करता हूँ।

—बालचन्द मोदी

प्रकाशक की ओर से

हिन्दू जाति अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को लेकर आज भी दुनियाँ में कायम है और उसी को सुदृढ़ करने एवं चरम विकास प्राप्त करने की साधना अब उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसीलिये लोगों की अभिरुचि इतिहास की ओर अनायास ही झुकती जा रही है, क्योंकि इतिहास के गहन मनन और अध्ययन से राजनीति एवं राज-नीति के शान्त विवेचन से सिद्धान्त बनते हैं। ऐसे सिद्धान्त ही जातीय जीवन को दृढ़ एवं उन्नत बनाते हैं। यदि उनका सदुपयोग हुआ और यदि ऐसा न हुआ तो पतन निश्चित है।

हिन्दू समाज जिन सिद्धान्तों को अपना कर अपनी सर्वतोमुखी उन्नति कर सका था, सहसा उन्हें ही छोड़ या उनके गलत प्रयोग से पतन की तरफ खिसका। इसलिये वर्तमान जागरित युग में अब यह जरूरी है कि प्रत्येक हिन्दू अपनी सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के आधार पर जाति एवं राष्ट्रहित की साधना करे और यह तभी सम्भव है, जब वह अपनी मौजूदा परिस्थिति की छानबीन के लिये गंभीरता पूर्वक जातीय एवं राष्ट्रीय इतिहास का सही-सही अध्ययन करे।

हमारे यहाँ का हर तरह का इतिहास दैव दुर्विपाक से कुछ ऐसा ही उलट-पुलट गया है कि, बिना शुद्ध बुद्धि और एकान्त साधना के सही जाँच संभव नहीं। इसी लिये बारीक मानव-चरित्र पर अब पूरी जिम्मेदारी से प्रकाश डाल कर नये सिरे से ही इतिहास लिखना होगा। इसी पवित्र उद्देश्य को सामने रख कर वर्षों के परिश्रम और अनुभव से लेखक ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया है और हमने बहु-धन खर्च करके सर्व प्रथम अपना जातीय इतिहास प्रकाशित करना इसलिए

चाहा है कि, भारतीय अधुना प्रगति में हमारी जाति का खासा हाथ रहा है और है। इसलिए राष्ट्रहित में जो कुछ भी जातीय गड़बड़ी है या भ्रमवश सम्भव है उसे विना दूर किये हमारा कोई भी ध्येय पूर्ण नहीं होगा। इसी यथार्थ ध्येय की मर्यादा-पुष्टि एवं कर्त्तव्य वोध के लिये यह जरूरी था कि, भविष्योन्नति के लिये मारवाड़ी युवक समाज को भले प्रकार जातीय इतिहास का सूक्ष्म ज्ञान कराया जाय और व्यावहारिकता के आधार पर समझाया जाय कि, राष्ट्र के लिये वे कैसे ढंगों पर अपना जातीय जीवन गढ़ें।

भारतीय इतिहास में राजपूताना का स्थान सर्व विदित है। वहाँ के निवासियों का देश और जाति-प्रेम, संस्कृति-मोह एवं देश-जाति के लिए प्राणोत्सर्ग की दिव्य भावना, त्याग, परोपकार-वृत्ति, गुणग्राहकिता आदि की कथा-कहानियाँ सर्व-श्रुत और सर्व-कथित है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ में जातीय दृष्टिकोण का आरम्भ वहु जन हिताय वहीं से हुआ है। उसके वाद जाति के दिवंगत एवं मौजूदा कर्णधारों का विस्तृत-परिचय, कार्य-क्षेत्र का सच्चा वर्णन, विकास, उत्थान और पतन का मार्मिक कथन देकर उपस्थित परिस्थिति में जाति को जगाने का प्रयत्न है। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं साहित्यिक आदि चतुर्दिक फैलाव में हमारी जाति ने कव-कव क्या किया, क्या कर रही है और क्या करना चाहिये आदि जरूरी वातों का सुझाव देकर यथाशक्ति इतिहास-धर्म का पालन करने के वाद इसमें राजनीतिक जरूरतों की तरफ भी जाति का ध्यान खींचा गया है। क्योंकि, इस समय संसार में जो कुछ घट रहा है और जिस तेजी से उसमें तब्दीलियां हो रही हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा एक भी आदमी नहीं जिसका इच्छा या अनिच्छा से राजनीति से संपर्क न हो। अतएव दृढ़तापूर्वक, दृढ़-संकल्प एवं अर्थोपार्जन के साथ अपनी जाति एवं देशहित के लिये हमें किस तरह राजनीति समझने और वर्तने की जरूरत है, इस इति-

हास-ग्रन्थ का यह बताना भी एक खास उद्देश्य है। साथ ही कर्त्तव्य-बोध के अभाव में कर्त्तव्य-पालन के लिये भी प्रशंसावाला जो बेसुरा सुर इस समय देशव्यापी हो उठा है, उसे समझाने की कोशिस भी हुई है। विशिष्ट व्यक्तियों का आवश्यक परिचय, कार्यालोचना देकर प्रत्येक मारवाड़ी नवयुवक को कर्त्तव्य-पालन के लिये उत्साहित करने की प्रबल इच्छा से ही प्राप्त सभी योग्य व्यक्तियों के चित्र भी दे दिये हैं।

अनुभवी और वयोवृद्ध लेखक ने अपने भावों और विषयों का वर्णन करने में जो ढंग अख्तियार किया है, वह उनका खास अपना है। सारा का सारा ग्रन्थ व्यावहारिक अनुभव और मौलिक बिचारों के आधार पर लिखा गया है। यद्यपि लेखक वर्तमान कालेजों की डिग्रियों से विभूषित विद्वान् नहीं हैं तथापि अपने सहज और व्यावहारिक ज्ञान से उन्होंने जिस उत्तम ढंग से इस ग्रन्थ को लिखा है, यह उनकी प्रखर बुद्धि और अध्यवसाय का ज्वलंत प्रमाण है। इसे लिखने में उनके व्यावहारिक ज्ञान, अनुभूत सिद्धान्त, आँखों देखी घटनायें और उनसे उत्पन्न हुई वेदना ने उनका बहुत साथ दिया है। समाज की वर्तमान स्थिति को देख कर लेखक के हृदय में समय समय पर जो वेदना उत्पन्न हुई है, वह प्रत्येक अध्याय में प्रत्यक्ष हो जाती है। यह वेदना ही उन्हें इस रूप में यह ग्रन्थ लिखने में समर्थ बना सकी है।

समाज अपनी इस संकटापन्न परिस्थिति में इस इतिहास-ग्रन्थ का मनन और अध्ययन करके अपने भावी जीवन के निर्माण की तरफ अग्रसर हो—इसी पवित्र भावना से हमने इस इतिहास-प्रकाशन के भार को अपने ऊपर लिया है। यदि समाज ने इस ग्रन्थ से लाभ उठाया और हमें उत्साहित किया तो, हम जातीय जीवन को संपूर्ण सुखमय बनानेवाले सभी तरह के तथ्यों का सच्चा संग्रह निरूपण करने में अवश्य दत्तचित्त होंगे।

हमें विश्वास है कि, मारवाड़ी समाज हमारे इस प्रयत्न को ध्यान से देखेगा और लाभ उठावेगा। साथ ही इसी तरह जातीय सेवा करते रहने के लिए हमें सच्चा उत्साह भी देगा।

कलकत्ता,
विजया, १९९६

विनीत,
रघुनाथप्रसाद सिंहानिया

लेखक के दो शब्द

यह ग्रन्थ मारवाड़ी समाज की एक विनम्र सेवा है। सेवा-भाव से ही इसे लिखने का मैंने साहस किया और सेवा-भाव से ही आज मैं इसे समाज के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ। मैं न तो कोई सिद्ध-हस्त लेखक हूँ और न मुझ में वैसी कोई योग्यता ही है, जैसी कि, एक साहित्यिक ग्रन्थकार में होनी चाहिये। परन्तु यह समझ कर कि, समाज के सम्बन्ध में विचार करना समाज के प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार और पवित्र कर्त्तव्य है, मैंने यह प्रयास किया है। मेरी यह सेवा समाज के लिये सब प्रकार से शुभ एवं कल्याणकर हो, यही एक मात्र मेरी कामना है।

मारवाड़ी जाति के पूर्वेतिहास को जानने और इस ग्रन्थ के लिखने की भावना मेरे हृदय में किस समय और किस कारण से उत्पन्न हुई, इसका उल्लेख यदि मैं करूँ तो शायद अप्रासंगिक न होगा। विक्रमी संवत् १९५९ में जब कि मेरी अवस्था २२।२३ वर्ष की थी उस समय मुझे अपने जन्मस्थान चूरू से किसी कार्यवश बीकानेर और जोधपुर जाना पड़ा। उस यात्रा के समय मुझे बीकानेर में चांदमलजी ढड्ढा महोदय से मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ और जोधपुर में रावराजा तेजसिंहजी तथा चारण ऊमरदानजी के संसर्ग से कविराजा मुरारीदानजी, मुन्शी देवीप्रसादजी एवं महाराजा कर्नल सर प्रताप-सिंहजी के दर्शन हुए। इन महानुभावों के सम्मिलन से ही पहले-पहल मारवाड़ी जाति के महान् गौरवमय स्वरूप और उसके अमर इतिहास की ओर मेरा चित्त आकर्षित हुआ। यही कारण था कि, मैं दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक स्पष्ट रूप से यह अनुभव करने लगा

कि, मारवाड़ी समाज की संस्कृति, त्याग, बलिदान और मान-मर्यादा का इतिहास महान् है, पर आज मारवाड़ी समाज वैसा न रहा। किसी भी सहृदय मारवाड़ी के हृदय में इससे जो वेदना हो सकती है, वही मुझे हुई और इसी की उधेड़बुन में मेरा दिमाग चक्कर काटने लगा। इसी हालत में विक्रमी संवत् १९५९ में ही पहले-पहल मैं कलकत्ते आया और यहां स्थायी रूप से रहने लगा। अपने व्यवसाय में लगे रहने पर भी यथावकाश मैं इसी अनुसन्धान और विचार में लगा रहा। यहाँ के सामाजिक कार्यों में भाग लेने का मुझे पूरा अवसर मिला। नये ढंग की सभा सोसाइटियों में रह कर उनकी गति-विधि का अध्ययन भी किया। इससे मेरे हृदय पर यह बात और भी दृढ़ता से जम गयी कि, मारवाड़ी समाज आज अपने स्वरूप को भूला हुआ है। समाज अपने आपको जो कुछ समझता है या अन्य समाजों के लोग इसे जो कुछ समझते हैं, वह इसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। इसका अपना स्वरूप राजस्थान की वीरप्रसविनी भूमि के सन्तानों के अनुरूप है। परन्तु खेद है कि, मारवाड़ी समाज को आज उसका पता नहीं है। आज उसे यह मालूम नहीं है कि, राजस्थान में उसका क्या गौरव था, उसकी संस्कृति कैसी थी, कब उसके पूर्वज राजस्थान से चल कर अन्य प्रान्तों में गये, उस समय उनके क्या संस्कार थे, किन सद्गुणों के कारण वे ब्रिटिश भारत में अपनी महत्ता स्थापित कर सके, बंगाल में उनकी क्या व्यापारिक और राजनीतिक स्थिति रही, किस तरह इन दोनों क्षेत्रों में उन्होंने अपनी साख कायम की और धाक जमायी, आदि।

अपने पूर्व गौरव और स्वरूप की विस्मृति ही किसी भी समाज और देश के पतन का कारण होती है। अतएव यह आवश्यक था कि, मारवाड़ी समाज के उस गौरव और वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करानेवाला कोई ग्रन्थ होता। पर यह कार्य कौन करे? कोई

विद्वान् इस काम को हाथ में ले, यही मेरी उत्कट इच्छा थी। परन्तु अनेक वर्ष बीत जाने पर भी यह अभिलाषा पूरी नहीं हुई। अन्त में 'आप काम, महा काम' का अनुभव कर यह उत्तरदायित्व मुझे अपने ऊपर स्वयं उठाना पड़ा। सत्य-संकल्प की ही कोई ऐसी शक्ति है जिसने जैसे तैसे इसे पार भी लगाया, जिसके लिये मैं उन सर्व शक्तिमान् करुणानिधान परम पिता परमात्मा का कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करता हूँ।

इस ग्रन्थ में मारवाड़ी समाज का पूर्वेतिहास, उसकी परम्परा, संस्कृति और रीति-नीति शिक्षा सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन विचार तथा उसकी मीमांसा, विभिन्न प्रान्तों में उसका प्रवास और अपनी प्रतिष्ठा की स्थापना, बंगाल के इतिहास की चर्चा, विदेशियों का आगमन, ईष्ट इण्डिया कम्पनी के समय की विशद मीमांसा, मारवाड़ी समाज की पहले की और वर्तमान की अवस्था का दिग्दर्शन, उसकी गुण-दोष-मीमांसा, व्यापार के पुराने और नये तत्व, राजनीति और साहित्य सम्बन्धी विवेचन और समाज की भावी उन्नति के साधनों के सम्बन्ध में अपने विचार हैं।

वर्तमान और पहले की अवस्था सम्बन्धी गुण-दोष-मीमांसा करने में मैंने बड़े बूढ़ों के संग और अपने अनुभव, विचार तथा अध्ययन से काम लिया है। गुण-दोष-मीमांसा का काम एक तरह से बड़ा ही कठिन और अप्रिय काम है क्योंकि, इसमें व्यक्तियों का सम्बन्ध आता ही है और उनकी भी खरी आलोचना करनी पड़ती है। अवश्य ही मेरी यह चेष्टा रही है कि, इस काम में मुझ से कोई पक्षपात न हो। किसी प्रकार की कटुता भी न आने पावे। फिर भी अनजान में तथा विषय की गुरुता के कारण जहाँ कहीं भी ऐसी कटुता आई हो या किसी प्रकार का कोई दोष हुआ हो तो उसके लिये मैं सबका क्षमाप्रार्थी हूं। आलोचना

के खरेपन की रक्षा करते हुए जो सज्जन ऐसे दोषों और त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान दिलावेंगे, उनका मैं कृतज्ञ होऊँगा और ग्रन्थ का दूसरा संस्करण होने का अवसर आने पर उन्हें सुधारने की चेष्टा करूँगा। इसी प्रकार सामाजिक संगठन और उन्नति के साधन-संबंधी जो विचार मैंने सामने रखे हैं, उनके संबंध में भी यदि कोई सज्जन कुछ संशोधन सूचित करेंगे तो उनका भी कृतज्ञतापूर्वक पूरा एवं आवश्यक उपयोग किया जायगा।

इस ग्रन्थ के प्रधान रूप से आठ अध्याय हैं, जिनमें अनेक प्रकरण और उप-प्रकरण हैं। मैं यहाँ इन सबका प्रकरणशः विचार नहीं करूँगा क्योंकि, यह कार्य मेरे परम श्रद्धास्पद सहृदय मित्र पंडित लक्ष्मणनारायणजी गर्दे ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिख कर कर दिया है। उन्होंने इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ कर इस ग्रन्थ का जो सार और स्वरूप दिखाया है, उसके लिये मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। इसके अतिरिक्त श्रीयुक्त पंडित जी० एस० पथिक महोदय का भी बहुत कृतज्ञ हूँ जिन्होंने समय-समय पर विचार-विमर्श करने, विषयों का क्रम बाँधने और भाषा देख देने में बड़ी सहायता की है। मैं उनकी प्रेमपूर्ण सहायता का आभार मानता हूँ। यहाँ पर मैं पण्डित विष्णुदत्तजी शुक्ल महोदय के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मेरी लिखित कापी को पढ़ कर अपने उत्साह-वर्द्धक शब्दों द्वारा मुझे बल प्रदान किया। प्रियवर रघुनाथप्रसाद सिंहानिया को तो मैं क्या धन्यवाद हूँ, यही मेरी समझ में नहीं आता। यद्यपि उनका साथ पुस्तक छपने के समय ही हुआ तथापि इस अल्प समय में उन्होंने मुझे जैसा साथ दिया, उसे मैं नहीं भूल सकता। सच तो यह है कि, पुस्तक को छापने, प्रूफ आदि देखने और पुस्तक प्रकाशित करने में उन्होंने उत्साह के साथ जो भाग लिया है, वह अमूल्य है।

अब मैं उन पुस्तक-प्रकाशकों और लेखकों को भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके ग्रन्थों से मैंने इस पुस्तक के लिखने में सहायता प्राप्त की है। ऐसे ग्रन्थों के नामों का निर्देश संबंधित प्रकरणों में यथास्थान किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थों के नाम छूट भी गये हैं, मैं उन सब के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

अन्त में मैं उस मारवाड़ी समाज को विशेष रूप से धन्यवाद देता हूँ जो अपनी पूर्व संस्कृति और पूर्वैतिहास के गौरव से स्वयं ही धन्य है और जिसका भविष्य भी उज्ज्वल और धन्य होने का आश्वासन देता है। उसी दिव्य भविष्य को सामने रख कर पूर्ण आशा के साथ मैं अपनी यह तुच्छ भेंट उसकी सेवा में समर्पित करता हूँ। मुझे विश्वास है कि, मेरी यह सेवा समाज को स्वीकृत होगी।

मेरा निवेदन उन पाठकों से भी है जो मारवाड़ी नहीं हैं, वे देखेंगे कि, यह उनकी भी सेवा है। इस ग्रन्थ में मारवाड़ी समाज की सेवा का भाव विशेष रूप से होने पर भी हिन्दू मात्र की सेवा इसमें निहित है।

मंगलमय भगवान् सबका कल्याण करें, यही उनसे मेरी हार्दिक प्रार्थना है।

विनीत,

बालचन्द मोदी

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मारवाड़ी समाज के पूर्वेतिहास, संस्कृति और वर्तमान गति-विधि का पर्यालोचन है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मारवाड़ी समाज हिन्दू जाति का एक अंग है और इसलिये इसका इतिहास भी हिन्दू जाति के इतिहास का ही एक पहलू है। प्रस्तुत ग्रन्थ यह बतलाता है कि हिन्दू जाति के इतिहास में मारवाड़ी समाज का कौन-सा स्थान है। इसी दृष्टि से सर्वसाधारण हिन्दू इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे और मारवाड़ियों के लिये तो यह खास अपनी चीज है।

इस समय भारतवर्ष में मारवाड़ी समाज की जो प्रतिष्ठा है वह किसी अन्य समाज की प्रतिष्ठा से कम नहीं। हिन्दू जाति और राष्ट्र की आर्थिक सहायता की दृष्टि से तो यह समाज आज हीरे की तरह चमक रहा है। यह व्यापारी समाज है, इस पर लक्ष्मी प्रसन्न है। पर यह समाज अपने धन का उपयोग जिस उदारता के साथ देश-कार्य, धर्म-कार्य और भगवत्कार्य में किया करता है उसकी बराबरी और किसी समाज से नहीं करते बनती। यही धनसम्पन्नता और उदार दानशीलता मारवाड़ी समाज को अन्य सब समाजों की दृष्टि में गौरवान्वित किये हुई है। इन दो महान् गुणों के पीछे बहुत से अन्य गुण भी छिपे हुए हैं जिनके कारण ही मारवाड़ी समाज धनसंपन्न और दानशील है। मारवाड़ी समाज का व्यापारिक साहस, समय के रुख को परखने और अपना हिताहित समझने की उसकी

सहज बुद्धि, उसकी मितव्ययिता, उसकी सामाजिक एकता, उसका स्वाभिमान और सामाजिक भ्रातृभाव, अपनी आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कृति की रक्षा करने का उसका स्वभाव, अन्य प्रान्तों के लोगों के साथ हिलमिल जाने की उसकी क्षमता इत्यादि गुण ऐसे हैं जिनसे अन्य समाज भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। परंतु कोई भी समाज केवल गुणों से ही संपन्न नहीं होता, उसमें दोष भी होते हैं। किसी भी समाज का जीवन गुण-दोषों का ही द्वन्द्व होता है—जिस समय गुणों की वृद्धि होती है उस समय वह समाज उन्नति के रास्ते पर आगे बढ़ता है और जिस समय दोषों की वृद्धि होती है उस समय अवनति में धंसता जाता है। इतिहास मात्र ही इन्हीं गुण-दोष से होनेवाले उत्थान-पतन का विवरण होता है। इसलिये मारवाड़ी समाज के इतिहास में उन दोषों को सामने रखना आवश्यक हुआ जिनके कारण मारवाड़ी समाज में कुछ लक्षण उन्नति के विरुद्ध भी देख पड़ने लगे हैं। इसके साथ ही मारवाड़ी समाज पर समाज के बाहर से भी कुछ ऐसे आक्रमण होने लगे हैं जो समाज की सुस्थिति में चोट पहुंचा सकते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि एक बार पीछे फिर कर देखा जाय कि हमारा पूर्वेतिहास क्या है, उसमें किस संस्कृति और प्राणशक्ति की कथा वर्णित है, वे कौन से गुण हैं जिनसे हमारा सिर ऊंचा है और वे कौनसे दोष हैं जो हमें नीचे ढकेल सकते या ढकेल रहे हैं। यह ग्रन्थ जो आज सामान्यतः सब के और विशेषतः मारवाड़ी समाज के सम्मुख रखा जा रहा है, इसकी यही मनोभूमिका है।

इस मनोभूमिका के साथ यह ग्रन्थ लिखा गया है श्रीमान् बालचन्दजी मोदी के द्वारा जिनसे अधिक उपयुक्त लेखक ऐसे ग्रन्थ के, मेरे विचार में, दूसरे कोई नहीं हो सकते थे। इस विषय का उपोद्घात श्री बालचन्दजी ने आज से बीस वर्ष पहले 'अग्रवाल इतिहास

परिचय' नामक पुस्तक लिख कर किया था। गत ४० बरसों से इन्होंने मारवाड़ी समाज के पूर्वेतिहास का अनुसन्धान और मनन किया है, वर्तमान मारवाड़ी समाज के पूर्व पुरुषों के चरित्रों का अध्ययन करके समाज की संस्कृति, परंपरा और विशेषता को जाना है, मारवाड़ी समाज के सामाजिक और अन्य कार्यों में सदा ही भाग लेते रहे हैं, मारवाड़ी समाज की समस्याओं को इस तरह भलीभांति समझा है और पूर्वेतिहास, पूर्व परंपरा और सामाजिक विशेषता की दृष्टि से मारवाड़ी समाज के भावी कर्तव्यों का भी पूर्ण विचार किया है। इनकी अपनी लेखन-शैली है जिसका होना ही किसी लेखक को लेखक बनाता है। इनके विचार में मौलिकता भी है जिसके बिना ग्रन्थ ग्रन्थ नहीं होता। यह मौलिकता ऐतिहासिक प्रकरण में जितनी देख पड़ती है उतनी ही सामाजिक प्रकरणों में भी। इन सब बातों के ऊपर सबसे बड़ी बात यह है कि चाहे किसी विषय में लेखक के साथ किसी का मतभेद भी हो जाय तो भी ग्रन्थ को पढ़ते हुए यह तो साफ ही देख पड़ता है कि लेखक ने जो कुछ लिखा है वह सहृदयता, सत्यप्रियता और पक्षपातरहित विचारप्रियता से लिखा है और मुझे यह आशा है कि ऐसे अधिकारी पुरुष के द्वारा लिखा हुआ यह ग्रन्थ मारवाड़ी समाज के लिये और सामान्यतः सबके लिये ही उन्नति का एक अच्छा मार्गदर्शक होगा। पाठक यह देखेंगे कि पुस्तक में सर्वत्र ही मारवाड़ी समाज की सेवा के साथ साथ हिन्दुत्व की भावना प्रधान रूप से काम कर रही है।

मारवाड़ी समाज के मूल निवासस्थान राजपूताना के गौरवमय इतिहास के किंचित् वर्णन के साथ ही ग्रन्थ का आरंभ हुआ है और यह अल्पारंभ निश्चय ही क्षेमकर है; क्योंकि जो जाति यह स्मरण कर सकती है और इस स्मृति को बनाये रह सकती है कि हमारे पीछे उस वीरता का इतिहास है जिसका जगत् के इतिहास में कोई सानी नहीं,

जो जाति उस डिंगल साहित्य * को अपना जानती और अपनाये रह सकती है जिसके अक्षर काले नहीं बल्कि लाल हैं उस जाति के उज्ज्वल भविष्य के होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। राजपूताने की वीरता का इतिहास और साहित्य मुख्यतः क्षत्रियों का है, पर इस ग्रन्थ में पाठक यह देखेंगे कि, उन क्षत्रियों के साथ रहनेवाले अन्य वर्ण ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी उसी वीरप्रसविनी भूमि के संतान होने के कारण वीर ही थे, अपने अपने कर्म-क्षेत्र में उनकी वीरता भी उतनी ही दीप्ति के साथ दमक उठती थी, यही नहीं प्रत्युत युद्ध भूमि में भी क्षत्रियों के साथ वैश्यों और अन्य वर्णों ने भी क्षत्रियों के समान ही अतुल वीरता का परिचय दिया है। इसलिये राजपूताने के गौरवमय इतिहास का जितना अभिमान क्षत्रियों को हो सकता है और होना चाहिये उतना ही अन्य वर्णों को भी। ग्रन्थकार का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि, "मारवाड़ी जाति के लिये तो राजस्थान का इतिहास, उसकी संस्कृति, उसका आदर्श, उसका देशप्रेम, उसकी आन-बान, उसकी कर्त्तव्य-परायणता के अनुकरण और अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि उसी से हमें अपना भविष्य उन्नत बनाने के लिये प्रेरणा मिल सकती है।" व्यापारकुशल और युद्धवीर होने के साथ साथ राजपूताने के मारवाड़ी वैश्य राजकार्यपटु भी थे। राजपूताने की वीरता जिस समय संसार में जगमगा रही थी उस समय उसका व्यापार भी चमक रहा था। उस समय के व्यापार और उद्यम तथा व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्रों का वर्णन भी बहुत संक्षिप्त पर रोचक ढंग से पूर्वेतिहास के इस प्रकरण में आ गया है।

---

* राजपूताने के डिंगल साहित्य के विषय में महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि, "यह रक्त से लिखा हुआ साहित्य है; इसके सामने कोई भावुक कवि भी क्या कल्पना कर सकता है ?"

मारवाड़ी समाज ने आगे चल कर अन्य प्रदेशों तथा विदेशों में भी जाकर अपनी जो व्यापारिक धाक जमायी वह पहले राजपूताने में ही अपने जौहर दिखा चुकी थी और राजपूताने को श्री समृद्ध कर चुकी थी। मारवाड़ी समाज का यह सर्वांगीण उज्ज्वल पूर्वेतिहास जिस संस्कृति का फल था उस संस्कृति का विचार लेखक ने ग्रन्थ के दूसरे प्रकरण में विस्तार के साथ किया है।

किसी जाति के परंपरागत बद्धमूल मानस संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। मारवाड़ी समाज के ऐसे जो संस्कार हैं उनका बहुत ही अच्छा चित्र इस दूसरे प्रकरण में खींचा गया है। धर्मभीरुता—अधर्म और पाप से भय, परोपकार बुद्धि, जीव मात्र की रक्षा में स्वाभाविक प्रवृत्ति, ऋण करने को पाप समझना, आवश्यकता से अधिक व्यय न करना पर दूसरों के दुःख मोचन में अपने धन का व्यय करते पीछे न हटना, सांप्रदायिक विभिन्नता के होते हुए भी परस्पर-प्रेम में कोई बाधा न पड़ने देना, अपनी बात के धनी होना, अतिथि के सत्कार में तत्पर रहना, दीन जनों की सेवा करना, दान करना, सात्विक आहार करना, व्यक्ति का समाजधर्म के अधीन होना, धनी-निर्द्धन—पूंजी-पति और श्रमजीवी में भेद न मानना, प्रयत्नशील होना, देश के संकट-काल में चाहे जिस त्याग के लिये तैयार रहना, समय पर क्षात्र-तेज प्रकट करना, स्त्रियों का सती-धर्म पालन करना, ये संस्कार हैं जिनसे मारवाड़ी समाज उन्नत हुआ। अर्थात् ये ही संस्कार हैं जिनसे मार-वाड़ी समाज उन्नति में और आगे बढ़ सकता है, यदि वह इन संस्कारों की रक्षा करे। इनमें दो एक संस्कार ऐसे हैं जिनके विषय में कुछ लिखना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। लेखक ने क्षात्रतेज या क्षात्रधर्म को मारवाड़ी समाज का एक विशेष संस्कार बताया है। वर्तमान मारवाड़ी समाज को देखते हुए यह बात कुछ आश्चर्यजनक ही मालूम होती है। परंतु लेखक ने इसके ऐतिहासिक दृष्टान्तों की ओर

इतना काफी संकेत किया है कि, यह वात माननी पड़ती है कि मारवाड़ियों ने पूर्व काल में लड़ाइयां लड़ी हैं, राज्यों के प्रवन्ध किये हैं और मारवाड़ी महिलाओं ने सती-धर्म के पालन में क्षत्राणियों के समान ही अग्निकुण्ड में अपने शरीरों की आहुतियां दी हैं। इस समय उनका यह क्षात्रतेज इस रूप में अवश्य ही नहीं देखने में आता, पर अपनी वात पर सर्वस्व न्यौछावर करने की जो प्रवृत्ति अव भी मारवाड़ी समाज में समय-समय पर देख पड़ती है वह इसी क्षात्रतेज का ही एक रूप है। यह क्षात्र संस्कार पराधीन देश में राजशक्ति विहीन व्यापारी वृत्ति में सहसा नहीं देख पड़ता तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। धनी-निर्द्धन या पूंजीपति-श्रमजीवी में कोई भेद न मानना भी एक ऐसा संस्कार है जो आधुनिक साम्यवाद सा मालूम होता है। परंतु यदि हम इस वात को ध्यान में रखें कि, हिन्दू संस्कृति आध्यात्मिक है तो हमें हिन्दू समाज-रचना में साम्य की अनेक धाराएँ प्रवाहित होती हुई देख पड़ेंगी, क्योंकि इस संस्कृति का मूल जो अध्यात्म है वह स्वयं 'सम' है। आधुनिक साम्यवाद जडवाद है और जड का स्वरूप सम नहीं है। आधुनिक साम्यवाद अधिक से अधिक समत्व को पाने का एक जड प्रयत्न है जिसको उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, यद्यपि आध्यात्मिक साम्यवाद जितना ठहर सकता है उतना जड साम्यवाद नहीं ठहर सकता। अस्तु। मारवाड़ी समाज के जिस साम्य-संस्कार का यहां जिक्र है उसका परिचय देनेवाली एक कहावत 'मूंग मोठ में कोई भेद नहीं' मारवाड़ी समाज में प्रचलित है और यह संस्कार कुछ समय पहले तक इतना जीता-जागता था कि, उसी ने मारवाड़ी कोठियों में काम करनेवाले मुनीमों को मालिकों के वरावर ही वैभवशाली बना दिया था।

इन सव संस्कारों का बर्णन करने में लेखक का हेतु इन संस्कारों को जगाना ही है। इनको सामने रखते हुए अभी की हालत को हम

देखें तो अवस्था संतोषजनक नहीं देख पड़ेगी। इन संस्कारों की रक्षा की ओर लेखक ने समाज का ध्यान दिलाया है। मारवाड़ी समाज की यह हिन्दू संस्कृति किस प्रकार व्यापार के क्षेत्र में भी उतर आयी है और किस प्रकार उसने इस क्षेत्र में समाज को शक्तिशाली बनाया है यह देखना भी बहुत ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। इस प्रकरण का एक उप-प्रकरण इसी विषय में है। समाज के पुरुषवर्ग के सम्बन्ध में संस्कारों की जो बात कही गयी वही सामान्यतः स्त्रियों के सम्बन्ध में भी है, पर स्त्रियों के जो विशेष संस्कार हैं उनके लिये इसी के साथ एक दूसरा उप-प्रकरण है और उसमें संस्कार-शिक्षा के प्राचीन अर्वाचीन भेद, आधुनिक शिक्षा से होनेवाली हानि, उसके सुधार की आवश्यकता. बालविधवाओं का प्रश्न तथा स्त्री-वर्ग सम्बन्धी अन्य समस्याओं का बहुत कुछ समाधान किया गया है।

मारवाड़ी समाज की इस हिन्दू संस्कृति और इसके आधार पर बनी हुई उसकी सुदृढ़ व्यापार-प्रणाली को सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक है कि इस समाज की संतानों को आगे वैसी ही शिक्षा दिलाने का कोई प्रबन्ध किया जाय। ग्रन्थ के तीसरे प्रकरण का यही विषय है। आधुनिक शिक्षा किस प्रकार हानिकारक है, कम से कम मारवाड़ी समाज की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेवाली नहीं, यह दिखलाने के लिये लेखक ने अपने अनुभव की कई बातों का वर्णन किया है और साथ ही देश-विदेश के अनेक विद्वानों के मत उद्धृत कर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की हानिकरता और अपूर्णता सिद्ध कर दिखायी है। मारवाड़ी समाज की सांस्कृतिक और व्यापारिक रक्षा और वृद्धि के लिये स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धति का होना, लेखक के विचार में, अत्यन्त आवश्यक है। जिस समाज की धनशक्ति से देश की असंख्य संस्थाएँ चल रही हैं उसके लिये अपने सन्तानों की

स्वतन्त्र शिक्षा का प्रवन्ध सोच कर स्थिर करना और चलाना कुछ भी कठिन न होना चाहिये।

मारवाड़ी समाज की मूल संस्कृति और वर्तमान समस्याओं के इस सामान्य विवेचन के साथ ग्रन्थ के पहले तीन प्रकरण समाप्त होते हैं और चौथे प्रकरण से मारवाड़ी समाज के वंगाल में आकर वसने का इतिहास आरंभ होता है। जिस समय मारवाड़ी पहले-पहल वंगाल में आये उस समय बंगाल के पाल और सेन वंशीय हिन्दू राज्य का अन्त हुए साढ़े तीन सौ वर्ष से भी अधिक काल वीत चुका था और पठान वंशीय सुलेमान किरानी उस समय वंगाल का शासन कर रहे थे। सुलेमान ने पारिवारिक कष्टों और उड़ीसा के गंगावंशीय हिन्दू राजाओं के आक्रमणों से तंग आकर सम्राट् अकवर की अधीनता स्वीकार की थी और अपने राज्य की रक्षा के लिये स्थायी सेना की मदद चाही थी। तदनुसार सम्राट् अकवर ने जो सेना भेजी वह "राजपूत सेना थी। उस सेना के साथ रसद जुटानेवाले विभाग के मोदीखाने में जोधपुर-मारवाड़ के कुछ वैश्य भी आये थे। इस प्रकार मारवाड़ी जाति का सम्वन्ध पहले-पहल वंगाल से ई० स० १५६४ से ही होता है।"

उस समय वंगाल के हिन्दुओं की कैसी दुरवस्था हो रही थी, वह काला पहाड़ के दृष्टान्त से साफ समझ में आती है। अस्तु।

सुलेमान किरानी के पश्चात् इस वंश के दो पुरुष और वंगाल के तख्त पर वैठे और उसके वाद पठानों के विद्रोह का दमन करके सम्राट् अकवर ने वंगाल को अपने साम्राज्य का एक सूवा वना लिया। इस सूबे के पहले सूवेदार राजा टोडरमल हुए जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित 'अग्रवाल-उत्पत्ति' के अनुसार तथा राजपूताने में विवाह के अवसर पर अनिवार्य रूप से गाये जानेवाले एक गीत के अनुसार, अग्रवाल जाति के थे। मुड़िये हरफों और वही-खातों की

अभी जो पद्धति व्यापारी समाज में प्रचलित है यह इन्हीं की चलायी हुई बतलायी जाती है। इनके कई छन्दो-वद्ध व्यापारिक सूत्र हैं जिनमें से कुछ इस ग्रन्थ में संगृहीत हुए हैं। बंगाल में आकर राजा टोडरमल ने विद्रोहियों का दमन किया और 'जमीन, जायदाद और मालगुजारी' का सुप्रबन्ध किया। सन् १५८६ ई० में राजा टोडर मल दिल्ली लौट गये तब बंगाल में पठानों ने फिर उपद्रव आरंभ किया। तब सम्राट् अकबर के प्रधान सेनापति, सैकड़ों लड़ाइयां जीते हुए, 'भारतविजयी राजा मान'सिंह बंगाल में आये।

आधुनिक बंगाल में जिन राजा प्रतापादित्य के गीत गाये जाते हैं, वे उस समय यशोहर के माण्डलिक राजा थे। आधुनिक बंगाली लेखकों ने जहां इन प्रतापादित्य का यशोगान किया है, वहां राजा मानसिंह को बुरी तरह से चित्रित किया है, क्योंकि उन्होंने ही प्रतापादित्य का दमन किया था। इन बंगाली लेखकों का यह कहना है कि, "महाराजा मानसिंह यदि बंगाल में नहीं आते और उन्हें कामदेव ब्रह्मचारी, भवानन्द और जियानन्द आदि देशद्रोही बंगालियों की मदद नहीं मिलती तो बंगाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित हो जाता।" परंतु इस ग्रन्थ में लेखक ने ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर घटनाओं की जो छानबीन की है, वह देखने लायक है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाराजा मानसिंह के नाम पर जो कलंक लगाया गया है, वह निराधार है। राजा प्रतापादित्य में महाराज शिवाजी के समान हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की भावना कभी जागी थी, यह बात मान लेने योग्य कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उन्होंने विद्रोह किया था, पर विद्रोह मात्र ही स्वराज्य का संग्राम नहीं हो सकता। वैयक्तिक प्रभुत्व के लिये भी विद्रोह किया जा सकता है पर उसके साथ देश की सहानुभूति नहीं हो सकती। प्रतापादित्य के चरित्र की जो घटनाएं ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार

पर यहां संगृहीत हुई हैं वे यदि सच हैं तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ऐसे चरित्रवाले पुरुष में हिन्दू साम्राज्य की भावना का जागना असंभव है। उस समय बंगाल के हिन्दुओं में हिन्दुत्व की भावना कितनी थी, यह बात भी काला पहाड़ आदि के दृष्टान्तों से स्पष्ट ही सामने आ जाती है। लेखक ने इस विषय का विस्तार के साथ, ऐतिहासिक खोज के बल पर, बहुत अच्छा विवेचन किया है। लेखक के विचार से महाराजा मानसिंह की नीति हिन्दुओं के विरुद्ध नहीं, बल्कि मुगल सम्राट् से मेल रख कर हिन्दुओं की शक्ति बढ़ाने की थी। यह बात उन सन्धियों से स्पष्ट है जो सन्धियां उन्होंने मुगल सम्राट् की ओर से बंगाल में तथा राजस्थान के हिन्दू राजाओं के साथ कीं। बंगाल में जिन लोगों को महाराजा मान ने माण्डलिक बनाया वे सब हिन्दू थे, कोई अहिन्दू नहीं। महाराजा मानसिंह बंगाल में आये मुगल सम्राट् की ओर से, पर हिन्दुओं के विरोधी होकर नहीं, बल्कि अत्याचारों का दमन करने के लिये। यही इस विवेचन से निष्कर्ष निकलता है।

इन राजनीतिक प्रसंगों से मारवाड़ी समाज के लोग बंगाल में आ आकर बसने लगे। मारवाड़ी समाज के कई लोगों को शासन सम्बन्धी अनेक कार्य सौंपे गये थे, यह बात भी यहां ध्यान में रखने योग्य है। इसके बाद पांचवां प्रकरण ईष्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास है। यह इतिहास बहुत ही मनोरंजक और राजनीति तथा व्यापार सम्बन्धी चालों के अनेक रहस्यों को खोलनेवाला है। भारतवर्ष में व्यापार के निमित्त आये हुए इन साहसी विदेशी व्यापारियों ने अपनी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ा कर, छल से, बल से, कहीं झुक कर, कहीं बुरक कर, साम दाम दण्ड भेद सभी नीतियों का उपयोग कर यहां का सारा व्यापार अपने हाथ में कर लिया और अपने राष्ट्र के लिये उस साम्राज्य की स्थापना की जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता, उनके

अच्छे-बुरें चरित्रों और चालों का वर्णन सब के लिये ही बड़े काम का है। कैसी कैसी विपत्तियों का उन्होंने सामना किया, क्या क्या त्याग किये, कितने धैर्य के साथ अपने लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर कर सब विघ्न-बाधाओं का सामना किया, कैसे अपने समाज की कुरीतियों और दुष्प्रवृत्तियों का नाश किया, कैसे यहाँ के सर्वसाधारण लोगों पर अपनी साख जमायी और रोब गालिब किया, ये सब बातें भारत के इतिहास के प्रत्येक पाठक के जानने, समझने और मनन करने की हैं।

अंगरेजों के व्यापार और राज्य विस्तार के इस संक्षिप्त वर्णन के साथ साथ बंगाल के मुसलमान शासकों की शक्ति के ह्रास के कारणों का भी अनुसन्धान किया गया है। मारवाड़ी समाज ने बंगाल में मुगल शासन का अन्त तक साथ दिया था। पठानों के विरुद्ध मुगल सम्राट् से मेल रख कर मुगल छत्र की छाया में हिन्दू शक्ति को प्रबल करने की महाराजा मानसिंह की नीति पर ही उस समय बंगाल के बंगाली हिन्दू और राजपूताने से आये हुए मारवाड़ी हिन्दू एक होकर चले थे। पीछे अंगरेजों की शक्ति बढ़ने पर उनकी यह नीति सफल न हो सकी। इसका कारण यह था कि, मुसलमान शासकों से प्रजा-पालन सम्बन्धिनी जिस दक्षता की और जिस न्यायनिष्ठा और सच्च-रित्रता की अपेक्षा की जाती थी वह पूरी नहीं हुई, बल्कि शासकों का आचरण सर्वथा इसके विपरीत होने लगा। इसी से बंगाल में मुसल-मान शासन का अन्त हुआ और अंगरेजी राज्य की स्थापना हुई। इस सम्बन्ध की मुख्य-मुख्य घटनाओं का बड़ा ही रोचक वर्णन इस प्रकरण में आ गया है।

बंगाल के मुगल शासन में मारवाड़ी समाज का स्थान दिखलाने-वाला दीपक जगत्सेठों का इतिहास है। न्यायनिष्ठा में सब से बड़ा नाम पाये हुए मुसलमान शासक नवाब मुर्शिदकुली खाँ हुए। सेठ

मानिकचन्द, जो ओसवाल मारवाड़ी थे, इनके वड़े मित्र थे। इन दोनों की मित्रता ही उस समय वंगाल के राजनीतिक भाग्यविधान की शक्ति थी—नवाव मुर्शिदकुली खाँ के हाथ में राजनीतिक अधिकार था तो सेठ मानिकचन्द के हाथ में वह धनशक्ति थी जिसकी वदौलत ही, कहते हैं कि, सन् १७१५ में दिल्ली के तख्त पर फरुखसैयर नशीन हुए। इन्हीं सेठ मानिकचन्द के भांजे और पौष्य पुत्र फतेहचन्द को जगत्सेठ का खिताब मिला। उस समय के दिल्ली के सम्राट् महम्मद शाह पर इनका इतना प्रभाव था कि, मुर्शिदकुली खाँ के जीवित रहते हुए भी वे सेठ फतेहचन्द को वंगाल का नवाव वनाना चाहते थे। परन्तु मुर्शिदकुली खाँ की मैत्री के ख्याल से उन्होंने नवाव वनना स्वीकार नहीं किया। इससे उनका प्रभाव और भी बढ़ा। जो इज्जत मुगल दरवार में नवाव की थी वही जगत्सेठ फतेहचन्द की थी और जगत्सेठ की राय से ही वंगाल का शासन होता था। मुर्शिद-कुली खां के वाद जगत्सेठ की राय से ही शुजाउद्दीन वंगाल का नवाव हुआ जिसके उत्तराधिकारी सरफराज खां ने जगत्सेठ के साथ वड़ा ही अनुचित व्यवहार किया और हाथों हाथ फल भी पाया। जगत्सेठ ने वंगाल के जमींदारों और व्यापारियों से सलाह कर पटने के हाकिम अलीवर्दी खां को वुलाया, सरफराज खां उनसे लड़ा और युद्ध में मारा गया। मुगल सम्राट् की अनुमति लेकर अलीवर्दी खाँ वंगाल के नवाव घोषित गये। अलीवर्दी खां ने सन् १७४० से १६ वर्ष वंगाल का शासन किया। जगत्सेठ फतेहचन्द इनके खजाञ्ची, सलाहकार और हर तरह से मददगार थे और हिन्दू मुस्लिम-मेल से वंगाल का शासन होता था। जगत्सेठ फतेहचन्द के वाद सन् १७४४ में उनके पौत्र महतावचन्द जगत्सेठ हुए। इनकी भी हिन्दू-मुस्लिम-मेल की नीति थी। पर मराठे मुस्लिम साम्राज्य के स्थान में हिन्दू साम्राज्य की भावना से प्रेरित होकर मुगल सम्राट् के सभी प्रदेशों पर आक्रमण कर

रहे थे और जहाँ-तहाँ लूटमार मचा रहे थे। हेतु यही था कि मुगल सम्राट् के स्थान में हम को मानो और हमें कर दो। वंगाल पर भी इनके कई आक्रमण हुए। इन आक्रमणों से वचने के लिये अंगरेजों ने कलकत्ते की तीन तरफ एक इतनी चौड़ी खाई खुदवाई थी कि जिसे मराठे घुड़सवार पार न कर सकें। इसी खाई का नाम 'मराठा डिच' है जो कि इस समय सरकुलर रोड के नाम से प्रसिद्ध है। जगत्सेठ महताबचन्द ने सोच-समझ कर मराठों की मांग पूरी करने के लिये उन्हें एक बड़ी रकम देकर शांत किया। यहीं से अंगरेजों का मन बढ़ने लगा था और उनकी ओर से नवाब अलीवर्दी खां के कान खड़े हो गये थे; परंतु नवाब अलीवर्दी खाँ का शरीरान्त शीघ्र ही हो गया। अलीवर्दी खां के बाद सन् १७५६ में सिराजुद्दौला वंगाल का नवाब हुआ। सिराजुद्दौला का हृदय देशभक्ति से शून्य हो ऐसा पता तो नहीं लगता पर यह दुश्चरित्र था, कामिनीकांचन के पीछे पागल था और अंगरेजों का शत्रु भी। गद्दी पर वैठते ही येनकेनप्रकारेण धन प्राप्त करना शुरू कर दिया। धन के पीछे ही इसने जगत्सेठ महतावचंद को अपमानित किया, हिन्दू और मुसलमान हितैषियों से वैर किया और अंगरेजों से लड़ाई मोल ली। एक बार इसने अंगरेजों को कलकत्ते से भगा कर उनके किले पर अपना झण्डा फहराया। अंगरेज जानते थे कि वंगाल में इस समय एक जगत्सेठ ही ऐसे आदमी हैं जो चाहे जो कर सकते हैं। उन्होंने उन्हीं से न्याय की प्रार्थना की। सिराजुद्दौला को गद्दी से उतारने का षड्यंत्र मुर्शिदावाद में रचा गया। इधर क्लाइव ने कलकत्ता फिर अंगरेजों के हाथ में कर लिया और मीर जाफर को नवाव बनाना स्वीकार कर सिराजुद्दौला पर धावा बोल दिया। प्लासी के मैदान में दोनों फौजें जुटीं। मीर जाफर ने विश्वासघात करके सिराजुद्दौला को हरवा दिया और फिर मरवा डाला। मीर जाफर को नवाव की राजगद्दी मिली, पर मीर जाफर

का राज क्लाइव की कठपुतली का नाच हुआ, बंगाल की नवाबी को अंगरेजी राज का ग्रहण लग गया, नवाब का खजाना खाली हुआ, ऋण का बोझ बढ़ता गया, कितने परगने हाथ से निकल गये और राज्य के अधिकार छिन गये। अन्त को वह अंगरेजों से चिढ़ गया, तब उसे हटा कर अंगरेजों ने उसके दामाद मीर कासिम को बंगाल का नवाब बनाया। अब तक जगत्सेठों की जो धाक थी और उनके हाथ में जो ताकत थी वह अब अंगरेजों की हो गयी। मीर कासिम ने फिर से एक बार जगत्सेठ की राय से चल कर पहले की सी स्थिति बनाने का प्रयत्न किया, साथ ही साथ इतना संदिग्ध बन गया कि, उसने न जाने किस स्वार्थ से अन्धे होकर या किसी के बहकाने पर जगत्सेठ और उनके भाई को कत्ल करवा डाला। उनका कत्ल किया जाना बंगाल की हिन्दू-मुस्लिम-शासनशक्ति का ही अन्त था। अब तक जो कुछ जगत्सेठ थे वही क्लाइव हो गये। मुगल सम्राट् से क्लाइव ने बंगाल की दिवानी हासिल की और वह बुनियाद डाली जिस पर आज भारतवर्ष के एक छत्र अंगरेज-साम्राज्य की अट्टालिका खड़ी है। इन राजनीतिक स्थित्यन्तरों में मारवाड़ी समाज का जो व्यापारिक और राजनीतिक महत्व देख पड़ता है उसी का दिग्दर्शन कराने के लिये यह इतिहास दिया गया है।

जब बंगाल की राजसत्ता अंगरेजों के हाथ में चली गयी तब इस बदली हुई अवस्था में (जब राजनीतिक और व्यापारिक स्वाधीनता नष्ट हो गयी) किस प्रकार मारवाड़ी समाज ने अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए अपनी व्यापारिक उन्नति की, यह छठे प्रकरण का विषय है। कलकत्ते की अंगरेजी कोठियों का माल बेचने-बिकवाने का काम किस तरह पहले बंगालियों के हाथ में आया, बंगाली इस काम में यशस्वी क्यों न हुए, पीछे किस प्रकार खत्री आगे बढ़े, खत्रियों में कौन से गुण थे जिनसे उनकी उन्नति तो हुई पर कौन से दोष थे

जिनसे उनका काम बिगड़ा, खत्रियों के बाद किस प्रकार मारवाड़ियों की धाक जमी, ईष्ट इण्डिया कम्पनी के साथ उनका किस प्रकार पहले से ही अन्य प्रदेशों में भी कारबार होता चला आ रहा था, कलकत्ते में अपनी व्यापारिक साख जमानेवाले कौन कौन से मारवाड़ी फर्म हुए और किस प्रकार मारवाड़ी समाज ने अपनी वृद्धि की, इसका बहुत काफी विवरण इस प्रकरण में आया है। व्यापार, समाज संगठन और जाति भाइयों की सहायता करने में विशेष प्रसिद्धि लाभ किये हुए जो विशेष व्यक्ति हो गये हैं उनके संक्षिप्त चरित्र भी इस विवरण के साथ आ गये हैं। ये चरित्र बहुत कीमती हैं। इस समय यदि ये लिख कर न रखे जाते तो कुछ काल बाद अवश्य ही इनका लोप हो जाता। इन चरित्रों से मारवाड़ी समाज की उन्नति के साधक गुणों का पता लगता है और इनसे पाठक लाभ उठा सकते हैं।

बंगाल और कलकत्ते का आज जो गौरव है उसमें मारवाड़ी समाज का कितना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ है यह बात भी इन विवरणों और चरित्रों से बहुत कुछ हृदयंगम होती है। लेखक ने सेठ अर्जुनदासजी मोदी की जो सम्मति उद्धृत की है, वह बहुत ही अधिक ध्यान देने योग्य है उससे पता लगता है कि उस समय का व्यापार यदि मारवाड़ी नहीं सम्हालते तो बंगाल की इतनी उन्नति होती इसमें भी सन्देह है। मारवाड़ी समाज की व्यापारिक उन्नति के साधनों में एक बहुत बड़ा साधन मारवाड़ियों की प्राचीन सराफी की पद्धति (बैंकिंग सिस्टिम) है जिसके विषय में एक बहुत ही रोचक और बोधप्रद उप-प्रकरण इसी प्रकरण में आ गया है। आधुनिक बैंकिंग सिस्टिम और मारवाड़ी सराफी की पद्धति का तुलनात्मक विचार करके सराफी का वह सिद्धान्त सामने रखा गया है जिससे समाज के धन का उपयोग समाज के व्यापार की वृद्धि और श्रीसमृद्धि में होता था, जो बात आधुनिक बैंकिंग सिस्टिम में नहीं है। अस्तु।

राजनीतिक प्रसंग से आरंभ होनेवाला यह प्रकरण फिर राजनीतिक प्रसंग में ही आकर समाप्त होता है। यह राजनीतिक प्रसंग है—वंग-विच्छेद का आन्दोलन। इस आन्दोलन के कारणों का दिग्दर्शन कराते हुए लेखक ने यह बतलाया है कि मारवाड़ी समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ा। फिर १९१४ के जर्मन महायुद्ध से मारवाड़ी किस प्रकार लाभान्वित हुए और उस अति लाभ से किस प्रकार समाज में शानशौकत और फजूलखर्ची बढ़ी और युद्ध के बाद की एक्सचेंज पालिसी आदि ने किस प्रकार समाज का धन खींच लिया और बढ़ी हुई शान और फजूलखर्ची ने समाज को तबाह कर डाला इत्यादि बातों का बहुत ही रोचक वर्णन किया गया है। इसके बाद इसी प्रकरण में असहयोग-आन्दोलन की चर्चा और उसमें मारवाड़ी समाज के कार्य भाग का विवरण देकर एक उपप्रकरण में 'प्रकृत व्यापार और फाटका' की पूरी मीमांसा की गयी है—फाटके से किस प्रकार अन्त में हानि ही होती है यह बात अच्छी तरह दिखलायी गयी है। प्रकृत व्यापार की जो व्याख्या लेखक ने की है वह विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। फाटका भी जिन लोगों ने एक मर्यादा के अंदर करके लाभ उठाया उसकी विस्तार के साथ चर्चा हुई है। परन्तु प्रकृत व्यापार की ओर ही ध्यान दिलाना इस उपप्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

इसके बाद सातवां 'सामाजिक प्रकरण' है। इसमें समाज को संघटित रख कर समाज के सब प्रश्नों को हल करनेवाली पुरानी पंचायत और उसकी कार्यपद्धति का पूरा विवरण देकर नवीन परिस्थिति के नवीन विचार प्रवाह का विचार किया गया है, इसके साथ साथ खास खास कार्यकर्त्ताओं और समाचारपत्रों के कार्यों का उल्लेख किया गया है तथा उन विशिष्ट पुरुषों का भी जिक्र हुआ है जो मारवाड़ी न होते हुए भी मारवाड़ी समाज के संघटन में सहायक थे। मारवाड़ी

एसोसिएशन से मारवाड़ी अग्रवाल महासभा तक जो जो मारवाड़ी सभा समितियां कलकत्ते के बड़ेबाजार में बनीं उन सबके कार्यों की चर्चा इस प्रकरण में आ गयी है—इनके गुण-दोषों की मीमांसा भी की गयी है। मारवाड़ी समाज की तरफ से जो सर्वजनोपकारक संस्थाएं बनीं, जैसे मारवाड़ी विशुद्धानन्द विद्यालय, मारवाड़ी अस्पताल, पिंजरापोल, रामचंद्र गोयनका विधवा सहायक फंड, मारवाड़ी सहायक समिति आदि, उनके और उनके कार्यों के इतिहास भी इसमें आ गये हैं। इस प्रकरण में मारवाड़ी समाज का विस्तार के साथ ऐसा रोचक वर्णन किया गया है कि जिसमें सामाजिक जीवन का खाका खिंच गया है। इसके बाद इसी प्रकरण में 'समाज में व्यक्तिगत कुभावना और पारस्परिक विद्रोह' शीर्षक देकर लेखक ने समाज की संघटन शक्ति और जातीयता के ह्रास का दिग्दर्शन कराते हुए उसके कारणों की मीमांसा की है। यह मीमांसा बड़े महत्व की है। है तो यह उन्नति का जमाना और अन्य समाजों की तरह मारवाड़ी समाज के सर्वसाधारण लोग भी यह समझ रहे होंगे कि हम लोग उन्नति कर रहे हैं और संघटन शक्ति बढ़ रही है, क्योंकि अनेकानेक संस्थाएं बनी हैं और अपने अपने ढंग से कार्य कर रही हैं। पर लेखक का यह कहना है कि यह समाज का संघटन नहीं बल्कि विघटन हो रहा है, क्योंकि इन सब संस्थाओं को एक जातीय सूत्र में ग्रथित रखने वाली कोई शक्ति या भावना नहीं काम कर रही है। पहले की जातीय पंचायत में यह शक्ति, यह भावना थी। परन्तु उस शक्ति को व्यक्तिभाव ने किस तरह तोड़ा और किस तरह दिन दिन उसका ह्रास ही होता जा रहा है यह कई घटनाओं का उल्लेख करके लेखक ने अच्छी तरह दिखलाया है। इस प्रसंग से स्व० जयनारायणजी पोद्दार का विरोध, चौतरा-पंचायत, मारवाड़ी ब्राह्मण सभा का दुरुपयोग, विशुद्धानन्द विद्यालय में गीता की शपथ, वैश्य महासभा और कर्जन

थियेटर का काण्ड आदि की चर्चा की है। उन प्रयत्नों का भी जिक्र हुआ है जो समय समय पर समाज को एक सूत्र में आवद्ध करने के लिये होते रहे हैं और उनकी विफलता के कारणों का अनुसन्धान भी किया गया है। घृतान्दोलन के अवसर पर वनी हुई "प्रतिनिधि-पंचायत" इसी प्रकार का एक महान् प्रयत्न था, पर वह भी सफल होते होते विफल हो गया। समाज की जातीय भावना ही समाज संघटन की मूल शक्ति है और वैयक्तिक प्रभुत्व की कामना ही उसमें जहर का काम करती है। परन्तु समाज संघटन की इस मूल शक्ति को ही जव समाज भुला देता है और सांप्रदायिक या वैयक्तिक प्रभुत्व को अपना लक्ष्य वना लेता है तव वह जाने-वेजाने समाज शक्ति के मूल स्रोत को ही वंद कर देता है। समाज का किस प्रकार संघटन हो, समाज की विभिन्न संस्थाओं में किस प्रकार एकसूत्रता स्थापित हो और किस प्रकार समाज का संचालन हो, इस सम्वन्ध में यहां वहुत अच्छा विचार किया गया है। हो सकता है कि सांप्रदायिक मतभेदों के कारण कुछ लोग इन विचारों से सहमत न हो सकें, पर वैयक्तिक और सांप्रदायिक आग्रहों को छोड़ कर, उल्लिखित घटनाओं में से वैयक्तिक और सांप्रदायिक पक्षापक्ष को भी हटा कर यदि इन वातों का विचार किया जायगा तो लेखक ने इस प्रकरण में जो भाव और विचार प्रकट किये हैं वे समाज को स्वीकृत होंगे और समाज अपनी वास्तविक संघटन शक्ति को अपनावेगा।

अन्तिम (आठवां) प्रकरण है 'राजनीति और साहित्य'। वीर-प्रसविनी राजपूत भूमि जिस मारवाड़ी समाज की मातृभूमि है उस मारवाड़ी समाज में उस भूमि के गौरव के अनुरूप त्याग, क्षात्र-भाव और राजनीतिक तेज जो राजपूताने में था, जिसे लेकर मारवाड़ी अन्य प्रान्तों में आये थे, जिसकी अंगरेजी राज में विस्मृति सी हो गयी वही त्याग, वही क्षात्र-भाव, वही राजनीतिक तेज आज फिर से

मारवाड़ी समाज में दीखने लगा है, यह इस समाज के लिये बड़े ही गौरव की बात है। लाला लाजपतराय और सेठ जमनालाल बजाज से लेकर बड़ाबाजार कांग्रेस कमिटी के स्थानिक कार्यकर्त्ताओं और सभी प्रान्तों के मारवाड़ी कार्यकर्त्ताओं के कार्यों का निर्देश मात्र इसमें हुआ है और एसेम्बलियों और कौंसिलों में कार्य करनेवाले मारवाड़ी सदस्यों की सूची भी दे दी गयी है। अन्त में 'साहित्य क्षेत्र में मारवाड़ी समाज' शीर्षक के साथ राजस्थान के सब प्रकार के साहित्य का और डिंगल भाषा के लिखित साहित्य का बड़ी योग्यता के साथ दिग्दर्शन कराया गया है, राजस्थान के आधुनिक इतिहासवेत्ताओं का परिचय देकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आधुनिक मारवाड़ी साहित्य सेवियों तक मुख्य मुख्य नाम संक्षिप्त परिचय के साथ दे दिये गये हैं।

इस प्रकार मारवाड़ी समाज का पूर्वेतिहास, उसकी संस्कृति उसके क्षात्र और वैश्य संस्कार, उसकी राजनीति और व्यापारिक कुशलता, उसकी वर्तमान अवस्था और आवश्यकता, इन सब विषयों का इस ग्रन्थ के अन्दर आठ प्रकरणों में विचार किया गया है। यह काम इतनी योग्यता के साथ हुआ है कि ऐतिहासिक और राजनीतिक तत्वानुसन्धान रखनेवाले किसी विशेष अनुभवी और विचारशील लेखक के द्वारा ही यह काम हो सकता है। लेखक का यह सफल प्रयत्न सारे समाज के द्वारा अभिनन्दन पाने योग्य है। यही नहीं, इससे समाज में हलचल मच सकती है और समाज इससे लाभ उठा सकता है, समाज के लिये यह पथप्रदर्शक का काम दे सकता है। जो लोग मारवाड़ी नहीं हैं उनके लिये भी इस ग्रन्थ में व्यवहार की बहुत सी बातें जानने योग्य हैं। लेखक की विवेचनशैली मुख्यतः व्यावहारिक है, आदर्श की सीध में है, प्राचीन संस्कृति के अनुकूल है और आधुनिक आवश्यकताओं का भी ध्यान रखनेवाली है। इसलिये

इस भूमिका का उपसंहार मैं इसी आशा के साथ कर सकता हूँ कि श्रीमान् वालचंदजी मोदी की यह निर्हेतुक समाजसेवा समाज को स्वीकृत हो और समाज अपनी त्रुटियों को दूर कर अपने पूर्व गौरव के अनुरूप उन्नति के मैदान में आगे बढ़े।

विनीत,

लक्ष्मणनारायण गर्दे

विषय सूची

प्रथम अध्याय

(क)—मूल निवासस्थान (१-३५)

(ख)—भौतिक और साम्पत्तिक दशा (३६-४५)

(ग)—हमारा जातीय चिह्न—पगड़ी और श्रद्धांजलि (४६-४८)

द्वितीय अध्याय

प्राचीन संस्कृति और राजनीति (४९-१७२)

तृतीय अध्याय

शिक्षा-समस्या (१७३-२१०)

चतुर्थ अध्याय

बंगाल की प्राचीन राजसत्ता और मारवाड़ियों का आगमन (२११-२६०)

पाँचवाँ अध्याय

योरोपियनों का आगमन, भारतीय राजसत्ता में परिवर्तन, बंगाल की राजनीति में मारवाड़ियों का भाग(२६१-३६४)

छठवाँ अध्याय

बंगाल में मारवाड़ी (३६५-५८६)

(क) राज-काज और वाणिज्य-व्यापार (सन् १५६४ से सन् १७०० तक) (३६८-३७२)

(ख) जगत सेठों का प्रादुर्भाव—व्यापार और राजनीति में उल्लेखनीय उन्नति (सन् १७०० से सन् १७६५ तक का समय) (३७३-३९४)

आठवाँ अध्याय

राजनीति और साहित्य (७०७-७४४)

चित्र-सूची

विषय-प्रवेश





श्री बालचन्द मोदी

१

मूल निवास-स्थान



मारवाड़ी समाज का आदि जन्मस्थान राजस्थान है। सच तो यह है कि, राजस्थान की पवित्र मिट्टी से ही मारवाड़ी जाति की उत्पति हुई है। यदि उसका राजस्थान से इतना ही सम्बन्ध होता तो भी बहुत था, परन्तु मारवाड़ी जाति तो आज भी राजस्थान के गौरव से अपने को गौरवान्वित समझती है और उसकी सभ्यता, संस्कृति, उसकी आनबान, उसकी वीरता और साहस आदि की रक्षा में अपने अस्तित्व की सार्थकता मानती है। राजस्थान से अनेक सुदूरवर्ती प्रान्तों में सदियों और पीढ़ियों से बसे रहने पर आज भी उसके हृदय में राजस्थान की ममता है, उसकी धमनियों में राजस्थान का पवित्र रक्त विद्यमान है, उसकी आँखों में राजस्थान की ओजस्विनी ज्योति है। यदि कहीं पर इन गुणों की

न्यूनता या अभाव दिखलाई पड़ता हो, तो उसे इनका ह्रास या नाश न समझना चाहिए। वह तो जीवित सत्य को ढंकनेवाला कृत्रिम वाह्य आवरण मात्र है, उसी प्रकार का जिस प्रकार का आवरण आग की सजीव चिनगारी पर राख के रूप में पाया जाता है। इस प्रकार का आवरण वास्तविकता का नाश नहीं कर सकता। हाँ, यह आवश्यकता अवश्य होती है कि, वायु का अनुकूल झोंका देकर इस आवरण को हटा कर भीतर की सजीव, सतेज सत्यता प्रकाश में लाई जाय। जिस दिन इस प्रकार का अनुकूल झोंका लग जायगा, उस दिन राजस्थान का गौरव मारवाड़ियों के रोम रोम से प्रस्फुटित हो निकलेगा और मारवाड़ी जाति अपने उस प्राचीन जन्मस्थान की गरिमा से उत्फुल्ल हो उठेगी।

राजस्थान मारवाड़ी जाति का जन्मस्थान ही नहीं, तीर्थ-स्थान भी है। वह तीर्थस्थान—जिसे आन पर मर मिटनेवाले, स्वतन्त्रता के अनन्य उपासक, प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप ने अपने अनुपम वलिदानों से पवित्र किया, जिस पर वीरवर दुर्गादास, महाराजा छत्रशाल, वीरवर जयमल और फत्ता ने अपनी वीरता, साहस और कर्त्तव्यपरायणता की मंदाकिनी वहाई, जहाँ वैश्यकुलभूषण भामाशाह ने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर जनता के सन्मुख उदारता का अनुपम आदर्श रक्खा, जिस पर कर्तव्य-परायणता, त्याग और वलिदान की साक्षात् मूर्ति पन्ना धाय ने अपने एकलौते पुत्र को वनवीर की हत्यारी तलवार का शिकार वना राजकुमार की रक्षा करके आदर्श की देवी की प्रतिमा स्थापित की और जहाँ एक दो नहीं, दस वीस भी नहीं शत-शत सहस्र-सहस्र कुल-ललनाओं ने सतीत्व की रक्षा एवं देश-प्रेम के अनुपम उन्मेष के कारण जौहर व्रत लेकर धू-धू करती हुयी अग्नि की प्रज्वलित चिताओं में हँसते-हँसते प्राण देकर महत् गरिमा, उत्सर्ग और वलिदान का ऐसा पवित्र, ऐसा उज्ज्वल ऐसा प्रभावोत्पादक और ऐसा श्रद्धास्पद वातावरण तैयार किया कि, जिसकी स्मृति मात्र से उनके प्रति मस्तक स्वतः नत हो जाता है। राजस्थान ही

वह देश है, जहाँ अपनी मर्य्यादा, प्रतिष्ठा और आन के लिए प्राणों का उत्सर्ग एक अत्यन्त अकिंचन बात थी। जहाँ धन सम्पत्ति पार्थिव स्वार्थ आदि ने मान मर्यादा और आनबान के सामने कभी प्रतिष्ठा नहीं पाई, और जहाँ स्वार्थत्याग, स्वाभिमान और आत्मोत्सर्ग की भावना अपने उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रूप में विद्यमान रही। जितना गौरवपूर्ण इतिहास राजस्थान का है, उसका शतांश गौरव भी यदि दूसरे देशों को प्राप्त होता तो वे धन्य हो जाते। राजस्थान आज भी जिस अभिमान के साथ अपना सर ऊँचा कर सकता है, वह अभिमान अन्य देशों के लिए सुलभ नहीं है।

राजस्थान संसार में वीरभूमि के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रधान कारण यह है कि, वहाँ राजपूत वीरों ने और राजपूत रमणियों ने अपनी वीरता और अपने अद्वितीय साहस का परिचय दिया है। यह भूमि सदा से क्षात्र-धर्म प्रधान भूमि रही है। यद्यपि इसमें अन्य सब वर्ण सदा रहे हैं, तथापि प्रधानता राजपूत नरेशों की ही थी और अन्यान्य वर्णों ने भी समय आने पर राजपूत वीरों के कंधे से कंधा मिला कर रणस्थल में शस्त्रास्त्र धारण कर क्षात्रवृत्ति का अवलम्बन किया। इस प्रकार सब वर्णों का अस्तित्व रहते हुए भी राजस्थान में क्षत्रियत्व की प्रधानता ही रही है। राजस्थान का नाम लेने से आज भी हमारे हृदय में वीरता का ही उद्वेग होता है।

मनुष्य स्वभाव से वीरपूजक होता है। इसीलिए भारतवर्ष का इतिहास लिखनेवाले विद्वानों का ध्यान राजस्थान की ओर सब से अधिक गया है। इस प्रान्त की इतिहास-सामग्री इतनी रोचक, इतनी महान् और इतनी आकर्षक है कि, इतिहास का कोई विद्यार्थी इसके अनुशीलन से वंचित रहना, सहन नहीं कर सकता। इसीलिए इस पर अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे गये हैं और अब तक बराबर रचे जा रहे हैं। इन ग्रन्थों में राजस्थान के वीर नरेशों की वंशावलियाँ, उनकी लड़ाइयाँ और वीरता

की कथाएं, उनकी तिथियां और घटनाओं का विस्तृत और शृङ्खलावद्ध वर्णन मिलता है। यहां पर उन सब बातों के दोहराने की आवश्यकता नहीं हैं।

सम्राट् हर्षवर्धन के समय में समस्त भारतवर्ष में हिन्दू राजसत्ता सर्व प्रधान वनी हुई थी। उस समय तक पारस्परिक एकता भी थी। परन्तु उसके बाद समय ने पलटा खाया, पारस्परिक वैमनस्य वढ़ा, गृहकलह आरम्भ हुयी और परिणामस्वरूप हिन्दुओं की सम्मिलित और संगठित शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। फिर तो जिसको जहां सुविधा मिली वह वहीं बस कर राज्य करने लगा। इतिहास बतलाता है कि, गंगा जमुना और सिंध की उर्वरा भूमि का परित्याग कर सूर्य और चन्द्रवंश के विख्यात राजपूत अन्यान्य जातियों के साथ अर्वली, वुन्देलखन्ड और राजस्थान के रेतीले भू-भाग में आकर वस गये। राजस्थान में आने में इन वीर राजपूतों का उद्देश्य यह था कि, हिन्दुओं की विखरी हुई शक्ति का पुनः संगठन कर हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की रक्षा की जाय। इन लोगों ने यहां आकर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न भी आरम्भ किया और यहां इनकी शक्ति का संचय भी होने लगा था। परन्तु इनके चले आने से गंगा, जमुना और सिन्ध की भूमि का वड़ा बुरा हाल हो गया। वहां के राजाओं की शक्ति तो वैसे ही क्षीण हो चुकी थी। दूसरे पृथ्वीराज और जयचन्द की गृहकलह ने उसे और भी नष्ट कर दिया। अतएव परिस्थिति अनुकूल न देख अवशेष राजपूत भी वहां से चल कर राजपूताना प्रान्त में आ गये और अपने अन्य भाइयों के साथ शक्ति-संचय के कार्य में लग गये।

शहाबुद्दीन गोरी की राजसत्ता जमने के पूर्व राजस्थान का कितना क्षेत्र विस्तार था और कहां से कहां तक उसकी सीमा थी यद्यपि इस बात की खोज करने पर भी कोई ठीक ठीक पता नहीं चलता, तथापि इतिहासकारों ने यह लिखा है कि, उस समय उसका विस्तार गंगा और

जमुना की तराई तक था और सौराष्ट्र—गुजरात का सम्बन्ध राजस्थान से अत्यधिक हो गया था। बृटिश म्यूज़ियम में राजस्थान का जो प्राचीन मानचित्र मिलता है, उससे सीमा का कुछ-कुछ आभास मिलता है और जाना जाता है कि, प्राचीन राजस्थान की सीमा पश्चिम में सिन्ध के तट तक, पूर्व में बुन्देलखण्ड तक, उत्तर में सतलज नदी के दक्षिणी भाग तक और दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत तक थी। उसका क्षेत्र फल ३५०००० वर्ग मील बताया जाता है। यह सीमा आगे चल कर और बढ़ी थी। सिन्धिया के युद्ध के समय और उसके बाद ईष्ट इन्डिया कम्पनी के समय के राजस्थान के जो मानचित्र तैयार किये गये, उनसे पता लगता है कि, आगे चल कर मालवा भी राजस्थान का अंग बन गया था। जो हो, इतना निश्चित है कि सौराष्ट्र की भांति ही मालवा का सम्बन्ध भी राजस्थान से काफी घनिष्ट था। धार और पाटन के नाश के बाद और भी छोटे-छोटे राज्य राजस्थान में आ मिले थे। इस प्रकार इसकी सीमा बीच में काफी विस्तृत हो गई थी।

इतिहास पर एक दृष्टि—

राजस्थान का इतिहास भी एक अध्ययन की वस्तु है। राजस्थान के राजवंश सदियों की प्राचीनता का इतिहास लिए अब भी विद्यमान हैं। जितने प्राचीन राजवंश यहाँ मिलेंगे, उतने प्राचीन राजवंश संसार के किसी भू-भाग में न मिलेंगे। इतिहास के विद्यार्थी से यह छिपा नहीं है कि, नवीं शताब्दी के पूर्व के राजवंशों का अब अन्यत्र सब जगह लोप हो गया है। केवल राजस्थान ही ऐसा एक प्रदेश है, जहाँ कि इतने प्राचीन राजवंश अब तक चले आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन राजवंशों ने ऐसे ऐसे कार्य किये हैं, जिनका अनुशीलन हमारे जातीय भविष्य निर्माण के लिए बहुत सहायक हो सकता है। राजस्थान का इतिहास, उत्कृष्ट देश-प्रेम, उच्चतम् आदर्श, अन्यतम त्याग और बलिदान की कथाओं से

ओत-प्रोत है। यह वह इतिहास है जो निर्जीव प्राणों में भी विद्युत का संचार करता है और देश, समाज एवं धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर सत्यता का अन्वेषण कराता है। मारवाड़ी जाति के लिए तो राजस्थान का इतिहास, उसकी संस्कृति, उसका आदर्श, उसका देशप्रेम और उसकी कर्तव्यपरायणता के अनुकरण व अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि उसीसे हमें अपना भविष्य उन्नत बनाने के लिए प्रेरणा मिल सकती है और हम अपने जातीय जीवन को अतीत गौरव से अनुप्राणित कर भावी गरिमा के लिए तैयार कर सकते हैं।

यह एक खेद जनक बात है कि, टाड राजस्थान जैसे दीर्घकाय ग्रन्थ के रचे जाने पर भी राजस्थान का इतिहास अभी अधूरा ही पड़ा है। यद्यपि टाड साहब की रचना प्रशंसा योग्य है। कारण, विदेशी होते हुए भी उन्होंने इतना बड़ा ग्रन्थ रच डाला और वह भी उस समय जब किसी ने इस विषय पर कलम भी नहीं उठायी थी. तथापि यह कथन सर्वथा सत्य है कि, उनकी रचना जनश्रुति और इधर उधर की फुटकर पुस्तकों या लेखों के आधार पर ही हुई है और उसमें वैज्ञानिक आलोचना तथा ऐतिहासिक अन्वेषण का प्रायः अभाव है। घटनाओं का बृहत् संकलन उस पुस्तक में अवश्य है; परन्तु ऐतिहासिक तत्वों और जातीयता की दृष्टि से राजस्थान की वास्तविक स्थिति का बहुत कम पता चल सकता है। वे राजपूताना प्रान्त के उच्च पदाधिकारी थे, उनके पास ऐतिहासिक सामग्री के संग्रह के लिए साधन थे, बाहरी सुविधाएं भी प्राप्त थीं। वे चाहते तो इन घटनाओं के साथ, जिनका सुन्दर संकलन उन्होंने किया है, राजस्थान की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री भी जुटा सकते थे। पर यह प्रकट होता है कि, उनका ध्यान ही उस ओर नहीं गया था। हो सकता है कि, उनका दृष्टिकोण नितांत राजनीतिक रहा हो, जैसा कि प्रतीत भी होता है। अतएव इस दृष्टि से अन्य बातों के अन्वेषण की उन्होंने आवश्यकता ही न समझी हो। जो कुछ हो, पर इतना

स्पष्ट है कि, घटनाओं का बृहत् और सुन्दर संकलन होते हुए भी टाड राजस्थान सर्वांग पूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है और राजस्थान की प्राचीन स्थिति पर सर्वतोमुखी प्रकाश डालने में असमर्थ है।

टाड राजस्थान के बाद श्रद्धास्पद महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इस विषय पर अपनी समर्थ लेखनी उठाई। आप इतिहास के जितने प्रकाण्ड विद्वान् हैं और अनुशीलन की आप में जितनी योग्यता है, साथ ही साथ राजस्थान से आपका जो सम्बन्ध है, उन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह आशा स्वभावतः हुई थी कि, आपकी खोज से इस विषय पर समुज्वल प्रकाश पड़ेगा और राजस्थान के इतिहास के अनेक छिपे हुए तत्वों का विवेचन होगा परन्तु, यह खेद है कि ओझाजी की रचना से हमारी वह आशा सर्वथापूर्ण नहीं हुई। यद्यपि यह सत्य है कि, उन्होंने नई बातें जनता के सामने रक्खीं, तथापि यह प्रतीत होता है कि, उन्होंने विशेषतः टाड राजस्थान को ही अपना आधार मान कर रचना की है।

इसके बाद जोधपुर के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने इस विषय पर लिखने का प्रयत्न किया है राष्ट्रकूटों का इतिहास लिख कर उन्होंने वास्तव में बड़ा उपयोगी कार्य किया है। यद्यपि यह इतिहास ग्रन्थ बहुत संतोषप्रद और अन्वेषणपूर्ण है, तथापि वह समस्त राजस्थान का इतिहास नहीं, राठौड़ों का ही इतिहास है और इसलिए उसमें एक-देशीयता आ गई है। बीच में स्वर्गीय मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ ने भी राजस्थान की विशेष घटनाओं और अन्य बातों पर प्रकाश डालते हुए कुछ लिखा तथा कुछ अन्य लोगों ने भी लिखा। परन्तु अब तक कोई ऐसा ग्रन्थ तैयार नहीं हो पाया जिसमें जातीय दृष्टिकोण से राजस्थान के सभी राज्यों का संगठित इतिहास होता और जिसमें ऐतिहासिक तत्वों का विवेचन और अनुसन्धान भी यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होता। हाँ, इस ओर मराठी के विद्वान् लेखकों ने राजस्थान के सम्बन्ध में कुछ आशा-

जनक खोज की है। अभी हाल ही में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य महोदय का "मध्यकालीन भारत" नाम का जो ऐतिहासिक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है उसमें प्राचीन राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक ऐसी बातों पर, जो अभी तक अप्रकाशित या सन्देहास्पद रूप में पड़ी थीं, काफी खोजपूर्वक प्रकाश डाला है। उनके इस ग्रन्थ से राजस्थान के सम्बन्ध में अनेक नई और महत्वपूर्ण बातों का पता लगता है।

राजस्थान के प्राचीन राजवंशों में मेवाड़, उदयपुर, मारवाड़, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, कोटा, बूँदी, आमेर (जयपुर), जैसलमेर आदि बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध राजवंश हैं। इन राजवंशों में से उदयपुर और जोधपुर आदि सूर्यवंशीय महाराज इक्ष्वाकु के वंशज हैं और जैसलमेर का राजवंश चंद्रवंशीय यादव कुल का वंशधर माना जाता है। परमार, परिहार, सोलंकी और चौहान आदि अग्निवंशीय कहे जाते हैं, यद्यपि चौहान और सोलंकी अपने को सूर्यवंशीय ही मानते हैं। इन सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय राजघरानों की और भी शाखा-प्रशाखायें फूटीं और इतना अधिक विस्तार बढ़ा कि सब का यहाँ पर उल्लेख करना सम्भव नहीं है और उसकी आवश्यकता भी नहीं है। प्राचीन इतिहास में प्रधानतया ३६ राजवंशों की नामावली देखी जाती है।

राजस्थान के राज्यों में मेवाड़ और जैसलमेर प्राचीनता और गौरव के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं। राजस्थान कहे जाने के पूर्व इस प्रान्त का नाम "मारवाड़" इन दोनों राज्यों की सीमाओं का लक्ष्य करके ही रखा गया था जो बाद में राजस्थान और फिर राजपूताना कहा जाने लगा। इस सम्बन्ध में आगे चल कर "मारवाड़ी शब्द की व्युत्पत्ति" शीर्षक प्रकरण में विशेष रूप से प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी। जिस दिन से भारतवर्ष ने अपनी स्वाधीनता खोई उस दिन से आज तक अनेक राज्य-परिवर्तन हुए। इस दीर्घकाल में भारतवर्ष के प्रायः सभी

राज्यों को शत्रुओं के घोर एवं कठोर प्रहार सहने पड़े। अनेक बार भयंकर दुर्दशायें हुईं। देश के शत्रु आक्रमणकारियों ने न जाने कितनी बार इस देश की सुख सम्पत्ति, और माल खज़ाना लूटा और इसके ग्रामों और नगरों को श्मसान बना दिया। इस रोमांचकारी लूट-खसोट और मारकाट में अनेक राज्य नेस्तनाबूद हो गये। परन्तु मेवाड़ ने इस भयंकर प्रहार को सह कर तथा भारी से भारी हानि उठा कर भी न केवल अपने अस्तित्व की रक्षा की वरन् अपने धर्म और संस्कृति का पतन भी नहीं होने दिया। यही कारण था कि, मेवाड़ अपने महान् त्याग और गौरव के बल पर एक दिन समस्त राजस्थान का शिरोमणि बन गया और उसे हिन्दूसूर्य की उपाधि मिली।

मेवाड़ की स्थापना पहले पहल महाराज कनकसेन ने की थी जो विक्रमीय संवत् २०० के लगभग सौराष्ट्र से आये थे। इसके कुछ शताब्दियों बाद हमें गहलोत वंश का परिचय मिलता है जो एक समय गंगा जमुना की तराई को छोड़ कर मरूभूमि में आया था। कहते हैं कि, रानी चन्द्रावती का पुत्र जब अनाश्रित हो गया तो कमला नाम की एक ब्राह्मणी ने उसका लालन-पालन किया। इस ब्राह्मणी ने उस राजकुमार का नाम गोह रखा था। गोह का साहस और उसकी वीरता किशोरावस्था से ही प्रकट होने लगी थी। मेवाड़ की पर्वतमालाओं के बीच वह भीलों की मंडलियाँ बना कर भ्रमण किया करता था। उसकी यह निडरता, साहस और वीरता देख कर उन वीर वनचारियों ने उसे अपना अधीश्वर बना लिया था। एक भील बालक ने अपनी उँगली चीर कर उसके रक्त से अपने नये राजा गोह के मस्तक पर रक्त का राजतिलक कर उसे सम्मानित किया। इसके बाद भील सरदारों का सहयोग और अपनी वीरता के बल पर गोह ने वहाँ पर राज्य भी स्थापित कर लिया और उसका आतंक लोगों पर ऐसा जम गया कि, उसका सामना करने का किसी को साहस न होता

था। कहा जाता है कि, यही गोह नाम उसके वंश का गोत्र हो गया और उसके वंशज गहलोत कहलाने लगे।

इसी गोह वंश की आठवीं पीढ़ी में नागादित्य ने प्रतापी राजकुमार वप्पा को जन्म दिया। गोह के समान वप्पा भी तीन वर्ष की अवस्था में ही निःसहाय हो गये। ऐसी अवस्था में उसी ब्राह्मणी कमला के वंशधरों ने वालक वप्पा की रक्षा का भार लिया। वप्पा त्रिकूट गिरि की तराई में गायों को चराते थे और अपने ब्राह्मण संरक्षक के साथ शिवपूजा में भाग लेते थे। यही शिवमूर्ति 'एकलिङ्ग' के नाम से मेवाड़ में प्रसिद्ध हुई।

तत्पश्चात् वे गजनी चले गये। वहाँ उस समय सलीम राज्य कर रहा था। वप्पा ने उसे सहज में ही पदच्युत कर दिया और एक सूर्यवंशी सामंत को गजनी के सिंहासन पर विठा दिया। उसके वाद वे अपनी सेना लेकर चित्तौड़ में आए और सलीम की पुत्री के साथ अपना विवाह किया। वप्पा ने चित्तौड़ में आकर मौर्यवंशी राजा से सिंहासन छीन लिया और अपने आप सिंहासन पर वैठ कर राज्य करने लगे। उनका भाग्य प्रताप इतना वढ़ा कि, वे उस प्रदेश के मुकुट स्वरूप वन गये। ज़नता ने उन्हें सर्वसम्मति से "हिन्दू सूर्य" और "राजगुरु" की पदवियाँ दीं। महाराज वप्पा पचास वर्ष की अवस्था तक चित्तौड़ में रह कर वाद में खुरासान चले गये और उसे जीत कर एक यवन स्त्री के साथ विवाह किया। उस यवन जाति की स्त्री से एक पुत्र भी हो गया। पूरे सौ वर्ष तक महाराज वप्पा जीवित रहे। उन्होंने अपने जीवन काल में इस्पहान, कंदहार, काश्मीर, ईराक, ईरान, तूरान और फाकरिस्तान आदि अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी। वप्पा रावल की हिन्दू और यवन स्त्रियों द्वारा अनेक संतानें हुईं थीं।

राठौड़ वंशीय राजघरानों के सम्वन्ध में पता चलता है कि, कन्नौज के अन्तिम राजा—इतिहास प्रसिद्ध—जयचन्द की मृत्यु के पश्चात् उनके

भतीजे शियाजी को उस देश से निर्वासित कर दिया गया था। उस समय शियाजी अन्य राठौड़ों के साथ कन्नौज से निकल कर मरुदेश में जा बसे। उन्होंने पचास हजार वीर राठौड़ों की सेना तैयार कर राठौड़ राज्य की स्थापना की, जो मारवाड़ नाम से प्रसिद्ध हुआ। राठौड़ों की ही एक शाखा मारवाड़ से बीकानेर में स्थापित हुयी। महावीर जोधाजी ने मंडौर छोड़ कर अपनी नई राजधानी जोधपुर में स्थापित की, जो कि आज तक बनी हुई है। यह बात इतिहास में बड़ी प्रसिद्ध है कि, जोधाजी के दो रानियाँ थीं, जिनमें से उन्होंने एक रानी के साथ प्रेम करना छोड़ दिया था। उस रानी के पुत्र का नाम बीका था। परन्तु जोधाजी अपने पुत्र बीका को उतना नहीं चाहते थे जितना कि अन्य रानी के पुत्रों से स्नेह किया करते थे। जोधाजी के भाई कान्धलजी बड़े वीर थे और वे बीकाजी को बहुत चाहते ही नहीं थे, अपितु अपने पास रखते थे। एक समय जब कि, महाराज जोधाजी अपने दरबार में सिंहासन पर बैठे हुए थे तो उसी समय उनके भाई कांधलजी अपने भतीजे बीकाजी के साथ आकर दरबार में बैठ गये और कानाफूसी करने लगे। उस समय जोधाजी ने अपने भाई कांधलजी से व्यंग के शब्दों में कहा कि, आज तो चाचा-भतीजे इस तरह काना-फूसी कर रहे हैं, मानों कोई स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का इरादा है। इस तानाजनी को सुन कर सुचतुर वीरवर कान्धलजी ने उत्तर दिया कि, यह कौन सी बड़ी बात है। यदि आप चाहें तो बीकाजी के लिए स्वतन्त्र राज्य का होना कोई असम्भव बात नहीं है। इस पर जोधाजी ने तीन सौ घुड़सवार-राजपूत सैनिक उनके हवाले कर दिये और उसी समय दोनों चाचा-भतीजे जोधपुर छोड़ कर निकल पड़े। उन्होंने पूगल के राज्य में पहुंच कर विजय प्राप्त की और पूगल की राजकुमारी से बीकाजी का विवाह भी किया। धीरे-धीरे उस देश पर अपना अधिकार कायम कर लिया। उस देश में जाटों की बस्ती अधिक थी। वे लोग बड़े लड़ाके और शूरवीर थे। दिल्ली के सम्राट्

ने इन जाटों के सम्बन्ध में एक समय उल्लेख किया था कि, जब-जब मैंने भारतवर्ष में अपनी सत्ता स्थापित करने का उद्योग किया, तब-तब सदा इन जाटों (राठों) ने मेरे सामने शस्त्र धारण किये थे। वीर बीकाजी ने इन सब को हरा कर अपना राज्य स्थापित किया। जिस स्थान पर बीकानेर बसाया गया, वह स्थान नेरे नाम के एक जाट के अधिकार में था। उस जाट ने अपनी भूमि बीकाजी को इस शर्त पर दे दी कि, राजधानी के नाम में उसका नाम भी जोड़ा जाय। बीकाजी ने उसकी शर्त को स्वीकार कर लिया और राजधानी का नाम बीकानेर रखा गया जो कि, बीकाजी और नेरे जाट के नाम की स्मृति का द्योतक है।*

कांधलजी द्वारा बीकानेर राज्य की स्थापना का इतिहास इस बात को

---

* बीकानेर राज्य में यह दन्तकथा भी मशहूर है कि, बीकाजी ने विजय प्राप्त कर ली तो उन्हें अपना किला बनाने की जरूरत हुई। उस समय नेरा नाम का एक ग्वालिया अपनी रेवड़ चराता था। उसने बीकाजी से कहा कि, महाराज मैं आपको किला बनाने के लिए एक ऐसा स्थान बतला सकता हूँ जो कि अजेय है; क्योंकि मेरी एक बकरी अपने बच्चों के साथ एक रात को छूट गई थी, जिसने उस स्थान पर रात भर एक सिंह का आक्रमण बचा कर अपने बच्चे की और अपनी रक्षा की। मेरी राय में वही स्थान अजेय है। आप को वहीं पर अपना किला बनाना चाहिए, परन्तु वह स्थान मैं उस अवस्था में बतला सकता हूँ जब कि आप यह स्वीकार कर लें कि राजधानी के नाम के साथ मेरा नाम भी जोड़ा जायगा। बीकाजी ने यह स्वीकार कर लिया और उस स्थान पर किला बना कर उसका नाम बीकानेर रक्खा। आज भी बीकानेर के पुराने किले में एक झाड़ी की पूजा होती है और कहा जाता है कि यहीं पर उस बकरी ने शेर का सामना कर अपनी तथा अपने बच्चे की रक्षा की थी।

प्रकट करता है कि, उस प्राचीन समय में लोगों के हृदय पर बात का कितना प्रभाव पड़ता था और अपनी बात को रखने के लिए राजस्थान के व्यक्ति किस प्रकार कठिन से कठिन कार्य करने को उद्यत हो जाते थे।

जिस प्रकार गहलोतों ने मेवाड़ की स्थापना की, राठौड़ों ने मारवाड़ की, उसी प्रकार जयपुर राज्य की भी स्थापना हुयी थी। कछवाहा वंश में बालक दूलेराय ने जन्म धारण किया था। पिता के राज्य से वंचित होकर दूलेराय ने खोह ग्राम में प्रवेश किया जो कि, वर्तमान जयपुर से कुछ ही फासले पर था। दूलेराय ने वहाँ पर बड़गूजरपति की कन्या से विवाह कर मीना जाति को परास्त किया और उस देश पर अपना अधिकार जमा लिया। इसके उपरान्त उन्होंने अपनी नई राजधानी स्थापित की, जो कि अम्बर या आमेर के नाम से प्रसिद्ध हुई। वहाँ पर एक नया किला बनाया और अपने पूर्वज भगवान् रामचन्द्र के स्मारक स्वरूप उसका नाम रामगढ़ रखा। इसी वंश में राजा मानसिंह हुए।

इतिहास में हाड़ौत वंश का नाम भी बड़ा प्रसिद्ध रहा। उसके आज भी दो राज्य हैं, एक का नाम बूँदी और दूसरे का कोटा है। बूँदी-कोटा आरम्भ में एक ही राज्य था। इन दोनों के बीच में चम्बल नदी पड़ती है। हाड़ा वंश में माणिकराय बड़े प्रतापी राजा हुए। उन्होंने अन्य भारतीय राजाओं के साथ मिल कर पहले पहल सन् ६८५ में मुसलमानों के साथ युद्ध किया था। इस युद्ध में उन्होंने जो पराक्रम दिखाया, उससे मुसलमानों में मक्के तक तहलका मच गया था। मुसलमानों ने इस युद्ध को धर्म युद्ध घोषित किया था, परन्तु अन्त में माणिकराय की विजय हुई। इन्हीं माणिकराय के वंश में वीर देवा, वीरवर हामाजी, छत्रसाल, सूर्यमल और अर्जुनसिंह प्रभृति कई प्रतापशाली नरेश हुए। इसी वंश में सुरजनसिंह बूंदी के राजसिंहासन पर बैठे। सूर्यमल के

शासनकाल में रतनसिंह के द्वितीय पुत्र माधोसिंह ने जब बुरहानपुर में विजय प्राप्त की, तब से कोटा राज्य बूंदी से अलग हो गया। यह बात सम्वत् १५६५ की है जब कि, माधोसिंह अपने पिता का राज्य छोड़ कर स्वतन्त्रतापूर्वक कोटे का राज्य करने लगे थे।

इन सूर्यवंशी राजाओं के अतिरिक्त यादव कुल के जिस राजवंश ने राजस्थान में प्राचीन काल से अपना अभ्युदय प्राप्त किया, उसके परम-प्रतापी राजा जैसलदेव ने जैसलमेर राज्य की स्थापना की थी। झालौर और अरावती के भाग में भाटियों ने इस चन्द्रवंशी राज्य की बहुत अधिक वृद्धि की।

मेवाड़ के रावल वप्पा के बाद महाराणा खुमान के समय, स्वतन्त्रता की लीलाभूमि चित्तौड़ पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। यद्यपि इस भीषण युद्ध में भी राणा खुमान ने विजय-पताका गर्व सहित फहराई, तथापि हमें यह कहना चाहिये कि, उस समय सारे भारतवर्ष में सर्वथा एक नई परिस्थिति पैदा हो गई थी। देश का दुर्भाग्य था कि, भारतवर्ष का राजमुकुट उसी समय से आर्य-नृपतियों के मस्तक से उतर कर मुसलमान बादशाहों के सिर पर जा पहुंचा था।

उस समय दिल्ली के तख्त पर चक्रवर्ती महाराजा अनंगपाल राज्य करते थे। महाराजा अनंगपाल के कोई पुत्र न था, केवल दो पुत्रियां थीं और उन दोनों पुत्रियों के एक एक पुत्र होने के कारण जयचन्द और पृथ्वीराज, उनके दौहित्र राज्य के उत्तराधिकारी समझे जाते थे। इनमें जयचन्द पृथ्वीराज से उम्र में बड़ा था। परन्तु जयचन्द के अपनी नानी के प्रेम से वंचित होने के कारण इस चक्रवर्ती राज्य के अधिकारी पृथ्वी-राज घोषित किये गये। यद्यपि न्याय दृष्टिसे दिल्ली का सिंहासन जय-चन्द को मिलना उचित था; क्योंकि अवस्था में पृथ्वीराज से वह बड़ा था, पर भाग्य के आगे किसका जोर चलता है? भाग्यलक्ष्मी पृथ्वीराज पर प्रसन्न थी और वही राजा हुआ। राठौड़ वंशी जयचन्द बड़ा शूर-

वीर था और इतिहास में उसे "दला पांगला" कह कर सम्बोधित किया गया है। उसने पृथ्वीराज की राजसत्ता स्वीकार नहीं की और पृथ्वीराज के शत्रु मुसलमानों से जा मिला। उसका परिणाम यह हुआ कि, पृथ्वीराज को यवनों के साथ घनघोर युद्ध लड़ने पड़े। सच तो यह है कि, जयचन्द के मुसलमानों से मिल जाने के कारण आर्य जाति में गृह कलह की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और यही कारण हुआ कि, इन युद्धों में चित्तौड़ के परम प्रतापी राजा समरसिंह जैसे महावीर ही काम नहीं आए, अपितु चन्दबरदाई और स्वयं महाराजा पृथ्वीराज भी धराशायी हो गये। इस प्रकार जब शाहबुद्दीन गोरी सफल हो गया तो, यवनों ने जयचन्द की राजधानी कन्नौज पर भी चढ़ाई की। जयचन्द यह न समझता था कि, यवन इतना विश्वासघात करेंगे कि, जिसने सहायता देकर उन्हें पृथ्वीराज से जिताया, उसी पर आक्रमण कर बैठेंगे। परन्तु; पृथ्वीराज के मारे जाने से यवनों का हौसला और बल बेहद बढ़ गया था। इस अवस्था में वे जयचन्द को स्वतन्त्र रखें यह कब संभव था? इस प्रकार यवन लोग जब कन्नौज पर चढ़ आए, उस समय जयचन्द को होश हुआ। वह अपनी करनी पर पछताने लगा। उसे इतनी आत्मग्लानि हुई कि, वह एक नौका में बैठ कर गंगा में डूब मरा। भारत की स्वतन्त्रता नष्ट होने का आदि कारण इतिहास में यही मिलता है और यही कारण है कि, जो जयचन्द "दला पांगला" की उपाधि से विभूषित था, उसे देशद्रोही कह कर आज हिन्दू जनता याद करती है।

इस प्रकार जिस समय भारतवर्ष की हिन्दू राजशक्ति लुप्त हो गयी, उस समय प्रलय काल सा दीख पड़ने लगा। परन्तु जननी जन्मभूमि की इस चिन्तनीय अवस्था में भी राजपूत जाति एकबारगी परास्त हो गई हो, यह बात नहीं थी। यद्यपि गृहकलह के कारण एक बार उसे कठिन परिस्थिति का शिकार होना पड़ा, तथापि वह सम्हल गई। यह राजपूतों की बुद्धिमानी और विचित्र राजनीतिज्ञता थी कि, इस कठिन परिस्थिति

में भी वे राजस्थान में आकर हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्ति का संगठन करने लगे। राजस्थान में आकर इस कार्य में वे इतने सफल हुए कि, यदि वे सब के सब मिल कर संगठित शक्ति से काम ले सकते तो बहुत सम्भव था कि, वे अपने असली ध्येय को प्राप्त कर लेते। परन्तु उन्होंने असीम शक्ति प्राप्त करके भी उसका प्रयोग जिस ढंग से करना चाहिए था, उस ढंग से नहीं किया। वे आपस में ही भिड़ने लगे। राठौड़ वंश राजपूताने की शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ हो गया था। परन्तु वह भी आपस की कलह में पड़ गया। गहलोत और राठौड़ों में युद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त बूंदी के हाड़ों से भी वैमनस्य हुआ। कई कारणों से मेवाड और मारवाड़ को मुगल बादशाहों के साथ अधिक मोर्चे लेने पड़े। मेवाड़ के प्रातःस्मरणीय राणा कुम्भा, प्रताप, अमरसिंह और संग्रामसिंह तथा अन्य वीर राणाओं ने स्वतन्त्रता के संग्राम में जो भाग लिया, उसका उल्लेख भारत के इतिहास का गौरव है। मेवाड़ और मारवाड़ के साथ ही साथ समय-समय पर जैसलमेर और बूंदी, कोटा के वीर हाड़ों को भी अपने शत्रुओं से कम लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी। मारवाड़ के जोधाजी, मालदेव, जयमल, जसवन्तसिंह, दुर्गादास और अजितसिंह तथा बूंदी, कोटा के विशालदेव, हाड़ाराव, हमीर, देवा, सुरजनसिंह, छत्रसाल एवं जैसलमेर के सबलसिंह, अमरसिंह और जसवन्तसिंह आदि वीर श्रेष्ठ हिन्दू नरपतियों ने अपने साहस, वीरता और तेजस्विता से अनेक भीषण युद्धों के समय यवनों के छक्के छुटाये थे। इन राजाओं ने अनेक युद्धों में प्राणों की बाजी लगा कर देश के उन अन्धकार के दिनों में स्वतन्त्रता के दीपक को प्रकाशमान रखने के लिए अपने रुधिर से भरा था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किए जानेवाले राजपूत राज्यों के बलिदान संसार के इतिहास में अपना सानी नहीं रखते।

राजस्थान की वीरांगनाओं ने भी कर्त्तव्य-पालन में अपने वीर पुरुषों से किसी प्रकार भी कम हाथ नहीं बंटाया।

हमारी वीर माताएँ—

सच तो यह है कि, राजस्थान का इतिहास इनकी गौरव-गरिमा से ही परिपूर्ण है। इन तेजस्वी महिलाओं का ही काम था कि, महलों में परदे के भीतर रहती हुयी भी आवश्यकता होने पर सिंहनी की तरह दहाड़ा करतीं थीं। इन्हीं की यह विशेषता थी कि, अपने पति और पुत्रों को हँसते-हँसते युद्ध-क्षेत्र में भेजने के लिये उन्हें सुसज्जित कर उनके माथे पर तिलक चढ़ाती थीं और कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा देती हुई उन्हें विदा करती थीं। जब ये देखतीं कि, देश की स्वतन्त्रता और मान-मर्यादा की रक्षा के लिए उनकी भी जरूरत है तो केसरिया वस्त्र धारण कर खड्ग-हस्त हो स्वयं भी रणक्षेत्र में आ कूदती थीं। कठिन परिस्थिति होने पर जब ये देखतीं कि, अपना सतीत्व बचना दुर्लभ हो गया है तो जौहर व्रत धारण कर अग्नि में प्रवेश कर जाती थीं। वीरमाता देवल देवी ने अपने प्राणाधिक पुत्र से कहा था कि "या तो विजय प्राप्त करो, या रणभूमि में प्राण दे दो।" महारानी संयुक्ता ने अपने हाथों से अपने पति महाराज समरसिंह को सजा कर रण के लिये विदा दी थी। पद्मिनी को पाने के लिए अलाउद्दीन ने बड़ी भारी सेना लेकर चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया था। परन्तु अन्त में उसे पता लगा कि, राजपूत ललनाएँ अपने हाथों से अपने हृदय को छेद सकती हैं और हँसते-हँसते अपने प्राणों की आहुति अग्नि में डाल सकती हैं परन्तु अपने सतीत्व का अपहरण सहन नहीं कर सकतीं। इतिहास डंके की चोट कहता है कि, राजपूत वीरांगनाएँ अपने हारे हुए पतियों का मुख देखना पसन्द नहीं करती थीं। उनका क्षत्रियोचित साहस, वीरता, तेजस्विता और आत्माभिमान अप्रतिम था। एक समय मारवाड़ के महाराजा जसवंत सिंह एक युद्ध से हट कर अपने राज्य में वापस चले आए, तो उनकी रानी ने जो कि मेवाड़ के राणा की पुत्री थी, ऐसी अवस्था में आये हुए

अपने पति को मारवाड़ की राजधानी में प्रवेश नहीं करने दिया और गढ़ के दरवाजे बन्द करा दिये। रानी ने अपने पति से कहला भेजा था कि, तुम मेरे स्वामी नहीं हो, क्योंकि मेवाड़ के राणा के जामाता इतने कायर कभी नहीं हो सकते। तुम्हें विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं था तो युद्धक्षेत्र में ही प्राण त्याग देने थे। इसका परिणाम यह हुआ कि महाराजा जसवन्तसिंह ने फिर से उत्साहित होकर अपनी नई सेना लेकर औरंगजेब पर विजय पाई। नवविवाहिता संयोगिता ने अपने पति पृथ्वीराज को क्या सलाह दी थी ? उसने अपने वीर पति से कहा था कि, स्त्री सुख व दुःख की समान अधिकारिणी है। अब आप मेरी सलाह से रणक्षेत्र में जाकर प्राण रहने तक शत्रु से युद्ध करें और यदि आप युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु को प्राप्त होंगे तो मैं वहाँ आकर आपकी सहगामिनी होऊँगी। गानौर की रानी का चरित्र कम श्रेष्ठ नहीं है। उसने अपूर्व साहस से भूपाल के सेनापति का वध कर अपने सतीत्व की रक्षा की थी। उस कठिन समय में उनका साहस ही उनकी रक्षा करता था।

राजस्थान के इतिहास में ऐसे भी कई प्रमाण मिलते हैं कि राजपूत वीरांगनाएँ कीमती वस्त्राभूषणों की अपेक्षा जहाँ साधारण और स्वच्छ वस्त्र पहनना पसन्द करती थीं, वहाँ हीरे और मोतियों के गहनों से भी परहेज किया करती थीं। जयपुर की रानियाँ बढ़िया वस्त्र धारण करती थीं। परन्तु कोटे की राजकुमारी जब जयपुर के महाराज की रानी बनी तब उसने कीमती वस्त्र धारण नहीं किये। उसे कीमती वस्त्राभूषण पहनना पसन्द नहीं था वह साधारण वस्त्र ही पहना करती थीं। एक समय महाराजा जयपुर ने अपनी रानी, कोटा की राजकुमारी से कहा कि तुम्हारी अपेक्षा तो इस राज्य की साधारण स्त्रियाँ भी अधिक अच्छे वस्त्र पहनती हैं। ऐसा कह कर रानी के वस्त्र वे फाड़ने लगे। इस पर कोटा की राजकुमारी ने कहा कि, यह तो आप मेरा घोर अपमान कर रहे हैं। इस पर भी वे नहीं माने, तो रानी ने अपनी कटार म्यान से खींच ली

और मान के साथ अपने पति से कहने लगी कि, मैंने जिस हाड़ा राजवंश में जन्म लिया है, वह कभी इस प्रकार घृणित उपहास नहीं सहन कर सकता। आपको यह ध्यान रखना चाहिये कि, पति-पत्नी के परस्पर के सन्मान से ही दाम्पत्य-सुख मिल सकता है और धर्म की भी रक्षा होती है। आपको भलीभांति यह मालूम हो जाना चाहिये कि कोटा की राजकुमारी तलवार के व्यवहार में जितनी निपुण है, उतनी वह कांच के टुकड़े और बढ़िया वस्त्र पहनने में नहीं। हमारे गीतों तक में इसी सादगी का वर्णन है। वधावों के गीत इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

कर्मदेवी की विशेषता कौन इतिहास प्रेमी नहीं जानता, उसने अपने पति साधु से उनकी वीरता के कारण स्वेच्छा से विवाह किया था। परन्तु उसके रूपलावण्य पर मुग्ध मन्दोर का राजकुमार साधु से कर्मदेवी को छीनने के लिये कई हजार सेना लेकर आया था। उस समय कर्मदेवी ने नव-विवाहित पति से कहा था कि, मैंने आपका पराक्रम अपनी आंख से देखा है। कुछ पर्वाह नहीं, यदि आप रणक्षेत्र में शयन करेंगे तो मैं भी आपकी सहगामिनी बनूंगी। वीर श्रेष्ठ साधु के निधन पर कर्मदेवी ने अपने पति के साथ चिता में बैठ कर सहमरण किया।

बूंदी की महारानी ने जब अपने प्यारे पुत्र को रणक्षेत्र में भेजा और वहां उसकी मृत्यु हो गई तो रानी ने यह सम्वाद सुन कर शोक के बदले हर्ष प्रकट किया कि, 'मैं धन्य हूं। मेरे पुत्र ने मेरा दूध नहीं लजाया।' उसकी छाती भर आई और स्तनों से दूध की धारा बहने लगी। उस समय राजस्थान की स्त्रियाँ अपने बच्चों को पलंग पर सुलाने के बजाय बड़ी-बड़ी ढालों में शयन कराती थीं और खेलने के लिए छोटी-छोटी तलवारें और तोपों के खेलने दिया करती थीं। अपने पुत्र को सुलाते और जगाते समय ऐसी लोरियाँ देती थीं कि "ऊठो म्हारा ऊणां भूणां, फौज कांकड़ में आई जी, कोई कूदे कोट कांगरा कोई कूदे खाई जी, कूद पड़्यो गूजर को बेटो, नौ सौ गाय छुटाई जी। ऊठो म्हारा ऊणां भूणां फौज कांकड़ आई जी।"

राजपूताने की इन महादेवियों के सम्बन्ध में हम कहाँ तक लिखें। सच तो यह है कि इन्हीं देवियों के कारण उस समय हिन्दू समाज आजकी अपेक्षा अधिक सुखी था और स्त्री समाज आर्य संस्कृति के अनुसार सच्चे स्वातन्त्र्य का उपभोग करता था। वे न तो अनावश्यक आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों की दासी थीं और न देश तथा समाज के किसी भी कार्य में पीछे थीं। गृह कार्यों को उन्होंने पुरुषों की गुलामी नहीं समझा। गृह कार्य करती हुईं, वे कुटुम्ब और समाज के अनुशासन में रहती थीं, मगर अत्याचार होने पर वे महाकाली का सा रूप धारण कर अत्याचारी का मान मर्दन कर देती थीं।

ऐसी वीरांगनाएँ उन वीर राजपूतों का साथ देती थीं, जो उस समय देश की स्वतन्त्रता के लिए कृत-संकल्प थे। फिर भी वे अपने देश को स्वतन्त्र नहीं बना सके। इसके कारण की छानबीन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से और एक-एक राज्य की पृथक् शक्ति के आधार पर सब ने बड़ा पराक्रम दिखलाया तथापि समष्टि रूप से जातीयता की भावना धारण कर संगठित होकर न लड़ने के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली।

निष्कर्ष— अब राजस्थान के इतिहास सम्बन्धी कुछ तात्त्विक बातों पर विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि, उस समय देश की तथा समाज की वास्तविक परिस्थिति क्या थी। ऊपर के अवतरणों से पाठक यह तो भली भांति समझ ही गये होंगे कि भारतवर्ष में हिन्दू राजसत्ता का ह्रास पारस्परिक डाह और गृह-कलह के कारण हुआ था। दिल्ली के चक्रवर्त्ती महाराज अनंगपाल के पश्चात् दिल्ली का सिंहासन पाने के लिए जयचन्द और पृथ्वीराज में यदि वैमनस्य खड़ा न होता तो यह कदापि सम्भव नहीं था कि परमपरागत सुदृढ़ हिन्दू राजसत्ता विदेशी यवनों के हाथों में चली जाती। वास्तव में भारतवर्ष के विदेशियों के अधीन होने का प्रधान कारण हिन्दुओं की नासमझी और

पारस्परिक डाह तथा फूट ही है, जो कि, न सिर्फ उस समय ही यवनों का पैर भारतवर्ष में जमाने का कारण बनी थी, बल्कि आज भी हिन्दुस्थान को विदेशियों का गुलाम बनाये हुए है।

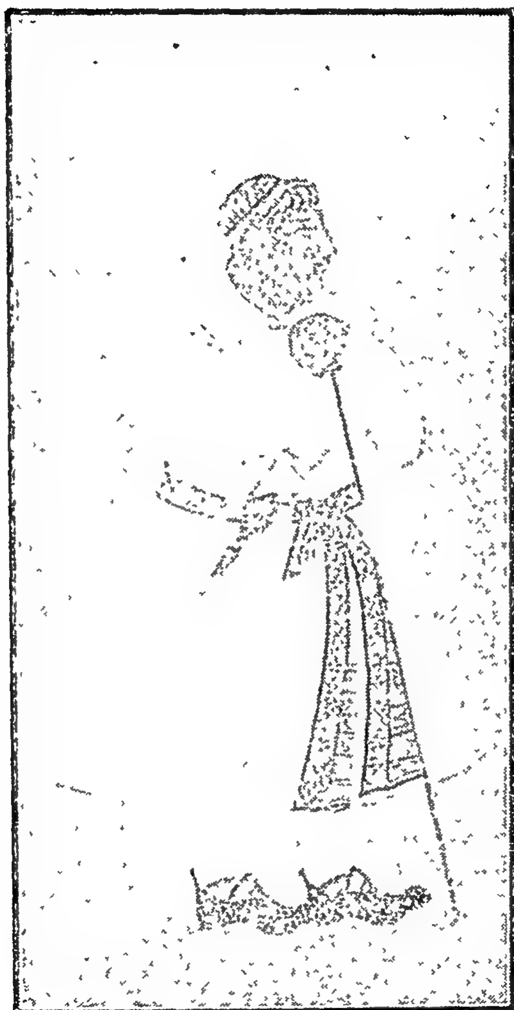
पृथ्वीराज और जयचन्द का अन्त होने तथा हिन्दू राजसत्ता का लोप होने पर भारतवर्ष की स्थिति एकदम बदलने लगी। एक ओर तो यवनों ने अपनी संस्कृति फैलाने और अपनी सत्ता बढ़ाने का प्रयत्न शुरू कर दिया और दूसरी ओर राठौड़ वंशीय राजपूतों को जयचन्द के डूब मरने पर होश हुआ कि, इस प्रकार की परिस्थिति पैदा करने के कारण हमी हैं। परन्तु उस समय वे क्या कर सकते थे, परस्पर की डाह के कारण वैसे तो पहले ही वे छिन्न-भिन्न हो रहे थे और अब तो जयचन्द के मर जाने तथा यवनों की राजसत्ता दिल्ली पर जम जाने से वे और भी अधिक अस्तव्यस्त हो गये। यवनों ने विचार किया कि, यद्यपि महावीर जयचन्द का खात्मा हो गया है, तथापि राठौड़ जाति के वीरों की अब भी कमी नहीं है। अतः जयचन्द के वीर भतीजे शियाजी को भी उन्होंने देश से निर्वासित कर दिया। शियाजी बुद्धिमान था, उसने कठिन परिस्थिति का अनुभव कर अपनी बिखरी हुई शक्ति का पुनः संगठन करने के उद्देश्य से राजस्थान की पवित्र भूमि में आकर बस जाना उचित समझा, जहाँ पर कि, अन्य राजपूत पहले से ही आगये थे। शियाजी ने वहाँ पहुँच कर पचास हजार राठौड़ वीरों की सहायता से राठौड़ों का राज्य कायम कर लिया जो कि, बाद में मारवाड़ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यह अवस्था कई शताब्दियों तक रही। इधर राजस्थान में राजपूतों ने अपनी शक्ति संचय की और उधर मुगलों की राजसत्ता दिल्ली के सिंहासन पर प्रति दिन बढ़ रही थी। इस बीच में अनेक संघर्षण भी हुए। परन्तु वीर राजपूतों ने मुगलों की दाल राजस्थान में नहीं गलने दी। उस समय राजस्थान के राजपूतों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि, मुगल साम्राज्य को हर समय उनसे सशंक रहना पड़ता था। कमी थी तो,

यही कि, राजस्थान में रह कर राजपूत वंशधरों ने जहां असीम वल प्राप्त किया और समय-समय पर वीरता, शूरता, त्याग और वलिदान का परिचय दिया, वहाँ वे जातीयता की दृष्टि से अपना सार्वजनिक संगठन नहीं कर सके। एक-एक रियासत और एक-एक जाति के राजा लोग अपने-अपने वल के घमण्ड में इतने मस्त हो गये कि, उन्हें अपने किसी दूसरे भाई से मिल कर काम करने की जरूरत महसूस ही नहीं होती थी। यद्यपि वे व्यक्तिगत रूप से लड़ कर भी यवनों से दवे नहीं और अपना पतन भी नहीं होने दिया तथापि सार्वजनिक संगठन न होने से वे यवनों को दवा भी नहीं सके।

मुगल साम्राज्य की वागडोर जव वादशाह अकवर के हाथ में आई तो उसने अपनी विशेषताओं का वहुत अधिक परिचय दिया। वह वुद्धिमान होने के साथ ही साथ वड़ा भारी कूटनीतिज्ञ भी था। उसने अनुभव किया कि, मुगलों की राजसत्ता हिन्दुस्थान पर भली प्रकार उस अवस्था में ही कायम रह सकती है, जव कि, इस देश के हिन्दुओं से विशेष कर राजस्थान के वीर राजपूतों से मेलमिलाप रखा जाय। उसने ऐसी विचित्र नीति का प्रयोग किया कि, वह कट्टर मुसलमान न समझा जाकर सर्वप्रिय सम्राट् कहा जाने लगा। मुगल साम्राज्य की शक्ति का आतंक विस्तार पा चुका था और वादशाह अकवर ने प्रकट में यह स्थिति पैदा कर दी थी कि, मुगल साम्राज्य की शक्ति अपार है और उसे सहज में कोई नहीं दवा सकता। उस समय आमेर (जयपुर) के महाराजा भगवानदास और उनके पुत्र महाराज मानसिंह राजस्थान के राजाओं में वड़े वुद्धिमान, दूरदर्शी और युद्धपटु समझे जाते थे तथा व्यावहारिक चतुर भी थे। उन्होंने मुगलों की शक्ति का अनुभव कर विचार किया कि, परिस्थिति कुछ ऐसी उपस्थित हो गई है कि, वादशाह अकवर के साथ मेल-मिलाप वढ़ा कर रहने में मंगल है। उन्होंने वादशाह अकवर के हाथ वढ़ाने पर उसे सहयोग देना शुरू कर दिया। मुगल साम्राज्य की

सुप्रसिद्ध वीर और नीतिनिपुण



स्वर्गीय महाराजा मानसिंह, आंबेर (जयपुर)

बढ़ती हुई शक्ति को अपने हाथ में कर लेने के लक्ष्य से उन्होंने अपनी पुत्रियों का विवाह भी उनके साथ कर दिया। यद्यपि हिन्दू संस्कृति की पवित्रता की दृष्टि से राजपूत कन्याओं का यवनों के साथ विवाहना, न केवल सामाजिक अपराध ही था अपितु राजपूत रुधिर को कलंकित करनेवाला भी था और इस विषय की आलोचना भी बहुत अधिक हुई है, एवं आज भी होती है, तथापि मालूम होता है इसमें भी एक बड़ा भारी राजनैतिक रहस्य था और इसी रहस्य को सामने रख कर आमेरपति ने हिन्दू आदर्श की विशेष परवाह न कर, न करनेवाला काम भी किया था। इस सम्बन्ध में आगे चल कर हम विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ पर हमें यह बतलाना है कि, महाराज मानसिंह ने बादशाह अकबर पर अपना इतना प्रभाव जमा लिया था कि, वे प्रधान सेनापति ही नहीं, अपितु साम्राज्य के आधार स्तम्भ बन गये थे। उन्होंने अपने बाहुबल से सिन्धु नदी पार कर बड़े-बड़े राज्यों को अपने पैरों पर झुका कर मुगल राजसत्ता का विस्तार किया और साथ ही मुगल राजसत्ता को भी सर्वथा अपने अधिकार में कर लिया।

बादशाह अकबर की नीति ने न केवल महाराजा मानसिंह को ही अपने अनुकूल बनाया बल्कि अन्य राजपूत राजाओं पर भी प्रभाव डाला और प्रायः वे भी किसी न किसी रूप में अकबर के साथ सन्धि सूत्र में बंध गये। केवल मेवाड़पति महाराणा प्रताप ही ऐसे रहे जिन्होंने बादशाह अकबर के साथ सन्धि-सूत्र में बँधना स्वीकार नहीं किया। वे स्वतन्त्रता के पुजारी थे। आदर्शवाद उनका लक्ष्य था। उन्होंने महान् से महान् कष्टों का सामना किया पर अकबर के सामने सिर नहीं झुकाया। कूटनीतिज्ञ बादशाह अकबर का लक्ष्य था कि महाराणा प्रताप का सहयोग किसी प्रकार भी प्राप्त हो जाय तो राजस्थान के राजपूतों से मुगल साम्राज्य सदा के लिए निःशङ्क हो जाय, परन्तु आदर्शवादी प्रताप ने अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी अपना नैतिक पतन नहीं होने दिया।

बादशाह अकबर महाराणा प्रताप से क्या चाहता था? यह एक प्रश्न है। वह यह नहीं चाहता था कि, प्रताप अपनी बहन या पुत्री का विवाह उनसे कर दे, वह यह नहीं चाहता था कि, राणा उसे कोई कर दे, और वह यह भी नहीं चाहता था कि, राणा प्रताप उसके दरबार में आकर नतमस्तक हो बैठे। अकबर की एक मात्र इच्छा यह थी कि, राणा एक बार अपने मुख से केवल इतना ही कह दे कि, 'अकबर तूं सम्राट् है'। परन्तु यह कब सम्भव था कि, महाराणा उसकी ओर झुक जाता। वीरवर प्रताप ने अपनी स्वदेश-भक्ति, स्वातन्त्र्य-प्रेम, वीरता और महान् आदर्श का अभूतपूर्व उदाहरण संसार के सामने रखना ही उचित समझा। संसार में उनके जैसा स्वाभिमानी आदर्शवादी महापुरुष कहाँ मिल सकता है?

इतना होने पर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि, उस समय राजस्थान के नरेशों की आन्तरिक परिस्थिति बहुत ही अधिक डाँवाडोल और अनिश्चित हो गई थी। एक ओर जयपुर के महाराज मानसिंह तथा अन्य राजा लोग सहयोग प्रदान कर मुगल साम्राज्य की सहायता करना उचित समझ रहे थे। दूसरी ओर महाराणा प्रताप किसी की परवाह न कर अपने आदर्श पर डटे रह कर बादशाह अकबर की सत्ता का तिरस्कार कर उसका सामना कर रहे थे। परिस्थिति इतनी जटिल हो गई थी कि, राजस्थान का जातीय-सूत्र कमजोर पड़ गया था। महाराजा मानसिंह अतुलनीय योद्धा और संसारविजयी कहे जाने पर भी राजपूत जाति और अपने समाज में घृणा के पात्र समझे जाने लगे थे, इसलिए कि, उन्होंने अपनी पुत्री यवन सम्राट् को विवाह दी थी। इसके अतिरिक्त जिन अन्य राजाओं ने अकबर को सहयोग दिया था उनके साथ भी पारस्परिक खींचतान तथा वैमनस्य चल रहा था। उस समय "अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी थी। आदर्श-वाद की दृष्टि से महाराणा प्रताप का कार्य अवश्य ही सराहनीय था और सिद्धान्त की दृष्टि से आज भी उनका गुणगान होता है। परन्तु राजनीति

की दृष्टि से जब विचार किया जाता है, तो मालूम होता है कि, महाराजा मानसिंह आदि सहयोग देने वाले राजपूत नरेशों का कार्य सर्वथा उपेक्षणीय भी नहीं था। यदि हम गंभीरता पूर्वक विचार करें, तो यह प्रकट होगा कि, मुगल साम्राज्य की शक्ति उस समय इतनी सुदृढ़ हो गई थी कि, राजपूत नरेशों का अस्तित्व तक खतरे में था। इसलिए आपद् धर्म समझ कर महाराज मानसिंह आदि ने बादशाह अकबर को सहयोग दिया, तो कूट राजनीति की दृष्टि से वैसा करना अनुचित नहीं था। संसार का इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि, राजनीति में सभी कुछ करना पड़ता है। देश के कल्याण के लिए भारी से भारी कुर्वानियाँ भी करनी पड़ती हैं। भगवान् कृष्ण ने राजनीति में विजयी बनने के लिए महाभारत के युद्ध में क्या अनेक प्रकार की कूट नीति से काम नहीं लिया था? क्या उस समय उन्होंने केवल आदर्श की चिन्ता की थी? हमारे देश के अर्वाचीन राष्ट्र-सूत्रधार लोकमान्य तिलक ने अपने एक भाषण में क्या यह नहीं कहा था कि, राजनीति व्यभिचार-मयी है। उसमें किस समय कौन सा मार्ग ग्रहण करना पड़ता है उसका पहले से कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। उसमें धर्म और सत्य का लक्ष्य केवल देश की स्वाधीनता की ओर होता है।

असल बात यह है कि, राजनीति में केवल आदर्श पर ही डटा रहना व्यावहारिकता की दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़ता। महाराणा प्रताप का क्षेत्र राजनैतिक था। उन्होंने राजनीति की पर्वाह न कर केवल आदर्श का पालन किया। यद्यपि आदर्शवाद की दृष्टि से संसार के सामने उन्होंने एक प्रकार का अद्भुत उदाहरण पेश किया, तथापि राज-नीति की दृष्टि से, जिस क्षेत्र में वे उपस्थित थे, उसमें उनका आदर्श लाभ-प्रद सिद्ध नहीं हुआ।

राजस्थान के इतिहास से प्रतीत होता है कि, यदि महाराणा प्रताप राजनीतिज्ञता से काम लेते, तो राजस्थान की राजपूत जाति का सार्व-

भौमिक संगठन होना कठिन नहीं था और वैसा होने पर भारतवर्ष में हिन्दू राजसत्ता पुनः सहज में कायम हो सकती थी।

इस सम्बन्ध में महाराष्ट्र के विद्वान् इतिहास लेखक श्रीयुत् चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपनी नई खोज़ से अपने मध्यकालीन भारत नामक ग्रन्थ में जो प्रकाश डाला है, उससे पता लगता है कि, जयपुर के महाराजा मानसिंह ने अपनी पुत्री और बहिन का विवाह मुगल वंश में किया और अपना अतुलनीय बल लगा कर मुगल साम्राज्य की वृद्धि की। इसमें बड़ी भारी राजनीति विद्यमान थी। मुगल साम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति उन्हें राजपूत जाति का अस्तित्व मिटानेवाली प्रतीत होती थी और उनके विचार में स्वजाति की रक्षा उस हालत में ही होनी संभव प्रतीत हुयी, जब कि, मुगल साम्राज्य की शक्ति में प्रवेश किया जाय। यही कारण था कि, उन्होंने हिन्दू संस्कृति और सामाजिक आदर्श की पर्वाह न करते हुए अपनी बहिन और पुत्री को यवनों के हाथ में सौंप दिया था। इसका यह परिणाम हुआ कि, महाराजा मानसिंह ने अकबर की सेना का प्रधान सेनापति बन कर मुगल साम्राज्य की सारी शक्ति अपने अधिकार में कर ली थी। इस प्रकार जब वे मुगल राजसत्ता के आधार स्तम्भ बन गये, तो उन्होंने महाराणा प्रताप को लिखा कि, मैं आप से मिलना चाहता हूँ और अन्त में वे कमलनेर में जाकर राणा से मिले। उन्होंने राणा से कहा कि, यद्यपि हिन्दुस्थान के राजसिंहासन पर बादशाह अकबर बैठा हुआ है, तथापि साम्राज्य की सारी शक्ति मेरे हाथ में है। आओ और उससे लाभ उठाओ। पर राजपूत जाति के लिए दैव विपरीत था। एक ओर राजनीति हिन्दू विजय के लिए मार्ग खोज रही थी और दूसरी ओर राणा प्रताप आदर्श के पीछे अपने राजपाट से हाथ धो अज्ञातवास के लिए प्रस्तुत थे। यदि उस समय राणा प्रताप मानसिंह के कौशल से, युद्ध में अग्रसर होते तो, वे अवश्य ही विजयी होजाते। मानसिंह की बात मान कर राणा प्रताप एक कुशल राजनीतिज्ञ की तरह उठ खड़े होते, तो बिखरी

हुई, राजपूत शक्ति भी सहज में अनुकूल बन जाती और सहज में हिन्दू राजसत्ता कायम हो जाती। परन्तु, महाराणा राजनैतिक क्षेत्र में होते हुए भी अपने आदर्श पर दृढ़ रहे। मुगल शक्ति तो विरुद्ध थी ही पर राजपूत शक्ति को भी वे नहीं अपना सके। जिन महाराजा मानसिंह ने मुगल साम्राज्य में प्रवेश कर अपनी बुद्धिमानी और बाहुबल से सिंध नदी पार कर अनेक मुस्लिम प्रदेशों को अधिकार में किया था और सत्ताधारियों को अपने पैरों पर झुकाया था, यहाँ तक कि, अपने ही बाहुबल से तुषारमंडित काकेशस शैल से कनक चर्सनीस तक विजय पाई थी, उन परम शक्तिशाली मानसिंह से महाराणा लाभ नहीं उठा सके।

शोलापुर के युद्ध के पश्चात् मानसिंह जब कमलनेर में राणा प्रताप के अतिथि बन कर पहुंचे, तो उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना सच्चा भाव राणा के प्रति प्रकट कर दिया था। मगर राणा प्रताप ने उस समय भी अपने आदर्श को ही सामने रखा और यहाँ तक किया कि, वे मानसिंह के साथ भोज में भी शामिल नहीं हुए। इस प्रकार के व्यवहार से मानसिंह को जो मर्म-वेदना हुई, उसका आभास उन्हीं के शब्दों में सुनिए। चिन्तामणि महोदय ने "मध्यकालीन भारत" में उसका उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि, "मानसिंह के भोजन कर लेने के बाद जब राणा प्रतापसिंह मानसिंह के सामने आए, तो मानसिंह ने व्यथित हृदय से 'ओह' कहते हुए कहा कि, "राणा इस हृदय को अब भी आप न पहचान सके! क्या नहीं जानते कि, आपकी मान-मर्यादा सुरक्षित रखने के लिए ही मैंने अपने सामाजिक गौरव की देश के नाम पर तिलांजलि दे अपनी कन्या और बहिन को मुगलों को सौंप दिया। अपना सर्वस्व लुटा देने पर भी हम दोनों के बीच यह विषमता बनी ही रही। महाराजा मानसिंह के इन शब्दों से उनका विचार प्रकट होता है। सच तो यह है कि, जहाँ राणा प्रताप आदर्श की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व लुटा देना अपना ध्येय मानते थे, वहाँ महाराजा मानसिंह शत्रुदल में प्रवेश कर कूट

राजनीति से अपने देशको स्वाधीन करने में दत्तचित्त थे। वे अवसर पाकर पुनः सार्वभौम हिन्दू राज्य की कामना करते थे। जयचन्द के समान न तो उनकी व्यक्तिगत स्वार्थमयी कामना थी और न वे अपनी पुत्रियाँ मुसलमानों को देकर हिन्दू संस्कृति को ही नष्ट करना चाहते थे। यह तो देश की स्वतन्त्रता की कामना के लिए उनका बलिदान था। हिन्दू समाज के आदर्श में उनके ये बलिदान चाहे कलंक स्वरूप हों, पर राजनीतिक क्षेत्र में सब कुछ क्षन्तव्य है।

इस प्रकार महाराज मानसिंह की शक्ति से महाराणा लाभ नहीं उठा सके, तो मानसिंह को बड़ा दुःख हुआ। वैद्य महोदय ने लिखा है कि, वे हिन्दू संस्कृति को कदापि नष्ट करना नहीं चाहते थे। हिन्दू धर्म उन्हें प्राण-प्रिय था। अपने राजवंश की कन्याएँ यवनों को समर्पित करना तो राजनैतिक कारण मात्र था। सदा के लिए उनकी वृत्ति का यह निर्देशक नहीं था। अन्त में मानसिंह को अपने इस कार्य से बड़ी भारी वेदना हुई थी, क्योंकि इसका प्रमाण हमें उस बात से मिलता है, जिसे उन्होंने सच्चे हृदय से राणा के प्रति कही थी। पर खेद है कि, योग्य तथा अयोग्य सभी कार्य करने पर भी महाराज मानसिंह द्वारा मातृभूमि का उद्धार न हो सका।

यह स्पष्ट है कि, मानसिंह कभी नहीं चाहते थे कि, हिन्दू अपनी संस्कृति को तिलांजलि दे दें। इसका प्रमाण हमें राजपूत राजाओं से की गई उन सन्धियों से मिलता है कि, जिनके होने में मानसिंह का प्रधान हाथ रहता था। उन सन्धियों में पहली शर्त होती थी कि, राजपूत राजवंश कभी भी मुगल राजवंश से अब कन्याओं के विवाह नहीं करेंगे।

मानसिंह की यह भावना देख कर बादशाह अकबर को पता लगा कि, मानसिंह का हृदय हिन्दुत्व के भावों से भरा हुआ है। उस समय अकबर को भय होने लगा कि, वह मानसिंह के हाथों में निर्जीव सा बंधा हुआ है, न जाने किस समय हिन्दुओं से मिल कर मुगल

साम्राज्य का टाट उलट दें। ऐसी अवस्था में सम्राट् अकबर ने मानसिंह का अन्त करना ही लाभप्रद समझा। एक दिन उन्होंने जहर तथा बिना जहर की दो विभिन्न मिठाइयाँ बनवाईं और ऐसा प्रबन्ध किया कि, जो तश्तरी जहर की मिठाई की हो, वह मानसिंह के सामने लाई जाय और बिना जहर की सम्राट् के आगे रखी जाय। परन्तु इस पाप का परिणाम उलटा हुआ। जहर की मिठाई अकबर के सामने आ गई और बादशाह अकबर का ही अन्त हो गया। इस परिस्थिति में बादशाह अकबर का अन्त होने पर मुगल साम्राज्य में बड़ी आसानी से भारी परिवर्तन हो सकता था; परन्तु मानसिंह को राजपूत जाति का सहयोग उस समय भी नहीं मिला। इसका कारण हिन्दुओं की कट्टरता ही थी।

सच कहा है कि, मनुष्य का सोचा हुआ कभी पार नहीं पड़ता। जिन महाराजा मानसिंह ने देश और जाति की रक्षा तथा स्वाधीनता के लिए अपने हिन्दू आदर्श की अवहेलना की, सामाजिक अपराध सिर पर उठाया और अपने अतुलनीय बाहुबल से मुगल साम्राज्य में असाधारण शक्ति प्राप्त की, वे अपनी जाति और जाति भाइयों के विरोध से अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सके और आखिर यह भावना मन में रखते हुए परलोक सिधार गये।

अकबर के बाद बादशाह औरंगजेब के समय राजपूत जाति पर विशेष रूप से आपत्ति के बादल घिर गये थे। दीन के दीवाने औरंगजेब ने सभी प्रकार के प्रयत्न किए कि, जिससे राजस्थान की राजपूत जाति नेस्तनाबूद हो जाय। पर यह सामर्थ्य उसमें कहाँ थी कि, असंगठित राजपूत जाति का भी वह नाश कर सके। मारवाड़ के राठौड़ महाराज जसवंतसिंह बड़े वीर और सुचतुर राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने औरंगजेब को एक दिन भी सुख से नहीं सोने दिया। उन्होंने सब प्रकार से साहस और नीति से काम लिया। बादशाह से लड़ने का समय आया, तो युद्ध किया और जब सन्धि करना आवश्यक समझा तब

सन्धि कर बादशाह में मिल गये। यहाँ पर हमें यह बताना चाहिए कि, महाराज जसवंतसिंह बादशाह औरंगजेब से सन्धि कर लेने पर भी किसी विशेष लक्ष्य से कार्य करते थे। उन्हें इस बात का पूरा अनुभव था कि, औरंगजेब हिन्दू संस्कृति और हिन्दू जाति का कट्टर दुश्मन है। जहाँ औरंगजेब हिन्दू जाति की जड़ काटने में कटिबद्ध था, वहाँ महाराज जसवंतसिंह औरंगजेब की सत्ता मिटा देने में ही दत्तचित्त रहते थे। यही कारण था कि, यद्यपि वे अपनी जीवित अवस्था में अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सके, तथापि उन्होंने औरंगजेब की जड़ हिला दी थी।

महाराज जसवंतसिंह के परलोक सिधारने के पश्चात् औरंगजेब ने जसवंतसिंह के बालक राजकुमार अजीतसिंह और उनकी रानी का विनाश करना निश्चय किया; परन्तु राठौड़ वीर दुर्गादास ने महाराज जसवंतसिंह के पुत्र अजीतसिंह की रक्षा में शत्रुदल के सारे हौसले पस्त कर दिये। इन्हीं दुर्गादास का कौशल था कि, जब औरंगजेब राठौड़ों से लड़ने स्वयं अजमेर गया, तो पीछे से औरंगजेब के पौत्र अकबर को दिल्ली के सिंहासन पर बिठा दिया गया। उसी दिन से औरंगजेब का गर्व चूर्ण हो गया और वह संकट में पड़ गया। मुगल साम्राज्य के इन अन्तिम दिनों में राजपूत जाति को भी अपने गृह-कलह की चेतना हुई और तब वे संगठित होने लगे। उन्होंने मराठों का आह्वान किया। सिसोदिया वंशज शिवाजी ने आकर राजपूतों की सहायता से हिन्दू धर्म और हिन्दू सभ्यता के लिए मुसलमानों से युद्ध कर विजय प्राप्त की और अटक से लेकर कटक तक हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की।

राजस्थान के इतिहास में तीन बातें विशेष रूप से विचारणीय प्रतीत हुईं। यथाः—महाराणा का आदर्शवाद, मानसिंह की राजनीति और उनका शक्ति-संचय तथा राजपूत जाति की हिन्दू राजसत्ता के स्थापन में असफलता। इन्हीं तीनों बातों पर हमने यहाँ विचार करने का प्रयत्न किया है।



वैश्यकुल भूषण सुप्रसिद्ध दानवीर भामाशाह

इससे पाठक समझ गये होंगे कि, उस समय राजस्थान की वास्तविक अवस्था क्या थी।

इन राजपूत वंशधरों के साथ वैश्य समाज राजस्थान में किस प्रकार आ बसा इस पर अभी तक किसी इतिहासिज्ञ ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। परंतु

वैश्य समाज और उसका व्यापार—

भामाशाह, मधूशाह, हेमाशाह आदि वैश्यों का उल्लेख जिस ढंग से इतिहास में दृष्टिगोचर होता है, उससे यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है कि, वे केवल राज्यों का मन्त्रित्व ही नहीं करते थे, अपितु कई राज्यों का शासन आदि भी करते थे और तत्कालीन समाज में उनका प्रभावशाली स्थान था। उन्होंने क्षत्रियों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर अनेक युद्धस्थलों में वीरतापूर्वक युद्ध किया और स्वदेश रक्षा के लिए अपने प्राणों का हँसते-हँसते बलिदान किया। इस प्रकार जहाँ उनमें वैश्य-वृत्ति थी, वहाँ क्षात्र-वृत्ति की भी कमी नहीं थी। इतना ही नहीं पर वास्तविकता तो यह है कि, क्षत्रियों से ही अधिकांश वैश्य समाज का निर्माण हुआ था। अग्रवाल जाति के पूर्व पुरुष महाराजा अग्रसेन का क्षत्रिय होना तो सर्व विदित ही है। इसी प्रकार माहेश्वरी, ओसवाल, खण्डेलवाल जाति के पूर्व पुरुष भी क्षत्रिय ही माने जाते हैं। इस प्रकार राजपूतों और वैश्यों का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। प्राचीन राजस्थान के इतिहास में वैश्य कहे जाने वाले व्यक्तियों की ८४ उपजातियों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम हैं:—अग्रवाल, माहेश्वरी, ओसवाल, श्रीमाल, श्री श्रीमाल, बघेरवाल, डीडू, पुष्करवाल, मेड़तावाल, पल्लीवाल, खंडेलवाल, दोहिलवाल, भारबू, हरसौरा, सरूरवाल, गूजरवाल, डेसावाल, केजड़ीवाल, जायसवाल, कानतवाल, कजौटीवाल, कोटवाल, चेत्रवाल, सोनी, सोजतवाल, नागर, मौढ़, जासौरा, लाढू, कपोल, खरेता, बरुड़ी, कसेरा, बेवरवाल, नागेन्द्रा, कटनेरा, पटवारी, मेवाड़ा, नरसिंहपुरा, खेमवाल, पँचवाल, हुनरवाल, वेश्यस्तुसी, कंबोवाल, जीरणवाल, भोगल-

वाल, ओरचित्त, वांमगवाल, ठाकुरवाल, वालमीवाल, टिपोरा, टिलोना, अनवर्गी, लादिसका, वदनेरा, खींचा, गुसोरा, वाओहर, अँदोरा, स्वचारी, जड़मा, मदमोटा, मेहेरिया, ढाकरवाल, मगोरा, गोयसवाल, मोहरवाल, चिनौड़ा, काकलिया, भारंजा, भूंगरवाल, मंदहुल, वाह्मणिया, डिडोलिया, वोरवाल, सोरविया, ओरवाल, नफाग और नगौरा आदि। इन उपजातियों में से अनेक उपजातियां आज देखने में नहीं आती हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि, वैश्य समाज न केवल राज-काज में वरन् युद्ध आदि में भी क्षत्रिय समाज का साथ देता आया है। पर इससे यह भी न समझना चाहिए कि, उसने अपने वैश्य-कर्म की ओर किंचित भी उदासीनता दिखलाई। जहाँ उसने राज-काज में भाग लिया, वहाँ व्यापार वाणिज्य में भी यथेष्ट उन्नति की। उस समय वैश्य समाज के द्वारा वाणिज्य-व्यापार, कला-कौशल और खनिज पदार्थों के उद्योग की वहुत अधिक उन्नति हुई थी। नमक, फिटकिरी, मकराने का संगमरमर और लोहे की खानों के उद्योग में इन वैश्यों का वहुत वड़ा हाथ था। मुगल साम्राज्य की जितनी भी वड़ी-वड़ी इमारतें वनीं, उन सबके लिए मकराने का संगमरमर ही [illegible] में लाया गया। सूती वस्त्र और ऊनी कम्वल की उत्पत्ति इतनी [illegible] थी कि, राजस्थान में वाहर से वहुत थोड़ा माल मंगाना पड़ता था। राजस्थान में तलवारें, कटारियां तथा युद्ध के अन्य शस्त्रास्त्र भी अधिक मात्रा में वनते थे। लोहे के संदूक तो इतने अच्छे वनते थे कि, जिनका कोई जोड़ नहीं था। वर्तनों की कारीगरी, मीने का काम, छींट की छपाई, कसूमे की रंगाई और पत्थर तथा लकड़ी की खुदाई आदि कितने ही प्रकार के व्यवसाय थे, जो राजस्थान को अन्य देशों में प्रसिद्ध करते थे। शेखावाटी और फतहपुर में कुछ समय पूर्व तक कांच की चूड़ियों के कारखाने वड़े पैमाने पर खुले हुए थे। उस समय कई नगर व्यापारिक केन्द्र वने हुए थे। मेवाड़ में भीलवाड़ा, जयपुर में मालपुरा और सांगानेर, जोधपुर में

पाली और घोघा, बीकानेर में चूरू और सुजानगढ़ आदि नगर व्यापार के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। राजस्थान के तत्कालीन वैश्यों में जैनधर्मावलम्बीय वैश्यों की ख्याति खूब थी। उन्होंने चित्तौड़ के किले जैसी मीनार और आबू पहाड़ पर दिलवाड़े के मन्दिर जैसी इतिहास प्रसिद्ध इमारतें बनवाईं। जैन धर्म के एक आचार्य ने अपने समय (१८०० ई०) के व्यापारियों की एक काफी बड़ी सूची तैयार की थी। वह तत्कालीन व्यापारियों की एक खासी लम्बी डायरेक्टरी सी है। उस सूची के अतिरिक्त उसने डेढ़सौ अन्य व्यापारियों की नामावली और भी तैयार की थी, जो राजस्थान के बाहर अन्य प्रान्तों में "कोठीधर" बन कर बड़े पैमाने में व्यापार करते थे। भिन्न-भिन्न प्रवासी लेखकों से तथा अन्य प्राचीन कागजातों से पता चलता है कि, राजस्थान के वैश्यों ने व्यापार में प्रभावशाली उन्नति की थी। उनका कथन है कि, राजस्थान का पाली नगर पूर्व और पश्चिम में सर्व प्रधान वाणिज्य-केन्द्र था। भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों का माल पाली में आता था। काश्मीर से भी काफी माल वहाँ आता था। इसके अतिरिक्त चीन आदि विदेशों से भी बहुत सा माल उस बाजार में आता था। इधर पाली के बाजार से सभी प्रकार का माल यूरोप, अफ्रिका, ईरान, अरब आदि देशों में जाता था। इस प्रकार पाली नगर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक विशाल केन्द्र बना हुआ था। कच्छ और गुजरात से हाथी दाँत, और उससे बने हुए चूड़े तथा अन्य वस्तुयें, तांबा, खजूर, गोंद, नारियल, बनात, रेशमी और सूती वस्त्र, चन्दन, कपूर, सब प्रकार का रंग, औषधियाँ, कंघे, मसाले, गंधक आदि अनेकानेक पदार्थों की गाड़ियाँ तथा बनजारों की बालदें पाली में आती थीं और वहाँ से उन वस्तुओं की रफ्तनी हुआ करती थी। राजस्थान के छींट के वस्त्र, सूखे फल, जीरा, मुलतानी हींग, खांड, सोडा, अफीम, खार आदि वस्तुएं सभी देशों को भेजी जाती थीं। रुपयों का विनिमय करने के लिए हुंडी-चिट्ठी का व्यापार पहले पहल राजस्थान

के व्यापारियों ने ही चलाया था। उस समय अधिकतर रुपये पैसे का आवागमन खजाने के नाम से ऊँटों पर हुआ करता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर नकद रुपये ऊँटों पर भेजे जाते थे। इस प्रकार रुपये भेजने में दैवी दुर्घटना अथवा चोरों और डकैतों द्वारा रुपयों के हरण का बराबर भय रहता था। उसके लिए भी राजस्थान के वैश्यों ने उपाय कर रखा था।

किसी प्रकार के व्यापार में अथवा रुपयों का खजाना भेजने में किसी अघटित घटना के कारण तथा डकैती आदि की हानि से बचने के लिए जोखिम वेचने अर्थात् बीमा का दस्तूर पहले पहल राजस्थान से ही शुरू हुआ था। बीमा लेनेवाले वैश्यों में रामगढ़ के पोद्दारों का घराना बड़ा प्रसिद्ध था। राजस्थान के इतिहास में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है जिनसे पता चलता है कि, डकैती के समय राजपूतों की तो बात ही क्या, ब्राह्मणों व वैश्यों ने भी बहुत ही वीरता के साथ डकैतों का सामना किया। यहाँ तक कि, किसी-किसी अवसर पर तो मारवाड़ी वैश्य स्त्रियों ने भी डाकुओं के अस्त्र छीन कर उनका खात्मा कर दिया है। इस सम्बन्ध में राजस्थान के बागला वंश की बहुत अधिक ख्याति सुनी जाती है।

राजस्थान के व्यापार में रुपयों का जो खजाना एक जगह से दूसरी जगह ऊँटों पर जाता था, उसके सम्बन्ध में एक बहुत ही आश्चर्य-जनक और श्लाघनीय बात का परिचय पाया जाता है। जो खजाना ऊँटों पर आता जाता था, वे ऊँट प्रायः भाड़े के होते थे। स्थान की दूरी के हिसाब से ऊँटवाले को एक प्रकार की निश्चित दर पर भाड़ा मिलता था। परन्तु खजाने की रक्षा के सम्बन्ध में वे अपनी नैतिक जिम्मेदारी बहुत समझते थे। जब कभी खजाने पर डाकुओं का धावा होता था तो आजकल के पोष्टवाहक डाकियों की तरह खजाना छोड़ कर वे अलग नहीं हो जाते थे, बल्कि वे उन डाकुओं का सामना करते थे।

चूरू के एक सौड़ पुरोहित रत्तू के सम्बन्ध में यह एक प्रसिद्ध और प्रामाणिक बात है कि, वह अपने ऊँट के साथ पोद्दारों के यहाँ जावदा से खजाना लेकर आ रहा था। रास्ते में डाकुओं से मुठभेड़ हो जाने से, उसने जीते जी खजाना नहीं दिया और तलवार से लड़ता हुआ कई एक डाकुओं को मार कर स्वयं सिर कटा कर धराशायी हो गया। कहा ज़ाता है कि, सिर कटने पर भी झूझार बन कर उसने डाकुओं पर तलवार चलाई थी और एक दो को मार भी गिराया था। इस ब्राह्मण के नाम पर स्मारक स्वरूप चूरू में आज भी उसका देवस्थान बना हुआ है और झूझार कह कर उसकी पूजा होती है। ऐसी घटनाएँ राजस्थान में अनेक स्थानों पर हुई हैं। विचारणीय बात यह है कि, प्राचीन समय में राजस्थानवासियों में कितनी नैतिकता भरी हुई थी। व्यवसाय के रूप में अपने ऊँट का मामूली भाड़ा मिलने पर ही अपनी नैतिक जिम्मेदारी समझ वे अपना प्राण न्यौछावर कर देते थे। ऐसे उच्च कोटि के उदाहरण कहाँ और कितने मिलेंगे?

राजस्थान के व्यापार की यह गौरवपूर्ण अवस्था अधिक समय तक नहीं रही। इस प्रकार बढ़े-चढ़े व्यापार में भी आगे चल कर परिवर्तन होने लगा। इसका सब से बड़ा कारण तो निरन्तर चलनेवाला युद्ध था और बाद में जब विदेशियों की राजसत्ता का विस्तार होने लगा तो 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' ने अपना प्रभाव जमा कर राजस्थान के नमक और अफीम के व्यापार पर अपना नियन्त्रण कर लिया और वहाँ के सब से बड़े व्यापार को अपने हाथ में ले लिया।

इसके अतिरिक्त अन्य व्यापारों पर भी कई प्रतिबन्ध लगा कर उनकी प्रगति रोक दी। यही कारण था कि, राजस्थान का व्यापार घटता चला गया। परिणाम यह हुआ कि, जो केन्द्र राजस्थान में बने हुए थे उनका व्यापार तो चौपट हो गया और 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' के कर्मचारियों द्वारा स्थापित अन्य प्रान्तों के नवीन केन्द्रों में व्यापार होने लगा।

भूगर्भ—

भूतल की रचना के विचार से राजपूताना के दो भाग किये जा सकते हैं—पूर्वार्द्ध, जिसमें अर्वुद-पर्वतमाला भी शामिल है और पश्चिमार्द्ध। अरावली पर्वतमाला के सम्बन्ध में भूगर्भ-वेत्ताओं का विचार है कि, किसी समय यह पर्वत वर्तमान की अपेक्षा बहुत ऊँचा था, जो अब अग्नि, जल और वायु की सांघातिक शक्तियों के कारण छिन्नभिन्न होते-होते इस रूप में रह गया है। जब भारत का दक्षिण प्रायद्वीप समुद्र-गर्भ में ही था, तब उस इतिहासातीत काल में भूगोल की अन्तराग्नि से वर्तमान पर्वत-माला का उद्गमन हुआ था। इसकी रचना में चमकदार अणुवाले पत्थर, कंकड़ तथा अत्यन्त कठोर पिण्ड पाए जाते हैं। चूने के पत्थर की चट्टानों, स्लेट-पत्थर तथा क्वार्टज नामी पिण्डों की भी कमी नहीं है। पृथ्वी को केन्द्रीय आग्नेय कार्यों से इन पिण्डों के स्तरों का क्रम अब बहुत कुछ बदल चुका है। इसीलिए इन बलुए पिण्डों के साथ-साथ आग्नेय पिण्ड भी मिलते हैं। प्रायः सब जगह चूने और स्फटिक जाति के पत्थर मिलते हैं, जिनमें बलुई चट्टानों के स्नायु-जाल भी व्याप्त हैं। इस भाग में ये बलुई चट्टानें रासायनिक हेतुओं से सफेद हो गई हैं, जो संगमर्मर के नाम से अभिहित होती है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार की कंकड़-पत्थर तथा घोंघे आदि की चट्टानें पाई जाती हैं।

पश्चिमी भाग में अधिकतर बलुआ कंकड़ की चट्टानें हैं। कहीं-कहीं रेतों में आग्नेय और बलुआ कंकड़ की चट्टानें भी देखी जाती हैं। जालौर के पास अभ्रक तथा अन्य आग्नेय पिण्ड भी मिलते हैं। रेतीले मैदानों में हिमकालीन स्तरों की बहुतायत है। पिण्डों की रचना भी विन्ध्याचल की रचना के पीछे की है और अधिक पश्चिम में परिवर्त्तित जलीय पिण्ड तथा भूरे और लाल रंग के पत्थर पाये जाते हैं। सफद रंग का मुलायम

चमकदार तथा छोटे दाने का पत्थर भी इधर मिलता है। इस भाग में रेत के नीचे कुएँ खोदते समय कोयले के स्तर भी मिलते हैं। अनेक स्थानों पर मुलतानी मिट्टी के स्तर भी दूर तक फैले हुए हैं।

राजपूताने में इस प्रकार कई खानें तथा स्थान गुप्त पड़े हुए हैं। यदि हम अपना धन इस काम में लगावें तो राजपूताने की भाग्यश्री एक वार फिर से लौट आवे, अरबों की सम्पत्ति निकलने लगे—सारा राजस्थान सुखी हो जाय।

प्राकृतिक उपज—

जंगलों में प्रायः ढाक, धाय, जामुन, गूलर, करैया, सेमल, तेंदू, आम, महुआ तथा बांस के छोटे-छोटे पेड़ दिखाई देते हैं। यों तो आबू की चोटी को छोड़ कर, इस प्रान्त में घने जंगल हैं ही नहीं, और प्राकृतिक दशा को देखते हुए हो भी नहीं सकते, तो भी मेवाड़ के दक्षिण पश्चिम में मीलों तक घने जंगल हैं। बांसवाड़ा, डूंगरपुर तथा प्रतापगढ़ घने जंगलों में ही आबाद हैं। यहाँ तो सागौन तक उत्पन्न होता है। बूंदी, कोटा अलवर तथा करौली में भी काफी जंगल हैं। धामन, खेजड़ा, झड़बेरी, केसी, कूमट, पीलू, बहेड़ा, आमला, बबूल, नीम, इमली, करौंदा आदि के पेड़ों के जंगल भी वहाँ पाये जाते हैं। किन्तु पश्चिमोत्तर जंगल प्रायः इन सब से शून्य हैं। सफेद मूसली, कौंच, मतीरा आदि और भी कई उपज हैं, जो राजपूताने की स्थावर सम्पत्ति को बढ़ाती हैं।

खनिज पदार्थों में पत्थर की गणना सर्व-प्रथम होनी उचित है। ताजमहल का सब पत्थर इसी राजपूताने की मकराना की खान का है। यहाँ तक कि, अभी हाल में बने हुए कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'विक्टोरिया मेमोरियल' का भवन भी इसी मकराने के पत्थर से बनाया गया है। जोधपुर, सोजत, नागौर और मेड़ता में पत्थर की बड़ी २ खानें हैं, जिनसे प्रायः पटाव के कामकी पट्टियाँ बाहर भेजी जाती हैं। जयसलमेर में बाद और तलचर की खानें, मैलानी का पत्थर, बारमेट (जोधपुर),

गजनेर (बीकानेर) आदि और भी कई प्रसिद्ध खानें हैं, जिनसे लाखों रुपये का पत्थर बाहर को जाता है। लगभग ८६ हजार रुपया वार्षिक कर की आय तो इन खानों से अकेले जोधपुर राज्य को ही है। किन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इन सब बड़ी-बड़ी खानों पर आधिपत्य है प्रायः यूरोपियन ठेकेदारों का। मकराना की प्रसिद्ध खान भी एक अंगरेज ठेकेदार के ही पास है।

खेतड़ी, सिंघाना, सोजत, पाली तथा जोधपुर में भी सैकड़ों पहाड़ियों पर पुराने समय में तांबा निकाले तथा शोधे जाने के चिह्न मिलते हैं। इन्हीं पत्थरों से तूतिया और फिटकरी भी बनाई जाती थी। अलवर की प्रसिद्ध दरीबा नामक खान में तांबा और संखिया मिश्रित लोहा मिलता है। लोहे की खानें जयपुर, अलवर, कोटा और उदयपुर में पाई जाती हैं। किसी समय केवल उदयपुर को ही सीसा, तांबा और जस्ता की खानों से तीन लाख रुपये वार्षिक की आय थी। कोबाल्ट (एक प्रकार का खनिज द्रव्य, जो धातु पर मीनाकारी का काम करने के काम में आता है) खेतड़ी की खानों से निकाला जाकर सेहता के नाम से जयपुर और दिल्ली के बाजारों में बिकता है। अरावली की पहाड़ी खानों में अभ्रक तथा प्रसिद्ध अग्निस्तंभक द्रव्य "एस्बस्टस" पाया जाता है, जिसकी सहायता से फायरप्रूफ तिजोरियां बनाई जाती हैं। जोधपुर की कितनी ही खानों में खड्डी नामक सीमेन्ट प्राप्त होता है, जिसकी सहायता से ५०-५० मन के पत्थर केवल १ सेर मसाले से जोड़े जा सकते हैं।

इसी प्रकार से 'बोल फ्रॉम' नाम की एक भक से उड़ जानेवाली वस्तु भी पाई जाती है, जिससे बारूद बनाई जाती है। इसकी खान भी एक अंगरेज ठेकेदार के पास है।

सब बातों का सारांश यह है कि राजपूताना खनिज संपत्ति में यथेष्ट धनी है, किन्तु यहां की प्रायः सभी खानें—सोना, चांदी, तांबा आदि से लेकर कोयला और मुल्तानी मिट्टी तक या तो बन्द हैं और उनसे

माल नहीं निकाला जाता, या उन पर अंगरेज व्यापारियों का प्रभुत्व है। हमारा जहाँ तक ख्याल है—और ठीक भी है कि, राजपूताने के राजा महाराजा अपने देश की खनिज संपत्ति को इसीलिए छिपाये हुए हैं कि, यदि वह प्रकट हो गई तो संभव है कि, ब्रिटिश गवर्नमेन्ट उनके राज्य को ही हथियाने की चेष्टा करे या वह अंगरेज ठेकेदारों के हाथ में चली जायगी और राज्य तथा उसकी प्रजा को कुछ भी लाभ न होगा।

राजपूताना की एक प्रधान उपज नमक भी है, जो कि, सांभर झील से निकाला जाता है। सांभर झील से लगभग एक करोड़ मन नमक प्रतिवर्ष निकाला जाता है, जिसके निकालने का खर्च एक आना प्रति-मन से अधिक नहीं पड़ता, किन्तु वह १।) से २) रु० मन तक बिकता है और यह सब लाभ ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के मोटे पेट में समा जाता है। जयपुर और जोधपुर राज्यों को, जिनकी वास्तव में यह झील है, क्रम से १० और २५ लाख से अधिक किसी प्रकार भी नहीं मिलता। यह भी ध्यान देने की बात है कि राजपूताने में, यद्यपि पचपदरा, डीडवाना, फलोदी, लूनी, कचोर, रिवासा, लूनकरण सर, कानोड़ आदि अनेक स्थानों में नमक बन सकता है, किन्तु इस अंगरेजी सरकार के कठोर कानूनों के कारण कहीं भी नहीं बनाया जा सकता। यह दशा और भी खनिजों की है।

खाद्य सामग्री—

ज्वार, बाजरा, गेहूँ, चना, तिल जौ, और मक्का के अतिरिक्त, मारवाड़ की भूमि में अफीम भी उत्पन्न होती है। किन्तु सबसे अधिक महत्त्व बाजरा और ज्वार का ही है, क्योंकि, सर्वसाधारण का मुख्य भोजन भी यही है और सबसे ज्यादा उत्पन्न भी ये ही पदार्थ होते हैं। यद्यपि एक प्रकार से इसे "बाजरे का मुल्क" ही कहना चाहिए, किन्तु यहाँ के गेहूँ की भी विशेष प्रशंसा की जाती है।

पशुधन—

अरब की तरह ऊँट ही इस देश का प्रधान पशुधन है। अनेक स्थानों में उसे अपने बच्चे की तरह पालते हैं। इसे खेत में हल चलाने, सिंचाई करने, बोझा ढोने, यात्रा करने, पानी लाने आदि अनेक कामों में बरतते हैं। इसकी ऊनका वस्त्र बनाते तथा बेचते हैं और मरने के पीछे घी और तेल के कुप्पे भी इसी की खाल से बनते हैं। ये ऊँट रातभर में १००।१०० मील तक चल लेते हैं। जयसलमेर, जोधपुर और बीकानेर के ऊँट प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार मलानी या बालोचा और जालौर घोड़ों के लिए प्रसिद्ध हैं। यहाँ के ये पशु डीलडौल के चुस्त और अधिक समय तक बिना खाये पिये रहने वाले होते हैं।

मारवाड़ का देश भेड़ों के लिए भी विख्यात है। ये भेड़ें दूध के अतिरिक्त ऊन के लिए भी पाली जाती हैं। सच बात तो यह है कि, ऊन भी यहाँ के व्यापार की एक विशेष वस्तु है। बीकानेर की भेड़ें, सबसे बड़ी होती हैं।

इसी दक्षिण-पश्चिम भाग में गायें भी अधिक दुधारू होती हैं, जो दस सेर तक दूध देती हैं और दो सौ रुपये तक बिकती हैं। नागौर का बैल प्रसिद्ध है। इसका शरीर ऊँचा और बड़ा, सींग और खुर ठोस तथा कन्धे ऊँचे और बड़े होते हैं। इसका मूल्य तीन सौ रुपये तक होता है। पशु-सम्पत्ति के विचार से राजपूताने की प्रजा कम भाग्यशाली नहीं समझी जा सकती।

अन्तमें हम राजस्थान के भिन्न-भिन्न स्थानों की कारीगरी का विवरण आपके सामने रखते हैं। साथ ही यह भी लिख देना चाहते हैं कि ये चीजें मामूली नहीं बनतीं, किन्तु, अपने ढंग की बहुत बढ़िया और आदरणीय होती हैं। तो भी अच्छे रास्ते, माल ढोने तथा व्यापार की राजकीय सुविधा न होने के कारण वे अधिक दूर तक नहीं बिकने जातीं और यथेष्ट बाजार न मिलने के कारण ये कारीगरियाँ नष्ट होती जा रही हैं।

राजस्थान की प्रसिद्ध कारीगरी

अलवर

अलवर—चीरे, लहरिए।

किशनगढ़, त्रिपालपुर, गढ़बसई—छींट।

बहादुरगढ़—हुक्के के नैचे।

मादले—पत्थर के प्याले।

राजगढ़—रंगीन छड़ी।

हरसोरा—तोशक, ज़ाजिम।

उदयपुर

उदयपुर—लकड़ी का ख़रादी काम, सुनहरी छपाई, मिट्टी की गणेश की मूर्तियाँ।

ऋषभदेवजी—काले पत्थर की रकाबी और प्याले।

जाजपुर—लकड़ी का ख़रादी काम।

भीलवाड़ा—ताँबे, पीतल और क़लई के वर्तन, हुक्के की कली, कटोरा, गिलास वग़ैरा वर्तन।

करौली

करौली—छींट तथा लकड़ी पत्थर का काम।

किशनगढ़

किशनगढ़-राज्य—छींट; सेल खड़ी के प्याले; पंखे; सुराही; गिलास।

कोटा

इटावा—हाथी दाँत के खिलौने, कलमदान।

इन्द्रगढ़—लकड़ी के रंगीन खिलौने।

किशनगंज—सागौन के पाए।

कोटा—मख़मल, महमूदी डोरिया; पगड़ी; डुपट्टे; धोती।

बाँरा—चूंदड़ी।

जयपुर

जयपुर—क़लमी तसवीर, पत्थर और मिट्टी के खिलौने, देवप्रतिमाएँ, लाख की चूड़ी, पीतल, कांसे के वर्तन (सादे और नक्काशीदार) कसूम की रंगाई का काम, हथियार, सोने-चांदी के जड़ाऊ और मीनाकारी के गहने, गोटा-किनारी, कलावत्तू, सलमे-सितारे का काम, लहरिए।

कोटकासम—रेजी, दोहर।

झूँझनूँ—पगड़ी, हुक्के और चिलमें।

दोसा—मूर्तियां और एक किस्म का कपड़ा, जो कायमख़ानी कहलाता है।

बगरू—छपे चादरे और डुपट्टे।

वसवा—मिट्टी के खिलौने और वर्तन।

वैराठ—लकड़ी के क़लमदान, संदूकचे और रेजी के थान।

खण्डेला—लकड़ी के सिंगारदान, डिब्बे, पलंग के पाये, जूते।

खण्डार—खस के पंखे, पलंग के पाये, पारे के काम के कंघे।

जोरावरगढ़—भरत के हुक्के, ताले, चाकू।

नवलगढ़—चिलमें।

टोडा भीम—रेजी।

दतेभा—दांता।

वोली—लोहे का काम और रंगाई।

पिण्ठाणा—खस का अतर।

मालपुरा—ऊन के नमदे, आसन, जीन।

हिण्डौन—वादशाही कपड़ा।

सवाई माधोपुर—काग़ज, लकड़ी का ख़रादी काम, रँगे और छपे कपड़े, पत्थर के पानी पर तैरनेवाले खिलौने, कलमदान, गंजीफा।

साँगानेर—पक्की छपाई के कपड़े, रूमाल, डुपट्टे, धोती, साड़ी, चादर, छींट और काग़ज।

सिंघाना—जूता और चमड़े का काम।

जयसलमेर

जयसलमेर—पत्थर की चमकदार रकाबी, प्याले, खरल।

देवीकोटा—पत्थर का काम।

सागढ़—जाजिम।

जोधपुर

आसोप—देशी जूट, जाजिम, पलंगपोश, रजाई, लुंगी, ताँगे, गाड़ियाँ।

ओसियाँ—ऊनी कम्बल और खेस।

कुचामन—बन्दूक, तमंचा, घड़ी, यंत्रराज, ताले, पिचकारी, पानी चढ़ाने के बम्ब, तलवार के कब्जे, चक्करदार फर्शी पंखे, कंघे, लकड़ी के डिब्बे-डिब्बियाँ, रंगाई का काम, देशी छींट।

खेतासर—जूट अर्थात् ऊँटके बालों की दरी और फर्श।

जालौर—टुकड़ी।

जेतारन—घोड़े का साज, पत्थर और लकड़ी पर रंगाई और खुदाई का काम, तलवार, बन्दूक, उस्तरा, कैंची और चिमटी।

जोधपुर—टुकड़ी, काजलिया और समन्दरी लहर की रंगत, जरी और पटवे का काम, पत्थर की खुदाई, हाथी दाँत के चूड़े, बटन, कंघे, कंघी, चांदी-सोने के वर्तन, गहने, हुक्के, तुर्रे, कलंगी, पगड़ी और चूंदड़ी।

डीडवाना—पीतल के वर्तन और पिचकारी।

नागौर—हाथीदांत के खिलौने, बटन, पीतल के वर्तन, पक्के रंग के ऊनी कम्बल और खेस, सूती सफेद और रंगीन कपड़े, दुसूती, पगड़ी, चूनड़ी की बंधाई, लुहारी, सुनारी, खातियों तथा सिलावटों के औज़ार।

नावाँ—सोजनी, गोंद की मिठाई।

पचपदरा—हाथीदांत के फव्वारे, बागवाड़ी, पंखों की डंडी, सुरमेदानी, भरत के वर्तन और खिलौने।

पाली—हाथीदांत के खिलौने आदि, देशी छींट, डुपटा, रजाई, तोशक और लाल कपड़े के थान।

पीपाड़—लुंगी, ज़ाजिम, पलंगपोश, मेज़पोश।

पोकरण—पक्के रंग की चूंदड़ी, ओढ़नी, छींट, रामदेव के नाम की छपी धोती और पगड़ी।

फलौदी,—जूट के गद्दे और कालीन; जूट और सूत के भाकले; लोई और रंगीन ओढ़नी।

बड़गांव—तलवार की मूंठ, वाली वांस की टोकरी।

बालोतरा—छपी चूंदड़ी।

भीलाड़ा—देशी कपड़ा, रेज़ियाँ, पगड़ी, धोती।

बीसलपुर—लोहे के चूल्हे, कढ़ाई और अंगूठी।

बूसी—ज़ाजिम, तोशक, रजाई, लुंगी।

बोरावड़—सोने का हल्का पतला काम।

भकरी—शतरंजी, पर्दे, फर्श।

भीनमाल—कांसे के छोटे वर्तन।

मकराना—पत्थर का काम, इमारत का सामान, रकाबी, प्याले, प्रतिमायें, खिलौने, मेज, कुर्सी, मीरफर्श।

मारोठ—देशी और विलायती सूत की पगड़ी, टुकड़ी।

मूँडवा—जाटनियों के बनाये क़सीदे के काम, ओढ़ने, दामन, और धावला वगैरह। *

मेड़ता—ख़सके पंखे, पंखी, कनात, डेरे, रावटी, पर्दे, हुक्के, सटक, रकाबी, प्याले, सुराही, ख़ासदान, बादला, गोखी, चकमा, निवाड़, शतरंजी, साबुन, मिट्टी और हाथीदांत के बटन, खिलौने, छल्ले, पंखे की डण्डी और क़लम।

सथलाना—कांसे की थाली, कटोरी

सांभर—नमक के खिलौने, पीतल कांसे के वर्तन।

समदड़ी—चूंदरी, दुसूती।

सहेल—लोहे के बड़े-बड़े कढ़ाहे।

झालावाड़

आवर—कालेरंग के डुपटे।

गंगार—आल की रंगाई का काम।

डिग—सरौते, बर्छे, कटारी, कैंची, चाकू।

टोंक

टोंक—बनाती जूते, जीन, खोगोर।

पिण्डावा—सोने-चांदी की लैस या गोटा।

सिरोञ्ज—ज़री के मन्दील, सेलें और साड़ी।

शेष रियासतें

बीकानेर—मिश्री, लोई, हाथी दांत का चूड़ा, कालीन, गलीचा, पट्टू, धुस्सा, बूट।

बूंदी—गुले-अनार रंगत और कटारी।

---

* यह काम इतना सुन्दर होता है कि यूरोपियन भी बड़ी शौक से खरीदते हैं।

डूंगरपुर—लकड़ी का खरादी काम, काले पत्थर की मूर्तियां और वर्तन।

धौलपुर—लकड़ी और लोहे का काम तथा खजूर के पंखे।

प्रतापगढ़—मीना के काम का गहना।

भरतपुर—लकड़ी और पत्थर के प्याले, वर्तन, मिट्टी के वर्तन और खिलौने।

सीकरी—मिठाई

सिरोही—तलवार, छुरी, कटारी, चाकू, सरौते।

हमारा जातीय चिह्न—पगड़ी और श्रद्धांजलि

राजस्थान का अथवा यों कहना चाहिए कि, मारवाड़ी जाति का सर्व प्रधान जातीय चिह्न पगड़ी है और खासकर पगड़ी से ही मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों की पहिचान होती है। राजस्थान का समग्र जातीय इतिहास वैसे तो अनेक विशेषताओं और अपने अनोखे बांकपन से भरा हुआ है, तथापि मारवाड़ी जाति की पगड़ी का बांकपन कुछ निराला ही है। सच तो यह है कि, उसके सम्बन्ध का बहुत ही गौरवपूर्ण पूंजीभूत इतिहास है। इस पगड़ी के बांकपन के आगे बड़े-बड़े वीरों के पैर कांप जाते थे, उसके सामने शत्रुओं की चमकती हुई तलवारें झेंप कर कुण्ठित्त हो जाती थीं। इस पगड़ी को झुकाने के लिए न जाने कितने योद्धा आये, कितनी लड़ाइयां और संग्राम हुए, परन्तु यह किसी की झुकाई नहीं झुकी। अकबर से लेकर औरंगजेब तक सारा मुगल साम्राज्य इसके झुकाने में व्यस्त रहा, दग़ा-फरेब, मार-काट न जाने क्या-क्या हुए, पर यह पगड़ी नहीं झुकी। मुगल साम्राज्य चला तो था, इस पगड़ी को झुकाने, परन्तु वह स्वयम् इस पगड़ी के पेच में फँस गया। वीरवर दुर्गादास और कूटनीति विशारद जसवंतसिंह आदि ने औरंगजेब का न केवल हौसला ही पस्त कर दिया, अपितु मुगल साम्राज्य की जड़ हिला

दी। यह शान है इस पगड़ी की। पगड़ी अगर गिरी तो सर के साथ गिरी। इसके मान और गौरव की रक्षा के लिए न जाने कितने वीरों ने प्राणोत्सर्ग कर दिये, कितनी कुलललनाओं ने इसकी मर्यादा-रक्षा के लिए जौहर व्रत धारण किये, कितनी रमणियां धधकती हुई ज्वाला में भस्मसात् हो गईं, कितने राजा-राणाओं और कितनी महारानियों को पहाड़ों और जंगलों की खाक छाननी पड़ी और न जाने किस-किस को कितने कष्ट उठाने पड़े। पर इतना होने पर भी, राजस्थान की पगड़ी कभी विचलित नहीं हुई। असंख्य चमकती हुई तलवारों के सामने चट्टान की तरह खड़ी रहनेवाली पगड़ी, परतन्त्रता के समय समस्त भारत को स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ानेवाली पगड़ी, अपनी आन-बान पर न्यौछावर होनेवाली पगड़ी, वीर राजस्थान के शीर्ष स्थान पर विराजमान होनेवाली यह पगड़ी किसी के झुकाये नहीं झुकी। इस तेजस्विनी पगड़ी का यह महत्व था कि, जिसके सर पर यह विराजती, वही वीरता, साहस, उत्साह और शक्ति का केन्द्र बन जाता था। इसे धारण करनेवाले वीर सर कट जाने के बाद भी शत्रुओं का सामना झूझार* बन कर करते थे, जो अक्षय कीर्त्ति कमा गये। आज राजस्थान में शायद ही कोई ऐसा अभागा भूभाग हो, जहाँ झूझार बननेवाले वीरों का स्मारक स्थान दिखाई न देता हो। इन झूझार वीरों के कारण राजस्थान की रक्त-रंजित वीर भूमि के प्रत्येक रजकण ने तीर्थ रेणु का महत्व प्राप्त किया है और प्रत्येक स्वदेशाभिमानी के लिए वह बन्दनीय हो गया है।

अपनी इस वांकी पगड़ी की रक्षा करनेवाले रणवांकुरे वीरों के कारण राजस्थान भारतवर्ष का बड़ा ही गौरवपूर्ण भूभाग माना जाता है। उसका महा महिम वीरतापूर्ण इतिहास आज ढीली नसों में, निर्जीव प्राणों में

---

* झूझार उसे कहते हैं जो रणक्षेत्र में अपना सर कट जाने पर भी कुछ क्षण के लिए झूझता है और शत्रु को मार गिराता है।

स्फूर्ति और शक्ति की बिजली पैदा कर देता है। उसके स्मरण होते ही श्रद्धा से सर झुक जाता है और सहसा कहना पड़ता है कि, राजस्थान तू धन्य है, वन्दनीय है और बार-बार नमस्कार योग्य है। हम अपने इस जन्मस्थान—पुण्य-प्रदेश के प्रति सम्मानपूर्वक अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।



सुप्रसिद्ध धर्मात्मा सत्यवादी



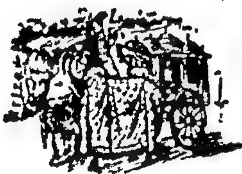
स्वर्गीय सेठ गुरुसहायमलजी पोद्दार

(फर्म— ताराचन्द घनश्यामदास)

२

प्राचीन संस्कृति और रीति-नीति—

मारवाड़ी शब्द की व्युत्पत्ति



आजकल जिस प्रान्त का भौगोलिक नाम 'राजपूताना' तथा 'राजस्थान' प्रसिद्ध है, उस प्रान्त के सम्बन्ध में, साहित्य के कतिपय विद्वानों का मत है कि, प्राचीन समय में वह प्रान्त 'माडवाड़' कहलाता था और इसी 'माडवाड़' शब्द से ही 'मारवाड़' तथा 'मारवाड़ी' शब्दों की उत्पत्ति हुई है। उनका कहना है कि, 'माडवाड़' शब्द सार्थक भी था। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि, प्राचीन समय में किसी प्रान्त अथवा भू-भाग का नामकरण प्रायः उसकी सीमा के नामों के आधार पर ही किया जाता था। इसके लिए वे कतिपय उदाहरण भी देते हैं। उनका कथन है कि, पंजाब में 'सिख' शब्द का प्रचार इसी लक्ष को ध्यान में रख कर हुआ है। 'सिख' शब्द

'सिन्धु' और 'सतलज' नदियों के मध्य के भू-भाग का बोध कराता है, जो सिंध और सतलज के प्रथमाक्षरों से बना है। इसके अतिरिक्त राजपूताने से सटे हुए काठियावाड़ शब्द के लिए भी उनकी यही उक्ति है कि, समुद्रतट से लेकर मेवाड़ तक का जो भू-भाग काठियावाड़ कहलाता है, उसका नामकरण भी सीमाओं से ही सम्बन्ध रख कर किया गया था। यहाँ 'काँठ' शब्द का अर्थ है समुद्रतट और 'वाड़' मेवाड़ का अन्तिमाक्षर है। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने यहाँ तक उदाहरण पेश किये हैं कि, ग्रामों के नाम भी प्राचीन समय में भौगोलिक सीमा के आधार पर ही रखे जाते थे।

वत्तमान राजपूताना प्रान्त की एक सीमा जेसलमेर से आरम्भ होकर मेवाड़ राज्य तक है। 'माडवाड़' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए इतिहासकार हमें बतलाते हैं कि, 'जेसलमेर' का दूसरा नाम 'माड़' है और 'माड़' शब्द जेसलमेर की सीमा को लेकर बना है। 'वाड़' शब्द मेवाड़ का अन्तिमाक्षर है। इसी प्रकार जेसलमेर और मेवाड़ को लेकर 'माडवाड़' शब्द की रचना हुई है।

उक्त विद्वानों ने जिन कारणों से इस विषय की मीमांसा की है, हमने उसीका यहां उल्लेख किया है। हमारी राय में उनकी यह उक्ति उपेक्षणीय नहीं है। कारण, 'माड़' शब्द से इस प्रान्त का सम्बन्ध अवश्य ही रहा है। गान विद्या और राग-रागिनी से प्रेम रखनेवाले पाठक यह भली भांति जानते हैं कि, इस समय संगीत शास्त्र में 'माड़' रागिनी अत्यन्त प्रसिद्ध है और वह विशेष रूप से राजपूताने में गाई जाती है। इस सम्बन्ध में संगीत-शास्त्र के विद्वानों का यह मत है कि, 'माड़' रागिनी का आविर्भाव राजपूताने से ही हुआ है। क्या आश्चर्य है कि, 'माड़' रागिनी का नामकरण भी 'माड़' शब्द से ही हुआ हो।

अब यहां, यह प्रश्न उठता है कि, यदि 'माडवाड़' से ही 'मारवाड़' शब्द प्रचलित हुआ है, तो इसका क्या कारण है कि, समस्त राजपूताना

'मारवाड़' न कहा जाकर केवल वर्तमान जोधपुर का इलाका ही 'मारवाड़' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रश्न पर निश्चय ही इतिहासकारों ने कोई प्रकाश नहीं डाला। यदि इस प्रश्न को भी वे हल करते, तो बड़ा अच्छा होता।

यह हो सकता है कि, कालभेद और परिवर्तन के नियमानुसार समय पाकर भिन्न-भिन्न रियासतों की पृथकृता के कारण 'माडवाड़' शब्द का प्रचार लोप होने लगा हो और 'माडवाड़' शब्द के प्रान्तीय नाम के स्थान पर भिन्न-भिन्न राज्यों ने अपने-अपने राज्य के नाम का प्रचार करना आरम्भ कर दिया हो। यह भी हो सकता है कि, अन्य राज्य अपने नाम से पुकारे जाने लगे हों और जोधपुर का इलाका अपने पूर्व राष्ट्रीय नाम 'माडवाड़' के नाम से ही प्रसिद्ध रहा हो। जो हो, इस बात को मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि 'मारवाड़' शब्द के साथ 'माडवाड़' शब्द का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। इस प्रकार यदि 'माडवाड़' शब्द से ही 'मारवाड़' शब्द बना है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि, वर्तमान 'मारवाड़ी' शब्द न केवल जोधपुर के 'मारवाड़' इलाके से ही सम्बन्ध रखता है, अपितु वह ऐतिहासिक प्रमाणों से समस्त राजपूताने का द्योतक होता है और अपने लुप्त-प्रायः राष्ट्रीय नाम को पुनः जाग्रत करता है।

अब इमें इस बात पर भी विचार करना है कि, वर्तमान समय में 'मारवाड़ी' शब्द की जो देशव्यापी प्रसिद्धि हुई है वह केवल 'माडवाड़' शब्द के आधार पर ही हुई है, या उसके अन्य कारण भी हैं। हमारी राय में, 'माडवाड़' शब्द के ही कारण 'मारवाड़ी' शब्द का प्रचार हुआ हो, ऐसा कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता। कारण, 'माड-वाड़' शब्द का लोप बहुत पहले ही हो गया था और उस प्रान्त का नाम राजपूताना अथवा राजस्थान इसलिए पड़ गया था कि, उस प्रान्त में क्षत्रिय वर्ण के राजपूतों की प्रबल सत्ता थी। उनके प्रभाव के कारण

यह प्रदेश राजपूताना अथवा राजस्थान प्रसिद्ध हो चला था और जिस समय अन्य प्रान्तों में 'मारवाड़ी' शब्द का प्रचार हुआ, उस समय उनका नामकरण यदि प्रान्त के नाम से होता, तो बहुत संभव था कि, वे लोग मारवाड़ी न कहाकर राजस्थानी अथवा राजपूतानेवाले कहलाते। परन्तु इसके विपरीत वे राजस्थानी न सम्बोधित हो, समष्टि रूप से मारवाड़ी कहलाये।

पाठकों को यह ध्यान में रखना चाहिये कि असल में मारवाड़ी शब्द की प्रसिद्धि बंगाल प्रान्त से हुई है। बङ्गभूमि में आनेपर मारवाड़ियों की उन्नति हुई और व्यापार तथा उद्योग-धन्धों में वे विशेष रूप से अग्रसर हुए। जिस प्रकार उत्तरोत्तर उन्नति होती गई, उसी प्रकार इस जाति ने देशव्यापी नाम धारण कर लिया। बंगाल का इतिहास अनुशीलन करने से, यह विदित होता है कि, सन् १५६४ में जब सुलेमान किरानी बंगाल में राज्य करता था, उस समय से मारवाड़ी जाति का बंगाल से सम्बन्ध है। इतिहास बतलाता है कि, सुलेमान किरानी यद्यपि बड़ा चतुर और नीतिज्ञ था तथापि अपने घरेलू झगड़ों से बड़ा तंग रहा करता था। ऐसी परिस्थिति में, उसने सम्राट् अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी और तभी से अकबर की सेना बंगाल में किरानी की सहायता के लिये रहने लगी थी। मुसलमानी तवारीखों से पता लगता है कि, जो सेना पहले-पहल बंगाल में सुलेमान किरानी की सहायता के लिये आई थी, वह राजपूत सेना थी और उसके सभी सैनिक भी राजपूत थे। इस राजपूत सेना के मोदीखाने में, जोधपुर-मारवाड़ के वैश्य काम करते थे। उनका काम सेना को आवश्यकतानुसार खाद्य-पदार्थ देना और उनके लिए लड़ाई के अन्य उपकरण संग्रह करना था। यह बात प्राचीन काल से प्रसिद्ध है कि, राजपूताने के वैश्य व्यापार-पटु होते हैं। इसी व्यापार-पटुता और व्यावसायिक बुद्धि के कारण वे सरकारी मोदीखानों में नियुक्त किये जाते थे। इसी व्यावसायिक क्षमता के कारण उन्होंने बंगाल में आकर एक नवीन क्षेत्र निर्माण किया।

उस समय सेना के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती, वे स्वतंत्रतापूर्वक उनका संग्रह पहले से ही कर लेते थे और जब मांग होती, तब वे उसकी पूर्ति तुरन्त किया करते थे। यह साधारण अनुभव की बात है कि, सेना-आदि के लिये आवश्यक वस्तुएँ यदि ऐन वक्त पर खरीदी जाती हैं, तो उनका दाम अनुमान से बहुत अधिक देना पड़ता है। कुशल मोदियों ने पहले से रसदादि संग्रह कर सेना को अत्यधिक व्यय से बचाया और उचित मुनाफा लेकर स्वयं भी लाभान्वित हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि, सेनानायक प्रसन्न रहने लगे और उनके व्यापार का मार्ग भी प्रशस्त हो गया। इस प्रकार ज्यों-ज्यों समय निकलता गया, त्यों-त्यों उनका व्यापारिक-क्षेत्र बंगाल में बढ़ता गया। उन्होंने अपने भाई-बन्धु तथा अन्य स्वजनों को राजस्थान से बुलाकर व्यापार में लगाना शुरू किया। इस प्रकार, जब बंगाल के स्थानीय लोगों से व्यवसाय होने लगा, तब वे अपना परिचय अपने देश 'मारवाड़' के नामानुसार 'मारवाड़ी' कहकर देने लगे। मारवाड़ का जातीय चिह्न प्रधानतः 'पगड़ी' है। नतीजा यह हुआ कि, आगे चलकर जितने भी पगड़ीधारी राजस्थानी बंगाल में आये, चाहे वे मारवाड़—जोधपुर के रहने वाले हों या अन्य राज्यों के, वे सभी मारवाड़ी सम्बोधित होने लगे। यह एक मानी हुई बात है कि, पहले-पहल जो वेंक—पदवी—पड़ जाती है, वह कालान्तर में सार्वजनिक रूप धारण कर लेती है। इस दृष्टि से, न केवल मारवाड़—जोधपुर के अधिवासी ही, बल्कि समस्त राजस्थानी, बंगाल में मारवाड़ी नाम से प्रसिद्ध हुए।

आजकल मारवाड़ी जाति का नाम देशव्यापी हो रहा है। न केवल भारतवर्ष में प्रत्युत् योरप, अमेरिका, चीन तथा जापान आदि देशों में भी यह नाम प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। इस प्रकार बंगाल में मारवाड़ी नाम का प्रचार आरंभ में जोधपुर-मारवाड़ के लोगों के आगमन से ही हुआ है। अब राजस्थान के समस्त प्रजा-जनों का केवल मारवाड़ी

नाम में बँध जाना राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण हुआ है, इसका सहज ही में विचार किया जा सकता है। एक गौरव-जनक बात यह भी हुई कि, जिस 'माडवाड़' शब्द का विस्मरण कर लोग अपनी राष्ट्रीयता को भी भूलने लगे थे, इस रूप में उसका उदय बंगाल में स्वतः हो गया।

मारवाड़ी शब्द का इस रूप में प्रचार संकुचित भावों का द्योतक नहीं है। और वह न कोई अखिल वैश्य जाति में विभेद ही उत्पन्न करता है। राजस्थान के भिन्न-भिन्न राज्यों की प्रजा जहां अपने आपको भिन्न-भिन्न रियासतों के नाम से घोषित करती थी, वहाँ आज इस मारवाड़ी शब्द ने सबको एक सूत्र में बांध दिया है। इसलिए, यह शब्द किसी प्रकार भी संकुचित साम्प्रदायिकता को नहीं प्रकट करता। इस प्रकार समस्त राजस्थान की प्रजा का जो राष्ट्रीय संगठन है, वह प्रान्त के लिये गौरव-जनक है। मगर आजकल इस जाति में जो शथिल्य आ रहा है, उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि, इस जाति का सुदृढ़ और प्रगतिशील सामाजिक संगठन हो। यदि इस अभाव की पूर्ति हो, तो इस व्यापारिक जाति का आज जितना नाम संसार में है, उससे कई गुना अधिक हो जाय। पर यह दुःख जनक अवस्था है कि, आज सामाजिक संगठन के अभाव में, मारवाड़ी समाज को व्यापारिक-क्षेत्र में ही हानि नहीं उठानी पड़ती है, बल्कि अपनी त्रुटियों के कारण समय-समय पर उसे अपमानित भी होना पड़ता है। यदि ये सब समाज की त्रुटियाँ दूर हो जांय और समय की प्रगति के अनुसार उसका सामाजिक और आर्थिक संगठन सुदृढ़ होता जाय, तो कोई कारण नहीं कि, समाज के मान और गौरव का सिक्का सारे देश पर न जमे। जिस पवित्र उद्देश्य से मारवाड़ी जाति अपने प्राचीन नाम 'माडवाड़' का विस्मरण न कर स्वदेश और हिन्दू जाति को अत्यधिक बलवान बनाने में समर्थ हुई है, उसका शक्तिशाली संगठन होने से भविष्य में भी कल्याण

होगा। ईश्वर करे मारवाड़ी जाति इस कीर्ति और गौरव की रक्षा करने में समर्थ हो।

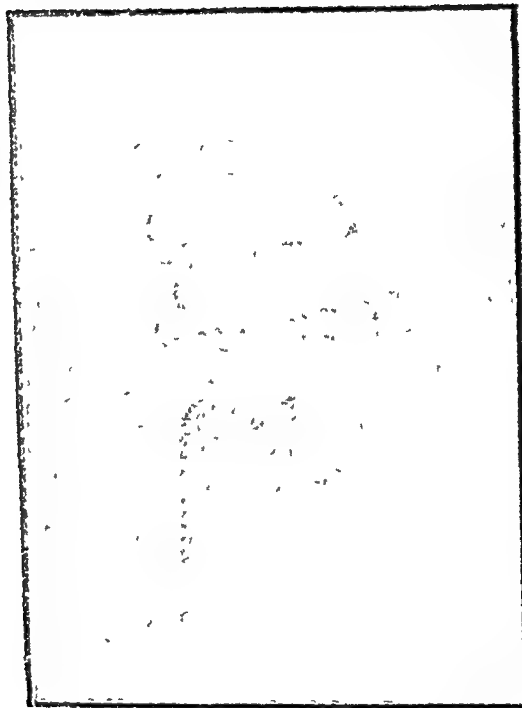
पूर्वजों के धार्मिक भाव

राजस्थान के अमर इतिहास में, ऐसे अनेकानेक प्रमाण मिलते हैं तथा तत्कालीन प्राचीन कहावतें, सामाजिक नियम और अन्य रीति-रस्मों से भी यह प्रकट होता है कि, मारवाड़ी जाति के पूर्व पुरुषों में धर्मभीरुता अत्यधिक थी। धर्माचार्य, ऋषि-मुनि और ब्राह्मणों ने उनके लिए धर्म का जो स्वरूप निर्धारित कर दिया था, उसे वे पूर्ण रूप से बिना किसी तर्क-वितर्क के मानते थे। तदनुकूल उनका आचरण भी होता था। जिस कर्म के करने से पाप होना बताया गया था, उसे करना तो दूर किनार रहा—उसके नाम से उन्हें इतनी घृणा और ग्लानि होती थी कि, चाहे जितना प्रलोभन उनके सम्मुख उपस्थित होता वे अपने धर्म-पथ से विचलित नहीं होते थे। हमारा यह कथन किसी अंश में भी अत्युक्ति-पूर्ण नहीं है। उनकी धर्मभीरुता सर्वश्रेष्ठ थी। यही कारण है कि, आज भी मारवाड़ी जाति की गणना विशाल हिन्दू समाज में धर्मभीरु जाति में होती है, चाहे उसका रूप दुर्भाग्यवश विकृत ही क्यों न हो गया हो।

इस मायामय जगत में साधारण मनुष्य के लिए स्वार्थ साधन से एक बारगी विरक्त रहना सम्भव नहीं है। पर भोले-भाले ग्रामीण आज भी सांसारिक छल-प्रपंच और अनेक कुकर्मों से बचे रहते हैं। राजस्थान का प्राचीन इतिहास इस सत्यता का साक्षी है कि, मारवाड़ी जाति के पूर्व पुरुष घृणित और कुत्सित कर्मों से कांपते थे। उनकी धर्मभीरुता उन्हें दुष्कर्मों से अलग रखती थी। वे यह अन्तःकरण से मानते थे कि, यदि किसी दुष्कर्म के करने में उन्हें कुछ क्षणिक लाभ प्राप्त भी हो जाय, तो भी उसका अन्त अवश्य ही दुःखप्रद होगा। ऐसे कर्मों से उनके दोनों लोक बिगड़ेंगे। इसलिए वे पाप कर्मों से सदैव भयभीत रहते थे।

उनका यह भय इस अटल विश्वास का समर्थक था कि, अपने कर्मों का फल भोगना अनिवार्य है। पुनर्जन्म के सिद्धान्तानुसार अच्छे और बुरे कर्मों का फल इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में अवश्य भोगना पड़ेगा। उनके इन विचारों का यह परिणाम होता था कि, पहले तो कोई व्यक्ति किसी प्रकार का कुकर्म करने के लिए प्रेरित ही नहीं होता था और यदि मोहमाया से लिप्त इस संसार में किसी से कोई पापपूर्ण कार्य हो भी जाता, तो वह स्वयं आत्मशुद्धि के लिए तत्पर रहता था। फिर ऐसे पुरुषों को पाप-कर्म से विरत करने के लिए उस समय का सामाजिक अनुशासन भी कम न था।

इस संसार में धनी और निर्धन, दोनों ही होते हैं। साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुयायी देशों में भी इस विभिन्नता का नाश नहीं हो पाया। हां, भारतीय समाज-शास्त्रियों ने व्यावहारिक समानता का आदर्श सदैव समाज के सम्मुख रखा था और समाज की सुख-शान्ति के लिए वैसे ही नियम बनाये थे। उस समय धनियों और निर्धनों में कोई द्वेष-भाव नहीं था। धनी अपनी सत्ता से निर्धनों के शोषण का भाव नहीं रखते थे, और निर्धन यह विश्वास रखते थे कि, धनिकों का धन उनके लिए सहायक हो सकता है। ऐसे निर्धन व्यक्ति आवश्यकता आ पड़ने पर धनिकों से धन लेकर अपना काम निकालते थे। परन्तु हमारे पूर्वजों में ऋण के सम्बन्ध में दूसरा ही भाव रहा है। उन्होंने ऋण को पाप का रूप दिया था। धार्मिक दृष्टि से भी उनका यह अटल विश्वास था कि, ऋण लेकर न चुकानेवाले की मुक्ति नहीं होती। जहां तक संभव होता, प्रथम तो वे किसी से ऋण लेते ही नहीं थे और यदि अपने व्यापार-धन्धे के लिए ऋण लेना अनिवार्य हो जाता, तो वे उस ऋण को अपने जीवन काल में ही चुका देते थे। धार्मिक और सामाजिक—किसी भी दृष्टि से क्यों न हो, व्यापारिक क्षेत्र के लिए ऋण सम्बन्धी उनका यह भाव आदर्श था। इससे उनकी साख सदा बनी रहती थी।



स्वर्गीय युगलकिशोरजी रुइया

पर आजकल आधुनिक सभ्यता ने ऋण विषयक प्राचीन मनोवृत्ति एकबारगी बदल दी है। आजकल लोग ऋण लेना उतना पाप नहीं समझते, जितना कि, हमारे पूर्वज समझते थे। वर्त्तमान परिस्थिति तो यह है कि, न केवल अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ने पर, प्रत्युत् व्यापार-धन्धे तथा अन्य आवश्यकताओं के नाम पर और अन्य प्रकार से गुलछर्रे उड़ाने के लिए खूब शौक़ से ऋण लिया जाता है और फिर उसे चुकाने की विशेष चिन्ता भी नहीं की जाती। हमारे पूर्वजों में ऐसा कलुषित भाव ही नहीं था। वे इस विषय में सदैव सतर्क रहा करते थे कि, हमसे कोई ऐसा कार्य न होने पाये, जिससे ऋणग्रस्त होना पड़े। अपनी आर्थिक स्थिति और आय का ध्यान रख कर ही वे उचित सीमा तक व्यय करते थे। वे इस उदाहरण के व्यावहारिक रूप में जीवन्त उदाहरण थे कि, धनोपार्जन की अपेक्षा उसके व्यय करने में अधिक निपुण होना चाहिए। इसलिए वे न तो गुलछर्रे उड़ाते थे और न अपनी आय से अधिक व्यय कर क्षणिक प्रसिद्धि और मिथ्या ख्याति की कामना ही करते थे। उन्हें अपनी स्थिति पर ही संतोष रहता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि, वे कर्त्तव्य-विमुख हो, अपनी और समाज तथा देश की उन्नति नहीं करते थे। इन कार्यों के लिए उन्हें ऋण लेना पड़ता, तो वे उसका सदुपयोग करते और उसे लौटा देते थे। वे ऋण लेकर बड़े आदमी कहलाने की अपेक्षा ऋण न लेकर अपनी स्थिति के अनुसार व्यय कर साधारण आदमी बने रहने में, अपना सम्मान समझते थे। उनका यह विश्वास था कि, ऋणी व्यक्ति वास्तव में न तो बड़ा आदमी बन सकता है और न अपने स्वाभिमान की रक्षा कर सकता है। वे झूठे बड़प्पन की लम्बी-चौड़ी बातों को पाप, अनिष्ट और घातक मानते थे। जहां वे व्यापार में धन का सदुपयोग करते थे, वहां सामाजिक रीति-रिवाजों के पालन में पूर्ण मितव्ययी थे। इसी मितव्ययिता ने उनकी धार्मिक भावना जाग्रत कर रखी थी। वे ऐसी रीति-रिवाजों को अधार्मिक

मानते थे जिनके पालन से वे ऋणग्रस्त हों और उन्हें स्वाभिमान से हाथ धोना पड़े। वे साधारण स्थिति में रह कर अपने स्वाभिमान की रक्षा करना ही मुख्य धर्म समझते थे। इन सद्विचारों का यह परिणाम होता था कि, समाज में किसी के धन को देखकर न तो उनमें ईर्षा उत्पन्न होती थी और न उनके हृदय में झूठा बड़प्पन ही स्थान पाता था। धनवान होने पर इतर जातियों के लिए वे कष्टप्रद भी नहीं होते थे। आर्थिक कष्टों के निवारण के लिए उनका समाज एक उपयोगी अंग था। अपव्ययी न होने के कारण ही उन्हें यह क्षमता प्राप्त हुई थी। अपव्ययी मनुष्य किस पाप को नहीं करता और समाज में कौनसा भेद उत्पन्न नहीं करता।

हमारे पूर्व पुरुषों ने लौकिक धर्म साधन के लिए सुदृढ़ सामाजिक संगठन किया था। समाज के आदेशानुसार ही वे कार्य करते थे और पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक धर्म पालन के लिए वे दार्शनिक दृष्टि से सभी को स्वतन्त्र समझते थे। वे श्रीराम और कृष्ण के चरित्र को आदर्श समझकर उनके आचरण और उपदेशों को मानते थे। गीता के सिद्धान्तों में उनका सच्चा विश्वास था। धर्म के दश लक्षणों * को वे सार्वजनिक धर्म मानते थे और यथाशक्य उनके अनुसार चलने की चेष्टा करते थे। 'दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान!' का सिद्धान्त उनके हृदय पटल पर अङ्कित था। सारांश यह कि, क्षणिक सुख के लिए वे कभी कर्त्तव्यच्युत नहीं होते थे और कष्ट सहन करते हुए भी पाप-कर्मों का प्रतिकार और धार्मिक भावों का प्रचार करते थे। इस प्रकार पूर्वजों का सार्वजनिक धार्मिक भाव समाज के लिए सर्वथा अनुकरणीय था।

---

* धृतिःक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥
—मनु।

क्षात्र-धर्म की प्रधानता

यद्यपि राजस्थान की हिन्दू प्रजा वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त थी तथापि मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए इन चारों वर्णों को क्षत्रियत्व धारण कर खड्गहस्त होना पड़ता था। इसलिए इन चार वर्णों के होते हुए भी, राजस्थान क्षत्रिय प्रधान प्रान्त रहा है। वैसे तो शान्ति के समय यहाँ के हिन्दू अपने वर्ण के अनुसार कार्य करते थे; किन्तु युद्ध छिड़ जाने पर—जब देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न सम्मुख उपस्थित होता था, तब सब के सब फिर चाहे वे किसी भी वर्ण के क्यों न हों, अपने प्यारे देश की स्वतन्त्रता के लिए सच्चे क्षत्रिय की तरह अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर युद्ध-क्षेत्र में खड्ग-हस्त हो जाते थे। राजस्थान का गौरवमय इतिहास तथा प्रचलित रस्म-रिवाजें और वीरत्वपूर्ण ग्राम-गीत एवं अनेक गाथाएँ आज भी इस बात की पुकार-पुकार कर साक्षी दे रही हैं।

यह सत्य है कि, ब्राह्मण का कार्य युद्ध में मरना-मारना नहीं, बल्कि अपने आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा सभी वर्णों का समान रूप से कल्याण करना था। विद्याध्ययन करना और कराना, यज्ञ करना और कराना तथा दान लेना व देना—आदि कर्म ब्राह्मणों के लिए कहे गये हैं। परन्तु राजस्थान का वीरतापूर्ण इतिहास हमें यह बतलाता है कि, ब्राह्मण अपने इन कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हुए भी, राजनीति और रण में भी भाग लेते थे। उनकी पुरोहित संज्ञा ही इस बात की द्योतक है कि, उपदेशों द्वारा पर हित करना उनका कार्य तो था ही, किन्तु समय आ पड़ने पर पराये हित के लिए वे अपने आपको भी बलिदान कर देते थे। इतिहास साक्षी है कि, महाराणा प्रताप और उनके भाई शक्तिसिंह में जब अनबन हो गई और वे खड्गहस्त हो एक दूसरे पर घातक प्रहार करने लगे, तब उनके पुरोहित ने ही बीच में पड़कर उन्हें शान्त करने के लिए

अपने प्राण दे दिये थे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं कि, देश की स्वतन्त्रता और जातीयता की रक्षा करने में ब्राह्मण सदैव सचेष्ट रहे हैं।

इस सम्बन्ध में क्षत्रियों के क्षत्रियत्व के लिए हम क्या कहें? वे तो जन्मजात क्षत्रिय की दृष्टि से सदैव क्षत्रिय ही समझे जाते थे और जीवन की अन्तिम घड़ी तक अपने धर्म का पालन करते थे। उनकी उन वीरतापूर्ण गाथाओं से आज—इस सुषुप्तावस्था में भी—हमारी धमनियों में रक्त का संचार हो उठता है।

राजस्थान के वैश्यों की देशभक्ति तो इतिहास में 'सोने में सुगन्धि' वाली कहावत चरितार्थ करती है। यद्यपि 'कृषिगोरक्षवाणिज्यम्, वैश्य कर्म स्वभावजम्' ही वैश्यों के लिए प्रधान कर्म बताए गये हैं, तथापि राजपूताने के वैश्य अपने इन कर्मों में संलग्न होते हुए भी, क्षत्रियत्व का परिचय देते आये हैं। आजकल के वैश्यों की तरह, उस समय वे न तो केवल धन के कीड़े ही बने हुए थे और न धनमद में चूर होकर देश की स्वतन्त्रता और जातीय सम्मान की उपेक्षा किया करते थे। देश के शान्तिकाल में वे अपने जाति-धर्म के अनुसार धनोपार्जन करते थे और संकट के समय आवश्यकता पड़ने पर क्षात्र धर्म में ही अग्रसर हो जाया करते थे। राजपूताने का इतिहास इस सत्यता का साक्षी है कि, वैश्यों ने बड़े-बड़े राज्यों का संचालन किया है। उन्होंने राजसचिव के पद प्राप्त किये हैं और सेनापति की हैसियत से युद्ध यात्राएं भी की हैं। उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, बूंदी, कोटा और बीकानेर का इतिहास डंके की चोट यह बतला रहा है कि, इन राज्यों के निर्माण तथा राजनीतिक घटनाओं में वैश्यों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। देश की पुकार पर राजस्थान के वैश्य सदा सब कुछ करने को तैयार रहे हैं। जो वैश्य राज-संचालन तथा युद्ध में भाग ले सकते थे, वे उसमें सहर्ष अग्रसर होते थे, और दूसरे धनराशि से सहायता करना अपना प्रधान कर्त्तव्य तथा धर्म समझते

थे। जयपुर के दौलतराम हलदिया के लिए तो आज भी यह गीत गाया जाता है कि 'राणियाँ न जायो दोला, बाणियाँ सारीक।'

मेवाड़ के वैश्यकुल-भूषण, प्रातःस्मरणीय देशभक्त भामाशाह का परम पुनीत नाम भला कौन राजस्थान-वासी नहीं जानता? देश की मान-मर्यादा और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उन्होंने जिस त्याग भाव से अपनी सारी सम्पत्ति महाराणा प्रताप के चरणों में अर्पित कर दी थी, उसका संसार के इतिहास में जोड़ नहीं मिलता। राजस्थान की वैश्य जाति के ऐसे ही नर-रत्नों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए क्षत्रियोचित कार्य किये थे और वे स्वतन्त्रता की वलिवेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने में ही अपना परम धर्म समझते थे।

हिन्दू जाति का चतुर्थ श्रमजीवी वर्ण—शूद्र भी देशभक्ति और वीरता के भावों से शून्य नहीं था। इससे यह सहज ही प्रकट हो जाता है कि, सारा राजस्थान क्षत्रियोचित वीरता से ओत-प्रोत था। राजस्थान के इस चतुर्थ वर्ण ने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करते हुए स्वदेश की रक्षा में जितना अग्र भाग लिया, उसका वर्णन करने के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है। राजस्थान के इन शूद्रों को यदि इस प्रान्त की वास्तविक शक्ति कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। स्वामीरक्षिका तथा देशिभक्ति से परिपूर्ण पन्ना धाय का नाम राजस्थान में अमर है। राजस्थान के प्रसिद्ध पाँच महावीरों—पाबू राठोड़, हरभू साँखला, रामदेव तँवर, गोगादेव चौहान और मेहा मांगलिया के अनुयायी थोरी जाति के अछूत, भील, चमार तथा कोली आदि ही थे। इन्हीं लोगों की सहायता से उन वीरों ने देश के लिए, धर्म के लिए—अपनी संस्कृति के लिए—अपने वचनों की रक्षा के लिए क्या-क्या न किया? उनके बलिदान का ही यह परिणाम है कि, आज भी सारा राजपूताना उनकी पूजा करता है, और मार्के की बात यह है कि अन्य तीनों वर्णवाले उनकी भक्ति करते हैं तथा मन्दिरों के पुजारी वे ही अछूत कहे जानेवाले देखे जाते हैं।

आज भी हम देखते हैं कि जहाँ-जहाँ हमारे धर्म के गढ़ों पर विधर्मियों का आक्रमण होता है, उनको ये ही अछूत प्राणों को होम कर बचाते हैं। भारत के शिवा, सभ्यता की डींग हाँकनेवाले संसार के किसी भी देश के इतिहास में ऐसे उज्ज्वल उदाहरण कितने हैं ?

राजस्थान का गौरवपूर्ण इतिहास इस बात को विशेपरूप से प्रमाणित करता है कि, यदि कोई पुरुष किसी कारण से देश रक्षा करने में विमुख दिखाई पड़ता, तो कुल-ललनाएँ उसे धिक्कारती थीं और उस समय तक उसका मुँह देखना पाप समझती थीं, जबतक कि, वह फिर से अपने कर्त्तव्य कर्म के लिए अग्रसर न हो जाता था। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत हैं कि, राजस्थान की वीर महिलाओं ने अपने स्वामियों को उत्साहित कर युद्ध-क्षेत्र के लिए अग्रसर किया और अपने हाथों से उन्हें खड्ग तथा कटार देकर उनके मस्तक पर तिलक लगाया। रणभूमि से जब उनके पति विजयी होकर आते, तो उनके साथ वे स्वर्ग-सुख का उपभोग करतीं और यदि उनके पति पीठ दिखा कर भाग आते, तो वे उन्हें अवहेलना-पूर्वक दुत्कार देती थीं। जिनके पति अपना कर्त्तव्य कर्म करते हुए युद्ध-क्षेत्र में धराशायी होते, उनकी पत्नियाँ हर्षोन्मत्त हो सती हो जातीं थीं। राजस्थान में शायद ही कोई ऐसा भू-भाग हो, जहाँ की पति-परायणा वीर-महिलाओं ने अपने स्वामियों के साथ सहमरण न किया हो। राजस्थान की पवित्र-भूमि आज भी सतियों के मठों से व्याप्त हो रही है। उनके स्मारक-स्वरूप मारवाड़ी जाति आज भी प्रतिवर्ष भाद्रपद अमावस्या को सती-पूजा कर गौरवान्वित होती है। यह उन वीर-महिलाओं का ही कार्य था कि, देश और जाति की कर्त्तव्य-वेदी पर अपने वीर पुत्रों को बलिदान होने के लिए अग्रसर करती थीं और अपने पवित्र दूध को न लजाने का उपदेश देती थीं तथा जबतक उन्हें पुरुषों द्वारा देश का गौरव और जाति के सम्मान की रक्षा होती दिखाई देती, तबतक वे महलों में रहकर उत्साह प्रदान किया करती थीं; परन्तु, जब

वे देखतीं कि, देश और जाति की रक्षा तथा सम्मान के लिए उनकी भी आवश्यकता है, तब वे महलों में भयभीत कायर अवस्था में बैठने के बज़ाय खड्गहस्त हो रणचण्डी का रूप धारण कर युद्ध-क्षेत्र में आ कूदती थीं। अपने धर्म और कर्त्तव्य कर्म के लिए मरना उन्होंने एक सहज कार्य बना लिया था। राजस्थान में अनेक बार ऐसे अवसर उपस्थित हुए कि, शत्रु द्वारा पुरुष वीर गति को प्राप्त हुए और शत्रुओं ने महलों पर चढ़ाई की तो वीर रमणियाँ जौहर व्रत धारण कर अग्नि में भस्म हो गयीं और अपने सतीत्व की रक्षा कर अमर हो गईं। कहना न होगा कि, सभी वर्णों की वीर पत्नियों ने राजस्थान की आनबान की घड़ी में युद्ध में भाग लिया था।

उस वीर युग में, राजस्थान के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के सभी नरनारी आबालवृद्ध वीरत्व और देश-भक्ति के रंग में रंगे हुए पराधीनता और अपमान को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे अनुभव करते थे कि कहीं राजस्थान गुलाम हो गया, तो उनका धर्म-कर्म—आन-बान और संस्कृति सब जाते रहेंगे। सचमुच राजनैतिक पराधीनता उनके लिए असह्य थी। इसीसे उन्होंने अपने बलिदानों द्वारा राजस्थान को स्वतन्त्र रक्खा और आज भी उनके पुण्यप्रताप से यह प्रान्त एक प्रकार से स्वतन्त्र बना हुआ है।

आजकल की तरह यदि प्राचीन काल में भी राजस्थानवासी देश-भक्ति से शून्य, व्यक्तिगत स्वार्थ में लीन और अपने कर्त्तव्य-कर्म से पराङ्मुख रहते, तो कभी सम्भव न था कि, यह पवित्र-भूमि वीर वसुन्धरा के पद से विभूषित होती और स्वतन्त्रता का उपभोग करने में समर्थ होती। इस संसार में चाहे कोई भी देश हो, उसकी स्वतन्त्रता के लिए उसके प्रजाजनों का व्यक्तिगत स्वार्थ-त्याग और आत्म बलिदान करना अनिवार्य है।

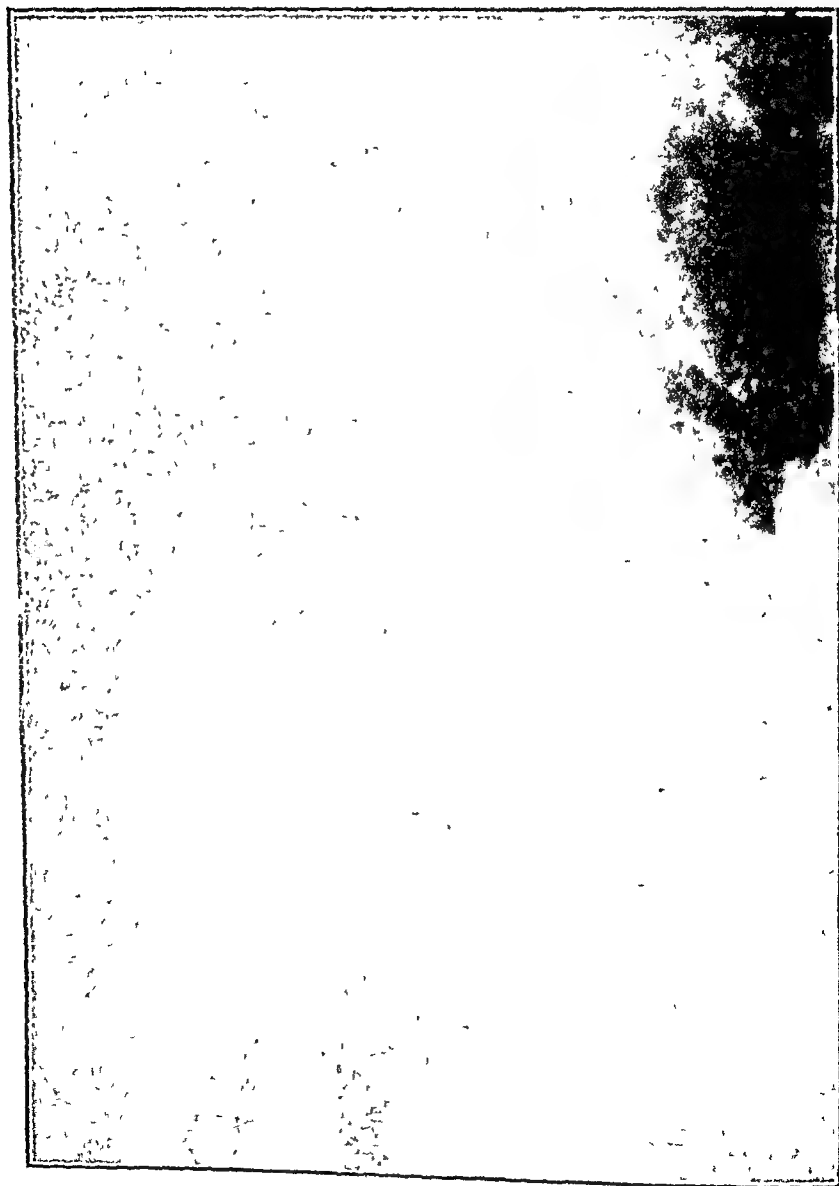
मारवाड़ी जाति आज भी देशव्यापी हो रही है और वाणिज्य

व्यापार में ख्याति प्राप्त कर धनी कहला रही है। यदि यह जाति अपने पूर्वजों के महान् त्याग को हृदयंगम कर उनके देशाभिमान का व्रत ग्रहण करे, तो इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं कि, आजकल इसके नाम पर नाना प्रकार के कायरतापूर्ण जो मिथ्या आरोप लगाये जाते हैं, वे सहज में दूर हो जायँ। हमारा प्राचीन इतिहास महान् है, जिसकी समानता शायद ही कोई कर सके। आवश्यकता इस बात की है कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्ति अपने प्राचीन इतिहास का अध्ययन और मनन कर समाज का सुन्दर भविष्य निर्माण करने में प्रयत्नशील हों।

साम्प्रदायिक विभिन्नता में सामाजिक एकता

यह एक सर्वसम्मत बात है कि, अति प्राचीन काल से भारतवर्ष धर्मप्रधान देश रहा है। संसार के किसी भी अन्य देश में इतनी धार्मिक प्रगति नहीं हुई जितनी कि, इस देश में हुई थी। इसी उन्नति के कारण यह देश समस्त संसार का आध्यात्मिक गुरु रहा और इस गये-गुजरे जमाने में भी इस देश की धर्म भावना अन्य देशों के लिए अनुकरणीय बनी हुई है। आज भी संसार के कोने-कोने से यहां आकर लोग अपने आध्यात्मिक ज्ञान की अभिवृद्धि करते हैं। धर्म की इतनी प्रगाढ़ भावना और परस्पर विरोधी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का विकास होने पर भी यूरोप आदि देशों के समान इस देश में धर्म के नाम पर रक्त की नदियाँ नहीं बहीं। प्रत्युत् भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयायी एक दूसरे के धर्म-तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते थे। यदि यह भावना न होती तो इस देश में आध्यात्मिक क्षेत्र की इतनी उन्नति कदापि दृष्टिगोचर न होती। हमारे पूर्व पुरुषों में धर्म के सार्वजनिक सिद्धान्तों को समान रूप से मानते हुए भी द्वैता-द्वैत तथा आस्तिकता व नास्तिकता का वाद-विवाद होता रहता था। कारण यह था कि अन्य देशों के धर्मों की तरह किसी विशेष व्यक्ति के प्रति श्रद्धा तथा ईमान लाने की

प्रारम्भ में अंग्रेजी ऑफिसों का काम संभालनेवाले



स्वर्गीय सोनीरामजी पोद्दार

बात हमारे धर्म में नहीं थी। इसी स्वतन्त्रता के कारण भारतवर्ष में शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य, जैन, बौद्ध आदि कितने ही सम्प्रदायों ने जन्म लिया और अन्य धर्मावलम्बी भी इस देश में आये। हमारे पूर्वज धार्मिक क्षेत्र की विभिन्नता के कारण, देश तथा समाज की हानि नहीं होने देते थे। प्रत्येक व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता का सम्मान करते थे। इस प्रकार यह विभिन्नता विचारों में ही सीमित थी। वे यह भली भाँति जानते थे कि, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के होने पर भी सब का लक्ष्य आत्मोद्धार ही है तथा मनुष्य-मात्र भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में रहता हुआ भी मोक्ष का अधिकारी है। इस उच्च कोटि की विशद भावना ने ही सामाजिक संगठन में बाधा नहीं आने दी। धार्मिक विषयों में लोगों का मतभेद होने पर भी लौकिक क्षेत्र में उनकी एकता सर्वथा उल्लेखनीय थी। खेद है कि, आज हम उस महान् तत्त्व को भूल गये और राग-द्वेष तथा घृणा की कुत्सित भावनाओं के पंक में फँस कर अपने पूर्वजों के महान् आदर्श को खो बैठे। आज हम अपनी मानसिक दुर्भावनाओं के कारण सार्वजनिक रूप से सामाजिक संगठन तथा जातीयता के भावों से दूर होते जा रहे हैं। हमारे इन आचरणों से कहा जा सकता है कि, हम साधारण मानव-धर्म को भी खो रहे हैं। एक दिन वह था कि, जब हमारे पूर्वज भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी होने पर भी लौकिक व्यवहार में अटल एकता रखते थे। जब कोई सांसारिक विषय उनके सामने उपस्थित होता, तो वे सब एक होकर उस पर विचार करते थे। अपनी सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता में मत-मतान्तरों का कोई प्रभाव नहीं पड़ने देते थे। जब जाति अथवा देश पर कोई प्रहार होता, तो वे साम्प्रदायिक भेद-भावों के होते हुए भी एक होकर अपने राष्ट्र और समाज की सत्ता तथा मान को सुरक्षित रखने में सचेष्ट रहते थे। ... .

राजस्थान में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालों का सामाजिक संगठन अत्यन्त सुदृढ़ था। समाज की एकता की रक्षा के लिए उनके विधान और

व्यवस्थाएँ अत्यन्त उदार तथा मानवोचित थीं। ऐसी उदार व्यवस्था का जन्म राजस्थान में ही सर्वप्रथम हुआ था। उदाहरण लीजिए— वैष्णवों का जैनियों के साथ रोटी-वेटी आदि का व्यावहारिक संवन्ध। साम्प्रदायिक दृष्टि से इन दोनों धर्मावलम्बियों में कितनी अधिक विभिन्नता है, यह किसी से छिपा नहीं है। पर यह सब होते हुए भी हमारे विचार-शील पूर्वजों ने सामाजिक क्षेत्र में उक्त भेदभावों को स्थान नहीं दिया। सामाजिक एकता अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने पारस्परिक रोटी-वेटी का व्यवहार कायम रखा। उन्होंने उदारतापूर्वक इस सामाजिक नियम की व्यवस्था दी कि, जैनियों की पुत्रियाँ सनातनधर्मियों के यहाँ विवाही जांय और सनातनधर्मियों की पुत्रियां जैनियों के यहां विवाही जांय। इस व्यवस्था में उन्हें कोई आपत्ति नहीं दिखाई दी। पति के धर्म के अनुसार ही स्त्री का मत वदल जाता है। कहना न होगा कि मारवाड़ी अग्रवालों में यह रिवाज आज भी प्रचलित है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि, धार्मिक क्षेत्र में भी हमारे पूर्वज भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवादियों से राग-द्वेष और घृणा नहीं रखते थे। इस दृष्टि से उनकी सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता सर्वथा अनुकरणीय थी।

वे यह मानते थे कि, हमें अपना धार्मिक सिद्धान्त अन्य धर्मावलम्बी से घृणा करने का आदेश नहीं देता। यह भेदभाव तो प्रत्येक मनुष्य की ज्ञानशक्ति का द्योतक है और वह धार्मिक क्षेत्र के किस मत को माने, यह उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है। इस दृष्टि से वे प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्र समझते थे। अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा और प्रतिध्वनि के अनुसार ही प्रत्येक धर्मानुयायी अपने मत को मानने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था। इस विभिन्नता का सांसारिक जीवन से कोई सम्वन्ध नहीं था। इस उदार व्यवस्था के कारण आज तक कभी भी साम्प्रदायिक विद्वेष ने सामाजिक क्षेत्र में स्थान नहीं पाया और हमारे पूर्वजों, ने धर्मभीरु होते हुए भी, अपने प्रान्त को धार्मिक कलह का अखाड़ा नहीं वनने दिया।

पर आज हमारी क्या अवस्था है ? पद पद पर हम अपने पूर्वजों के इन उदात्त सिद्धान्तों का नाश कर रहे हैं। हम राग-द्वेष में इतने विलिप्त हो गये हैं कि, अपने से भिन्न मतवालों को पशुओं से भी हेय समझते हैं। धार्मिक उदारता का हमने सर्वनाश कर दिया है। आज हम जितनी उदारता अ-हिन्दुओं से प्रकट करते हैं, उतनी भी हम अपने ही भिन्न सम्प्रदायवाले भाई के प्रति नहीं दिखलाते। इस अनुदारता का परिणाम यह हो रहा है कि, केवल सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के किसी भी क्षेत्र में हम अपने भाइयों से सहयोग करना पाप समझते हैं! इस झूठी धर्म भावना ने संसार में हमारी अवस्था हास्यास्पद कर दी है। व्यापार, शिक्षा तथा अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में एक यवन तथा अंग्रेज को सहयोग देने में हमारे पवित्र धर्म का कोई नाश नहीं होता, किन्तु अपने भिन्न मतवाले भाई के अनुनय-विनय पर भी हम उसके लिए अपने सहयोग का द्वार बन्द रखते हैं। हम चींटी को चुगाते हैं, पर अपने भिन्न मतवाले भाइयों की सहायता करना मानवोचित कर्म नहीं समझते और इतने पर भी अपने को परम धार्मिक और समाज के रक्षक घोषित करते हैं! इन्हीं कुत्सित भावनाओं के कारण आज मारवाड़ी समाज छिन्न-भिन्न हो रहा है। जहाँ हमारे पूर्वज जातीय संगठन में भिन्न-भिन्न मत और विचारवालों का सहयोग आवश्यक समझते थे और इन्हीं उदात्त सिद्धान्तों पर मारवाड़ी समाज की जातीय व्यवस्था का निर्माण किया था, वहाँ आज हम उन्हीं की सन्तानें अपनी पापमयी दूषित मनोवृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न मत और विचार रखनेवाले भाइयों को प्रत्येक स्थान में नीचा दिखाने और समाजच्युत करने में अपना गौरव समझते हैं। हम सचेत नहीं होते और यह नहीं सोचते कि, जिस सामाजिक एकता के बल पर मारवाड़ी जाति ने देश-विदेश में अपने वाणिज्य व्यवसाय का विस्तार किया था, आगे चल कर उसकी उन्नति कैसे होगी ? इस कलह ने जब साम्राज्य नष्ट कर दिये, तब

जाति के गौरव की रक्षा भी कैसे होगी ? बिना एकता के मारवाड़ी जाति समष्टि रूप से अपने व्यापार-धन्धे की रक्षा करने में भी समर्थ न होगी। इस ह्रास से जाति की रक्षा करने के लिए मारवाड़ी समाज के विचारशील शुभचिंतकों का यह पवित्रतम कर्त्तव्य है कि, वे धर्म तथा समाज के नाम पर जाति में फूट डालनेवालों की भर्त्सना करें और यह समझें कि, ऐसी कलह पैदा करनेवाले धर्म और समाज के शत्रु है। हम चाहे किसी भी सम्प्रदाय और विचार को मानते हों, किन्तु हम सब का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि, पूर्वजों के पथ पर चलें और उनके आदेशों का अनुकरण कर जातीय संगठन को अधिक शक्तिशाली बनाने में समर्थ हों।

दानप्रणाली और अतिथि सेवा

राजस्थान के धर्मभीरु मारवाड़ी समाज में, अतिथि सेवा और दान का भाव अत्यधिक रहा है। वहाँ शायद ही किसी गृहस्थ का घर ऐसा हो, जहाँ पर आये हुए अतिथि की सेवा न होती हो। वैश्य-जाति का धनी अंग ही नहीं; निर्धन से निर्धन गृहस्थ भी अपनी दो रोटियों में से, कुछ भाग गरीबों के लिए निकालता था। यदि कोई साधु-सन्त द्वार पर आकर 'नारायण हरि' पुकारता था, तो भोजन के लिए जाता हुआ गृहस्थ उल्टे पैर दौड़ पड़ता था और अपने उस अल्प भोजन में से ही उस सन्त की क्षुधा निवारण करता था। यात्रियों के लिए उनके द्वार सदा खुले रहते थे। वे उन्हें अपने यहाँ स्थान देकर आदर-सत्कार करते थे। हमारे पूर्वज आये हुए अतिथियों की अन्न-जल आदि से सेवा शुश्रूषा करना अपना परम कर्त्तव्य और धर्म समझते थे। वे मानते थे कि, जिस घर से अतिथि वापस लौट जाय, वह घर गृहस्थ का नहीं है। ऐसे गृहस्थ के प्रति समाज में अनादर का भाव रहता था। ऐसा शायद ही कोई अभागा घर रहा होगा, जहाँ पर भिक्षुक को एक चुगटी आटा या अन्न न दिया जाता हो।

यद्यपि राजस्थान में अब भी अतिथि सेवा का भाव किसी न किसी अंश में विद्यमान है; तथापि यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि, अन्य प्रान्तों में मारवाड़ी समाज में अतिथि सेवा का पहिलेवाला भाव नहीं रहा। आजकल के धनिक सम्भवतः इस बात की चिन्ता नहीं करते कि, गृहस्थाश्रम में सच्चे अतिथियों की सेवा करना ही एक प्रधान कर्त्तव्य कर्म है। 'दानमेव गृहस्थानाम्'—गृहस्थों के लिए जाति और समाज की सेवा का साधन दान ही है। निर्धन तथा पीड़ितों की सहायता करके और उन्हें दान देकर मनुष्य, समाज की सच्ची सेवा करता है। दान देकर मनुष्य की आत्मा को जो सुख, सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है वह अकथनीय है और उसका अनुभव भुक्तभोगी ही कर सकता है।

इस दानशीलता में मारवाड़ी समाज किसी अन्य समाज से पीछे नहीं रहा। यह कोई आत्मश्लाघा नहीं है। वर्त्तमान काल में भी मारवाड़ी समाज की दानशीलता सर्वत्र प्रकट है। भारतवर्ष की धनी व्यापारी जातियों में गुजराती और पारसी आदि सभी हैं। परन्तु मारवाड़ियों के अतिरिक्त इन सब की दानशीलता प्रायः प्रान्त और समाज तक ही परिमित देखी जाती है। पारसियों में दानशीलता की मात्रा तो बहुत अधिक है, पर उसका क्षेत्र भी उनके समाज तक ही परिमित है। हाँ, समाज के लिए उनकी दान-प्रणाली सर्वथा उपयोगी होती है। उस समाज के दानवीर स्त्री-पुरुष, शिक्षा, समाज की विधवाओं की सहायता तथा ऐसे ही अन्य उपयोगी कार्यों में, अच्छी व्यवस्था के साथ दान करते हैं। मृत्यु के समय पारसी-देवियाँ बड़े-बड़े दान के ट्रस्ट बना गयी हैं, उनके व्याज से समाज के पुत्रों को अनेक प्रकार की शिक्षा मिलती है। उस सहायता से समाज के बेकार पुरुष अपने धन्धों से लगते हैं। दान की यह प्रणाली भी कम महत्व की नहीं है। सच तो यह है कि, दान की महिमा युग के अनुसार ही फलप्रद होती है। यदि समाज के बालक शिक्षा-विहीन फिर रहे हैं, विधवाएं निराश्रित हो रहीं हैं, तरुण समाज उद्योग-धन्धों के बिना

बेकार मारा-मारा फिर रहा है, और समाज के दानवीर इस ओर से मुँह फेर कर अन्य बातों में दान के रूप में धन लुटावें, तो उससे क्या पुण्य होगा। शास्त्रों में दान अनाथ, दीन, दुःखित और पीड़ितों के लिए देना कहा गया है।

> तथादत्तं व्यसनं तर्त्तुमिच्छताम्।
> दुःखान्वितानां दीनानामक्षयं परिकीर्त्तितम्॥
> आपन्नेषुतु यद्दत्तमक्षयं तदुदाहृतम्।

दीन, दुःखी और आपत्ति में फँसे हुए लोगों के लिए दान का फल अक्षय कहा गया है। जाति और समाज की पीड़ाओं और दुःखों से चारों ओर करुण-क्रन्दन हो रहा हो, पीड़ितों और दुखियों की टोलियाँ हमारी ओर एक टक देख रही हों, तब समाज के धनियों को बिना किसी मतभेद व रागद्वेष के दान देना चाहिए। हमारे पूर्वज ऐसे अवसरों पर अपने व्यक्तिगत विचार और मतों का खयाल नहीं करते थे। पर आज की अवस्था अत्यन्त चिन्तनीय हो रही है। आज हमारी दान-प्रणाली में संकीर्णता आ गई है। खेद है कि, यह भाव आज सब विचारवालों में विद्यमान हैं। ऐसे संकीर्ण भावों से जो लोग दान देते हैं, वे दान नहीं देते, अपितु सौदा करते हैं। भारतीय-संस्कृति ऐसे विचारों के सर्वथा विपरीत है, और यह भी हमारी अज्ञानता है कि, हम समाज और देश के जीवन के लिए आधारभूत कार्यों में दान न दें। हम जिन कार्यों में विश्वास रखते हैं, उनके लिए तो दान दें ही, साथ ही देश काल के अनुसार अन्य अन्य आवश्यक कार्यों के लिए भी दान दें, तभी दान की सार्थकता है और उसका पुण्य है।

मारवाड़ी समाज का दान देशव्यापी होता है। धनी व्यापारी जाति होने के कारण सारा हिन्दू समाज उससे सहायता पाने की आशा करता है। धार्मिक दृष्टि से वैश्यों का कर्त्तव्य भी है कि, वे सब जातियों की

सहायता करें। उन कार्यों में दान देना मारवाड़ी जाति के सभी विचारवाले धनिकों का परम कर्त्तव्य है जिनसे जाति और देश की रक्षा होती हो। यदि समाज के धनी ऐसे कार्यों से अपना मुख मोड़ लें, तो उनका धन किस काम में आवेगा और उस पड़े हुए धन का उपयोग ही क्या होगा। इसीलिए भगवान् बेदव्यास ने धनियों को सचेत किया हैं—

> किं धनेन करिष्यन्ति देहिनो भंगुराश्रयाः।
> यदर्थं धनमिच्छंति तच्छरीरमशाश्वतम्॥

अत्यन्त प्रिय समझ कर जिस शरीर के लिये धन जोड़ा जाता है, वह शरीर नश्वर है। अतः उसके लिए संग्रह व्यर्थ है। उस धन से क्या लाभ है जो धर्म, अर्थ और काम के लिए व्यय न किया जाय। उस धन का दान के द्वारा सदुपयोग क्यों न किया जाय, जिसे छोड़कर अन्त में जाना ही है।

यहां पर धार्मिक कार्यों में हमारी दान-प्रणाली के प्रति कुछ लिखना असंगत न होगा। प्राचीन समय में देवमन्दिर और अन्य धर्म-स्थानों में जाति-निर्माण के लिए दान दिये जाते थे। मन्दिरों के कोष से जाति के बालकों को धर्म और विद्या की शिक्षा दी जाती थी और लोगों में धार्मिक भाव जाग्रत करने के लिए धन व्यय किया जाता था। इस प्रकार के दान विद्वानों की संख्या बढ़ाते थे, जाति के बालकों को शिक्षित बनाते थे, और जाति में धर्म की वृद्धि की जाती थी। आज वे सब भाव कहां है? आज धर्मस्थानों का कोष क्यों नहीं शिक्षा प्रदान करने में लगाया जाता? धर्मच्युत होनेवाले बालक, बालिकाएं और स्त्री-पुरुषों की इस धन से क्यों नहीं रक्षा की जाती? प्रभु नहीं चाहते कि, उनके नाम से संग्रह किया हुआ धन तो बुरी तरह से उत्सवों में खर्च किया जाय और धन के अभाव से जाति का विनाश होता रहे। भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है कि, वे वासना के भूखे हैं, उनकी पूजा, अर्चना में

पत्रं, पुष्पं, फलं तोयं ही यथेष्ट है। फिर हमारे आचार्यप्रवरों में तथा उनके मठों में सादगी का व्यवहार क्यों नहीं होता? कष्टसहिष्णुता, त्याग और तपस्यावाले आचार्यों, पण्डितों और पुरोहितों को पुरातन आदर्श नहीं विस्मरण करना चाहिए। आज लाखों रुपये मठों में जमा हैं, उनके धन से बड़े-बड़े महा-विद्यालय और यूनिवरसीटियां खुल सकती हैं, जिनके द्वारा शिक्षा प्राप्त कर सभी साक्षर हो सकते हैं। पर हमारे धर्माचार्य-महोदय इन बातों पर विचार करना भी आवश्यक नहीं समझते। उनके समीप ही लाखों हिन्दू त्राहि-त्राहि पुकारते हैं, पर वे अपने कोषों से एक पाई नहीं निकालते। ब्राह्मणों का कार्य दान लेना व देना है। क्या ऐसे धर्माध्यक्षों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि, वे अपने सभी धन को व्यवसाय के रूप में जमा न रख कर हिन्दू जाति की रक्षा में लगा दें? धनियों को इस अवस्था पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर दान की व्यवस्था करनी चाहिए।

मारवाड़ी समाज के पूर्वजों में जो उदात्त भाव थे, उनका असर आज भी समाज में है। आज भी समाज के व्यक्ति दान करने में असमंजस नहीं करते। पर आवश्यकता यह है कि, उनकी दान-प्रणाली में सुधार हो। वह दानवीर नहीं है, जो लाखों करोड़ों का कोष रखते हुए कुछ दान कर देता है। वह तो अपने मनुष्योचित कर्त्तव्य का पालन करता है। सच्चे दानी समाज के वे साधारण श्रेणी के व्यक्ति हैं, जो आये हुए व्यक्ति को दान देकर यह नहीं विचारते कि, कल उनका क्या होगा? दानवीर तो ऐसे ही रत्न हैं। केवल नामवरी की कामना से आंखें बन्द कर दान देने से दान का महत्त्व नहीं बढ़ता। मारवाड़ी समाज के धनियों का कर्त्तव्य है कि, वे समाज में शिक्षा और विद्या के प्रचार के लिए अधिकाधिक दान दें। समाज के बालक, औद्योगिक और व्यवसायी बनें, ऐसे उपयोगी कार्यों में दिल खोल कर धन दें। विधवाओं और अनाथ बच्चों का रक्षण करें, एक भी बच्चा व स्त्री, उनकी सहायता से वंचित हो विधर्मी न



स्वर्गीय सेठ रामचन्द्रजी गोयनका

बनने पावे। समाजमें इन पवित्र भावों की आवश्यकता है। सारांश यह कि, समाज़ के आशा शून्य जीवन को हर प्रकार से सहायता पहुंचाना समाज के धनी व्यक्तियों का परम कर्त्तव्य है। बिना किसी विचार के तथा भेदभाव रहित होकर ऐसे सत्कार्यों में दान देना ही परम कर्त्तव्य और उदारता है।

समाज का आचार-व्यवहार

खान-पान— यद्यपि राजस्थान में वर्ण-व्यवस्था के अनुसार खान-पान की विभिन्नता रही है, तथापि वहाँ का मारवाड़ी समाज आचार-विचार की पवित्रता के लिए प्रसिद्ध रहा है। मारवाड़ी ब्राह्मण और वैश्यों में सात्विक भोजन की प्रधानता रही है। उनका प्रधान खाद्य-पदार्थ—मोठ, बाजरा, गेहूँ, ज्वार, चावल, चना, मकई और जौ आदि अन्न ही हैं। इन दो जातियों में मांसादि वस्तुओं का खाना तो दूर रहा, उनके नाम से भी घृणा रही है। उन्होंने यह पवित्रता कठिन से कठिन समय में भी पालन की है। इसके अतिरिक्त वे शाक-सब्जी भी बहुतायत से खाया करते हैं। पौष्टिक पदार्थों में वे घी और दूध आदि खाते हैं। अपना जीवन सात्विक रखते हुए भी वे वीरता और शौर्य में किसी से निर्बल नहीं रहे। आजकल के तत्ववेत्ताओं ने भी निरामिष भोजन की उपयोगिता स्वीकार की है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए भी निरामिष भोजन मानव प्रकृति के अनुकूल है। आज तो योरप और अमेरिका भी निरामिष-भोजी बनने के मार्ग पर हैं। वहाँ कई एक "वेजीटेरियन सोसाइटियाँ" इसी प्रचार के लिए स्थापित हुई हैं। वहाँ के अनेक होटलों में निरामिष-भोजन मिलने की व्यवस्था है। आज वहाँ के लोग यदि किसी स्थान पर सात्विक, निरामिष पदार्थ चाहें, तो बिना किसी कठिनाई के पा सकते हैं। वे लोग निरामिष भोजन का आन्दोलन जोरों से बढ़ा रहे हैं। पर इस

देश का यह कितना दुर्भाग्य है कि, यहाँ बसनेवाली अन्य जातियों पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उल्टे हिंसा की ज़िद पर जातीय विद्वेष उत्पन्न हो गया है। ऐसे लोगों की लिप्सा इतनी बढ़ गई है कि, वे किसी भी मांस का खाना नहीं छोड़ते। उनमें संयम कुछ भी नहीं रहा है। खैर, कुछ भी हो। हमारे पूर्वजों ने सात्विक भोजन का ही उपदेश दिया था। उन्होंने यह बतलाया था कि, हम घी, दूध और अनेक प्रकार के ताजे फल खाकर शक्तिशाली बन सकते हैं। विज्ञानवादियों ने भी यह सिद्ध कर बताया है कि, इन पदार्थों में 'विटेमिन' मांसादि की अपेक्षा अधिक है। वे तो यह भी कहते हैं कि, उनमें जीवन-शक्ति के परमाणु भी मांसादि पदार्थों से अधिक हैं। हमारे पूर्वजों की पूर्ण आयुष्य ही इस कथन की सत्यता है। आज भी विश्व की जातियों में धर्मप्राण मारवाड़ी समाज के ब्राह्मण-वैश्य इस पवित्रता के पोषक बने हुए हैं। शायद ही किसी जाति में समष्टि रूप से मांसादि भोजन के लिए इतना परहेज रहा हो, जितना परम्परा से मारवाड़ी ब्राह्मण और वैश्यों में रहा। उनमें यह प्रवृत्ति धार्मिक दृष्टि से भी रही है। उन्होंने जीवों की हत्या को प्रोत्साहन देना पाप समझा। उनके धार्मिक तथा व्यावसायिक जीवन के लिए भी सात्विकता का होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य रक्षा तथा पवित्रता के लिए अभक्ष्य भोजन का उन्होंने परित्याग किया। जातीय-प्रेम बढ़ाने के लिए पूर्वजों ने पंक्ति-भोजन की परिपाटी को जन्म दिया था, मगर एक थाली में पिता-पुत्र तथा दो सगे भाइयों का भी खाना अनुचित बताया था। इन सब बातों का स्वास्थ्य और तन्दुरुस्ती से घनिष्ट सम्बन्ध है। अवश्य ही पंक्ति-भोजन की परिपाटी बुरी नहीं है, इससे पारस्परिक प्रेम की वृद्धि होती है, किन्तु आज तो यह प्रश्न दलबन्दी खड़ा कर रहा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ, जिसके साथ उसका मन नहीं मिलता, अथवा साम्प्रदायिक तनातनी चलती है तो एक साथ बैठने में आनाकानी करता है। इस दशा में पंक्ति-भोजन जातीय-प्रेम के स्थान पर पारस्परिक

कलह का उत्पादक हो रहा है। इसलिए अब तो सार्वजनिक समाजसत्ता बनाई रखने के उद्देश्य से इस विषय को व्यक्तियों की इच्छा और स्वतंत्रता पर छोड़ देना चाहिए कि, वे पंक्ति में बैठ कर किसी के साथ भोजन करें या न करें। इस विषय को कोई महत्व ही न दिया जाय।

भोजन-सम्बन्धी पवित्रता के साथ-साथ हमारे पूर्वजों ने मादक वस्तुओं के प्रचार से भी समाज को बचाया था। ब्राह्मणों के लिए तमाखू और बीड़ी पीने का कड़ा निषेध था। पर आज ब्राह्मण केवल तमाखू ही नहीं, सुल्फा तक चढ़ाने लगे और वैश्य तो इस व्यसन में लाखों रुपये फूँकते हैं। आज तो इतनी चिन्तनीय अवस्था है कि, लोग केवल चिलम के ही उपासक नहीं रहे, वे सिगरेट, बीड़ी और गाँजे के भी भक्त बन गए। शौकीन लोग रात-दिन में कितनी सिगरेटें फूँक डालते हैं, यह कल्पना के बाहर है। समाज में यह दुर्गुण धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि से ही नहीं आर्थिक दृष्टि से भी घातक है। इन हानिकारक वस्तुओं के व्यवहार से समाज को बचाना अत्यन्त आवश्यक हो रहा है। यद्यपि यह हर्ष की बात है कि, नयी पीढ़ी के शिक्षित तरुण, सिगरेट—बीड़ी से बहुत कुछ परहेज करते देखे जाते हैं। यदि वे इसी भाव का प्रचार भी करने लगें, तो इस रोग से समाज बच सकता है। अन्य मादक वस्तुओं का भी प्रचार नहीं हो पावेगा। वर्त्तमान काल की शिक्षा में तरुणों को अन्य व्यसनों में पड़ने का भय रहता है। उस वातावरण से समाज के सभी प्रकार के लोगों को बचना चाहिए। शहरों के विलासितापूर्ण दूषित वातावरण में हर प्रकार के प्रलोभन सामने खड़े रहते हैं। इसलिए आवश्यक है कि, समाज में सात्विक भोजन का प्रचार करने के लिए पूर्ण ध्यान दिया जाय, और मादक वस्तुओं से समाज को सर्वथा बचाया जाय। पवित्र व सादे भोजन तथा घी, दूध—जैसे पौष्टिक पदार्थों के सेवन से ब्रह्मचर्य की भी रक्षा होती है। ब्रह्मचर्य उष्ण पदार्थों, मादक वस्तुओं तथा मांसादि के सेवन से स्थिर नहीं रहता। इन वस्तुओं के सेवन

करनेवाले शक्ति संचय के बजाय भोग-विलास में पड़ जाते हैं। इसलिए हमारी संस्कृति ने धार्मिक दृष्टि से ये सब पदार्थ अग्राह्य बतलाये हैं। हिन्दू आचार शास्त्र में, बालक तथा ब्रह्मचारी विद्यार्थियों के सात्विक भोजन में गरम मसाला और मिर्च तथा खटाई आदि उत्तेजक वस्तुओं का सम्मिश्रण वर्जित किया गया है। गृहस्थों को भी संयम रखने का आदेश है। पूर्ण आयुष्य भोगने के लिए लोगों को भोजन में संयम रखना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार संयम से रहता हुआ मनुष्य गृहस्थाश्रम में भी सदाचरण से रहे, तो वह अपना बल नहीं खोता है। ऐसे बलवान व्यक्ति ही समाज की जीवित सम्पत्ति होते हैं। हमारे पूर्वज ऐसे ही सात्विक भोजन से ब्रह्मचर्य द्वारा बल वीर्य की रक्षा कर परम शक्तिशाली और तेजस्वी होते थे। हम भी उन्हीं के पथ पर चलेंगे, तो मारवाड़ी समाज की शक्ति और पवित्रता को कायम रख सकेंगे। दुर्भाग्यवश, हम इस ओर दुर्लक्ष्य कर रहे हैं। आज हमारे युवकों में वह शक्ति नहीं, जो पूर्वजों में थी। आजकल के युवकों में दिन पर दिन सुकुमारता आती जाती है। वे नये-नये फैशन में नज़ाकत से रहने की चिन्ता में मशगूल रहते हैं। अपनी इस दयनीय अवस्था में वे वैसा ही नाज़ुक भोजन भी पसन्द करते हैं। मगर वह भोजन भी उन्हें नहीं पचता। आज उन्हें चलने फिरने के लिए अंग्रेजी औषधियां खानी पड़ती हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि, उन दवाइयों से जन्म भर पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता है।

इस संघर्षमय जीवन में, मारवाड़ी समाज के शुभचिन्तकों का यह परम कर्त्तव्य है कि, वे भावी पीढ़ी को इस रोग से बचावें। यह भावी पीढ़ी बलवान होने पर ही वाणिज्य-व्यापार चला सकेगी और समाज तथा जाति की रक्षा करने में समर्थ होगी। प्रत्येक मारवाड़ी तरुण को आत्मरक्षा के लिए स्वावलम्बी बनना चाहिए। वह अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा करने में स्वयं समथ हो। उसे सोचना चाहिए कि,

यदि उसमें इतनी शक्ति नहीं है, तो उसका कौन सहायक होगा। धन और ऐश्वर्य का भोग करनेवाले भी समाज की सम्पत्ति हैं, समाज में रहकर उन्हें कोई अधिकार नहीं है कि, वे अपना जीवन बरबाद कर दें।

हमें अपनी इस पवित्रता को हर स्थान पर कायम रखना चाहिए, चाहे हम स्वदेश में रहें या हम में से किन्हीं को व्यापार धन्धे के लिए विदेश जाने का अवसर पड़े। हम अपने भोजन की पवित्रता और सदाचरण संसार के किसी भी देश में बनाये रख सकते हैं। यह मिथ्या भय है कि, हमारे भोजन की पवित्रता अमुक स्थान में नहीं रहेगी। हम जिस आचार-विचार से अपने गांव में रहते हैं, उसी आचार-विचार से पृथ्वी में कहीं भी रह सकते हैं। हमने अन्य प्रान्तों में सर्वत्र बस कर भी इस पवित्रता को कायम रक्खा है। व्यापारी जाति होने के कारण जहां हमारे लिए सर्वत्र आना-जाना अनिवार्य है, वहां अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए भोजन और आचार-विचार की रक्षा भी आवश्यक है।

वेशभूषा— परिश्रमशील मारवाड़ी जाति की वेशभूषा आज इस गये-गुजरे जमाने में भी लुप्त नहीं हुई। कोहाट और अदन से लेकर आसाम व ब्रह्म देश तक—जहां-जहां मारवाड़ी बसे हैं, वहां-वहां उनकी पगड़ी दिखाई देती है। पगड़ी उनका जातीय चिह्न हो गया है और इसीसे उनकी पहिचान होती है। कुछ नव-शिक्षितों ने भले ही पगड़ी छोड़ दी हो, और वे टोपी तथा हैट लगाने लगे हों, मगर अन्य पढ़े-लिखे मारवाड़ी युवकों ने कौन्सिल, असेम्बली और बड़ी से बड़ी अदालतों में अन्य वेश में परिवर्तन करते हुए भी पगड़ी को नहीं छोड़ा। ऐसे ही युवकों ने ब्रिटिश पार्लामेंट तथा सम्राट् के राजमहल में भी हैट के बजाय पगड़ी की शोभा बढ़ाई। * यह सच है कि, इधर

---

* बाबू घनश्यामदास बिड़ला जब योरप गये, तब उन्होंने शाही मुलाकात में पगड़ी ही पहनी थी।

गान्धीय राजनीति की प्रवलता से समाज के अनेक तरुणों पर गान्धी टोपी का असर पड़ा है; अन्यथा इसके पहले राजनैतिक महापुरुष भी पगड़ी को सम्मान देते थे। राष्ट्र-सूत्रधार लोकमान्य तिलक पगड़ी लगाकर ही विलायत गये थे। महात्मा गांधी और महामना मालवीयजी ने इङ्गलैण्ड के राजमहल में सम्राट् जार्ज से अपने लिवास में ही भेंट की थी। कहने का मतलव यह है कि, हम कहीं भी जावें और रहें, हमें अपनी वेश-भूषा और खान-पान की रक्षा करनी चाहिए। जब विदेशी इस उष्ण प्रधान देश में अपनी जातीयता की रक्षा के लिए अपनी वेशभूषा और खान-पान को नहीं छोड़ते, तव हमीं मूर्ख वनकर उनकी वेश-भूषा की नकल क्यों करें ? हमें तो अपनी वेश-भूषा को वनाये रखने के लिए उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

आज हम अपने पहनाव में पूर्वजों की सादगी को छोड़ते जा रहे हैं। हम नहीं सोचते कि, सीधी-सादी वेश-भूषा का क्या महत्व है। हमारे पूर्वज वड़ी सादगी से रहते थे। उनका पहनाव साधारणतः पगड़ी, कमरी (मिरजई), अंगरखा, धोती और दुपट्टा होता था। वे मजबूत देशी गाढ़े के वने कपड़े पहनना पसन्द करते थे। वे विलायती महीन कपड़ों के धारण से परहेज रखते थे। वे अपने पास आवश्यकता से अधिक कपड़ों का वड़ा संग्रह भी नहीं रखते थे। निश्चय ही वे विवाह-शादी, राजदरवार और पंच-पंचायती के लक्षय एक अच्छी लम्बी अंगरखी पहनते थे, जिसका वड़ा प्रभाव पड़ता था। उस समय वेश-भूषा के नाम पर अनाप-शनाप खर्च नहीं किया जाता था। वड़े-वड़े सेठों और कोठी-धरों की प्राचीन वहियों से पता चलता है कि, वड़े-वड़े मुनीमों का, कपड़ा-खर्च के लिए अधिक से अधिक वारह रुपये वार्षिक जमा-खर्च होता था। इसीसे पाठक समझ सकते हैं कि, उस समय कितनी सादगी और मित-व्ययिता थी। उस समय के धनिक व्यक्ति समाज में आदर्श रखने के लिए स्वयं भी सीधी-सादी पोशाक पहनते थे। वे उसीमें अपना आदर

समझते थे। समाज भी उन्हें सम्मान से देखता था। उस समय यदि कोई व्यक्ति बढ़िया वस्त्र—रेशमी या सूती—पहनता और रंगढंग से रहता दिखाई देता, तो समाज में वह उपहास का पात्र समझा जाता था तथा उसके चरित्र के सम्बन्ध में लोग सतर्क हो जाते थे। परन्तु अब परिपाटी एक दम ही बदल गई है। समय के अनुसार वेश-भूषा के साधारण परिवर्तन के हम विरोधी नहीं हैं। हम मानते हैं हमारे पूर्वजों की पोशाक आजकल के युग के लिए उपयुक्त नहीं है। उसमें परिवर्तन होना ही चाहिए था, परन्तु परिवर्तन इतना अनियंत्रित और असंयत हो जाय हम इसके पक्षपाती नहीं। हमें सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श को सदा सामने रखना चाहिए और अपनी पोशाक में सादगी रखने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने पहनाव में हमें स्वदेशी का भी ध्यान रखना चाहिए। अपनी जातीयता, धार्मिकता व देशहित—सभी दृष्टियों से स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार हमारे लिए श्रेयस्कर है। परन्तु हमारे यहां तो उल्टी गंगा बह रही है। जब धार्मिक व्यक्ति स्वदेशी के व्रती नहीं बनते और देवस्थान तथा धर्माचार्य तक मोटे स्वदेशी वस्त्र के बजाय रेशमी एवं विदेशी वस्त्रों का व्यवहार करते हैं, तब समाज में कौन आदर्श उपस्थित करे ?

प्राचीन समय में राजस्थान की स्त्रियों का साधारण पहनाव घाघरा और ओढ़ने का था। गाढ़े की छपी हुई छींट का घाघरा ही अधिकतर पहना जाता था। विवाह-शादी के समय यद्यपि कुछ बढ़िया वस्त्र पहने जाते थे, तथापि देखादेखी अपव्यय किया जाता हो यह बात नहीं थी। विवाह-शादी के अवसर पर वे अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार कुछ अधिक अच्छे वस्त्र पहनती थीं। उस काल में स्त्रियों के लिए धोती का पहनना वर्जित था। पर समय के परिवर्त्तन ने मारवाड़ी समाज के पहनाव में भी भारी परिवर्तन कर दिया है। जहाँ पुरुषों ने अंगरखे का पहनाव कम कर दिया, वहाँ स्त्रियाँ भी घाघरे की अपेक्षा साड़ी और धोती अधिक

पहनने लगी हैं। इस समय हम साड़ी का पहनाव समाज के लिए बुरा नहीं मानते और न प्राचीन घाघरे को ही इस समय आवश्यक समझते हैं। पर साड़ी के पहनाव में सादगी की बड़ी भारी आवश्यकता है। आज जहाँ अन्य जातियों की स्त्रियाँ साधारण मूल्य की साड़ी पहन कर स्वच्छता और सादगी से रहती हैं, वहाँ मारवाड़ी समाज की स्त्रियाँ साड़ियाँ बनवाने में अधिक से अधिक खर्च करती हैं। ऐसी साड़ियों का व्यवहार समाज के लिए वांछनीय नहीं है। ऐसी बढ़िया साड़ियों ने समाज में अपव्यय का बाजार गर्म कर दिया है। आवश्यकता है कि, मारवाड़ी स्त्रियाँ साधारण मूल्य की साड़ियाँ पहनें। भारी से भारी मूल्य की बढ़िया साड़ी एक बार पहनने से ही पसीने से नष्ट हो जाती है, फिर से धुल नहीं सकती और अस्वच्छ वस्त्र पहनने से रोगों का भय रहता है। जो स्त्रियाँ स्वदेशी वस्त्र तथा खादी आदि को साड़ियाँ पहनती हैं, वे समाज के सामने उज्ज्वल उदाहरण रखती हैं। मारवाड़ी स्त्रियों को भी वैसा ही उदाहरण रखना चाहिए। मारवाड़ी स्त्रियों का यह एक पहला कर्त्तव्य होना चाहिये कि, जिस पहनाव-उढ़ाव में अपव्यय को स्थान न मिले और स्वच्छता बनी रहे, उसीकी आदत डालने की चेष्टा करें। हमारे पुराने पहनाव में जो दोष हों, उनमें भी हम सुधार चाहते हैं। यदि स्त्रियाँ समय-समय पर घाघरा और ओढ़नी पहनती हैं, तो उन्हें अपना शरीर आवश्यकतानुसार अच्छी तरह ढँकना चाहिए। इसके साथ ही जो स्त्रियाँ साड़ियाँ पहन कर आधा अंग खुला रखती हैं, उसे भी हम उचित नहीं समझते। जिस प्रकार पुराने पहनाव में मुँह का ढँकना और किसी अंग का अनुचित रूप से खुला रहना अच्छा नहीं है, उसी प्रकार साड़ी पहन कर मेमों के ढंग से चलना भी अनुकरणीय नहीं है। जो स्त्रियाँ हाथ में बटुआ रखतीं और ऊँची एड़ी के जूते पहनती हैं, उनका आदर्श समाज के लिए सादगी और मितव्ययिता का घातक है। मारवाड़ी समाज को तो अवश्य ही उससे बचना चाहिए।



स्वर्गीय रायबहादुर सेठ सूर्यमलजी झूँझनूँवाला

हम जहाँ यह नहीं चाहते कि, स्त्रियाँ मुँह ढँक कर चलें, जिससे उन्हें सामने आनेवाला व्यक्ति भी दिखाई न दे, वहाँ हम यह भी नहीं चाहते कि, वे सिर उघाड़ कर चलें। भारतीय संस्कृति के अनुरूप मारवाड़ी समाज की वेश-भूषा होना वांछनीय है। जो पर्दा मारवाड़ी समाज में मुस्लिमों के आक्रमण के समय से स्थान पा गया है, वह हिन्दू स्त्रियों के लिए भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं है। स्त्रियों का सच्चा पर्दा तो स्वाभाविक लज्जा और विनयशीलता है। पति-परायणा और धार्मिक स्त्री की ओर किस दुष्ट व नीच मनुष्य का साहस होगा कि, वह अनुचित रूप से आँख उठा कर देखे, और यदि कोई ऐसा दुःसाहस करे तो उसे तुरन्त उसका मजा भी चखा देना चाहिए। इस ओर समाज के नवयुवकों को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। जो दुष्ट-प्रकृति का मनुष्य, समाज की माँ-बहिन की ओर दृष्टिपात करे, उसे प्रथम तो वे स्त्रियाँ ही दुर्गा बन कर अपने साहस का परिचय दें, और उसके बाद नवयुवक उसे ऐसी शिक्षा दें कि, फिर उस प्रकार के दुष्कर्म करने का किसी को साहस न हो। राजस्थान की प्राचीन महिलाओं का आदर्श ही यह था। आज जो समाज में आन्दोलन चल रहा है, कि, स्त्रियाँ रास्ते में गीत गाते हुए न चलें, गंगाघाट पर ठीक समय स्नान करने जावें, और वहाँ नहाते समय महीन वस्त्र शरीर पर न रखें, और भीड़ के धक्कम-धक्के से दूर रहें, इससे धर्म-भावना में क्षति पहुंचने की कोई बात नहीं है। ये सब सुधार स्त्रियों के पवित्र आदर्श की रक्षा के लिए हैं।

स्त्रियों के आभूषणों के सम्बन्ध में भी दो शब्द लिखना अनुचित न होगा। यद्यपि भारत में आभूषणों का व्यवहार अति प्राचीन समय से है, तथापि उनका अत्यधिक व्यवहार मुसलमानी राज-काल से हुआ है। वह लड़ाई-झगड़े का जमाना था, लोगों की सम्पत्ति किसी स्थान पर रक्षित नहीं थी। स्त्रियों का स्त्री-धन जेवर के रूप में उन्हीं के अंग पर रक्षित रहता था। संकट के समय यह धन बाल-बच्चों की रक्षा करने में

मदद देता था। उस समय एक परिवार का जेवर कई पीढ़ियों तक वना रहता था। पर आज वह सब अवस्था कहाँ है। उस काल में संकट के बाद भी स्त्रियों में जेवर का रिवाज तो वना रहा, पर विचार-कोण में परिवर्तन हो गया था। पुरुष सहसा उनके जेवरों पर हाथ नहीं डालते थे और जेवर बनवाने में अपनी आर्थिक स्थिति का खयाल रखते थे।

पर आज तो जागरण-युग है। मारवाड़ी जैसे व्यापारी समाज के लिए आर्थिक दृष्टि से जेवरों का व्यवहार हानिकर है। जब अन्य व्यापारी जाति की स्त्रियाँ आभूपणों का व्यवहार न कर समाज की आर्थिक दशा को विगड़ने नहीं देती, तब राजस्थान की महिलायें क्या इस प्रगति में पीछे रहना चाहती हैं? उन्हें तो अन्य जातियों की स्त्रियों के सामने अपने त्याग का उदाहरण रखना चाहिए। धर्मभीरु जाति की माताएँ व बहिनें देखें कि, महारानी सीता संकट के समय आभूपणों के परित्याग के लिए तैयार हो गई थी, तो वे क्या आज इस अवस्था में भी सिर से पैर तक चान्दी सोने के गहनों से लदी संसार के सामने कौतूहल की दृष्टि से देखी जाना पसन्द करती हैं? आज समाज में अनाप-शनाप गहनों की जितनी भरमार है, उससे वह त्रस्त हो रहा है। इन जेवरों ने जहाँ समाज में मितव्ययिता और सादगी का भाव नहीं रखा, वहाँ उससे आर्थिक हानियाँ कुछ कम नहीं हैं। समाज का जो धन व्यापार-धन्धे में लगाना चाहिए, वह स्त्रियों के आभूपण-प्रेम के कारण जेवरों में लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि, ये जेवर चलतू खाता हो गये हैं। बुरा समय आने के पहले ही ये वाजार में जिस-तिस भाव में विक जाते हैं या आधे मूल्य में वन्धक रखे जाते हैं, तो अवधि के भीतर छूटते नहीं। इसलिए आज जेवर संचित पूँजी के रूप में नहीं रहे। आज वर्ष भर वाद उन्हें वेचने पर शायद आधे से कुछ अधिक मूल्य मिलता है और दस-पांच वर्ष बाद वेचने पर चौथाई मूल्य मिलने में भी सन्देह रहता है।

फिर आभूषणों की तृष्णा ने समाज में असन्तोष और ईर्ष्या उत्पन्न कर दी है। स्त्रियाँ अपने गरीब पति को जेवर बनवाने के लिए विवश करती हैं। इन जेवरों की कोई सीमा नहीं रहती। धनी घरों की स्त्रियाँ कीमती जेवरों से अपना बड़प्पन प्रकट करती हैं, इससे समाज में बहुत बुरा प्रभाव पड़ता देखा जाता है। स्त्रियों को उतने ही जेवर पहनने चाहिए, जो माङ्गलिक और सौभाग्य की दृष्टि से अथवा सौन्दर्य वृद्धि के लिए आवश्यक हों। पर जवरों की संख्या बढ़ा कर शरीर पर लादना कदापि उचित नहीं है। अधिक जेवरों से समाज में ऊँच-नीच का भाव पैदा होता है। जहाँ धनी और गरीब घरों की स्त्रियाँ समान रूप से मिलतीं, वहाँ जेवरों ने श्रेणी-भेद पैदा कर दिया है। इन जेवरों ने विवाह शादी में भी सात्विक-प्रेम की मर्यादा नहीं रखी। आवश्यकता है कि, लड़के-लड़की के गुण देख कर विवाह किये जाँय. पर आजकल लोग दोनों ओर से विवाह में जेवर देखते हैं। एक गरीब घर की विदुषी और निपुण बालिका का बड़े घर में, गरीबी के कारण विवाह नहीं हो सकता और न एक विद्वान् युवक गरीब होने के कारण किसी धनी घर की सुशीला कन्या से विवाह की आशा कर सकता है। इन गहनों का रिवाज समाज से तभी उठे, जब मारवाड़ी समाज की महिलाएँ जागृत हों और वे उनकी अनुपयोगिता तथा हानियों को समझ जाँय। पर दुःख तो यह है कि, आज बड़े-छोटे घरों की शिक्षित स्त्रियाँ नये-नये फैशन के जेवर भी उतने ही कीमती पहनती हैं। या यों कहिये कि उन थोड़े से जेवरों का मूल्य पुराने ढंग के जेवरों से भी कहीं अधिक होता है। विद्या, विनय-शीलता और सेवा आदि गुण ही स्त्रियों के लिए अमर आभूषण हैं, जो उनसे कोई नहीं छीन सकता, जिन्हें धारण कर वे समाज और देश को उन्नत कर सकती हैं। इन जेवरों के बजाय गरीब व धनी स्त्रियों का स्त्री-धन रुपये-पैसे के रूप में रहा करे तो समाज का हित हो। इसे सुरक्षित सिक्युरिटी आदि में लगा कर वे अपने धन की वृद्धि भी कर सकती हैं।

ऐसी निधि संकट के समय उनकी सहायक हो सकती है। जमाना वदल रहा है, किसी समय स्त्रियों के लिए जेवरों का धारण करना धन की रक्षा थी; और आज स्त्री-धन निधि रूप में रखने की योजना है।

मारवाड़ी समाज में जो स्त्रियां भारी-भारी गहने लादती हैं, उन्हें कम से कम साधारण हल्के गहने पहनने चाहिए। उनके धन की शोभा जेवर पहनने में नहीं है। उनका आदर तो समाज और जाति में तभी बढ़ेगा, जव वे धन का उपयोग जन-सेवा में करेंगी। ज़माने का तकाज़ा है कि, मारवाड़ी महिलायें जागृत हों और जेवरों की तृष्णा त्याग दें। भावी पीढ़ी की संतानों में आभूषणों की अनुपयोगिता के भाव जागृत करने की आवश्यकता है। यदि युवक दृढ़-प्रतिज्ञ हो अपनी पत्नियों के आभूषण-प्रेम को घटाने का प्रयत्न करें और इसी प्रकार युवतियों में नवीन भावों का संचार हो, तो यह भेद-भाव और समाज में कलह पैदा करनेवाली प्रथा तुरन्त सुधर जाय। गहनों की तृष्णा हट जाने से प्रत्येक घर में शान्ति की स्थापना होगी और समाज में भी समता उत्पन्न होगी।

मारवाड़ी समाज की स्त्रियों के लिए यह त्याग कठिन न होगा। जिस प्रकार प्राचीन समय में इस समाज की देवियों ने त्याग और सेवा का आदर्श देश के सामने रखा था और विपत्ति काल में पुरुषों की सहायता की थी, उसी प्रकार आज भी उनके लिए यह कुछ कठिन नहीं है। आवश्यकता है कि, उन्हें जागृत किया जाय और अपने पूर्वजों के सादे जीवन और रहन-सहन का महत्त्व उन्हें वतलाया जाय। निःसन्देह हमारे पूर्वजों का जीवन आडम्बरहीन था। वे आजकल के कृत्रिम जीवन को न केवल अपव्यय का साधन मानते थे; वल्कि समाज में अशान्ति पैदा करनेवाला अनुभव करते थे। इसीलिए उन्होंने अपने सादे जीवन से समाज और देश के सामने आदर्श रखा था। वड़े धनिक होने पर भी वे अपने जीवन की इस सादगी को नहीं त्यागते थे। वड़े-बड़े अवसरों पर भी उस काल के धनिकों ने अपनी वेश-भूषा और रहन-सहन

में आडम्बर को प्रोत्साहन नहीं दिया था। उनके हृदय में यह बात जम गई थी कि, आडम्बर-युक्त जीवन समाज पर घोर अत्याचार है। इसलिए उस काल का पुरुष और स्त्री समाज, सादगी और पवित्रता के जीवन में सुख का अनुभव करता था।

इस प्रकार सादा जीवन व्यतीत करनेवाले मारवाड़ी समाज के

रहन-सहन—

पूर्वज इन्हीं सब भावों की रक्षा के लिए कौटुम्बिक प्रथा के भी बड़े पक्षपाती थे। वे अपने परिवार से अलग रहना कभी पसन्द नहीं करते थे। कारण, वे यह सोचते थे कि, समय-कुसमय में स्व-जन ही सहायक होते हैं। इसलिए छोटी-छोटी हवेलियों में बड़े परिवार के साथ रहने में उन्हें कोई कष्ट नहीं होता था। वे किराये के बड़े-बड़े महलों से घर की झोपड़ी में अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते थे। इस प्रकार जीवन के किसी अंग में भी उन्हें दूसरों की परतन्त्रता पसन्द नहीं थी। इस स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं था कि, वे उच्छृङ्खल प्रकृति के थे। कदापि नहीं, वे बड़े नीतिज्ञ थे। अकारण किसी से द्वेष करना उनके लिए अनीतिपूर्ण कार्य था। वे अपने परिवार को सुखपूर्वक रखने में दत्तचित्त रहते थे। उस समय उनका यह सीधा-सा लक्ष्य था कि, घर के पड़ोसी और गांववालों से वैमनस्य नहीं करना चाहिए। वे सोचते थे कि, निकटस्थ लोगों से कलह का परिणाम घातक होता है। फिर यह भी सोचते थे कि, यदि वे अपना प्रभाव और सुख-शान्ति का वातावरण अपने निकट ही नहीं स्थापित कर सके, तो दूर के स्थानों में क्या कर सकेंगे। इस प्रकार शान्तिपूर्ण वातावरण कायम रखने के लिए उनमें यह भी गुण था कि, वे बड़े आदमी बनने की लालसा से स्वयं अपने को धनवान प्रकट करना पसन्द नहीं करते थे। अपनी गरीबी का रोना भी दूसरों के सामने नहीं रोते थे। अकारण किसी की कटु आलोचनाएँ करने को वे दुश्मनी पैदा करने का कारण समझते थे। इसलिए वे इन सब कामों से प्रायः दूर ही रहते थे। वे यह जानते थे कि,

किसी मनुष्य की अनुपस्थिति में उसकी आलोचना करना विना तार के तार की तरह उसके कानों तक खवर पहुंचाना है। ऐसे मनुष्य थोड़ी-सी वात में दुश्मन वन जाते हैं। यह वात अवश्य थी कि, हमारे पूर्वज प्रसंगानुसार किसीके गुणों की प्रशंसा तो उचित सीमा तक भले ही कर देते थे; किन्तु पीठ पीछे किसीकी बुराइयां करना और दोप दिखलाना क्षुद्र कार्य समझते थे। किसीकी सुनी-सुनाई वात का उचित निर्णय किए विना वे किसीके साथ दुश्मनी नहीं करते थे। अपने नीतिमय विचार को प्रत्यक्ष में अच्छे ढंग से प्रकट करते थे, पर उस अवस्था में भी वे अपने विरोधियों को दुत्कारते नहीं थे। मतभेद का होहल्ला तथा वितण्डावाद समाज में प्रकट नहीं होने देते थे। हजार विरोध होने पर भी समाज के बाहर वे एक ही शक्ति में प्रकट होते थे और यह उनकी अनुपम विशेषता थी।

पूर्वजों की मितव्ययिता

मारवाड़ी समाज के पूर्व पुरुप दान देने में जितने अधिक उदार थे, उतने ही वे साधारण कार्यों में मितव्ययी भी थे। वे इस तत्व के एक सजीव उदाहरण थे कि, परिश्रम से उपार्जित धन कितनी मितव्ययिता से खर्च किया जाय। धन कमाना आसान हो सकता है, पर उसका ठीक ढंग से खर्च करना तथा उसकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए समाज के पूर्वज अपने धन को वड़ी सावधानी और मितव्ययिता से खर्च करते थे। इस मितव्ययिता के कारण देश, धर्म और समाज की आवश्यकताएँ धन के अभाव का अनुभव नहीं करती थीं। ऐसे कार्यों में हमारे पूर्व पुरुप दिल खोल कर दान देना अपना धर्म समझते थे। केवल अपने हित की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु देश और समाज के लिए भी उनके दान महत्वपूर्ण होते थे। उन्होंने नियम-सा वना रक्खा था कि, कमाये हुए धन में से अमुक अंश अवश्य दान में लगाया जाय। इसके

बाद भी जब कोई व्यक्ति संकट उपस्थित होने पर तथा किसी अच्छे कार्य के लिए सहायता के लिए पहुँच जाता, तो उसे वे विमुख नहीं लौटाते थे। कारण, उनमें परोपकारिता, दयालुता तथा धर्म-भीरुता अत्यधिक थी। यह सब होते हुए भी वे बड़े मितव्ययी थे। आवश्यकता से अधिक खर्च करना वे जानते ही नहीं थे। उन्होंने, अपने अन्दाज से लौकिक मनोवृत्ति को रोकने के लिए प्रतिबन्ध लगा रक्खे थे। उनकी आवश्यकताएँ छलांग नहीं मारा करती थीं। वे उतने ही पैर फैलाते थे, जितनी चद्दर होती थी। अपनी आर्थिक दशा के अनुसार ही वे अपना जीवन सीमाबद्ध रखते थे। अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वे समाज का भी खयाल रखते थे। वे सोचते थे कि, उनके अधिक पैर फैलाने से समाज की तो हानि नहीं होगी ? किसी साधारण वृत्तिवाले भाई के सन्मुख बुरा आदर्श तो नहीं खड़ा होगा ? इस प्रकार वे अपनी अवस्था और समाज का विचार करके ही अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाते थे। अपनी स्थिति और सामर्थ्य से अधिक मिथ्या और नकली नामवरी पाना वे पाप समझते थे। वे धर्मभीरु ऐसी प्रशंसा से भय खाते थे। समाज के सन्मुख अपने वैभव और विलासिता का प्रदर्शन करना महान् अनर्थ समझते थे। उनका यह सत्य विचार था कि, जीवन की विलासिता बढ़ाने से बढ़ी हुई आवश्यकताएँ घट नहीं सकतीं और जब वे घटती हैं, तब उनकी अवस्था अत्यन्त दुःखदायी हो जाती है। इसलिए उन्होंने यह बात हृदयंगम कर ली थी कि, जो व्यक्ति एक पैसा बचाने की चिन्ता नहीं करता, वह मुहर की भी रक्षा नहीं कर सकता। उनकी यह प्रवृत्ति सच्ची मितव्ययिता को प्रकट करती थी। इससे कोई यह न समझे कि, वे बड़े कंजूस थे, खर्च करना जानते ही नहीं थे, धन जोड़-जोड़ कर रखते जाते थे। नहीं, ऐसी बात नहीं थी। कंजूस तो वह व्यक्ति होता है, जो अपना जीवन भी कष्टमय बितावे और किसी अच्छे कार्य में धन भी न लगावे। पर उनमें ये सब बातें कहां थीं ?

वे स्वयं भूखों मरना पसन्द करते, पर समाज व देश तथा धर्म के कार्यों में तो आगे बढ़कर दान व सहायता देते थे। उनका विश्वास था कि, दान देने से लक्ष्मी दूनी होती है। इस प्रकार के आचरण से उन्होंने देश और समाज में लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। बड़े से बड़े धनी का जीवन समाज के लिए भार स्वरूप न था। अपनी मितव्ययिता से जहां वे अपना व्यापार चलाते, वहां वे समाज के अन्य भाइयों को भी सहायता देकर आगे बढ़ाते थे। इतने पर भी उनमें न दानवीर कहलाने की लालसा थी, और न सहायता करने के कारण समाज के व्यक्तियों पर रोब गांठने की।

आजकल के जमाने में कुछ पैसे अथवा दो-चार रुपये के खर्च को हम साधारण-सी बात समझ कर ध्यान नहीं देते, किन्तु यदि इन्हीं साधारण रकमों का हिसाब लगाया जाय, तो वर्ष भर में यह बहुत बड़ी रकम हो जाती है। क्या हम नहीं जानते कि, एक-एक बूंद से घड़ा भरता है। अतएव यह बात प्रत्यक्ष है कि, यदि इन छोटी रकमों को हम अनावश्यक कामों में व्यर्थ न खर्च करें, तो वर्ष भर में एक अच्छी रकम स्वयं इकट्ठी हो जाय। मगर हमारा ध्यान इस सीधी-सादी बात की ओर नहीं जाता। हमारे पूर्वजों ने इस आर्थिक रहस्य को भली भांति समझा था। वे हम लोगों की तरह अनावश्यक खर्च न कर वर्ष भर में बहुत बड़ी रकम बचा लेते थे। इस व्यवहार में वे न तो अपना आवश्यक खर्च घटाते थे और न कंजूस ही बनते थे। जिस प्रकार आवश्यकता के अनुसार खर्च न करना कंजूसी है, उसी प्रकार बिना आवश्यकता के खर्च करना अपव्यय है। इसलिए हमारे पूर्वज न तो आवश्यकता से कम खर्च कर कंजूस ही बनना चाहते थे और न आवश्यकता से अधिक खर्च कर अपव्ययी ही। संसार में आवश्यकता की कोई सीमा नहीं। वह मनुष्य की आर्थिक स्थिति पर ही अवलम्बित रहती है। मनुष्य की आर्थिक उन्नति जिस क्रम से होती है, उसी क्रम से उसकी आवश्यकताएं भी अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं। इस प्रकार आर्थिक दशा गिरने पर उसे



स्वर्गीय हरदयालजी सूरेका

विवश होकर अपनी आवश्यकताएँ घटानी पड़ती हैं। मगर ऐसा करते समय समाज में रहनेवाले व्यक्ति को जिन कठिनाइयों और कष्टों का सामना करना पड़ता है, उसे सभी जानते हैं। इसलिए हमारे पूर्वजों का आर्थिक सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी था। वे अपनी अच्छी अवस्था में अपनी आवश्यकताएँ अत्यधिक बढ़ाना पसन्द नहीं करते थे। वे व्यर्थ के कार्य और झूठी नामवरी को भी आवश्यकता का रूप देकर अपने गले नहीं मढ़ लिया करते थे। इसलिए वे आगा-पीछा देख कर ही अपनी वास्तविक आवश्यकताएँ बढ़ाते थे और उसी से सन्तुष्ट भी रहते थे। किसी भारी धनिक को बहुत अधिक खर्च करते देख उनके हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती थी। वे जानते थे कि, उनकी स्थिति वैसी नहीं है। फिर उस धनिक व्यक्ति के भारी खर्च का समाज पर कोई नैतिक प्रभाव नहीं पड़ता था।

आजकल देखादेखी अपनी स्थिति और आवश्यकता से अधिक खर्च कर बड़े आदमी बनने का रोग प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। पर इसका दुष्परिणाम भी लोग हाथोंहाथ भोगते हैं। प्राचीन काल में, जिस व्यक्ति के पास एक लाख रुपया होता था, उसका वंश कई पीढ़ियों तक 'लखपती' और 'साह' बना रहता था। क्योंकि वे झूठी नामवरी की लालसा से अपव्यय न कर आवश्यकतानुसार अपनी आर्थिक दशा देखकर बड़ी सावधानी से खर्च करते थे और वाणिज्य-व्यापार में उनकी मनोवृत्ति एक दिन में डबल लखपती बनने की नहीं होती थी। वे अपना व्यापार भी बड़ी मितव्ययिता और सावधानी से चलाते थे। ये ही सब कारण थे कि, हमारे पूर्वज पीढ़ियों तक लखपती बने रहते थे और सम्मान पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे।

आज क्या हो रहा है? समाज का एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति से खर्च करने में पीछे नहीं रहना चाहता। वह इस बात पर विचार नहीं करना चाहता कि, अन्य धनियों के मुकाबले में उसकी आर्थिक स्थिति कैसी

है। अनुकरण-प्रियता के कारण समाज में कर्ज लेकर अधिक खर्च करने की भावना दिन प्रति दिन बढ़ रही है। एक व्यक्ति ने अपने पुत्र के विवाह में पाँच सौ वत्तियों की रोशनी लगायी, तो दूसरा चार सौ वत्तियाँ लगाने में अपना ओछापन अनुभव करता है। एक ने वारात में इतने बाजे, इतनी मोटरें और इतनी घोड़ागाड़ियाँ मंगवायी, तो दूसरा—उससे कम मंगवाये—यह कैसे हो सकता है? एक ने हरा-भरा पाँच-सौ रुपये का दिया और आँगी-मेवा दो हजार रुपए का दिया, तो दूसरा इससे कम दे, यह कैसे हो सकता है। एक व्यक्ति ने पाँच हजार रुपए की पहरावनी दी, तो दूसरा व्यक्ति छः सात हजार रुपए की पहरावनी देकर अपने आपको बड़ा और दूसरे को छोटा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। फिर समाज में कई अपव्ययों पर तो धर्म की झूठी मुहर लगा दी गई है। हजार बार मना करने पर भी लोग ऐसे खर्च करते हैं और समाज के सामने बुरा उदाहरण रखते हैं। अपने माता-पिता के श्राद्ध में धार्मिक विश्वास के कारण उतने ब्राह्मणों को भोजन कराने में कोई हर्ज नहीं है, जिसमें धार्मिक प्रयोजन भी पूरा हो और समाज के किसी गरीब से गरीब परिवार को भी जिसका अनुकरण करने में कठिनाई न हो। पर ऐसा कैसे हो सकता है? एक व्यक्ति ने, अपने माता-पिता के श्राद्धोपलक्ष में, ब्राह्मण भोजन 'सर्वाले' के रूप में किया, तो दूसरा समझता है कि, उसे 'चारों धड़ा' करना चाहिए। फिर इस अवसर पर बिरादरी की जीमनवार की प्रथा का पालन कितना निन्दनीय और असभ्यतापूर्ण है! पर, हम उसे छोड़ना नहीं चाहते, उल्टे उसके खर्च को बढ़ाते जा रहे हैं। इस अज्ञान, दुःख और मोह के कृत्य के सम्बन्ध में हम प्राचीन विचारों का भी ऊहा-पोह नहीं करते। पूर्वकाल में परिवार के किसी एक व्यक्ति के मरने पर समाज और परिवार के लोग उसके घर में आकर विधवा तथा अनाथपुत्र को आश्वासन देते थे कि, तुम अपने स्वर्गवासी पति या पिता के विछोह से दुःखी न हो, हम समाज के

लोग सेवा के लिए तत्पर हैं, तुम्हें किसी प्रकार की कठिनाई न होने देंगे। यह कितना उदार व्यवहार था। उस समय समाज के भाग्य-विधाता तथा अन्य लोग शोकाकुल परिवार को और भी अधिक दुःखी करने के लिए जीमनवार खाने नहीं पधारते थे। उस काल में, समाज के उस महापुरुष की मृत्यु पर भोज के लिए बिरादरी को बुलाया जाता था, जो पूर्ण आयुष्य में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र आदि छोड़ कर मरता था, जिसका सारा जीवन कीर्त्तिमय और दूसरों के लिए अनुकरणीय होता था और किसी भी रूप में जिसके चरित्र पर कोई कलंक लगा हुआ नहीं होता था। ऐसे पुण्यश्लोक व्यक्ति के निधन पर लोग परिवारवालों को समझाते थे कि, उनकी मृत्यु से क्यों दुःख होना चाहिए, वे तो बड़े भाग्यशाली थे। इस प्रकार पूर्ण आयुष्य और सुख प्राप्त करनेवाली मृत्यु सभी की हो। महामुनि वशिष्ठ ने विधवा कौशल्या के आर्त्तनाद करने पर उसे समझाया था कि, किस लिए रोती हो, क्या दशरथ की मृत्यु शोचनीय है कि, हम उनके लिए रोवें और प्रलाप करें। वे तो बड़े भाग्यशाली थे, जो राम और भरत—जैसे चार पुत्र और यह सब परिवार छोड़ कर सुखपूर्वक स्वर्ग को सिधारे हैं। उस काल में, पूर्ण आयुष्य होने पर, परिवार के वृद्ध लोग स्वयं मृत्यु की कामना करते थे। ऐसे देवता-स्वरूप व्यक्तियों के लिए ही हर्षसूचक भोज हुआ करता था, औरों के लिए नहीं। हमारे पूर्वजों ने भोज के इस विकृत रूप को कभी नहीं माना था। पर आज की अवस्था कितनी चिंतनीय है? पत्थर का कलेजा भी टूक-टूक हुए बिना नहीं रहता, जब वह तरुण विधवा पतिशोक में विलाप करती है। हमारी समझ में नहीं आता कि इस शोकाकुल वातावरण में भी बिरादरी भोज के लिए कहने में कौन सी धार्मिकता है तथा समाज का कौन सा हित है? फिर, उस अत्याचार की तो सीमा ही नहीं रहती, जब उस विधवा को कर्ज लेकर भोज करने के लिए विवश होना पड़ता है। पर हित हो या अहित, उचित हो या अनुचित, होता यह सब है

और सबसे अधिक दुःख तो इस बात का है कि, समाज के कर्णधार पुरुष भी इसमें पधारते हैं। अन्य समाजों के मृतक की तेरहवीं के दिन ब्राह्मण भोजन के लिए ब्राह्मणों का मिलना दुश्वार हो जाता है। वे ब्राह्मण ऐसे भोजों में जाने से परहेज करते हैं। पर दुर्भाग्यवश हमारे समाज के पूज्य भूदेव भी ऐसी शोचनीय मौतों के ब्रह्मभोजों में पधारते हैं। यदि हमारा पवित्र ब्राह्मण समाज अपने आदर्श तथा मारवाड़ी समाज के गौरव की ओर ध्यान दे, तो वह दिन किसी समय आ सकता है जब मारवाड़ी समाज में भी, मृतक भोज के लिए ब्राह्मणों का मिलना दुश्वार हो जाय। हम जानते हैं कि, मारवाड़ी ब्राह्मणों में भी सच्चे कर्मकाण्डी और विचार-शील महानुभाव ऐसे भोजों में कदापि नहीं जाते। इन भोजों को रोकने में समाज के ऐसे कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों का नेतृत्व परमोपयोगी है। समाज के जो व्यक्ति धनशाली हैं, वे मृतात्मा की यादगार में समाज के उपयोगी कार्यों में हजारों, और लाखों, रुपयों का दान कर सकते हैं। उन दानों से मारवाड़ी समाज के ब्राह्मण और वैश्यों की सन्तानें चिरकाल तक लाभ उठा सकती हैं। समाज की अनाश्रित विधवाओं और अनाथ बच्चों का भरण-पोषण हो सकता है और शिक्षा प्रचार आदि अन्य बीसियों कार्य भी हो सकते हैं। इनके लिए दान देने से मृतात्मा को सच्ची शान्ति मिल सकती है। ऐसे कार्यों से समाज का अपव्यय भी नहीं होता, लोग भी कर्ज में नहीं फंसते तथा अन्य समाजों को भी हम पर उंगली दिखाने का अवसर नहीं मिलता। इस प्रथा को हटाने में पुरातन-वादी और सुधारक का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सभी विचारशील व्यक्ति ऐसी प्रथा को हानिकारक मानते हैं, तब उन्हें जातीयता के गौरव की रक्षा के लिए इसे मिटा देना चाहिए। इस अविधेय कार्य को रोकना हमारा, आपका—सबका परम पुनीत कर्त्तव्य है। इस विषय का हमने यहाँ इसलिए उल्लेख किया है कि, जहां इस रूढ़ि से समाज की नैतिकता नहीं रहती, वहां आर्थिक दृष्टि से भी सर्वनाश होता है। केवल यही नहीं,

ऐसी अनेक सामाजिक रूढ़ियां हैं, जिनके कारण समाज आर्थिक कष्ट भोग रहा है। व्यापार धंधे के लिए पैसा हो या न हो, पर इन सामाजिक रूढ़ियों को जीवित रखने के लिए ऋृण लेकर भी खर्च करना पड़ेगा। इस तरह इस कुप्रथा के कारण हंसता हुआ घर भी थोड़े समय में कर्जदार बन कर मिट्टी में मिल जाता है। एक-एक घर की इस प्रकार दुर्दशा होने से सारे समाज की क्या दशा होगी; और किस प्रकार यह समाज अपने व्यापारिक गौरव की रक्षा कर सकेगा? यदि यही दशा रही, और सामाजिक अपव्यय बढ़ता गया, तो यह समाज कैसे अपने व्यापार की रक्षा करने में समर्थ होगा और कैसे अपनी नैतिकता को बचा सकेगा? कोई भी धार्मिक विधान और सामाजिक रीति हमें यह आदेश नहीं देती कि, हम किसी प्रकार का कोई अपव्यय करें। अब भी हमें विचारना चाहिए कि, समाज की रक्षा से ही धर्म और सुरीतियां रहेंगी। इसलिए अनिष्टकारी रीतियों का नाश कर हमें समाज की रक्षा करनी चाहिए। हमें अपने प्रातः स्मरणीय पूर्वजों की ओर देखना चाहिए। वे आजकल की तरह सामाजिक रीतियों के पोषण के लिए कर्जदार बन अपना टाट उलट कर समाज के सामने अपमानित नहीं होना चाहते थे। उनकी दृष्टि में, औक़ात से अधिक फिजूलखर्च कर बड़े आदमी कहलाने का कुछ भी महत्व नहीं था। उस समय का ब्राह्मण समाज भी अपनी त्याग-निष्ठा और दूरदर्शिता से समाज को ऐसे कामों से रोकता था। क्या ब्राह्मण और क्या वैश्य—कोई भी उस व्यक्ति का उपहास किये बिना नहीं रहता था। उस काल में लोग कहते थे कि, "इस प्रकार धन उड़ाकर कितने दिन बने रहोगे?"

अपनी आर्थिक स्थिति से बढ़ कर खर्च करने के सम्बन्ध में, हमारे पूर्वजों ने अनेक प्रतिबन्ध लगाये थे। विवाह-शादी और किसी आत्मीय के स्वर्गवास पर जब कोई व्यक्ति समाज से पूछता कि, 'मेरे यहाँ कार्य है और इस अवसर पर मैं इतना खर्च करने का विचार करता हूँ' तब उसके

इस वक्तव्य पर समाज विचार करता और उससे पूछता कि, "बताओ! इतने खर्च के लिए तुम्हारी आर्थिक स्थिति कैसी है? तुम्हारे वाणिज्य-व्यापार को क्या इससे धक्का नहीं लगेगा? और तुमने सार्वजनिक हित के लिए भी कभी कोई कार्य किया है या नहीं?" जब वह व्यक्ति इस प्रकार के प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देता, तब उसे बड़े विचार के बाद उचित अंश तक खर्च करने की आज्ञा दी जाती थी, और यदि उस व्यक्ति ने कोई लोकोपयोगी कार्य न किया हो और उसकी आर्थिक अवस्था संदिग्ध दिखाई पड़ती हो तथा ऐसा जान पड़ता हो कि, आवेश में आकर वह ऐसा कर रहा है, तो समाज कभी उसे वैसा करने की आज्ञा नहीं देता था। तब उससे स्पष्ट कह दिया जाता था कि, तुम्हारी परिस्थिति ऐसी नहीं है और समाज तुम्हे विवाह-शादी में अधिक खर्च करने की आज्ञा नहीं देता। ब्राह्मण-भोजन के लिए एक रुपये की शक्ति नहीं होती, तो एक रुपए के स्थान में दो आने के लिए आज्ञा दी जाती थी। उस समय पूज्य ब्राह्मण भी आगे बढ़ कर कष्ट-पीड़ित वैश्य को अधिक व्यय करने से रोकते थे। उस समय धर्मभीरु वैश्य-समाज को ब्राह्मणवर्ग अपव्यय से नहीं रोकता, तो मारवाड़ी समाज की इतनी उन्नति कैसे होती? पर आज न तो लड़के का पिता ही समाज की रक्षा के लिए आगे आकर कहता है कि, इन ओगी-मेवा—आदि रीतियों के लिए कोई खर्च न करो और न ब्राह्मण-समाज ही अपने जोरदार आन्दोलन द्वारा वैश्य-समाज को सत्पथ पर लाता है। धर्मभीरु वैश्य-समाज की ये सभी अपव्यय की कुरीतियां ब्राह्मणों के त्याग और सच्चे नेतृत्व से तुरन्त दूर हो सकती हैं।

मारवाड़ी समाज में एक समय था कि, जब कोई व्यक्ति समाज की आज्ञा लिए बिना खर्च करने में स्वतंत्र नहीं था। उस समय समाज में, सामाजिक-रीतियों में अपव्यय को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। और किसी धनशाली का अधिक खर्च समाज के गरीब अङ्ग पर

अत्याचार रूप में माना जाता था। समाज की वास्तविक भलाई की दृष्टि से ही, उस समय समाज के पंच समाज की भलाई सोचते थे। वे अपने धर्ममय सीधे-सादे जीवन में राग-द्वेष की गन्ध तक नहीं आने देते थे। वे अपव्यय को पाप समझते थे। वे अपनी साख, अपनी सच्चाई और अपनी साधारण स्थिति को स्थायी बनाये रखने में ही समाज का गौरव और धर्म-कर्म समझते थे। यही कारण था कि, उस समय समाज में धनी-गरीब समान रूप से पूछे जाते थे। देश और समाज-रक्षा के कार्यों में लाखों रुपए लगानेवाले धनिक भी साधारण व्यक्तियों के लिए बड़े आदमी नहीं थे। कारण, साधारण व्यक्ति भी अपनी स्थिति के अनुसार ऐसे कार्यों में सहायता पहुँचाते थे और उन सब के ये दान, देश तथा समाज के लिए अधिक प्रभावशाली होते थे। उनका प्रभाव बड़े धनिकों की अपेक्षा समाज में अधिक था। उस सुखमय वातावरण में—समाज में यह उदार भाव प्रकट करनेवाली कहावत प्रचलित थी कि, मूँग, मोठ में कोई छोटा-बड़ा नहीं।' धनी व गरीब तथा मध्यम वृत्तिवाले—सभी का यही भाव था। उस समय सामाजिक कार्यों में अपव्यय तो रोका ही जाता था, व्यक्तिगत जीवन में भी भोग-विलास बड़े आदमियों के लिए मना था। इसके सिवा समाज के धनी व्यापार आदि मामलों में गरीब भाइयों को उठाते रहते थे। ये ही सब कारण थे कि, उनकी स्थिति आजकल की तरह डावांडोल नहीं होने पाती थी और न समाज का कोई अङ्ग धनाभाव के कारण दुःखी होता था।

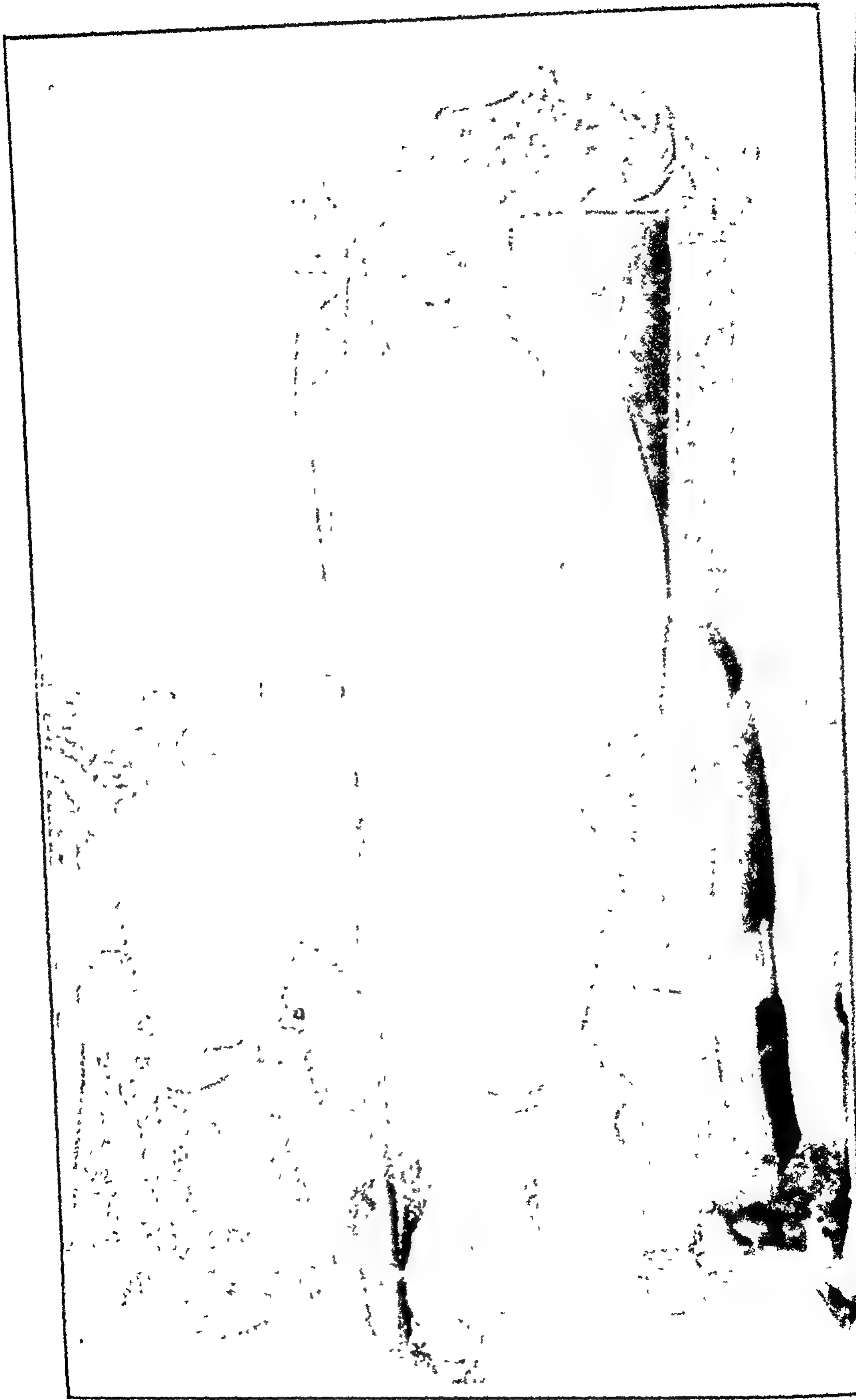
दुःखी अङ्ग का अभिशाप किसी भी जाति और समाज के लिए नाश का कारण होता है। मारवाड़ी-समाज को मितव्ययिता के आदर्श पर लक्ष्य रख कर अपने पूर्वजों के पथ पर चलना चाहिए। उन्हें सोचना-विचारना चाहिए कि, इसी मितव्ययिता की शक्ति से उन्होंने अपने व्यापार का प्रसार सारे देश में किया था। आज हम उनकी सन्तानें क्या करने जा रही हैं? आज अपव्ययों पर विचार किया जाय तो, एक लम्बी

सूची तैयार हो सकती है। इन बढ़े हुए खर्चों से न तो हम धर्म की रक्षा कर पुण्यभागी होते हैं और न समाज का गौरव रखते हैं। इन खर्चों से न तो ब्राह्मण-समाज की ही कोई सच्ची सेवा होती है और न वैश्य-समाज का ही कोई भला होता है। देश, धर्म और अपने पूर्वजों की कीर्त्ति के नाम पर अपने समाज की रक्षा के लिए हमें सारे अपव्ययों को शीघ्र से शीघ्र बन्द कर देना चाहिए। इस पुण्य कार्य में, ब्राह्मण और वैश्य – सभी का अग्रसर होना वांछनीय है। इसी में मान, बड़ाई और धन की रक्षा है।

परिश्रमशीलता और गृह-शिल्प

प्राचीन-काल में राजस्थान की भूमि युद्ध-क्षेत्र रहने पर भी, कला-कौशल में पराङ्मुख नहीं थी। जहां अन्य प्रान्तों ने गृह-शिल्प के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता अर्जन की थी, वहाँ राजस्थान भी उसमें पीछे नहीं था।

भारतवर्ष के प्राचीन शिल्प की उन्नति संसार के लिए एक अमर सन्देश है। बहुजन संख्यावाले किसी भी देश की बेकारी दूर करने के लिए गृह-शिल्प एकमात्र साधन है। सम्पत्ति का उपयुक्त विभाजन इस पद्धति द्वारा आसानी से होता है। हमारे पूर्वजों ने इस तत्त्व को भली-भांति समझा था। भारत के प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी अपने ग्रन्थों में गृह-शिल्प के महत्व का दिग्दर्शन कराया है। भारतवर्ष ने गृह-शिल्प के ही बल पर संसार को आश्चर्य में डाल दिया था। इस देश में इष्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल तक गृह-शिल्प का धन्धा प्रगतिशील बना हुआ था। पर जबसे भारत की आर्थिक स्वाधीनता पूर्ण रूप से विदेशी शासकों के हाथ में चली गई, तब से यह धन्धा नष्ट प्रायः हो गया। इस पर भी राजस्थान में अभी कुछ काल पूर्व तक गृह-शिल्प के दर्शन होते थे। देशी राज्यों के जीवन की सादगी, परिश्रमशीलता और गृह-शिल्प अभी कुछ समय पूर्व तक नष्ट नहीं हुए थे। थोड़ा-बहुत धन्धा इस गये-



स्वर्गीय नानगरामजी मूंधड़ा

गुजरे जमाने तक होता रहा है। राजस्थान में गृह-धन्धों से सभी स्त्री-पुरुष काम पाते थे और बेकार नहीं बैठते थे। अनुत्पादक धन्धे में लगना या निठल्ले बैठे रहना देश और समाज के ऊपर बोझ बन कर बैठना है। हमारे पूर्वज ऐसे लोगों को घृणापूर्ण दृष्टि से देखते थे। समाज उन्हीं का आदर करता था, जो सच्चे धन्धे से धन उपार्जन करते थे। वे इस सिद्धान्त को गौरवपूर्ण मानते थे कि, गृह-शिल्प में श्रम किसी प्रकार का क्यों न हो—वह हेय नहीं है—अनादरणीय नहीं है और न किसी के लिए त्याज्य है। भिन्न-भिन्न प्रकार के धन्धे करनेवाले व्यक्ति समाज में समान रूप से आदरणीय थे। मारवाड़ी-समाज के पूर्व-पुरुषों ने इन्हीं सिद्धान्तों से समाज के पुरुष और स्त्री-वर्ग को परिश्रमशील बनाये रक्खा। इसी परिश्रमशीलता के कारण मारवाड़ियों ने राजस्थान के अञ्चल से निकल कर अन्य-अन्य प्रान्तों में अपना व्यापार-धन्धा जमाया था।

समाज के स्त्री-पुरुषों के लिए परिश्रमशील होना आवश्यक है। परिश्रमी व्यक्ति जीवन की चाहे जैसी अवस्था में रहे—अपनी उन्नति कर सकता है। ऐसा व्यक्ति दैवयोग से एकाएक निर्धन होने पर भी अपने परिश्रम के बल पर स्वावलम्बी बना रह सकता है। परिश्रमशीलता के कारण उस पर ऐयाशी और आलस्य का राज्य नहीं जमता। मारवाड़ी जैसी व्यापारी-जाति के लिए ये सब गुण आवश्यक थे।

इतिहास बतलाता है कि, प्राचीन समय में राजस्थान की भूमि में अनेक धंधों ने जन्म लिया था। मरुभूमि में अनेक साधनों की असुविधायें होने पर भी हमारे पूर्वजों ने अपनी शक्ति का सुन्दर उपयोग किया था। उन्होंने संभवनीय सभी प्रकार के कला-कौशल की उन्नति की थी, उनके बनाये हुए तैयार माल की दूर-दूर देशों में खपत होती थी। उस समय गृहशिल्प के धन्धे से न जाने कितनी वस्तुएं बनती थीं? पर आज तो कहानी मात्र रह गई है। बर्तनों की बनावट, पत्थर की नक्काशी,

बढ़िया-पक्की छपाई, लकड़ी का काम, कसीदा, मीनाकारी और ज़रदोजी आदि के अच्छे-अच्छे धन्धे भी कहाँ जीवित रहे। कपड़े के धन्धे में राजस्थान स्वावलम्बी था, पर आज वह भी नहीं रहा। कैसे रहे, जब स्त्रियां ही चर्खा चलाना छोड़ बैठीं। राजस्थान और पंजाब की भूमि में अब तक चर्खे चलते थे। राजस्थान की स्त्रियाँ रोटी बनाने, आटा पीसने, घर की सफाई करने और बच्चों की सेवा-शुश्रूषा करने से जब निवृत होती थीं तब प्रति दिन नियमित रूप से चर्खा चलाती थीं। ये महिमामयी देवियाँ महीन से महीन सूत कातती थीं। उस समय इन परिश्रम के कार्यों में धनी और गरीब का भेद-भाव नहीं था। अपनी पूर्ण आयुष्य और सुन्दर स्वास्थ्य के लिए भी धनिकों की स्त्रियां इस प्रकार परिश्रम करने में संकुचित नहीं होती थीं। स्त्रियों के काते सूत से जुलाहे कपड़ा बुनते थे। मोटे गाढ़े से लेकर महीन वस्त्र तक हाथ के बुने हुए राजस्थान में तैयार होते थे। अन्य प्रान्तों में राजनैतिक आन्दोलन से स्वदेशी और गृह-शिल्प आन्दोलन की भावना भले ही उत्पन्न हुई हो पर राजस्थान के मारवाड़ी समाज में तो यह धन्धा पूर्व काल से चला आया है। मारवाड़ी समाज की स्त्रियाँ चर्खे के सिवा अन्य कारीगरी भी जानती थीं। वस्त्र सीना, गोटा-किनारी करना, और अन्य-अन्य धन्धों में भी वे निपुण थीं। ऐसे बीसियों धन्धे उस समय राजस्थान के घर-घर में प्रचलित थे। सभी घरों का उत्पादन आजकल के किसी एक कारखाने की तरह था। पर आजकल के कारखाने जितने आदमियों को काम नहीं दे सकते, उनसे कई गुने अधिक आदमियों को ये घरेलू धन्धे काम देते थे। वास्तव में ये किसी को बेकार नहीं रहने देते थे। यह श्रम का कैसा सुन्दर विभाजन था।

किन्तु आज मारवाड़ी समाज के लिए कितने परिताप का विषय है कि, उनकी देवियाँ गृह-शिल्प को भूल बैठीं। आज वे तरह-तरह के आभूषण पहनने और बढ़िया वेश-भूषा में मग्न रहना चाहती हैं। आज

समाज की अशिक्षित स्त्रियाँ अपना समय इधर-उधर की गपशप में बिताती हैं और कुछ पढ़ी-लिखीं तथा नये फैशन में पली हुई देवियां फैशन की सजावट और पलंगों पर पड़े रह कर उपन्यास पढ़ने में दिन गुजारती हैं। बिना पढ़ी-लिखी देवियाँ पूजा-पाठ के उपरान्त फिर भी थोड़ा-बहुत परिश्रम करती हैं, पर धनी घरों की नई शिक्षिता देवियाँ कुछ भी काम करना नहीं चाहतीं। नतीजा यह होता है कि, ये देवियाँ दवाइयों के बल पर उठती-बैठती हैं। घर में कोई काम करना इनकी इज्जत में खलल डालनेवाला समझा जाता है। इस सम्बन्ध में बीसियों आन्दोलनों का भी कोई फल नहीं हुआ। इस प्रकार से ये स्त्रियाँ कहीं की न रहीं। पश्चिम की स्त्रियाँ कितने धन्धे करती हैं, और परिश्रम करती हैं—उसे ये देवियाँ नहीं जानतीं। उनमें परिश्रम के कारण स्फूर्ति और तेजस्विता रहती है। उन्हीं में क्यों? पारसी-समाज की स्त्रियों को देखिये। भारत में पारसी एक धनसम्पन्न व्यापारी जाति है। मगर उस जाति की स्त्रियाँ भी गृह-शिल्प से हिकारत नहीं करतीं। इतना ही नहीं उस समाज की जो स्त्रियाँ नये फैशन और नई शिक्षा में शराबोर हैं, वे भी कला-कौशल में दिलचस्पी रखती हैं। बड़े-बड़े धनी घरों की भी पारसी स्त्रियाँ कला-कौशल के धन्धों में प्रवीण होती हैं। पारसी समाज की गृह-शिल्प संस्थाओं में ये स्त्रियाँ जाकर कसीदा आदि काढ़ती हैं। यदि ऐसे धनी घरों की स्त्रियाँ गरीब भी हो जाँय, तो उनका धन्धा उन्हें भूखों नहीं मरने देगा। पर हम सभी प्रकार की मारवाड़ी स्त्रियों के लिए क्या कहें। उन्होंने अनेक प्रकार के वस्त्र पहनना तो सीखा, पर उनकी कलाओं को नहीं अपनाया। उनका एक ओढ़ना बनाने में कितनी मजदूरी लग जाती है, और उसे कौन ले जाता है, इसे वे कभी नहीं सोचतीं। वे गोट, पट्ट और कसीदे के वस्त्र तो पहनेंगी, पर घरों में अपने हाथ से तैयार करने की शक्ति अब वे खो बैठी हैं। वे अपनी वेश-भूषा और अन्य वस्तुओं की माँग के लिए समाज का

वहुत-सा धन दूसरों को सौंप देती हैं। समाज में वेकारी वढ़े और दूसरे लोग इन धन्धों से मौज करें, कितने आश्चर्य की वात है।

इस वातावरण में जहाँ समाज की स्त्रियाँ वेकार रहती हैं, वहाँ निठल्ले वैठने से उनमें अनेक दुर्गुण आते हैं। विलासिता और अनाचार फैलता है, इन्हीं वातों से समाज को वदनाम होना पड़ता है। कहा भी तो है कि, विना कामवाले के शरीर में शैतान वास करता है। ऐसे वातावरण में धार्मिक वातें क्या असर कर सकती हैं? समाज के शुभचिन्तकों को गम्भीरतापूर्वक इस विषय पर विचार करना चाहिए। मारवाड़ी समाज के लिए सामाजिक और आर्थिक सभी पहलुओं से यह समस्या विचारणीय है। यदि हमने इस प्रश्न को हल कर लिया तो, सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आदि—सभी दृष्टि से मारवाड़ी समाज की कायापलट हो जावेगी। एक वार फ़िर मारवाड़ी समाज की स्त्रियाँ गृह-कार्य तथा शिल्प में निपुण हो जावेंगी। विलासिता के अभाव में अनाचार समाज में नहीं रहेगा। नये-नये धन्धे मारवाड़ी समाज की वढ़ती हुई वेकारी को दूर करने में भी समर्थ होंगे। इससे मारवाड़ी समाज में समत्व भाव भी उत्पन्न होगा। आज मारवाड़ी समाज के नेता व पंच अनेक छोटी-वड़ी वातों के लिए लड़ते हैं। उनका कर्त्तव्य है कि, अन्य वातों को छोड़ कर वे समाज को उद्योगी बनावें। इस कार्य में तो कोई धार्मिक और सामाजिक मतभेद नहीं है। जो जिस रूप से इस क्षेत्र में वढ़ना चाहे, उन सवके लिए [illegible] एक नया वातावरण उत्पन्न करे। निश्चय वे ही लोग समाज का सच्चा नेतृत्व करेंगे और मारवाड़ी जाति के गौरव को वनाये रक्खेंगे, जो इस समस्या को हल कर समाज के स्त्री-वर्ग में शिल्प की प्रगति करेंगे। उन्हीं का नाम चिरस्मरणीय रहेगा, जो आर्थिक-क्षेत्र में मारवाड़ी समाज की सेवा करेंगे। गृह-शिल्प का प्रचार ही हमारे सव सुधारों में सहायक होगा। जिन महानुभावों में नेतृत्व का घमण्ड न हो, विचारों की संकीर्णता न हो, और समान रूप

से मारवाड़ी समाज की सेवा का भाव हो, वे इस कार्य में अग्रसर होकर मारवाड़ी समाज की सच्ची सेवा कर सकते हैं।

सभी विचार के लोग मिल कर यह आन्दोलन करें कि, मारवाड़ी समाज की स्त्रियों को भोजन बनाने आदि कुछ कार्य करना तो अनिवार्य है। उन्हें स्पष्ट रूप से बताया जाय कि, घर में उन्हें अमुक-अमुक परिश्रम के कार्य करने ही चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य धन्धों के सीखने के साधन भी उन्हें सुलभ कराये जाँय। समाज की विधवाओं को तो इन धन्धों में लगाना उनके लिए जीवन-दान के समान है। उनकी रक्षा का यह सबसे अच्छा साधन है। उनके लिए समाज गृह-शिल्प संस्थाओं की स्थापना करे। वहाँ समाज की विधवाएँ अपनी आजीविका के लिए कार्य सीखें और करें। स्त्रियों के लिए नये-नये धन्धे सिखानेवाली संस्थाएँ स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जितनी भी वस्तुएँ समाज के व्यवहार में आती हैं, मारवाड़ी स्त्रियाँ गृह-शिल्प की संस्थाओं द्वारा उन्हें तैयार करने लगें। इसके अतिरिक्त हमारे विद्यालयों में भी बालिकाओं को इन हुनरों में प्रवीण बनाया जाय। शिक्षा के साथ-साथ भिन्न-भिन्न कलाओं की शिक्षा उनके लिए अनिवार्य कर दी जाय। इतना ही नहीं, उनमें ये भाव भरे जाँय कि, वे इन धन्धों की वृद्धि करें। अपना स्त्री-धन इन धंधों की वृद्धि में लगावें। उन्हीं देवियों का समाज में आदर हो, जो समाज को इस प्रकार जीता-जागता बनाने में नव-जीवन दें।

उस अवस्था में मारवाड़ी समाज का यह आधा अंग पूर्वकाल के समान समाज का सम्बल होगा, उसका जीवित अंग होगा। मारवाड़ी महिलाओं का तभी सच्चा गौरव बढ़ेगा। समाज के लिए यह बड़ा ठोस कार्य है, और निरंतर करते रहने का है। समाज के अगुवाओं तथा धनिक परिवारों को उदाहरण उपस्थित करने के लिए स्वयं ही अग्रसर होना चाहिए। कोरी व्याख्यानबाजी और आन्दोलन के बजाय इस

कार्य में मारवाड़ी समाज के शुभचिन्तकों को जुट जाना चाहिए। समाज का धन और शक्ति—दोनों इसी कार्य में लगें।

मारवाड़ी समाज के पुरुष और स्त्री वर्ग में गृहशिल्प का प्रचार करना इस संघर्ष काल में वेकारी मिटाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जितना धन हम अन्य वीसियों कार्य में व्यय करते हैं, उसे भविष्य में नये-नये धंधों में लगाकर हमें समाज का कल्याण करना चाहिए।

राजनीति

राजस्थान की वीरभूमि उन प्रातःस्मरणीय नरपतियों की आवास-भूमि रही है, जिनकी वीरता और देश-भक्ति इस देश में चिरकाल तक जीवित रहेगी। एक सत्तात्मक राजशासन होते हुए भी, उस काल में राजा और प्रजा का सम्वन्ध भारतीय संस्कृति के अनुरूप था। मारवाड़ी समाज के पूर्वजों में अपने नरेशों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रहती थी। किसी स्वार्थ से राजद्रोही होना वे पाप समझते थे। जव कभी राजस्थान के किसी भी राज्य में विप्लव खड़ा होता, तव मारवाड़ी-वैश्य भी क्षात्र-धर्म का पालन करने के लिए अग्रसर होते थे। सभी जाति के मारवाड़ी-वैश्यों में क्षत्रियोचित भाव थे। अपने देश की मान-रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर देना उनके लिए एक साधारण वात थी। देश की मान-मर्यादा और स्वाधीनता की रक्षा के लिए मारवाड़ी-वैश्यों ने अनेकों लड़ाइयाँ लड़ीं और युद्ध में मर-मिट जाना उनके लिए कोई आश्चर्य-जनक कार्य नहीं था। मारवाड़ी-वैश्यों ने इस प्रकार देश की राजनीति में भाग लेना अपना परम धर्म समझा था। व्यापार की रक्षा भी तो विना राजनीति के नहीं होती। इसलिए उनका उस समय के राजशासन में भी पूरा हाथ था। डेमोक्रेटिक (प्रजा-सत्तात्मक) शासन-प्रणाली न होते हुए भी, उस समय के नरेश प्रजामत ५५ चलते थे। यही कारण था कि, प्रत्येक नगर और ग्राम से राजशासन में भाग लेने के लिए पाँच पंच-प्रतिनिधि प्रजा

द्वारा चुने जाते थे। किसी राज्य के नरेश जब कोई नया विधान बनाते, तब उस पर इन प्रतिनिधियों की स्वीकृति ली जाती थी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि, आजकल के शासकों के समान किसी प्रकार के दबाव से प्रजा के पंचों का मत लेकर कोई नरेश प्रजा पर कोई कानून नहीं लादता था। अगर उनकी अनुमति के बिना उस समय कोई कानून बनता, तो उसे प्रजा नरेश की स्वेच्छाचारिता समझती। ऐसा नरेश सुगमता से राजशासन नहीं कर पाता था। उसे अन्त में या तो प्रजा के मत के आगे झुकना पड़ता था या प्रजा-द्रोह से बचने के लिए राजगद्दी का परित्याग करना पड़ता था। नरेशों को गद्दी पर बिठाना भी प्रजा का ही कार्य था। राजस्थान के इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि, प्रजा और उनके द्वारा मनोनीत पंचों की सम्मति से ही युवराज को गद्दी प्राप्त होती थी। यदि राजवंश का कोई उत्तराधिकारी अयोग्य होता, और प्रजा सम्मति नहीं देती, तो वह राजगद्दी पर नहीं बैठ सकता था। उस समय प्रजा भी भीरु और भय खानेवाली नहीं थी। यदि कोई नरेश किसी दल विशेष को अन्यायपूर्वक दबाने की चेष्टा करता, तो उसे सारी प्रजा का कोपभाजन बनना पड़ता था। उस समय राजस्थान के प्रजा-जन अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की किंचित् चिन्ता नहीं करते थे। प्रजा की पीड़ित अवस्था में प्रजा का कोई भी व्यक्ति राजा का साथ देने का साहस नहीं करता था और यदि कभी किसी ने ऐसा किया, तो उसे जाति और समाज से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़ देना पड़ा। देशवासी देश-द्रोह को महान् पाप समझते थे। उनका विश्वास था कि, राजभक्ति और देशभक्ति दोनों ही मनुष्य के लिए आवश्यक हैं। अर्थात् एक मनुष्य देशभक्त रहते हुए भी राजभक्त रह सकता है। वास्तव में देशभक्ति में ही राजभक्ति सन्निहित है। राजहित देशहित से पृथक् नहीं हो सकता। इसलिए देशभक्ति को हमारे पूर्वजों ने परम धर्म माना था। ऐसी देशभक्त प्रजा का राजा भी प्रजासेवक होता था। वह किसानों को अपना

स्वामी कहता था। वह उन राज्याधिकारियों को कठोर दण्ड देता था, जो इन किसानों को तवाह करते थे। नरेशों का अपने अधिकारियों को आदेश रहता था कि वे देश के इस जीवित धन पर कोई अत्याचार न करें। वे मानते थे कि, किसानों के कमाये हुए धन से ही हम इन राजमहलों में ऐश्वर्य का भोग करते हैं, वे ही सच्ची राजशक्ति हैं। जब राजाओं का यह भाव रहता, तो प्रजा के हृदय में उनके प्रति अपार भक्ति रहती थी। इतिहास के वे जीर्ण-शीर्ण पृष्ठ आज भी हमें वतला रहे हैं कि, राजधन का किस प्रकार व्यय होता था। उस समय नरेशों का व्यय अत्यन्त परिमित था। वे अपनी नियत रकम से अपना खर्च चलाते थे और शेष धन प्रजा के कल्याण में व्यय होता था। उनकी शक्ति नहीं थी कि, प्रजा का अधिक धन अपने भोग-विलास में खर्च कर लें। वे प्रजा को मूक नहीं रहने देते थे और फिर उसका दोहन तो महान् पाप समझते थे। राजस्थान के उन नरेशों का यह शासन हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार पिता-पुत्र के रूप में परम पवित्र और वात्सल्यपूर्ण था।

आज भी वही राजस्थान है। भारतवर्ष में ब्रिटिश राजसत्ता होते हुए भी, राजस्थान की रियासतों का शासन देशी नरेशों द्वारा ही संचालित हो रहा है। यद्यपि वे आज ब्रिटिश सरकार के आधीन हैं, किन्तु फिर भी वे उन प्राचीन राजवंशों की आशारूपी किरणें हैं। पर उस ज्योति की आज वह तेजोमयी आभा नहीं है। आज के इन नरेशों में हम उनके पूर्वजों के गुण नहीं देखते। कहते दुःख होता है कि, उनमें वे सब भाव नहीं हैं। वे आज प्रजा से वहुत दूर विछुड़ गये हैं और प्रजा भी भीरु और कायर वन गई है। अशिक्षित, वलहीन, वुभुक्षित और पीड़ित प्रजा क्या कर सकती है? आज प्रजा को देश-सेवा के लिए दमन का शिकार वनना पड़ता है। उसे नाना प्रकार की भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। वेचारी प्रजा आतंक से दवायी जा रही है। उसका पाप यही है कि, वह देश काल के अनुसार अपने सुधार का प्रयत्न करती

पाटन निवासी

सुप्रसिद्ध चिकित्सक स्वर्गीय पंडित [illegible] वैद्य

है। इसमें क्या अन्याय है कि, वह अपने नरेशों से कहें कि, वे समय की गति देखकर चलें और प्रजा का धन भोग-विलास की अपेक्षा प्रजा के कल्याण में व्यय करें, प्रजा हर प्रकार से उन्नत हो, और उसकी अनुमति से राज शासन किया जाय। हमारी समझ में नहीं आता कि, इस मांग में कौन सा राजद्रोह है ? प्रजा ने तो यह भाव ब्रिटिश राजसिंहासन से पाया है, जिसके हमारे ये नरेश परम भक्त हैं। इङ्गलैण्ड की प्रजा अपने नरेश के प्रति राजभक्त रहते हुए भी, देशभक्ति में किसी से पीछे नहीं है। वह इङ्गलैण्ड के राजा के मन्त्रियों की तथा उनके शासन की कठोर आलोचनाएँ करती है और अन्यायमूलक बातों को दूर कराने का प्रयत्न करती है। क्या देशी राज्यों की प्रजा उसी प्रकार अपने नरेशों के प्रति व्यवहार करने का अधिकार नहीं रखती ?

वह रियासतों के अधिकारियों की रिश्वत-खोरी, सीनाजोरी और अन्य अत्याचारों को कब तक सहे ? ऐसी अवस्था में न्याय होने के बजाय राजद्रोह, षड्यन्त्र और साजिश के भयंकर अभियोग उस पर लगाये जाते हैं। रियासतों के प्रजा-सेवकों को चोर-उचक्कों की तरह असहाय बना कर बुरी तरह से जेलों में सड़ाया जाता है। आज रियासतों में प्रजा को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। प्रजा को वह स्वतन्त्रता नहीं है, जो इन्हीं नरेशों के पूर्वजों ने उसे दी थी। प्रजा-स्वातन्त्र्य के अभाव में दबता हुआ असन्तोष राजसत्ता के लिए हानिकारक होता है। यदि हमारे ये नरपति प्रजा की माँग पर चलने लगें, तो हमें विश्वास है कि इस युग में भी प्रजा अपनी रियासतों की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने में ही गौरव मानेगी। आजकल के प्रजाजन अपने नरेशों से यह माँग करते हैं कि, वे अपना खर्च सीमित कर दें। इङ्गलैण्ड के नरेश के समान अपने को एक वैधानिक शासक बना लें और समस्त राज-काज प्रजा की अनुमति से करें। इस माँग की पूर्ति से उनकी राजगद्दी अक्षुण्ण बनी रहती है। उस अवस्था में प्रजातन्त्र के

कैसे ही भावों का प्रचार होने पर भी उनकी सत्ता नष्ट नहीं होगी।

समाज-सत्ता और उसकी व्यवस्था

संसार के किसी भी सभ्य देश की पहचान उस देश के सामाजिक संगठन से ही होती है। इस दृष्टि से यह कहना अत्योक्ति न होगी कि, भारतवर्ष की प्राचीनतम संस्कृति ने अतीत काल में ही नहीं, किन्तु इस आधुनिक काल में भी अन्य संस्कृतियों पर अपना प्रभाव बना रक्खा है। संस्कृति के अस्तित्व ही पर तो जाति के जीवन का प्रश्न अवलम्वित है। इस संस्कृति का नाश कर दीजिये, बस फिर उस जाति के जीवन का सभी क्षेत्रों में अधःपतन हो जायगा। कोई देश किसी शक्तिशाली देश के पंजे में कुछ काल के लिए फँस जाय, पर यदि उस अवस्था में भी उसकी संस्कृति की रक्षा होती रहे, तो यह निश्चित-सा है कि, अल्पकाल में ही वह अपनी स्वाधीनता पुनः अर्जित कर लेगा। भारतवर्ष के प्राचीन समाज-वेत्ताओं ने, भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए इस जाति का संगठन जिन सिद्धान्तों पर किया था, उनकी व्यवहारिकता और उपयोगिता आज बीसवीं शताब्दी के इस वैज्ञानिक युग में भी निरर्थक नहीं ठहरायी जा सकती। पाश्चात्य जगत् में भौतिक-विज्ञान से प्रतिपादित सर्वश्रेष्ठ योजनाएँ भी भारतीय संस्कृति की तुलना में निरर्थक-सी सिद्ध हो रही हैं। इतना ही नहीं, उन जातियों में जो अद्भुत प्रगति दिखलाई पड़ रही है वह भी उनकी अपनी संस्कृति नहीं; प्रत्युत् भारतीय संस्कृति को अपनाने के कारण है। उसी प्रकार संसार में इस प्राचीनतम जाति के इस भीषण ह्रास का कारण भी भारतीय संस्कृति की अवहेलना करना है। हम अपनी संस्कृति के सच्चे स्वरूप को भूल बैठे, और इधर-उधर भटकने लगे। कोई उस संस्कृति के विकृत रूप को मानने लगा, और कोई उसे दूषित बतला कर आधार रहित अन्य संस्कृतियों की क्षणिक झलक पर ही

प्रभावान्वित हो गया। हम अपनी अज्ञानता के कारण भारतीय संस्कृति को कोसने लगे। हमने यह नहीं विचारा कि, वर्तमान अनुसन्धान के सर्वोपरि सामाजिक सिद्धान्त भी भारतीय संस्कृति के सामाजिक संगठन में विद्यमान हैं। भारतीय सामाजिक संगठन कभी अप्रगतिशील नहीं रहा। इस हिन्दू जाति के प्राचीन धार्मिक और सामाजिक जननायकों ने युग और परिस्थिति के अनुसार अनेक विधानों की रचना की *। इस दृष्टि से वर्तमान प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर अवलम्बित सामाजिक संगठन की व्यवस्थाएँ भी हिन्दू जाति के सामाजिक संगठन में खप जाती हैं। हमारे इस कथन में न कोई गर्वोक्ति है और न मिथ्या कल्पना। पाश्चात्य जगत् के समाज-विज्ञान में विद्वानों ने भारतीय संस्कृति और उसके मूल सामाजिक संगठन पर जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हीं के आधार पर हमने उक्त विवेचना की है। इसलिए यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि, भारतीय संस्कृति के आधार पर स्थापित हुई सामाजिक संघटना संसार के इतिहास में सर्वथा महत्वपूर्ण है और विशेष कर आधुनिक काल के जीवन-निर्माण में उसके मूल सिद्धान्तों का अधिक अच्छा स्थान है। पर संगठन निर्जीव तथा अल्पकालीन नहीं है। उसमें निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता, विषमता, स्वत्वों के लिए अन्याययुक्त व्यवहार, अत्याचार और अन्याय-युक्त विशेषाधिकार, पारस्परिक विश्रृङ्खलता तथा भेदभाव एवं दांभिक प्रवृत्तियों का प्राधान्य नहीं है। क्या धार्मिक, क्या सामाजिक—सभी क्षेत्रों में हमारे धर्म-गुरु तथा समाजशास्त्रियों ने अपने व्यवहार में विवेक को सर्वोपरि स्थान दिया है। यदि धर्मगुरु तथा समाज के कर्ताओं को कार्य व अकार्य का विवेक नहीं रहता था और अज्ञान तथा गर्व से वे किसी एक ही विधान पर दृढ़ हो जाते थे, तो उन पर भी शासन किया जाता था और शान्त रूप से अड़चनें दूर कर नये

---

* प्राचीन स्मृति ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं, जिनमें समय-समय पर आवश्यकतानुसार समाजिक विधान बनाये गये हैं।

विधानों को स्थान दिया जाता था। गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यम जानतः। उत्पथ प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥" आदि धर्म-शास्त्र के वचन हैं। धर्मशास्त्र के इस वाक्य से यह स्पष्ट प्रकट होगा कि, हिन्दू समाज के संगठन में किस प्रकार से संस्कृति के आधार पर परिवर्तन होते थे और समाज पर अत्याचार नहीं होने दिये जाते थे। इस युग के नवीन समाजवेत्ता इससे अधिक क्या अधिकार दे सकते हैं? धर्मगुरु और समाज के चालक जब तक अपने विवेक से मन को उदार कर अधिकारों का प्रयोग करते थे, तभीतक वे समाज के कर्णधार बने रहते थे। इस अवस्था में धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उनका उच्च स्थान कोई नहीं छीन सकता था। पर यदि वे अपना कर्त्तव्य पालन करने में त्रुटि या पक्षपात करते और समाज को अधिकार देने में बाधक होते, तो उन पर भी शासन की व्यवस्था थी। वे आचार्य और समाजचालक किस कोटि के होते थे, उसकी हम आज इस युग में कल्पना-मात्र कर सकते हैं। वे अपने सत्य, बल, त्याग और न्याय-बुद्धि से धर्म और समाज की रक्षा करते थे और समाज उनके आदेशों का विवेक बुद्धि से विचार कर पालन करता था। अतीत काल के समाजवादियों में सर्वत्र विवेक बुद्धि का ही अत्यधिक प्राधान्य था। आजकल के समान उन्होंने श्रद्धा के सीधे मार्ग का अवलम्बन नहीं किया था। हिन्दू समाज धर्म से पृथक् नहीं है और धर्म समाज से पृथक् नहीं है। एतदर्थ हमारी धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाएँ एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। पाश्चात्य देशों में धर्म को समाज से बिल्कुल पृथक् रक्खा गया है। वहां सामाजिक आचरण में धर्म का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। इस प्रकार वहाँ के लोगों का जीवन धार्मिकता से विमुख और आध्यात्मिकता से रहित होने लगा। परिणाम यह हुआ कि, इन्द्रिय-परायणता और स्वार्थपरता उभड़ पड़ीं। उनकी तृष्णाएँ बढ़ने लगीं। विलासिता ने अपना घर कर लिया। उनकी दृष्टि में तृष्णा का [illegible] सभ्यता का मूल तत्त्व हो गया। उनकी

सामाजिक संस्कृति की नींव इसी तत्व पर है। आज विज्ञान के प्रकाश में वे अपने रहे-सहे धार्मिक विचारों को भी खो रहे हैं। उनके समाज-वेत्ता उन्हें यहां तक कहते हैं कि, लोगों का पुरुषार्थ इसी में है कि, वे अपनी तृष्णा को अपने ही बल से पूरी कर लें। इसके लिए लोगों को यदि कोई अत्याचार, जोर जब्र भी करना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। उनके समाजवेत्ताओं का कथन है कि, धर्म के तत्व, दया और परोपकारिता समाज को नपुंसक बना देते हैं। अतएव वे कहते हैं कि, यदि हमारे समाज के मनुष्यों को मनुष्य बनना हो तो उन्हें नीति और धर्म के बन्धनों की किंचित् पर्वाह नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने से ही वे नवयुग का निर्माण कर अपनी नूतन सभ्यता का विस्तार कर सकेंगे। मगर इससे हुआ क्या ? वहां की व्यक्तिगत तथा कौटुम्बिक अशान्ति धीरे-धीरे सामाजिक रूप धारण करने लगी। सच तो यह है कि, जहां व्यक्तियों की धारणाएँ कलुषित हो गयीं, वहां का समाज कैसे पवित्र रह सकता है ? इस प्रकार पाश्चात्य देशों की संस्कृति आधिभौतिक चकाचौन्ध से परिपूर्ण है, पर हिन्दू धर्म की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण धार्मिक संस्कारों के आधार पर हुआ है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि, हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था व्यावहारिक तथा प्रगतिशील नहीं है। धर्म के मूल लक्षणों को सदा के लिए मानते हुए भी सामाजिक व्यवहार में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हुआ है। हमारे प्राचीन समाज-वेत्ताओं ने भी अपनी अनुष्ठेय धर्म-व्यवस्था में युग-भेद का समय समय पर सदैव विचार किया है। उन्होंने यह माना है कि, धर्म भी देश, काल और अवस्था के भेद से नाना प्रकार का है। ऐसे काल में समाज की रक्षा के लिए जो कुछ करना पड़े, वह धर्म-युक्त है। इस सम्बन्ध में हमारे महर्षियों ने कितना स्पष्ट कहा है:—

धर्मा बहुविधा लोके श्रुति भेद मुखोद्भवाः।
देशधर्माश्च दृश्यन्ते कुलधर्मास्तथैवच ॥

जातिधर्माः वयोधर्माः गुण धर्माश्च शोभने।
एतद्धर्मस्य नानात्वं क्रियते लोकवासिभिः ॥

धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में हमारे पूर्वज कितने उदार तथा व्यावहारिक थे, उपर्युक्त शास्त्रीय व्यवस्था इसका एक उदाहरण है। कालधर्म तथा आपद्धर्म की आवश्यकता समाज के बल की रक्षा के लिए होती है। इसलिए हमारे प्राचीन समाजवेत्ताओं ने स्पष्ट रूप से कहा है कि, समाज की रक्षा के लिए आपद्धर्म के पालन से मनुष्य अधर्मी नहीं होता वरन् आत्मरक्षा का धर्म पालन करने से धर्मात्मा ही रहता है। जैसे देश, काल आदि के भेद से धर्म में भेद होता है, वैसे ही युगभेद से भी, धर्म में वृद्धि और ह्रास भी होता है।

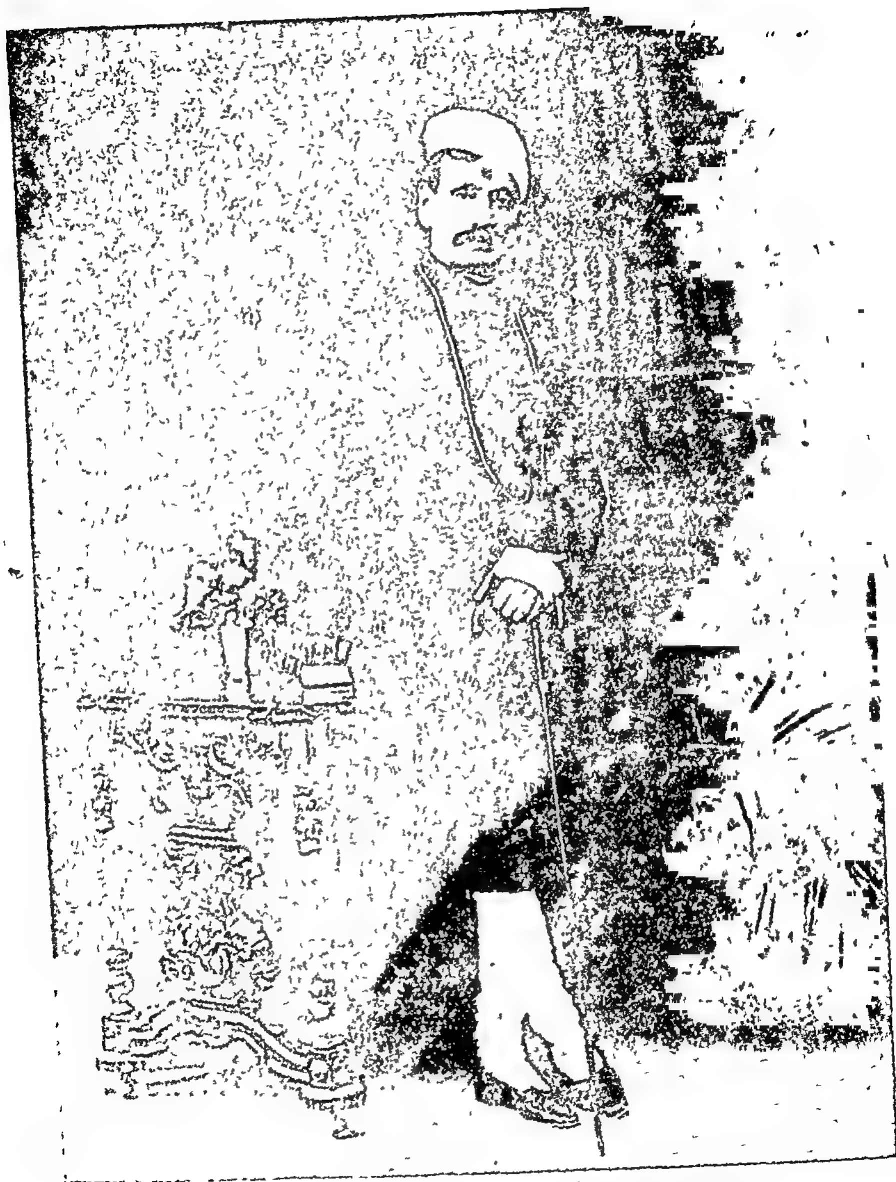
युग युग में धर्म और जातियों के सामाजिक कर्त्तव्य युग के अनुसार ही होते हैं। भूमि नदी, पर्वत, सिद्धदेव, ऋषि और सब पदार्थ काल ही के अनुसार होते हैं। इस प्रकार श्रुति-स्मृतियों में युगधर्मानुरोध से देश कालादिक के अनुसार मनुष्यों में धर्म भेद बताया गया है। यदि युगभेद से धर्म भेद की व्यवस्था प्रगतिशील समाज निर्माण के लिए नहीं होती, तो इस देश में हिन्दुओं की इस प्राचीन संस्कृति का कहीं अस्तित्व भी नहीं रहता। इस व्यवस्था के अभाव में इस प्राचीन जाति को विधर्मी कभी के हड़प गये होते। पर हमारे समाजवेत्ता बड़े दूरदर्शी थे उन्होंने काल की आवश्यकता के अनुसार समाज को समय समय पर वे अधिकार दिये, जिनके उपयोग से समाज की अभिवृद्धि हुई। वे जानते थे कि, यदि समाज नष्ट हो गया, तो न धर्म बचेगा और न संस्कृति। इसी युगधर्म की व्यवस्था पर इस प्राचीन जाति ने बाहर से आयी हुई सभी जातियों को अपनी संस्कृति में दीक्षित कर लिया था। इस पाचन शक्ति के बल पर इस जाति ने जीवन के सभी क्षेत्रों में अपार उन्नति की थी।

मगर आज यह सब वर्णन हमारे लिए अतीत काल की एक करुण कहानी है। यद्यपि आध्यात्मिक जीवन के चिह्न अब भी हमारी जीर्ण

शरीर-यष्टि में मिलते हैं। पर आज संस्कृतियों की प्रतिद्वन्दिता में हमारे समीप अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए कोई मार्ग नहीं है। आज प्राचीन काल की तरह धर्मभेद और युगधर्म के अनुसार चलने के लिए व्यवस्थाएँ कहां हैं? प्राचीन काल के वे मनुष्य धर्म-भीरु और समाज की मर्यादा रखनेवाले माने जाते थे, जो युग-धर्म का पालन करते थे। उस समय के शास्त्रकारों ने युग-धर्म के अनुसार समाज की रक्षा न करने-वालों को समाजद्रोही और धर्मद्रोही कहा है। पर आज अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है। आज प्राचीन संस्कृति और समाज की शक्ति-रक्षा के लिए युगधर्म के पालन करनेवाले धर्मद्रोही तथा अन्य क्या-क्या नहीं कहे जाते हैं। इस विशाल जाति की रक्षा के लिए किसी नई सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करने में हम धर्म का ह्रास मानते हैं। काल की गति के अनुसार जाति का तीव्रता से विनाश हो रहा है, पर हम फिर भी युग-धर्म का पालन नहीं करते। हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। आज हमारी यह कितनी चिंतनीय अवस्था है कि, हम उल्टे उन कार्यों का धर्म के नाम पर विरोध करते हैं, जो धर्म-भेद और युगधर्म के अनुसार धर्म-स्वरूप हैं। ऐसे लोगों ने, अपनी अज्ञानता से धर्म और समाज की अवस्था ऐसी संकट-मय कर दी है कि, हम किसी ओर भी अपनी उन्नति नहीं कर सकते। हमारा चारों ओर से घोर ह्रास हो रहा है। हमारे धर्म और हमारी जाति पर दूसरों का प्रहार हो रहा है, और हम निस्तेज, दीन और निरुपाय बने बैठे-बैठे देख रहे हैं। आज अवस्था यह है कि, एक ओर प्रगतिशील समाज-सेवक, समाज के जीवन के लिए हमारे सामने कोई व्यवस्था रखते हैं, और दूसरी ओर हमारे समाज के कथित पंच, धर्म के नाम पर, तुरन्त उसका विरोध कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, समाज के कुछ व्यक्ति अधिक तीव्रगामी हो जाते हैं, और उनमें अन्य संस्कृतियों के विचार भी प्रवेश पा जाते हैं, और दूसरी

ओर पुरातनवादी निषेधात्मक विरोध करते ही रह जाते हैं। इस निषे-धात्मक आन्दोलन से धर्म और समाज की कैसे रक्षा होगी? यदि हमें धर्म और समाज की रक्षा करनी है, तो काल और युग के अनुसार समाज की रक्षा के लिए व्यवस्था भी देनी चाहिए। इन व्यवस्थाओं से ही, धर्मभीरु समाज के नेता संस्कृति और समाज की रक्षा करने में भी समर्थ होंगे, समाज पर उनका नियंत्रण भी रहेगा और पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित तथा उग्र विचारों का अनुयायी अग्रगामी समाज-सेवकों का दल भी उचित मार्ग ग्रहण करेगा।

पर कुत्सित रूढ़ियों के दलदल में फंसे हुए लोग न तो धर्म का सच्चा स्वरूप समझते हैं और न युग-धर्म को जानते हैं। आजकल का कथित धर्माचार्य, पुरोहित तथा पण्डित-वर्ग समाज को ऊपर नहीं उठने देता। जिस प्रकार कुछ लोग इधर-उधर से धन प्राप्त कर देशभक्तों का दमन कराते हैं, उनके कार्यों में हर प्रकार से बाधा डालते हैं, और भारत-भूमि को परतंत्र रखने में सहायक बनते हैं, उसी प्रकार ये शास्त्र व्यवसायी प्रकृति के विपरीत, युगधर्म के कार्यों का विरोध कर हिन्दू जाति का नाश करने में संलग्न हैं। इनका यह द्रोह हिन्दू जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। किसी भी बात में नवीनता और कार्य-शक्ति अर्जन करना इनके लिए पाप है। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक और आर्थिक आदि क्षेत्रों में इनका [illegible] मनुष्यता को लजानेवाला होता है। वे यह नहीं सोचते कि, [illegible] अन्य देशों में क्या हो रहा है, उनके सिद्धान्त कहाँ तक हमारे लिए ठीक हैं, यदि वे उपयोगी हैं, तो हम उन्हें क्यों न ग्रहण करें; आदि। हमारी संस्कृति और धर्म इतने [illegible]हीं हैं कि, उनके ग्रहण-मात्र से वे हवा में उड़ जावेंगे। अगर हम ऐसा सोचते हैं, तो हम अन्य मजहबवालों के सन्मुख अपने धर्म की स्वयं ही भर्त्सना करते हैं। इस पर दुनिया हम पर हँसे तो क्या बेजा है। हमने अपनी जाति की रक्षा के लिए मुसलमानों और ईसाइयों से क्या



सुप्रसिद्ध सेठ स्वर्गीय दुलीचन्दजी ककरानिया

सीखा ? उनकी संस्कृति और बल पर भी क्या कभी कुछ सोचा ? क्या इसमें भी कुछ पाप है ? ओह ! जिन मुसलमानों तथा ईसाइयों ने जाति की रक्षा करनेवाले हिन्दू शास्त्रों के सूत्रों को आज अपने रंग में रंग लिया और जिनके द्वारा आज वे हमारे घर से अपने समाज की वृद्धि करने में लगे हैं, हम उनकी ओर दृष्टिपात करने में भी अधर्म मानते हैं। ईसाई और मुसलमान आज यह कहते हैं कि, कैसा भी पतित मनुष्य उनके मज़हब की शरण ले, वह तुरन्त ईसाई और मुसलमान हो जाता है और क्रिश्चियन तथा मुस्लिम समाज में समानता का अधिकारी होता है। यह भावना इन मज़हबवालों ने कहां से प्राप्त की ? क्या कोई भी शास्त्रज्ञ इसका प्रतिवाद कर सकता है कि, प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने सर्व प्रथम इस सिद्धान्त की रचना की थी। इसका कोई कैसे विरोध करेगा, जब कि, हम देखते हैं कि, इस सिद्धान्त के बल पर प्राचीन आर्यों ने विदेशों से आई हुईं शक, शाक्य और हूण आदि सभी जातियों को हज़म कर लिया था। आज ईसाई मत संसार में यह दावा करता है कि, स्त्री-जाति की रक्षा करने में केवल वही समर्थ है और मुसलमान भी कहते हैं कि, इस्लाम सभी स्त्रियों के पाप-मोचन की शक्ति रखता है, पर क्या उन्होंने यह सिद्धान्त मूल में हिन्दुओं से नहीं प्राप्त किया ? आर्यों ने सर्व-प्रथम "स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" की घोषणा की थी और यह व्यवस्था दी थी कि, किसी भी स्थिति में स्त्री हो, वह सदा ग्राह्य है। आर्यों ने कभी किसी भी कारण से स्त्रियों का परित्याग नहीं किया। ये ही तो ऐसे अमर सिद्धान्त हैं, जो किसी भी जाति की रक्षा के लिए प्राण-स्वरूप हैं और जिनकी रचना इस संसार में सर्व प्रथम हिन्दुओं ने की थी। अपने इन अमूल्य सिद्धान्तों को हम विधर्मियों को सौंप बैठे। अन्य मज़हबों की संस्कृतियाँ इन्हीं सिद्धान्तों पर हमारी जाति का विनाश करने में लगी हैं। आज हिन्दू जाति इतनी तेजी से घट रही है और हिन्दू-शक्ति तथा वैभव का नाश हो रहा है कि, पता नहीं कि, आगे चल कर अपनी ही मातृ-

भूमि में हमारी क्या अवस्था होगी। एक ओर निर्जीव हिन्दू पुजारी, महंत, आचार्य, पण्डित, मठाधीश, पुरोहित और शास्त्रज्ञ हिन्दुओं के लिए कायरता का वातावरण उत्पन्न करते हैं कि, वलि-पशु के समान उनका कोई भी हनन कर ले, और दूसरी ओर मुस्लिम फ़क़ीर, पीर, मुर्शिद, मौलवी, मौलाना, लेखक, अख़बारनवीस और रहनुमा आदि सभी के सभी इस्लाम को वढ़ाने की कोशिश में रहते हैं। फ़क़ीर तो जोंक की तरह हिन्दू स्त्रियों पर लगते हैं। मुस्लिम पेशेवाले—इक्केवाले, मनिहारीवाले, रंग-रेज, चूड़ीवाले तथा फेरीवाले आदि सभी तो अवसर मिलते ही हिन्दू स्त्री और वालकों को इस्लाम की भेंट करते हैं। आज मुसलमानों में वह वल, शौर्य और जातीय एकता है कि, संसार उसे एक जीवित जाति मानता है। वह जाति भी वड़ी से वड़ी सभ्य जाति से अपना लोहा मनवाती है। मुसलमानों का जातीय संगठन ही तो है कि, जिसके वल पर वे अपने हितों की रक्षा के लिए पच्चीस करोड़ हिन्दुओं की चिन्ता नहीं करते। हमने क्या कभी गंभीरता से सोचा कि, इन आठ करोड़ मुसलमानों की कैसे वृद्धि हुई। अभी उस दिन तक अफ़ग़ानिस्थान और काश्मीर, हिन्दू धर्म और सभ्यता के केन्द्र वने हुए थे। वहां के वीर आर्य वेदों का पाठ करते थे और आज वे ही अफ़ग़ान अपने पिछले धर्म को भूल गये। हिन्दुओं की यह शक्तिशाली जमात इस्लाम की मिल्कियत हो गई। वम्बई प्रान्त के खोजा-मुसलमान कौन हैं? उनसे पूछिये तो, वे आज भी कहेंगे कि, उनके पूर्वज औदीच्य ब्राह्मण तथा वैश्य थे। इस वंगभूमि में हिन्दुओं का जिस शीघ्रता से ह्रास हो रहा है, यदि वह प्रचलित रहा तो वह दिन दूर नहीं, जव यह प्रान्त भी काश्मीर वन जाय। वंगीय हिन्दुओं ने राजनीति, वमवाजी और पिस्तौल आदि चलाने में भले ही शौर्य दिखलाया हो, पर हमें इस कटु-सत्य को अवश्य कहना पड़ेगा कि, "माँ काली" के परम भक्त होते हुए भी, उन्होंने मातृ-शक्ति और अपनी जाति की रक्षा न अव तक की और न आज कर रहे हैं।

उल्टे वे अपने ही अन्य भाइयों से लड़ कर समाज में फूट पैदा कर रहे हैं और अपनी जाति को विधर्मियों का ग्रास बनने देने में सहायक बन रहे हैं। इस दुर्दशा पर न तो उन्हें चेतना होती है कि, हम अपने स्वधर्मियों से क्यों लड़ते हैं और न अपनी दयनीय अवस्था पर उनकी आंखों से दो आंसू ही टपकते हैं।

दुःख है कि, वर्णाश्रम धर्म की आवाज उठानेवाले हिन्दू भी इस स्थिति पर नज़र नहीं डालते। वे विधर्मियों के आक्रमण की इस बढ़ती हुई ज्वाला से बचने के लिए हिन्दू जाति के सन्मुख क्या उपाय रखते हैं? ऐसे आपत् काल में हिन्दुओं का क्या धार्मिक कर्त्तव्य होना चाहिए? आज विधर्मी लोग आठ करोड़ अछूतों को भी हम से छीनने के लिए प्राण-पण से चेष्टा कर रहे हैं। धर्म परिवर्तन के सिवा वे राजनैतिक दृष्टि से भी अछूतों को सवर्णों से पृथक् कर स्पर्श हिन्दुओं को अपने कर्मों पर रोती-सिसकती हुई अल्प-संख्यक जाति के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं। पर इस महान् अनिष्ट को महात्मा गान्धी ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर रोका। पूना के पवित्र समझौते से वे हिन्दू जाति में बने रहे, और हमारे कथित वर्णाश्रमी उल्टा उसी समझौते का विरोध करते हैं। मुसलमान और ईसाई तो यही चाहते हैं कि, वर्णाश्रमी हिन्दू दिल खोल कर ऐसा करें। वे वर्णाश्रमियों के मन्दिर प्रवेश निषेध आन्दोलन को देख कर हिन्दू जाति के विघटन पर खूब हँसते हैं और हम समझते हैं कि, अछूतों को देव दर्शन कराने से ही हमारे पतितपावन भगवान् भ्रष्ट हो जावेंगे और हमारा पवित्र धर्म रसातल को चला जावेगा! वैसे तो धर्म रसातल को नहीं जाता, पर हमारी इस करनी से जाति और धर्म— दोनों के रसातल चले जाने में सन्देह नहीं है। कोई क्या इन "धर्मभीरुओं" से नहीं पूछ सकता है कि, आज वर्णाश्रम धर्म की पुरातन मर्यादा कहाँ है। आज पूज्य ब्राह्मण क्या करते हुए पाये जाते हैं। जो ब्राह्मण आज स्टेशन पर पानी पिलावें, कुलीगिरी करें, रसोई बनावें, क्लर्की करें, दलाली

करें, गाड़ी हाँकें और न जाने क्या-क्या करें, वे क्या अब भी ब्राह्मण बने हुए हैं। जन्मजात होते हुए भी ऐसे कहे जानेवाले ब्राह्मण क्या वर्णाश्रम धर्म के पालक हैं? आज कितने क्षत्रिय क्षात्रधर्म का पालन कर रहे हैं। वे भी ब्राह्मणों के समान, दरबानी, कुर्की और अध्यापन आदि के पेशे में पड़ गए हैं। उनके क्षात्रधर्म के न पालन करने से ही भारतीय सेनाओं पर विधर्मियों का कब्जा हो गया। अनेक जाट और राजपूत मुसलमान बन गए और आज ब्रिटिश सेना में भारतीयों के नाम से डटे हुए हैं। वैश्य समाज यद्यपि व्यवसाय को थोड़ा बहुत अपनाये हुए है, पर धार्मिक अड़चनों से उसकी प्रगति भी अवरुद्ध है। अनेक ऐसे व्यवसाय हैं, जिन्हें हिन्दू वैश्य नहीं करते, और मुसलमान तथा अन्य जातियाँ उनके द्वारा लाखों-करोड़ों रुपये कमाती हैं। कुछ ऐसे धन्धे हैं, जिन्हें मुस्लिम श्रमजीवी ही करते हैं। मगर इतने पर भी हमारे धार्मिक नेता जब आठ करोड़ अछूतों को हिन्दू जाति से हाँक रहे हैं, तब हिन्दुओं की क्या अवस्था होगी? इन श्रमजीवी अछूतों के मुसलमान बन जाने पर हिन्दुओं के हाथ से कितने धन्धे न निकल जावेंगे। कोई यह कहे कि, अछूत क्यों मुसलमान होते हैं? जैसे आज तक रहे हैं, आगे भी रहें, तो क्या यह सम्भव है? क्या पूना के समझौते के पूर्व अछूतों के नेताओं का रुख हमने नहीं देखा? वे तो सवर्ण हिन्दू नहीं हैं, जो उन्हें बहकावेंगे। वे तो स्वयं उनके नेता हैं, जो अपने समाज के लिए न्यायपूर्ण अधिकार चाहते हैं। मगर जब हम पूना के समझौते का विरोध करते हैं, गौ-भक्षक मुसलमान और ईसाइयों के बराबर भी रामकृष्ण के उपासक तथा गंगास्नान करनेवाले इन हरिजनों को हिन्दू जाति की पंचायत में नागरिकता का अधिकार नहीं देना चाहते तो, वे क्यों हिन्दू रहेंगे? वे कालभेद के अनुसार अपनी उन्नति चाहते हैं, उनकी इस उन्नति से हिन्दू जाति की शक्ति बढ़ेगी और हिन्दूधर्म की महत्ता संसार को विदित होगी। अछूतों की धार्मिक और सामाजिक उन्नति होने पर भी ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय मिट नहीं

जावेंगे। वे फिर भी अपने-अपने धर्म का वर्णभेद के अनुसार पालन करेंगे। पतित-पावनी गंगा और पतित-पावन सीताराम तथा अन्य मन्त्रों में क्या इतनी भी शक्ति नहीं रही कि, वे किसी को पवित्र कर सकें? हमारे इन मंत्रों को माननेवाला तो अपवित्र का अपवित्र बना रहे, और उधर मुसलमान तथा ईसाई धर्मों के सूत्रों से, विधर्मियों को तुरन्त शुद्ध और पवित्र कर लें! वर्णाश्रमियों के इस आचरण में एक तो धर्म की महत्ता का सर्वथा तिरस्कार है, और दूसरे युग-धर्म की अवहेलना है। इस मनोवृत्ति के कारण हिन्दू जीवन के सभी क्षेत्रों में लुटे जा रहे हैं और हमारे धार्मिक तथा राजनैतिक नेता कर्त्तव्य हीन हो रहे हैं। इन सबका कारण यही है कि हिन्दुओं का जातीय संगठन छिन्न-भिन्न है। आज कौन उसका लोहा मानता है? हम जोर देकर कहते हैं कि, संसार तो इस हिन्दू जाति के आगे कल नतमस्तक हो जाय, यदि हम अपना घर आज सुधार लें। यदि सब हिन्दू जातीय संगठन के अंदर एक हो जाँय और संसार के सन्मुख उनकी एक आवाज उठे, तो हिन्दू पच्चीस करोड़ से कहीं अधिक हो जाँय और हिन्दू धर्म और संस्कृति से पोषित जातिवाले, जो हिन्दू होते हुए भी परस्पर बिछुड़े हुए हैं, हिन्दुओं में आ मिलें। उस दिन किसी हिन्दू बच्चे और हिन्दू स्त्री से वह चाहे किसी भी वर्ण की क्यों न हो, कोई विधर्मी छेड़-छाड़ करे, तो उसे सारी हिन्दू जाति का कोप-भाजन बनना पड़ेगा। क्या इस महान् शक्ति के अर्जन करने में भी धार्मिकता का नाश होता है? क्या हमारे आचार्य और पण्डितों का कर्त्तव्य नहीं है कि, वे जाति की वृद्धि में ही स्वास लें। कुल और जाति का नाश करनेवाला धर्मशास्त्र की दृष्टि से महापातकी होता है, तब हमारे शास्त्रज्ञ ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं करते कि, धार्मिक लोग आज के इस पाप से बचें और मूर्खतापूर्ण हठ छोड दें। यह होने पर ही इस देश में हिन्दू जी सकेंगे और एक जाति की तरह स्वास लेंगे। अन्यथा, अपने इन भावों के कारण आजकल उन पर दोहरी मार है। मुसलमान और अंग्रेज—दोनों के प्रहार

से वे कैसे बचें। अपने ही देश में हिन्दू हिन्दूपन कायम न रख सकें, और फिर भी वे अपने को वर्णाश्रमी तथा पतितपावन भगवान् राम व कृष्ण के भक्त कहें, यह कैसे परिताप की बात है! हिन्दुओं की सच्ची धार्मिकता तभी होगी, वे स्वराज्य का भी तभी अनुभव करेंगे, जब वे इस देश में अपना प्रभुत्व कायम रखने में समर्थ हों, संसार को अपना प्रेम और भ्रातृभाव बतला सकें। इन भावों में न तो साम्प्रदायिकता है और न देशद्रोहिता। हिन्दुओं का तो यही देश है। उनके लिए प्रयाग और काशी ही सब कुछ है। मुसलमानों के लिए मक्का, मदीना और ईसाइयों के लिए जेरुसेलम आदि स्थान हो सकते हैं पर हिन्दुओं के लिए बाहर कहीं कोई आशा नहीं है।

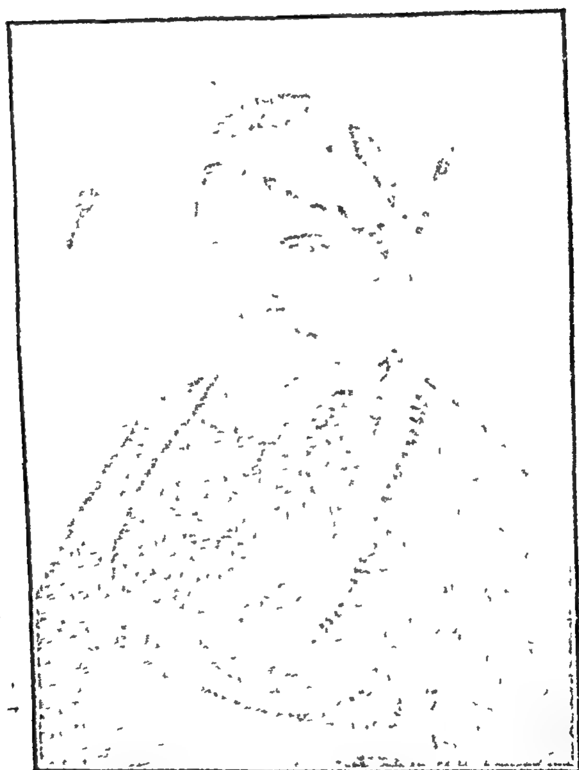
इस व्यथित किन्तु कठोर लेखनी ने यह सब वृतान्त इसी पवित्र उद्देश्य से लिखा है कि, यह विशाल हिन्दू जाति आज भी सजग हो जाय। कारण, हिन्दू जाति के अन्तर्गत सभी समाज हैं। उन सब की उन्नति समष्टि रूप से हिन्दू जाति की प्रगति से सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक समाज मनुष्यों के संघ से निर्माण हुआ है। संघ में शामिल होने पर ही मनुष्य एक सामाजिक प्राणी हुआ है। उसके भले बुरे होने की कसौटी भी समाज ही है। समाज से मनुष्य पृथक् नहीं रह सकता। कोई मनुष्य समाज से पृथक् रह कर चाहे वह मनुष्यता की सत्ता भले ही कायम कर ले, पर यह निश्चित है कि, वह सामाजिक अवयव नहीं है। इस विवेचन से अन्य धर्मों की संस्कृतियों का भले ही सामंजस्य न हो, पर हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की यही विशेषता है। हिन्दुओं की कौटुम्बिक प्रथा तथा संघ परिवार का रूप उनका अपना आदर्श है। ईर्ष्या और तृष्णा के मनोभाव में उक्त प्रथाएँ उपयोगी न प्रतीत हों, पर अतीत काल में हिन्दुओं ने उनसे अत्यधिक लाभ उठाया था। हिन्दू धर्म के नीतिकार तथा समाजवेत्ताओं ने इस दृष्टि से हिन्दू धर्म में विप्लव नहीं खड़ा होने दिया। क्रान्ति और युद्ध अच्छे हैं। पर हिन्दू समाजवेत्ताओं की

दूरदर्शिता के कारण बड़े से बड़े सुधार भी शान्तिपूर्ण उपायों से हुए हैं। उसे आप भले ही शान्तिपूर्ण क्रान्ति कहिये। यही भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। इस विशेषता के रक्षक हमारे पूर्वज ही रहे। उन पूर्वजों ने हिन्दू धर्म से प्रस्फुटित भिन्न-भिन्न दार्शनिक एवं नैतिक तत्वों से स्थापित समाजों को अखिल हिन्दू जाति से विलग नहीं होने दिया। राजस्थान के कट्टर सनातनधर्मावलम्बीय अग्रवाल वैश्यों ने जैन-धर्म के अनुयायियों से जो खान-पान तथा विवाह आदि का सम्बन्ध किया, वह जातीय भावना का एक उज्ज्वल उदाहरण है। इस प्रकार की व्यवस्था होने से आज भी कट्टर से कट्टर सनातनी अपने पुत्र व पुत्रियों की शादियां जैनियों के साथ कर धर्म से च्युत नहीं होते और न समाज उनका बहिष्कार ही करता है। राजस्थान के पूर्व पुरुषों का यह विश्वास था कि, जैनधर्म हिन्दूधर्म से पृथक् नहीं है। जैनियों की धार्मिक विचारधारा हिन्दूधर्म का ही दार्शनिक अंग है। यदि जैन, सिख और बौद्ध, हिन्दूधर्म से पृथक् हो जांय, तो हिन्दुओं में रहेगा क्या। इसलिए, हिन्दू महासभा का यह सिद्धान्त परम पवित्र है कि, आर्य, जैन, सिख और बौद्ध आदि—सभी हिन्दू हैं। सिक्खों के गुरुओं ने गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए प्राण दिये थे। वे सिख आज हमारी संकीर्णता के कारण हम से पृथक् रहें और अपनी जाति को हर समय पृथक् रूप से घोषित करें तथा हिन्दूधर्म के कार्यों में पूर्ण रूप से भाग न लें, यह हिन्दू जाति के लिए केवल परिताप की ही बात नहीं, लज्जा की भी बात है। आज बौद्ध तो हिन्दुओं से मिलने के लिए लालायित हैं, वे तो समय-समय पर कहते हैं कि, हमें अपने गले से लगा कर इस आर्य संस्कृति का संसार में प्रसार करो, परंतु हम निरुद्योग बैठे देखा ही करते हैं।

इस दिशा में कथित सुधारकों का दल और स्वामी दयानन्द के शिष्य भी व्यापक रूप से कार्यशील नहीं हुए। वे भी आज नयी व पुरानी रूढ़ियों से ग्रस्त हैं तथा सच्ची आत्म-शुद्धि करने में समर्थ नहीं हुए। समाज में

रहते हुए एक समाज-सेवक का कार्य सत्य और ज्ञान की खोज में आत्म-शुद्धि ही है। पर इसके लिए साहस, बल और त्याग की भावना चाहिए। बिना इन गुणों के कोई आत्मिक यज्ञ कैसे सफल हो सकता है? समाज-सेवकों का कर्त्तव्य है कि, वे कार्यशील बनें। वे जो कहें, उसे समाज में कर दिखावें। ऐसे ही कर्मवीरों का तो समाज पर प्रभाव पड़ता है। आज भले ही सारा समाज उनके पक्ष में न हो, पर यदि उनका पक्ष सत्य और न्यायानुमोदित है तथा उनके विचारों में समाज के कल्याण की सच्ची भावना निहित है, तो इसमें सन्देह नहीं कि, समाज का विरोधी दल भी शीघ्र ही उनका पक्ष ग्रहण करने लगेगा। ऐसे समाज-सेवकों को बड़ी चतुरता से अपना आन्दोलन करना चाहिए। सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन करना तलवार की धार पर चलने के समान है। उसमें आवेश, दुराग्रह, कलुषित भावना और छल प्रपंच को स्थान नहीं है। समाज में उनका जीवन ही चिरस्मरणीय होता है, जो कर्त्तव्यशील होते हैं। वाग्युद्धवाले सुधारकों की अपेक्षा, समाज को कठोर से कठोर यातनाएँ और कष्ट सहन करनेवाले सुधारकों की आवश्यकता है। आज ऐसे कितने सुधारक हैं, जो जिस बात को सभामंच पर कहते हैं, उसे सामाजिक अवसरों पर अपने आचरण में परिणत कर दिखाते हैं? समाज सुधारक का यह तात्पर्य नहीं कि, वह धर्म अथवा धार्मिक स्थानों को न मानें। पर यदि सुधारक यह देखे कि, धार्मिक पीठ के आचार्य महोदय अपने धार्मिक आचार्यपन की छत्रछाया में अवांछित कृत्य करते हैं, तो उनके विरुद्ध उसे अवश्य लड़ना चाहिए। हाँ, यह कार्य अत्यन्त कठिन है। पर उसकी इस लड़ाई से यह तात्पर्य नहीं कि, वह धार्मिकता तथा धार्मिक स्थानों को डुबा देगा। ऐसा वह कभी कहता भी नहीं है। धार्मिक आचार्यों के आचरण में जो अनीति ने स्थान ले लिया है, केवल उसीसे उसका युद्ध है। सामाजिक जीवन में मनुष्य को तीन प्रकार के नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हैं। एक हृदय में जो बात सत्य प्रतीत हो, उसे

मारवाड़ी समाज के प्रतिभासंपन्न



स्वर्गीय राजा शिवबक्सजी बागला

बोलने का, दूसरे जो अनिष्ट बोलता हो, उसे उचित शासन करने का और तीसरे जब तक वह शासन स्वीकार न करे तब तक अपना सत्याग्रह न परित्याग करने का। सच्चे सुधारकों में ही ये गुण होते हैं। ऐसे निर्दोष प्रवृति के सुधारक समाज का परम उपकार करते हैं।

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि, आर्य संस्कृति के आधार पर समाज का कितना प्रगतिशील संगठन था। जिन सत्यनिष्ठ, तपस्वी और दूरदर्शी धर्मवेत्ताओं का समाज पर शासन था, उनके आदेशों में कभी धर्म भेद तथा युग-धर्म का अभाव प्रतीत नहीं हुआ। महाभारतकार के शब्दों में वे जाति की रक्षा के लिए धर्म और बल की आवश्यकता मानते थे। उन्होंने यह प्रकट किया कि, धर्म और बल दोनों अविच्छेद्य हैं, जाति की रक्षा के लिए दोनों ही वांछनीय हैं। जिस जाति में बल नहीं, संख्या-वृद्धि नहीं, वह अपना धर्म कैसे पालन कर सकेगी? अपनी संख्या-वृद्धि के लिए ही तो आर्यों ने विजातियों में धर्म प्रचार किया था। उन्होंने धर्म की रक्षा के नाम पर लोगों को दुत्कारा नहीं—उनका तिरस्कार नहीं किया, अपितु उन्होंने पतित से भी पतित को गले लगाया और उन्हें संस्कार व दीक्षा द्वारा ऊंच स्थान दिया। वे सदा व्यावहारिक थे, ऐसे ही पुण्यार्थी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थाएँ देकर समाज पर नियंत्रण करते थे और यदि वे अनीति-मार्ग पर चलते हुए दिखलाई देते और उनके आदेशों से समाज की शक्ति का ह्रास होता तो, जैसा कि, ऊपर कह आये हैं, समाज के विचारशील सेवक उनके शासन का उल्लंघन करते थे। इस प्रकार उस समय धर्माध्यक्षों का शासन समाज पर था और समाज के हाथ में भी उनके अनीति का मार्ग ग्रहण करने पर प्रतिकार का उपाय था। अर्थात् विवेक को सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला हुआ था।

यहाँ हमने कुछ शब्दों में हिन्दू जाति की अतीत काल की अवस्था और वर्तमान दुर्दशा का चित्र इसलिए अंकित किया कि, मारवाड़ी समाज उसी विशाल जाति का एक अंग है। उसकी धार्मिक और सामाजिक

क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का मारवाड़ी समाज पर भी प्रभाव पड़ता है। हम यों भी कह सकते हैं कि, मारवाड़ी समाज हिन्दू जाति का एक धन-सम्पन्न अंग होने के कारण उसके अच्छे बुरे कार्यों का असर समस्त जाति पर पड़ता है। इस युग में तो प्रायः सभी कार्य अर्थ-बल से होते हैं, इसलिए उनके बुरे भले कार्य का बुरा और भला प्रभाव समाज पर पड़ता ही है। हमारे पूर्वज इस बात का ध्यान रखते थे कि, हमारे अर्थ से समाज में कोई अनाचार न हो, जाति के ह्रास में समाज की शक्ति न लगे। उस समय अन्य समाजों के समान मारवाड़ी समाज का सामाजिक संगठन भी उल्लेखनीय था। धार्मिक क्षेत्र के समान ही सामाजिक क्षेत्र में भी अनुशासन था। वैसे तो मनुष्य देवता नहीं है। बड़े बड़े न्यायाधीशों से भी गल-तियाँ होती हैं और जनमत प्रकट करनेवाली बड़ी बड़ी संस्थाओं का निर्णय भी कभी कभी किसी न किसी परिस्थिति से हितकारी नहीं होता। किन्तु, फिर भी उस समय जो लोग समाज द्वारा पंच मनोनीत होते थे, वे सत्यनिष्ठ, धर्मभीरु और व्यावहारिक तथा दूरदर्शी होते थे। धर्मभीरु होने के कारण वे गंगा-गायत्री से अधिक भय खाते थे और किसी के ऐश्वर्य तथा प्रभाव की चिन्ता नहीं करते थे। वे अपने प्राण देते थे, पर मिथ्या निर्णय से बाज आते थे। उन्हें क्षणिक सांसारिक लाभ की अपेक्षा परलोक का भय अधिक था। यही कारण था कि, उस समय की सामा-जिक पंचायतों में पंच पक्षपात रहित थे। केवल सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं, व्यापार, राजनीति और जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी ग्राम-पंचायतें काम करती थीं। इस पद्धति ने केवल राजस्थान के मारवाड़ियों में ही किसी समय स्थान लिया हो, सो नहीं। इसका सम्बन्ध तो आर्य संस्कृति से है। अत्यन्त प्राचीन काल से पंचायतों का रिवाज भारतवर्ष में रहा है। पंचायत आजकल की प्रजा-संस्थाएँ ही थीं। महाराज दशरथ ने अयोध्यावासियों को एकत्र कर पंचायत का आयोजन किया और यह पूछा कि, आप लोग कहें तो राम का राज्याभिषेक किया

जाय। गोस्वामी तुलसीदास ने उस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"जो पंचहि मत लागै नीका। करहु हर्ष हिय रामहिं टीका॥"

जिस प्रकार राम राज्य का यह अर्थ न था कि, किसी एक नरेश का आतंक हो, उसी प्रकार जनसमाज की पंचायतों का समाज पर शासन सेवा भाव और प्रेम से होता था। वहां विरोध का अभाव था। समाज और पंच—दोनों कर्त्तव्य के बंधन में बँधे थे। वे पंच समाज में अपने निर्णयों से आतंक पैदा करनेवाले नहीं होते थे। अपितु, वे अपने को समाज का अल्प सेवक मानते थे। वे अपने हठ तथा दुराग्रह से कभी कोई फैसला नहीं देते थे। पापिष्ट, दुराचारी तथा कुत्सित कर्म करने-वालों को कठोर से कठोर दण्ड देने में वे किसी के भी प्रभाव को अपने न्याय के बीच में नहीं आने देते थे। इस प्रकार दण्ड देने के साथ ही उनके हृदय में यह भावना भी निहित थी कि, उस व्यक्ति का भविष्य में चरित्र शुद्ध हो और वह सदाचारी बने। सामाजिक दण्ड पाने पर भी वह व्यक्ति इस अवस्था में नहीं डाला जाता था कि, वह जाति और समाज को छोड़ कर विधर्मी बन जावे। ऐसे व्यक्तियों के दण्ड में कौन आदमी निर्णय के विरुद्ध खड़े होते ? ऐसे अवसरों पर धर्मभीरु समाज में विद्रोह का लेश-मात्र चिह्न नहीं होता था। इसके अतिरिक्त जिन अन्य सामा-जिक कार्यों में पंचायतें निर्णय देती थीं, उनमें भी पंच व्यावहारिकता नहीं छोड़ते थे। अपने अन्तिम निर्णय के पूर्व विचाराधीन व्यक्ति को अनेक बार अवसर दिया जाता था कि, वह खूब सोचे विचारे कि, उसका यह कार्य समाज के लिए कहां तक हितकारी होगा। इस प्रकार उनका समाज से आदर्श सम्बन्ध था। इसलिए आज भी हम पर उस सामाजिक शासन की छाप है। यह पद्धति आज चाहे जैसी विकृत अवस्था में हो, पर प्राचीन समय में समाज और पंचों का मधुर सम्बन्ध हमारे लिए आदर्श था। उन्होंने जाति का कभी ह्रास नहीं होने दिया और न कभी किसी

आवश्यक सुधार के लिए कोई दुराग्रह किया। ऐसे सदाचारी और धर्मभीरु व्यक्ति ही उस समय सामाजिक कार्यों की व्यवस्था करते थे। पर आज मारवाड़ी समाज की क्या अवस्था है? समाज कितनी विछिन्न अवस्था में आ पड़ा है? पूर्वजों की परिपाटी पर चलनेवाले सच्चे व्यक्ति और वैसी पंचायतें कहां हैं? क्या आज ऐसी पंचायतें हैं, जो समष्टि रूप से समाज के मत की द्योतक हों। यदि नहीं, तो फिर उनका जनता पर शासन कैसा? समाज के संगठन तथा अनुशासन की आवश्यकता से कौन इन्कार करता है? पर दुःख तो यह है कि, आज हम में राजस्थान के पूर्वजों के वे पवित्र भाव नहीं हैं और न पंचायतों का समाज पर कोई प्रभाव ही है। इसका परिणाम यह हुआ कि, समाज में दलबन्दियां खड़ी हो गयीं। आज के पंच समाज की सत्ता और शासन का दुरुपयोग करते पाये जाते हैं। वे युगधर्म और धर्मभेद तो जानते ही नहीं। धर्म और समाज के सम्बन्ध में उनके विचार ही सब कुछ हैं और उनका निर्णय ही, एक मात्र निर्णय है। यही एक मात्र भावना उनमें काम कर रही है।

प्राचीन काल में, राजस्थान के पूर्वजों में, धर्मभीरु होने के कारण, भोग विलास तथा व्यभिचार के स्थान पर सदाचार और पवित्रता अधिक थी। इसी से वे व्यभिचारी को जाति वहिष्कार आदि का सर्वोपरि दण्ड देते थे। पूर्व पुरुषों ने व्यभिचार आदि पाप-कर्मों से समाज को बचाने के लिए ऐसे कठोर नियमों का निर्माण किया था कि, जिनके त्रास से किसी व्यक्ति को ऐसे दुष्कर्म करने का साहस नहीं होता था। ऐसे दुराचारी व्यक्तियों के सुधार के लिए कुटुम्बियों तथा निकटवर्ती सम्बन्धियों द्वारा दबाव डलवाया जाता था। इससे वह व्यक्ति भयभीत होकर सुधर जाता था, और इतने पर भी जो लोग सन्मार्ग पर नहीं आते, उन्हें अन्त में दण्ड दिया जाता था। समाज के नियन्त्रण के समय हमारे पूर्वज सावधानी, छानबीन और विचारशीलता का परित्याग नहीं करते थे।

यदि वे आजकल की तरह राग-द्वेष और आवेश में आकर समाज का फैसला करते, और अपने ही निर्णायक दल में व्यभिचारियों तथा कुमार्गियों को स्थान देते, तो हमारी सामाजिक व्यवस्था कभी की दूषित हो गई होती और इन संस्थाओं का लोप हो गया होता। यदि वे ज़रा भी अनीति करते, तो लोकमत बिगड़ उठता और उन्हें पंच के पद से तत्काल पदच्युत कर देता।

हम यह बात स्वीकार करते हैं कि, पंचों ने सत्य और ज्ञान को प्रकाश में लानेवाले अनेक आत्म-शुद्धि करनेवाले समाज-सेवकों को भी जनमत के विचार से कभी-कभी दण्ड दे दिया है। पर ऐसे जाति बहिष्कृत समाज-सेवकों का कुछ बिगड़ा नहीं। उल्टे अपनी कष्टसहिष्णुता और सेवा-भावना से उन्होंने अपना स्थान और भी अधिक शक्तिशाली बना लिया। समाज में लोग उनके भी अनुयायी हो गये। जब उनके कार्यों से समाज प्रभावान्वित हो गया, तब जातिदण्ड अपने आप उठ गया और तब उन पंचों ने भी उनके अनुसार समाज में व्यवस्थाएँ दीं। वे समाज-सेवकों के नैतिक मत पर जाति दण्ड देते हुए भी जबर्दस्ती का राज्य नहीं कायम करते थे। वे समाज की आन्तरिक शुद्धि और व्यवस्था बनाए रखने के लिए समाज का आदर्श और पवित्रता को नष्ट करनेवालों को जाति-बहिष्कार का दण्ड देते थे। उनके इस दण्ड में नीति और सदाचार की भावना थी। पर आज समाज के पंचों में वे सब संस्कार और सिद्धान्त कहां हैं? आज वे योरप के डिक्टेटरों की तरह समाज पर अपनी स्वेच्छाचारिता का आतंक जमाना चाहते हैं। उनका आज समाज पर कोई नैतिक प्रभाव नहीं है। इसके विपरीत आज वे धन, बड़प्पन और हुल्लड़बाजी के बल पर दूसरों का फैसला करते हैं। धर्मभेद से कोरे होते हुए भी धर्म का कांटा लेकर बैठ जाते हैं। उनका व्यक्तिगत चरित्र चिंतनीय होने से उनमें ऐसे लोग भी आ मिलते हैं, जो चरित्रहीन और व्यभिचारी होते हैं। ऐसे दुराचारी यह समझते हैं कि, वे यदि स्वयंभू

नेता—पंचों के दल में नहीं मिलते हैं तो, समाज-सेवक उनका जीवन दूभर कर देंगे। इसलिए ये पापिष्ट पंचों के दल में प्रवेश कर जोरों से धर्म और सदाचार की दुहाई देते हैं। इस स्थिति में ये पंच नामधारी महानुभाव पूर्वजों के समान कुकर्मियों के वहिष्कार की शक्ति नहीं रखते। उन्हें इसकी चिन्ता भी नहीं है। उल्टे वे ऐसे कृत्यों का पोपण करते हैं, जिनसे समाज में अनाचार फैलता है। उनमें न्याय और अन्याय सोचने की बुद्धि नहीं है। वे तो जाति दण्ड द्वारा ईर्षा और राग-द्वेप पूर्वक बदला चुकाते हैं। उनके इन कृत्यों से दुराचारियों पर समाज का कोई शासन नहीं हो सकता। वे उल्टे उन लोगों पर समाज का दवाव डालते हैं, जो अपने युगधर्म के विचारानुसार न्याय और पवित्रता की दृष्टि से समाज में सदाचार बढ़ाने के लिए जीर्ण-शीर्ण अनावश्यक रूढ़ियों में परिवर्तन करना चाहते हैं। उन भावी पीढ़ी के तरुणों पर इन पंचों का कोई असर नहीं पड़ता, जो निर्भयतापूर्वक अपने समाज की सेवा में संलग्न हैं। यदि मतभेद के कारण समाज सुधारकों का वहिष्कार उन्हें अभीष्ट है, तो वे पापिष्टों को भी क्यों नहीं निकालते। जव समाज में शरावी, व्यभिचारी और अन्य कुमार्ग-गामी खुले आम रहते हैं, तव सदाचार-परायंण सुधारक क्यों नहीं रह सकते? क्या इन पंचों में अपने मत पर दृढ़ रह कर, दूसरे के मत को सहन करने की शक्ति नहीं है कि, वे एकाएक समाज-सेवकों का वहिष्कार कर समाज में दलवन्दी खड़ी करने का पाप अर्जन करते हैं? समाज-सेवक अपनी ही जिम्मेदारी पर किसी सुधार के लिए खड़ा होता है, यदि उसका प्रयत्न सफल होगा, तो समाज उसे स्वीकार कर लेगा अन्यथा उसे अपने कार्य का फल स्वयं ही भोगना पड़ेगा। इस प्रकार का दायित्व लेकर जो सुधारक कोई काय करे उसका सामूहिक बहिष्कार कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता। हाँ, यदि कोई व्यक्ति व्यष्टि रूप से उससे सम्वन्ध न रखना चाहे तो उसे भी अपने विचार के अनुसार कार्य करने

की स्वतंत्रता होनी चाहिए। जो पंच दुराग्रहवश बहिष्कार आदि के आन्दोलन करते हैं क्या वे समाज-हितैषी, तथा धर्मानुयायी कहे जा सकते हैं ? धर्म तो वह है, जो जनता जनार्दन रूपी समाज की शक्ति बढ़ावे और आपद् काल में भी रक्षा करे। यह कितनी अज्ञानता-पूर्ण धारणा है, कि, किसी रूढ़ि विशेष की रक्षा के लिए समाज का बलिदान किया जाय, समाज के टुकड़े-टुकड़े हो जाँय और दुनियाँ हम पर हँसे। आज मारवाड़ी समाज में इसी प्रकार के स्वयंभू पंचों की कमी नहीं है। वे यह नहीं सोचते कि, धर्म, विश्व के हित का ध्यान रख कर व्यक्ति को सामाजिक कार्यों में प्रवृत्त करता है। इसलिए धर्मभीरु मनुष्य अनुभव करता है कि, जातीय-जीवन, उसका जीवन और उसीके कल्याण में उसका भी कल्याण है। इन आदर्शों से समाज के सच्चे धार्मिक पंच व नेता अपनी निजी उन्नति के लिए न पागल होते हैं और न अधिकारों के लिए युद्ध करते हैं। उनका नेतृत्व या शासन समाज में कलह व दलबन्दियों के स्थान पर संगठन का द्योतक होता है। उनका पारिवारिक तथा सामाजिक व्यवहार युगधर्म तथा धर्मभेद के आधार पर अवलम्बित है। इस दृष्टि से सच्चे समाज-सेवक इन सब व्यवहारों में अपनी आत्मा की अनुभूति करते हैं। वे दूसरों से प्रत्युपकार की आशा नहीं करते और न दूसरों का छिद्रान्वेषण करते हैं। इसी आदर्श का मारवाड़ी समाज के पूर्व पुरुषों ने पालन किया था। वे समाज में रहते हुए प्रगति तथा अप्रगति के नाम से स्वार्थमय धर्मान्धता या सामाजिक उच्छृङ्खलता—दोनों में से कोई क्यों न हो—का रोग नहीं पैदा करते थे। वे तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के प्रचारक थे। समाज पर शासन होता था, पर उस वातावरण में भी, मैत्री और करुणा के भाव होते थे। इस आदर्श से हमारे पूर्वज सामाजिक सुव्यवस्था से सहयोग और सहानुभूति की वृद्धि करते थे। सारा समाज उनका परिवार होता था।

समाज की व्यवस्था और शासन में उदारता होनी चाहिए। यदि

पुरातनवादी किसी मत में स्वतन्त्रता रखते हैं तो दूसरे लोग अपने मत के लिए रखते हैं। यदि उनके अन्तःकरण में यह प्रेरणा नहीं होती कि, अपने विरोधी मतवाले के साथ सामाजिक सम्बन्ध रक्खें, तो इसके लिए कौन उन्हें वाध्य करता है। पर इस मतभेद के कारण वे अन्य मनुष्योचित कार्यों में तो असहयोग न करें। वे तो तभी समाज-हितैषी कहे जावेंगे, जब अन्य सब कार्यों में, अपने उस मतभेद को न आने दें। क्या वे इस मतभेद का विचार विधर्मियों से व्यवहार करते समय भी करते हैं? समाज-कल्याण की यह उदार भावना होना हम सब में आवश्यक समझते हैं, फिर वे चाहें पुरातनवादी हों या समाज सुधारक। इस संकीर्णता का कीटाणु समाज को भक्षण करनेवाला है। दोनों में से किसी का धर्म नहीं है कि, वे इस रोग को समाज में फैलने दें। हम तो यही निवेदन करना चाहते हैं कि, मारवाड़ी भाइयो! अपने आत्म-गौरव को पहचानो, अपने तेज और स्वाभिमान की संसार में रक्षा करो। अपने-पराए का भेद हटा कर सारे समाज के कल्याण के लिए खड़े हो जाओ। अपने तुच्छ हृदय-दौर्वल्य को छोड़ दो। अपने गौरवपूर्ण इतिहास को परियों की कथा मत बनाओ। अब किस दिन की प्रतीक्षा में हो? यदि तुमने युगधर्म की ओर नहीं देखा, यदि तुम समय रहते सचेत नहीं हुए, तो पुनः बार बार सोचो कि, इस समाज का क्या होगा? तुम्हारा शासन, तुम्हारा धर्म—कहानी मात्र रह जावेगा—हमारा पुरुपार्थ केवल कल्पना बन जावेगा। इसलिए उन खराबियों से लड़ो, जो समाज का नाश कर रही हैं। मारवाड़ी समाज के सभी जातियों के वैश्यों का जीवन युद्धमय ही रहा है। हमारे पूर्वज हमसे आज भी यही चाहते हैं कि, हम समाज के कल्याण के लिए उठ खड़े हों।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृत निश्चयः।

समाजसेवी, गोभक्त और सुप्रसिद्ध जौहरी



स्व० राय बद्रीदासजी मुकीम बहादुर

प्राचीन व्यापार प्रणाली

प्राचीन काल में वाणिज्य-व्यापार प्रगतिशील होने पर भी उसका क्षेत्र सीमित था और वह सुगमता से किया जा सकता था। वह आजकल के समान जटिल तथा पेचीदा नहीं था। वर्त्तमानकालीन संसार व्यापी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में नित नये आविष्कार, नयी-नयी रीतियां और नये-नये आश्चर्यजनक साधन व्यवहार में आ रहे हैं। उस समय के सीधे-सादे व्यापार में इन सब बातों का नामोनिशान भी नहीं था। उस समय आजकल की तरह व्यापार, उद्योग-धन्धे और उत्पादन में प्रतिद्वन्दिता नहीं थी। राजस्थान के व्यापारी विदेशों तक में भारतीय वस्तुओं की कटती करते थे। पर आजकल तो रेल, तार, जहाज और टेलीफ़ोन तथा अन्य प्रकार के वैज्ञानिक साधनों ने हमारे व्यापार की अवस्था ही बदल दी है। आज हमारे व्यापारी बात की बात में अमेरिका और लिवरपुल के समाचार जान लेते हैं और हमारे यहां का समाचार उन देशों के व्यापारियों को मालूम होता रहता है। जरा जरा सी व्यापारिक समस्याएँ हमारे व्यापार को बनाती व बिगाड़ देती हैं। उस काल में आजकल की तरह, न कोई व्यापारी देखते देखते करोड़पति व लखपति बनता था और न तत्क्षण ही उसका टाट उलट जाता था। उस समय उत्पादन और व्यापार का श्रेणी-विभाजन प्रशंसनीय था। सब अपने अपने कार्य को करते थे। एक वर्ग दूसरे वर्ग का द्वेषी नहीं था। 'कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यं, वैश्य-कर्म स्वभावजम्।'—इस आर्य सिद्धान्त के अनुसार वैश्य समाज वस्तु उत्पादन करता और व्यापार में भाग लेता, तथा अपना व्यापार करते हुए अन्य जातियों के प्रति नैतिक कर्त्तव्य का अनुभव करता था। वैश्यों की व्यक्तिगत आवश्यकताएँ आजकल की तरह चढ़ी-बढ़ी नहीं थीं और उनका जीवन भी सीधा-सादा व कर्त्तव्य-परायण था। इसी से उनकी आवश्यकताएँ थोड़े से प्रयास से पूरी हो जाती

थीं। वैश्यों के इस आचरण से उनकी प्रगति किसी के लिए असह्य नहीं थी। तभी तो उस काल में श्रेणी युद्ध का नामोनिशान तक नहीं था। सर्वत्र शान्ति का वातावरण था। ग्राम-ग्राम में अन्नादि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति होती थी। पहनने के लिए हरएक ग्राम में वस्त्र तैयार हो जाते थे और भिन्न-भिन्न कारीगर अपने यहां खपत होनेवाली सभी आवश्यक वस्तुएँ भी तैयार कर लेते थे। इस प्रकार उस समय बड़ा सुन्दर संगठन था। सभी श्रेणी के लोग काम पाते थे। आजकल की तरह बेकारी भी नहीं थी। व्यापारी समाज झूठी प्रशंसा और मिथ्या बड़प्पन के लिए आय से अधिक खर्च नहीं करता था। जहां वे साधारण कामों में मितव्ययी थे, वहां देश और समाज के लिए अपने अर्जित धन का सदुपयोग करने में उदार थे। वैश्यों के इस व्यवहार से सभी वर्ग तथा श्रेणियों के लोग सुखी और सन्तुष्ट रहते थे। किसी का किसी के प्रति कोई विरोध नहीं था।

मारवाड़ियों की व्यापार-पटुता के कारण—

उस अतीत काल में वाणिज्य-व्यापार के सीधे-सादे क्षेत्र में मारवाड़ी समाज के पूर्व पुरुषों ने अत्यधिक व्यापारिक दक्षता प्राप्त की थी। उनके पैतृक गुण का उनकी संतानें आज भी उपयोग कर रही हैं। उनके व्यापारिक अनुभवों ने ही इस नवीन युग में भी मारवाड़ी समाज को गौरव प्रदान किया है। उस काल के मारवाड़ी समाज के पुरुषों की व्यापार-पटुता वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में आश्चर्यजनक थी। समाज के उन श्रद्धेय पुरुषों ने अपनी सन्तानों के सन्मुख व्यापारिक सफलता के लिए महान् आदर्श रक्खा था। यद्यपि उस समय आजकल की तरह विद्या प्राप्त करने की ओर विशेष ध्यान नहीं था, तथापि वाणिज्य-व्यापार के लिए लोग काम चलाऊ शिक्षा प्राप्त कर लेते थे और जो लोग कुछ नहीं सीख पाते थे, वे व्यापारिक अनुभव तो अवश्य ही प्राप्त करते थे। व्यापारिक अनुभवों के बिना केवल विद्या पढ़ लेना

व्यापारी समाज के युवकों के लिए किसी अर्थ का नहीं होता। उस काल में व्यापारी समाज के युवकों को अधिक न पढ़ा कर भी उपयोगी ज्ञान से बंचित नहीं रखा जाता था। वे व्यापारिक हिसाब-किताब में पूर्ण दक्ष होते थे। जिस युवक का मस्तिष्क गणित में परिपक्व नहीं होता, व्यापारिक क्षेत्र में वह क्या सफलता प्राप्त कर सकता है? पूर्वजों ने गणित की दृष्टि से ऐसे ऐसे सिद्धान्त भी समाज के सामने रखे थे, जिनसे लाभ तो अवश्य होता, किन्तु नुक्सान बिलकुल नहीं होता था। क्रय-विक्रय तथा लाभ-हानि में ये गणित के सूत्र ही हर समय सहायक होते थे। उनकी बताई हुई बातें आज इस युग में साधारण-सी दीख पड़ेंगी, किन्तु वास्तविक उपयोग जानने पर आज भी हम उनसे लाभ उठा सकते हैं। उदाहरण के लिए देखिये कि, "सागी बाँटे सो साह कहावे" इसका अर्थ यह था कि, अपना खर्च निकाल कर किसी व्यवसाय में 'दाम काम' कर लेने अर्थात् कुछ फायदा न उठानेवाला व्यापारी भी 'साह' कहाता है। व्यापारिक दृष्टि से यह सिद्धान्त कितना महत्वपूर्ण है, इसका अनुभव एक प्रकृत व्यापारी ही कर सकता है। यही एक बात ऐसी है जो कि, मारवाड़ी समाज का व्यापार-पटु होना प्रमाणित करती है। व्यापार का अनुभव-पूर्ण सिद्धान्त भी यही है कि, जहां तक सागी सट्टा अर्थात् दाम काम होता हो, वहां तक माल खरीदना और बेचना जारी रखना चाहिए। जो लोग यह सोचते हों कि, इस प्रकार एक भाव में क्रय-विक्रय करने से क्या लाभ है, और इस दृष्टि से लेवा-बेची को बन्द कर देते हैं—वे प्रकृत व्यापारी नहीं कहे जा सकते। वे व्यापारिक तत्वों से अनभिज्ञ ही रहते हैं। हमारे पूर्वज इस रहस्य को भली भांति जानते थे। किसी व्यवसाय में कुछ नफा न होने पर भी उसे वे चलाते थे। इस नीति का आशय यह था कि, उससे माल की कटती का सिल-सिला बना रहता था और ग्राहक टूटने नहीं पाते थे। इस सिलसिले में, बारह महीनों में जब कभी बाजार उनके अनुकूल हो जाता, तभी वे लाभ

उठाने का अवसर पा जाते थे। * इसके विपरीत जो व्यापारी कुछ लाभ होता न देख कर अपना व्यापार बन्द कर देते हैं, वे अन्त में कोरे रह जाते हैं। इस सरल नीति ने ही मारवाड़ी समाज के व्यापार की सारे देश में वृद्धि की थी।

आजकल की तरह उस समय सिक्कों का चलन एक समान नहीं था। ग्रामों में तो प्रायः वस्तुओं से ही परिवर्त्तन होता था। पर जहाँ उनका चलन था, वहाँ भी एक मापदण्ड के सिक्के नहीं थे। इस देश में यह अवस्था कुछ वर्ष पूर्व तक रही है। पर अब राजस्थान में भी सर्वत्र ब्रिटिश सिक्के का चलन हो गया है। किन्तु उस समय भिन्न-भिन्न प्रकार के रुपए और पैसों का चलन था। जैसे—जयपुर का झाड़शाही, बीकानेर का गज शाही, चित्तौड़ के चित्तौड़ी, अज़मेर के अज़मेरी, और शेखावाटी के सीकरी आदि और भी कितने ही प्रकार के सिक्के भिन्न-भिन्न रियासतों में चलते थे। एक रियासत का सिक्का दूसरी रियासत में बट्टे तथा बाधे से चलता था। सिक्कों का वज़न और चान्दी की घटा-बढ़ी से उनका भाव भी सदैव घटता-बढ़ता रहता था। राजस्थान के महाजन और सराफ सिक्कों के व्यवसाय में बाद बट्टा और भाव में रसकस बैठा कर लाभ उठाते थे। सिक्कों के वजन से भी उन्हें लाभ होता था। यद्यपि साधारण व्यक्ति को इस काम में कोई नफ़ा नहीं दिखता था, पर व्यापार-पटु-गणित में दक्ष मारवाड़ी व्यापारी तौल, चलन और सिक्कों की भिन्नता से थोड़ा-थोड़ा नफ़ा होने पर भी पूरा लाभ उठाते थे। इसलिए कहना न होगा कि,

* आजकल के सुधरे हुए व्यापारी अपने माल का विज्ञापन करने में बेहद रुपए खर्च करते हैं और उसी तरीके को सबसे अच्छा साधन समझते हैं। इसका कारण यही है कि उस विज्ञापनबाजी से माल खरीदने की लोगों में रुचि पैदा होती है। इससे माल की कटती बढ़ने लगती है। कोई भी व्यापार क्यों न हो, उसमें सफलता कटती के आधार पर ही होती है।

रसकस बैठा कर व्यापार को लाभप्रद बनाने की उनकी नीति समाज के लिए लाभदायक थी। समाज के लोग व्यापारिक-गणित में कितने दक्ष थे, इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। गणित द्वारा ही उनकी व्यापार-पटुता और अनुभव चढ़ा-बढ़ा था। इस अनुभव से ही जिस व्यवसाय में किसीको लाभ नहीं दिखता, उसी में चतुर मारवाड़ी व्यापारी नफ़ा कर दिखा देते थे। वे थोड़े थोड़े नफे से खासा लाभ उठाना भली प्रकार जानते थे। उदाहरण के लिए, किसी व्यापारी ने एक हजार मन चावल एक रुपए के आठ सेर की दर में खरीदे। उसमें से उसने आधे चावल अर्थात् पांच सौ मन साढ़े सात सेर के भाव में बेचे। और शेष पांच सौ मन साढ़े आठ सेर की निरख में बेचे। इस पर लोग पूछ सकते हैं कि, ऐसे व्यापारी को इस धन्धे में नफा हुआ या नुक्सान तथा उसे इस प्रकार का व्यापार आगे भी करना चाहिए या नहीं ? इसका उत्तर साधारण व्यक्ति, जो कि, न तो व्यापारी है और न गणितज्ञ ही, तत्काल कह देगा कि, आधा चावल रुपए में आधा सेर मन्दा बिका और आधा आध सेर तेज, इसमें नफ़ा-नुक्सान क्या ? ऐसी अण्डा-वंटी अथवा सागी सट्टा में क्या नफ़ा रक्खा है ? तब व्यर्थ ही इस खरीद-बिक्री को क्यों करना चाहिए ? मगर जो व्यापारी व्यापारिक-गणित में प्रवीण है और उसके प्राप्त अनुभवों से दूरदर्शी बन गया है, वह ऐसे धंधे में भी नफा देखेगा। वह ऐसे क्रय-विक्रय के व्यापार को ही प्रकृत व्यापार मानता है। वह उसी समय हिसाब करके बतावेगा कि, इस प्रकार की खरीद बिक्री में भी बाद बट्टा और तौल के अलावा उन्नीस रुपए नौ आने नौ पाई की बचत होती है–

आय	लागत
५०० मन चावल ७॥ सेर प्रति रुपए की दर में बिके—२६६६॥=)८	एक हजार मन चावल आठ सेर प्रति रुपए की दरमें खरीदे···५०००)

५०० मन चावल ८।। सेर प्रति रुपए वचत रही—१६।।-)।।।

की दर में विके—२३५२।।।≡)१ ५०१६।।-)।।।

५०१६।।-)।।।

यद्यपि इस प्रकार के परिश्रमशील व्यापार में फाटके के समान तुरन्त ही अत्यधिक नफा नहीं होता; तथापि इस थोड़े नफे से ही स्थायी व्यापार जम जाता है। पूर्वजों ने अपनी संतानों को इस प्रकार जो शिक्षा दी, उसी के वल पर तो उन्होंने सारे देश में व्यापार जमाया। उन्हें कभी यह संकोच नहीं हुआ कि, यह व्यापार छोटा है, इसे क्यों करना चाहिए और इतने दूर देश में इस थोड़े से नफेवाले धंधे में क्या रक्खा है? अपने पूर्वजों से अनुभूत शिक्षा पाये हुए मारवाड़ी व्यापारी ऐसी वातें कभी नहीं सोचते थे। वे साधारण ग्राम में धसकर भी अपना भाग्य चमकाने की भावना रखते थे। पूर्वजों ने अपनी सन्तानों को जो शिक्षा दी, वह यद्यपि आजकल के पढ़े लिखे नई सभ्यता के व्यापारियों को नगण्य-सी प्रतीत होगी और इन सभी वातों को सुनकर, वे नाक भौं सिकोड़ेंगे; किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि, उन्हीं सिद्धान्तों के अनुकरण से मारवाड़ी समाज व्यापार-पटु वना है। हमारे पूर्वजों ने व्यापार की वड़ी से वड़ी वात ऐसे साधारण रूप में वतायी थी कि, हम विना किसी गर्वोक्ति के कहेंगे कि, वड़े से वड़े व्यापारिक ग्रन्थों में भी सिद्धान्त रूप से उन शिक्षाओं का मिलना कठिन है।

हमारे पूर्वजों ने अपनी सन्तानों को व्यापार-व्यवसाय में प्रवीण वनाने के लिए आरम्भ से उनमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों प्रकार की शिक्षा का क्रम रखा था। जिस प्रकार एक वीर क्षत्रिय का पुत्र वचपन से तलवार चलाने की आदत डालता है, और अपने क्षेत्र में निर्भय वनता है, उसे वाल्यावस्था से ही यह अनुभव हो जाता है कि, किस साहस से दुश्मन से सामना करने की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार

हमारे पूर्वज अपने बालकों को उनकी किशोरावस्था से ही व्यापार की क्रियात्मक शिक्षा देने लगते थे। यही कारण था कि, युवावस्था प्राप्त होने पर वे सहज में बाणिज्य व्यापार चलाने में समर्थ होते थे। व्यापार धन्धे के सिवा किसी दूसरे अनावश्यक विषय की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं होती थी। व्यापारी समाज के बालकों को यद्यपि आजकल की तरह उच्च शिक्षा देने की व्यवस्था उस समय नहीं थी, तथापि पट्टी-पहाड़ा और गणित के अलावा बही-खाते तथा पत्र-व्यवहार की उपयोगी शिक्षा अवश्य दी जाती थी। हिसाब की कण्ठस्थ की हुई सरल रीतियां बड़े से बड़े व्यापारिक प्रश्न को तत्क्षण हल करती थीं। जो लड़का पट्टी-पहाड़ा, जोड़-बाकी, गुणाकार और भागाकार आदि गणित की शिक्षा प्राप्त कर लेता, उसे व्यापार की क्रियात्मक शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती थी। यह क्रियात्मक शिक्षा किस प्रकार दी जाती थी यह भी एक जानने योग्य बात है। इस शिक्षा का नाम हमारे पूर्वजों ने 'सराफी की दूकान' रखा था। यह दूकान कैसी होती थी, यह भी सुन लीजिए। किसी भी बालक को एक छोटी सी काठ की बक्स के साथ बाजार में किसी दूकान के चबूतरे पर बैठाया जाता था और छोटी छोटी ऐसी चीजें बेचने के लिए रखी जाती थीं जो कि बालकों को पसन्द हुआ करती थीं। जैसे कि खाटा-खटाई, चूर्ण-गोली, फुड़दड़ी-पटाका और कनका-गुड्डी आदि। ये सब चीजें प्रायः अपने हाथ से ही बना ली जाती थीं। इस प्रकार जब बालक दूकान सजा कर बैठता था, तो क्रय-विक्रय होने लगता था। छोटे छोटे बालक अपनी अपनी रुचि के अनुसार खाटा खटाई आदि चीजें खरीदने लगते थे और दूकान चल जाती थी। प्रति दिन दो आने, चार आने और आठ आने मुनाफे के बनने लगते थे। उसी समय से उन्हें ग्राहकों से बर्ताव करने की तथा उनकी रुचि परखने की शिक्षा मिलने लगती थी। उन्हें यह ज्ञान होने लगता था कि किस चीज के रखने से क्या फायदा है और किस चीज के रखने से नुकसान।

सारांश यह कि वाणिज्य व्यापार सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान उसी समय से बढ़ने लग जाता था। सब से बड़ी बात यह होती थी कि, आजकल हमारे बालक अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार दिनभर में दो आने, चार आने तथा रुपया दो रुपया खर्च कर फिजूलखर्च करने की आदत डाल लेते हैं, यह बात सराफी की दूकान करनेवाले बालकों में नहीं आ पाती थी। उनमें प्रति दिन कुछ कमा लेने का चस्का लग जाता था और आगे चल कर वे अनुभवी व्यापारी बन जाते थे। इस प्रकार शिक्षा पाये हुए बालक युवावस्था होने पर जब किसी भी व्यापार धन्धे पर बैठते, बिना विशेष प्रयास के सहज में काम करने लग जाते थे और धीरे धीरे सफल व्यापारी बनकर धनवान बन जाते थे। हमारे पूर्वजों ने इस क्रियात्मक शिक्षा का जो नाम 'सराफी की दूकान' रखा था, इससे उनकी दूरदर्शिता प्रकट होती है, क्योंकि वे जानते थे कि, इस छोटी सी सराफी की दूकान चलानेवाले बालक ही आगे चल कर अपने अनुभव से बड़े सराफ बन सकेंगे।

इस क्रियात्मक शिक्षा के अतिरिक्त वाणि[illegible] [illegible] से अवकाश ग्रहण किये हुए अनुभवी वृद्ध पुरुष जो घर [illegible] [illegible] थे, वे प्रति दिन अपने घर में तथा अपने मुहल्ले में बैठ [illegible] [illegible]कों को अनुभूत मौखिक शिक्षा देते रहते थे और व्यापारिक सूत्र [illegible] करते थे। बालकों को वे इस बात से अवगत कर देते थे कि, उन्हें बेचवाल की गरज से माल खरीदना और खरीददार की गरज से माल बेचना चाहिए। इसके सिवा बाद बट्टे का चलन और तौल आदि की भिन्नता तथा रसकस बैठाने का मार्ग बताते थे। उस समय अधिक विद्या पढ़ाने का प्रचार न होने पर भी वाणिज्य-व्यापार की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी और यही कारण था कि, मारवाड़ी समाज विद्या सम्पन्न न होने पर भी व्यावहारिक ज्ञान के कारण व्यापार-पटु बन जाने में सफल हुआ।

समाज में ओज से कार्य करनेवाले प्रसिद्ध



स्वर्गीय ताराचन्दजी जालान

हमारे पूर्वजों की यह निश्चित धारणा थी कि, व्यापार में रसकस बैठा कर उपार्जित धन से ही बरकत होती है। इस प्रकार धीरे धीरे पूंजी संग्रह करनेवाला व्यापारी अपव्ययी न बनकर कालान्तर में धनवान बनता है। उदाहरण के लिए हुण्डी के व्यापार को ही लीजिए। उसमें अवश्य ही फाटके के समान नफ़ा नहीं है। हुण्डी-चिट्ठी के धंधे में सवाया, ड्योढ़ा होने की बात तो क्या, पैसे रुपए का भी लाभ नहीं होता। उसमें प्रतिशत आना-दो आना नफ़ा होता है। मगर इतने नफे से ही वे सफलता पूर्वक इस धंधे को करते थे। इस व्यापार को उन्होंने सुदूर देशों तक फैला दिया था और वे सराफ कहाते थे। इन सराफों की इज्जत बड़े बड़े व्यापारियों से कहीं अधिक होती थी। वे आजकल के बैंकों के समान सभी कारबार करते थे। इतना ही नहीं, उनकी हुण्डियां विदेशी व्यापार में भी चलती थीं। जो माल समुद्र, नदी अथवा अन्य जोखम के मार्ग से जाता था, उसका वे बीमा भी लेते थे। बीमा सम्बन्धी जो पुर्जा लिखा जाता था, वह आजकल की बीमा कम्पनियों की तरह लम्बी चौड़ी शर्तों का 'कन्ट्राक्ट' न होकर, बहुत ही साधारण शर्तों का होता था। परन्तु, उसका अर्थ बड़ा व्यापक होता था। इससे यह भी पता लगता है कि, हमारे पूर्वज विशेष पढ़े-लिखे न होने पर भी लिखा-पढ़ी में बड़े दक्ष थे। उन पुर्जों में केवल यह लिखा होता था, कि "ताती-सीली, चोरी-जोरी के वे जिम्मेदार हैं।" इस बीमे को वे 'हुण्डा भाड़ा' कहते थे। बीमा किया हुआ माल यदि आग और जल से नष्ट हो जाता तथा चोर व डकैतों से लूट लिया जाता, तो बीमा लेनेवाले सराफ व पोद्दार उस हानि की पूर्ति ईमानदारी से बिना किसी हिचकिचाहट के करते थे। प्राचीन हुण्डा भाड़ों से पता चलता है कि, हमारे पूर्वज बीमा-व्यवसाय में कितने दक्ष थे और उन्होंने इन्हीं पुर्जों से विदेशी व्यापार में उन्नति की थी।

हुण्डी और बीमा—

हमारे पूर्वज व्यापार में माल की कटती को अत्यधिक महत्व देते थे। यद्यपि उस समय विज्ञापनवाजी और वेनियनशिप के साधन नहीं थे, किन्तु फिर भी उनके माल की सर्वत्र कटती होती थी। वे कटती होनेवाले माल के सम्वन्ध में लोगों की अभिरुचि पहले से जान लेते थे, और उन्हें यह भी अनुभव रहता था कि, अमुक स्थान में अमुक माल की खपत होगी। कहना न होगा कि, उन्हें इन वातों का वड़ा ज्ञान था कि, किस वस्तु का व्यापार कहां पर करना चाहिए। वड़ी से वड़ी मण्डी में यदि किसी वस्तु की खपत नहीं है, तो वे वहां उसका धन्धा नहीं करते थे। सुदूर प्रान्तों में भी, वे अपने माल की रफ्तनी लोक-रुचि के अनुसार करते थे। एक साधारण-सी वस्तु का कारवार, कटती के स्थान पर करने से उन्हें अधिक से अधिक नफा होता था। इस दृष्टि से क्रय-विक्रय करना सफल और होशियार व्यापारी का लक्षण था।

कटती का महत्व—

सराफ किसे रुपए कर्ज दे तथा माल किसे उधार छोड़ा जाय, इस सम्वन्ध के उनके अनुभवों का उपयोग आज भी विदेशी माल का आयात करनेवाले व्यापारी तथा वैंकों के एजेण्ट करते हैं। वे लेन-देन करने के समय उनकी आर्थिक स्थिति और नैतिक अवस्था पर ध्यान रखते थे। उनकी दृष्टि में उधार माल लेनेवाला व्यापारी परिश्रमी और मितव्ययी होना चाहिए, वे ऐसे ही पैकारों के हाथ माल छोड़ते थे। आजकल वैंकों के मैनेजर तथा विदेशी आफिसों के एजेण्ट अन्य शर्तें भी अपने व्यापारियों पर लादते हैं, पर मारवाड़ी व्यापारी ग्राहकों को इस साधारण-सी जाँच पर ही माल उधार देते थे। निश्चय ही उनका यह साहस था। उनके इस साहस की तुलना आज तक कोई भी व्यापारी जाति नहीं कर सकी। पर मारवाड़ी व्यापारी आज भी उधार माल वेचने में उसी साहस का परिचय देते हैं। इतना ही नहीं, व्यापार धंधे

उधार देने के सिद्धान्त और उनका अद्भुत साहस—

की अन्य बातों में भी साहस की बड़ी आवश्यकता है। यदि माल खरीदा जाय, तो क्या उसमें नफा ही होगा और घाटा नहीं लगेगा? रुपए नहीं मारे जावेंगे? चोरी, डाका, आग-पानी व नौकरी और कर्मचारियों की बेईमानी से नुक्सान नहीं होगा? ये सब ऐसी बातें हैं, जिन्हें सोचकर व्यापारी भीरु और कायर बन सकता है। पर मारवाड़ी व्यापारी इन सब आशंकाओं का विचार पहले से न कर समय पर ही करते थे। बात भी ठीक है, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति यह समझे कि, पहले तैरना आ जावे, तो पानी में उतरें, तो वह कभी भी तैराक नहीं हो सकता। यही बात अन्य आशंकाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। आशंकाओं के डर से ही यदि काम रुक जाय, तो संसार में कोई भी उन्नति का कार्य नहीं हो सकता। आज संसार में जो नये नये आविष्कार हो रहे हैं, यदि आशंकाएँ उनमें बाधक होतीं, तो ये बड़े बड़े आविष्कार हो ही नहीं पाते और संसार जड़वत् ही नजर आता। यही कारण था कि, हमारे पूर्वजों ने उपरोक्त आशंकाओं को असम्भव न समझ कर भी, उनकी पर्वाह नहीं की। वे जानते थे कि, किसी समय ऐसी आपत्ति आ सकती है। पर समय पर जैसा होगा, देखा जायगा। यही उनकी विशेषता थी, और इन्हीं विशेषताओं के कारण, विद्या-सम्पन्न न होने पर भी, मारवाड़ी समाज व्यापार-पटु बनने में समर्थ हुआ।

मारवाड़ी व्यापारियों में यह एक स्वाभाविक विशेषता है कि, वे साहस के साथ वाणिज्य-व्यापार करते हैं। उनकी यह प्रकृति आज की नहीं, किन्तु प्राचीन काल से चली आती है। इसकी शिक्षा उन्हें अपने पूर्वजों द्वारा ही प्राप्त हुई। मारवाड़ी व्यापारियों ने जिस प्रकार प्रान्त-प्रान्त और ग्राम-ग्राम में कारबार जमाया, उसमें भी उनका साहस पर्याप्त रूप से प्रकट होता है। कोई भी प्रान्त अथवा कोई भी ग्राम या नगर क्यों न हो, वहाँ के स्थानीय व्यापारी भी जहां किसी को उधार माल नहीं देते, वहाँ मारवाड़ी व्यापारी खुशी से उधार माल देते देखे जाते हैं। हमारे

पूर्वजों ने शिक्षा स्वरूप यह सिद्धान्त बना रक्खा था कि, उधार माल बेचना भी सफल व्यापारी का लक्षण है। ऐसे व्यापारी साधारण नफे के सिवा, अतिरिक्त नफा उठाने में समर्थ होते हैं। वे कहा करते थे कि, उधार खरीदनेवाला पैकार स्थायी ग्राहक बन जाता है और माल की विशेष कटती का एक अच्छा जरिया निकल आता है। उधार माल किसके हाथ बेचना तथा किसके हाथ न बेचना इसकी भी उन्होंने व्याख्या की थी। उनका कहना था कि, उधार माल छोड़ने में वही व्यापारी सुदक्ष होता है, जो उधार माल लेनेवाले पैकार की आर्थिक स्थिति का ज्ञान रखता है। वे यहाँ तक जानते थे कि, यद्यपि असुक पैकार के पास व्यापार करने के लिए नगद रुपए नहीं हैं, तथापि उसका नैतिक व्यवहार अच्छा है, लेन-देन साफ करता है और मितव्ययी है; घर-बार, जगह-जमीन का भी कुछ सहारा है, उस व्यापारी को उधार माल देने से एकबारगी अपनी रकम नहीं मारी जायगी। उनका कहना था कि, इस प्रकार का आवश्यक ज्ञान रखनेवाला व्यापारी ही उधार माल बेचने का अधिकारी होता है और इस प्रकार के व्यापार से वह यथेष्ट लाभ उठाता है। उनका यह भी कथन था कि, जिस पैकार का लेन-देन सन्तोषजनक नहीं है, आर्थिक अवस्था अच्छी होने पर भी जो अपव्ययी है, अपने कारबार में जो स्वयं न खट कर दूसरे-दूसरे मुनीम-गुमास्तों पर निर्भर रहता है, जिसकी नैतिक स्थिति संदिग्ध है, उसे उधार माल नहीं देना चाहिए। ऐसे पैकारों के हाथ जो व्यापारी उधार माल छोड़ते हैं और उसकी वास्तविक परिस्थिति परखने में भूल करते हैं, वे हानि उठाते हैं। कहना नहीं होगा, कि, उधार माल बेचने के लिए हमारे पूर्वजों की जो यह शिक्षा है, मारवाड़ी व्यापारियों ने अब तक उसी का अनुकरण किया है। इसी से आज भी वे साहसी व्यापारी माने जाते हैं।

अपने इन पैतृक गुणों के कारण एक मारवाड़ी बालक अपनी किशोरावस्था में ही, किसी भी व्यवसाय की दूकान में बैठने की योग्यता प्राप्त

कर लेता है। वह अधिक शिक्षा न पाने पर भी दो पैसे बचाने की योग्यता रखता है। वह ग्राहकों से वर्त्ताव करने में भी निपुण होता है। आजकल के बैंकों के मैनेजर और कम्पनियों के व्यवस्थापक रुपया और माल उधार देने के समय जिन बातों को अपने ग्राहकों से जानना चाहते हैं, मारवाड़ी युवक उससे कहीं अधिक अपने ग्राहकों की अवस्था जानने में चतुर होते हैं। नयी शिक्षा से दीक्षित किसी अन्य जाति के पुरुष को व्यापारिक मामले में कोई भले ही भुलावे में डाल दे, पर मारवाड़ी युवक को किसी चक्कर में डालना अत्यन्त कठिन है। वह व्यापार-धन्धे की बारीकियां जानने में चतुर होता है। विदेशी व्यापार की पेचीदगियां तथा अंग्रेजी भाषा न जानने पर भी अपने इसी पैतृक गुण के कारण मारवाड़ी व्यापारियों ने विदेशियों से सफलतापूर्वक व्यापार किया और सर्वत्र लाखों व करोड़ों रुपये ईष्ट इण्डिया कम्पनी के काल से अब तक अर्जित किये। इन्हीं गुणों के कारण मुफस्सिलों का व्यापार भी वे अपने हाथ में रख सके।

इस प्रकार सर्वत्र व्यापार में प्रसार करते हुए मारवाड़ियों ने यह नहीं सोचा कि, अमुक धन्धा छोटा है, उसे हम क्यों करें? हमें तो लाख-करोड़ रुपये कमाने का जब कोई काम मिले, तभी हाथ डालें। जब तक ऐसा समय न आवे, तब तक या तो किसी की नौकरी कर लें या बेकारी के नाम को रोते हुए अपने घरों में बैठे रहें। उनका यह भाव हरगिज नहीं था। आजकल की तरह बड़ी से बड़ी नौकरी की अपेक्षा वे छोटा धन्धा अपने लिए आदरणीय समझते थे और बेकार रहना तो जानते ही नहीं थे। कोई सुयोग न मिलने पर भी वे कहीं कोई छोटी दूकान खोल कर बैठ जाते और इस प्रकार अपनी उन्नति का मार्ग बन्द नहीं रखते। व्यापार बड़ा हो या छोटा, उनका यह सिद्धान्त-सा था कि, 'व्यापारे बसते लक्ष्मी।'

उस काल में व्यक्तिगत व्यवसाय की प्रथा अधिक प्रचलित थी।

साझेदारी के सिद्धान्त—

आजकल की तरह लिमिटेड कम्पनियों के रूप में व्यवसाय नहीं होता था। पर कहीं कहीं कुछ आदमी मिल कर साझेदारी में व्यवसाय करते थे। इस साझेदारी में वे बहुत सोच समझ कर प्रवेश करते थे। साझेदार जब भली प्रकार यह जान लेते कि, किसी के मन में व्यक्तिगत स्वार्थ और भेदभाव की भावना नहीं है, तभी साझेदारी की जाती थी। साझेदारी शुरू हो जाने पर अपने कारबार को सफल बनाने के लिए वे उत्साहपूर्वक भाई भाई की तरह अपने कार्य में जुट जाते थे। काम करने की योग्यता में एक हलका और दूसरा भारी होने पर भी व्यापार की सफलता का श्रेय एक-दूसरे को देते थे। एक बार साझेदारी में काम शुरू हो गया तो, जहां तक सम्भव होता, वे उसे वर्षों तक ही नहीं; किन्तु जीवन-पर्यन्त निभाने की चेष्टा करते थे। आज साझेदारी की और कुछ दिनों बाद ही तोड़ दी, इस कार्य को वे बहुत ही घृणित और अपमानकारक मानते थे। उनकी यह निश्चित धारणा थी कि, असमय में साझेदारी तभी टूटती है, जब किसी साझेदार ने व्यक्तिगत रूप से कोई स्वार्थ साधन किया हो। इस प्रकार साझेदारी न रहने पर सर्व-साधारण में नाना प्रकार की आलोचनाएँ हुआ करती थीं। कोई किसी को और कोई किसी को दोषी बताने लगते थे। इस प्रकार की बदनामी से हमारे पूर्वज बहुत डरा करते थे और साझेदारी बहुत सोच-समझ कर करते थे।

एक बात के लिए वे बड़े सतर्क रहते थे। यदि कोई साझेदार अपने कारबार सम्बन्धी लाभ का श्रेय तो आप लेना चाहता और सर्वसाधारण के सन्मुख हानि का जिम्मेवार अपने साथी को प्रकट करता, या यों कहिये कि सर्व-साधारण में अपने को बहुत होशियार और अपने साझेदार को बुद्धू बताने की चेष्टा करता तो इस आचरण को वे सहन नहीं करते थे। ऐसी बातों को वे साझेदारी के व्यवसाय में बहुत बड़ा बाधक ही नहीं;

किन्तु भविष्य के लिए उस कारबार को मटियामेट कर देनेवाला भयंकर कारण मानते थे। उनकी यह निश्चित धारणा थी कि, जिस साझेदारी के काम में किसी सदस्य द्वारा इस प्रकार का आचरण होने लग जाय, वह साझेदारी नहीं चल सकती। इसलिए उस साझेदारी को जहां तक हो सके, राजी-खुशी तोड़ देनी चाहिए।

थोड़े नफे से स्थायी लाभ—

व्यापार-व्यवसाय में निश्चित लाभ होने के लिए उन्होंने विशेष नियम बना रक्खे थे। उस समय मारवाड़ी व्यापारियों का यह महत्वपूर्ण लक्ष्य रहता था कि, वे कहीं भी कोई काम करें, सर्व-साधारण की सम्मति से करें। लोकमत अपनी ओर आकर्षित कर लेने से जनता से उन्हें अपने धन्धे में सभी प्रकार का सहयोग मिलता था। वे उत्पादक और खरीदार—दोनों को सुविधाएँ देना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनका यह ध्येय रहता था कि, माल के उत्पादकों को अपने माल के क्रय-विक्रय के लिए भटकना न पड़े और साधारण जनता अपने कस्बों में सभी प्रकार की वस्तुएँ सुविधा पूर्वक पा सके। इस ढंग से उन्हें थोड़ा नफा भी होता, तो वे यह मानते कि, हमारी स्थिति व्यापार में जम रही है। 'आटा समाता लूण' के अनुसार नफा करनेवाले व्यक्ति को वे सच्चा वैश्य मानते थे। जो व्यापारी अपने व्यवसाय में ड्योढ़ा और दूना लाभ उठाता, उसे वे कभी साहूकार और प्रकृत व्यापारी नहीं कहते थे। व्यापारी समाज में उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती थी। इस प्रकार के नफे को तो वे कूंजड़ों का व्यापार कहते थे। कहना न होगा कि, उनकी व्यापार प्रणाली बड़ी सात्विक थी। वे व्यवसाय के नाम पर ग्राहकों का शोषण नहीं करते थे। उनकी यह धारणा थी कि, रसकस बैठा कर अधिक से अधिक रुपये में एक पैसा नफा करने पर वे बाजार में अपना माल अधिक से अधिक खपा सकते हैं। उनका कहना था कि, ड्यौढ़ा और दूना करनेवालों के यहां कभी

'टोडे' * नहीं झुकते। किन्तु आटे में नमक के समान नफा उठानेवाले व्यापारी समय पाकर कोट्याधीश हो जाते हैं। पर आजकल जहां लाखों-करोड़ों का फायदा होता है, वहां लाखों-करोड़ों का नुकसान भी बात की बात में होता है। आज तो यह अवस्था देखी जाती है कि, लाख-पचास हजार का नफा समझ कर लोग बाजार में जाते हैं और सायंकाल लाख-पचास हजार का नुकसान देकर लौटते हैं। मगर हमारे पूर्वजों ने ऐसे नफे नुक्सानवाले धंधे को कभी प्रकृत व्यापार नहीं माना था। ऐसे व्यवसाय में फाटकेबाजी का कीटाणु बना रहता है। ऐसे नफे-नुक्सान वाले धंधे के लिए यह सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होता कि, 'व्यापारे वसते लक्ष्मी।' वाणिज्य-व्यवसाय का साधारण रूप यही है कि, उसमें यदि नफ़ा नहीं हो, तो नुक्सान भी नहीं हो, इसीका नाम वास्तविक व्यापार है। ऐसे प्रकृत व्यापार करनेवाले व्यापारियों का टाट नहीं उलटता। दैवी घटनाएँ ही उनके व्यवसाय को जब-तब भले ही हानि पहुंचाती हों; अन्यथा ऐसे प्रकृत व्यापारी जनता के लिए भी आदरणीय होते हैं और वे पीढ़ियों तक अपना यश तथा वैभव बनाये रखते हैं। क्रम-क्रम से धन संचय करनेवाला व्यक्ति उसकी र- करने में भी समर्थ होता है। अनेक लोग मौका मिलने पर धन ने . र लेते हैं, पर उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते। [illegible] क्रम: [illegible] नी अक्ल की आवश्यकता होती है, उससे कहीं अ[illegible] और उचित व्यय के लिए होती है। स्थायी और [illegible]शील व्यापार से धन कमाने पर शान्ति और सुख का अनुभव होता है। इसके विपरीत फाटके आदि अनुत्पादक व्यवसाय से धन तो कमाया जा सकता है, परन्तु ऐसे व्यापारी के हृदय में यह चिन्ता बनी रहती है, कि वह धन स्थिर रह सकेगा या नहीं। हम यहां फाटके की आलोचना करने नहीं बैठे, परन्तु हम समाज के कल्याण तथा अभ्युदय के लिए यह कामना करते हैं कि,

* हवेली नहीं बनती।



स्वर्गीय रामकिशनदासजी बावलिहका

हम अपने पूर्वजों का अनुकरण करते हुए देश के प्रकृत व्यापार में लगें। समष्टि रूप से समाज के युवकों का फाटके में लगना वांछनीय नहीं है। फाटका तो वे लोग कर सकते हैं, जो उस माल के व्यवसाय को करते हैं। व्यापार में फाटके का कार्य मांग खड़ी करने तथा रफ्तनी करने का है। वह भाव में आई हुई जोखम को दूर करता है। मारवाड़ी समाज के व्यापारियों को इन्हीं भावों से प्रेरित होकर व्यापार करना चाहिए। नवयुवकों तो उत्पादक व्यवसाय (Productive Business) में उन्नति कर समाज का गौरव बढ़ाना चाहिए। ऐसे युवकों की सेवाएँ ही समाज के लिए उपयोगी होंगी।

अन्य प्रान्तों में व्यापारिक प्रगति—

पूर्वकाल में जब तक समाज की आवश्यकताएं सीमाबद्ध रहीं, तबतक हमारे पूर्वज अपने निवासस्थान राजपूताने में ही अपना वाणिज्य-व्यापार चलाते रहे। उसके बाद समय ने पलटा खाया। समय के परिवर्तन के अनुसार उनकी आवश्यकताएं बढ़ने लगीं, तो वे वाणिज्य-व्यापार के लिए अन्य प्रान्तों में भी जाने लगे। दिल्ली, आगरा, कानपुर, भिवानी, हिसार, भटिंडा, लुधियाना, अमृतसर, लाहौर, उज्जैन, इन्दौर, मन्दसौर, कटनी, सतना, जब्बलपुर और हैदराबाद तथा करांची आदि अनेक व्यापारिक स्थानों में जाकर वे व्यापार करने लगे। इन स्थानों में उन्हें सफलता मिली, तो वे देश में और भी आगे बढ़े। जिन प्रान्तों में वे पहले कभी नहीं गये थे वहां भी पहुँच गये। राजस्थान से चलकर व्यापार-धंधे के लिए अन्य प्रान्तों में उनका अग्रसर होना वास्तव में साहसपूर्ण कार्य था। मार्ग में अनेक कठिनाइयां थीं। अन्य साधनों का भी प्रायः अभाव था। जिस अल्प साधन के साथ कठिन से कठिन परिस्थिति में हमारे पूर्वजों ने अन्य प्रान्तों में जाकर अपना व्यापार जमाया, उसे देखकर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। क्या देशी और क्या विदेशी—सभी व्यापारी, मारवाड़ियों के इस अभ्युदय से आश्चर्या-

न्वित हुए विना नहीं रहते। कहीं-कहीं पर तो उनकी व्यापारिक प्रगति दूसरों के लिए ईर्ष्या-जनक भी हुई। उनकी असाधारण परिश्रम-शीलता कार्य-तत्परता, व्यापार-पटुता, मिलनसारी और सादा जीवन तथा मितव्ययिता आदि उनकी सफलता के कारण थे—ये ही अनेक गुण उनकी व्यापारिक सफलता की अमूल्य निधि थे।

अपने इन्हीं गुणों के वल पर वे समस्त भारतवर्ष में फैल गए और विविध प्रकार से स्वदेश के व्यापार धंधों में हाथ वंटाने लगे। उस समय मिरजापुर और फर्रुखावाद—व्यापार की प्रसिद्ध मंडियां थीं। हमारे पूर्वजों ने वहां पर वड़ी वड़ी कोठियां खोलीं और देखते देखते वाणिज्य-व्यापार में अग्र स्थान प्राप्त किया। मिरजापुर में सेठ अणतरामजी पोद्दार तथा सेठ सेवाराम रामरिखदास सिंहानिया की दूकानें उस समय वड़ी प्रसिद्ध थीं, जिनका व्यापारिक सम्वन्ध वंगाल, विहार और उड़ीसा से था। उस समय माल का याता-यात नदियों द्वारा होता था। जो माल आज गाड़ियों और रेलों द्वारा आता जाता है, वह उस समय नौकाओं में नदियों द्वारा आता जाता था। नदियों का यह व्यापारिक [illegible]योग वड़ा महत्व पूर्ण था। इन्हीं नदियों के तटपर वड़े वड़े घाट [illegible]हां पर माल उतरता चढ़ता था। मिरजापुर और फर्रुखावा[illegible] [illegible]ाट वड़े प्रसिद्ध थे। वंगाल, विहार और उड़ीसा की सभी नौक[illegible] [illegible]मरजापुर घाट पर लगती थीं। मारवाड़ी समाज के पूर्वजों ने इन स्थानों पर अपना व्यापार विस्तार किया और अपनी वड़ी-वड़ी कोठियाँ खोली। सच तो यह है कि, उस समय उन्होंने मिरजापुर और फर्रुखावाद को वाणिज्य-व्यापार का केन्द्र वना दिया था।

मिरजापुर और फरुखावाद में जिस प्रकार सेठ अणतरामजी पोद्दार और सेठ सेवाराम रामरिखदास के फर्मों ने वाणिज्य-व्यापार और वीमा आदि के कार्य में वड़ा नाम पाया, उसी प्रकार लक्ष्मणगढ़ के गनेड़ीवालों ने भी हैदरावाद (दक्षिण) में वड़ी उन्नति की। वे हैदरावाद राज्य के खजाञ्ची

भी बने। इसी राज्य में पित्तियों के घराने ने राज-सम्मान प्राप्त कर राजा की पदवी पाई तथा दक्षिण भारत में वाणिज्य-व्यापार में भी बड़ी उन्नति की। मध्य प्रदेश में सेवाराम खुशालचंद फर्म के मालिक राजा गोकुलदास ने ईष्ट इण्डिया कम्पनी के समय व्यापार में यथेष्ट उन्नति करने के साथ ही बड़ी जमींदारी भी प्राप्त की। इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी मारवाड़ी जाति के व्यापारियों ने उन्नति की।

यहां, यह भी उल्लेखनीय बात है कि, व्यापारी समाज का राजसत्ता से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। मगर मारवाड़ी व्यापारियों ने यह सम्बन्ध रखते हुए भी देश के राजनैतिक स्वत्वों और आर्थिक हितों की कभी अवहेलना नहीं होने दी। उस काल में अवस्था यह थी कि, सर्वत्र मैदान खुला पड़ा था—जो चाहता वाणिज्य-व्यापार में सभी कुछ हस्त-गत कर लेता। पर मारवाड़ी व्यापारियों की व्यापार-पटुता के सन्मुख अन्य सभी लोग आगे आने से लाचार थे। अतः दूसरों को उनके साथ अथवा उनके द्वारा ही व्यवसाय करना पड़ता था।

इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं कि, हमारे पूर्वजों की अपनी राजसत्ता न होने पर भी वे देश के हानि-लाभ का ख़याल रखते थे। यद्यपि उनका लक्ष्य वाणिज्य-व्यापार में स्वयं अत्यधिक लाभ उठाने की ओर रहता था और यह बात स्वाभाविक भी है तथापि उन्हें इस बात का भी ख़याल रहता था कि, समष्टि रूप से देश के अन्य व्यापारियों को भी अनुचित हानि न उठानी पड़े और अन्य व्यापारी समाज तथा देश-वासी उनसे प्रसन्न रहें। जब कभी ऐसा मौका आया कि, राजसत्ता की ओर से देशके विभिन्न समाज के व्यापारियों पर किसी प्रकार का अनुचित दबाव पड़ा, तो उन्होंने युक्ति-युक्त ढंग से उसका सामना किया और इस संबन्ध में वे कभी किसी से नहीं दबे।

एक समय की बात है कि, मिरजापुर घाट पर ईष्ट इण्डिया कम्पनी के नौकरों ने ज़क़ात बढ़ाने के उद्देश्य से सभी व्यापारियों की माल से

भरी हुई १५०० नौकाएँ रोक ली थी। उन्होंने समझा था कि, इन व्यापारियों की नौकाएँ रोक लेने से ये दब जावेंगे और जक़ात की आय बढ़ जावेगी। पर उसका नतीजा उलटा ही हुआ। जो नौकाएँ रोक ली गईं थीं, उनमें अन्य व्यापारियों की नौकाओं के साथ-साथ मारवाड़ी समाज के सेठ अणतरामजी पोद्दार की भी बहुत सी नौकाएँ थीं। सेठ अणतरामजी के मुनीम ने समझा कि, इस प्रकार दब जाने से व्यापार पर कर बहुत बढ़ जावेगा और इस कर के बढ़ जाने से जो हानि होगी, उसका दुष्परिणाम न केवल इस देश के समस्त व्यापारियों को ही, किन्तु सर्व-साधारण प्रजावर्ग को भी भोगना पड़ेगा। उन्होंने जब उसका बड़ा विरोध किया, तब कम्पनी के नौकरों ने सेठ अणतरामजी की जितनी नौकाएँ थी, उन्हें छोड़ देने का हुक्म दे दिया। परन्तु सेठ अणतरामजी का चतुर मुनीम इस पर राजी नहीं हुआ। उसने फिर विचार किया कि, यद्यपि हमारे प्रभाव से आज हमारी नौकाएँ छोड़ दी जाती हैं, किन्तु अन्य व्यापारियों से अतिरिक्त कर वसूल कर लेने का परिणाम यह होगा कि, आगे चल कर हमें भी दबना पड़ेगा और इस अतिरिक्त कर की सदा के लिए लाग लग जावेगी। उन्होंने केवल अपनी नौकाएँ छुड़ा लेना स्वीकार नहीं किया और यह कहा कि, जब अन्य सभी व्यापारियों की नौकाएँ छोड़ी जावेंगी, तभी हमारी भी छूटेंगी। सभी व्यापारी एक हो गए और उन्होंने बाजार बन्द कर दिया। फिर क्या था? परिणाम यह हुआ कि, कम्पनी के कर्मचारियों को मजबूर होकर सभी नौकाएँ छोड़ देनी पड़ीं और व्यापारी समाज अतिरिक्त कर से बच गया। अस्तु।

पूर्वजों के उक्त विशिष्ट गुणों की अमूल्य निधि हमारे लिए कितनी उपयोगी है, इसे हम स्वयं विचार सकते हैं। आज हमारा कर्त्तव्य है कि, हम उस ओर उपेक्षा न करें। उनके अनुभव ऐसे नहीं हैं कि, हम फटे-पुराने वस्त्रों के समान बदल दें। वे सच्चे अनुभव हमारे समाज के लिए

पैतृक गुण स्वरूप हैं जिनके एक मात्र अनुकरण से हम वर्त्तमान काल में अपने नये व्यापार-धन्धों में भी उन्नति कर सकते हैं।

आज की स्थिति—

समाज के लिए यह कितने परिताप का विषय है कि, आजकल के हमारे नवयुवक पूर्वजों के सिद्धान्त को भूलते जा रहे हैं और नई शिक्षा-दीक्षा की तड़क-भड़क में अपनी अवस्था चिंतनीय बना रहे हैं। व्यापारी समाज के व्यक्ति होकर आज वे कहते हैं कि, हम वेकार हैं, हम क्या करें, हमें कहीं कोई काम नहीं मिलता। वे दलाली करने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि उसमें भी दौड़-धूप है, खुशामद करनी पड़ती है। ऐसे युवक पुस्तकों के कीट बन कर किसी ओर के नहीं रहे। न उन्होंने पूर्वजों के गुणों से लाभ उठाया और न विदेशी व्यापारियों की व्यापारिक प्रवृत्ति से ही। वे पठित होकर भी यह नहीं सोचते कि हमारा क्षेत्र व्यापार का है और हमें व्यापार की नीति के आधार पर ही अग्रसर होना चाहिए। शिक्षा तो मानसिक अभ्युदय के लिए है, वह धन का तुला दण्ड नहीं है। वे लोग मूर्ख हैं, जो विद्या का माप धन से करते हैं। यदि ऐसे शिक्षित युवक साधारण से साधारण व्यापार-धन्धे में लगेंगे, तो "लोग हंसाई" स्वतः ही नष्ट हो जावेगी। यह कितने खेद की बात है कि, शिक्षित युवक वेकारों की जमात बढ़ावें। हमें तो उन अंग्रेजों की ओर देखना चाहिए, जो किसी भी परिश्रम के काम से नहीं शर्माते। इङ्गलैण्ड के बी० ए०, एम० ए० पास धनी व्यक्ति कृषि की उन्नति की ओर ध्यान देते हैं। वे खेतों में जाकर काम करते हैं और कच्चे माल की कटती का इन्तज़ाम करते हैं। वे और उनके बच्चे गांवों में रह कर लाखों रुपए उपार्जित करते हैं। वहां के लार्ड घराने के लड़के पहले कृषि कालेजों में कृषि सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करते हैं। उसके बाद वे इङ्गलैण्ड में ही नहीं रह जाते, बल्कि आस्ट्रेलिया और कनाडा आदि देशों में जाकर धनी कृषक बनते हैं। मगर मारवाड़ी समाज के शिक्षित तरुण, ऐसे अंग्रेजों से भी

शिक्षा नहीं लेते। समाज के इन नवयुवकों के लिए क्या कहा जाय। वे एक इञ्च भी अपने स्थान से नहीं हटना चाहते।

वे अपने स्थान पर खड़े रह कर ही दूसरों की कृपा चाहते हैं। इस नवयुग में मारवाड़ी समाज के युवकों के लिए अपने पैतृक गुणों के साथ-साथ पश्चिमी देशों के व्यापार-व्यवसाय की पेचीदगियों से भी पूरी जानकारी रखना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे युवकों के सामने व्यापार-धन्धों की उन्नति के लिए विस्तृत क्षेत्र पड़ा है। वे अपनी संस्कृति और स्थिति को सिद्धान्त रूप से बनाये रख कर व्यापार व्यवसाय की सामयिकता-पूर्ण पूर्वीय बातों के जानने में कभी न पिछड़ें। जापानी युवकों के समान वे अपने व्यापार-वाणिज्य को संसार में चमका दें। आवश्यकता है कि, फाटके में अपनी शक्ति नष्ट न कर समाज के नवयुवक देश के भिन्न भिन्न उद्योगों में लगें। वे अपना कौशल छोटे-छोटे धन्धों में दिखला कर अग्रसर हों। उस समय वे यह विचार अपने मन में न लावें कि, इतनी शिक्षा पाने पर भी हम ऐसा छोटा रोज़गार क्यों करें? जो शिक्षित युवक ऐसा विचार मन में लाते हैं, वे शिक्षित होने पर भी व्यापार में तरक्की नहीं कर सकते। व्यापार की साधारण नीति ही यह है कि, पहले जो छोटे काम से आगे बढ़ता है, वही आगे चल कर सफल व्यापारी बनता है। पूर्वजों के समान युवकों को इस भावना पर लक्ष्य रखना चाहिए। उन्हें अपने समाज तथा देश के भविष्य की ओर सदैव दृष्टिपात करना चाहिए। देश में राजनैतिक दृष्टि से व्यापारिक अवस्था में चिंतनीय परिवर्तन होने पर भी अनेक छोटे बड़े धन्धों द्वारा उत्पादन करने पर वे भविष्य में अपनी स्थिति सुदृढ़ पावेंगे। आज कितने ही ऐसे व्यापार हैं, जिनकी ओर हमारे युवकों का ध्यान तक नहीं जाता। वे क्यों नहीं, इन आयात-निर्यात के व्यापारों को करते हैं? अनेक धन्धे वे इसलिए नहीं करते कि, यदि उनमें वे प्रवेश करें तो सामाजिक तथा धार्मिक बन्धन खड़े होते हैं। पर नवयुग की

इस दौड़ में ऐसी संकोचपूर्ण मनोवृत्ति आर्थिक दृष्टि से समाज के लिए सर्वथा घातक है। अन्यायपूर्ण व्यवसाय निश्चय ही पाप है, पर इस युग में हमारा समाज जिन वस्तुओं का व्यवहार करता है, उनका व्यवसाय न करना कैसी उपहासास्पद बात है। समाज के युवकों को अपने देश में ही नहीं, विदेशों में भी व्यापार-धन्धे के लिए अग्रसर होना चाहिए। यदि वे वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में देश की श्री वृद्धि की पवित्र कामना से अग्रसर होंगे, तो न केवल अखिल हिन्दू जाति का ही आशीर्वाद पावेंगे, अपितु सारा देश उनके अभ्युदय की कामना करेगा।

इन थोड़े शब्दों में हमने जो कुछ लिखा है उससे पाठक यह न समझें कि, वाणिज्य-व्यापार के इस अति उन्नत काल में आधुनिक व्यापार प्रणाली की हम निन्दा कर रहे हैं, और इसके स्थान पर बाबा आदम के जमाने की पैसा-पैसा जोड़नेवाली बातों को फिरसे लाना चाहते हैं। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। हमारा इतना लिखने का कारण केवल यह है कि, हमारी वर्त्तमान सन्तानें व्यापार में अपने पूर्वजों द्वारा निर्धारित की हुई नीति का सर्वथा विस्मरण कर आधुनिक तड़क-भड़क वाले बड़े बड़े व्यापारों की ओर ही दृष्टि कर बैठी हैं। इसका नतीजा यह हो रहा है कि, अब हम न तो प्राचीन ढंग के स्वाभाविक व्यापारी ही रह सके हैं और न हमने आधुनिक ढंग के व्यापार में ही उल्लेखनीय स्थान पाया है। यह सत्य है कि, आजकल की व्यापार प्रणाली अति उन्नत अवस्था में पहुँच गई है और उसका सहारा लिए बिना हम व्यापार-क्षेत्र में नहीं ठहर सकते। पर साथ ही साथ यह भी सत्य है कि, केवल बड़े बड़े व्यापारों को ध्यान में रख कर हवा में उड़ने से ही हम लाभ नहीं उठा सकते। इस तथ्य को न समझने का ही यह नतीजा हो रहा है कि, काग और हंस की सी हमारी गति हो रही है। इसलिए, यह उचित है कि, हमारे नवयुवक आधुनिक व्यापार में अग्रसर होते हुए भी अपने पूर्वजों की बताई हुई सैद्धान्तिक बातों को कदापि न भूलें।

प्राचीन और वर्त्तमान स्त्रियाँ

प्राचीन महिलायें—

भारत की वीर भूमि तथा वीर प्रसविनी कहे जाने का गौरव राजस्थान की भूमि को ही प्राप्त है। राजस्थान का वह गौरवमय अतीत पुण्यमयी राजस्थानी माताओं की महानता का ही फल था। राजस्थान की इन देवियों ने न केवल राजस्थान, अपितु समस्त भारतवर्ष के मान-मुकुट की रक्षा की थी। इन महिलाओं ने राजस्थान के सभी वर्ण के पुरुषों को 'रण-चण्डी व्रती' जाति की सन्तान होने का सम्मान प्राप्त कराया था। अतीत का यह गौरवमय इतिहास मारवाड़ी समाज की महिलाओं और सन्तानों को कर्त्तव्य-परायणता, वीरता और आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए अग्रसर होने का संदेश देता है। मारवाड़ी समाज उन देवियों को विस्मरण कर आज कहां रह सकता है? उस काल में मारवाड़ी महिलाएं साहस और अपने कर्त्तव्य-पालन में कभी पराङ्मुख नहीं होती थीं। देश काल के अनुसार समाज तथा अपने परिवार की भी रक्षा करना, वे भली भांति जानती थीं। बालिका से गृहस्वामिनी तथा धर्मपत्नी और आदर्श माता बनना भी वे जानती थीं। उस काल में नारी रक्षा करने और विधवाओं के बचाने की चिन्ताजनक बात उठती ही नहीं थी। वे वीर देवियां स्वयं ही अपनी रक्षा करने में समर्थ थीं। आतताइयों को उनकी करतूतों का मजा चखाने के लिए वे अपना जौहर दिखाये बिना नहीं रहती थीं। उनका गार्हस्थ्य-जीवन, उनकी समाज सेवा तथा देशभक्ति आदि सभी बातें, हमारे लिए एक-एक कर अनुकरणीय हैं। आज जो बातें हम अपने समाज को स्त्रियों में देखना चाहते हैं, वे सब उनमें थीं। वे वीर पुत्रों का प्रसव करती थीं। निर्बल संतान उत्पन्न करने की अपेक्षा वे बांझ रह कर मर जाना अच्छा



ख्यातनामा स्वर्गीय सर हरीरामजी गोयनका

समझती थीं। * आजकल के समान केवल भोग-विलास-मय जीवन उनका नहीं था। पर्दे में रह कर भी वे पुरुषों की गुलाम नहीं थीं। अगर वे कहीं गुलाम होतीं, कायर होतीं और सार्वजनिक क्षेत्र में पुरुषों का हाथ बँटाने की सामर्थ्य नहीं रखती होतीं, तो न उन्होंने जौहर व्रत किए होते और न अन्य क्षेत्रों में शौर्य दिखलाया होता। कामातुर पुरुष उनकी ओर आँख उठाने का भी साहस नहीं कर पाते थे। घर-गृहस्थी के कार्य में, वे निरी दासी के रूप में नहीं थीं। अपने अधिकार से वे परिवार को चलाती थीं। गृहस्थ जीवन को, मनुष्य की किसी भी परिस्थिति में, सुखमय बनाने की ओर उनका लक्ष्य रहता था। राजस्थान की देवियों का ही यह काम था कि, समय पर पुरुष जहां जरा भी विचलित अथवा अपने कार्य में असफल हो जाते, वहां स्त्रियां उन्हें सम्हालती थीं। बहुत पुराने समय की बात जाने दीजिए, आज के चालीस पचास वर्ष पूर्व तक ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आते थे कि, पुरुष जब कभी अपने कार्य में असफल हो गये और हताश होकर घर में बैठ गये, तो उस समय स्त्रियों ने उनका साहस बढ़ाया और अपना सर्वस्व देकर उन्हें फिर से कार्यक्षेत्र में अग्रसर किया। इस छोटे से स्थान में उनके उस रहन-सहन और कर्त्तव्य-पालन का क्या वर्णन किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति के सांचे में परिस्थिति को ढालकर वे प्राचीन नारियां अपने लिए एक उपयुक्त मार्ग निकाल लेती थीं। उन्होंने देशकाल के विपरीत न तो पुरुषों को चलने दिया और न स्वयं कभी चलीं। कोई एक दूसरे के कार्य में बाधक नहीं हुआ। दोनों की स्वतंत्रता एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-परायणता से बंधी हुई थी। इस संयोग में न स्त्रियों की उच्छृङ्खलता थी और न पुरुषों का अत्याचार। कैसा दिव्य समय था!

---

* जननी जणै तो वीर जण, कै दाता कै सूर।
नातर रहिजै बांझड़ी, मती गंवावै नूर॥

मारवाड़ी समाज की महिलाओं का यह जीवन, बहुत पुरानी बात नहीं है। समाज की प्राचीन महिलाओं का यह उत्कर्ष अभी तक विद्यमान था। अभी कुछ समय पहिले तक वे स्वावलम्बिनी और सब कार्य में निपुणा थीं। वे उस जमाने तक, पुरुषों के खिलवाड़ और उनके सुख की सामग्री मात्र नहीं थीं। वे अधिक शिक्षित न होने पर भी अपनी शक्तियों का विकास करने की पूर्ण सामर्थ्य रखती थीं। जिस आर्थिक स्वावलम्बन की कामना—अर्थात् आर्थिक अधिकारों की मांग—आज स्त्रियों के लिए की जाती है, वह आर्थिक स्वावलम्बन उस काल तक उनमें विद्यमान था। मारवाड़ी महिलाएँ अपने पति के कर्त्तव्य निर्णय आदि के समय बराबर परामर्श देती थीं। उन दोनों का चरम लक्ष्य भारतीय आदर्श की रक्षा करना था। आज भी उन देवियों की समता संसार का कोई देश व जाति नहीं कर सकती। वे गृह-धर्म को भली भाँति जानती थीं। उन्हें केवल भौतिक आनन्द ही अभीष्ट नहीं था। सांसारिक उन्नति के साथ-साथ उन देवियों का परम लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति की ओर अधिक रहता था।

उनके इस अनुपम जीवन में ही, हमारी नैतिक उन्नति का रहस्य विद्यमान है। उनके जीवन की ओर लक्ष्य करने पर भासित होता है कि, इन आदर्श दम्पतियों ने एक दूसरे के साथ अपना जीवन मिला दिया था। उन दोनों में से किसी पर कष्ट पड़ता तो एक दूसरे के लिए अपनी सुध-बुध तक भूल जाता था। ऐसे दिव्य, सहिष्णु तथा आदर्श जीवन में ही पुरुष और स्त्री—दोनों में से किसी की ओर से अनाचार होने का स्थान नहीं रहता था।

वर्त्तमान स्थिति और नारी-स्वातन्त्र्य का आन्दोलन—

वर्त्तमान काल में हिन्दू जाति में जो सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं, मारवाड़ी समाज उनके प्रभाव से कैसे वंचित रह सकता है? आज हिन्दू जाति में सामाजिक क्रान्ति के लिए जो आन्दोलन चल रहे हैं, उनमें महिलाओं के उत्थान का प्रश्न सर्व प्रधान है। हम हिन्दू

समाज की उन्नति के लिए क्रान्ति से भयभीत नहीं होते। यदि उस क्रान्ति में हिन्दू जाति की मङ्गल कामना और प्राण संचार की अनुपम शक्ति है, तो उससे भयभीत होना सर्वथा निरर्थक है। क्रान्ति सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में नवजीवन संचारित करने के लिए चैतन्य शक्ति के रूप में प्रकट होती है। इस दृष्टि से ही हम क्रान्ति को दूसरे शब्दों में युग-धर्म लानेवाली शक्ति कह सकते हैं। वह जगन्नियन्ता की विश्व पोषक अमोघ शक्ति है, और धर्म, समाज व राष्ट्र को सबल बनानेवाली है। कालान्तर में हम उस क्रान्ति के द्वारा सम्पादित परिवर्तनों की छत्रछाया में सुख और शान्ति का रसास्वादन कर सकते हैं। पर इस क्रान्ति की ओट में यदि अपनी संस्कृति को तिरोहित करने की भावना हो, तो वह निश्चय ही अनिष्टकारक होगी और इस प्रकार के परिवर्तनों से जाति की रक्षा करना आवश्यक हो जायगा।

हिन्दू संस्कृति में महिलाओं के समस्त अधिकार और उनकी उन्नति की सभी बातें न केवल लौकिक नियमों से सम्बन्ध रखती हैं, अपितु उनमें आध्यात्मिक जीवन की भी पवित्र भावनाएँ हैं। आज इस युग में दम्पतियों का पारलौकिक सम्बन्ध तथा सामाजिक सुव्यवस्था के लिए उन पर होनेवाला अनुशासन नवीन भावापन्नवालों को असह्य प्रतीत होता है। वे महिला-आन्दोलन में पारलौकिक सम्बन्ध को मिथ्या कल्पना और ढोंग समझते हैं। उनकी दृष्टि से समाज के अनुशासन की अन्य बातें भी, प्राचीन काल के पुरुषों द्वारा स्त्री-समाज पर किये जानेवाले अत्याचार के रूप में हैं। आज के इस स्त्री-स्वातन्त्र्य के आन्दोलन में उनकी यही भावना है कि, हिन्दू धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों को पुरुषों की अधिकार-हीन दासी बना रक्खा है। वे यह सोचते हैं कि, इन धर्मग्रन्थों ने तथा उस काल के समाजवेत्ताओं ने स्त्रियों को स्वतन्त्रता तथा अन्य अधिकार नहीं दिये। आज जिन व्यक्तियों के हृदय में यह भावना दृढ़ हो गई है कि, स्त्रियों के सम्बन्ध में पुरानी सभी व्यवस्थाएँ हानिकर हैं, और नई बात

सब अच्छी हैं, वे हमारे विचार से काल्पनिक स्वतन्त्रता के मोह में फंसे हुए हैं, हिन्दू धर्मशास्त्रों के सम्बन्ध में उनकी सच्ची धारणा नहीं है। वे सड़ी-गली रूढ़ियों की ओट में प्राचीन समाजशास्त्रियों को कोसने लगते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि, हिन्दू शास्त्रकारों ने स्त्री-पुरुष की सजीव एकता को भलीभांति स्वीकार किया है। उन्होंने ब्रह्म और माया को एक ही शक्ति के दो रूप मात्र बतलाया है और मूल में दोनों को एक ही माना है। उस समय स्त्रियों का कितना समादर था—उसका इसी से पता चलता है कि, हिन्दू धर्म में जितने देवता हैं, उनके साथ उनकी शक्तियां भी हैं, घर के धार्मिक कृत्यों को भी स्त्री और पुरुष, संयुक्त ही कर सकते हैं। अकेले धर्म कृत्य करने का अधिकार पुरुषों को नहीं है। हिन्दू दृष्टि-कोण से जीवन क्षेत्र में पुरुष स्त्री में तथा स्त्री-पुरुष में लय हो जाते हैं। उनके सामने पृथकता, स्वतन्त्रता और अधिकार के प्रश्न ही नहीं उठते। इस धारणा में ऊँच-नीच का भेद-भाव कदापि नहीं है। वहां तो स्त्री-पुरुष—दोनों अंग अभिन्न हैं।

स्त्री-पुरुष की एकता पर, शास्त्रकारों ने हमें बतलाया है कि, यदि पुरुष विष्णु है तो स्त्री लक्ष्मी, पुरुष विचार है तो, स्त्री भाषा, पुरुष धर्म है तो, स्त्री बुद्धि, पुरुष अधिकार है, तो स्त्री कर्तव्य, पुरुष युद्ध है, तो स्त्री शक्ति और पुरुष स्तम्भ है, तो स्त्री पताका। इस प्रकार हिन्दू धर्मशास्त्रों ने स्त्री और पुरुष का जीवन एक दूसरे का पूरक बतलाया है। दोनों का सुन्दर सम्मिलन एक दूसरे की प्रवृत्तियों की अनुकूलता का द्योतक है। इस दृष्टि से दोनों में पूरकता का समावेश है।

पर इस एकता को आजकल के वातावरण में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के विचार से उपयुक्त नहीं समझा जाता। हम अपने इस विवेचन में उन रूढ़ियों का कदापि समर्थन नहीं करते हैं, जिन्होंने हमें संसार के सामने लज्जित कर दिया है और हमारे प्राचीन आदर्श पर ही कालिमा पोत दी है। हम यह मानते हैं कि, 'सभ्यता' किसी एक जाति व देश की एका-

धिकार सम्पत्ति नहीं है। किसी भी देश की अच्छी बातों के अपनाने में कोई पाप नहीं है। अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए, युगधर्म की दृष्टि से नवीन परिवतनों को कब, कौन अनुचित कह सकेगा? सभी विचार-शील समाज-सेवक महिला-आन्दोलन का स्वागत करते हैं। परन्तु यदि इस स्वतन्त्रता के आन्दोलन में स्त्री को पुरुष के मुक़ाबले विद्रोह के लिए खड़ा किया जाय, और समाज की वर्तमान व्यवस्था में सब ओर से स्त्री-पारतन्त्र्य की ही गन्ध आवे, तो हम इन परिवर्तनों में स्त्रियों का मंगल नहीं देखते। हम स्त्री-जाति के अभ्युदय के उतने ही हामी हैं, जितना कोई क्रान्तिकारी सुधारक हो सकता है। पर हम बड़े दुःख से यह देखते हैं कि, उनके आन्दोलन में क्षोभ और प्रतिक्रिया का वेग अधिक है, जो काल्पनिक स्वतन्त्रता के मोह का द्योतक है। प्राचीन बातों में यदि युग-धर्म की दृष्टि से कहीं अत्याचार भासित होते हैं, तो उन्हें कौन अत्याचार न मानेगा? अत्याचारों को तो अत्याचार मानना ही पड़ेगा। साथ ही प्राचीन व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में जो मिथ्या भ्रम हैं, वे भी भ्रम ही कहे जावेंगे। आज स्त्रियों को यह भय दिखाया जाता है कि, धर्मशास्त्र की दृष्टि से समाज में उनका स्थान नीचा है और पुरुषों ने उनके समस्त अधिकार छीन लिए हैं। हम स्त्री-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से ही इस प्रकार के आन्दोलन को समाज के लिए हानिकर मानते हैं।

हमारी समाज-व्यवस्था में, स्त्रियों का अपने पद पर उतना ही उच्च स्थान है, जितना कि, पुरुषों का अपने स्थान पर। समाज के अनेक अधिकार स्त्रियों को निसग से प्राप्त हैं। हिन्दू नीतिकार सदा व्यावहारिक रहे हैं, उन्होंने जाति के अभ्युदय के लिए युग-धर्म को विस्मरण नहीं किया। यदि हिन्दू जाति में देश काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन नहीं होते, तो आज संसार में उसका नाम भी अवशेष नहीं रहता। आज जो लोग जाति-रक्षा के लिए स्त्रियों के अभ्युदय में सभी सच्चे परिवर्तनों के विरोधी हैं, वे शास्त्रों के सच्चे आदेशों को नहीं समझते। वे अर्थलोलुप

शास्त्र व्यवसायियों के चक्कर में पड़ कर स्त्रियों की सच्ची उन्नति में बाधक हो रहे हैं। जाति के कल्याण की दृष्टि से उनके विरोध की जितनी निंदा की जाय, थोड़ी है। समय की गति को रोकने की किस में क्षमता है! यदि हम में समय की गति के अनुसार परिवर्तनों को पचा कर अपनी संस्कृति की रक्षा करने की शक्ति नहीं है, तो हमारा विनाश निश्चित है।

आज स्त्रियों का आन्दोलन समाज में बल पा रहा है। मारवाड़ी समाज की महिलाओं में नूतन जागरण हो रहा है। वे आज कुरीतियों का नाश करने के लिए अग्रसर हो रही हैं। यदि यह आन्दोलन सच्चे पथ पर चले, तो आज जो विरोधी हैं और भय करते हैं, वे भी आगे चल-कर उसके समर्थक हो जावेंगे। अपने इस आन्दोलन में, मारवाड़ी महिलाओं को अपनी संस्कृति और धर्म के तत्त्वों को नहीं भूलना चाहिए। उन्हें यह लक्ष्य अवश्य रखना चाहिए कि, यदि वे अपनी संस्कृति को खोकर नकली आदर्शों के पीछे दौड़ेंगी, तो कहीं की न रहेंगी। उन्हें अपना सुधार करते समय पश्चिमीय देशों की अशान्तिमय परिस्थिति पर भी गंभीरता से विचार करना चाहिए। 'कन्ट्रेक्ट सिस्टम' के द्वारा विवाह, तलाक तथा ऐसे ही अन्य बातों ने योरोपीय स्त्रियों का जीवन उस अव-स्था तक पहुंचा दिया है कि, वे आज अपने यहां की नकली सभ्यता से तंग आ गयी हैं। अनेक रिवाज तो वहां इतने बीभत्स हैं कि, उससे योरोपियन स्त्रियां ऊब उठी हैं। रूस इस समस्या को हल करने में लगा हुआ है। आज जर्मनी में, वहां की स्त्रियों को आर्य महिलाओं के पथ पर चलने के लिए आदेश दिया जाता है। अन्यान्य योरोपियन देशों के सामने भी ऐसी ही समस्याएँ हैं। इसके सिवा अपने ही देश में देखिये, पारसी जाति ने योरोपियनों की नकल में योरोपियन महिलाओं को भी एक कदम पीछे कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि, पारसियों के दाम्पत्तिक जीवन में, तृष्णा बढ़ने से, व्यक्तिगत अशान्ति ने घर कर लिया

है। नीति तथा धर्म के बन्धनों की शिथिलता के कारण पारसी महिलाओं में योरोपियन महिलाओं के समान कौटुम्बिक अशान्ति बढ़ने लगी है। विवाह उनके लिए दिखावटी टोटका-सा हो गया है। जब तक किसी दम्पति की एक दूसरे से तबियत मिलती है, तब तक तो साथ रहता है और जहां उनमें अनबन शुरू हुई, वहीं विवाह का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है। पारसी स्त्रियों की बढ़ती हुई तलाक की घटनाओं ने उस समाज के नवशिक्षित समाज-सेवकों के मस्तिष्क को चिन्ता में डाल दिया है। हिन्दू समाज के सुधार क्षेत्र में ये सब समस्याएँ विचारणीय हो गई हैं। एक सुधारक विवाहित पुरुष अपनी विवाहिता पत्नी के घर में होते हुए, एक विधवा से नये सुधार के नाम पर विवाह कर लेता है। * यह क्या है? आज तो इतनी जटिल समस्या हो गई है कि, परदा, स्त्री-शिक्षा तथा ऐसे ही अन्य निर्दोष आन्दोलनों के संबंध में भी यह निर्णय करना कठिन हो रहा है कि, किस नीति का अवलम्बन किया जाय। पढ़े-लिखे युवकों का आचरण ही परदा आन्दोलन, स्त्री-शिक्षा और उनकी अन्य प्रगति के लिए बाधक हो रहा है। अशिक्षित गुण्डे और विधर्मी तो नीच आचरण करते ही हैं, पर अनेक मनचले शिक्षित कहे जानेवाले युवकों का व्यवहार भी बड़ा निन्दनीय है। ‡ सुधार क्षेत्र में संयम और पवित्रता का न रहना परिताप का विषय है। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी जब चरित्र-बल की रक्षा नहीं होती, तो हम अपना क्या अभ्युदय कर सकेंगे? इस वातावरण में न तो कोई सुधार हो पावेगा और न प्राचीन संस्कृति की ही रक्षा हो सकेगी।

---

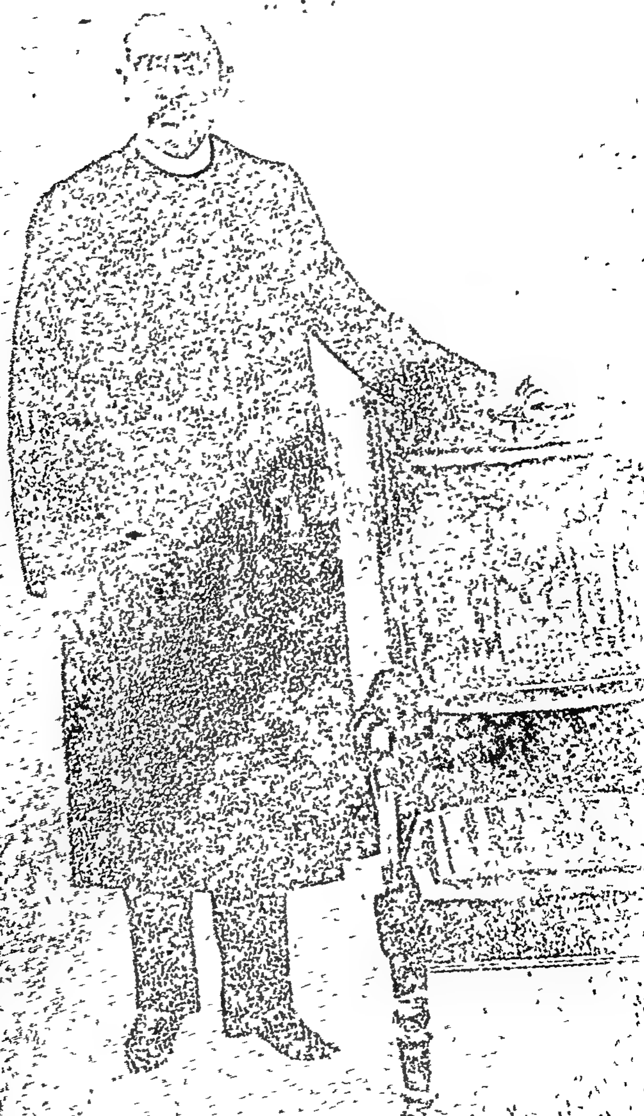
* बम्बई में एक प्रसिद्ध सुधारिका की तरुण विधवा पुत्री के साथ एक ओसवाल युवक ने अपनी स्त्री के होते हुए सुधार के नाम पर विवाह किया, यह सर्व विदित है।

‡ सुप्रसिद्ध समाजसेवी भाई परमानन्द और पंजाब की कतिपय सुशिक्षिता देवियों द्वारा प्रकट किये गये विचारों को पढ़िये।

आज पुरातनवादी, रूढ़ियों का वही रूप हर बात में देखना चाहते हैं, तो सुधारक नवयुवक भी अप-टु-डेट फैशन रूपी रूढ़ि के गुलाम बन रहे हैं। इस प्रकार दोनों ही—नई और पुरानी—रूढ़ियों के उपासक हो रहे हैं। इस खींचतान में समाज की स्त्रियों की क्या स्थिति हो, यह एक गम्भीर समस्या समाज के सम्मुख उपस्थित है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि, हमारा सामाजिक आन्दोलन स्त्रियों के सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। कारण; आज पुरुषवर्ग जो निर्णय करता है, उसका प्रभाव समाज की महिलाओं पर नहीं पड़ता। कहीं कहीं तो महिलायें यह कहती हुई भी देखी जाती हैं कि, आप ने प्रस्ताव पास किये हैं, आप ही इनका पालन कीजिये। इस परिस्थिति का अनुभव कुछ विचारशील पुरातनवादियों को भी आये दिन होता रहता है। वे भी चाहते हैं कि, समाज की स्त्रियां रास्तों पर चलती हुई गीत न गावें, अन्त्येष्टि क्रिया आदि के अवसर पर आजकल की तरह रोती हुई बाहर न निकलें और अपनी वेश-भूषा में सुधार करें तथा अन्य सुधार सम्बन्धी रीतियों का भी वे पालन करें। पुरातनवादी इस सम्बन्ध में प्रस्ताव करते हैं, और व्याख्यान देते हैं, पर खेद है कि, उनके कार्यों का भी महिलाओं पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। पड़े कैसे, स्त्रियों को तो वे विचार करने के लिए अवसर ही नहीं देते और न उन्हें अपने घरों में समझाने की चेष्टा करते हैं। उनमें जब यह विचार उत्पन्न होगा कि, इन कुरीतियों से आज के सभ्य समाज में हमारी आलोचना होती है, तब वे स्वयं इन बातों को छोड़ देंगी। उस समय स्त्रियां अपने आभूषणों तथा वेशभूषा में भी स्वभावतः परिवर्तन कर देंगी और इन कुत्सित रूढ़ियों का पालन नहीं करेंगी।

पुराने और नये विचारवालों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण—

आधा अंग निर्जीव होने के कारण ही आज आदर्शवादी सुधारक कहे जानेवाले नेताओं तक को सुधार आन्दोलनों में विफल होना पड़ता है।



स्वर्गीय रायबहादुर शिवप्रसादजी झूँझनूँवाला

वे बाल, वृद्ध और अनमेल विवाह तथा सुधार सम्बन्धी उद्देश्यों के पालन में आदर्श व्यवहार प्रकट करने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए तबतक न तो सच्चे सुधार ही सफल हो सकते हैं और न धर्म तथा प्राचीन संस्कृति की ही रक्षा हो सकती है, जब तक मारवाड़ी जाति का आधा अंग—महिला समाज निर्जीव बना रहेगा। उसको जागृत करना पश्चिमीय भावों को लाना नहीं है। जब हमारे पूर्वजों के समय में राजस्थान का महिला-समाज जीवित जागृत था और पुरुषों के प्रत्येक कार्य में समान रूप से उपयोगी था, तब आज वह क्यों इस निर्जीव दशा में रहे।

मारवाड़ी समाज के अनेक युवक, जो विदेशों से लौटकर आते हैं, वे स्त्री-समाज को सर्वथा पश्चिमीय रंग-ढंग में देखना चाहते हैं। वे अपने ज्ञान की शान में, प्रगतिशील समाज सेवकों को विश्वासघाती कहते हैं। हमें उनकी बुद्धि पर तरस आता है। वे पश्चिम की नकल करने जाते हैं, पर यह नहीं सोचते कि, उसके लिए भी अक्ल की जरूरत है। एक किसान जल, वायु और जमीन की अनुकूलता देखकर, उसी ढंग की खेती करता है। अमृतसर में जहां बढ़िया चावल उत्पन्न होते हैं, वहां बंगाल का पाट कैसे उपजाया जा सकता है। सुधार क्षेत्र में भी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार सुधार होते हैं। योरप की अनेक बातें सचाई से हमारे समाज के लिए अनुकूल नहीं हैं। हमारी संस्कृति, हमारा देश और हमारा समाज उन्हें आंखें बन्दकर नहीं अपना सकता। अगर हम मूर्खता-वश नकल करने दौड़ेंगे, तो कहीं के न रहेंगे। अपनी संस्कृति के आधार पर काल की प्रगति के अनुसार सामाजिक कृतियों में सुधार होना वांछनीय है। यदि पुरातनवादी समाज को मृतप्राय बनानेवाली जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों को मानने के लिए दुराग्रह करें, उन्हीं को धर्म बतलावें, तो कौन उनका समर्थन करेगा? इसी प्रकार मारवाड़ी समाज के लिए बालक बालिकाओं की सह-शिक्षा, अमर्यादित रहन-सहन और पश्चिमीय ढंग से कारबार में भाग लेने आदि के कार्य हमारे स्त्री-

समाज के लिए घातक ही माने जावेंगे। इसके सिवा हम जिन अन्य सुधारों को मानते हैं, उनका भी वह रूप नहीं है—जो कुछ लोग समझ बैठते हैं। उदाहरण के लिए परदे को लीजिये। परदा महाराष्ट्र और मद्रास आदि प्रान्तों में नहीं है। हम भी अपने समाज के लिए परदा करना आवश्यक नहीं, किन्तु हानिकर समझते हैं। पर परदा त्याग देने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि स्त्री अपनी मर्यादा भी त्याग दे। परदा त्याग देने का यह रूप तो समाज के लिए अवांछनीय ही नहीं, घातक है। हां, परदे का मर्यादित परित्याग अवश्य होना चाहिए। हमारी दृष्टि में मारवाड़ी समाज के लिए तो स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से परदे का परित्याग और भी अधिक आवश्यक है।

इसी प्रकार स्त्री-सुधार सम्बन्धी अन्य जटिल समस्याओं पर भी विचार किया जा सकता है। आज इच्छानुसार विवाह करने का प्रश्न उठता है। जो सुधारक यह सोचते हैं कि, पंद्रह [illegible] सोलह वर्ष की अवस्थावाले बालक दाम्पत्य प्रेम को स[illegible] कर एक दूसरे का चुनाव कर सकते हैं, हमारी दृष्टि में वे अपना उपहास कराते हैं। फिर, अधिक परिचयवाले जो विवाह होते हैं, वे भी तो चिरस्थायी नहीं होते। वहां भी तो सम्बन्ध विच्छेद होना देखा जाता है। बालक-बालिका, एक दूसरे को देखें, पर यह तो तभी हो सकता है, जब वे दोनों पूर्ण वयस्क हों। इस देख-भाल से भी कैसे कहा जा सकता है कि, सारा जीवन सुख पूर्वक ही बीतेगा? क्या कोई कह सकता है कि इस देख भाल में क्षणिक उत्तेजना का असर न होकर सभी आवश्यक बातों का विचार किया जाता है और यह कैसे मान लिया जाय कि बालक-बालिका के अभिभावक, दोनों ओर जो-जो बातें देखना चाहते हैं, वे नगण्य ही हैं। कोई पिता अपनी पुत्री को अयोग्य लड़के के हाथ में नहीं देना चाहता और न लड़के का पिता अपने पुत्र का विवाह जैसी-तैसी पुत्री के साथ करने के लिए तैयार होता है। हां, हम यह मानते हैं कि, वृद्ध और अनमेल

विवाह करनेवाले अत्याचारी अभिभावक अपनी सन्तानों को अयोग्य हाथों में दे डालते हैं। पर उसका विरोध यह तो नहीं है कि, दूसरी अशान्तिपूर्ण प्रथा, समाज में प्रचलित की जाय। इच्छानुसार प्रेम-विवाहों का परिणाम देश-विदेश की अन्य जातियों में क्या हो रहा है—उसे भी हम जरा आखों से देखें! योरप में भी इच्छानुसार विवाहों में बालकों के अधिकांश अभिभावक ही व्यावहारिक दृष्टि से आज्ञा प्रदान करते हैं। आवश्यकता यह है कि, लड़के-लड़की के माता-पिता विवाह के समय उनके मतों को भी भली भांति जानकर तथा उनकी स्वीकृति लेकर सम्बन्ध किया करें।

स्त्री-समाज के अन्य सुधारों का भी यह अर्थ नहीं है कि, हमारे समाज की गृह-देवियां सर्वथा स्वतन्त्रतापूर्वक जहाँ-तहाँ विचरण करें, दूकानों और स्टोरों में बैठ कर पुरुषों के साथ व्यापार करें और अन्य काम-काज में अनियमित रूप से शामिल हों। हम इसे समाज के लिए अनावश्यक ही नहीं, घातक मानते हैं। ये सब कोशिशें मारवाड़ी समाज के वातावरण को अशान्तमय बना देनेवाली हैं। पुरुषों को ही जब यथेष्ट काम-काज नहीं मिलता, तब स्त्रियाँ अग्रसर होकर क्या शान्ति स्थापित करेंगी? सच बात तो यह है कि, स्त्रियों का भी संसार है, वे अपने घरों में रह कर अपने सभी कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक वर्ताव करें और गृह-शिल्प के धंधे में लगें, तो यह सर्वथा वांछनीय है। पर सुधार के नाम पर घर का कार्य तो नौकर-नौकरानी या पतिदेव करें और वे सभा-सोसाइटी तथा आफिसों में काम-काज करें तथा पर पुरुषों के साथ विचरण करें यह कदापि वांछनीय नहीं है। हम यह नम्रतापूर्वक कहना चाहते हैं कि, स्त्रियों को अपने संसार में अवश्य ही स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करने दिया जाय। पुरुषों के संसार में उन्हें घसीटना व्यावहारिकता की दृष्टि से अनुकूल नहीं है। स्त्रियां अपने संसार में रह कर जितनी चाहे उतनी उन्नति करें—यह सभी को अभीष्ट होगा।

वात यह है कि, यदि स्त्री-समाज की उन्नति में धार्मिक भावना का विचार नहीं किया गया तो, ये सब सुधार समाज के लिए फलप्रद नहीं होंगे। धर्मविहीन भौतिक कल्पना के सुधारों में न मानसिक शान्ति मिलेगी, न सुख। तृष्णायें वढ़ती चली जावेंगी और प्रत्येक गृह, परिवार तथा सारा समाज अशान्ति और कलह का क्षेत्र हो जावेगा।

इसलिए हमें अन्य सुधारों के साथ-साथ स्त्री-समाज में आध्यात्मिकता का प्रचार अवश्य करना चाहिए। उन प्राचीन दिनों की याद कीजिये, जव न रेल थी, न सड़कें साफ वनी हुई थीं और न तार तथा डाकखाने थे और जव उनके पति वाणिज्य-व्यवसाय के लिए राजस्थान से निकल कर वंगाल और आसाम तक पहुंच जाते थे और वे वर्षों के उपरान्त अपने घर लौटते थे, तव तक वे पति-परायणा साध्वी स्त्रियां आध्यात्मिक भावना के कारण ही गृहस्थ धर्म में ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। उस समय उनमें इतना वल था कि, कोई पर-पुरुष उनकी ओर आंख उठा कर भी नहीं देख सकता था—वे स्त्री जाति के महत्व को समझती थीं।

पर आज क्या दशा है? सच तो यह है कि, धार्मिक भावों का लोप होता जा रहा है। अशिक्षिताओं की वात जाने दीजिए, शिक्षित महिलाएँ तो इतनी नाजुक वन गईं हैं कि, मातृत्व के महत्व की अवमानना करती देखी जाती हैं। आज की अधिकांश स्त्रियां पुत्र-प्रसव करने योग्य नहीं रहीं। वे थोड़े काल में ही अत्यन्त निर्वल और निर्जीव वन जाती हैं। तपेदिक, हिस्टीरिया और अनेक वीमारियों की शिकार होकर वे अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकतीं। उनकी मृत्यु आज इतनी तेजी से हो रही है कि, एक युवक को एक के वाद दूसरा व तीसरा विवाह करना पड़ता है। यह सव संयम के अभाव के परिणाम हैं। वे गृह-कार्य तो करती नहीं और विलासितापूर्ण जीवन विताती हैं। यह उनकी वची हुई शक्ति को भी नष्ट कर देता है। यह तो हुआ सुधारक क्षेत्रवाली स्त्रियों का दयनीय चित्र। उधर पुरातनवादी

क्षेत्र में, बाल-विवाह के कारण, बालिका का यौवन विकसित होने के पूर्व ही उसे वृद्धा बना दिया जाता है। उस बेचारी को भी अनेक रोगों की शिकार बन कर अपना जीवन नष्ट कर देना पड़ता है। इन सब का सुधार कैसे हो? पाश्चात्य संस्कृति की उत्तेजनाएँ इन सुधारों में और भी बाधक हैं। इसलिए समाज की यह अवस्था तभी सुधरेगी, जब हमारी मातृ जाति सजग हो जाय। स्त्रियां समझ जांय कि, बाल, वृद्ध और अनमेल विवाहों से ये हानियां हैं तथा ब्रह्मचर्य नष्ट करके विलासिता-पूर्ण जीवन बिताने से ये खराबियां उत्पन्न होती हैं, तभी ये सुधार संभव होंगे। यदि उनमें यह चेतना उत्पन्न हो जाय तो कोई पुरातनवादी और सुधारक न तो वृद्ध विवाह कर सकेगा और न अनमेल विवाह। तब बाल-विवाह तो समाज में रहेगा ही नहीं। इसलिए स्त्रियों को ही इस आन्दोलन के लिए उचित रीति से अग्रसर करना हमारा कर्त्तव्य है।

विधवाओं का प्रश्न—

हमें तो सब से अधिक आवश्यकता इस बात की प्रतीत होती है कि, हम अपना सामाजिक जीवन कुत्सित रूढ़ियों को त्यागते हुए आध्यात्मिक बना दें। आज आध्यात्मिकता के अभाव में लोगों का जीवन निकृष्ट बनता जाता है। कितने आश्चर्य की बात है कि, मृत्यु के मुख में जानेवाला समाज का एक वृद्ध पुरुष बारह और चौदह वर्ष की कन्या के साथ विवाह के लिए लालायित होता है। पर वही व्यक्ति तथा उसके अन्य साथी एक अक्षत योनि बाल-विधवा के पुनर्विवाह के समय त्याग, ब्रह्मचर्य और सतीत्व मर्यादा का महान् उपदेश देने लगते हैं। वह वृद्ध पुरुष घर में पौत्री तुल्य बालिका को विवाह करके लावे और उसके साथ भोग विलास कर अपने घर का पवित्र वातावरण दूषित बना दे और फिर भी यह चाहे कि, उसकी विधवा युवती पुत्री अथवा पुत्रबधू सदाचारिणी बनी रहे! यह एक भयंकर विडम्बना है। जब वह चालीस और पचास वर्ष की अवस्था में विवाह के लिए दौड़ता है, तब किस मुंह से अपनी युवती पुत्री या पुत्रबधू को सदा-

चारिणी वन कर आजीवन मृत पति के स्मरण में वीतराग जीवन व्यतीत करने का उपदेश दे सकता है? आज तो यह अवस्था है कि, सास एक पुत्र के वाद दूसरा पुत्र उत्पन्न करती है, और वेचारी विधवा वहू किसी कोने में छिपकर, सौ-सौ आँसू वहाती रहती है। सास के इन आचरणों का उसपर क्या प्रभाव पड़ता है? प्राचीन काल में जव विधवाएं सती-धर्म का पालन करती थीं, तव भी क्या ऐसी अवस्था थी? पहले तो स्त्रियाँ विधवाएं कहलाने की अपेक्षा प्रायः सती ही हो जाती थीं, पर जव सती नहीं हुईं और वह प्रथा उठ गयी, तव उनके धर्म की रक्षा के लिए घर के लोग पवित्र वातावरण रखते थे। अपनी वहू के विधवा होने पर उसकी सास शृंगार करना छोड़ देती थी। पति समागम करना उसके लिए हेय समझा जाता था। फिर प्रसव करना तो दूर की वात थी। सच तो यह है कि, वाल विधवा की सास अथवा माता उसी दिन से सधवा-पन का रूप न प्रकट कर उसीकी तरह उसके साथ सर्वथा सादा जीवन विताने लगती थी। अन्य सधवा युवतियां भी उसके सामने विलासिता के उदाहरण उपस्थित न करती थीं। पुरुषों में विधवाओं के प्रति वड़ा अद्भुत भाव था। जव कभी किसी पुरुष की कुदृष्टि एक तरुणी वाल विधवा पर अन-जान में पड़ जाती, तव यह मालूम होते ही कि, वह विधवा है, वह नतमस्तक हो उसके प्रति भगिनी भाव धारण कर लेता था। ऐसे ही पवित्र वातावरण में वे विधवाएं अपने सती-धर्म के पालन में समर्थ होती थीं। पर आज क्या अवस्था है? कहते हृदय फटता है कि, आज हम में वे भाव नहीं हैं। आज कहने को तो हम समाज के कर्णधार वने हुए हैं, किन्तु हमारा घोर पतन हो गया है।'

आज पुरुष समाज स्वयं इतना गिर गया है कि पता नहीं कि वह किस गर्त में जाकर गिरेगा? विधवाओं की सदाचारिता को नष्ट करने में अधिक से अधिक हाथ पुरुष समाज का है। मनचले पुरुष आज उसकी पवित्रता को नष्ट करने का दुस्साहस करते हैं। मातृ-जाति आज

भी हम से उत्कृष्ट अवस्था में है—उसका ध्येय, उसका आदर्श आज भी बना हुआ है—पर पुरुषों की करतूतों से उस आदर्श में दिन पर दिन विघटन हो रहा है।

एक समय था जब कि हमारे घरों में विधवाओं का समादर होता था। वे अपशकुन नहीं मानी जाती थीं। आज वह वातावरण हमने अपने घरों में रक्खा ही नहीं। आज तो हम उन्हें पद-पद पर अपमानित एवं लांछित करते हैं, उन्हें अपशकुन समझते हैं। फिर भी हम उनसे कृत्रिम वैधव्य का पालन कराना चाहते हैं! वे बालिकाएं जिन्होंने अपने पतियों का भली प्रकार मुंह तक नहीं देखा या जिन्होंने यह जाना ही नहीं कि दाम्पत्य सुख क्या है इस, दूषित वातावरण में वे कैसे वैधव्य भोग सकती है? शास्त्रों में विधवा-विवाह के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था है, इस विषय में काफी मतभेद है। परन्तु हम यह मान लेते हैं कि शास्त्रों में विधवा विवाह मना है और वह आदर्श भी नहीं है, पर इस दयनीय अवस्था में—इस आपत्काल में बाल विधवाएं क्या करें? क्या हमारा समाज इसका उत्तर देगा?

जिन बाल विधवाओं को यह भी ज्ञान नहीं है कि, कौन उनका मृत पति था और कब वे विधवा हुईं या जिन्होंने अपने कहे जानेवाले पति का ग्रन्थि-बन्धन के समय ही मुख देखा है, वे कैसे इस दूषित वातावरण में वैधव्य जीवन बिता सकती हैं? परिवार के इस कलुषित वातावरण में तो प्रौढ़ा विधवाओं को भी वैधव्य जीवन बिताने में अनेक कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं। फिर भी समाज प्रौढ़ा विधवाओं से आशा कर सकता है कि, वे अपने मृत पति के स्मरण में अपना जीवन वैधव्य रूप में व्यतीत करें। ऐसी देवियों के लिए वैधव्य जीवन बिताना ही श्रेयस्कर है। पर उनकी मानसिक शान्ति के लिए, पुरुषों को भी बहु विवाह का विचार परित्याग कर देना चाहिये। सारांश यह कि, वे ऐसा आचरण करें, जिसका नैतिक प्रभाव विधवाओं पर पड़े। इसके

अतिरिक्त, यदि समाज में विधवा विवाह का प्रचार रोकना है, तो हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि, बाल विधवाओं की संख्या न बढ़े। कारण जब तक बाल विधवाओं की संख्या बढ़ती जावेगी, तब तक लोग आवेश में आकर अक्षत योनि के नाम पर उनका ही विवाह नहीं करेंगे, बल्कि प्रौढ़ा विधवाओं का भी विवाह करें, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसका परिणाम यह होगा कि सभी प्रकार का विधवा विवाह समाज में प्रचार पा जावेगा। हमारा आदर्श गिर जावेगा और फिर समाज में ब्रह्मचर्य व्रती स्त्रियों का अभाव होकर सर्वत्र दुराचार का साम्राज्य स्थापित होगा। यदि हमें विधवा विवाह से समाज को वास्तव में बचाना है, तो हमें बाल, वृद्ध और अनमेल विवाहों को कतई बन्द कर देना चाहिए। पर प्रश्न तो यह है कि क्या समाज ऐसा करने को तैयार है? देखा तो यह जाता है कि जो लोग धर्म के नाम पर शारदा कानून का विरोध कर बाल विवाहों को उत्तेजना देते हैं, वे अपने ही कार्यों से विधवा विवाह को प्रश्रय देते हैं। विधवा विवाहों के रोकने में ऐसे लोगों का समाज पर क्या नैतिक प्रभाव पड़ेगा? जबतक लोग अयोग्य विवाहों से बाल विधवाओं की संख्या बढ़ाते रहेंगे, तब तक विधवा विवाह का रोकना सम्भव प्रतीत नहीं होता। विधवा विवाह का विरोध करनेवालों को यह सोचना चाहिए कि, सुधारक समाज भी विधवा विवाह को आदर्श विवाह नहीं मानता और न उसका यही विश्वास है कि, सभी विधवाओं का विवाह होना अनिवार्य है। पर यह दूसरी बात है कि, बाल-विधवाओं के विवाहों के साथ-साथ उन्हें तरुण विधवाओं के भी विवाह करने पड़ें। हम विधवा विवाह संबंधी मतभेद-पूर्ण प्रसंग से सर्वथा अलग रहना चाहते थे, पर हम देखते हैं कि, इस समस्या ने समाज में विघटन उत्पन्न कर दिया है। एक उसके समर्थन में, तथा दूसरे उसके विरोध में आगे बढ़े जा रहे हैं। इस परिस्थिति ने समाज की अवस्था चिंतनीय बना दी है। हम समाज में प्राचीन संस्कृति

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी



स्वर्गीय रूड़मळजी गोयनका

के पक्षपाती हैं, पर उस आध्यात्मिक शान्ति का उपयोग विधवाएं तभी कर सकती हैं, जब वे उसके योग्य हों और पुरुष समाज उनके समक्ष आदर्श उपस्थित करे। इस आध्यात्मिकता के बिना विधवा विवाह भी अनेक अवसर पर अप्रिय प्रसंग उपस्थित करते हैं। सच बात तो यह है कि, हमें अपने समाज के वातावरण में सुधार करना चाहिए। ऐसा दृढ़ संगठन करना चाहिए कि, समाज में कोई भी व्यक्ति, धनी हो या निर्धन, अयोग्य विवाह न करने पावे तथा प्रत्येक घर का वातावरण विधवाओं के लिये पवित्र हो। यह न कर, हम यदि विधवा विवाह करनेवाले और करानेवालों का तिरस्कार मात्र ही करेंगे, तो उसका परिणाम हितकर नहीं होगा। पुरुष समाज आदर्श बनेगा, तो स्त्री-समाज उससे पीछे नहीं रहेगा। पर यदि पुरुष समाज में चालीस, पचास या साठ वर्ष का पुरुष अल्पवयस्का बालिका से विवाह करने में नहीं हिचकता तब चौदह, पंद्रह वर्ष की बाल-विधवा से यह आशा करनेवाला कौन सा पाषाण हृदय है कि, वह आजीवन विधवा बनी रहे। ऐसे ही लोग समाज में विधवाओं की अवस्था चिंतनीय बना देते हैं। उन बेचारियों को सम्मान-पूर्वक शिक्षा, समाज-सेवा और गृहशिल्प में भी प्रवेश नहीं करने दिया जाता। * उनके लिए कोई पवित्र आश्रमादि की व्यवस्था भी नहीं की

---

* लक्ष्मीनारायण खेमाणी ने अपनी बाल विधवा बहिन को शान्ति और पवित्र वातावरण में जीवन बिताने के लिए जालंधर महाविद्यालय में भरती कर दिया तो कलकत्ते के कतिपय पुरातनवादियों ने आकाश-पाताल एक कर दिया था। उन्होंने उसकी माता को बहका कर, उल्टी सीधी समझा कर यहाँ तक करने में संकोच नहीं किया कि माता द्वारा लक्ष्मीनारायण पर फौज-दारी मामला कराया गया और उसे कैद कराने की भरसक चेष्टा की गई। यहां तक उन्होंने किया कि एक विधवा बहिन को संयम से रखनेवाले भाई पर मामला चलाने के लिए समाज की एक प्रमुख संस्था में चन्दा किया गया

जाती। आध्यात्मिक शान्ति के लिए वे देव मंदिर और तीर्थों आदि में जाती हैं, तो वहां के दृश्य उनपर उल्टा असर डालते हैं। इसके अलावा दुराचारियों की उनपर सदैव कुदृष्टि रहती है। यदि समाज के लोग किसी भी स्त्री पर कुत्सित नज़र न डालें, तो यह कदापि सम्भव नहीं है कि, कोई भी गैरजातीय व्यक्ति मारवाड़ी समाज की स्त्री की ओर ताकने का भी साहस कर सके।

आज विदेशीय मेमों की ओर देखिये। पन्द्रह-सोलह वर्ष की तरुणी छलकती हुई स्वतन्त्रता से अकेली घूम सकती है, उसके प्रति अनुचित वर्ताव करने का कोई साहस नहीं कर सकता। कोई करे भी तो अंग्रेजी जातीयता उसकी सहायता के लिए तत्पर रहती है। इसके सिवा सिक्ख स्त्रियों की ओर भी कोई क्यों नहीं देखता? लोग जानते हैं कि, उनका पति वीर सिक्ख उसका खून चूस लेगा। इसलिए, समाज के लिए केवल विधवाओं के प्रश्न पर ही नहीं, उनकी रक्षा के अन्य प्रश्नों पर भी गम्भीरता से विचार करना देश, काल और परिस्थिति के अनुसार नितान्त आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति मारवाड़ी जाति के प्रति अंगुली उठा कर यह न कह सके कि, वह स्त्री-समाज की रक्षा तथा उन्नति में पिछड़ा हुआ है।

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, हमारा पारिवारिक जीवन जितना शुद्ध तथा पवित्र होगा, उतने ही हम जीवन-क्षेत्र में विजयी होंगे। पर यदि समाज में व्यभिचार और विलासिता का प्रचार बना रहेगा, तो हम कोई भी सुधार न कर सकेंगे और अपने जीवन-मूल वाणिज्य-व्यापार को भी खो वैठेंगे। हमें जानना चाहिए कि, व्यापारिक क्षेत्र में

तथा बड़े-बड़े नेताओं ने खुले आम भाग लिया। रंग-ढङ्ग से मालूम होता था कि ये लोग लक्ष्मीनारायण को कैद करा कर ही छोड़ेगें। परन्तु विद्वान् और अनुभवी मजिस्ट्रैट ने उसे छोड़ते हुए लिखा कि यह पारस्परिक विद्वेष-मूलक झगड़ा है।

विजय पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का सदाचारी बनना आवश्यक है। इसलिए हमें अपने पूर्वजों के समान मातृजाति का सन्मान करना सीखना चाहिए।

अंत में दो पंक्तियों में, हम समाज की महिलाओं से भी कहेंगे कि, वे सजग हो जांय और अपने कर्त्तव्य का अनुभव कर लें, तो समाज का कोई भी अंग उनके हितों की अवहेलना करने का साहस नहीं करेगा। अपनी उन्नति में महिलाओं का कर्त्तव्य है कि, वे प्राचीन संस्कृति और आध्यात्मिकता को तिरोहित न कर दें। वे समाज में उस वातावरण को ला दें, जिससे प्राचीन गौरव और आदर्श की रक्षा हो। हम जानते हैं कि, शिक्षा का प्रचार न होते हुए भी उनमें अधिक धार्मिकता, पातिव्रत, संयम और सहिष्णुता है। इस गये गुजरे जमाने में भी पतिसेवा, गृह-कार्य और अन्य कार्यों में जितना उच्च व्यवहार वे करती हैं, उतना सर्वत्र सुलभ नहीं है। यदि वे शिक्षा पा जावें, और जो कुरीतियां समाज में हैं, उनसे वे सजग हो जांय, तो निश्चय ही उनके द्वारा समाज में नवजीवन आ सकता है।

महिलाओं के प्रति दो शब्द—

जो महिलाएं विधवा हैं, वे अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करें, क्योंकि भारत का आदर्श ब्रह्मचर्य में ही माना गया है और इसी में उन्हें सुख तथा शान्ति भी है। वे ईश्वर-चिंतन के अतिरिक्त अपना समय देश सेवा और समाज सेवा में व्यतीत करें। इन विधवा ब्रह्मचारिणियों का संगठन भी अनुपम समाज सेवा कर सकता है। इस दृष्टि से बहनों को ही अपने पैरों पर खड़े होकर यह सुधार करना होगा। वे ही आर्य जाति की प्राचीन संस्कृति की रक्षा कर सकती हैं। इस संस्कृति का उद्देश्य उन्हें उनके मौलिक अधिकारों से वंचित रखने का नहीं है। बहनो! प्राचीन देवियों के समान तुम फिर एक बार अतीत काल के राजस्थान की ज्योति प्रकट कर मार-

अपनी जाति के सामाजिक नभोमण्डल को आलोकित कर दो। वह प्राचीन शौर्य, वीरता और त्याग अब भी तुम में विद्यमान है, केवल तुम्हारे तत्पर होने की देर है। जब इस जाति का जीवन ही तुम्हारे हाथ में है, तब तुम अग्रसर होने के लिए किसकी प्रतीक्षा कर रही हो। प्राचीन माताओं की सन्तानों, अपनी इस जाति का उद्धार करो। भगवान तुम्हें इस कार्य में अवश्य विजय प्रदान करेगा।



३

शिक्षा-समस्या



हम अक्सर देखते हैं कि, बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने वर्षों तक विद्याध्ययन करने में घोर परिश्रम किया है, पर यदि व्यावहारिक—अनुभूत शिक्षा उन्हें नहीं मिली तो विद्या पढ़ कर भी, वे अपने कार्यों में यथेष्ट सफलता नहीं कर पाये। परन्तु, जो व्यक्ति अधिक विद्वान् न होने पर भी अनुभूत और व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त करता है—वह सहज में अपनी उन्नति कर लेता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति विद्या और व्यावहारिक शिक्षा दोनों में पारंगत होता है—वह तो किसी भी कार्य में प्रवेश कर सुगमता से अपनी उन्नति करने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से यह कहना असंगत न होगा कि, व्यावहारिक शिक्षा का महत्व केवल विद्याध्ययन से कहीं अधिक है। इसके उदाहरण भी हमारे सामने हैं। आजकल इस सुधरे हुए जमाने में भी यूनिवर्सिटियों की बी० ए० और एम० ए० की उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले छात्रों को किसी खास विषय की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त

करना अनिवार्य समझा जाता है। बड़े से बड़ा विद्वान् छात्र भी जब तक किसी खास विषय का व्यावहारिक ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता—तब तक उसकी शिक्षा अधूरी ही रहती है। इस विषय पर विस्तार से लिखने के पूर्व हमें यह देखना है कि, जिस समय हमारे पूर्व पुरुष अपने जन्मस्थान राजपूताने में रहते थे—उस समय इस संबन्ध में उनकी कैसी मनोवृत्ति रही थी और वे किस प्रकार शिक्षा को अपनाते थे।

पूर्वजों का शिक्षा-सम्बंधी दृष्टिकोण—

यह सर्वथा सत्य है कि, अतीत काल में हमारे पूर्वजों ने विद्या प्राप्त करने में यथेष्ट ध्यान नहीं दिया था। वे केवल व्यवहार में आनेवाले अपने साधारण अनुभूत ज्ञान से ही अपना काम चलाते रहे। प्राचीन अनुशीलन से पता लगता है कि, उनका वह समय ही कुछ ऐसा था कि, अधिक विद्या प्राप्त न करने पर भी उनका काम बिना किसी कठिनाई के चल जाया करता था। देश का दायरा छोटा था, यातायात सीमाबद्ध था, स्वदेशी राजसत्ता थी और अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों का उस समय नामोनिशान भी नहीं था। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार साधारणतया सभी वस्तुएँ अपने प्रान्त में पैदा कर ली जाती थीं। आजकल की तरह मनुष्यों की आवश्यकताएँ भी बढ़ी हुई नहीं थीं। शान्ति और सुख का जीवन था। सामाजिक व्यवस्था भी कुछ ऐसी बनी हुई थी कि, उनके सभी कार्य सहज में सम्पन्न हो जाते थे। उस समय उनकी वर्ण-व्यवस्था इतनी सुन्दर और उपयोगी थी कि, सर्वसाधारण व्यक्तियों का काम बिना अधिक विद्या प्राप्त किये अपनी पैतृक अनुभूत शिक्षा के आधार पर मजे में चल जाता था। जातीय संगठन भी सुव्यवस्थित था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण अपना अपना कर्म करते थे। इनमें समुचित रूप से विद्या प्राप्त करना ब्राह्मणों के जिम्मे था। क्षत्रिय देश की रक्षा का भार लिए हुए थे। वैश्य धनोपार्जन कर अन्य वर्गों को आर्थिक सहायता देते थे और शूद्र सेवा धर्म को अंगीकार कर अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे।

इन चारों वर्णों का कार्य भिन्न-भिन्न होने पर भी परस्पर में अनुचित रीति से ऊँच-नीच की भावना पैदा नहीं होने पाती थी। अपने अपने कर्म को कर्त्तव्य समझते हुए, बिना किसी प्रकार की डाह के वे शान्तिमय जीवन व्यतीत करते थे। यद्यपि खान-पान और रस्म-रिवाजादि में भेद था, तथापि परस्पर में दुर-दुर और छिर छिर नहीं थी। विवाह शादियों के समय जब भोज होता था, तो सभी वर्णों के व्यक्ति अपने अपने दर्जे के अनुसार उचित रीति से शामिल होते थे। व्यक्तियों का लक्ष्य आध्यात्मिकता की ओर अधिक था, लौकिकता प्रायः गौण समझी जाती थी। ब्राह्मण विद्याध्ययन करते हुए अन्य सभी वर्णों को अपने अनुभव के अनुसार लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की शिक्षा सूत्र रूप से प्रायः मौखिक ही दिया करते थे। वे निर्लोभी और निस्पृह थे। उन पर यह जिम्मेदारी रहती थी कि किसी भी वर्ण के व्यक्तियों को वे कर्त्तव्यच्युत न होने दें। समय की आवश्यकता के अनुसार जो कर्म करने योग्य होता, उसे वे धर्म का रूप देते थे और जिस कर्म के करने से जाति और देश की हानि होती देखते, उसका निषेध करते हुए उसे पाप बतलाते थे। असल बात यह थी कि, ज्ञान विषयक सभी बातें ब्राह्मणों के अधिकार में थीं और आवश्यकता होने पर समाज के व्यक्ति ब्राह्मणों द्वारा काम निकाल लेते थे।

उस समय आजकल की तरह न स्कूल थे और न कालेज। साधारण रूप से गुरुशालाएँ और पाठशालाएँ होती थीं, जिनमें बालक काम चलाऊ पट्टी-पहाड़े और गणितादि की साधारण शिक्षा प्राप्त कर अपना काम चला लेते थे। जिस वर्ण का जो व्यक्ति होता, उसे अपने पैतृक व्यवसाय की शिक्षा क्रियात्मक रूप से अपने घर में ही मिल जाया करती थी, और वह वैसा ही काम करने लगता था। शायद यही कारण था कि, उस समय वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर ही मानी जाने लगी थी।

यह एक मानी हुई बात है कि हमारे पूर्वज विद्यावान न होने पर भी

व्यावहारिक अनुभवी बहुत होते थे। इसका कारण यह था कि, अपने व्यवहार में आनेवाली सभी बातों पर वे गौर से विचार किया करते थे। किस काम के करने से हानि होती है और किस काम के करने से लाभ, इसका विवेक उनमें बहुत था और उसी अनुभव के आधार पर वे अपने विचारों का सूत्र रूप से मौखिक प्रचार करते रहते थे। उन्होंने कई प्रकार की ऐसी अनुभूत कहावतें बना रखी थीं, जिनके सहारे समाज के व्यक्तियों को कर्त्तव्य कर्म की शिक्षा सहज में मिल जाया करती थी। शिक्षा के सम्बन्ध में यही अवस्था प्राचीन समय में हमारे पूर्वजों की थी। इस सन्तोषप्रद सुन्दर वातावरण में उन्हें यह चिन्ता करने की जरूरत ही क्या थी कि, वे इस बात की कल्पना करते कि, आगे चल कर एक ऐसा समय भी आवेगा कि, हमारी सन्तानों को अपना राजस्थान छोड़ कर अन्य प्रान्तों और विदेशों में जाना होगा, स्वदेशी राजसत्ता बदल कर विदेशियों के हाथों में चली जायगी, अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें इस प्रकार आ खड़ी होंगी कि, उनको सुलझाने के लिए, बिना यथेष्ट विद्या प्राप्त किये काम ही नहीं चल सकेगा। परन्तु समय परिवर्तनशील होता है। बराबर एक सी स्थिति बनी रहे, यह संभव नहीं। इस साधारण नियम के अनुसार समय ने पलटा खाया। पूर्वजों के शान्तिमय जीवन में परिवर्तन होने लगा, आवश्यकताएं बढ़ चलीं। परिणाम यह हुआ कि, धनार्जन के लिए उन्हें अन्य प्रान्तों में जाना आवश्यक हो गया। वे अपने राजस्थान से चलकर अन्य प्रान्तों में आये और वाणिज्य-व्यापार करने लगे। हम पहले कह आये हैं कि वे विशेष पढ़े लिखे और विद्वान् नहीं थे, साधारणतया बिना मात्राओं के मुड़िया हरफ और गणित को ही वे जानते थे, परन्तु वाणिज्य व्यापार की पैत्रिक अनुभूत शिक्षा मिली हुई होने के कारण उन्हें अन्य प्रान्तों में सफलता मिली, और वे व्यवसायादि कार्यों में आगे बढ़ चले।

हमने यहां जो विवेचन किया है, उससे पाठक यह न समझें कि



स्वर्गीय जयनारायणजी पोद्दार
(सुप्रसिद्ध मुनीम—सेठ ताराचन्द घनश्यामदास)

हमने विद्या के महत्व की अवहेलना की है और मारवाड़ी जाति के पूर्व पुरुषों को व्यर्थ ही प्रशंसा के पहाड़ पर चढ़ाया है, यह बात कदापि नहीं है। असल बात यह है कि विद्या का महत्व अवश्य ही बहुत बड़ा है और उसके बिना कोई भी मनुष्य अपनी सम्पूर्ण उन्नति करने में समर्थ नहीं होता, परन्तु व्यावहारिक शिक्षा और अनुभव भी एक जबर्दस्त चीज़ है। उसके बिना बड़े से बड़ा विद्वान् भी सफलता प्राप्त करने में अधूरा रह जाता है। आज हमें ऐसे अनेक व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जो पढ़े लिखे और विद्वान् तो बहुत हैं, परन्तु व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण अपनी उन्नति नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि व्यावहारिक ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति अधिक विद्वान् न होने पर भी अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि यह वर्णन हमने प्राचीन समय को ध्यान में रख कर ही किया है। परन्तु अब देश का दायरा बहुत बढ़ गया है, राजसत्ता स्वदेशी नहीं रही, अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें इस प्रकार मुंह बाये खड़ी रहने लगी हैं कि, उनको सुलझाए और समझे बिना काम नहीं चल सकता। नये-नये आविष्कार इतने अधिक हो गये हैं कि, व्यापार की प्राचीन बँधी हुई रीति-रिवाज सर्वथा बदल गई है। तार, टेलीफोन और वायरलेस ने तो व्यापार की काया ही पलट दी है। अपने नगर और ग्रामों की तो बात ही क्या, प्रान्तों तथा विदेशों तक का व्यापार इन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आवश्यकता से बहुत अधिक प्रकट में आ गया है। आज हम योरप, अमेरिका, और चीन, जापान आदि देशों की बातें मिनटों में टेलीफोन तथा बिना तार के तारों से जान लेते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें और एक्सचेंज आदि की नीति, तथा उसका हेरफेर भारतीय व्यापार पर इतना असर डालने लगा है कि, अब नाना प्रकार की विद्या और नाना प्रकार की भाषाएं तथा अन्य देशों के रस्म-रिवाज एवं सब प्रकार के व्यापारों का अनुभव प्राप्त किए

वर्तमान स्थिति—

बिना काम नहीं चल सकता। पुराना समय प्रायः बदल गया है। अब तो यह अवस्था उत्पन्न हो गई है कि, जो जाति अधिक से अधिक विद्या सम्पन्न होगी तथा अन्तर्देशीय भाषाओं का ज्ञान जिसे अधिक होगा, वही अपनी स्थिति क़ायम रख सकेगी। जिस जाति में विद्या के साथ-साथ व्यापारिक अनुभव और व्यावहारिकता अधिक होगी, वह आगे बढ़ जायगी और जिसमें विद्या की कमी के साथ ही व्यापार सम्बन्धी व्यावहारिक अनुभवों का भी अभाव होगा, उस जाति का अस्तित्व तक कठिन हो जायगा।

इस परिस्थिति में मारवाड़ी जाति यदि अपना दृष्टिकोण न बदले तो उसका परिणाम यह होगा कि वह पीछे पड़ जायगी और व्यापार में प्राप्त किया हुआ शीर्षस्थान भी लुप्त हो जायगा तथा साधारण वाणिज्य व्यापार में भी अन्य व्यापारिक जातियों की समता न कर सकेगी।

ऐसी अवस्था में अब हमें इस बात पर विचार करना है कि, क्या मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने समय की आवश्यकतानुसार विद्या प्राप्त करने में कोई परिवर्तन किया है या नहीं? इस सम्बन्ध में यद्यपि यह हर्ष की बात है कि, कुछ वर्षों से समाज की आँखें खुली हैं और वर्तमान समय की विद्या-सम्बन्धी आवश्यकताओं को मारवाड़ी समाज के व्यक्ति समझने लगे हैं। आज के प्रायः तीस चालीस वर्ष पूर्व तक जहाँ यह अवस्था थी कि, मारवाड़ी समाज में ग्रेजुएट छात्रों की तो बात ही क्या, मैट्रिक पास व्यक्ति भी मुश्किल से अँगुलियों पर गिनने भर को ही मिलते थे, वहाँ अब इतनी उन्नति अवश्य हुई है कि इस समय मैट्रिक की अपेक्षा सैकड़ों व्यक्ति बी० ए०, एम० ए०, वकील, बैरिस्टर, इञ्जिनियर और डाक्टर आदि दीख पड़ने लगे हैं। समाज के व्यक्तियों की यह एक साधारण धारणा हो गई है कि, आधुनिक शिक्षा प्राप्त किए बिना अब काम चलना कठिन है। इस लक्ष्य से वे अपने बालकों को गुरुशालाओं के सिवा स्कूलों में भी दिलचस्पी के साथ भेजते हैं।

इस जाति का यह परिवर्तन निश्चय ही आशाप्रद है। फिर भी यह कहना अनुचित नहीं है कि, अभी बहुत अधिक कमी बनी हुई है। जो बालक स्कूलों में भर्ती किये जाते हैं, उनके लिए समाज ने कोई ऐसा ध्येय अबतक कायम नहीं किया है कि, कम से कम उन्हें इतनी हद तक तो अवश्य ही पढ़ना चाहिए। इस प्रकार से कोई निश्चित ध्येय सामने न रखने का परिणाम यह होता देखा जाता है कि, सैकड़ें पीछे अस्सी छात्र तो अधिक से अधिक छठे व सातवें क्लास तक ही पढ़ कर स्कूल छोड़ देते हैं। बीस प्रतिशत छात्र मैट्रिक तक पहुंचते हैं। यह संख्या सन्तोषप्रद नहीं है। मैट्रिक से आगे बढ़नेवाले छात्रों की संख्या तो और भी कम है। पांच-सात प्रतिशत छात्र आगे बढ़ते हैं। शिक्षितों की इस छोटी सी संख्या से न तो समाज की वर्तमान आवश्यकता ही पूरी हो सकती है, और न मारवाड़ी समाज में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार ही हो सकता है। हां, यह एक बात अवश्य ही श्लाघनीय है कि, उच्च शिक्षा प्राप्त करने में अबतक जितने भी मारवाड़ी छात्र आगे बढ़े हैं, वे अन्य जातियों के छात्रों की अपेक्षा सन्तोषजनक रूप में उत्तीर्ण हुए हैं। इस सम्बन्ध में हमने कई बार कितने ही अध्यापकों, प्रोफेसरों तथा अन्य विद्वानों से सुना है कि, मारवाड़ी जाति के छात्रों में सभी प्रकार की उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता विद्यमान है। उन्होंने यह भी बतलाया कि अन्य जातियों के छात्र जहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने में बड़ी संख्या में अनुत्तीर्ण होते हैं, वहाँ मारवाड़ी जाति के छात्र आशातीत योग्यता के साथ उत्तीर्ण हो जाते हैं। एक बार स्थानीय 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' में छात्रों को पारितोषिक देते हुए विज्ञानाचार्य सर पी० सी० राय ने भी कहा था कि, "मैंने मारवाड़ी जाति के क्षेत्र की परीक्षा की है, इस क्षेत्र को मैंने बहुत ही उपयोगी पाया है। केवल आवश्यकता यह है कि, इसमें आवश्यक खाद दी जाय।"

उच्च शिक्षा की ओर बढ़े हुए मारवाड़ी छात्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार

की सम्मति, शिक्षा के विद्वानों द्वारा मिलती है, जो निश्चय ही मारवाड़ी जाति के लिए सन्तोष एवं गौरव की बात समझी जानी चाहिए। परन्तु यह कम खेद की बात नहीं है कि, विद्वानों की सम्मति इस प्रकार की होने पर भी इस जाति के छात्र कुछ मामूली समय तक बहुत साधारण सी विद्या प्राप्त कर के ही स्कूल छोड़ दें और अस्सी प्रतिशत बालक उच्च शिक्षा प्राप्त करना तो दूर रहा मैट्रिक तक भी आगे न बढ़ें। हमने ऊपर बतलाया है कि, सैंकड़े पीछे बीस छात्र मुश्किल से मैट्रिक तक पहुंचते हैं। जिनमें पन्द्रह प्रतिशत तो वहीं रुक जाते हैं, शेष पांच-सात प्रतिशत छात्र कालेजों में भर्ती होते हैं। इस प्रकार मन्दगति से मारवाड़ी जाति शिक्षा सम्बन्धी अपनी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। उचित तो यह था कि शिक्षा के अनुभवी विद्वानों की सम्मति से उत्साहित होकर मारवाड़ी समाज जातीयता की दृष्टि से कोई ऐसा उत्तम एवं सुदृढ़ प्रबन्ध करता, जिससे जो छात्र कुछ ही समय तक स्कूलों में पढ़ कर पढ़ाई छोड़ देते हैं, उनमें आगे बढ़ने का उत्साह पैदा होता। जाति के होनहार बालकों में शिक्षा प्रचार करने के उद्देश्य से एक ऐसा जातीय कोष निर्मित किया जाता जिससे उन छात्रों को जो धनाभाव के कारण आगे बढ़ने में असमर्थ हैं, विद्योपार्जन के लिए आवश्यक सहायता मिलती रहती। वर्त्तमान सरकारी स्कूल, कालेजों का खर्च इतना अधिक हो गया है कि, साधारण स्थितिवाला गृहस्थ इच्छा होने पर भी, अपने बालकों को अधिक समय तक विद्याध्ययन नहीं करा सकता और मजबूरन उसे अपने बालकों को शिक्षा से वंचित रखना पड़ता है। जातीय शिक्षा कोष में यह व्यवस्था रहती कि, जो बालक खर्च के अभाव में स्कूल छोड़ रहा है उसे स्कूल का खर्च दिया जाता और कम से कम उसके लिए मैट्रिक तक पढ़ने की व्यवस्था तो अवश्य ही की जाती। इसके अतिरिक्त जो छात्र मैट्रिक पास कर लेता और तीव्र बुद्धि का दिखाई पड़ता तथा जिसकी अवस्था स्वयम् कालेज का खर्च वहन करने की

नहीं होती, उसे विशेष रूप से सहायता देकर आगे बढ़ाया जाता तो, आज मारवाड़ी समाज में उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की संख्या जो बहुत ही थोड़ी दिखाई पड़ती है, बहुत अधिक दीख पड़ने लगती। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इस व्यापार-पटु, धनिक जाति के कर्णधारों ने समुचित रूप से शिक्षा की ओर ध्यान न देकर केवल "श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय" जैसे दो चार स्कूल खोल कर ही सन्तोष कर लिया। इस प्रकार विद्या के सम्बन्ध में समाज की आवश्यकता समुचित रूप से पूरी न हो सकी। उसका परिणाम यह देखने में आ रहा है कि, आज व्यापार की पुरानी शैली बदल जाने से उद्योग-धन्धों के इस नये युग में व्यापार को अपनाने के लिए विद्या की कमी मारवाड़ी जाति के लिए विशेष रूप से खटक रही है। आज कल गुजराती-भाटिए आदि अधिक पढ़े लिखे व्यक्ति मारवाड़ियों की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ आगे बढ़ रहे हैं और मारवाड़ी जाति स्वभावतः व्यापार-पटु होने पर भी व्यापार की इस नई दौड़ में पीछे पड़ने लगी है। यद्यपि यह सच है कि, व्यापारिक साहस अधिक होने के कारण इस परिवर्तित अवस्था में भी मारवाड़ी जाति के धनिक व्यक्ति इस नई दौड़ में हिस्सा अवश्य ले रहे हैं, तथापि ध्यान देकर देखा जाय तो मालूम होगा कि, जाति के सार्वजनिक हित के खयाल से यह अवस्था सन्तोषजनक नहीं है। क्या ही अच्छा होता कि, मारवाड़ी समाज कुछ वर्षों पूर्व चेत गया होता और अपने बालकों के लिए कम से कम मैट्रिक तक पढ़ने का प्रबन्ध तो अनिवार्य रूप से कर सकता। यदि इतना हो जाता तो आज व्यापार के इस नये युग में भी उसका दर्जा वही रहता, जिस पर वह प्राचीन काल से आरूढ़ चला आ रहा है। अब भी समय है। आवश्यकता इस बात की है कि, मारवाड़ी समाज अब भी चेते और जातीयता की दृष्टि से कोई ऐसा सार्वजनिक संगठन करे. जिससे न केवल विद्या का अभाव ही दूर हो वरन् व्यापार की इस नई दौड़ में भी इस जाति का स्थान पूर्ववत् कायम रह सके।

शिक्षा का लक्ष्य—

अब तक हमने शिक्षा के सम्बन्ध में प्राचीन और वर्तमान शिक्षा प्रणाली को ध्यान में रख कर व्यावहारिक दृष्टि से ही कुछ विवेचन किया है। परन्तु, अब हमें यहां शिक्षा के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। शिक्षा ही एक ऐसी चीज़ है जिसकी भलाई बुराई न केवल व्यक्तियों को ही वरन जाति, समाज और राष्ट्र को बना और बिगाड़ सकती है। शिक्षा का लक्ष्य सब प्रकार से उत्तम और निर्दोष होता है तो उसके कारण व्यक्ति ही नहीं, किन्तु समाज और देश—सभी का उत्थान होने में देर नहीं लगती परन्तु शिक्षा में त्रुटि बनी रहे तथा उसका लक्ष्य किसी प्रकार भी दूषित हो तो, उससे लाभ के बदले हानि ही होने की अधिक संभावना रहती है।

यह तो एक निर्विवाद बात है कि, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात इस देश में अंग्रेजों की राजसत्ता स्थापित होने के साथ साथ उनके ही द्वारा हुआ है। ईष्ट इण्डिया कम्पनी के तत्कालीन कर्णधार कर्नल क्लाइव ने अपनी विचित्र राजनैतिक चातुरी के सहारे जब पलासी के मैदान में मुर्शिदाबाद के नवाब सिराजुद्दौला को परास्त किया और बाद में बंगाल पर ईष्ट इण्डिया कम्पनी की राजसत्ता स्थापित हुई, तो इस देश का दृष्टिकोण एक दम बदल गया। जो अंग्रेज़ जाति भारतवासियों की कृपा-पात्र और मुखापेक्षी बन कर वाणिज्य-व्यापार में दो रोटियों का जुगाड़ करने के लक्ष्य से हिन्दुस्थान में आई थी, वह इस देशवासियों की राजनैतिक हलचल और साम्प्रदायिक कलह के कारण, उन्हीं का सहारा पाकर अपनी राजसत्ता स्थापित करने में सफल हुई। लार्ड क्लाइव के बाद कम्पनी के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स ने अपने दीर्घ-कालीन अनुभव से कुछ ऐसी नीति का प्रचार किया कि अंग्रेजों की संदिग्ध राजसत्ता का पैर जम गया और वह परिपुष्ट होने लगी। अंग्रेजों का मन बढ़ चला। उन्होंने इस बात पर गंभीर

विचार करना प्रारंभ कर दिया कि, भारतवर्ष में किस प्रकार की शिक्षा का प्रचार किया जाय, जिससे भारतवासियों का मन हमारी ओर आकर्षित हो और अंग्रेजी राजसत्ता सुदृढ़ बन सके। उन्होंने इङ्गलैण्ड में वर्षों तक इस विषय पर विचार किया। प्रायः पचास साठ वर्षों तक इस विषय की उधेड़-बुन में लगे रहने के बाद उन्होंने सन् १८३३ के लगभग लार्ड मेकाले की योजना से वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का ढाँचा तैयार किया। इस विषय का इतिहास बहुत बड़ा है, जिसका अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का निर्माण करने में उन्होंने अपने दृष्टि-कोण से कितनी दूरदर्शिता से काम लिया था। उन्होंने यह लक्ष्य अपने सामने रखा कि, भारतवासियों में अविद्या के कारण कूपमण्डूकता और अन्धविश्वास भरा हुआ है। वह इस ढंग से दूर किया जाय कि, वे यह समझने लग जाँय कि, हम शिक्षित और विद्वान् बनाये जा रहे हैं। इसके साथ ही उन्हें ऐसे ढाँचे में भी ढाला जाय कि वे पढ़ लिख कर ऐसे भावों को धारण कर सकें जिससे कि वे हमारी अंग्रेजी राजसत्ता के सहायक एवं साथी बन सकें। इस लक्ष्य से उन्होंने वैसी ही व्यवस्था की। परिणाम यह हुआ कि, वे सफल हुए और जिस हद तक हिन्दुस्थान में उनकी निर्धारित शिक्षा का प्रचार हुआ उसी हद तक भारतवासी एक विचित्र साँचे में ढलने लगे।

साधारणतया शिक्षा का मूल उद्देश्य यह होना चाहिए कि उसे प्राप्त कर मनुष्य सदाचारी, धार्मिक, ज्ञानवान, स्वाभिमानी और देशभक्त बन सके तथा देश का धन और मान बढ़ाने में समर्थ हो। इसके अतिरिक्त जन सेवा में वह अपनी शक्ति अनिवार्य रूप से लगा सके। परन्तु ईष्ट इण्डिया कम्पनी की योजना तथा व्यवस्था से जिस ढंग की शिक्षा दी जाने लगी उसका नतीजा अधिकतर यह सामने आया कि लोग साक्षर और विद्वान् तो बनने लगे, पर साथ ही अनाचार, अधार्मिकता, आत्मग्लानि, भीरुता, परावलम्बन और व्यक्तिगत स्वार्थपरता की मात्रा

भी उनके हृदय में जग पड़ी। व्यक्तिगत स्वार्थ के सामने देश हित और समाज हित का भाव घट चला। उस शिक्षा का सबसे अधिक प्रभाव यह हुआ कि भारतवासी स्वावलम्बी और स्वाभिमानी बनने के बजाय गुलामी के ढाँचे में ढलने लगे। ईष्ट-इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने बड़ी ही दूरदर्शिता से सरकारी नौकरियों के वेतन का ऐसा ऊँचा स्टैण्डर्ड कायम किया कि उसके प्रलोभन में फँस कर नई शिक्षा पानेवाले भारतवासी उसी की ओर झुकने लगे। पाठकों को यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि नौकरी सम्बन्धी वेतन का जैसा स्टैण्डर्ड ईष्ट-इण्डिया कम्पनी ने हिन्दुस्थान में कायम किया, वैसा अन्य किसी भी देश में देखने में नहीं आता।

इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवासी नौकरी पेशे पर लट्टू हो गये। यह भाव कई जातियों में सबसे अधिक आया। उनमें स्वतन्त्र व्यवसाय करने की भावना जाती रही। यहाँ पर हम यह कहे विना नहीं रह सकते कि, ईष्ट इण्डिया कम्पनी के दूरदर्शी खिलाड़ियों ने जो कल्पना की थी, वह अद्भुत थी और वे उसमें भली प्रकार सफल भी हुए। एक ओर तो उन्होंने भारतवासियों के हृदय में शिक्षित होने का जादू पैदा कर दिया और दूसरी ओर अपना शासन-शकट सुगमता से चला सकने में सफल मनोरथ हुए। आज तो यह अवस्था है कि, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने देश में इतने गुलाम पैदा कर दिये हैं कि, उन सबको सरकारी दफ्तरों में नौकरी मिलना भी असंभव हो गया है और हजारों ही नहीं लाखों शिक्षित बेकारी के शिकार बने फिर रहे हैं। उनके लिए नौकरी प्राप्त करना ही उनकी शिक्षा का महामन्त्र है। उनमें ऐसी कोई समझ ही दिखाई नहीं पड़ती कि, नौकरी न मिले तो वे कोई स्वतन्त्र व्यापार तथा छोटा-मोटा उद्योग-धन्धा कर सकें। यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का कुपरिणाम नहीं तो और क्या समझा जाय?

कितने खेद की बात है कि, कथित उच्च शिक्षा प्राप्त करनेवाले

समाज के सच्चे हितैषी जातिसेवक



स्वनामधन्य स्वर्गीय सेठ हुलासचन्दजी गोयनका
(फर्म—नागरमल रामकिशन)

भारतवासियों की मनोवृत्ति, जहाँ यूरोप आदि स्वतन्त्र देशों की तरह स्वावलम्बन और स्वतन्त्र व्यापार की तरफ होनी चाहिए थी, वहाँ इस विचित्र शिक्षा-प्रणाली ने भारतवासियों को केवल दासता की ओर झुका दिया है। पढ़े लिखे लोगों की मनोवृत्ति अधिकतर यह हो गई है कि, स्वतन्त्र वाणिज्य-व्यापार करने में पहले पहल बहुत से कष्टों का सामना करना पड़ता है और सफलता तब मिलती है जब बर्षों तक घोर परिश्रम किया जाता है। इससे तो यही अच्छा है कि, स्कूल कालेजों से निकलते ही नौकरी पेशा ग्रहण किया जाय जिससे बिना विशेष प्रयास के पेट पालन हो सके। इस मनोवृत्ति ने देश के आशास्थल और होनहार नवयुवकों को कर्मवीर न बना कर गुलाम बना दिया है। उनमें वह शक्ति ही नहीं रही कि, वे अपनी स्वतंत्रता, देशहित, आत्मगौरव तथा स्वतंत्र वाणिज्य-व्यापार की कल्पना भी कर सकें। यह एक मानी हुई बात है कि, मनुष्य बचपन में जैसी शिक्षा प्राप्त करता है आगे चल कर उसी के अनुसार तैयार होता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में यदि गुलामी के भावों की अपेक्षा स्वतंत्र विचारों का समावेश होता तो निश्चय ही भारतवासी स्वतंत्र विचारवाले बन कर देश की समस्त आवश्यकताओं को पूरी करने में दिलचस्पी लेते, परन्तु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने ऐसा नहीं होने दिया। हम देखते हैं कि वर्तमान शिक्षा पाये हुए कुछ व्यक्ति स्वतंत्र विचारवाले और देशभक्त भी हुए हैं, परन्तु इसका श्रेय वर्तमान शिक्षा को नहीं, प्रत्युत् उनकी प्रबल इच्छा शक्ति को ही दिया जा सकता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि, देश के दर्द और आवश्यकता को पहचाननेवाली आत्माएँ प्रत्येक देश में समय-समय पर हुआ ही करती हैं।

वर्तमान शिक्षा की हमारे लिये अनुपयोगिता—

मारवाड़ी समाज के लिये वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-प्रणाली उपयोगी है या नहीं तथा इस शिक्षा-प्रणाली का असर इस जाति के व्यक्तियों पर कैसा पड़ा है, इत्यादि बातों का विचार करने के पूर्व हमें मारवाड़ी जाति के सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना आवश्यक है। मारवाड़ी

जाति स्वभावतः व्यापारी जाति है। इस जाति के हाथ से यदि वाणिज्य व्यापार निकल जाय अथवा यों कहिए कि, प्राचीन समय से चली आती हुई व्यापार की स्वाभाविक निपुणता का इससे लोप हो जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि, आज इस जाति का जो नाम देश-विदेशों में विख्यात हो रहा है, वह सहज में नष्ट हो जायगा और आगे चल कर शायद यह दृश्य भी देखना पड़े कि, भारतवर्ष में मारवाड़ी नाम की कोई गणनीय जाति ही नहीं है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि, मारवाड़ी जाति के शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों का विचार प्रधान रूप से व्यापार की दृष्टि से ही किया जाय। हो सकता है कि, अन्य भारतीय जातियों के लिये शिक्षा का उद्देश्य व्यापार की अपेक्षा कोई दूसरा भी हो, किन्तु मारवाड़ी जाति के लिये तो यह निश्चित एवं निर्विवाद बात है कि, उसका अस्तित्व व्यापार से ही है और उसके शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न का निर्णय भी व्यापारिक दृष्टि से ही करना चाहिए। इस दृष्टि से अब हमें यह देखना चाहिये कि, वर्तमान समय में आजकल की सरकारी युनिवर्सिटियों द्वारा जो शिक्षा दी जाती है तथा जिस ढंग की शिक्षा-नीति काम में लाई जाती है, वह क्या वास्तव में मारवाड़ी जाति के लिए उपयोगी है? क्या इस प्रकार की शिक्षा से अब तक मारवाड़ी जाति का कोई वास्तविक हित साधन हुआ है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका विचार हमें अनुभव, व्यावहारिकता और गम्भीर गवेषणा से करना होगा। हो सकता है कि, बहुत से व्यक्ति आजकल की नई शिक्षा की तड़क-भड़क से आकर्षित एवं मोहित होकर यह समझ लें कि, वर्तमान शिक्षा बहुत उत्तम है और हमें उससे सन्तोष करते हुए उसी का आश्रय लेना चाहिए। आजकल के पढ़े-लिखे व्यक्तियों में आई हुई कुछ सभ्यता तथा उनके रहने के साफ सुथरे ढंग और साहित्यिक ज्ञान आदि को देख कर वर्तमान शिक्षा पर हम लट्टू हो सकते हैं। परन्तु जब हम वाणिज्य-व्यापार की दृष्टि से गंभीर विचार करते हैं और उसके परिणाम पर पहुंचते हैं तो हमें सहसा

यह कहना पड़ता है कि, बाहरी तड़क-भड़क के अतिरिक्त वास्तविक व्यापारी बनाने का गुण वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में कुछ भी नहीं है। उलटे यह देखा जाता है कि, मारवाड़ियों ने वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा प्राप्त न करके अपनी स्वाभाविक व्यापारिक योग्यता से जितनी उन्नति की है उतनी उन्नति वर्तमान युनिवर्सिटियों के ग्रेजुएट बननेवाले व्यक्ति नहीं कर सके। ऐसा प्रमाण तो शायद ही मिलेगा कि, उच्च से उच्च वर्तमान शिक्षा प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति वास्तव में सुदक्ष व्यापारी बन पाया हो। हाँ, यह पता अवश्य लगता है कि, अनेक व्यक्तियों ने आजकल की उच्च से उच्च विद्या प्राप्त कर वाणिज्य-व्यापार की अपनी स्वाभाविक योग्यता से हाथ अवश्य धो लिया है। मारवाड़ी जाति का इतिहास हमें बतलाता है कि, कम पढ़े लिखे मारवाड़ी बालक अपनी किशोरावस्था पार करते ही वाणिज्य-व्यापार में लग जाते थे और पहले पहल छोटा सा व्यापार करते हुए आगे चल कर अपनी उन्नति कर लेते थे। परन्तु अब हम देख रहे हैं कि, जब से आधुनिक शिक्षा का प्रचार हुआ है और मारवाड़ी जाति के बालक आधुनिक शिक्षा की ओर बढ़ने लगे हैं, तब से स्पष्टतया यह देखने में आता है कि, युनिवर्सिटियों की डिग्री प्राप्त कर जब वे बाहर होते हैं तो उनकी वह पैतृक निपुणता, व्यापार सम्बन्धी उनकी स्वाभाविक योग्यता एक प्रकार से हवा हो जाती है। उनका मन साधारण व्यापार की ओर नहीं झुकता। वे वैसे व्यापार से घृणा करने लगते हैं। वैसे काम में लगना वे अपना छोटापन और अपमान समझते हैं। उनके पास चाहे कोई आर्थिक साधन हो या न हो, उसका खयाल न कर वे हवाई महल बनाने के लिए असंभव कल्पना करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि, वे न "घर के रहते हैं और न घाट के।" यह एक मानी हुई बात है कि, आजकल भारतवासियों का जीवन औसतन २३ वर्ष का है। इस अल्प जीवन में यह कितनी आश्चर्यजनक बात है कि, हमारे होनहार बालक युनिवर्सिटियों की

शिक्षा प्राप्त करने में अपनी आयु के प्रायः २५ वर्ष खर्च करें और कतिपय अनावश्यक विषयों को रटते रटते अपनी मानसिक शक्ति का भी ह्रास कर बैठें और उसका नतीजा यह हो कि, हम व्यापार सम्बन्धी अपनी स्वाभाविक योग्यता को भी खो बैठें, सदाचारी बनने के बजाय हम में अनाचार की भावना जग पड़े, देशभक्ति और पूर्व-पुरुषों का प्रेम आत्मग्लानि में परिणत हो जाय, व्यक्तिगत स्वार्थ की मात्रा इतनी बढ़ चले कि, "समाज जाय खाक में हम काहिलों को क्या" वाली कहावत चरितार्थ होने लगे। सच तो यह है कि, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने न तो भारतवासियों को प्रकृत व्यापारी ही बनाया और न कर्तव्य-परायण सच्चे मनुष्य ही। इसीका परिणाम आज स्पष्ट रूप से यह हो रहा है कि, भारतवर्ष में गुलामों की बाढ़ सी आ रही है। उनमें आत्मगौरव की भावना चकनाचूर हो गई है। आत्मग्लानि के शिकार वे इतने बन गये हैं कि, जब कभी वे विचार करते हैं तो न केवल अपने आप को ही किन्तु, अपने देश को, अपने पूर्व पुरुषों को सर्वथा अयोग्य समझने लगते हैं। उनमें अब वह पवित्र भावना नहीं रही कि, हम उस प्राचीन देश में पैदा हुए हैं, जो एक समय जगद्गुरु समझा जाता था और जिसकी संस्कृति ने संसार पर अपना सिक्का जमाया था, जिसमें महर्षि कपिल, कणाद, वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे तत्वज्ञानी महापुरुष पैदा हुए थे, जिसमें मर्यादापुरुषोत्तम राम, नीति-निपुण कृष्ण, धर्मश्रेष्ठ युधिष्ठिर और वीरात्मा भीष्म, भीम तथा अर्जुन जैसे नररत्नों ने जन्म धारण किया था। आज तो यह दशा है कि, हम उसी देश के गौरव और आत्मविश्वास को सर्वथा भूलते जा रहे हैं। आज हम में और भी अनेक बातें ऐसी हैं, जो कि हमें निर्जीव, निर्वीर्य और ग्लानिग्रस्त बना रही हैं। यह वर्तमान शिक्षा का कुपरिणाम नहीं तो और क्या है? आज शिक्षा का जिस प्रकार देशव्यापी प्रचार देखा जाता है, यदि वह सचाई के साथ सार्वजनिक दृष्टि से होता, तो आज भारतवर्ष की इतनी

हीन अवस्था देखने में नहीं आती और वह पुनः अपने जगद् गुरू के पद को प्राप्त कर संसार में आदर्श उत्पन्न करता।

वर्तमान शिक्षा के सम्बन्ध में हमने अब तक जो कुछ लिखा है, वह अनुभव सम्पन्न बात है। इसमें न किसी के साथ व्यक्तिगत द्वेष की भावना है और न विद्या के लिए अप्रेम।

विद्वानों की सम्मतियाँ—

हम यहाँ पर यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि, कोई भी पाठक यह न समझें कि हम विद्या प्रचार के द्वेषी हैं और शिक्षा के सम्बन्ध में उसी प्राचीन प्रणाली के पक्षपाती हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि, अब जमाना बदल गया है। बिना समयानुकूल यथेष्ट शिक्षा प्राप्त किये अब हमारा काम नहीं चल सकता। परन्तु यहां प्रश्न शिक्षा-प्रणाली का है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को न तो हम देशवासियों के लिये हितकर मानते हैं और न खास कर मारवाड़ी जैसे व्यापारी समाज के लिये उपयोगी ही। यह विचार हमारा ही नहीं है। यदि पाठक वर्ग वर्तमान समय के धुरन्धर विद्वानों का मत संग्रह करेंगे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में उनकी कैसी राय है।

स्वर्गीय मि० रामजे मेकडानल्ड—जिनकी गणना संसार के विशिष्ट पुरुषों में होती थी और जिन्होंने बहुत ही साधारण अवस्था से बुद्धिबल के सहारे अपनी उन्नति कर ग्रेट ब्रिटेन की राजसत्ता चलाने में प्रधान मन्त्री का पद पाया था, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि, "मेरा विश्वास है कि, अधिक आदमियों को लाभ पहुंचाने की अपेक्षा वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा कहीं अधिक हानिकारक है।"

मि० बर्नार्ड शा—जिनकी गणना आज संसार के अनुभवी इने गिने विद्वानों में होती है, बड़े जोरदार शब्दों में स्पष्ट प्रकट करते हैं कि, "वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-प्रणाली एक ऐसा चक्रव्यूह है, जो कि, मनुष्यों को अपने चक्र में फंसा कर इतना बेकाम बना देता है कि, उनकी छिपी हुई

स्वाभाविक योग्यताएँ भी सदा के लिये कुंठित हो जाती हैं। उनका यह भी मत है कि, "शासनसत्ता चलानेवाले कर्मचारियों का यह एक ऐसा खेल है कि, जिसके झूठे मोह में फंस कर मनुष्य अपने जीवन के बहुत अधिक कीमती २७ वर्ष इसमें बर्बाद करते हैं परन्तु वास्तविक योग्यता प्राप्त करने से वंचित ही रह जाते हैं।" उन्होंने एक स्थान पर ऐसे महान् व्यक्तियों के ६० नाम गिनाये हैं, जिन्होंने वर्तमान युनिवर्सिटियों के चक्रव्यूह में न फँस कर स्वतन्त्र रूप से शिक्षा प्राप्त की थी और संसार में आज सर्वश्रेष्ठ महान् व्यक्ति समझे जाते हैं।

डाक्टर सर पा० सी० राय—जो कि, संसार के माने हुए लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिक हैं और शिक्षा के सम्बन्ध में जिनका अनुभव महान् समझा जाता है, वर्तमान युनिवर्सिटियों में शिक्षा पाकर भी अपने अनुभव से इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि,—"चाहे वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा से मनुष्य साहित्यज्ञ बनते हों चाहे संसार की भौगोलिक विद्या का ज्ञान अधिकाधिक प्राप्त कर लेते हों, परन्तु वे देश और समाज की अवस्था सुधार सकें और औद्योगिक कर्मठ बन कर वास्तविक मनुष्य बन सकें, ऐसी सामर्थ्य इस शिक्षा-प्रणाली में नहीं है।" आज वर्षों से वे अपने अमूल्य व्याख्यानों द्वारा तथा अपनी पुस्तकों द्वारा जिनमें Life and experience of a Bengali Chemist नामक ग्रन्थ प्रधान है, अपने देशवासी नवयुवक बंगालियों को इस बात का उपदेश दे रहे हैं कि, वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा प्राप्त कर यद्यपि बंगाली जाति ने साहित्य और कानून आदि में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है, तथापि शिक्षा का असली लक्ष्य इतना ही न होना चाहिए कि, जिससे वे पढ़नेवाले किताबी कीड़े बनें और कानूनी खींचातान में अपने दिमाग को खर्च करते हुए नैतिकता को भूल बैठें। शिक्षा का वास्तविक ध्येय यह होना चाहिए कि, उसे प्राप्त कर मनुष्यों की मानसिक शक्ति का विकास हो। उनमें कर्तव्य-परायणता जाग पड़े। देशोद्धार

तथा समाज-सेवा उनका लक्ष्य हो और गुलामी की तरफ न झुक कर उद्योगशील बन सकें। उन्होंने अपनी पुस्तकों और व्याख्यानों में मौके-मौके पर मारवाड़ियों का उदाहरण यह कह कर दिया है कि, इनमें विद्या का यथेष्ट प्रसार न होने पर भी अपनी स्वाभाविक व्यापार-पटुता और उद्योग शीलता के कारण गत डेढ़ सौ वर्षों में बंगाल का धन बटोर लिया है और विद्याविहीन होने पर भी आज अन्य प्रान्तों में आकर समृद्धिशाली बने हुए हैं। इसी लक्ष्य से वे बंगाल के नवयुवकों को होश में लाने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं कि, वे युनिवर्सिटियों की डिग्रियाँ प्राप्त करने का मोह छोड़ दें और वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हुए देश का धन बढ़ाने के लिए मारवाड़ियों की तरह वाणिज्य-व्यापार और उद्योग-धन्धों में संलग्न हों।

मि० गिलवर्ट ब्रेन्डन—ने एक समय इङ्गलैण्ड के तरुणों के लिये एक लेख लिखा था, जिसमें बतलाया था कि, जो नवयुवक वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा प्राप्त कर वाणिज्य-व्यापार में प्रवेश करता है वह किसी काम का नहीं होता। उन्होंने समर्थ युक्तियों से बड़े जोरदार शब्दों में यह सिद्ध कर दिखाया था कि, युनिवर्सिटियों की डिग्रियाँ मनुष्य को अयोग्य बना देती हैं, उनका जीवन-क्षेत्र सीमाबद्ध कर देती हैं और जहाँ तक व्यापार धन्धे का प्रश्न है उसके लिये वे किसी उपयोग के नहीं रहते। उन्होंने औद्योगिक क्षेत्र के महान् व्यक्तियों के जीवन को उदाहरण के लिये सामने रखते हुए निश्चित रूप से बतलाया है कि, वे बड़े-बड़े धनशाली व्यक्ति पहले पहल अपनी साधारण अवस्था से परिश्रमशील बन कर ही बड़े बने हैं और वाणिज्य-व्यापार में तरक्की की है। उन्होंने लिखा है कि, मेरी धारणा है कि, स्कूल-कालेजों के लड़के निपुण व्यापारी नहीं बन सकते। यद्यपि वे अच्छे खिलाड़ी हो सकते हैं, कुर्सी पर बैठ कर चिट्ठी-पत्री पर अपने दस्तखत टेढ़ी-मेढ़ी बड़ी सुन्दर लिपि में कर सकते हैं, नाटक तथा उपन्यास पढ़ लेने में बड़े सुदक्ष हो

जाते हैं, पर यदि उन्हें किसी औद्योगिक काम पर बैठाया जाता है, तो उनकी नज़र हर समय घड़ी की ओर लगी रहती है कि, किस प्रकार निश्चित समय पूरा हो और वे स्पोर्ट्स तथा अन्य प्रकार के चित्तविनोदी खेल में पहुंचे। उन्होंने बड़े चित्ताकर्षक ढंग से उनका खाका खींचते हुए लिखा है कि, डिग्रियाँ प्राप्त करने में जिनकी मनोवृत्तियाँ इस प्रकार के कामों में इतनी लवलीन हो गई हैं, वे बेचारे क्या व्यापार करेंगे और क्या अन्य प्रकार के उद्योग-धंन्धे में लगेंगे।

एंडरू *कारनेगी*—महोदय का नाम संसार में कौन नहीं जानता? उन्होंने वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "इम्पायर बिजिनेस" में लिखा है कि, "मैं संसार के उद्योग-धन्धों और कारखानेदारों को कालेजों के ग्रेजुएटों की लिष्ट में नहीं पाता"। संसार के इस महान् व्यापारी ने अपनी पुस्तक में युनिवर्सिटियों की शिक्षा को व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्तियों के लिए अनावश्यक बतलाया है।

एक *अमेरिकन विशेषज्ञ*—ने व्यापारियों की शिक्षा के सम्बन्ध में लिखा है कि "हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि, हमारा भावी जीवन कर्तव्यशील होगा, न कि अध्ययनशील। अतएव इस बात की हमें चिन्ता रखनी चाहिए कि व्यर्थ की डिग्रियां प्राप्त करने में हमारे तरुण अपने स्वास्थ्य को नष्ट न कर दें।"

इण्डिया कौन्सिल के सदस्य स्वर्गीय भूपेन्द्रनाथ वसु—ने अपने एक बैंकर से कहा था कि, वे अपने यहाँ इस बंगाली नवयुवक को उम्मेद-वारी में रख लें। इस पर उस बैंकर ने उस २२ वर्ष के ग्रेजुएट की ओर देखा और सिर हिला कर कहा कि, "मेरे नौजवान दोस्त! तुमने अपने जीवन का बहुमूल्य समय खो दिया, और मुझे भय है कि, तुम्हारा यह प्रयत्न भी निराशाजनक ही होगा। हमारे यहाँ १४ वर्ष के लड़के भरती किये जाते हैं, जो साधारण पढ़े लिखे होते हैं। भरती होकर

कार्यकुशल समाजसेवी



स्वर्गीय दौलतरामजी चोखानी

हमारे यहाँ वे सभी काम करते हैं। वे कमरे साफ करते हैं, टेबलों की धूल झाड़ते हैं, चिट्ठी-पत्री लगाते हैं, इस बीच में उनके पास जो समय बचता है उसमें वे एकाउन्टेन्सी, बुक-कीपिंग और व्यापारिक पत्र-व्यवहार सीखते हैं। इस प्रकार कुछ समय में वे व्यापार संचालन के पूरे विशेषज्ञ बन जाते हैं और वे ही हमारे यहाँ जिम्मेदार पद प्राप्त कर लेते हैं"। पाठक ही विचार करें कि, उक्त बैंकर महोदय का कथन व्यावहारिकता की दृष्टि से कितना सत्य है और किस प्रकार व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए आरंभ से ही कठोर जीवन व्यतीत करना पड़ता है तथा किस प्रकार छोटे से छोटा काम शुरू कर ऊपर उठना होता है।

इस प्रकार अनेक सज्जनों ने व्यापारिक तथा औद्योगिक दृष्टि से वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-प्रणाली को हितकर होने के बजाय हानिकर होना बतलाया है। हमने थोड़े से विद्वानों की सम्मतियाँ उदाहरण के लिए उद्धृत की हैं, इसी से पाठक समझ सकेंगे कि, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली सर्वसाधारण के लिये कितनी अनुपयुक्त है।

व्यावहारिक शिक्षा द्वारा सफल व्यापारी—

योरोपादि देशों के व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्र की ओर देखा जाता है, तो अधिकांश में हमें यह देखने को मिलता है कि, ग्रेजुएटों की अपेक्षा साधारण पढ़े-लिखे व्यक्तियों ने इन क्षेत्रों में असाधारण उन्नति की है। हेनरी फोर्ड, एडिसन, लिपटन, कारनेगी, वाटा आदि व्यक्ति क्या हैं? उन्होंने कौन-सी युनिवर्सिटी की शिक्षा पाई थी, जिससे कि, वे आज संसार में लब्धप्रतिष्ठ और सफल व्यापारी माने जाते हैं।

वर्तमान जापान देश जिसने इधर थोड़े समय में ही संसार के उद्योग-धन्धे और वाणिज्य-व्यापार में अपनी धाक जमा ली है और योरपवालों के नाकों चने चबवा दिये हैं, इतनी उन्नति क्यों कर सका? पाठक जापान

की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करेंगे तो पता लगेगा कि, वहाँ के सर्वसाधारण व्यक्ति युनिवर्सिटियों की डिग्रियों के पीछे नहीं पड़ते। वहाँ पर सभी प्रकार की शिक्षा जापानी भाषा में दी जाती है। जो व्यक्ति राजनैतिक क्षेत्र में बढ़ना चाहता है, वह उच्च शिक्षा की ओर बढ़ सकता है, परन्तु सर्वसाधारण के लिए मैट्रिक तक की शिक्षा ही लाजमी समझी जाती है। इसीसे उनमें साधारणतः भाषा-ज्ञान तथा विषयों में प्रवेश करने की शक्ति आ जाती है। शिक्षा का खास उद्देश्य विद्यार्थी को किताबी कीड़ा बनाना नहीं, बल्कि उद्योगी और व्यापारी बनाना है। यही कारण है कि, आज जापान न केवल अपने देश में ही किन्तु, संसार के अन्य देशों में भी सफल व्यापारी माना जाने लगा है।

योरोपादि देशों की बात छोड़ कर भी यदि हम भारतवर्ष की ओर ध्यान दें तो सहज में मालूम होगा कि, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के ग्रेजुएटों की अपेक्षा साधारण पढ़े-लिखे लोगों ने वाणिज्य-व्यापार में कहीं अधिक उन्नति की है। ग्रेजुएटों ने किसी उद्योग-धन्धे और वाणिज्य-व्यापार को चलाया हो और आशातीत उन्नति की हो ऐसा उदाहरण तो शायद ही मिल सकेगा। परन्तु ऐसे अनेक व्यक्ति अवश्य दिखाई पड़ेंगे, जिन्होंने वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा से परे रह कर वाणिज्य-व्यापार में अपनी बेहद उन्नति की। स्वर्गीय जे० एन० ताता को कौन नहीं जानता, क्या कोई बता सकता है कि, वे किसी युनिवर्सिटी के ग्रेजुएट थे ? उन्होंने साधारण शिक्षा प्राप्त करके ही उद्योग-धन्धों में हाथ लगाया था और आज लोह तथा कपड़े के कारबार में उनका नाम सर्व प्रधान हो रहा है। बङ्गाल के स्वर्गीय सर राजेन्द्र मुखर्जी किस युनिवर्सिटी के ग्रेजुएट थे ? उनकी जीवनी हमें बतलाती है कि, मारटीन कम्पनी में बीस रुपए मासिक की साधारण नौकरी से उन्होंने इतनी उन्नति की कि, वे मारटीन कम्पनी के प्रधान हिस्सेदार और कर्ता-धर्ता बन गये। नलिनीरंजन सरकार, जिन्होंने इधर में ही प्रसिद्धि प्राप्त की है और देखते देखते सफल व्यापारी

बन कर लक्षाधीश बन गये हैं, क्या आपको मालूम है कि, आरम्भ में उनकी स्थिति कैसी थी ? जाननेवाले बताते हैं कि, वर्तमान शिक्षा प्राप्त करने में बेहद खर्च करने की तो बात ही क्या, उन्हें समय पर भोजन और रहने का घर भी नसीब नहीं था। एक छोटे से छोटे धन्धे में प्रवेश कर उन्होंने आज इतनी उन्नति की कि, एक बड़ी भारी बीमा कम्पनी के मालिक बने हुए हैं। ऐसे बहुत से देशवासी हैं जिनका उदाहरण दिया जा सकता है, परन्तु हमारे पास इतना स्थान नहीं कि, हम सभी उदाहरण पेश कर सकें।

इसके अतिरिक्त मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों पर भी ध्यान दिया जाय तो, यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि, सर्वसाधारण व्यापारियों के अलावा बहुत से लखपति और करोड़पति ऐसे हुए हैं जिनको वर्तमान युनिवर्सिटियों की हवा भी शायद नहीं लगी थी, परन्तु उन्होंने बड़ी भारी उन्नति की। रायबहादुर भगवानदास बागला, जो कि मारवाड़ी समाज में पहले करोड़पति हुए और जिनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि, वे अपने देश चूरू में तेल के बड़े बेच कर अपना निर्वाह करते थे, उन्होंने अपने अध्यवसाय से करोड़ों की सम्पत्ति उपार्जित की। रायबहादुर हरदत्तराय चमड़िया क्या थे, जिनके सम्बन्ध में बताया जाता है कि, वे कलकत्ते के अफीम चौरस्ते पर साधारण तार लिखने का काम शुरू कर अपनी परिश्रम-शीलता और बुद्धि बल से करोड़पति बन गये ? वे किस कालेज में पढ़े थे ? सर हुकमचन्द तथा मंगनीराम बांगड़ ने कौन सी ग्रेजुएटी प्राप्त की है, जो कि, आज छोटे छोटे व्यापारों से बढ़ते हुए कोट्याधीश हो रहे हैं। सूर्यमल नागरमल फर्म के मालिक बाबू सूर्यमल और बंशीधर आज सब से अधिक सफल व्यापारी माने जाते हैं और उनके यहाँ कई एक जूट प्रेस सुगर मिल्स और हैसियन बोरों की मिलें चल रही हैं। क्या कोई बता सकता है कि, उन्होंने कालेजों की तो बात ही क्या, साधारण स्कूलों में भी शिक्षा पाई थी ?

विड़ला ब्रादर्स को आज व्यापारिक संसार में कौन नहीं जानता, उनका कारबार न केवल हिन्दुस्थान में ही वरन इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि देशों में भी प्रख्यात हो रहा है। उस फर्म के मालिक बाबू जुगलकिशोर विड़ला, घनश्यामदास विड़ला, रामेश्वरदास विड़ला तथा वृजमोहन विड़ला किस कालेज में पढ़े हैं? उन सभी भाइयों ने अपने घर में साधारण शिक्षा प्राप्त की और वाणिज्य-व्यापार में लग गये। आज तो यह अवस्था है कि, बाबू घनश्यामदास विड़ला का नाम न केवल उच्च श्रेणी के व्यापारियों में ही हो रहा है, बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में भी उनकी सम्मति का मूल्य समझा जाता है। कहाँ तक कितने नाम उपस्थित करें। कहने का मतलब यह है कि, वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-प्रणाली व्यापारिक क्षेत्र में कुछ भी सहायता नहीं पहुंचा सकी है और उससे व्यापारी समाज को लाभ पहुँचने के वजाय हानिग्रस्त ही अधिक होना पड़ा है और जिन व्यक्तियों को इस शिक्षा की हवा नहीं लगी उनमें से बहुत से व्यक्तियों ने आशातीत उन्नति की है।

शिक्षित नवयुवकों का वर्तमान ढंग—

इन सभी वातों के कहने का सार यही है कि, वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-प्रणाली चाहे अन्य विषयों में लाभप्रद हुई हो, परन्तु व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में लाभ पहुंचाने के वजाय अधिकतर हानिकारक ही सिद्ध हुई है। सच तो यह है कि, वाणिज्य-व्यापार और उद्योग-धन्धों में मनुष्य को पहले पहल नीचे की सीढ़ी पर पैर रख कर क्रमशः ऊपर चढ़ना होता है और इसी का नाम व्यापार तथा व्यापार की वास्तविक नीति है। पर देखा यह जाता है कि, अधिकांश नवयुवक "परफेक्ट जेन्टिलमैन" वन कर इस रूप में कालेजों से वाहर होते हैं कि, वाणिज्य-व्यापार में लग कर एक एक पैसा जोड़ने की नीति से उन्हें घृणा होने लगती है। वे इस प्रकृत तथ्य को सर्वथा भूल जाते हैं कि, वाणिज्य-व्यापार में एक एक पैसा जोड़नेवाला मनुष्य ही आगे चलकर

मोहर की रक्षा करनेवाला सफल व्यापारी बनता है। फिजूलखर्च और फैशन के दास तो वे इतने होते हैं कि, चाहे उनका साधारण खर्च भी सुगमता से न चलता हो, परन्तु उनकी बाहरी तड़क-भड़क और जेन्टलमैनी में फर्क न आवे, इसका खयाल उन्हें रात दिन सताया करता है। वाणिज्य-व्यापार में स्थिर चित्त होकर काम करने की जहाँ आवश्यकता हुआ करती है, वहाँ हमारे ग्रेजुएटों का मन बराबर चंचल बना रहता है। उनमें कई ऐसी आदतें प्रवेश कर जाती हैं जिनके कारण हर समय वे चंचल बने रहते हैं और वाणिज्य-व्यापार में उनका मन नहीं लगता। हमने इस विषय पर बहुत मनन किया है और निश्चित रूप से हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि, अधिकांश ग्रेजुएट ऐसे होते हैं कि, यदि वे कोई व्यापार या नौकरी पेशे का काम करते भी हैं, तो उनका ध्यान ज्यादातर स्पोर्ट्स के खेलों और सिनेमा की तरफ ही झुका रहता है। आज अमुक टीम का फुटबाल खेल है, आज अमुक स्थान पर हाकी तथा क्रिकेट मैच होने वाला है। कौन टीम अच्छी है, कौन बुरी है तथा किस प्लेयर (खिलाड़ी), का फोर्म कैसा है, टुर्नामेन्ट में शिल्ड कौन लेगा और कप किसके हाथ जायगा इत्यादि की धुन में वे इतने मशगूल देखे जाते हैं कि किसी भी जरूरी काम की वे पर्वाह नहीं करते। थियेटर, सिनेमा देखने तथा उसकी व्यर्थ आलोचना करने की धुन तो उन्हें इतनी बुरी तरह सताती है कि, जिसका वर्णन करना कठिन है। कहने का मतलब यह है कि, उनकी रुचि ही कुछ ऐसी हो जाती है कि, वाणिज्य-व्यापार में जम कर काम नहीं करने देती। यह वर्तमान शिक्षा का दोष नहीं तो और क्या है ? हमने यह दिग्दर्शन इस उद्देश्य से किया है कि, पाठक यह समझ लें कि वर्तमान शिक्षा में यह दोष भी है कि, मनुष्यों की आदत इस प्रकार बिगड़ जाती है कि, पढ़ लिख कर भी वे प्रकृत व्यापारी नहीं बन सकते। यदि उन्हें अपना भरण पोषण करने के लिये कुछ करना आवश्यक होता है तो अधिकतर नौकरी की ओर ही

झुकते हैं। स्वतन्त्र व्यापार करने की उन्हें इच्छा ही नहीं होती। इधर के पचीस तीस वर्षों का अनुभव बतलाता है कि, हाल में जितने भी मारवाड़ी छात्र ग्रेजुएट बन कर निकले हैं उनमें वाणिज्य व्यापार की ओर शायद ही किसी ने ध्यान दिया हो, अधिकांश छात्रों ने वकील वैरिष्टर बनने की चेष्टा की है, यद्यपि यह पेशा आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद प्रतीत होता है और पहले पहल वकील बननेवाले कतिपय लोगों ने कुछ लाभ भी उठाया है; परन्तु इस धन्धे के सम्बन्ध में यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि, न तो इसमें स्थायित्व है और न इससे सर्वसाधारण को कोई लाभ ही पहुंचता है। इससे लोगों में प्रायः झूठे तर्क, आलोचना और छिद्रान्वेषण की भावना बढ़ जाती है। व्यक्तियों में लड़ाई झगड़े कराने की प्रवृत्ति व्यवसाय का रूप धारण कर लेती है। इसके अतिरिक्त यह बात भी नहीं है कि यदि मारवाड़ी जाति के सबके सब छात्र वकील बन जाँय तो उनको काफी काम मिल सकता है। इस पेशे में भी अनुभव की बड़ी आवश्यकता हुआ करती है, जिसको प्राप्त करने में बहुत समय लगाना पड़ता है। इस पर भी बहुत कम वकीलों को सफलता मिलती है। क्या हम नहीं देखते कि, हाईकोर्ट जैसी बड़ी बड़ी अदालतों में हजारों वकील वैरिष्टर ऐसे पड़े हैं, जो विचारे सजधज कर सवेरे अदालत जाते हैं और दिन भर में एक दो डिब्बा सिगरेट या चुरुट फूँक कर खाली हाथ घर लौट आते हैं; उन्हें कोई पूछता भी नहीं। कौन कह सकता है कि, अधिक संख्या में मारवाड़ी वकील बनने पर उनकी भी वैसी ही दशा न होगी। असल बात यह है कि, यह पेशा ही ऐसा है जिससे न तो समाज को प्रकृत लाभ हो सकता है और न मनुष्यों के नैतिक बल की रक्षा ही की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त मारवाड़ी ग्रेजुएटों में हम ऐसे छात्रों को भी देखते हैं कि, जबतक वे कालेजों में पढ़ते हैं तबतक अपनी कक्षा में अन्य जातियों के छात्रों की अपेक्षा उत्तीर्ण तो अधिक होते हैं और डिग्री भी प्राप्त कर लेते हैं; परन्तु जब ग्रेजुएट बन कर बाहर निकलते हैं, तब व्यावहारिकता

की दृष्टि से वे प्रायः बुद्धू ही बने रहते हैं। कइयों को तो भली भाँति धड़ल्ले के साथ अंग्रेजी बोलना भी नहीं आता। हमने ऐसे कई एक उच्च परीक्षोत्तीर्ण विद्वानों को देखा है, जो कि, बी० ए० और एम० ए० तो बन गये हैं; परन्तु "बोलबो न सीख्यो, सब सीख्यो गयो धूर में" वाली कहावत ही चरितार्थ करते हैं। इतनी बड़ी डिग्री प्राप्त कर लेने पर भी बोलने में उन्हें झिझक ही बनी रहती है। बहुत ही कम ऐसे ग्रेजुएट देखे जाते हैं, जो धड़ल्ले से बातचीत कर सकते हों। अधिकांश व्यक्तियों का यह हाल है कि, यदि वे दूसरे का कथन समझ भी लेते हैं, तो अपना भाव दूसरों पर व्यक्त करने में असमर्थ से देखे जाते हैं। इस शिक्षा में बड़ी भारी कमी यह देखने में आती है कि, ग्रेजुएट बनने पर भी वह व्यक्ति व्यावहारिकता में अधूरा ही बना रहता है। हमारा अनुभव है और हमने बहुत बार देखा है कि, किसी ग्रेजुएट से कोई पत्र पढ़ाया जाता है या कोई पुस्तक तथा अन्य कागजात समझने की चेष्टा की जाती है, तो अधिकांश में वह सुनने वाले व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उस समय हमारे हृदय में ऐसे भाव उठने लगते हैं कि, यह कैसी शिक्षा है कि, ग्रेजुएट बनने पर भी कमी बनी ही रहती है। आजकल की कथित उच्च शिक्षा प्राप्त करने में छात्रों को अपनी आयु के प्रायः २५ वर्ष लगाने पड़ते हैं। हमारे विचार से तो यह समय बहुत कुछ व्यर्थ ही जाता है। नाना प्रकार के विषय रटते रटते उनका मस्तिष्क इतना कमजोर हो जाता है कि, वे किसी एक विषय के भी पूरे जानकार नहीं हो पाते। आवश्यकता इस बात की है कि, उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे वे भाषा के जानकार बन कर कमसे कम बोलने की शक्ति तो ऐसी प्राप्त कर लें कि, अपना भाव दूसरों पर भलीभांति प्रकट कर सकें और दूसरों का कथन हूबहू समझ जाँय। किसी भी विषय की पुस्तक समझने की शक्ति उनमें आ जाय। आजकल नाना प्रकार के अधूरे विषयों की पढ़ाई कराई जाती है, उससे छात्रों की मानसिक शक्ति जितनी खर्च होती है, उतना लाभ उन्हें नहीं

होता और वे किसी विषय के पूरे विद्वान् न बन कर अनिश्चित और अस्थिर चित्त बन जाते हैं। अच्छा तो यह हो कि, ग्रेजुएट बनने के लिये जो नाना प्रकार के विषय रटने पड़ते हैं और इतना अधिक समय खर्च करना पड़ता है, उसमें ऐसा सुधार किया जाय, जिससे पढ़नेवाला छात्र भाषा और गणित का जानकार बन सके और डिग्री प्राप्त कर जब वह बाहर निकले तो जिस विषय की तरफ उसका झुकाव हो, उसी विषय की खास-खास पुस्तकों का अध्ययन कर वह उसमें अनुभव प्राप्त कर सके और उसी विषय में लग जाय। जब तक शिक्षा के सम्बन्ध में इस प्रकार का सुधार नहीं होगा, तब तक न तो जनता का वास्तविक हित हो सकेगा, न समय का अपव्यय रुकेगा और न स्वास्थ्य की रक्षा ही हो सकेगी।

मारवाड़ी समाज का कर्त्तव्य—

शिक्षा के सम्बन्ध में अबतक हमने सार्वजनिक दृष्टि से थोड़ा सा विचार किया। परन्तु अब हमें इस बात का विचार करना है कि, नवीन शासन सुधार में भी वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-प्रणाली में जब तक समुचित सुधार न हो जाय तब तक मारवाड़ी जाति क्या करे? किस प्रकार अपने बालकों को आवश्यकता के अनुसार शिक्षित बनावे? यह एक ऐसा प्रश्न है कि, इस पर सावधानी के साथ विचार किये बिना अब काम नहीं चल सकता। वह समय चला गया जब हमारे पूर्वज साधारण गणितादि पढ़ लिख कर अपने पैतृक अनुभूत सिद्धान्तों के आधार पर वाणिज्य-व्यापार चला लेते थे और विभिन्न प्रान्तों में जाकर भी सफलता प्राप्त कर लेते थे। परन्तु अब तो व्यापारिक परिस्थिति और उसके दृष्टिकोण में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें तथा व्यापार के दाँव पेच इतने बढ़ गये हैं कि, देश की अवस्था सर्वथा भिन्न हो गई है। अब तो वे ही व्यापारी वाणिज्य-व्यापार में ठहर सकते हैं, जो न केवल व्यापार के साधारण तत्वों की ही जानकारी रखते हों, बल्कि

मारवाड़ी चैम्बर आफ कामर्स के प्रतिष्ठाता सर्वप्रिय सफल व्यापारी



स्वर्गीय ऋद्धकरणजी सुराणा
(फर्म—तेजपाल वृद्धिचन्द)

पढ़ लिख कर अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों को समझ सकते हों तथा विदेशों की भाषाओं का भी यथेष्ट ज्ञान रखते हुए सभी देशों की उपज, कटती और पड़ता आदि में अभिज्ञता रख सकते हों। भविष्य में वाणिज्य-व्यापार उन्हीं व्यक्तियों के हाथों में रहेगा, जो इन सभी बातों में दक्ष होंगे और व्यापार के स्वाभाविक तत्व और सिद्धान्तों की जानकारी रख सकेंगे।

हम देखते हैं कि, कुछ समय से मारवाड़ी जाति वाणिज्य-व्यापार में पहले की तरह आगे न बढ़ कर पीछे पड़ने लगी है और उसका स्थान गुजराती, भाटिये तथा मुसलमान आदि अन्य जातियों के लोगों ने लेना शुरू कर दिया है। यदि यही अवस्था बनी रही, तो आश्चर्य नहीं कि, देश का व्यापार मारवाड़ी समाज के हाथों से निकल कर अन्य जातियों के हाथों में चला जाय और मारवाड़ी जाति इतनी पीछे पड़ जाय कि, उसके लिये फिर से सम्हलना भी कठिन हो जाय।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि, मारवाड़ी समाज अपने होनहार नवयुवकों के लिये सावधानी से ऐसी शिक्षा देने का प्रबन्ध करे, जिससे वे व्यापार की वर्तमान दौड़ में हीन न बनें और वाणिज्य-व्यापार के सम्बन्ध में अपनी जाति की स्वाभाविक अनुभवजन्य योग्यता से भी हाथ न धो बैठें। यदि मारवाड़ी जाति नवीन शिक्षा प्राप्त करने में पीछे न रहेगी और संकुचितता धारण नहीं करेगी तथा शिक्षा का कोई ऐसा मार्ग अवलम्बन करेगी, जिससे उसकी वाणिज्य-व्यापार की स्वाभाविक योग्यता कायम रह सके, तो ऐसा कोई दूसरा कारण दिखाई नहीं देता जिससे मारवाड़ी जाति वाणिज्य-व्यापार में पीछे पड़ जाय और उसका गौरवपूर्ण स्थान अन्य जाति वाले ले लें।

अब तक हमने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली और उसके गुण दोष के सम्बन्ध में जो विवेचन किया है, उससे पाठक भलीभाँति समझ सकते हैं कि वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-प्रणाली भारतवासियों को उचित ध्येय तक

नहीं पहुँचा सकती। इस देश के निवासियों के लिये यह शिक्षा-प्रणाली न तो व्यावहारिक है और न इससे कोई वास्तविक ठोस लाभ हो सकता है। सच तो यह है कि, भारतवासियों के लिये "पहाड़ खोद कर चूहा निकालने" वाली कहावत ही चरितार्थ हो रही है। फिर मारवाड़ी जाति के लिये तो यह शिक्षा-प्रणाली आत्मघातिनी सी सिद्ध हुई है। जब हम वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का ऐसा अनिष्टकर परिणाम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, तब आवश्यकता यह हो जाती है कि, जितना शीघ्र हो, मारवाड़ी जाति चेत जाय और देश में जब तक सार्वजनिक रूप में शिक्षा-पद्धति का सुधार भली-भाँति न हो जाय, तब तक कोई ऐसा स्वतन्त्र प्रबन्ध करे कि, जिससे समाज के होनहार बालक समयानुसार उचित शिक्षा सुगमता से प्राप्त कर सकें, तथा वर्तमान समय की व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता की दौड़ में अपनी जाति को पीछे न रहने दें।

अवश्य ही ऐसा करने के लिए बड़ी धनराशि की आवश्यकता होगी और परिश्रम भी बहुत अधिक करना पड़ेगा। परन्तु यह कार्य वह जाति नहीं कर सकती, जिसके पास न तो धन का बाहुल्य होता है और न धन खर्च करने की उदारता। ईश्वर की कृपा से इस समय मारवाड़ी जाति के पास धन भी है और धन खर्च करने की उदारता तथा भाव भी विद्यमान हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि, जिस जाति के प्रति वर्ष लाखों ही नहीं, किन्तु करोड़ों रुपये भिन्न-भिन्न कार्यों में खर्च होते हों, जिसका लाभ न केवल मारवाड़ी समाज ही, किन्तु अन्य समाजों के व्यक्ति भी उठाते हों, उस जाति के लिये शिक्षा विभाग में काफी धन खर्च करना कोई कठिन काम नहीं है। प्रथम तो मारवाड़ी जाति अन्य कार्यों में जिस प्रकार प्रचुर धन व्यय करती है, उसी प्रकार शिक्षा में भी कर सकती है। दूसरे यदि इस समय होनेवाले व्यय में सावधानी के साथ थोड़ा भी सुधार कर दिया जाय तो उस बचत से शिक्षा का यह कार्य सहज में सम्पन्न हो सकता है। हमारा तो यह दृढ़ मत है कि, वर्तमान

व्यय तथा दान-प्रणाली में सुधार न भी किया जाय, तो भी मारवाड़ी जाति में ऐसे अनेक धनशाली उदारमना व्यक्ति मौजूद हैं, जिनको यदि इस शिक्षा सम्बन्धी महत्व को बतलाया जाय और उत्साहित किया जाय, तो कोई भी एक धनशाली व्यक्ति इस कार्य का श्री गणेश कर अपना नाम अमर कर सकता है। कितने खेद की बात है कि, समाज ने शिक्षा सम्बन्धी इस आवश्यक विषय पर अब तक ध्यान नहीं दिया। यदि मारवाड़ी समाज पहले से ही शिक्षा सम्बन्धी विषयों को अपने हाथों में लेता, तो आज यह विषय सहज में हल हो चुका होता और संसार जान जाता कि, भारतवर्ष में एक मारवाड़ी जाति है, जिसके अमुक-अमुक व्यक्ति शिक्षा में धन लगा कर अमर बन गये हैं।

मारवाड़ी समाज में ऐसे अनेक धनी व्यक्ति विद्यमान हैं, जो कि, इच्छा करने पर अपने नाम से इस शिक्षा सम्बन्धी महत् कार्य को सम्पन्न कर सकते हैं। बहुत से धनिक व्यक्ति ऐसे देखने में आते हैं, जिनके यहाँ हजारों ही नहीं, बल्कि लाखों रुपये प्रति वर्ष दान में खर्च होते हैं और लाखों रुपयों के ट्रस्ट भी दान के लिए बने हुए हैं। परन्तु कमी है तो इतनी ही है कि, उस धन का उपयोग शिक्षा सम्बन्धी कार्य में न हो कर अन्य प्रकार के कार्यों में होता है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि, उनका वह धन सर्वथा अनावश्यक खर्च किया जाता है, क्योंकि उसमें भी कई कार्य ऐसे हैं, जिनमें धन लगाना जरूरी है, तथापि यह अवश्य देखने में आता है कि, बहुत सा धन इस प्रकार भी खर्च होता है जिसका फल न तो स्थाई होता है और न जिसके खर्च करने की विशेष आवश्यकता ही है। इस प्रकार अनावश्यक और अस्थाई कामों में खर्च होनेवाली रकम की बचत कर दान-प्रणाली का सुधार किया जाय, तो यह निश्चित है कि, अन्य कामों में लगाये हुए धन की अपेक्षा यह दान अधिक उपयोगी और स्थाई हो सकता है। आजकल हम देखते हैं कि, विवाह आदि के अवसरों पर मारवाड़ी समाज द्वारा हजारों तथा लाखों रुपये दान किये जाते हैं;

परन्तु उस दान का कोई विशेष उपयोग नहीं हो पाता। बात यह है कि, इस प्रकार का दान दिया तो जाता है हजारों और लाखों की संख्या में; परन्तु प्रत्येक दान पानेवाले व्यक्ति के पास रुपये दो रुपये से अधिक नहीं पहुंचता और बड़ी रकम न होने के कारण उनके पास वे रुपये इधर उधर के अनावश्यक और अहितकर कार्यों में ही खर्च हो जाते हैं। इस प्रकार दान का प्रायः वह धन बर्बाद ही हो जाता है। दान-प्रणाली के सम्बन्ध में यह एक ऐसा आवश्यक विचारणीय प्रश्न है कि, यदि इस पर समुचित विचार किया जाय और उचित ढंग से इसका सुधार किया जाय तो शिक्षा के लिए बड़ी भारी धनराशि सुगमता से प्राप्त हो सकती है।

शिक्षा का कार्य स्थायी है। इससे देश और समाज शिक्षित बनकर विचारशील और ज्ञानवान बनता है। धर्म, कर्म और कर्तव्य का ज्ञान शिक्षा से ही होता है। शिक्षा के लिए दान देनेवाले दाता का नाम ध्रुव नक्षत्र की तरह स्थाई हो जाता है। यह तो निश्चित बात है कि, जिसने जन्म लिया है वह एक दिन अवश्य मरेगा। पर मरने पर भी उस व्यक्ति का नाम अमर रहता है. जिसने शिक्षा के लिये अपने धन का सदुपयोग किया हो। आज संसार के इतिहास में हम देखते हैं कि, देश विदेश सभी जगह ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं जो मरने को तो मर गये पर आज उनका नाम संसार में अमर हो रहा है और उनके देशवासी लाभ उठाते हुए उन स्वर्गीय आत्माओं को आशीर्वाद दे रहे हैं। ऐसी योग्यता के अर्थमियों की हमारे समाज में भी कमी नहीं है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि, समाज के धनिकों में शिक्षा के महत्व का प्रचार किया जाय, जिससे उनकी रुचि शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में दान देने की ओर आकृष्ट हो। यद्यपि हम ऐसे कतिपय व्यक्तियों को जानते हैं, जो शिक्षा के लिए धन लगाने की रुचि तो रखते हैं, परन्तु प्रबन्धादि की अयोग्यता के कारण अपनी इच्छा पूरी करने में संकोच कर जाते हैं। इसका नतीजा यह हो रहा है कि, धन का बाहुल्य होने पर भी यह

सत्कार्य पनपने नहीं पाता। ऐसी अवस्था में समाज का कर्तव्य है कि, वह एक ऐसी जातीय स्वतन्त्र संस्था कायम करे, जो केवल शिक्षा सम्बन्धी कार्य की देख-भाल तथा सुप्रबन्ध करती रहे। उस संस्था के संचालक ऐसे सज्जन बनाये जाँय, जो सब प्रकार से सुयोग्य, अनुभवी और सच्चे समाजसेवी हों तथा सन्तोषजनक रीति से काम सम्हाल सकें। यदि समाज इस प्रकार की सुव्यवस्था कर सके तो हमारा दृढ़ विश्वास है कि, मारवाड़ी समाज में शिक्षा के सम्बन्ध में जो कमी बनी हुई है वह दूर हो जायगी।

आज यह प्रत्यक्ष प्रकट हो रहा है कि, वर्तमान वातावरण में धन का कोई स्थायित्व नहीं रहा है। व्यापारिक अवस्था कुछ ऐसी संदिग्ध और चंचल बन गई है कि, जिसके कारण देखते देखते उलट फेर हो जाता है। आज सुनते हैं कि, अमुक आदमी व्यापार में लखपति अथवा करोड़-पति बन गया, परन्तु कुछ समय के बाद ही यह भी सुनने में आता है कि, आज उसका टाट भी उलट गया। एक समय था कि, किसी व्यक्ति के पास लाख पचास हजार रुपये भी हो जाते तो वह कम से कम दो तीन पीढ़ी तक लखपति कहाता तथा बना रहता था, पर आज तो धन का कोई स्थायित्व ही नहीं रहा है। ऐसी दशा में अपनी अच्छी अवस्था में जो व्यक्ति बहती गंगा में हाथ धो लेता है अर्थात् शिक्षा आदि सत्कार्यों में अपने धन का सदुपयोग कर लेता है, वह अमर हो जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति धन सम्पन्न होने पर भी इस प्रकार के सत्कार्यों पर ध्यान नहीं देता, अथवा विचार ही विचार में मकड़ी के जालों वाली कहावत चरितार्थ करता रहता है उसकी आँखें धनहीन होने पर ही खुलती हैं। उस समय कष्ट और पछतावे के सिवा उसके पास कुछ नहीं रहता। संसार के इतिहास में उन व्यक्तियों के नाम अमर और सुवर्णाक्षरों में अङ्कित हैं जिन्होंने अपने अच्छे समय में शिक्षा के लिये दान कर बहती गंगा में हाथ धो लिये हैं। वे मर जाने पर भी आज जीवित हैं, पर जिन

व्यक्तियों ने इस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया, उन्हें आज संसार में कोई याद भी नहीं करता।

मारवाड़ी जाति स्वभावतः उदार है। उसमें धन कमाने की योग्यता है और साथ ही वह अपने कमाये हुए धन को दान में लगाना भी जानती है। आवश्यकता इस बात की है कि, धनिक व्यक्तियों को उनके कर्तव्य का ज्ञान कराया जाय और यह बताया जाय कि, शिक्षा सम्बन्धी दान वह दान है, जिससे मनुष्य का न केवल नाम ही होता है, किन्तु आगे चल कर वह व्यक्ति देश और समाज के लिये धर्म-कर्म आदि परम पुनीत कार्यों का प्रवर्तक कहाता है।

अब समय ऐसा आ गया है कि, मारवाड़ी जाति यदि अपना नाम स्थायी रखना चाहती है, तो उसे शिक्षा के लिये सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। ऐसा करने से ही वह जीवित रह सकेगी, अन्यथा समय का रुख बतला रहा है कि, शिक्षाविहीन जातियों का अस्तित्व ही लोप हो जायगा। अतएव आवश्यकता यह है कि, मारवाड़ी जाति समय की रुख को पहचाने और अवसर रहते वास्तविक शिक्षा का स्वतन्त्र रूप से अपने समाज में आयोजन करे।

शिक्षा सम्बन्धी त्रुटियों और आवश्यकताओं के सम्बन्ध में हमने अब तक काफी प्रकाश डाला है। अब हमें यह देखना चाहिये कि, शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले सभी सुधार सार्वजनिक रूप से किस प्रकार होने सम्भव हैं। हर्ष की बात है कि, भारतवर्ष में अब तक शिक्षा-नीति और शिक्षा-पद्धति निर्धारित करने का एक मात्र अधिकार विदेशियों को प्राप्त था और वे ही अपनी इच्छानुसार अपने दृष्टिकोण से शिक्षा-सम्बन्धी योजनाएँ निर्माण करते थे—अब उसमें परिवर्तन हो गया है। प्रान्तीय शासन प्रजा-प्रतिनिधियों के हाथों में आने से शिक्षा की व्यवस्था में अनेक सुधार किये जा सकते हैं। हम देखते भी हैं कि, जिन ११ प्रान्तों में प्रजा-प्रतिनिधियों ने शासन भार सँभाला है, उनमें शिक्षा के

विषय में जोरों के साथ विचार-विमर्श भी होने लगा है। महात्मा गांधी ने भी एक योजना पेश की है और वह 'वर्धा-स्कीम' के नाम से देशवासियों के समक्ष विचाराधीन है। इसके अतिरिक्त दो-चार प्रान्तों में परीक्षा के लिये कुछ कार्य भी आरम्भ किया गया है। इससे यह आशा सहज में हो सकती है कि, जिन चिन्ताशील सज्जनों ने प्रान्तीय शासन की बाग-डोर संभाली है, वे अवश्य ही शिक्षा सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने तथा देश की आवश्यकताओं को पूरी करने में सफल-मनोरथ होंगे। परन्तु, इसमें जो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ दीख पड़ती हैं—उनकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि, दुर्भाग्यवश हमारे देश में हिन्दू-मुसलमान—इन दो बड़ी जातियों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो रहा है। बहुत संभव है कि, सार्वजनिक रूप से शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था करते समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़े. साम्प्रदायिक दृष्टि से मतभेद भी उपस्थित हों और शिक्षा-प्रणाली की दृष्टि से भी दलबन्दियां खड़ी हो जाँय। ये सब मतभेद ऐसे हैं कि, नवीन शासन सुधार के काल में भी शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था करने में अधिक समय लगे बिना न रहेगा। इस दृष्टि से आवश्यकता इस बात की है कि, मारवाड़ी समाज सार्वजनिक शिक्षा-पद्धति के सुधार की कामना करते हुए अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को न भूले और साथ ही ऐसा प्रयत्न करे कि, जिससे व्यापारिक शिक्षा की स्वतन्त्र रूप से प्रगति हो सके। व्यापारिक शिक्षा की योजना मारवाड़ी समाज जैसी व्यापारिक जाति के हित की दृष्टि से ही नहीं, अपितु देश की आर्थिक दृष्टि से भी उसका निर्माण होना परमावश्यक है। हमें तो यही आश्चर्य है कि, मारवाड़ी समाज का ध्यान अब तक शिक्षा की ओर क्यों नहीं गया। कारण, शिक्षा प्रचार में धन और साधन की कमी का प्रश्न प्रायः उपस्थित होता है। पर धनसम्पन्न मारवाड़ी समाज के लिये शिक्षा प्रचार के लिये धन का कभी अभाव नहीं हो सकता। सम्भवतः समाज की उदासीनता ही

प्रधान कारण वनी रही है। पर अब यह सम्भव नहीं है कि, समाज अपना दृष्टिकोण पूर्ववत् ही वनाये रक्खे।

मारवाड़ी समाज की शिक्षा के लिये स्वतन्त्र शिक्षा-प्रणाली के निर्माण करने का एक महान् प्रश्न उपस्थित है। व्यापारिक शिक्षा की योजना को हल करना अत्यन्त गंभीर विषय है। यह योजना सफलतापूर्वक तभी निर्माण हो सकती है कि, जब समाज के अनुभवी और चिंताशील व्यक्ति तथा देश के शिक्षा शास्त्र के विद्वान् सम्मिलित रूप से सिद्धान्त निश्चय कर शिक्षा-प्रणाली निरधारित करे।

इस प्रकार समाज को व्यापारिक शिक्षा की योजना का निर्माण करने तथा नवीन विद्यालय स्थापित करने का प्रश्न स्वतन्त्र रूप से हल करना ही होगा। वर्तमान आवश्यकताओं के साथ-साथ मारवाड़ी समाज के वालकों को वास्तविक व्यापारी वनाने के लिये स्वतन्त्र व्यापारिक शिक्षा के उपयुक्त प्रवन्ध की आवश्यकता है। हम यहां कोई योजना उपस्थित नहीं करते। पर विचार की दृष्टि से हम यह अवश्य कहेंगे कि, मारवाड़ी समाज के लिये शिक्षा का ऐसा स्टैण्डर्ड अवश्य हो कि, जो समाज के वालकों को साधारणतः व्यावहारिक और व्यापारी वनाने में सहायक हो सकें। यदि मैट्रिक तक की शिक्षा का स्टैण्डर्ड रक्खा जाय और अंग्रेजी के साथ-साथ वालकों को अन्य विषयों की देशी भाषाओं में शिक्षा दी जाय, तो वे उसे थोड़े समय में प्राप्त कर लेंगे। शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी मातृभाषा में वालक सभी विषय वड़ी आसानी से अध्ययन कर सकते हैं। इससे उनके समय की वचत होगी और आजकल की तरह उनका शारीरिक ह्रास भी न होगा। भाषा की दृष्टि से अंग्रेजी का अध्ययन करने से उनकी योग्यता आज की अपेक्षा कहीं अधिक होगी। इससे जो समय की वचत होगी, उसमें समाज के वालकों को अवसर मिलेगा कि, वे खास-खास विषयों की व्यापारिक और औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करें। यदि १८ वर्ष की

समाज के उदीयमान नक्षत्र



स्वर्गीय माधवप्रसादजी हलवासिया

अवस्था तक बालक इतनी शिक्षा प्राप्त कर लें, तो उनका यह पाठ्यक्रम समाज के लिये सर्वथा उपयुक्त होगा। समाज के बालकों को इतनी शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिए। मारवाड़ी समाज के बालकों की शिक्षा में वे विषय न रक्खे जांय जिनकी बालकों को अपने जीवन में कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ निर्भीकतापूर्वक उनमें अंग्रेजी बोलने की योग्यता होनी चाहिए। शिक्षा-प्रणाली में इन सब बातों पर अवश्य ध्यान देना होगा।

मारवाड़ी समाज के बालकों के लिये यह आवश्यक है कि, जब वे शिक्षा प्राप्त कर लें, तब उनमें बाजार, गद्दी और दूकानों में परिश्रमपूर्वक सभी कामों को करने की भावना हो। वे मितव्ययी, सदाचारी और परिश्रमी हों। उनका स्वास्थ्य अच्छा हो। इसके साथ ही उनमें जातीयता और देशभक्ति के भाव भी विद्यमान रहें।

इस दृष्टि से एक स्वतन्त्र पाठ्यक्रम निर्माण करने की आवश्यकता है। यह कार्य अत्यन्त कठिन, परिश्रम-साध्य और गुरुतर है। इसके साथ ही इसमें धन की भी आवश्यकता है। परन्तु, हमारी यह दृढ़ धारणा है कि, धन-सम्पन्न मारवाड़ी समाज के लिये यह कुछ कठिन नहीं है। मारवाड़ी समाज देश के अनुभवी विद्वानों के सहयोग से सहज में स्वतन्त्र पाठ्यक्रम निर्माण करा सकता है। प्रचुर धन व्यय करके भी हमें इस कार्य को सफल बनाना होगा। जो पाठ्यक्रम बनाया जाय, उसमें छः वर्ष की अवस्था से बालक की पढ़ाई आरम्भ हो और दस वर्ष की अवस्था तक उसे प्राथमिक शिक्षा दी जाय। इसके बाद १६ वर्ष की अवस्था तक माध्यमिक शिक्षा देने की व्यवस्था हो जिससे निरधारित ध्येय तक सभी विषयों का साधारणतया व्यावहारिक ज्ञान हो जाय। इसके अतिरिक्त दो वर्ष तक उन्हें प्रधान रूप से व्यावहारिक शिक्षा दी जाय, जिससे वे अपनी रुचि के अनुसार किसी भी विषय का अनुभूत ज्ञान प्राप्त कर अपने व्यवसाय में दक्ष बन सकें।

इस उद्योग को सफल बनाने के लिये सब से पहली आवश्यकता यह है कि, समाज के कुछ व्यक्ति इस कार्य में अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिये तत्पर हों और एक ऐसी संस्था का निर्माण करें जिसके द्वारा शिक्षा सम्बन्धी सभी कार्यों का संचालन किया जाय।

इस संस्था के सदस्य केवल धनिक व्यक्ति ही न हों, अपितु शिक्षा के प्रेमी व्यक्ति भी हों जो अपना जीवन लगाने की भावना रखते हों। इसके अतिरिक्त वे सज्जन भी सदस्य बनाये जाँय, जो मारवाड़ी जाति के न होने पर भी अपनी विद्वता और शिक्षा सम्बन्धी ज्ञान से संस्था को लाभ पहुंचा सकें। ऐसे व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने में समाज को धन भी व्यय करना पड़ेगा। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अवश्य ही भारी धन की आवश्यकता होगी। हमारा विश्वास है कि, मारवाड़ी समाज के धनिक इस कार्य के लिये धन देने में अवश्य आगे आवेंगे और इतना बड़ा कोष जमा कर देंगे कि, संस्था का कार्य धनाभाव के कारण कभी रुका न रहेगा। पर सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि, समाज के कुछ कर्मवीर सच्ची लगन के साथ अग्रसर हों। हम देखते हैं कि, महात्मा मुँशीराम और महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय ने सच्ची लगन और उद्योग से ही असम्भव से दिखते हुए कार्य को सफल कर दिखाया। उस समय कौन जानता था कि, मुँशीराम का उद्योग सफल होगा और देश में गुरुकुल कांगड़ी का डंका बजेगा और यह भी कौन जानता था कि, पण्डित मदनमोहन मालवीय काशी विद्यापीठ के स्थान पर करोड़ों रुपए जुटा कर एक आदर्श विश्वविद्यालय स्थापित कर अपना नाम अमर कर लेंगे। इसी प्रकार मारवाड़ी समाज के सच्चे कर्मवीर भी यदि चाहें, तो अपना नाम अमर कर सकते हैं।

४

बंगाल की प्राचीन राजसत्ता और मारवाड़ियों का आगमन



पूर्व अध्यायों में हमने उन सभी बातों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है, जो मारवाड़ी समाज के पूर्व पुरुषों की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और व्यापारिक आदि प्राचीन संस्कृति तथा रीति-नीति से सम्बन्ध रखती हैं। इस अध्याय में अब हमें उन बातों पर प्रकाश डालना है, जिनका सम्बन्ध बंगाल में मारवाड़ी जाति से रहा है। राजस्थानवासी अपने जन्म-स्थान से चल कर अन्य प्रान्तों में आये तो, यद्यपि उनका विस्तार थोड़े बहुत रूप में सभी प्रान्तों में हुआ, तथापि यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि, राजस्थानवासियों का अभ्युदय जितना अधिक बंगाल में हुआ, उतना अन्य प्रान्तों में नहीं। सच तो यह है कि, बंगाल में आने पर ही मारवाड़ी जाति की देशव्यापी ख्याति हुई। पर इस सम्बन्ध में लिखने के पूर्व यदि हम बंगाल प्रदेश की प्राचीन अवस्था तथा राजसत्ता का कुछ वर्णन करें, तो शायद असंगत न होगा।

आज हम कलकत्ते की जिस भूमि पर निवास करते हैं, प्राचीन समय में उसका नामोनिशान भी नहीं था। यह भूमि एक समय समुद्र के अनन्त सलिल-गर्भ में छिपी हुई थी। भू-तत्ववेत्ताओं ने अपने अनुसन्धान से पता लगाया है कि, वर्तमान वंग देश का दक्षिणी भाग समुद्र में लीन था और हिमालय से आनेवाली प्रायः समस्त नदियाँ इसी जगह आकर समुद्र में मिलती थीं। वर्तमान मुर्शिदावाद, राजमहल और मालदह की सीमा के भीतर कहीं पर समुद्र तट था। धीरे-धीरे नदियों के साथ रेत और मिट्टी का एकत्र होना शुरू हुआ और नदियों के मुहानों पर समुद्र से जमीन निकलनी शुरू हुई। इसके बाद कोई चार हजार वर्ष के अरसे में बालू और मिट्टी जमते-जमते समुद्र गर्भ से "गांगेय द्वीप" का आविर्भाव-हो गया। यही द्वीप कई वर्षों के बाद समतल भूमि के रूप में दिखाई पड़ने लगा। वंगाल के 'सुन्दर वन' का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। यह जमीन भी एक समय इसी के अन्तर्गत थी। परंतु ज्यों-ज्यों आवश्यकता होती गई, त्यों-त्यों असभ्य जाति के जंगली लोगों ने यहां पर वास करना शुरू कर दिया। इन रहनेवालों में किरात, निषाद, कोल और धीवर जाति के लोग ही अधिक थे, जो अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जंगल को काट कर झोंपड़े बना लेते थे और खेती-वारी कर तथा नदी-नालों और तालावों से मछलियां पकड़ कर अपनी उदर-पूर्ति किया करते थे। इसी प्रकार इस जमीन पर छोटे छोटे ग्राम दिखाई पड़ने लगे और तदुपरान्त बड़े बड़े नगरों का भी निर्माण हुआ।

भू-तत्ववेत्ताओं की खोज—

बङ्गाल के दक्षिण भाग की यह जमीन कब से आबाद होने लगी, इसका पता ठीक ठीक नहीं चलता, परन्तु यह अवश्य जाना जाता है कि ईस्वी सन् ६०० तक यह स्थान मनुष्यों से शून्य ही था। चीन देश का इतिहास प्रसिद्ध प्रवासी ह्युनसंग इस देश में ईस्वी सन् ६३५ के लगभग आया था। उसने अपनी पुस्तक में लिखा है कि, वह जिस समय

बंगाल में आया, उस समय बङ्गाल पाँच भागों में विभक्त था। उत्तर में पौण्ड्र, उत्तर-पूर्व में कामरूप, पूर्व में समतट, दक्षिण-पश्चिम में ताम्रलिप्त और पश्चिम में कर्णसुवर्ण इस प्रकार उसने पाँच भागों का होना बतलाया है। ताम्रलिप्त का वर्तमान रूप मेदनीपुर है, यह दक्षिणी भाग उस समय सर्वथा जनशून्य था। इससे जाना जा सकता है कि, इस भू-भाग पर मनुष्यों की आवादी उसके बाद हुई है।

वर्तमान कलकत्ते का अस्तित्व तो बहुत ही इधर का है। वास्तव में ईस्वी सन् १६९० की २४ मई को ईष्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी जाब चार्नक ने इसकी स्थापना की।

बङ्गाल की प्राचीन राजसत्ता—

महाभारत से लेकर आज तक प्रायः पाँच हज़ार वर्ष के अरसे में बंगाल में जितनी भी राजसत्ताएँ स्थापित हुईं, उन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन न कर केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि, महाभारत के बाद २४०९ वर्ष तक क्षत्रिय जाति के लोगों ने, १८४८ वर्ष पाल और सेन वंश के अन्य हिन्दू राजाओं ने, ५६० वर्ष मुसलमान जाति के अधिकारियों ने बंगाल का शासन किया और आज प्रायः पौने दो सौ वर्ष से बंगाल की पूर्ण राजसत्ता अंग्रेजों के हाथ में है।

पाल और सेन वंश—

ईस्वी सन् ७०० तक पाल वंश के हिन्दू राजाओं का शासन बंगाल में होना पाया जाता है। पाल वंश के नरेश बौद्धमतानुयायी थे, और कई शताब्दियों से बंगाल का शासन करते आ रहे थे। परंतु सन् ७८० ईस्वी के बाद बैदिक मतानुयायी सेन वंश के राजाओं ने बंगाल पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया और लगातार पाँच सौ वर्षों तक अर्थात् ईस्वी सन् १२०३ तक बंगाल का शासन करते रहे। पाल वंश के प्राचीन राजाओं के शासन काल के आखिरी समय में बौद्धमत का ह्रास होने से उनकी राजसत्ता क्षीण होने लग गई थी। प्रजा का अधिकांश भाग

वेदमतानुयायी बन गया था। ऐसी अवस्था में लाचार होकर पाल वंश के नरेशों को अपने राज्य का प्रधान मंत्री पद तथा सेनानायक का उच्च स्थान भिन्न मत के माननेवाले व्यक्तियों को देना पड़ा, उसका परिणाम यह हुआ कि, राजसत्ता वेदमतानुयायी सेन वंश के हाथों में चली गई। इसी सेन वंश में ईस्वी सन् ९६४ के लगभग इतिहासप्रसिद्ध महाराज आदिशूर हुए * जिन्होंने अपने मत को विशेष रूप से प्रचलित करने के लिये कन्नौज से पाँच कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को बुला कर बंगाल में उनके द्वारा वैदिक-धर्म का प्रचार कराया। इतिहास बतलाता है कि, वे पाँचों ब्राह्मण बंगाल में ही बस गये और यही कारण है कि, बंगाल में बंगाली ब्राह्मणों की उत्पत्ति उन्हीं पाँचों ब्राह्मणों से मानी जाती है। कहते हैं कि, कन्नौज से आनेवाले पाँच ब्राह्मणों में महाकवि श्री हर्ष भी थे, जिनके वंशधर मुखोपाध्याय (मुखर्जी) कहाये।

यह भी पता लगता है कि, उन पाँच ब्राह्मणों के साथ विराट गुह नाम का एक भृत्य भी कन्नौज से आया था जिसके वंशधरों ने बंगाल की कायस्थ जाति में "गुह" पदवी प्राप्त की और आगे चल कर उसी वंश में जैसोर के इतिहास प्रसिद्ध राजा प्रतापादित्य हुए।

"चूड़ामणि तन्त्र" नामक ग्रन्थ में पाया जाता है कि, उस समय बंगाल में तांत्रिक-धर्म विशेष रूप से प्रचलित हो रहा था। तंत्राचारी कापालिक जन अपने पँच मकार का प्रचार बड़े जोरों पर करने लगे थे। सेन वंश के नरेशों ने उस समय जो दान-पत्र लिखे थे उनसे पता लगता है कि, सेन वंश के राजा लोग शिव और शक्ति के उपासक थे।

इसी सेन वंश में ईस्वी सन् १०६६ में सुप्रसिद्ध विद्वान् महाराज बल्लाल सेन हुए। "सैरुल मुताखरीन" में इनका नाम "बलावल सेन" भी लिखा है। महाराज बल्लाल सेन ने ईस्वी सन् ११०२ तक बंगाल

---

* "सैरुल मुताखरीन" में इनका नाम "आदसौद" भी लिखा गया है।

का शासन किया। उनकी राजधानी गौड़ नगरी थी *। महाराजा बल्लाल सेन बड़े प्रतापी, बुद्धिमान और सुधारप्रिय नरेश थे। उन्होंने अपने समय में बड़े बड़े सुधार किये। महाराज आदिशूर के समय जो पाँच कान्यकुब्ज ब्राह्मण आये थे, उनके वंशधरों को उन्होंने श्रेणीवद्ध किया और पाँच भागों में बाँटा। देखा जाता है कि, आज भी प्रायः वही व्यवस्था बंगाली ब्राह्मणों में बनी हुई है। महाराज बल्लाल सेन ने शासन सुव्यवस्था करते हुए अपने राज्य को राढ़, बगड़ी, बरेन्द्र, बङ्ग और मिथिला इन पाँच भागों में विभक्त किया था और अपने मातहत बारह सरदारों की नियुक्त कर, उन्हें भाटी अर्थात् भौमिक की पदवी प्रदान की थी †। महाराज बल्लाल सेन का नाम तो उस समय इतना प्रसिद्ध हो गया था कि, उनकी समस्त प्रजा बल्लाली कही जाने लगी थी। यद्यपि बंग देश के नामानुसार बंग देश के वासी बंगाली कहे जाते हों, यही बात समीचीन मालूम होती है, परन्तु आजकल बैंक पड़ने की परिपाटी जैसी देखने में आती है, उसको ध्यान में रख कर यदि यह कहा जाय कि,इस "बल्लाली" शब्द का ही अपभ्रंश हो कर बंगाली शब्द का प्रचार हुआ है तो इसमें भी आश्चर्य नहीं। जो हो, यह निश्चित बात है कि, सेन वंश में महाराज बल्लाल सेन एक सुधारप्रिय आदर्श नरेश हुए और उन्होंने अपने बंगाल प्रदेश को सुव्यवस्थित करने में भारी प्रयत्न किया था।

---

* इस इतिहास प्रसिद्ध गौड़ नगरी का आज ठीक ठीक यह भी पता नहीं लगता कि, उसका अस्तित्व कहाँ था। परन्तु बतलाया जाता है कि, वर्तमान मालदह ही गौड़ नगरी का रूपान्तर है।

† राजस्थान में गोपीचन्द भरथरी की गाथा बड़ी मशहूर है, उससे गौड़ नगरी और बारह भाटियों के होने का निर्देश मिलता है, जैसा कि गोपीचन्द ने अपनी बहिन चन्द्रावली को दिलासा देते हुए कहा था कि, "बारह भाटी गौड़ बंगाला, बाई, तेरे भात भरण ने आवै।"

इसी सेन वंश के अन्तिम राजा शूरसेन हुए, जिन्होंने ई० सन् १२०३ तक वंगाल का शासन किया। कतिपय इतिहासकारों ने उनका नाम लक्ष्मणसेन भी लिखा है। महाराज शूरसेन यद्यपि वड़े भारी दानी और आस्तिक थे तथापि उनमें विलासिता का दुर्गुण भी आ गया था। यही कारण था कि, उन्होंने राजकाज सँभालने और प्रजापालन करने का वास्तविक कार्य अपने मन्त्रियों पर छोड़ रखा था। आप प्रायः महलों में रहना ही पसन्द करते थे। आपका विश्वास ज्योतिप और उसके फलादेश पर वहुत था। इसी कारण आपके दरवार में ज्योतिषियों की भरमार थी और उनके आदेशों की तूती वोला करती थी। आप जो भी कार्य करते, प्रायः ज्योतिपी पंडितों की आज्ञा लेकर ही किया करते।

ई० सन् १२०३ में जव मुसलमान पठान वंशीय वख्तियार खिलजी ने पहले पहल गौड़ नगरी पर आक्रमण किया, तो महाराज शूरसेन ने विना सामना किये तथा विना लड़ाई लड़े, गौड़ नगरी से भाग कर पुरी के श्री जगन्नाथजी के मन्दिर में शरण ली थी। *

इससे यह मतलव नहीं कि, महाराज शूरसेन कायर थे और उनकी राजशक्ति का ह्रास हो गया था। इसका कारण इतिहासकारों ने वड़ा ही विचित्र वतलाया है और उसे जान कर हिन्दुओं के अन्धविश्वास पर एक वार रुलाई आये विना नहीं रहती। उन्होंने लिखा है कि, जिस समय गौड़ नगरी पर खिलजी का आक्रमण हुआ, उस समय महाराज शूरसेन ने अपने दरवारी ज्योतिपी पंडितों से पूछा कि, कहिये, कैसा योग है? इस पर ज्योतिप के पण्डितों ने अपने गणित के पन्ने उलट कर

* कहते हैं कि, इन्हीं के राज-काल में अर्थात् ई० सन् ११७५ के लगभग पुरी में सुप्रसिद्ध धाम श्री जगन्नाथजी के मन्दिर का निर्माण इन्हींके अधीनस्थ किसी गंगावंशीय राजा ने कराया था।



स्वर्गीय हरदत्तरायजी प्रह्लादका
(प्रधान मुनीम—सेठ ताराचन्द घनश्यामदास)

तथा भविष्य के सम्बन्ध में भारी अङ्क लड़ा कर उत्तर प्रदान किया कि, शत्रु का सामना करने तथा लड़ाई लड़ने का 'सुतल योग' इस समय नहीं है। उन्होंने यह भी आदेश दिया कि, बिना सुतल योग के शत्रु का सामना करना बुद्धिमानी का काम नहीं। यद्यपि महाराज शूरसेन, खिलजी की मुट्ठीभर सेना को सहज में मार भगाने की सामर्थ्य रखते थे तथापि वे सुतल योग की प्रतीक्षा करते रहे, इतने में खिलजी की मुट्ठी भर सेना ने बिना प्रयास के शूरसेन महाराज की समस्त समतल भूमि को अपने कब्जे में कर लिया। अब क्या था? मुहूर्त की प्रतीक्षा में महाराज शूरसेन पाँच सौ वर्षों से चले आते हुए अपने बाप-दादों के विशाल राज्य से हाथ धो बैठे और अंत में लाचार हो उन्हें श्री जगन्नाथजी के मन्दिर में जाकर शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार विचित्र ढङ्ग से सेन वंश की राजसत्ता का नाश हो जाने पर बंगाल में मुसलमानों की राजसत्ता कायम हो गई और प्रायः साढ़े पाँचसौ वर्षों तक बंगाल की हिन्दू प्रजा को खोखला बनाने में समर्थ हुई।

महाराज शूरसेन के सम्बन्ध में सबसे अधिक शोचनीय बात यह है कि, जब शत्रु अपने दल-बल के साथ छाती पर चढ़ आया, उस समय भी वे अपने अन्धविश्वास के कारण ज्योतिषी पंडितों से पूछ कर मुहूर्त की तलाश करते रहे। राजनैतिक दृष्टि से यह कितना हानिकर कार्य था, पाठक सहज में विचार सकते हैं।

पाल और सेन वंश के सम्बन्ध में यह कहना बड़ा कठिन है कि, वास्तव में वे दोनों राजवंश बंगाल के रहनेवाले ही थे, या पश्चिम प्रान्तों से आकर उन्होंने बंगाल में अपनी राजसत्ता कायम की थी। यह विषय ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा गंभीर, विचारणीय और अनुसन्धान करने का है। अग्रवालों का जातीय इतिहास लिखते समय हमने जब कुछ अनुसन्धान किया था तब हमें एक छोटी सी पुस्तक प्राप्त हुई थी जो जैनधर्म के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर बड़ी छानबीन के साथ

लिखी गई है। इस पुस्तक को श्रीयुक्त बी० एल० जैन अग्रवाल ने प्रकाशित किया है। उनके इस "अग्रवाल इतिहास" से मालूम हुआ कि, बंगाल में शासन करनेवाले पाल और सेन वंशीय नरेश अग्रवाल जाति के थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे पता लगता है कि, अग्रोहा नगर, जो हिसार से तेरह मील के फासले पर था और इस समय भी जिसका ध्वंसावशेष पत्थर और ईंटों के ढेर के रूप में विद्यमान है, एक समय बड़ी समृद्ध अवस्था में था। उसमें हजारों ही नहीं, वरन लाखों की संख्या में अग्रवंशी निवास करते थे। उनमें पारस्परिक एकता इतनी थी कि, वे किसी भी भाई को निर्धन देखना नहीं चाहते थे। यदि कोई भाई निर्धन रहता तो, उसे वे एक मुद्रा और दो दो ईंटे देकर बराबर का बना लेते थे, परन्तु उनमें जब भिन्न-भिन्न रूप में साम्प्रदायिकता का प्रचार होने लगा तो कोई शैव, कोई शाक्त, कोई वैष्णव, और कोई बौद्ध मतानुयायी बन गये। यह साम्प्रदायिकता इतनी बढ़ी कि, वे भाई भाई परस्पर लड़ने लगे। उन्होंने उक्त पुस्तक के २२ वें पृष्ठ में लिखा है कि, "विक्रम सं० ७५८ के आश्विन मास में शैव मतानुयायी महानुभावों के दो मुखिया पुरुष 'शिवानन्द' और 'धर्मसेन' स्वार्थवश धारा नगरी के तंवार वंशी राजा 'समरजीत' से जाकर मिले और उन्हें अग्रोहा पर चढ़ा लाये। वि० सं० ७५८ के फाल्गुण मास में अग्रोहा दुर्भाग्यवश राजा समरजीत के हाथ में आकर सदा के लिये अग्रवंशियों के हाथ से निकल गया। दश बारह सहस्र से अधिक अग्रवंशीय योद्धा इस युद्ध में काम आये और बहुत सा धन-धान्यादि लूट लिया गया।" उन्होंने यह भी लिखा है कि, सारा वंग देश उन दिनों 'समरजीत' के अधिकार में था। यह वंग देश राजा समरजीत के अधिकार में विक्रम सम्वत् ७०४ में कन्नौज के सुप्रसिद्ध राजा हर्षबर्धन के पश्चात् आ गया था। विक्रमीय सं० ७५६ में इसका पश्चिमी भाग राजा समरजीत ने 'शिवानन्द' को और पूर्वीय भाग 'धर्मसेन' को उपर्युक्त कार्य के उपलक्ष में दे दिया जिनकी सन्तानों ने 'सेन'

और 'पाल' वंशों के नाम से विक्रम सं० १२६० तक अर्थात् ईस्वी सन् १२०३ तक वहाँ का राज्य किया। जब अग्रवंशी शिवानन्द पश्चिम बंगाल का शासन भली प्रकार न कर सका तो प्रजा ने वि० सं० ७८८ में उसके पुत्र 'गोपाल' को अपना राजा बना लिया। इसने शीघ्र ही अपनी बुद्धिमत्ता आदि सद्गुणों से अपना इतना बल बढ़ा लिया कि, थोड़े ही काल में 'दक्षिणी बिहार' और उसके आसपास के स्थानों को भी अपने राज्य में मिला लिया। जिससे इसका राज्य इसीके नाम पर 'पाल वंशी' राज्य के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसके पश्चात् इस वंश के दूसरे राजा 'धर्मपाल' और तीसरे 'देवपाल' हुए, जिन्होंने अपने राज्य को और भी बढ़ा कर इतनी प्रसिद्धि पाई कि, यह राज्य उत्तरीय भारत के वैभवशाली राज्यों में गिना जाने लगा। वि० सं० ८६० के पीछे धर्मपाल द्वितीय ने अपने बल और पराक्रम से कन्नौज के राजा को गद्दी से हटा कर किसी दूसरे को वहाँ का राजा बना दिया। उस समय के कुछ पालवंशी राजाओं ने 'बौद्धमत' और कुछ ने 'जैनधर्म' ग्रहण कर लिया था। अतः विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के पहिले भाग में इस वंश के दो प्रसिद्ध राजाओं 'महीपाल' और 'नयपाल' ने अपना धर्म फैलाने के लिये तिब्बत देश को बड़े बड़े विद्वान् उपदेशक भेज कर प्रचार कराया था। इस वंश में अन्तिम वैभवशाली प्रसिद्ध राजा रामपाल हुआ जिसने वि० सं० ११४१ से ११८७ तक राज्य किया और 'तिरहुत' अर्थात् 'मिथिला' देश (उत्तरीय विहार) को भी अपने राज्य में ले लिया। अन्तमें लगभग साढ़े चार सौ वर्ष (४६८ वर्ष) के राज शासन के पश्चात् सन् ११९९ ई० अर्थात् वि० सं० १२५६ में इख्तियारुद्दिन मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने राज्य को अपने अधिकार में लेकर उनका अन्त कर दिया। 'धर्मसेन' और उसकी सन्तान ने पूर्वीय बंगाल पर सेन वंश के नाम से वि० सं० ७५९ से १२६० तक ५०१ वर्ष राज्य किया। वि० की बारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में जब यह राज्य 'विजयसेन' के अधिकार में आया तो

इसने उसे बहुत उन्नत अवस्था पर पहुँचा दिया, जिससे इस समय 'सेन-वंश' भी अधिक प्रसिद्ध हो गया। इसी राजा के समय से सेनवंशी राजाओं ने 'पालवंशी' राजाओं के बल को बहुत कुछ घटा दिया और दक्षिण विहार प्रान्त तथा उत्तरीय विहार प्रान्त भी कई बार 'पाल-वंशियों' से छीन कर अपने अधिकार में ले लिया। अन्त में सन् १२०३ ईस्वी में अर्थात् वि० सं० १२६० में जब कि, इस वंश का बूढ़ा राजा 'लक्ष्मण सेन' था इस राज्य को भी 'इख्तियारुद्दिन मुहम्मद बख्तियार खिलजी' ने ही अपने अधिकार में लेकर अग्रवंशियों के इस राज्य का भी अन्त कर दिया। पालवंशी राजाओं के समान इस वंश के राजाओं ने अपने मत को नहीं बदला, किन्तु अन्त तक पक्के शैव मतानुयायी बने रहे। पालवंशी राजाओं की राजधानी कुछ दिन 'राजगृही' नगरी फिर मुंगेर नगर और फिर विहार नगरी रही। सेन वंशियों की राजधानी 'नवद्वीप' अर्थात् 'नदिया' नगरी रही।

पाल और सेन वंश के सम्बन्ध का यह ऐतिहासिक विवरण अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। मालूम होता है कि, लेखक महोदय ने जैन धर्म के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर बड़ी छानवीन के पश्चात् यह विवेचन किया है। अग्रवाल जाति का वास्तविक इतिहास अभी अन्धकार में है, क्या आश्चर्य है कि, विशेष अनुसन्धान होने पर उपरोक्त बातें सत्य प्रकट हों। पाठकों के विचारार्थ हमने इस विषय को यहां पर उद्धृत किया है। हमारा मत है कि, प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत सी बातें और किम्वदन्तियां जो आज हमें विश्वास करने योग्य मालूम नहीं देती, आगे चलकर विशेष अनुसन्धान होने से वे ही सत्य सिद्ध हो सकती हैं। इसी लक्ष्य से हमने इस विवरण को यहां पर स्थान दिया है। आशा है इतिहास-प्रेमी पाठक इस पर गंभीर विचार करेंगे और यह विवरण कहां तक सत्य है उसे जानने का भी प्रयत्न करेंगे।





स्वर्गीय चिम्मनलालजी गनेड़ीवाला

इस प्रकार विचित्र रीति से सेन वंश के राज्य का खात्मा हो गया तो पठान वंशीय खिलजी ने गौड़ नगरी पर अपना अधिकार जमा लिया और बंगाल का शासन करने लगा। उस समय दिल्ली का शासन सुलतान कुतुबुद्दीन अयबक के हाथ में था। 'सैरुल मुताखरीन' में बताया गया है कि, कुतुबुद्दीन अयबक से लेकर मुहम्मद तुगलक तक प्रायः १५६ वर्ष खिलजी के वंशधरों ने बंगाल का राज्य किया। उसके बाद हिजरी सन् ७७१ अर्थात् ई० स० १३६० में मल्लिक फकरूद्दिन सिलाहदार सेना नायक ने बागी होकर खिलजी के वंशधरों से बंगाल का राज्य छीन लिया और स्वयं राज्य करने लगा। मुताखरीन के लेखक ने बतलाया है कि, प्रायः २२४ वर्ष अर्थात् १५८४ ई० तक पूर्ण स्वतन्त्रता से फकरूद्दीन के वंशधरों ने बंगाल का शासन किया। परन्तु अन्य प्रकार के ऐतिहासिक अनुसन्धान से यह भी मालूम होता है कि, ई० स० १५३८ में उड़ीसा के गंगा-वंशीय हिन्दू राजाओं ने गौड़ नगरी पर एक बार फिर विजय प्राप्त की थी और कुछ समय तक बंगाल का शासन अपने हाथ में ले लिया था। इसके सिवाय यह पता चलता है कि, ई० स० १५६४ में जिस समय गौड़ नगरी के तख्त पर सुलेमान किरानी था, उस समय उसने दिल्ली के सुप्रसिद्ध बादशाह अकबर की आधीनता स्वीकार की और उसकी सहायता के लिये दिल्ली से राजपूत सेना बंगाल में आकर रहने लगी थी।

बख्तियार खिलजी—

इतिहासकारों ने लिखा है कि, ई० स० १५६४ में सुलेमान ने दिल्ली के बादशाह अकबर की आधीनता स्वीकार की, उस समय उसकी कौटुम्बिक अवस्था बहुत ही बिगड़ी हुई थी, जिसके कारण उसे बहुत ही चिन्तित रहना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उड़ीसा के गंगावंशीय हिन्दू राजा मुकुन्ददेव उस पर लगातार आक्रमण कर रहे थे। ऐसी अवस्था में सुचतुर सुलेमान ने बादशाह अकबर की आधीनता इस शर्त पर स्वीकार

मारवाड़ी जाति का पहले पहल आगमन—

की कि, उसकी सहायता के लिये बादशाह की कुछ सेना बंगाल में रहेगी और सुलेमान बादशाह को निर्धारित कर देता रहेगा। इस सन्धि के अनुसार जो सेना बंगाल में पहले पहल आई, वह राजपूत सेना थी। उस सेना के साथ रसद जुटानेवाले विभाग के मोदीखाने में जोधपुर मारवाड़ के कुछ वैश्य भी आये थे। इस प्रकार मारवाड़ी जाति का सम्बन्ध पहले पहल बंगाल से ई० स० १५६४ से ही होता है।

सुलेमान व्यवहारचतुर और नीतिज्ञ था। उसने उड़ीसे के राजा मुकुन्ददेव के हमलों से तंग आकर अपनी हिन्दू प्रजा को सन्तुष्ट रखने के उद्देश्य से अपने राज्य का प्रधान अमात्य पद किसी मुसलमान को न देकर रामचन्द्र नाम के एक हिन्दू कायस्थ सज्जन को दिया था। यह रामचन्द्र उसी गुह नामक भृत्य का वंशज था जो कन्नौज से पांच विद्वान् ब्राह्मणों के साथ बंगाल में आया था। आगे चल कर इसी के वंश में प्रतापादित्य हुआ।

हिन्दू जाति का प्रधान अमात्य बना लेने पर भी राजा मुकुन्ददेव के साथ वह दबता ही गया। मुकुन्ददेव ने अपनी वीरता से गौड़ेश्वर सुलेमान को परेशान कर डाला था।

काला पहाड़—

ऐसी विकट परिस्थिति के सम्बन्ध में इतिहास बतलाता है कि, उसी समय हिन्दू ब्राह्मण से मुसलमान बना हुआ एक दीर्घकाय तेजस्वी व्यक्ति सुलेमान के दरबार में उपस्थित हुआ और सुलेमान से युद्धस्थल में जाने की अनुमति मांगने लगा। सुलेमान चतुर और राजनीतिज्ञ था ही, उसने देखा कि, यह व्यक्ति हिन्दू से मुसलमान हुआ है और इसकी बातों से मालूम होता है कि, यह अपने हिन्दू भाइयों से बहुत अधिक चिढ़ा हुआ भी है। इसके अतिरिक्त पहिले की की हुई उसकी वीरता का हाल जान कर सुलेमान और भी प्रसन्न हुआ और उसका समुचित आदर भी किया। उसे सिरोपाव आदि खिलअत प्रदान कर अपना सेनापति बना कर मुकुन्ददेव से लड़ने के लिये उड़ीसा की लड़ाई में सेना के साथ भेज दिया।

क्या पाठक जानते हैं कि, वह नवदीक्षित मुसलमान कौन था? उसका नाम "काला पहाड़" था, जिसके नाम की धाक प्रायः साढ़े तीन सौ वर्ष हो जाने पर भी उड़ीसा प्रान्त में आज भी ताजा बनी हुई है। 'काला पहाड़' के सम्बन्ध में उसका कुछ परिचय हम दें तो शायद कुछ भी अनुचित न होगा, बल्कि उसके विवरण से हिन्दू जाति की आंखें खुलेंगी कि, असल में वह कौन था और बाद में उसने क्या कर दिखाया।

काला पहाड़ जन्म का ब्राह्मण था और अतुलनीय बलशाली भी था। अपनी युवावस्था की झोंक में आकर किसी मुसलमान की नवाब पुत्री के प्रेम में वह फंस गया और मुसलमान हो गया था। कितने ही वर्ष वह उस युवती के साथ मुसलमान बन कर रहा। परन्तु पीछे से उसे होश हुआ और साथ ही साथ इतनी ग्लानि हुई कि, वह पश्चाताप करता हुआ हिन्दू समाज के सामने पहुंच कर गिड़गिड़ा कर कहने लगा कि, वास्तव में वह मेरी भूल थी। मैं जवानी के जोश में आकर अपने पैतृक हिन्दू धर्म को छोड़कर मुसलमान बन गया था। पर अब मुझे उस कर्म के करने का बड़ा दुःख हो रहा है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि, समाज मुझे शुद्ध करके पुनः अपने में मिला ले। इस पर 'पवित्र' हिन्दू समाज ने उसके निवेदन पर विचार करना तो दूर रहा. उलटा उसे दुरदुराया और बुरी तरह लांछित एवं अपमानित, करते हुए कहा कि, एक बार जो व्यक्ति मुसलमान हो जाता है उसके लिये हजार बार गिड़-गिड़ाने पर भी हमारे समाज में स्थान नहीं है। हमलोग तुम्हारा मुँह भी देखना नहीं चाहते। इस प्रकार कहते हुए उसे फर्श पर से नीचे उतार दिया। इस बर्ताव से काला पहाड़ थर्रा उठा। जाति भाइयों का यह बर्ताव देख कर उसे भारी दुःख हुआ। पर वह स्वभावतः वीर और तेजस्वी था। वह सम्हल कर समाज के सामने उच्च स्वर से कहने लगा कि, "मैं समझता था कि, मेरे पैतृक हिन्दू धर्म में वह शक्ति है कि, उसका एक वेद मन्त्र तथा गायत्री मन्त्र अपवित्र से अपवित्र को पवित्र बना

सकता है। पर आज मुझे मालूम हो गया कि, ऐसा समझना मेरी भूल थी। यदि हिन्दू धर्म में एक भूले-भटके भाई को पुनः शुद्ध करने तथा छाती से लगाने की सामर्थ्य नहीं, तो अब मैं ऐसे कायर और नपुंसक धर्म में लौट आना भी नहीं चाहता। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मुसलमान बना रह कर मैं हिन्दूधर्म और हिन्दू संस्कृति को नष्ट करके ही दम लूँगा।" यह कहते हुए वह चला गया और सुलेमान की सेना का सेनापति बन कर उड़ीसा में ऐसा गजब ढाया कि, न केवल गंगावंशीय महाराजा मुकुन्ददेव को ही परास्त किया, वरन उड़ीसा प्रांत भर की देवमूर्तियाँ तथा देवमंदिर तोड़ फोड़ कर छिन्न-भिन्न कर दिये। आज बंगाल से लेकर उड़ीसा तक जितने भी देवमंदिर और देवमूर्तियाँ भग्नावस्था में देखी जाती हैं, वे प्रायः सबकी सब काला पहाड़ द्वारा खण्डित की हुई हैं। बंगाल के इतिहास में इस प्रकार की और भी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि, बंगाल में उस समय जहां पांच प्रतिशत मुसलमान भी नहीं थे वहां आज ५५ प्रतिशत मुसलमान हो जाने का सबसे बड़ा कारण हिन्दुओं की धर्म सम्बन्धी कट्टरता एवं अज्ञानता ही है।

ई० स० १५७३ में सुलेमान का देहान्त हो गया तो, उसका बड़ा पुत्र बैजियद गद्दी पर बैठा। परन्तु कुछ ही दिनों बाद अपने बहनोई द्वारा कत्ल कर दिया गया। उसके मारे जाने पर उसका छोटा भाई दाउद खाँ गौड़ नगरी का अधिकारी हुआ। अपने पिता सुलेमान की तरह दाउद खाँ भी बुद्धिमान और बड़ा साहसी था। उसने गद्दीनशीन होकर अपना प्रभाव बहुत बढ़ाया। सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक स्टुअर्ट साहब ने लिखा है कि, दाउद खाँ ने अपनी सैना, दो लाख पैदल और बीस हजार घुड़सवारों में संगठित की थी। दाउद ने सुलेमान के पूर्व मंत्री रामचन्द्र के पौत्र अपने बाल्यकाल के दोस्त श्री हरि और जानकीवल्लभ को अपने राज्य का मन्त्री पद प्रदान किया, जिनका नाम आगे चल कर क्रमशः विक्रमादित्य और बसन्तराय प्रसिद्ध हुए।

बंगाल में मारवाड़ी जाति का बीजारोपण करनेवाले



सुप्रसिद्ध राजा टोडरमल

(एक प्राचीन चित्र से)

रामचन्द्र के पुत्र भवानन्द ने तथा भवानन्द के पुत्र विक्रमादित्य ने दाउद खाँ के समय अपनी बहुत अधिक उन्नति कर ली थी। उन्होंने मन्त्री पद पर रहते हुए यशोर नाम का अपना एक स्वतंत्र ठिकाना बना लिया था और उनकी गणना धन-सम्पन्न व्यक्तियों में होने लगी थी।

दाउद खाँ जब उन्नति की चरम सीमा पर जा पहुंचा तो, उसे बादशाह अकबर की अधीनता खटकने लगी। परिणाम यह हुआ कि, दाउद खाँ ने दिल्ली को राजकर भेजना बन्द कर दिया और अपनी बड़ी सेना के कारण घमण्ड में आकर शाही हद पर आक्रमण कर बैठा। बादशाह की ओर से सेनापति मुनाइमखाँ ने दाउद को ऐसी शिक्षा दी कि, वह पस्त-हिम्मत हो गया। मुनाइमखाँ बड़ा जबर्दस्त सेनापति था। उसने सैकड़ों पठान सैनिकों के सिर काट कर दाउद खाँ के पास भेज दिये, जिसका असर यह हुआ कि, दाउद खाँ उड़ीसा की तरफ भाग कर चला गया। मुनाइमखाँ ने तब भी उसका पीछा किया, तो विवश होकर मुनाइमखाँ की शर्तों के अनुसार उसे सन्धि करनी पड़ी। इसके बाद वह फिर से अपनी राजधानी गौड़ नगरी में आ गया। पर सन्धि होने के कुछ ही दिनों के बाद हठात् मुनाइमखाँ की मृत्यु हो जाने से दाउद ने फिर सिर उठाया। परिणामस्वरूप कई प्रकार से युद्ध हुए। शेष में बादशाह अकबर के सेनापति मज़फरखाँ द्वारा, दाउद खाँ लड़ाई में छिन्न-मुण्ड किया गया और उसका सिर बादशाह अकबर के पास दिल्ली भेजा गया। इस प्रकार पठानों की सत्ता का जब अन्त हो गया तो बंगाल में मुगलों की सत्ता कायम हुई और बादशाह की ओर से एक सूबेदार द्वारा बंगाल का शासन होने लगा।

राजा टोडरमल—

दाउद खाँ के मारे जाने पर बंगाल का शासन भार बादशाह अकबर ने पूर्णतया अपने अधीन कर लिया और एक सूबेदार के मातहत कार्य होने लगा।

दाउद खाँ के मारे जाने पर यद्यपि पठान वंश की राजसत्ता का एक

प्रकार से अन्त हो गया था और दाउद के सुप्रसिद्ध मन्त्री विक्रमादित्य और बसन्तराय भी अपने राजा के मारे जाने पर अपने ग्राम यशोर न जाकर सन्यासी का वेश धारण कर इधर-उधर भागते फिरते थे, फिर भी दाउद खाँ के पक्षवालों ने कुछ न कुछ उपद्रव मचा ही रखा था। जब मौका मिलता वे लोग कहीं न कहीं गोलमाल कर ही देते थे। देश एक प्रकार से अव्यवस्थित ही हो रहा था। ऐसे समय में सुचतुर और बुद्धिमान बादशाह अकबर ने सन् १५८० में अपने परम विश्वासपात्र राजा टोडरमल को प्रथम सूबेदार बना कर पूर्ण अधिकार के साथ बंगाल में भेजा। राजा टोडरमल के सम्बन्ध में विशेष परिचय देने की शायद आवश्यकता न होगी, क्योंकि बादशाह के दरबार में राजा टोडरमल का नाम बड़ा प्रसिद्ध था। वे बादशाह अकबर के नवरत्नों में थे। बादशाह अकबर के दरबार में जितना सम्मान राजा बीरबल और महाराजा मानसिंह आदि हिन्दुओं का था, शायद उससे कम राजा टोडरमल का नहीं था। उनमें और भी कई विशेषताएँ थीं। वे अद्वितीय वीर तो थे ही, इसके अतिरिक्त बुद्धिमान और व्यवहारचतुर भी बहुत थे। यही कारण था कि, उन्होंने प्रधान सेनापति और वजीरे-आजम का भी पद पाया था। राजा टोडरमल में विद्वत्ता, बुद्धि, साहस और व्यवहारचतुरता कूट कूट कर भरी थी। वे उन्नतचेता, चरित्र-सम्पन्न, सूक्ष्मदर्शी और न्यायनिष्ठ तो थे ही, इसके सिवाय बड़े भारी माली अफसर और व्यापारपटु भी थे। बंगाल में आकर उन्होंने अनुभव किया कि, देश का उपद्रव और असन्तोष दमन-चक्र से शान्त नहीं हो सकता। दमन-चक्र से वह एक बार दबाया जा सकता है, परन्तु उसका सर्वथा अन्त नहीं किया जा सकता। दबाया हुआ असन्तोष समय पाकर बड़े जोरों से भड़कता है। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि, अपराधियों के अपराध क्षमा कर देने और उन्हें सावधानी के साथ अपनाने से ही देश में शान्ति हो सकती है। इस प्रकृत सिद्धान्त के अनुसार

उन्होंने छोटे-बड़े सभी जमींदारों को अपनाना शुरू कर दिया और जो व्यक्ति दाउद खाँ के मारे जाने पर बागी होकर आत्मरक्षार्थ भागे हुए थे, उनके प्रति अभयदान की घोषणा कर दी। परिणाम यह हुआ कि, बंगाल के सभी जमींदार राजा टोडरमल के पक्ष में आ गये और भागे हुए व्यक्ति भी षड्यन्त्र रचनेवाली भावना को छोड़ राजा टोडरमल की शरण में पहुंचने लगे।

श्रीहरि और जानकीबल्लभ (विक्रमादित्य और बसन्तराय) ने भी आकर टोडरमल की शरण ली। राजा टोडरमल ने इनको दाउद का साथी और मन्त्री होने पर भी सच्चे हृदय से क्षमा कर दिया। आज-कल की राजनीति में प्रायः देखा जाता है कि, प्रथम तो कोई शासक किसी अपराधी को क्षमा नहीं करते और यदि किसी विशेष लक्ष्य से क्षमा कर भी देते हैं तो मतलब निकल जाने पर क्षमा का पालन करना प्रायः छोड़ देते हैं। उनकी वह क्षमा केवल मतलब के लिये क्षणिक रूप में होती है और मतलब निकल जाने पर फिर से अत्याचारों में परिणत हो जाती है। परन्तु उस समय की राजनीति में यह बात न थी। हिन्दू संस्कृति का तो यह परम ध्येय और उद्देश्य ही रहा है कि, "प्राण जाय पर वचन न जाई।" राजा टोडरमल एक आदर्श हिन्दू थे। उन्होंने अपनी हिन्दू संस्कृति के अनुसार दाउद खाँ के सभी साथियों को क्षमा कर दिया और जब तक वे बंगाल में रहे अपने दिये हुए बचनों के अनुसार बर्ताव करते रहे। राजा टोडरमल की दूरदर्शिता का परिणाम यह हुआ कि, बंगाल में जो उपद्रव और बिप्लव वर्षों से चला आता था, शान्त हो गया और एक बार देश में सुख शान्ति का अनुभव होने लगा। राजा टोडरमल ने अपने दिये हुए आश्वासन के अनुसार दाउद खाँ के मन्त्री विक्रमादित्य और बसन्तराय को राजा की पदवी प्रदान की और यशोर के जमींदार बना कर बंगाल के बारह भाटियों में उनका शीर्षस्थान कायम कर दिया।

इस प्रकार ई० स० १५८२ तक प्रायः २ वर्षों में बंगाल के सभी उपद्रवों को शान्त कर राजा टोडरमल ने माली विभाग में हाथ लगाया। बंगाल में जमीन, जायदाद और मालगुजारी आदि के जितने सुन्दर प्रवन्ध आज दिखाई पड़ते हैं, प्रायः उन सबकी नींव टोडरमल ने डाली थी और पीछे के शासकों ने समय-समय पर उन्हीं का अनुकरण किया था। राजा टोडरमल की चातुरी और सुव्यवस्था से बंगाल का शासन राजा और प्रजा के लिये सुखद हो गया। राजा टोडरमल ने ई० स० १५८६ तक बंगाल की सूबेदारी की। उसके बाद वे दिल्ली वापिस चले गये।

राजा टोडरमल सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातें—

राजा टोडरमल किस जाति के हिन्दू थे? इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद देखा जाता है। वर्तमान हिन्दी भाषा के आचार्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने राजा टोडरमल को "अग्रवाल उत्पत्ति" नामक पुस्तक में अग्रवाल बताया है। परन्तु अन्य कतिपय लोगों का कहना है कि, वे खत्री थे। वास्तव में अग्रवाल थे या खत्री, इसका प्रामाणिक अनुसन्धान होना अभी बाकी है। हमारी राय में वे किसी भी जाति के हों, परन्तु उनका मान प्रायः सभी हिन्दू जातियों में था और वे सार्वजनिक व्यक्ति माने जाते थे। पर यह बात अवश्य ही ध्यान देने की है कि, राजपूताने की अग्रवाल जाति में जब दूल्हा विवाह कर अपनी नवबधू को घर लाता है, तो उस समय "टोडरमल जीत्या" नामक एक सुप्रसिद्ध गीत स्त्रियों द्वारा अनिवार्य रूप से गाया जाता है। यदि टोडरमल खत्री जाति के थे, तो अग्रवालों में यह गीत गाया जाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। जब तक इस विषय का कोई समुचित अनुसन्धान नहीं हो जाता तब तक यह कहना अनुचित मालूम नहीं होता कि, राजा टोडरमल का सम्बन्ध अग्रवाल जाति से अवश्य था।

बिना मात्रा के मुड़िया अक्षरों का प्रचलन आजकल दिल्ली, हरियाना, पञ्जाब और विशेष कर राजपूताना के व्यापारियों में देखा जाता है। मारवाड़ी जाति के व्यापारियों में तो सोलह आना पाया जाता है। इन मुड़िया अक्षरों के आविष्कर्ता राजा टोडरमल थे जैसा कि, उनके बनाये एक छन्द से प्रमाणित होता है। छन्द यह है:—

मुड़िया अक्षर—

"देवनागरी अति कठिन, स्वर व्यञ्जन व्यवहार।
ताते जग के हित सुगम, मुड़िया कियो प्रचार॥"

इसका भावार्थ स्पष्ट है।

देवनागरी उत्तम लिपि अवश्य है, परन्तु संयुक्ताक्षर और मात्राओं के कारण इसके लिखने में समय अधिक खर्च करना पड़ता है, इसलिए सराफी तथा वाणिज्य-व्यापार के कामों में समय का बचाव और सुगमता लाने के लिये ही मुड़िया लिपि का प्रचार हुआ। यद्यपि यह सर्वथा सच है कि, मुड़िया अक्षरों में मात्रायें नहीं होतीं, जिसके कारण सर्वसाधारण जनता सुगमतापूर्वक उन्हें पढ़ नहीं सकती और वाणिज्य-व्यापार के अतिरिक्त विषयों में कभी कभी अर्थ का अनर्थ भी हो जाया करता है, तथापि जो व्यक्ति केवल वाणिज्य-व्यापार करते हैं और वाणिज्य-व्यापार के कामों में मुड़िया हरफों को काम में लाते हैं उनको मुड़िया हरफों से कोई दिक्कत उठानी नहीं पड़ती। हानि के बजाय उन्हें लाभ ही अधिक होता देखा जाता है। जिस प्रकार आजकल "शार्ट हैण्ड" (सांकेतिक हरफों) का प्रचार अंग्रेजी आदि भाषाओं में हुआ है और देखा जाता है कि, उन संकेतों के जानकारों को उसके समझने में कोई कठिनाई नहीं होती, उसी प्रकार वाणिज्य-व्यापार करने वाले लोगों को मुड़िया अक्षरों का व्यवहार करने में भी किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। अन्तर केवल इतना ही है कि, अंग्रेजी आदि भाषाओं के शार्टहैण्ड सीखने के लिये वर्षों परिश्रम और घोर प्रयत्न करना पड़ता

है और उन शार्टहैण्डों को वही व्यक्ति लिख, पढ़ और समझ सकता है जिसने कि, विशेष अभिज्ञता प्राप्त कर ली है। परन्तु मुड़िया हरफ थोड़े परिश्रम से ही सीखे जा सकते हैं। आजकल मारवाड़ी जाति के छात्रों का तो यह हाल है कि, महीने दो महीनों के परिश्रम के बाद ही मुड़िया हरफ लिख पढ़ लेते हैं। शार्टहैण्ड की तरह मुड़िया हरफों के लिये उन्हें कोई परीक्षा नहीं देनी पड़ती और सहज में वे वाणिज्य-व्यापार चलाने में समर्थ हो जाते हैं। हमारे इस कथन से पाठक कहीं यह न समझें कि, हम मुड़िया हरफों की प्रशंसा कर रहे हैं और देवनागरी की महत्ता घटा रहे हैं। हमारी दृष्टि से तो हिन्दी लिपि के बराबर संसार भर में कोई उत्तम और सुसंस्कृत लिपि नहीं है। उसमें यह एक बहुत बड़ी विशेपता है कि, मौके मौके पर अङ्गरेजी लिपि की तरह शब्दों का कुछ का कुछ रूप नहीं हो पाता और लिखनेवाला जिस भाव से लिखता है उसी भाव से वह लिपि पढ़ी जाती है। परन्तु यहाँ पर हमारा मतलब यही है कि, राजा टोडरमल ने वाणिज्य-व्यापार की लिखा-पढ़ी में सरलता लाने और समय को बचाने के लिये मुड़िया हरफों का आविष्कार किया था।

व्यापारिक विपय में छन्दों की रचना—

राजा टोडरमल ने मुड़िया हरफों की रचना करते हुए बहीखातों के नियम भी बनाये थे और कुछ ऐसे छन्दों की भी रचना की थी जिनमें हिसाब-किताब और व्यापारिक नियमों तथा करने अथवा न करने वाले कामों की शिक्षा दी गई है। यद्यपि इस विपय की कोई छपी हुई पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई, तथापि कलकत्ते के 'बैंक आफ बंगाल' के प्रधान मुन्शी स्वर्गीय पं० शिवगोपालजी तिवारी से हमें कई बार राजा टोडरमल रचित कवितायें सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था। मुन्शीजी राजा टोडरमल रचित कविताओं के बड़े जानकार थे और उनकी प्रायः सभी कवितायें उनको कंठस्थ थीं। बहुत बार देखा गया कि, वे जब बड़ेबाजार के व्यापारियों के साथ बातचीत करते तो व्यापारिक विषय

में टोडरमल रचित छन्द सुनाया करते थ और उन छन्दों से मालूम होता था कि, राजा टोडरमल बहुत बड़े अनुभवी व्यापारी थे। मैंने एक बार उनसे निवेदन भी किया कि, ऐसी अच्छी और व्यापारियों के विशेष काम की कविताओं को या तो आप पुस्तकाकार छपा दें या मुझे नोट करा दें, जिससे मैं पुस्तकाकार छपा सकूं। परन्तु खेद है कि, नोट लेने के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया।

मुन्शी शिवगोपालजी राजा टोडरमल कृत जो कवितायें सुनाते थे उनसे मालूम होता था कि, राजा टोडरमल ने गणितादि जानने के लिए पट्टी-पहाड़े पढ़ने का नियम बाँधा था। जोड़-बाकी, गुणाकार, भागाकार की सरल रचना की थी, लेन-देन और जमा-खर्च लिखने का सरल तरीका ईजाद किया था। हुण्डी, चिट्ठी, पैठ-पर पैठ और जिक्री चिट्ठी कैसे और किस अवस्था में लिखनी चाहिए तथा उनका भुगतान कैसे करना चाहिए आदि नियम बनाये थे। कौन व्यापार करना चाहिए, कौन व्यापार नहीं करना चाहिए, सराफों का लक्षण क्या है, व्यापारी किसे कहना चाहिए, खरीदार कैसे होते हैं, बेचवालों को कैसा बर्ताव और क्या करना चाहिए, आढ़तदार किसे कहते हैं, किस व्यापार के करने से हानि हो सकती है और किस व्यापार के करने से लाभ हो सकता है, भिन्न-भिन्न प्रकार से काम करनेवाले व्यापारियों को किन किन नियमों से काम करना चाहिए, चलानीवाले कौन होते हैं—उनका क्या दस्तूर है, किस किस वस्तु को किस किस समय और कैसी परिस्थिति में संग्रह करना चाहिए तथा किस समय बेचना चाहिए आदि सभी व्यापारिक बातों पर उन्होंने अपने परिपुष्ट अनुभव से प्रकाश डालते हुए नियम निर्धारित किये थे। खेद की बात है कि, राजा टोडरमल रचित वे सभी कवितायें उपलब्ध नहीं है। हमारी धारणा है कि, राजा टोडरमल की वे सभी कवितायें आज भी व्यापारी समाज के लिये विशेष लाभप्रद हो सकती हैं। राजा टोडरमल रचित जो छन्द हमें याद थे तथा जो इधर-

उधर से प्राप्त हो सके हैं पाठकों की जानकारी के लिए हम यहां पर उन्हें देते हैं।

मुड़िया लिपि—

देवनागरी अति कठिन, स्वर व्यञ्जन व्यौहार।
ताते जग के हित सुगम, मुंडा कियो प्रचार॥

पञ्चों के लक्षण—

धारा . बाँधे बाँट, हाकिम रैयत मानहीं।
सो चौधरि का ठाठ, ताको सकल अधीन हों॥

हुण्डी का स्वरूप—

ऊपर लिखे निवास सब, रखे मुद्दत होय।
चलत निशां अन्दाज धन, हुण्डी कहिये सोय॥
हुण्डी खोये पैठ लिख, पैठ गये परपैठ।
सनद एक के दाम दे, रोकड़ खाता देठ॥
जो हुण्डी सिकरे नहीं, जिकरी लिखै बनाय।
हुण्डी कोरी पीठ से, तब धन देय चुकाय॥

सराफ के लक्षण—

हुण्डी लिखे न हाथ से, जमा न रखे भूल।
लेय ब्याज देवे नहीं, सोई सराफी मूल॥
जग सराफ ताको कहे, जमा समय पर देय।
व्यापारी सो जानिये, समय पै मुद्दत लेय॥

आढ़तदारी के लक्षण—

साफ हिसाब किताब हो, शेष सिताबी काम।
कर्म धर्म अरु भर्म हो, संचित धन और धाम॥

साहूकार के लक्षण—

आधा ऊपर आधा तरे, आधा देय साह के गरे।
आधे में आधा निस्तरे, जुग टर जाय साह नहीं टरे॥

आर्यसमाज के प्रबल समर्थक



स्वर्गीय शिवप्रसादजी सराफ

बहीखाता लिखने की रीति—

वाम जमा दक्षिण खरच, सिर पेटा पर पेट।
ऊपर नाम धनी लिखै, हस्ते पुनरौ देठ॥

कैसा व्यापार करना चाहिए?

प्रथम जवाहिर धातु पुनि, कपड़ा गल्ला बीर।
सूल पात फल फूल रस, धरे धीर कर धीर॥
दाना खाय लीद जो करे, ऐसा बनज साह न करै।
घास खाय दूध बहु देय, ऐसा बनज साह कर लेय॥

फुटकर—

प्रथम बनारस आगरा, दिल्ली और गुजरात।
अग्गर * और अजमेर से, सिखै सराफी बात॥
मकाँ अदालत, जामिनी, पर नारी को साथ।
यह चारों चौपट करै, रहे दूर तजि आस॥

वही-खातों की पद्धति—

आज कल हम लोगों में मुड़िया हरफों और बही-खातों की जो पद्धति प्रचलित है हमने ऊपर बतलाया है कि, वह राजा टोडरमल की बनाई हुई है। साहूकारी लेन-देन और वाणिज्य-व्यापार में यद्यपि आजकल विदेशियों ने बड़ी उन्नति की है, तथापि यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता लगेगा कि, वाणिज्य-व्यापार में विदेशियों की पद्धति की अपेक्षा हिन्दुस्तानियों के लिये राजा

* यहाँ पर अग्गर शब्द ध्यान देने योग्य है क्योंकि बनारस, आगरा, दिल्ली, गुजरात तथा अजमेर आदि शहरों का अस्तित्व तो अब भी वर्तमान है परन्तु अग्गर कहाँ पर है इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। मालूम होता है अग्रवाल जाति का आदि वासस्थान अगरोहा जो कि, हिसार के पास है और इस समय उजड़कर कोसों में खंडहर दिखाई पड़ता है वही अगरोहा किसी समय सराफी का स्थान रहा हो और टोडरमल के समय तक उसकी महिमा रही हो अथवा चली आती हो।

टोडरमल की व्यवस्था कहीं अधिक सुगम, सरल और उपयोगी है। अँग्रेजी आफिसों में प्रायः देखा जाता है कि, अँग्रेज व्यापारी बीसों कितावों से जहाँ काम लेते हैं वहाँ राजा टोडरमल की पद्धति से केवल चार वहियों से ही तमाम काम सरलतापूर्वक हो जाता है। उनकी व्यवस्था में रोकड़, नकल, खाता और एक जमाखर्च बही—ये ही चार वहियाँ ऐसी हैं जो कि, नियमित रूप से वही-खाता तैयार रखनेवाले व्यापारी के लिये हर समय प्रकाश का काम करती हैं। किससे कितने रुपये पावने हैं और किसको कितने रुपये देने हैं तथा किस माल का कितना स्टाक है आदि आवश्यक बातें आधी रात में भी जानी जा सकती हैं। अपने घर का तलपट देखना तो इन बहियों में इतना सुगम होता है कि, जिसमें एक पाई का भी फर्क नहीं पड़ता। सब से बड़ी वात यह है कि, जहाँ अँग्रेजी आफिसों में हिसाव-किताव ठीक रखने के लिये दस आदमियों की आवश्यकता होती है वहाँ राजा टोडरमल की व्यवस्थानुसार बही-खाता रखने में एक दो मुनीम ही काफी होते हैं। वाणिज्य-व्यापार का जमा-खर्च करना, हिसाब जोड़ना, व्याज फैलाना, जोड़ देना तथा वाकी निकालना आदि कार्य राजा टोडरमल की व्यवस्था में इतने सरल हैं कि, उसका अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है जिसने विदेशी व्यापारियों के रिवाज को भी जाना है और टोडरमल के तरीकों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है।

हमने यहां जो छन्द उद्धृत किये हैं वे केवल उदाहरण मात्र हैं। हो सकता है कि, आजकल के सर्राफों और व्यापारिक संसार में पहले की अपेक्षा वहुत कुछ परिवर्तन हो गया हो और उसके साधन तथा आवश्यकताएँ भी वदल चली हों, परन्तु तो भी हमारा विश्वास है कि, राजा टोडर मल की व्यवस्था से आज भी व्यापारी समाज को सिद्धान्ततः बहुत अधिक मदद मिल सकती है।

ईस्वी सन् १५८६ में बंगाल का कायमी बन्दोबस्त कर राजा टोडरमल जब दिल्ली वापस लौट गए, तो कुछ समय तक बंगाल में यथेष्ट शान्ति बनी रही। परन्तु वह शान्ति स्थायी न हो सकी। कुछ समय के बाद ही पठानों ने फिर सिर उठाया और गुपचुप अपनी शक्ति संगठित करने लगे। इस बार बंगाल के बारह भाटियों में से कुछ भाटी भी पठानों में शामिल हो गये थे, जिनमें चट्टग्राम-खिजरपुर का भाटी ईशा खां भी था। उस समय के नौ मुसलमान और तीन हिन्दू भाटियों में ईशा खां ही सबसे अधिक शक्तिशाली और सुचतुर समझा जाता था *। ईशा खां जैसे प्रभावशाली व्यक्ति का पठानों के साथ मिल जाने से बागी पठानों में जान आ गई और वे बादशाह अकबर की राजसत्ता का सामना करने लगे। लूट-खसोट, मार-काट शुरू हो गई। इस बार के पठानी उपद्रव से बंगाल में फिर से हाहाकार और विप्लव मच गया। यह समाचार बादशाह अकबर के पास जब दिल्ली पहुंचा, तो बादशाह ने निश्चय किया कि, राजा टोडरमल की सुव्यवस्था से भी बंगाल में शान्ति नहीं हुई, तो अब इसका भली प्रकार दमन करना होगा। यह निश्चय कर बादशाह ने अपने सर्व प्रधान सेनापति, जयपुर के महाराजा मानसिंह को बंगाल में जाने का आदेश दिया।

मानसिंह—

* ईशा खाँ जन्म का मुसलमान नहीं था। उसने एक उच्च कुलस्थ कालीदास नामक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया था और बाद में मुसलमान बन गया था। उस समय मुसलमानी राजसत्ता होने के कारण यदि कोई व्यक्ति अपना हिन्दू धर्म छोड़ कर मुसलमान बन जाता, तो मुसलमान शासक उस व्यक्ति का बड़ा आदर करते थे और विशेष रूप से उसकी सहायता करते थे, जिससे वह अपनी उन्नति कर सके तथा अन्य हिन्दू भी आकर्षित हो सकें। यही कारण था कि, अपना हिन्दू-धर्म छोड़ कर मुसलमान बनने पर ईशा खाँ को मुसलमान शासकों द्वारा बहुत बड़ी सहायता मिली और वह चट्टग्राम का भाटी (भौमिक) बन गया था।—"कलकत्ता से कालेर आर ये कालेर" पृ० ८९

महाराजा मानसिंह अपनी राजपूत सेना के साथ वंगाल में आये। उस समय राजकुमार जगतसिंह भी उनके साथ थे। महाराजा मानसिंह की धाक उस समय सर्वव्यापी हो रही थी। उन्होंने कठिन से कठिन कावुल जैसे विकट प्रदेश की लड़ाइयां जीती थीं और वे "भारत विजयी राजा मान" कहे जाने लगे थे। इसके अतिरिक्त राजपूताने के कवियों ने वड़े-वड़े विशेषणों के साथ कई प्रकार की कवितायें रच कर उनके प्रति सन्मान प्रकट किया था। जैसे कि—

"समुदर खाण्डो पखालियो, कावुल वांधी हद।"

और, "सेतु वांध राघव तरे, हेला दे नृप मान॥"

आदि प्रसिद्ध है। ऐसे सुख्यातनामा वीरवर महाराजा मानसिंह का आगमन जव वंगाल के वागी पठानों ने सुना, तो वे पस्तहिम्मत हो गये। महाराज मानसिंह ने वंगाल में आकर उन्हें ऐसी शिक्षा दी कि, पठानों का खातमा सदा के लिये हो गया। कहते हैं कि, चट्टग्राम के भाटी ईशाखाँ पर महाराजा मानसिंह उस समय वड़े नाराज हुए थे, परन्तु सुचतुर ईशाखाँ ने उनके तेज वल और शौर्य का अनुभव कर उनके साथ कुछ ऐसा वर्ताव किया कि, उनकी नाराजी मैत्री में परिणत हो गई। इस प्रकार सहज में महाराजा मानसिंह ने पठानों का खातमा कर दिया, तो वादशाह अकवर ने महाराजा मानसिंह को दक्षिण के संग्राम में जाने का आदेश भेजा। उस समय दक्षिण प्रदेश में घमासान युद्ध हो रहा था। और उस युद्ध में महाराजा मानसिंह का रहना विशेष आवश्यक समझा गया था। राजकुमार जगतसिंह को वंगाल में छोड़ कर महाराजा मानसिंह दक्षिण की लड़ाई में चले गये। राजकुमार जगतसिंह ने वंगाल में रह कर अपने पिता की तरह शान के साथ शासन किया और वंगाल की शान्ति भंग नहीं होने दी। परन्तु वंगाल की तत्सामयिक रक्ताआम की वीमारी ने जगतसिंह को धर दवाया। परिणाम यह हुआ कि, वंगाल में ही उसी वीमारी के कारण राजकुमार जगतसिंह का शरीरान्त हो गया। इसके

बाद दूसरी बार महाराजा मानसिंह का आगमन बंगाल में प्रतापादित्य के समय ई० स० १६०५ में हुआ, जिसका वर्णन विस्तारपूर्वक हम आगे चल कर करेंगे।

बंगाल के इतिहास में यशोर के भौमिक राजा प्रतापादित्य का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार का बहुत ही संदिग्ध रूप में पाया जाता है। एक ओर बंगाली लेखकों द्वारा लिखित बंगला भाषा के ग्रन्थ हैं, जिनमें बताया गया है कि, ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी के अन्त में बंगाल के बारह भाटियों में यशोराधिपति महाराजा प्रतापादित्य एक बहुत बड़ा शक्तिशाली शासक हो गया है। बंगाली लेखकों ने प्रकारान्तर से यह दिखाने की चेष्टा की है कि, प्रतापादित्य एक आदर्श हिन्दू राजा थे और उन्होंने बंगाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने लिखा है कि, दिल्ली के बादशाह अकबर की ओर से जयपुर के महाराजा मानसिंह बंगाल में यदि नहीं आते और उनके साथ कामदेव ब्रह्मचारी, भवानन्द तथा जियानन्द आदि देशद्रोही बंगाली नहीं जा मिलते तो प्रतापादित्य द्वारा बंगाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित हो गया होता। इस सम्बन्ध में बंगाली लेखकों ने जहाँ प्रतापादित्य की अत्यन्त प्रशंसा की है, वहाँ महाराजा मानसिंह को विश्वासघाती, पापी और हिन्दू-द्रोही ही नहीं किन्तु देशद्रोही तक प्रकट किया है। परन्तु, दूसरी ओर तत्सामयिक इतिहासलेखक अबुलफ़ज़ल आदि सुप्रसिद्ध मुसलमान विद्वानों के लिखे "आईने अकबरी" "अकबरनामा" तथा "सैरुलमुताखरीन" आदि ग्रन्थ हैं—जिनको ध्यानपूर्वक पढ़ने और मनन करने पर भी प्रतापादित्य के सम्बन्ध में उन अनेक घटनाओं का प्रमाण नहीं मिलता, जिनको बंगाली लेखकों ने बड़े विस्तार के साथ लिपिबद्ध किया है। इस प्रकार देखा जाता है कि, एक पक्ष प्रतापादित्य को प्रशंसा का पुल बाँध कर पहाड़ पर चढ़ाता है, तो दूसरा पक्ष उसे अणुमात्र भी महत्व प्रदान नहीं करता। जब कि, हम देखते हैं कि बंगाली लेखक तत्सामयिक नहीं हैं किन्तु प्रायः दो सौ

प्रतापादित्य—

वर्ष पीछे के हैं और उपरोक्त मुसलमान लेखक न केवल तत्सामयिक ही हैं किन्तु उस समय की राजनैतिक साधारण से साधारण घटनाओं को भी अपने ग्रन्थों में स्थान देनेवाले हैं। ऐसी अवस्था में ऐतिहासिक दृष्टि से स्वतः ही यह आशंका पैदा हो उठती है कि, बंगाली लेखकों ने किसी प्रकार के विशेष लक्ष्य से प्रतापादित्य का चरित्र अंकित करने में कुछ पक्षपात अथवा अत्युक्ति से तो काम नहीं लिया है? अब आगे हम इसी विषय की मीमांसा करने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि एक तो इस प्रसंग से जयपुर के महाराजा मानसिंह का सम्पर्क होने के कारण मारवाड़ी जाति से सम्बन्ध हो जाता है, दूसरे बंगाली लेखकों ने इतिहास का पर्दा ही पलट दिया है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि, इस विषय की मीमांसा न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से की जाय, किन्तु स्वाभाविकता और व्यावहारिकता से भी विचार किया जाय।

विद्वान् बंगाली लेखकों ने प्रतापादित्य का महत्व प्रकट करने में, यद्यपि अपनी सारी बुद्धि खर्च कर आकाश-पाताल एक कर दिया है और साथ ही साथ महाराजा मानसिंह की निन्दा करने में उन्होंने किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया, तथापि प्रतापादित्य सम्बन्धी अनेक घटनाओं का उन्होंने, जिस रूप में वर्णन किया है, उनसे अनायास ही प्रतापादित्य की महत्ता और उनका आदर्श हिन्दू नरेश होना खण्डित हो जाता है। इस सम्बन्ध में अनेक बंगाली लेखकों द्वारा लिखित पुस्तकों के आधार पर बाबू हरिसाधन मुखोपाध्याय महोदय ने अपने "कलकत्ता से कालेर आर ये कालेर" नामक वृहत् ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक जो उल्लेख किया है उसका सार यहाँ पर उद्धृत कर देना ही हम पर्याप्त समझते हैं। हमारी धारणा है कि, पाठक वर्ग उनके विवरण पर गम्भीरता से विचार करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि, प्रतापादित्य और मानसिंह के सम्बन्ध में विद्वान् बंगाली लेखकों ने जैसे भावों का प्रचार किया है, वास्तव में वैसे भावों का प्रचार करने की आवश्यकता कुछ भी नहीं

थी। हो सकता है कि, प्रतापादित्य ने अवसर पाकर उस समय अपनी शक्ति का विशेष संगठन किया हो और अन्य भौमिकों की अपेक्षा अपने साहस का परिचय भी अधिक दिया हो, परन्तु यह कहना कि, वह आदर्श हिन्दू राजा था और बंगाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करना चाहता था, घटनाक्रम से सिद्ध नहीं होता और सहसा यह कहने का जी चाहता है कि, बंगाली लेखकों ने किसी प्रकार के विशेष लक्ष्य से अथवा भ्रमवश असम्भव को सम्भव बनाने का प्रयत्न किया है। अब हम यहां हरिसाधन मुखोपाध्याय महोदय के ग्रन्थ से कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

"यशोर के भौमिक राजा विक्रमादित्य को ई० स० १५६८ में एक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम प्रतापादित्य रखा गया। उसके नामकरण के समय ज्योतिषी पंडितों ने भविष्यवाणी की थी कि, यद्यपि राजकुमार बड़ा भारी शक्तिशाली, प्रतिभासम्पन्न एवं वीर होगा, तथापि कुछ ग्रहों के संयोग से वह उद्दण्डता धारण करेगा और पितृद्रोही भी होगा, जिसके कारण कौटुम्बिक अनिष्ट हो सकता है।

"बालक प्रताप जब पांच वर्ष का हुआ तब से ही उसकी उद्दण्डता प्रकट होने लगी थी। उसका मन शिक्षा की ओर कभी नहीं लगा। घोड़ों पर चढ़ना, उड़ते हुये पक्षियों को अपने निशाने से धराशायी करना, उसकी साधारण दिनचर्या थी। एक दिन एक महतरानी राजभवन में झाड़ू दे रही थी, उद्दण्ड प्रताप ने कौतूहलवश उसके दोनों स्तन कटवा लिये। राजा विक्रमादित्य ने जब यह हाल सुना तो वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने सोचा कि, प्रताप का मन किसी दूसरी ओर लगाना चाहिए। अतः उन्होंने प्रताप का विवाह छोटी अवस्था में ही कर दिया। परन्तु प्रताप का मन उस ओर भी नहीं खिंचा। यह हो भी कैसे सकता था? बिना पूर्ण युवावस्था के दाम्पत्य प्रेम कहीं हो सकता है? राजा विक्रमादित्य ने देखा कि, प्रताप की उद्दण्डता दूर करनेवाले सभी प्रयत्न विफल हो रहे हैं तो ज्योतिषियों की पितृद्रोह सम्बन्धी भविष्यवाणी उनके हृदय में ताजा

हो उठी। राजा ने निश्चय किया कि, प्रताप को यहाँ न रखकर उसे वादशाह अकवर के दरवार में भेज देना चाहिए। उनके आतङ्कपूर्ण प्रभाव से वह रास्ते पर आ जायगा। कहा जाता है कि, उस समय यह नियम था कि, वंगाल के भौमिकों की ओर से उनका प्रतिनिधि वादशाह के दरवार में अनिवार्य रूप से रहा करता था। इस सम्बन्ध में विक्रमादित्य ने अपने छोटे भाई वसन्तराय से सलाह ली, तो उन्हें इस किशोरावस्था में उसे वादशाह के दरवार में भेजना उचित नहीं जान पड़ा। परन्तु वड़े भाई विक्रमादित्य के अटल निश्चय का वे विरोध भी न कर सके। अन्त में कितने ही आदमियों के साथ प्रतापादित्य आगरे भेज दिया गया।

"प्रतापादित्य ने समझा कि, यह चाल उसके चाचा वसन्तराय की है। उस समय तो वह कुछ नहीं वोल सका, परन्तु, उसी दिन से पितृव्य-द्रोह का भ्रमात्मक भाव उसके हृदय में जम गया। प्रतापादित्य को आगरे भेज कर राजा विक्रमादित्य ने अपने राज्य का छः आना हिस्सा अपने छोटे भाई वसन्तराय के नाम पर लिख दिया और दस आना प्रताप के नाम पर कर दिया। प्रताप के आगरे चले जाने के वाद यशोर का राज-काज वसन्तराय सम्हालने लगा और राजा विक्रमादित्य अति वृद्ध होने के कारण पूजन, भजन और हरिकीर्तन में रहने लगे।

"यशोर से चल कर कई महीनों के वाद प्रताप आगरे पहुँचा और वादशाह के दरवार में आने जाने भी लगा। परन्तु वहुत दिन वीत जाने पर भी वादशाह अकवर से उसका साक्षात्कार अथवा किंचित् परिचय भी नहीं हो सका। वादशाह अकवर का तेजपुंज उस समय चरम सीमा को पहुंचा हुआ था। वंगाल के एक भोमिये की तो वात ही क्या थी; वड़े वड़े राजा महाराजा और महान् शक्तिशाली पुरुषों को भी वड़े प्रयत्न करने पर मुश्किल से शाही मुलाकात होने का सुअवसर प्राप्त होता था। इस प्रकार विना जान पहचान हुए आते जाते कितने ही दिन

शेयर बाजार के 'किंग' कहलानेवाले



स्वर्गीय रायबहादुर बलदेवदासजी दूदूवेवाला

बीत गये। बादशाह अकबर बड़ा विचित्र और अद्भुत प्रकृति का था। वह जितना कूट राजनीति विशारद था, उतना ही विद्या-प्रेमी और साहित्य-रसिक भी था। उसके दरबार में प्रत्येक समय केवल राजनीति की शुष्क चालें ही चली जाती हो, यह बात न थी। राजनैतिक विचारों के समय राजनीति पर गंभीर विचार होता था और अन्य समय में चित्त-विनोदार्थ अनेक विषयों पर नाना प्रकार की चर्चा हुआ करती थी। उसके दरबार में नवरत्नों का होना इतिहासप्रसिद्ध बात है। वे नवरत्न सभी विषयों के महान् पण्डित और अनुभवी थे। गान विद्या और साहित्य आदि पर बड़ा ही मार्मिक विचार होता था।

"बादशाह अकबर ने अपने दरबारियों को एक दिन पूर्ति के लिये 'सेत-भुजङ्गिनी जात चली है' समस्या दी। दरबारियों ने अपनी अपनी योग्य-तानुसार समस्या की पूर्ति की। संयोगवश प्रतापादित्य भी उस समय दरबार में उपस्थित था। कहते हैं कि, उसने भी साहस कर अपनी पूर्ति कह सुनाई। बादशाह अकबर गुणग्राही थे। किस व्यक्ति में कितनी योग्यता है, किसमें कितना गुण है, इसकी पहिचान उन्हें बहुत थी। आज-कल प्रायः देखा जाता है कि, बड़े बड़े राजा महाराजा, धनिक और बड़े आदमी कहलानेवाले सम्पन्न व्यक्तियों को योग्यता की पहचान बहुत ही कम हो पाती है। उनके यहाँ उसी व्यक्ति की बात का अधिक असर तथा आदर होता देखा जाता है जो व्यक्ति पहले से ही चलता पुर्जा, मुंह-लगा तथा झूठा सच्चा नाम पाया हुआ होता है। ऐसे व्यक्तियों की बातों में चाहे विशेष सार न भी हो तो भी बुद्धिमानी और योग्यता का सार्टी-फिकेट प्रायः उन्हीं को मिलता है। यदि कोई व्यक्ति विद्वान् और बुद्धिमान है, तो उसकी गुरुतर से गुरुतर बात को आजकल के सम्पन्न व्यक्ति सुनी अनसुनी कर देते हैं। पर बादशाह अकबर में यह बात नहीं थी। वह गुणग्राही था। यही कारण था कि, इस बात का कुछ भी खयाल न कर कि, वह कहां का रहनेवाला है तथा किस स्थिति का आदमी है, बादशाह

ने एक अपरिचित बंगाली युवक की समस्या पूर्ति को सबसे अधिक पसन्द किया और वाह वाह करने लगा। फिर जब मालूम हुआ कि, बंगाल प्रान्त के यशोर ठिकाने का वह भौमिक प्रतिनिधि है, तब प्यार की दृष्टि से प्रताप को देखने लगा।

"बादशाह की स्नेह-भरी दृष्टि का अनुभव कर प्रतापादित्य ने एक कूट नीति की चाल चली। वह चाल यह थी कि, यशोर राज्य की ओर से जो सालाना कर बादशाह के खजाने में जमा किया जाता था, उसे जमा करना प्रतापादित्य ने बन्द कर दिया। इस प्रकार जब बहुत समय तक यशोर की ओर से राज-कर खज़ाने में जमा नहीं हुआ, तो इसकी खबर बादशाह के कानों तक पहुंची। बादशाह ने प्रताप को तलब किया और खजाना जमा न करने का कारण पूछा। प्रताप ने पहले ही सब कुछ सोच रखा था। उसने तुरन्त उत्तर दिया कि, "जहांपनाह, मेरे पिता राजा विक्रमादित्य अति वृद्ध होने के कारण इस समय ईश्वर-भजन में लीन रहते हैं और यशोर राज्य का कुल काम इस समय मेरे चाचा बसन्तराय करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि, सरकारी खजाना न भेजने में चाचा बसन्तराय का क्या अभिप्राय है। इसमें यदि कोई रहस्य हो तो उसका अनुभव स्वयं जहांपनाह कर सकते हैं।" कहते हैं कि, प्रतापादित्य से इस प्रकार का उत्तर पाकर पहले तो बादशाह ने उस पर क्रोध प्रकट किया परन्तु पीछे उसको हुक्म दिया कि, यशोर का खजाना यदि तुम भर सको तो यशोर का राजा तुम्हें ही बना दिया जायगा। यद्यपि प्रतापादित्य के पास उस समय रुपए नहीं थे, तथापि अन्य समृद्धिशाली दरबारियों से उसने उधार लेकर कई लाख रुपए जो कि, खजाने के बाकी थे, जमा करा दिये। इस पर बादशाह अकबर प्रताप पर बड़ा प्रसन्न हुआ और उन रुपयों में से तीन लाख रुपए प्रताप को पुरस्कार स्वरूप वापस दिये।

"बादशाह अकबर की प्रसन्नता, सहानुभूति और सहायता मिलने से

प्रताप का मन बढ़ गया। उसने उसी दिन से सेना का प्रबन्ध करना शुरू कर दिया। बादशाह अकबर की मदद से एक बड़ी सेना लेकर अपने पितृव्यों पर बंगाल में चढ़ आया। प्रताप ने बंगाल में आकर यशोर नगर को चारों ओर से घेर लिया। यह खबर जब राजा विक्रमादित्य और बसन्तराय को मालूम हुई, तो इस प्रकार अपने पुत्र को बागी बनकर आया देख वे बड़े दुःखी हुए और आश्चर्य करने लगे। विक्रमादित्य अपने पुत्र प्रताप का स्वभाव पहले से ही जानते थे। ज्योतिषी पंडितों की भविष्यवाणी भी याद आ गई। भारी अनिष्ट होता देख दोनों भाइयों ने प्रताप की शरण में जाना ही हितकर समझा और बिना किसी प्रकार का आडम्बर किये पैदल ही प्रताप के शिविर में पहुँच गये। वहाँ पहुंच कर दोनों भाई प्रताप से कहने लगे कि वत्स! हम दोनों अति वृद्ध हो चले हैं। अब हमें इस संसार में कितने दिन रहना है। यह राज्य तो तुम्हारा ही है। इस प्रकार सेना संग्रह कर यशोर पर चढ़ आने का मतलब क्या है? पिता और पितृव्य की इस प्रकार स्नेह-भरी बातें सुन कर प्रताप लज्जित हो गया और उनके पैरों पर गिर पड़ा। राजा विक्रमादित्य और बसन्तराय की बुद्धिमानी से गर्म खून प्रतापादित्य का पारा ठंडा पड़ गया। प्रतापादित्य यशोर में आकर राज-काज सँभालने लगा। उसके पास सूर्यकान्त गुह और शंकर चक्रवर्ती नामक दो मित्र बड़े वीर थे। इसके अतिरिक्त उसने रोड़ा नामक एक पुर्तगीज यूरोपियन व्यक्ति को, जो बड़ा दक्ष था, नौका विभाग का सेनापति बनाया था। उसकी सहायता से स्थान स्थान पर बड़े बड़े दुर्ग निर्माण कराये। इन कारणों से प्रतापादित्य की ख्याति और आतङ्क विस्तार पाने लगा था। इसी समय राजा विक्रमादित्य अपनी ईहलीला समाप्त कर स्वर्ग चले गये। वसन्तराय भी वृद्ध होने के कारण ईश्वरभक्ति और भजनादि में लीन रहने लगे और राजकाज का पूर्ण प्रबन्ध प्रतापादित्य के हाथ में आ गया।"

आगे चलकर उन्होंने यह भी लिखा है कि, "प्रतापादित्य उद्धत प्रकृति,

उद्दण्डतापरायण, अस्थिरचित्त, और गर्म खून का नवयुवक था, जो अपनी ही राजसत्ता जमाने की लालसा में आँख मीच कर आगे बढ़ रहा था।

"प्रतापादित्य ने अपने चाचा वसन्तराय से कहा कि, यद्यपि वाखरगंज और वैरीसाल जिले का चाकसी परगना आपके हिस्से में है, तथापि चाकसी परगने को आप मुझे दे दें और उसके वदले में दूसरा परगना मुझ से ले लें। राजनैतिक दृष्टि से चाकसी परगना वड़े महत्व का था। प्रतापादित्य ने सोचा था कि, यह परगना मेरे हाथ में आ जाने से पूर्व वंगाल में मेरी तूती वोल उठेगी। परन्तु राजा वसन्तराय वयोवृद्ध और अनुभवी थे। उस परगने का महत्व पहले से ही जानते थे तथा प्रताप की मनोवृत्ति एवं इच्छा को भी समझते थे। अतः उन्होंने प्रतापादित्य के इस प्रस्ताव को सर्वथा अस्वीकार कर दिया। प्रतापादित्य के हृदय में भी पितृव्यद्रोह तो आगरा जाते समय से ही अंकुरित हो रहा था, चाकसी परगना न मिलने से अब उस विद्रोहाग्नि में घी पड़ गया।

"उस समय पूर्व वंगाल में चन्द्रद्वीप के राजा कन्दर्पनारायण के पुत्र रामचन्द्रराय का वड़ा नाम था। चन्द्रद्वीप की ख्याति प्रतापादित्य को वड़ी खटकती थी। चाकसी परगना जव उन्हें अपने चाचा से नहीं मिला तो प्रतापादित्य ने एक दूसरी चाल चली। अपनी कन्या विन्दुमती को उन्होंने चन्द्रद्वीप के राजकुमार रामचन्द्र को विवाह दी। रामचन्द्र वड़ा शक्तिशाली राजा वताया गया है और कहा गया है कि, उसने फिरङ्गी पुर्तगीजों और मग दस्युओं को परास्त किया था। कहा जाता है कि, प्रतापदित्य ने अपनी कन्या इस मतलव से विवाही थी कि, जामाता के रूप में रामचन्द्र को अपने घर वुला उसे कैद कर उसकी हत्या कर दें, जिससे उसका राज्य अपने कब्जे में हो जाय। हुआ भी ऐसा ही। प्रतापादित्य ने कौशलपूर्वक रामचन्द्र को यशोर वुला लिया और कैद कर लिया। परन्तु कहा जाता है कि, प्रताप के पुत्र उदया-

दित्य ने अपने बहनोई को एक दिन रात के समय कैदखाने से बाहर कर दिया और वह अपनी राजधानी चन्द्रद्वीप पहुँच गया। किसी-किसी का मत है कि, रामचन्द्र के एक भृत्य रामनारायण नामक व्यक्ति ने रामचन्द्र को कारागार से निकाल लिया था। जो हो, प्रतापादित्य की इच्छा इस कार्य में पूरी नहीं हुई। रामचन्द्र के भाग जाने पर प्रतापादित्य ने अपनी पुत्री बिन्दुमती को अपने जीते जी रामचन्द्र के पास नहीं जाने दिया। रामचन्द्र का भाग जाना प्रतापादित्य के लिये बड़े दुःख का कारण हुआ और प्रताप ने अपने पुत्र उदयादित्य को दोपी न समझ कर बसन्तराय पर ही सन्देह किया।

"एक दिन राजा बसन्तराय के पिता का वार्षिक श्राद्ध था। राजा बसन्तराय ने अपने भतीजे प्रतापादित्य को निमन्त्रित किया। प्रतापादित्य दलबल के साथ अस्त्रों से सुसज्जित हो अपने पितामह के श्राद्ध में बसन्तराय के घर आया। जिस समय प्रतापादित्य पहुँचा उस समय बसन्तराय श्राद्ध-क्रिया और पूजापाठ में व्यस्त थे। बसन्तराय के पुत्र गोबिन्दराय ने अपने पिता को प्रतापादित्य के आने की सूचना दी। प्रतापादित्य को आया देख कर बसन्तराय ने नौकर को आवाज दी कि, शीघ्र गंगाजल लाओ। इतना शब्द सुनते ही प्रतापादित्य ने उसी समय अपनी खड्ग से चाचा बसन्तराय का सिर धड़ से अलग कर दिया। राजभवन में हाहाकार मच गया, बसन्तराय के सभी पुत्र श्राद्ध के समय निःशस्त्र थे। उनमें जो सामने आये, मार कर धराशायी कर दिये गये। कहते हैं कि, बसन्तराय के गोबिन्दराय, जगदानन्द, परमानन्द, श्रीराम, रूपराम, रमाकान्त, मधुसूदन और माणक आदि सभी निहत्थे पुत्र यमपुर भेज दिये गये। केवल एक मात्र पुत्र राघव, जो सबसे छोटा और बिलकुल बालक था, महलों में बसन्तराय की रानी के पास होने के कारण बच गया। यद्यपि प्रतापादित्य ने उसकी भी खोज की परन्तु बुद्धिमती रानी ने वंश नष्ट होते देख राघव को एक कचूमर के खेत

में छिपा दिया, जिससे वह प्रताप की तलवार का शिकार होने से बच गया। वसन्तराय का एक जामाता रूपराम वसु था, वह राघव को कचूमर के खेत से निकाल कर भाग निकला और उसे बादशाह अकबर के पास दिल्ली ले गया।"

इस हत्याकाण्ड के रहस्य का दो प्रकार से वर्णन किया गया है। एक पक्ष का तो यह कहना है कि, "प्रतापादित्य आगरा भेजे जानेवाली घटना से तथा चाकसी परगना न मिलने से और अपने जामाता रामचंद्र के कारामुक्त होने से बसन्तराय पर इतना नाराज हो गया था कि, वह कोई मौका ही खोज रहा था, जिससे वसन्तराय का अन्त किया जा सके। परन्तु दूसरा पक्ष कहता है कि, जब प्रतापादित्य ने वसन्तराय के राजमहल में प्रवेश किया तो उस समय वसन्तराय श्राद्धकर्म कर रहा था। प्रताप को आया देख कर नौकर को गंगाजल लाने को कहा। इस पर प्रताप को सन्देह हो गया कि, बसन्तराय ने मुझे मारने के लिए अपनी "गंगाजल" नामक खड्ग मंगाई है। इस प्रकार का सन्देह होते ही प्रतापादित्य ने श्राद्धकर्म करते हुए अपने चाचा वसन्तराय का सिर धड़ से अलग कर दिया। कहते हैं कि, वसन्तराय की प्रिय खड्ग का नाम भी 'गंगाजल' था।"

"बसन्तराय और उनके पुत्रों के मारे जाने पर प्रतापादित्य का हौसला इतना बढ़ गया कि, विक्रमपुर, चट्टग्राम और कतिपय छोटे छोटे हिन्दू राजाओं और जमीन्दारों पर प्रतापादित्य ने चढ़ाई करनी शुरू कर दी। यहाँ तक कि, विक्रमपुर के भाटी चान्दराय और केदारराय जो उस समय बड़े भारी शक्तिशाली समझे जाते थे, उन पर भी चढ़ाई कर दी। कहा गया है कि, केदारराय बड़ा चतुर था। प्रतापादित्य को एकाएक चढ़ आया देख कर उसने उससे सन्धि कर ली थी। प्रताप ने बंगाल में नादिरशाही का सा दृश्य उपस्थित कर दिया। इस सम्बन्ध में एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि, वह इतना क्रूर बन गया था कि, अपनी

प्रजा को साधारण अपराध पर भीषण दण्ड देने लगा था। अति तुच्छ अपराध पर भी अपराधी का सिर कटा देना उसकी मामूली आज्ञा हो गई थी। यही कारण था कि. उसकी राज्यलक्ष्मी चंचल हो उठी थी।

"जब प्रतापादित्य ने बादशाह की सीमा पर आक्रमण किया उस समय बंगाल में शेरखाँ नामक व्यक्ति सूबेदार था। प्रताप ने उसे भगा दिया। उसके बाद इब्राहिम सेनापति आया, जिसके साथ सप्तग्राम और मातलादुर्ग में लड़ाई हुई। इसमें भी विजय प्रतापादित्य की ही हुई। इस प्रकार कितने ही सेनापति आये, परन्तु प्रतापादित्य उनके वश में नहीं हो सका और बंगाल में उसका अत्याचार बढ़ता ही चला।

"इधर प्रतापादित्य की सूबेदारों से लड़ाई हो रही थी और हार पर हार के समाचार बादशाह के पास पहुंच रहे थे, उधर रूपराम वसु बसन्तराय के एकमात्र बचे हुए पुत्र राघवको लेकर बड़ी कठिनाई के साथ किसी तरह बादशाह अकबर के पास दिल्ली पहुंचा। रूपराम ने बालक राघव को बादशाह के सामने पेश किया और एक-एक कर प्रतापादित्य के अत्याचार कह सुनाये। बादशाह अकबर बड़े क्रोधित हुए और अपने सुदक्ष सेनापति आजमखाँ को बंगाल में भेजा पर वह भी उसे नहीं दबा सका।

"इस बीच में सन् १६०५ में बादशाह अकबर का एकाएक देहान्त हो गया। अकबर के मरने पर जहाँगीर बादशाह हुआ। उसने देखा कि बंगाल का उपद्रव बढ़ता ही जा रहा है, तब उसे दबाने के लिए महाराजा मानसिंह को भेजा।

"दिल्ली से चलकर महाराजा मानसिंह सदलबल काशी पहुँचे। काशी में उन्होंने सुप्रसिद्ध मान-मंदिर का शिलारोपण किया, जो आज प्रायः सवा तीन सौ वर्ष बीत जाने पर भी काशी में महाराजा मानसिंह की स्मृति बनाये हुए है।

"काशी में उनकी भेंट कामदेव ब्रह्मचारी से हुई, जो बंगाल का

रहनेवाला था। कामदेव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वह एक निःष्णात् विद्वान् और वैरागी पुरुष था परंतु अपनी स्त्री के प्रेम में पहले घर बार छोड़ नहीं सकता था। एक समय उसकी स्त्री के गर्भ से एक पुत्र पैदा हुआ और स्त्री नवजात शिशु को छोड़ कर स्वर्ग सिधार गई। इससे कामदेव दुःखी हुआ और अपने भूमिष्ठ शिशु को उसी अवस्था में निराधार छोड़ कर वह घर से निकल गया। कहते हैं कि, कामदेव ब्रह्मचारी का तेज देख कर महाराजा मानसिंह उसके शिष्य बन गये और कामदेव ब्रह्मचारी ने अपने परामर्श से महाराजा मानसिंह को इतनी मदद की, जिससे न केवल महाराजा मानसिंह बंगाल की स्थिति से ही जानकार हो गये अपितु प्रतापादित्य को हरा देने में भी उन्हें मदद मिली। कामदेव ब्रह्मचारी के हृदय में उस समय पुत्र-प्रेम उमड़ आया था और महाराजा मानसिंह से कहा था कि, बंगाल में पहुँच कर मेरे पुत्र की खोज करना, इसीको मैं तुम्हारी गुरु दक्षिणा समझूँगा। महाराजा मानसिंह कामदेव ब्रह्मचारी से विदा होकर आगे बढ़े और उन्होंने वर्धमान में डेरा डाला।

"महाराजा मानसिंह का आगमन सुन कर प्रतापादित्य ने पहले से ही कुछ ऐसा प्रबन्ध कर रखा था कि, मानसिंह को वर्धमान में न तो रसदादि की सहायता मिले और न नदी पार करने के लिये नौकाएँ ही प्राप्त हो सके। मानसिंह जब वर्धमान पहुंचे तो उन्हें सब के सब ग्राम उजड़े हुए मिले और घाट पर एक भी नौका न मिली जिससे वे आश्चर्य में पड़ गये। उसी समय भवानन्द और जियानन्द नामक दो व्यक्ति महाराजा मानसिंह से आ मिले, जो प्रतापादित्य के आश्रित होने पर भी उससे नाराज होकर इधर-उधर भागते फिरते थे। भवानन्द ने वर्धमान में होनेवाली सभी कठिनाइयाँ दूर कर दी, जिससे महाराजा मानसिंह उन पर बड़े प्रसन्न हुए।

"महाराजा मानसिंह ने एक दूत वर्धमान से प्रतापादित्य के पास भेजा और कहलाया कि, यद्यपि वसन्तराय और उसके पुत्रों की हत्या कर तुमने

सफल व्यापारी एवं सर्वस्व दानकर्त्ता



स्वर्गीय रायबहादुर विश्वेश्वरलालजी हलवासिया

बहुत अनुचित आचरण किया है और बादशाह का सामना कर साक्षात् मृत्यु को बुलाया है, तथापि मैं एक हिन्दू हूं और हिन्दुत्व के नाते मैं तुमको सर्वथा बरबाद करना नहीं चाहता। अतः अब भी मैं तुम्हें अवसर देता हूँ कि, अपने कुकर्मों से बाज आओ और बादशाह से माफी माँग कर उनकी आधीनता स्वीकार करो तथा बसन्तराय के एक मात्र पुत्र राघव को, जो इस समय मेरे साथ है, उसके पैतृक हिस्से का छः आना राज्य लौटा दो और मेरी सम्मति से सुखपूर्वक राज्य करो। परन्तु यह कब सम्भव था कि, इस सलाह पर प्रतापादित्य विचार तक करता। उसने अपनी स्वाभाविक उद्दण्डता और गर्म खून के वशीभूत होकर दूत का अपमान किया और उसे निकाल दिया। परिणाम यह हुआ कि, युद्ध ठन गया। मानसिंह आगे बढ़े और कई स्थानों पर लड़ाइयां होने लगीं। अन्त में प्रतापादित्य का पुत्र उदयादित्य, महावीर सूर्यकान्त गुह और नौ सेनापति पुर्तगीज रोड़ा सब के सब युद्ध में क़ाम आ गये। उदयादित्य के मरने पर जब प्रतापादित्य यशोर से भाग कर धूमघाट किले में चला आया, तब मानसिंह ने फिर दूत भेजा और कहलाया कि, अब भी समय है, व्यर्थ में सर्वनाश करना बुद्धिमानी नहीं। परन्तु प्रताप ने ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि शंकर चक्रवर्त्ती और प्रतापादित्य कैद कर लिये गये। प्रतापादित्य के पकड़े जाने का समय ई० सन् १६०६ लिखा है और जन्म ई० सन् १५६८ बताया है। शङ्कर चक्रवर्त्ती को महाराजा मानसिंह ने यह प्रतिज्ञा करा कर छोड़ दिया कि, अब वह किसी भी युद्ध में भाग न लेगा और शेष जीवन हरिनाम-स्मरण में बितावेगा। उसी दिन से शङ्कर चक्रवर्त्ती बारासत ग्राम में गंगा के किनारे रहने लगा और वहीं पर उसने अपना जीवन शेष किया।" चण्डीकाव्य के लेखक शास्त्री महोदय ने लिखा है कि, प्रतापादित्य युद्ध में बेहोश होकर गिर पड़ा तो स्वयं महाराजा मानसिंह ने आकर उसे अचेतनावस्था में कैद कर लिया। उन्होंने यह भी लिखा है कि, महाराजा मानसिंह प्रतापा-

दित्य को कैद कर अपने साथ ले गये और रास्ते में जब काशी पहुँचे तो प्रतापादित्य ने आत्महत्या कर प्राण दे दिये।

प्रतापादित्य पकड़ लिया गया तब बसन्तराय के पुत्र राघव को जो मानसिंह के साथ था, यशोर की राजगद्दी दी गई और वह कचूराय के नाम से यशोर का राज्य करने लगा। प्रतापादित्य की पुत्री बिन्दुमती को जिसे प्रतापादित्य ने अपने घर में ही रोक रखा था, महाराजा मानसिंह ने उसके पति चन्द्रद्वीप के राजा रामचन्द्र के पास भेज दिया।

उन्होंने यह भी लिखा है कि, "महाराजा मानसिंह का युद्ध विक्रमपुराधिपति केदारराय के साथ भी हुआ था और उन्होंने केदारराय को एक देवी के मंदिर में प्रार्थना करते समय मरवा दिया था, और उनकी विधवा स्त्री को राज्य सौंप दिया था। कितने ही बंगालियों को मजुमदार की पदवी प्रदान की थी और नाना प्रकार के पुरस्कार दिये थे। जिन व्यक्तियों को मजुमदार पदवी प्रदान की गई थी उनमें तीन व्यक्तियों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं और प्रायः सवा तीन सौ वर्ष बीत जाने पर भी उनके वंशधर आज भी उक्त जमींदारी का भोग कर रहे हैं। उनके नाम ये हैं:—

(१) लक्ष्मीकान्त—यह पूर्व कथित ब्रह्मचारी कामदेव का पुत्र था। महाराजा मानसिंह ने अपने गुरु के आदेशानुसार उनका पता लगा कर उन्हें सबसे प्रथम मगुरा, खासपुर, पाईकान और अनवरपुर नामक परगने दे दिये। आगे चल कर लक्ष्मीकान्त के वंशज वड़िसा के सावर्न चौधरी कहलाए। उनकी जमींदारी वर्तमान कलकत्ता के नजदीक थी, जो आज भी बेहला के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान काली मंदिर पहले पहल लक्ष्मीकांत ने बनवाया था। यहां पर यह बता देना अनुचित न होगा कि ईष्ट इण्डिया कम्पनी ने बङ्गाल में आकर तीन मौजे गौविन्दपुर, सूतालूटी और कालीकट्टा खाल, इन्हीं सावर्न चौधरियों से लीज पर लिये थे।

. (२) भवानन्द—जिसके सम्बन्ध में बतलाया गया है कि, वह महाराजा मानसिंह से वर्धमान में आकर मिला था। वह भी जमींदार बनाया गया उसके वंशधर आज भी कृष्णनगर की जमींदारी भोग रहे हैं।

(३) जियानन्द को बाँसवेड़िया का परगना प्रदान किया गया था, जो आज भी उसके वंश में बना हुआ है।

इस प्रकार महाराजा मानसिंह ने बहुत से अन्य हिन्दू बंगालियों को जमींदार बनाया और एक एक दो दो ग्राम देकर मजुमदार जाति की सृष्टि की और बंगाल के उपद्रव को शान्त किया।"

एक दृष्टि—

यशोराधिपति राजा प्रतापादित्य सम्बन्धी जो विवरण हमने यहां उद्धृत किया है, वह बंगाली लेखकों द्वारा लिखित है। हमने बंगला साहित्य के इस सम्बन्ध में जिन ग्रन्थों का अवलोकन किया है, उनमें "भारत चन्द्रिका" "अन्नदामंगल" रामराय बसु का "प्रतापादित्य चरित्र" शास्त्री महाशय तथा निखिल बाबू के लेख तथा ग्रन्थ, "चण्डी काव्य" और बाबू हरिसाधन मुखोपाध्याय प्रणीत "कलकत्ता से कालेर आर ये कालेर" आदि ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें प्रतापादित्य और मानसिंह सम्बन्धी उपरोक्त घटनाओं का चित्र अङ्कित किया गया है। उल्लिखित विवरण की सत्यता और प्रतापादित्य की महत्ता जानने के लिये आवश्यकता इस बात की है कि, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका अन्वेषण किया जाय; क्योंकि कैसी भी छोटी अथवा बड़ी घटना क्यों न हो उसकी सत्यता का आधार ऐतिहासिक प्रमाण ही होता है और जब तक वह घटना इतिहास की कसौटी पर नहीं कसी जाती, तब तक संदिग्ध ही बनी रहती है। ऐतिहासिक प्रमाणों की दृष्टि से तो यह कहा जा सकता है कि, प्रतापादित्य और महाराजा मानसिंह के सम्बन्ध में विद्वान् बंगाली लेखकों ने जो कुछ लिखा है, वह केवल किम्बदन्तियों के आधार पर ही लिखा गया है। हमने ऊपर बतलाया है कि, बादशाह

अकबर और प्रतापादित्य के समय ऐतिहासिक घटनाओं को लिपिबद्ध करने की प्रथा हिन्दुओं में प्रायः नहीं थी। उस समय की राजनीति की साधारण से साधारण घटनाओं को लिपिबद्ध करनेवाले अलबुफजल तथा सैयद गुलाम हुसैन जैसे मुसलमान विद्वान् ही हुए हैं। परन्तु उनके द्वारा लिखे हुए "आईने अकबरी" "अकबरनामा" और "मुताखरीन" आदि ग्रन्थों में सिवाय प्रताप नाम के ऐसी किसी एक भी घटना का जिक्र देखने में नहीं आता जिसको बंगाली लेखकों ने विस्तारपूर्वक लिपिबद्ध किया है। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि, अबुलफज़ल जैसे धुरन्धर तत्कालीन इतिहासलेखक अपनी पुस्तकों में साधारण से साधारण राजनैतिक घटनाओं का तो उल्लेख करें और बंगाली लेखकों के कथनानुसार महान् क्रान्तिकारी विप्लव को थोड़ा भी स्थान न दें। हमारी राय में ऐसा हो नहीं सकता। तो क्या भावुकतावश, आधुनिक बंगाली लेखकों ने निर्ब-लता एवं शासन करने की अयोग्यता सम्बन्धी परंपरागत लांछन को धोने के लिये ही प्रतापादित्य सम्बन्धी घटनाओं को तिल का ताड़ बनाया तथा इतिहास का वास्तविक परदा पलट देने की चेष्टा की? यह एक ऐसा ऐतिहासिक प्रश्न है जिसका समाधान आज तक पूर्ण रूप से नहीं हो पाया।

थोड़ी देर के लिये यदि मान भी लिया जाय कि, बङ्गाली लेखकों ने प्रतापादित्य के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा सत्य है और अधिक प्रमाण ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है तो भी उल्लिखित घटनाओं से यह सिद्ध नहीं होता कि, प्रतापादित्य का कार्य एक आदर्श हिन्दू राजा के योग्य हुआ था तथा उनकी कार्यशैली बङ्गाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करनेवाली थी। उल्लिखित घटनाओं से तो अधिकतर यही प्रमाणित होता है कि, प्रतापादित्य व्यक्तिगत स्वार्थ की साक्षात् मूर्ति था और अपना स्वार्थ साधन करने में उसने उद्दण्डता, क्रूरता तथा हृदयहीनता से काम लिया था। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण ही उसने आगरे से अपने पूजनीय पितृव्य पर चढ़ाई की, चाचा बसन्तराय को अति वृद्धावस्था में

श्राद्धकर्म और पूजा-पाठ करते समय निष्ठुरता से कत्ल किया और अपने चचेरे भाइयों को निःशस्त्र अवस्था में नृशंसता से मारा। इसके अतिरिक्त पूर्व बंगाल का शक्तिशाली चन्द्रद्वीप राज्य हड़पने के लिये जान बूझकर राजा रामचन्द्र को अपना जामाता बनाया तथा अपने घर बुलाकर हत्या करने के उद्देश्य से कैद किया और अपनी एकमात्र आत्मजा पुत्री बिन्दुमती का जीवन अपने स्वार्थ के लिये दुःखमय बनाने में न तो उसे शर्म आई और न उसका कठोर हृदय ही पसीजा। ये सब बातें ऐसी हैं जिनसे प्रतापादित्य की अनुचित स्वार्थपरायणता, निष्ठुरता और हृदय हीनता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। आदर्श हिन्दू राजा होने का तथा बंगाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करनेवाली मीठी बातों का महत्व इस बात से घट जाता है कि, प्रतापादित्य ने किसी भी हिन्दू राजा तथा जमींदार के साथ रसाई पैदा नहीं की। हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने के लिये तो आवश्यकता इस बात की थी कि, वह अपने मांडलिक हिन्दू राजाओं और जमीन्दारों से प्रेमपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करता। परन्तु उसने ऐसा न कर प्रायः सभी हिन्दू भौमिकों के साथ द्रोह किया और जहाँ तक हो सका उनपर अत्याचार भी किये। उड़ीसे के तत्कालीन गंगा वंशीय हिन्दू राजाओं को तीर्थ-यात्रा का नाम लेकर धोखा दिया। उनके इष्टदेव उत्कलेश्वर महादेव और गोविन्ददेवजी की मूर्तियाँ पुजारी से मिलकर चुरा लाया जिससे वे शत्रु बन गये। इसके सिवा विक्रमपुराधीश महाराजा चान्दराय और केदारराय से भी उसने युद्ध ठाना। इन घटनाओं से यह सिद्ध नहीं होता कि, उसकी मंशा बंगाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की थी बल्कि इससे तो यही सिद्ध होता है कि, व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे वह आँख मीच कर आगे बढ़ रहा था जिसका नतीजा जैसा होना चाहिये वैसा ही हुआ। जिन अंग्रेज लेखक की सम्मति हम ऊपर दे आये हैं उन्हीं सज्जन के मत से साधारण से साधारण अपराध के लिये अपनी प्यारी प्रजा के व्यक्तियों का सिर छेदन करना, अपने पितृव्य और उनके पुत्रों

को निःशस्त्र अवस्था में नृशंसता के साथ मारना, अपनी एकमात्र आत्मजा कन्या का जीवन अपने स्वार्थ के लिये दुःखमय वनाना आदि घटनाओं के होते हुए यदि यह कहा जाय कि, प्रतापादित्य एक आदर्श हिन्दू राजा था तो दुःख के साथ कहना पड़ेगा कि यवन सम्राट् औरंगजेव में और प्रतापादित्य में कुछ भी अन्तर नहीं है।

इसके सिवा यह कहना कि, महाराजा मानसिंह यदि वङ्गाल में नहीं आते और उन्हें कामदेव ब्रह्मचारी, भवानन्द और जियानन्द आदि देशद्रोही वंगालियों की मदद नहीं मिलती तो वंगाल में हिन्दू साम्राज्य स्थापित हो जाता एक ऐसी वेतुकी वात है जिस पर कभी विश्वास हो नहीं सकता।

विचारणीय बात यह है कि, कामदेव ब्रह्मचारी, भवानन्द और जियानन्द आदि व्यक्ति भी हिन्दू थे और हिन्दू आदर्श को जानते थे। उनका वागी होकर महाराजा मानसिंह से जा मिलने का भी कोई अर्थ हुए विना नहीं रहता। प्रतापादित्य के जीवन की उपरोक्त घटनाएँ और प्रजा के साथ किये गये कठोर वर्ताव यह प्रमाणित करते हैं कि, हो न हो कामदेव ब्रह्मचारी, भवानन्द, जियानन्द आदि हिन्दुओं के साथ भी प्रतापादित्य ने कोई अनुचित कठोर वर्ताव किया था अथवा प्रतापादित्य की स्वार्थपरायण नीति उन्हें पसन्द नहीं थी। अन्यथा कोई कारण नहीं था कि, प्रतापादित्य के आश्रित वे व्यक्ति अकारण ही प्रतापादित्य से वागी हो जाते और महाराजा मानसिंह से जा मिलते। घटनाचक्र और प्रतापादित्य के कठोर स्वभाव एवं वर्ताव से तो यही मालूम होता है कि, प्रतापादित्य के अत्याचारों के कारण वे राजनैतिक संन्यासी वन कर पहले से ही इधर-उधर मारे मारे फिरते थे और जव महाराजा मानसिंह प्रतापादित्य को परास्त करने वंगाल में आए तो वे लोग उनसे जा मिले। कामदेव ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में कहा गया है कि, वह एक वैरागी पुरुष था और अपनी स्त्री के मरने पर भूमिष्ठ शिशु को निराधार छोड़ कर संन्यासी

बन गया था। ऐसी अवस्था में यह एक बहुत ही विचारणीय बात हो जाती है कि, भूमिष्ठ शिशु-पुत्र को निराधार छोड़ कर वैराग्य धारण करनेवाला व्यक्ति महाराजा मानसिंह से प्रतापादित्य की शिकायत करे और प्रतापादित्य का भीतरी भेद बतावे। यह एक अस्वाभाविक सी बात तो है ही, इसके अतिरिक्त एक सच्चे वैरागी पुरुष के करने योग्य कर्म भी नहीं है। मानसिंह के प्रति यह कहना कि, तुम हमारे पुत्र का पता लगाना यही तुम्हारी गुरू दक्षिणा होगी यह व्यक्त करता है कि, वास्तव में कामदेव सर्वथा संसार त्यागी पुरुष नहीं था, क्योंकि त्यागी अवस्था में पुत्र-प्रेम का झंझट फिर उदय हो जाना विचित्र सा मालूम होता है। सम्भव है असल बात यह हो कि, कामदेव ब्रह्मचारी के पुत्र लक्ष्मीकान्त पर प्रतापादित्य ने कोई आत्याचार किया हो अथवा उसे कैद कर रखा हो जिसके कारण ही उसका पिता कामदेव राजनैतिक सन्यासी बना हो और उसका उद्धार करने के लिये ही महाराजा मानसिंहसे उसने अनुरोध किया हो।

यह भी प्रकट है कि, प्रतापादित्य ने जिस समय हिन्दू राजाओं आदि पर चढ़ाई की थी उस समय यशोर राज्य के प्रबन्ध का भार लक्ष्मीकांत को दिया था। इससे पता लगता है कि, लक्ष्मीकान्त पहले से ही राज-काज में निपुण था। हो सकता है कि, बाद में लक्ष्मीकान्त पर प्रतापा-दित्य नाराज हो गया हो और उसे कैद कर लिया हो। बंगाली लेखकों की लेखनी से एक बात और भी विचित्र सी लिपिबद्ध हुई है। एक स्थान पर तो वे लिखते हैं कि, लक्ष्मीकान्त को अपने राज्य का भार सौंप कर प्रतापादित्य ने हिन्दुओं के साथ लड़ाई लड़ने के लिये चढ़ाई की थी और दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं कि, प्रतापादित्य को परास्त करने के बाद महाराजा मानसिंह ने लक्ष्मीकान्त को कालीघाट पर खोज निकाला था। ये बातें इतनी असंगत है कि, स्वयं खंडित हो जाती हैं। भवानन्द और जियानन्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि, वे प्रतापादित्य के आश्रित

रहनेवाले थे, पीछे से उन्होंने धोखा दिया और मानसिंह से जा मिले। परन्तु क्यों धोखा दिया और कैसे दिया, इस पर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। इसमें सन्देह नहीं कि, वे भी अत्याचारों के कारण प्रतापादित्य के विरुद्ध हो गये थे और महाराजा मानसिंह के आने पर उनके साथ जा मिले तथा प्रतापादित्य को हराने में सहायक हुए। पर इन बातों से वे देशद्रोही सिद्ध नहीं होते।

बंगाली लेखकों ने जिस अनुदारता से काम लिया है, उससे तो यही कहा जा सकता है कि, उन्होंने महाराजा मानसिंह को जनता की दृष्टि में हेय ठहराने तथा गिराने के लक्ष्य से ही ऐसा किया है। उन्होंने यहाँ तक लिखने में संकोच नहीं किया कि, जिस समय विक्रमपुराधीश राजा केदार राय से मानसिंह का युद्ध हो रहा था, उस समय राजा केदारराय छिन्न मस्ता देवी के मन्दिर में अपनी विजयार्थ अनुष्ठान कर रहे थे। उसी अवस्था में मानसिंह ने स्वयं पहुंच कर केदारराय का बध किया था। हिन्दुओं के लिये ऐसा कुकर्म करना, हिन्दू संस्कृति के लिहाज से कितना हेय कार्य्य है, इसे पाठक भलीभाँति समझ सकते हैं। परन्तु इन बंगाली लेखकों ने इस प्रकार का अस्वाभाविक लांछन लगाने में भी किसी प्रकार का विचार नहीं किया। इस सम्बन्ध में कलकत्ते की "एशियाटिक सोसाइटी" द्वारा हाल में जो अनुसन्धान हुआ है, उससे अब भली प्रकार यह सिद्ध हो गया है कि, देवी की आराधना करते समय केदारराय की हत्या करना सर्वथा झूठी कल्पना है और केदारराय की मृत्यु युद्धक्षेत्र में ही हुई थी। उसने यह भी पता लगाया है कि, केदारराय की मृत्यु के बाद राज-मन्त्री की प्रार्थना पर विक्रमपुर का राज्य महाराजा मानसिंह ने उनकी विधवा रानी को ही दे दिया था।

बंगाली लेखकों ने तो आवेश में आकर यहाँ तक लिखा है कि, धूमघाट की अंतिम लड़ाई में राजा प्रतापादित्य घायल हो कर गिर पड़े और बेहोश हो गये तो, उस समय स्वयं महाराजा मानसिंह ने आकर

समाज के बहुत पुराने फर्म 'चेतराम रामविलास'
के मालिक



स्वर्गीय रामविलासजी सांगानेरिया

उन्हें कैद कर लिया था। परन्तु यह एक ऐसी अव्यावहारिक बात है, जिस पर अनुभवी व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता। मान लिया जाय कि, रणक्षेत्र में प्रतापादित्य मूर्छित हो गिर पड़ा हो और शायद वैसी ही अवस्था में गिरफ्तार भी कर लिया गया हो, किन्तु यह कहना कि, स्वयं मानसिंह ने आकर उसे कैद किया था, उनकी विचित्र कल्पना ही कही जा सकती है। यह एक ऐसी अस्वाभाविक बात है कि, जिसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। इन बातों से सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि, बंगाली लेखकों ने महाराजा मानसिंह पर लांछन लगाते समय स्वाभाविकता का कोई विचार ही नहीं किया।

शास्त्री महाशय की कल्पना पर तो और भी अधिक तरस आता है। उन्होंने लिखा है कि, जब प्रतापादित्य कैद कर लिया गया था, तब उसे पिंजरे में बन्द कर, महाराजा मानसिंह अपने साथ दिल्ली ले गये। पर मार्ग में जब वे काशी पहुंचे तो प्रतापादित्य ने आत्महत्या कर प्राण छोड़ दिये। यह शास्त्री महाशय की एक विचित्र सूझ ही है। उन्होंने ऐसा लिखते समय कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। इससे मालूम होता है कि, शास्त्री महाशय का लक्ष्य राजा प्रतापादित्य को काशीवास कराना ही था और इसी ढंग से प्रतापादित्य का काशीवास उन्होंने कराया है। इस तथ्य पर शायद उन्होंने ध्यान नहीं दिया कि, एक तो हम प्रतापादित्य का काशीवास आत्म-हत्या के साथ कराने जा रहे हैं, जिसकी निन्दा हिन्दू संस्कृति में कूट-कूट कर भरी पड़ी है, दूसरे यह एक इतिहासप्रसिद्ध बात है कि, प्रतापादित्य को परास्त करने के बाद महाराजा मानसिंह को बहुत समय तक बंगाल में रहना पड़ा था। यह बात नहीं थी कि, प्रतापादित्य को पकड़ लिया और वे दिल्ली को चल पड़े। उन्हें बंगाल की शासन व्यवस्था करनी थी, जो एक दिन में होनी संभव नहीं थी। प्रतापादित्य के परास्त होने के बाद वे बहुत समय तक बंगाल में रहे। कई एक बंगालियों को उन्होंने ग्रामादि पुरस्कार देकर मजुमदार बनाया, कितनों को

वड़ी वड़ी जमींदारी देकर शासन विभाग में मनोनीत किया। इन सभी कार्यों को पूरा करने में उन्हें वहुत समय लगाना पड़ा था। प्रतापादित्य युद्धक्षेत्र में ही मरे या कैद में अथवा काशी पहुँचने पर उन्होंने आत्म-हत्या की, इस सम्बन्ध का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में प्रतापादित्य का काशीवास करना शास्त्री महाशय की कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं ठहराया जा सकता और साथ ही साथ यह कहा जा सकता है कि, उन्होंने जानवूझ कर महाराजा मानसिंह की निन्दा और प्रतापादित्य की प्रशंसा करने का मनमाना प्रयत्न किया है।

प्रतापादित्य और मानसिंह के सम्वन्ध में हमने इतना अधिक वर्णन किया और टीका टिप्पणी करने का दुःसाहस किया, इससे कोई यह न समझे कि, प्रतापादित्य से अथवा विद्वान् वंगाली लेखकों से हमें किसी प्रकार की चिढ़ है और जानवूझ कर हमने ऐसा किया है। पर सच तो यह है कि, जव हम प्रतापादित्य सम्वन्धी लिखी गई वातों पर विचार करते हैं और उसे इतिहास की दृष्टि से देखते हैं तथा स्वाभाविकता पर ध्यान देते हैं, तो हमें प्रमाण और वास्तविकता का अभाव ही नज़र आता है तथा अव्यावहारिकता एवं अस्वाभाविकता ही दिखाई पड़ने लगती है। यह प्रकट होता है कि, विद्वान् वंगाली लेखकों ने जातीयता के भावावेश में किसी विशेष लक्ष्य को ध्यान में रख कर ही इस प्रकार की अत्युक्तियों से काम लिया है। यही कारण है कि, हमें प्रसंगवश इतना विवेचन करना पड़ा।

यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि, महाराजा मानसिंह की विजय ने मारवाड़ी जाति का पैर वंगाल में मजवूती से जमाया। यह एक अनुभव-सम्पन्न वात है कि, अन्य स्थान में किसी भी जाति का पैर उसी अवस्था में भली प्रकार जम सकता है जव कि, उसे राजसत्ता का सहारा मिले। इतिहास की घटनाओं से यह जाना जाता है कि, महाराजा

मारवाड़ी जाति को राजसत्ता का सहारा—

मानसिंह ने विजय प्राप्त कर जहाँ अनेक बंगालियों को मजुमदार एवं जमीन्दार बनाया था वहाँ उन्होंने अपने जाति भाई कतिपय मारवाड़ियों को, जो कि, उनके साथ सेना में आए थे, उनकी योग्यतानुसार राज-कार्य में स्थान दिया। यही कारण था कि, महाराजा मानसिंह के समय से ही मारवाड़ी जाति के कुछ व्यक्ति राजकाज में प्रवेश करने लगे और कुछ व्यक्तियों ने वाणिज्य-व्यापार में लगकर आर्थिक उन्नति करने में विशेष उत्साह दिखाना शुरू किया।

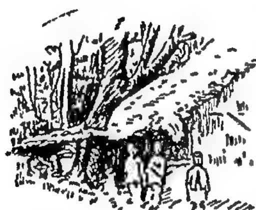
महाराजा मानसिंह ने जब देखा कि, बंगाल में सब प्रकार से शांति हो गयी है, तब वे दिल्ली वापस लौट गये और बंगाल का शासन सूबेदार की अधीनता में होने लगा। सूबेदारी शासन में समय समय पर कैसे कैसे परिवर्तन हुए, इसका वर्णन अब हम इस प्रकरण में न कर आगे के अध्याय में करेंगे, क्योंकि उस समय भारतवर्ष में विदेशियों का आगमन शुरू हो गया था तथा आगे की घटनाओं से उनका सम्बन्ध बहुत अधिक है।



५

योरोपियनों का आगमन, भारतीय राजसत्ता में परिवर्तन,

बंगाल की राजनीति में मारवाड़ियों का भाग



गत अध्याय में हमने बंगाल की प्राचीन राजसत्ता का संक्षेप में वर्णन करते हुए बंगाल में मारवाड़ियों का पहले पहल कब आगमन हुआ और मारवाड़ी जाति की स्थिति किस प्रकार जमी, इस सम्बन्ध में किंचित् प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त महाराजा मान-सिंह और प्रतापादित्य सम्बन्धी घटनाओं को लेकर तत्कालीन इतिहास में जो मतभेद एवं गलतफहमियां फैली हुई हैं, उनका भी निराकरण किया है। प्रतापादित्य और मानसिंह सम्बन्धी वर्णन हमने विस्तार पूर्वक किया है और उस सम्बन्ध में जो आलोचना की है उससे कोई यह न समझे कि, चूंकि मानसिंह मारवाड़ी थे, इसलिये जातीयता की दृष्टि से हमने उनका कोई पक्ष लिया है। बात यह है कि, ऐतिहासिक अन्वेषण करते समय हमें जो वास्तविक जान पड़ा, उसीं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की।

अब इस अध्याय में हम उन विदेशियों के सम्बन्ध में लिखेंगे, जिनका सम्बन्ध विशेपतया वाणिज्य-व्यापार और देश की राजनीति से रहा है। उनके सम्बन्ध की घटनाओं के वर्णन करने का हमारा प्रधान लक्ष्य यही है कि, पाठकों को तत्सामयिक अवस्था का अनुभव हो और वे यह जान सकें कि, विदेशियों के साथ मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों का संपर्क किस किस समय और किस किस अवस्था में हुआ और किस प्रकार देश की राजनीति और वाणिज्य-व्यापार में उन्होंने भाग लिया।

विदेशों में भारतीय व्यापार—

भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध कावुल, कन्दहार, ईरान, मिश्र और अरव आदि देशों से प्राचीन काल से रहा है—उन देशों के साथ केवल हमारा व्यावसायिक सम्बन्ध ही नहीं था—वल्कि उन पर हमारी राजसत्ता भी थी। साथ ही उन पर हिन्दू-संस्कृति का प्रभाव भी था। भारतवर्प के राजे-महाराजे उन देशों में वरावर जाते थे और उन्होंने वहां विवाह-शादियों का सम्बन्ध भी जारी रखा था। यह वात अतीत काल की है। आगे चल कर यद्यपि हमारी राजसत्ता वहाँ नहीं रही, तथापि वाणिज्य-व्यापार का सिलसिला वना ही रहा। इतिहास वतलाता है कि, भारत में अंग्रेजों की राजसत्ता आरंभ होने के पूर्व तक लाखों रुपयों का माल भारतवर्प से विदेशों में जाता था और भारत के व्यापारी उससे लाभान्वित होते थे। इस प्रकार उनको लाभ उठाते देख कर कई शताब्दियों पूर्व अर्मेनियन लोग इस देश में आये। वे यहाँ आकर थोड़ा-वहुत व्यापार करने लगे। भारत में आने पर वंगाल में उन्होंने हुगली के किनारे चिन्सुरा में अपना केन्द्र स्थापित किया और वहीं जम कर व्यापार करने लगे। व्यापार करते हुए वे यहाँ की भापा और रस्म-रिवाज के जानकार हो गये। ऐतिहासिक घटनाओं से पता लगता है कि, उनके वाद जितने भी योरोपियन इस देश में आये, उन्होंने भारतवर्प की भाषा एवं भाव समझने के लिये प्रायः अर्मेनियनों से सहायता ली।

पुर्तगीज, डच और फ्रांसिसियों के अलावा अंग्रेजों को भी उनसे सहायता लेनी पड़ी

भारतवर्ष में योरोपियन कब आए और उनके आने का क्या हेतु था? इस विषय का एक विस्तृत इतिहास है। यहाँ पर उन सभी बातों का उल्लेख करना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। संक्षेप में इतना ही उल्लेख करना पर्य्याप्त होगा कि, पारस देश के राजा दरायूस के हृदय में भारतवर्ष का हाल जानने की पहले पहल इच्छा हुई। ईस्वी सन् के साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व उसने 'शैलाक्ष' (Seylax) नामक एक विद्वान् तथा अनुभवी यूनानी को भारतवर्ष में भेजा। दरायूस की इच्छा विशेष कर सिन्ध नदी के आस-पास के प्रदेश और वहाँ के लोगों की सभ्यता जानने की थी। शैलाक्ष मार्ग की अनेक यन्त्रणाएँ सहन करता हुआ भारत में आया। उसने अपनी यात्रा सम्बन्धी पुस्तक में भारतवर्ष का अति रोचक वर्णन किया और भारत को सभ्यता का आदर्श तथा सुवर्ण-भूमि बताया। उन बातों को पढ़ कर यूनानवासियों में भारतवर्ष को देखने की लालसा जाग्रत हो उठी। उसके बाद 'हेरोडटस' नामक एक दूसरा प्रवासी आया, वह भी बड़ा विद्वान् और लेखक था। उसने अपनी यात्रा के संस्मरण लिखते हुए भारतवासियों का नागरिक जीवन, उनका ऐश्वर्य, उनकी सत्यवादिता, गगनस्पर्शी पर्वतमालाओं की शोभा, भारत का प्राकृतिक सौन्दर्य, मृदु समीरान्दोलित शस्यक्षेत्र, सोने चांदी एवं हीरों की खानों का वर्णन इस ढंग से किया कि, उसे पढ़ कर सिकन्दर शाह अलेकजण्डर के मुंह में भी पानी भर आया और ईस्वी सन् के ३२७ वर्ष पूर्व उसने स्वयम् इस देश पर चढ़ाई की। उसकी चढ़ाई का क्या परिणाम हुआ, वह इतिहास के पाठकों से अविदित नहीं है। यहाँ पर तो हमें यही बतलाना है कि, उसके साथ कई एक विद्वान् भी भारतवर्ष में आये थे। इन विद्वानों में मेगास्थनीज भी था। वह यहां वर्षों तक रहा। भारत-

योरोपियन कब आए?

वर्ष के हिन्दू सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में बहुत समय तक उसे रहने का अवसर मिला। उसने ईस्वी सन् के तीन सौ वर्ष पूर्व का जो वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है, उससे भारवर्ष की तत्कालीन विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। आजकल जिन लोगों की यह साधारण सी धारणा हो गई है कि, हमारे पूर्वजों में कुछ भी विशेषताएँ नहीं थी, वे निरे असभ्य थे और सभ्यता का प्रकाश आज इस वैज्ञानिक युग में ही हो रहा है, उनके लिये आज से बाईस सौ वर्ष पूर्व एक विदेशी सज्जन द्वारा लिखित वर्णन यहां पर देना असंगत न होगा। मेगास्थनीज ने लिखा है: —

(१) भारत में गुलामी प्रथा का नाम नहीं है और हिन्दू जाति सबसे अधिक वीर तथा दिलेर है।

(२) स्त्रियों में पातिव्रत धर्म चरम सीमा को पहुंचा हुआ है।

(३) चोरी आदि का नाम नहीं है। लोग अपनी अपनी कोठरियों को बिना ताला लगाये छोड़ कर बाहर चले जाते हैं। चोरी किसे कहते हैं, कोई नहीं जानता।

(४) हिन्दू झूठ बोलने से बड़ा परहेज रखते हैं तथा संयमी भी बहुत हैं।

(५) लोग मेहनत, मजदूरी, खेती और दस्तकारी में संलग्न रहते हैं। देशभक्ति और जातीयता उनकी नस-नस में भरी हुई है।

(६) वे अपने अभाव अभियोगों को जातीय संस्थाओं अर्थात् पंचायतों द्वारा निपटा लेते हैं और परस्पर प्रेम से रहते हैं।

(७) सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेना में ६ लाख पैदल सिपाही, तीस हजार घुड़सवार और नौ हजार हाथी सदैव तैयार रहते हैं।

(८) भारत ११८ रियासतों में विभक्त है, किन्तु सभी कार्य प्रजा की अनुमति और पंचायत द्वारा होते हैं।

(९) वैश्य और कृषक युद्ध से पृथक् रहते हैं, उनका प्रधान काय देश के धनधान्य की वृद्धि करना है।



स्वर्गीय हरचन्दरायजी भागचन्दका
(फर्म—हरचन्दराय गोवर्धनदास)

मेगास्थनीज की पुस्तक में जब इस प्रकार का वर्णन योरोपवालों ने पढ़ा तो उन्हें भारतवर्ष एक अद्भुत देश मालूम होने लगा। बाद में चीन आदि देशों के यात्री भी आये। उन्होंने भी भारत का चित्ताकर्षक वर्णन अपने ग्रन्थों में किया। परिणाम यह हुआ कि, योरोपवाले भारत में आने की अधिकाधिक चेष्टा करने लगे। परन्तु, उस समय भारत में आने के लिए कोई निश्चित मार्ग नहीं था। जो कोई आता उसे घोर कष्टों का सामना करना पड़ता था। यह अवस्था कई शताब्दियों तक रही। उसके बाद ईस्वी सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी के शेष होते होते एक निश्चित मार्ग द्वारा पुर्तगालवाले सन् १४९८ में भारत में आ पहुंचे। इसके बाद ईस्वी सन् १५९६ में डेन्मार्कवाले आये, सन् १५९८ में अँग्रेज और सन् १६०४ में फ्रान्सवाले भी इस देश में पहुंचे। देखते देखते सोलहवीं शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष के पश्चिमीय सागर का तट योरोपियन सौदागरों से भर गया। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि, पहले पहल जितने भी योरोपियन भारत में आये, उन सभी ने भारत के पश्चिमी तट पर ही अपने जहाज लगाये और अपने व्यापार का श्रीगणेश वहीं पर किया। तदुपरान्त ये सभी जातियाँ बंगाल में आईं। एक समय था कि, पोर्तगीजों और डचों ने यहाँ पर अपना दबदबा बहुत जमा लिया था। इन प्रवासी योरोपियन व्यापारियों में आज पोर्तगीज, डच और फ्रान्सीसियों का केवल नाम मात्र ही इस देश में रह गया है। सम्प्रति भारतवर्ष में केवल अँग्रेजों का ही प्राधान्य है। पोर्तगीज, डेन्मार्क एवं डचों की कीर्ति कालीकट, बंडेल, श्रीरामपुर, चिन्सुरा और कासिमबाजार की कब्रों में दब गई। फ्रान्स का दीपक पाण्डीचेरी, चन्दन-नगर आदि में थोड़ा बहुत आज भी टिमटिमा रहा है। भारत की राजसत्ता और वाणिज्य-व्यापार सम्पूर्ण रूप से इस समय अंग्रेजों के हाथ में है।

यहाँ पर यह एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि, योरोपियन जातियाँ पूर्वकाल की अन्य जातियों की तरह भारतवर्ष में आक्रमणकारी

की हैसियत से नहीं, प्रत्युत् अपनी व्यापार सम्बन्धी महत्वाकांक्षाओं और धनलोलुपता के वशीभूत होकर ही आईं। उनमें चरित्रवल का प्रायः अभाव ही था, तो भी वे अपनी चालों में सफल हुईं, इसके कई कारण हैं। उन कारणों में सबसे प्रबल कारण यह है कि, उन लोगों ने यहाँ के उच्च पदस्थ मुगल राजकर्मचारियों को पहले पहल घूंस लेने का चस्का लगा कर अपनी उन्नति के मार्ग को प्रशस्त किया। परिणाम यह हुआ कि, उधर तो उनका पैर भारत में जमने लगा और इधर नैतिकता का ह्रास होने से भारतीय शासकों के पतन का मार्ग शुरू हो गया। इन विदेशी जातियों के पैर जमने का सबसे प्रधान साधन घूंस खोरी ही रहा और इसी के बल पर इन्होंने मुगल शासकों का चरित्र-बल घटा कर अपनी उन्नति की।

साथ ही इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि, उस समय के मुसलमान शासक आरामतलबी और भोगविलास में लवलीन होते जा रहे थे, उनकी धनलोलुपता भी बढ़ती जा रही थी, इन जातियों ने उनकी बढ़ती हुई धन-लालसा घूँस का चसका लगा कर और भी बढ़ा दी। उन्होंने भविष्य की तरफ कुछ भी ध्यान नहीं दिया और अपनी क्षणिक कामनाओं की तृप्ति के साधन को जुटाना ही उचित समझ कर देश को भावी विपत्ति के मार्ग में ढकेल दिया।

सभी योरोपियन जातियों ने अपनी-अपनी हिकमतें लड़ाईं-- पोर्तगीजों और डचों ने एक बार भारी उन्नति की और प्रधानता पाने के लिए फ्रान्सीसी और अंग्रेज आपस में लड़े मरे। यहाँ पर उन सब घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक नहीं है। अँग्रेजों ने सभी को अपनी कूट-नीतिज्ञता के बल से दबा कर, साथ ही भारतवासियों की पारस्परिक फूट का लाभ उठा कर, न केवल वाणिज्य-व्यापार को ही अपितु भारत की राजसत्ता को भी अपने काबू में कर लिया।

अब यहाँ पर हम अँग्रेजों के सम्बन्ध में कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन

करेंगे, जिनकी राजनीति और व्यापार के साथ मारवाड़ी जाति का गहरा सम्पर्क रहा है।

अँग्रेज—

कुछ शताब्दियों पूर्व तक योरोप में अँग्रेज जाति की राजसत्ता साधारण श्रेणी की समझी जाती थी। उसकी गणना योरोपीय राष्ट्रों में नाम मात्र के लिए हुआ करती थी, पर जब से उसने भारतवर्ष जैसे विशाल देश में पदार्पण कर अपनी राज-सत्ता जमाई, तबसे उसका सितारा विशेष रूप से चमक उठा। रत्नगर्भा, सुवर्णभूमि, भारतवर्ष की राजसत्ता प्राप्त होने पर अँग्रेजों का देश अन्य राष्ट्रों में शक्तिशाली बन गया। उनका यह इतिहास बड़ा ही दिलचस्प और विचित्र है। हमें अपना भविष्य निर्माण करने के लिए उनके इतिहास का मनन करना चाहिए। थोड़े से अँग्रेजों ने जो कि, इस देश के व्यवहार आदि से सर्वथा अनभिज्ञ, अपरिचित तथा भिन्न भाषा-भाषी और भिन्न प्रकृति के थे, अपने अद्भुत कौशल से सफलता प्राप्त की। अपने प्राणों की बाजी लगा कर कठोर से कठोर यन्त्रणाएँ सहकर वे भारत में आये। यहाँ आकर उन्होंने, तत्कालीन मुगल राजकर्मचारियों को रिश्वत का चस्का लगा कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की। उन्होंने मुगल सम्राटों के चरणों में नाना प्रकार की दिलचस्प भेंट-पूजा चढ़ा कर अनुनय विनय द्वारा शाही फ़र्मान प्राप्त किये। भारतीय शासकों की सहानुभूति पाकर देशवासियों पर अपना प्रभाव जमाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस हिन्दू प्रधान देश में विशाल हिन्दू जाति का मन जीतने के लिए उनके हृद्गत मनोभावों को परखने का प्रयत्न किया। एक ओर वे मुगल राजकर्मचारियों को रिश्वत तथा खुशामद द्वारा अपने अनुकूल बनाते और दूसरी ओर विशाल हिन्दू जनता को प्रसन्न रखने के लिए समय-समय पर वे हिन्दू मन्दिरों में जाकर उनके देवी-देवताओं को पूजते। वे पण्डे-पुजारी और धर्माचार्यों❋

❋ कलकत्ता से कालेर आर ये कालेर—

को धन दे देकर देवदूत, न्यायकारी और सत्यवक्ता होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त करते। ऐसी अनेक घटनाएँ उनके सम्बन्ध में जानने योग्य हैं। इसके अलावा उन्होंने इस देश में यह भी अनुभव किया कि, मुसलिम फकीर व सूफ़ी तथा हिन्दू पुजारी व धर्माचार्य कहलानेवाले जो लोग देश में मान पाते हैं, उनमें आडम्बर की भावना अत्यधिक है। इसीके बल से वे साधारण जनता पर अपना प्रभाव जमाते हैं। भोली-भाली जनता उनका शिकार बनती है। उन्होंने देखा कि, भारतवर्ष की संस्कृति ही कुछ ऐसी है कि लोग आडम्बरयुक्त जीवन व्यतीत करनेवालों के प्रभाव में आ जाते हैं। अँग्रेजों ने इन बातों का मनन कर अपना प्रभाव जमाने के लिए उसी प्रकार का आचरण किया। उस समय भारत में आनेवाले सभी अँग्रेज देवदूत, न्यायकारी, सत्यवक्ता और चरित्र सम्पन्न नहीं थे। कुछ जिम्मेदार व्यक्तियों को छोड़ कर अधिकांश व्यक्ति ऐसे थे जो प्रायः इङ्गलैण्ड के सजायाफ्ता, दागी, व्यभिचारी और चरित्रहीन माने जाते थे, मगर उस समय के अँग्रेजों ने बड़ी सावधानी और चतुराई से अपनी जाति के लोगों का भारतवर्ष में चरित्र-गठन किया था। भारत में उनके सामने अनेकों कठिनाइयाँ थीं—उनको अपने सामने से अनेकों विघ्न-बाधाओं को दूर करना था। फिर भी वे अपनी प्रबल इच्छाशक्ति और कार्य-चातुरी से सबको हटा कर सफल हुए। उनका यह गुण हमें परखना चाहिए और उनके कारनामों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

सच तो यह है कि, अँग्रेजों के लिए भारत में आने का काम ही बड़ा विकट था परन्तु, कितने ही कर्मवीरों ने इस कठिन कार्य में हाथ डाला और कितनों ने ही समुद्र-मार्ग में ही जल समाधि प्राप्त की। वंश के वंश नष्ट होने पर भी अंग्रेज जाति के कर्मठ वीरों ने अपना उद्योग नहीं छोड़ा। हानि पर हानि और कष्ट पर कष्ट उठाते हुए भी वे अपने लक्ष्य पर डटे रहे। जो व्यक्ति किसी कार्य के करने के पहले होनेवाली कठिनाइयों तथा हानियों से घबड़ा कर हतोत्साह हो जाते है, उनके द्वारा

कोई महान् कार्य पूर्ण नहीं होता। वे हताश होकर अपने देशवासियों को साहसहीनता और अकर्मण्यता का पाठ पढ़ाते हैं। पर अंग्रेजों ने असीम हानियाँ और भारी से भारी कष्ट उठाते हुए भी पीछे पैर नहीं रखा।

अंग्रेजों में यह एक विशेषता है कि, वे किसी महान् कार्य का उद्योग तो व्यक्तिगत रूपसे आरंभ करते हैं परन्तु जब उसमें सफलता प्राप्त होती है, तो उसका लाभ अपने देशको अर्पित कर देते हैं। उनका यह खयाल है कि, व्यक्तिगत स्वार्थ न तो स्थायी होता है और न उससे अपनी मातृ-भूमि को ही लाभ पहुंचता है। जो व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ उठाते हुए भी अपना भाग देश को अर्पण करते हैं, उनका लाभ स्थायी हो जाता है। फिर व्यक्ति केवल व्यक्ति ही है, पर जिस कार्य में लोग संगठित होकर अग्रसर होते हैं, उससे समाज और देश सभी लाभ उठाते हैं।

इन्हीं सब विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने लन्दन शहर के मेयर के सभापतित्व में ३१ दिसम्बर सन १५९८ में नगरनिवासियों की एक आम सभा की। उस समय भारत में व्यवसाय करनेवाली संस्था का नाम "लंदन ईष्ट इण्डिया कम्पनी' रक्खा गया, जो आगे चलकर 'ईष्ट इडिण्या कम्पनी' के नाम से विख्यात हुई।

'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' की स्थापना के सम्बन्ध में कम्पनी के प्राचीन कोर्ट कागजातों से विदित होता है कि, २२ सितम्बर सन् १५९९ को कम्पनी की स्थापना हुई थी।

ईष्ट इण्डिया कम्पनी—

कम्पनी की स्थापना करनेवाली सभा में, जिन सज्जनों के नाम सदस्यों की सूची में दर्ज हैं, उनमें लार्डों तथा संभ्रान्त व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। फेहरिस्त में दस्तखत करनेवालों में अधिकतर पंसारी, कुंजड़े, जुलाहे, बजाज, कलाल, सुनार, लुहार, धोबी, छीपी, बढ़ई, चमार और साधारण दर्जे के कुछ व्यक्ति ही हैं। इन्हीं लोगों की सहायता से इंग्लैण्ड के कुछ लोगों ने भारत-यात्रा आरम्भ की थी। आजकल ही नहीं, उस काल में भी यह अवस्था थी कि, देश तथा जाति के लिये यदि कोई महान् कार्य

का आरम्भ होता तो वह साधारण व्यक्तियों द्वारा ही होता था। साधारण स्थिति के लोग देश और जाति के दुःख, दर्द एवं कठिनाइयों के भुक्तभोगी तथा अनुभवी होते हैं। समृद्धिशाली धनी व्यक्ति अपने धन-मद में चूर होने से दूसरों के कष्टों का अनुभव करना नहीं चाहते। उन्हें इस वात की पर्वाह नहीं रहती कि, देश तथा जाति के लिये किसी प्रकार का कष्ट स्वीकार किया जाय। यहां तक देखा जाता है कि, यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार के उद्योग में लगता है, तो समृद्धिशाली व्यक्ति उसमें वाधा पहुंचाने और उन्हें हतोत्साही वनाने में तो भाग लेते हैं, पर उनका साथ नहीं देते। उनके पास धन है। धन के सहारे उनको किसी प्रकार की तकलीफ नहीं है। उनको क्या दरकार है कि, वे सर्वसाधारण गरीव भाइयों को सुखी वनाने की इच्छा से किसी भी प्रकार का कष्ट उठाना स्वीकार करें। अनुभव और इतिहास वतलाता है कि, जिनके पास थोड़ा भी सुख-सम्पत्ति का साधन प्रस्तुत है, वे कभी भी देश और जाति के वास्तविक सहायक नहीं हुए। उन्होंने तो अपनी शक्ति भर वाधा पहुंचाने की चेष्टाएं की। हां, यह अवश्य देखा जाता है कि, जव साधारण व्यक्तियों द्वारा किसी कार्य में सफलता होने लगती है, तो बड़े आदमी कहे जानेवाले ये जीव फौरन आ धमकते हैं. और अपना नाम पांचवें सवारों में दर्ज कराने का प्रयास करने लगते हैं। 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' के सम्वन्ध में भी यही अवस्था देखने में आती है। कंपनी के रेकार्डों से विदित होता है कि, आरंभ में एक सौ एक, व्यक्तियों ने सदस्य सूची में नाम लिखाकर हस्ताक्षर किये थे।

इसके वाद २२ सितम्वर की प्रारम्भिक सभा के दो दिन वाद एक और सभा की गई, जिसमें केवल ५७ आदमी उपस्थित हुए। उसमें निश्चय किया गया कि, चन्दा देनेवाले सदस्य "ईष्ट इण्डिया कम्पनी" के हिस्सेदार समझे जायंगे। इसके अतिरिक्त उसी सभा में राजाज्ञा (Royal Charter) प्राप्त करने, भारत में जाने और जहाज खरीदने

आदि के लिये कुछ सदस्यों की अलग अलग कमेटियां बनाई गई। कमेटी के मेम्बर डाइरेक्टर कहे जाने लगे।

सन् १६०० ईस्वी को ठीक एक वर्ष बाद राजाज्ञा का स्वीकृत-पत्र कम्पनी को प्राप्त हुआ। इस प्रकार इस कार्य में जीवन आया देखकर दूसरे लोगों का ध्यान भी आकर्षित होने लगा। परिणाम यह हुआ कि, एक सौ एक हिस्सेदारों की संख्या दो-सौ अठारह तक पहुंच गयी।

परन्तु, उस समय कम्पनी की हालत बड़ी बेढब थी। लोग मीटिंगों में पहले तो आते ही नहीं थे—और आते तो हुल्लड़ मचाते, बीच में बार-बार बोलते, सभापति के आदेशों की अवहेलना करते – सभा समाप्त होने से पहले ही उठ खड़े होते—ऐसी परिस्थिति में व्यापार-संचालन में बाधा पड़ती देख, कम्पनी के संचालकों ने कई प्रकार के नियम निर्धारित किये। जैसे, सभामें तीन बार से अधिक बोलनेवालों पर ३ शिलिंग चार पेंस, प्रति बार बोलने के लिये जुर्माना करने का नियम बनाया गया। साथ ही यह भी निर्धारित किया गया कि, सभामें हो हल्ला मचाने और एक दूसरे से बात कर सभा के कार्य संचालन में बाधा देनेवालों से २ शिलिंग ६ पेंस. असभ्यता और फूहड़पन के भावों को प्रदर्शित करते हुए बोलनेवालों से १० शिलिंग, सभापति के आदेशों को न माननेवालों से ६ पेंस, और सभा में नियत समय पर न आनेवालों तथा बीच में ही उठ खड़े होनेवालों से एक शिलिंग जुर्माना वसूल किया जाय। इतना ही नहीं, लगातार कई मीटिंगों मे अनुपस्थित रहने से वारण्ट द्वारा पकड़वा मंगवाना भी तै किया गया था।

इस प्रकार कम्पनी ने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। आज हमारे यहाँ भी 'ज्वायण्ट स्टाक कंपनियों' की यही हालत है। लोग रुपया तो लगा देते हैं और फिर घर में बैठकर खुर्राटे लेने लगते हैं।

वे इस बात की पर्वाह नहीं करते कि, हमारे लगाये हुए धन का उपयोग किस प्रकार हो रहा है। वे रुपया लगाने के बाद कंपनी के मैनेजिंग

एजेण्टों की तरफ ही आशाभरे नेत्रों से देखते रहते हैं। परन्तु उनकी यह आशा कहाँ तक पूर्ण होती है, यह हम आज प्रत्यक्ष रूपसे देख रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि, कंपनियों में रुपया लगा कर हम सावधानी के साथ उनकी कार्य-प्रणाली में सक्रिय भाग लें।

इङ्गलैण्ड की तत्कालीन रानी एलिजावेथ की ईष्ट इण्डिया कम्पनी के साथ बड़ी सहानुभूति थी—उसके द्वारा चार्टर प्राप्त कर कम्पनी ने कई जहाजी वेड़े भारत में भेजे—उन वेड़ों के साथ डचों और पोर्तगीजों का का संवर्ष भी हुआ—इन्हीं संघर्षों और मार्ग की विकटता के कारण कंपनी को अपने हिस्सेदारों को हिसाब आदि देने में देरी हो गई—जिससे वे कुछ असन्तुष्ट से हो गये। इधर कौंसिल के कतिपय सदस्यों ने, जो पहले से ही कंपनी से असन्तुष्ट थे—मौका पाकर कानूनी दाँवपेचों की वहानेबाजी कर सन् १६०४ को माइकल वर्न नामक एक फौजी अफसर को प्राच्य देशों में व्यापार करने की दूसरी आज्ञा दे दी। परन्तु उस व्यक्ति का उद्देश्य व्यापार करना नहीं था—उसकी दिली इच्छा भारत में लूट-खसोट करने की ही थी। अतः उसने अपने १८ महीनों के प्रवास में डचों पर धावा किया—तथा चीन आदि के कई जहाज लूट लिये। उसके कारनामों से अंग्रेज जाति के नाम पर धव्वा लगा और लोग उसकी नैतिकता पर संदेह करने लगे।

यह देखकर कम्पनी के डाइरेक्टरों को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने विचार किया कि, मुगल बादशाहों को प्रसन्न किये बिना—उनका कार्य चलना कठिन है, अतः अपने निश्चय को कार्य में परिणत करने के उद्देश्य से उन्होंने हाकिन्स को भारत में भेजा। हाकिन्स ने आकर बादशाह जहाँगीर को प्रसन्न किया और सूरत में एक कोठी की स्थापना करने की इजाजत प्राप्त की। परन्तु, उसके इंगलैण्ड वापिस चले जाने पर पोर्तगीजों की चालों के कारण सूरत की कोठी को बहुत हानि उठानी पड़ी इसपर इंगलैण्ड से सर टामस रो प्रबन्ध करने के लिये भेजा गया।

समाज सुधार की भावना रखनेवाले, ईश्वर-भक्त और साहित्यसेवी



स्वर्गीय सेठ रामदयालजी नेवटिया (फतहपुर)

टामस रौ सात महीनों तक समुद्र में टक्कर खाता हुआ सितम्बर महीने में सूरत पहुंचा। जहांगीर का पुत्र खुर्रम उस समय 'बुरहानपुर' का शासक था। टामस रौ ने विचार किया कि, पहले खुर्रम से ही मिलना चाहिए। रौ सूरत से चल पड़ा और बुरहानपुर में खुर्रम की खिदमत में पेश हुआ। रौ ने शाहजादे को खुश करने के लिए नाना प्रकार की भेंट दी, जिससे वह उस पर प्रसन्न हुआ। ❋ बादशाह जहांगीर उस समय वायु सेवनार्थ अजमेर गये हुए थे। रौ बादशाह से भी भेंट करने के लिए २३ दिसम्बर सन् १६१५ को अजमेर पहुंचा। रौ साहब बड़ी सावधानी और होशियारी से जहांगीर के सन्मुख हाजिर हुआ और अपने को इंगलैण्ड के राजा जेम्स का दूत प्रकट कर उनका सिफ़ारशी पत्र पेश किया तथा बादशाह की ऐयाशी प्रकृति के अनुसार चुन-चुन कर लाई हुईं वस्तुएँ भेंट कीं। बेशकीमती कपड़े आदि भी बड़ी नम्रता से बादशाह के सामने रखे। इसके बाद बड़ी चतुराई से इङ्गलैण्ड के राजा जेम्स की ओर से मैत्री तथा अंग्रेज जाति की सरलता, सच्चाई एवं न्याय-प्रिय होने का उल्लेख किया, जिससे सरल प्रकृति बादशाह जहांगीर अति-शय प्रसन्न हो गया। रौ साहब बादशाह की प्रकृति से जानकार हो गया था। जब उसने देखा कि, बादशाह पर सचमुच उसका जादू चल गया है, तो अवसर पाकर उसने कहा कि, "जहाँपनाह की खिदमत में हाजिर होने का मेरा मतलब सिर्फ इतना ही है कि, इङ्गलैण्ड के महाराज जेम्स की प्रजा आपके यहाँ वाणिज्य-व्यापार करने आई है, उस पर किसी प्रकार का अन्याय तथा अत्याचार न हो, वह शान्तिपूर्वक अपना लेनदेन

❋ पाठकों को ध्यान रखना चाहिये कि, भारतवर्ष में किसी राजा अथवा शासनकर्त्ता पर अपना रोब अथवा दबदबा जमाने के लिये उसके उत्तराधिकारी तथा प्रधान कर्मचारियों को अपने अनुकूल बनाने की नीति पहले पहल रौ साहब ने ही अख्तियार की थी, जो कि, आगे चल कर अंग्रेजों के लिये बहुत ही लाभप्रद प्रमाणित हुई।

आपके राज्य में कर सके। महाराज जेम्स ने मुझे इसी उद्देश्य से भेजा है कि, मैं जहांपनाह की खिदमत में हाज़िर होकर गरीव व्यापारियों की ओर से आपकी इज़लास में वकालत करूँ। आपकी आज्ञा प्राप्त कर ईष्ट इण्डिया कम्पनी के जिन सौदागरों ने सूरत में कोठी खोली थी, उन पर वड़ा भारी अन्याय और अत्याचार हुआ है। उन्होंने अपने व्यापार के लिये जो रुपया कर्ज दिया था वह भी वापस नहीं मिला। आपके कर्मचारी पोर्तगीजों का पक्ष अधिक लेते हैं, जिससे अंग्रेज सौदागर तवाह हो गये हैं। व्यापार में लाभ उठाना तो दूर रहा, उल्टे उन्हें पूंजी से भी हाथ धोना पड़ रहा है। जहांपनाह एक उदार और न्यायकारी वादशाह हैं, न्याय के लिए ही मैं इङ्गलैण्ड से चल कर राजा जेम्स की आज्ञा से आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। आशा है आप न्याय के आधार पर मेरी प्रार्थना पर ध्यान देते हुए गरीव अंग्रेज व्यापारियों की रक्षा करेंगे।" रौ साहव ने इस ढंग से बातें कीं कि, बादशाह जहांगीर का सरल हृदय पिघल गया और तुरन्त ही उसने रौ साहब को एक पर्वाना लिख दिया कि, अंग्रेज व्यापारी हमारे राज्य में विना किसी रुकावट के आजादी से अपना व्यापार कर सकते है और मुगल कर्मचारी तथा अन्य लोगों ने अब तक अंग्रेज व्यापारियों की सूरत की कोठी से व ईष्ट इण्डिया कम्पनी के नौकरों से जो कर्ज लिया है, वह उन्हें लौटाया जाय।

रौ साहव को यह आज्ञा-पत्र मिलने पर अंग्रेज व्यापारियों को वहुत लाभ हुआ। बादशाही फर्मान के कारण मुगल कर्मचारियों तथा रैयत पर अंग्रेजों का आतङ्क वैठ गया। अंग्रेजों ने भी चाल चली कि, जो लोग उनके अनुकूल रहे उनसे उन्होंने रुपये वसूल करने का तकाज़ा नहीं किया और जो लोग उनके विरोधी वने रहे उनसे जबर्दस्ती रुपये वसूल किये गये। अंग्रेजों के लिए व्यापार करने में अब कोई कठिनाई नहीं रही थी। अगर कोई राजकर्मचारी जोर जुल्म करना चाहता तो उसे शाही फर्मान दिखा कर खामोश कर दिया जाता था। अगर इसपर

भी कोई कर्मचारी न मानता, तो उसे रिश्वत देकर मिला लिया जाता।'

रङ्गराजपट्टम् अर्थात् मद्रास की स्थापना—

सूरत में रहते हुए कम्पनी के अंग्रेजों ने चन्द्रगिरी के हिन्दू राजा श्रीरङ्ग से बहुत मेल जोल बढ़ाना शुरू कर दिया। नाना प्रकार की भेंट पूजा चढ़ाई जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि, राजा श्रीरङ्ग अंग्रेजों को बहुत चाहने लग गया। अंग्रेज पहले से ही इस चेष्टा में थे कि, चन्द्रगिरी के राजा को प्रसन्न कर कोई ऐसी जमीन प्राप्त की जाय, जिससे वे उस इलाके में आत्मरक्षा कर सकें। जब राजा श्रीरङ्ग अंग्रेजों से प्रसन्न रहने लगा, तो मौका देख कर उन्होंने एक जमीन, जो छ मील लम्बी और एक मील चौड़ी समुद्र के किनारे पर थी, राजा से नौ हजार रुपये वार्षिक देना स्वीकार करके खरीद ली। वहाँ पर उन्होंने अपने रहने लायक स्थान बनाना शुरू किया। उन्होंने उसका नाम "रंगराज पट्टम्" इसलिये रक्खा कि, जिससे राजा श्रीरङ्ग उन पर प्रसन्न रहे। फिर वह स्थान कुछ समय बाद एक शहर के रूप में परिणत हो गया। जिसे लोग 'श्रीरंग पत्तम्' व चीना पट्टम् कहने लगे थे। यही स्थान बाद में वर्तमान मद्रास के नाम से प्रसिद्ध हो गया। अंग्रेजों ने उस स्थान की बड़ी व्यापारिक उन्नति की और अपनी रक्षा के लिए उन्होंने वहाँ पर सेण्ट जार्ज नाम का एक किला भी बना लिया।

बम्बई टापू—

पोर्तगीजों ने भारत में आकर अपने वाणिज्य-व्यापार का विस्तार किया और अपना दबदबा जमाया उस समय बम्बई के टापू का एक विशेष स्थान था। बंबई के टापू पर मुगलों की सत्ता नहीं थी। उसे पोर्तगीजों ने ही आबाद किया था। यह स्थान राज-नैतिक दृष्टि से महत्व का था। तीन ओर समुद्र होने के कारण समय पड़ने पर यहाँ पर आत्मरक्षा की जा सकती थी। उस स्थान पर अंग्रेजों की नजर पहले से ही थी, परन्तु पोर्तगीजों से वह स्थान ले लेना सहज कार्य नहीं था। मगर कहावत है कि, "मनुष्य का दिन सीधा

आता है तो धन छप्पर से बरसने लगता है।" पोर्तगीज राजकन्या कैथेरिन ने इंग्लैण्ड के राजा द्वितीय चार्ल्स को पसन्द किया और शादी की चर्चा होने लगी। मौका पाकर अंग्रेजों ने दहेज में बंबई को दे देना स्वीकार करा लिया। इस प्रकार बम्बई का टापू इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स को मिल जाने से उसपर कम्पनी का अधिकार हो गया। अब क्या था, सूरत, मद्रास और बम्बई इन तीनों प्रधान स्थानों पर अंग्रेजों का दबदबा कायम होने से उनकी उन्नति होने लगी।

उस समय छत्रपति शिवाजी और बादशाह औरंगजेब में युद्ध हो रहा था। शिवाजी को धनकी आवश्यकता थी। शिवाजी ने धन प्राप्त करने के लक्ष्य से सूरत पर धावा कर दिया। सूरत की कोठी का प्रधान उस समय सर जार्ज अक्सन्डन था। पहले तो उसने शिवाजी का सामना किया, परन्तु बादमें उसने अनुभव किया कि, शिवाजी से लड़ने में अंग्रेजों की खैरियत नहीं, उसने शिवाजी को धन देकर वापस लौटा दिया। यहां पर यह बताना बहुत आवश्यक है कि, इस साधारणसी भिड़न्त में ही अंग्रेजों तथा शिवाजी दोनों को पारस्परिक बलाबल और विशेषताओं का अनुभव हो गया था। एक ओर अंग्रेज समझने लगे थे कि, शिवाजी को किसी प्रकार का लोभ लालच देकर फंसाना सहज काम नहीं है, उनके सभी सैनिक देशभक्ति और स्वतन्त्रता के रंगमें रंगे हुए हैं। उधर शिवाजी ने भी समझ लिया था कि, अंग्रेज कोरे बनिये ही नहीं, वे लड़ाई झगड़े में विशेष कर जल मार्ग की लड़ाई में बड़े दक्ष हैं।

शिवाजी और अंग्रेज—

पता लगता है कि, शिवाजी के साथ औरंगजेब का जब गोलकुण्डे में घमासान हो रहा था और बादशाह स्वयम् चढ़ कर आ रहा था, उस समय शिवाजी ने अनुभव किया कि, स्थल-युद्ध में कोई डर नहीं है परन्तु जल-युद्ध में हमारी शक्ति क्षीण है। उस समय शिवाजी के पास केवल ३ जहाज थे। शिवाजी ने विचार किया कि, अंग्रेज वणिकों के पास

कई एक जहाज और नौकाएं हैं। वे अपने अनुकूल हो जाँय, तो फिर किसी प्रकार का डर नहीं है। परन्तु यह कब संभव था कि, शिवाजी जैसा स्वाभिमानी व्यक्ति अंग्रेजों से सहायता की याचना करें। शिवाजी की कूटनीति प्रसिद्ध है। उन्होंने यहां पर एक कूटनीति की चाल चली। वह चाल यह थी कि, याचना करने के बजाय उन्होंने सूरत पर ही धावा बोल दिया। इस प्रकार शिवाजी का फिर से धावा होते देख कर अंग्रेज डर गये। उन्होंने प्रार्थना की कि, हम तो वणिक हैं और हमारी महाराज शिवाजी से कोई शत्रुता नहीं है। शिवाजी ने प्रभाव डाल कर ऐसी सन्धि की कि, अंग्रेजों की जल-शक्ति उनके अनुकूल हो गई।

अंग्रेजों का नबावी ढङ्ग— उस समय का वर्णन करते हुए तत्सामयिक पादरी रेवरेंड हण्डरसन ने लिखा है कि, सूरत की कोठी ही उस समय अंग्रेजों की सर्व प्रधान कोठी थी। उसके अध्यक्ष का मन उस समय बहुत बढ़ गया था। रेवरेण्ड साहब ने इस सम्बन्ध में बड़ा अच्छा दिलचस्प प्रकाश डाला है, जिससे भारत में रहनेवाले अंग्रेजों के स्वभाव, चातुर्य्य, दूरदर्शिता और अनुभव का खासा पता लगता है। इतना ही नहीं, भिन्न भाषाभाषी और भिन्न प्रकृति के होने पर भी उन्होंने भारतियों की चाल-ढाल और स्वभाव समझने में कमाल कर दिया था। जब उन्होंने देखा कि, मुगलों के ऐयाशी रहन-सहन का रैयत पर प्रभाव पड़ता है, तब अंग्रेज कोठीवाले भी उसी ढंग का अनुकरण करने लगे थे। सूरत की कोठी का कप्तान बड़े नबाबी ढंग से रहने लगा था। किसी कार्यवश वह कोठी से बाहर जाता, तो एक नौकर बड़ा सा निशान लेकर आगे-आगे चलता। उसके अगल-बगल अंग्रेज शरीर-रक्षक बड़ी सजधज के साथ रहते थे। इसके सिवा प्रायः चालीस हिन्दुस्थानी सिपाही पीछे-पीछे चलते थे। यात्रा में वह पीनस में बैठता था, जो सोने-चाँदी की बनी हुई रेशमी झालर से सजी होती थी। कभी-कभी वह सजे हुए घोड़े की सवारी करता था। कभी

कभी रत्नजड़ित छत्र भी वह अपने सिर पर धारण कर लेता था। वह जब भोजन करने बैठता तो टेबल और कुर्सी बड़े ढङ्ग से सजाई जाती थी। कोठी में जितने अंग्रेज कर्मचारी होते थे, उन सब को साथ लेकर भोजन करता था। भोजन करते समय बाजा भी बजता था।

यह सब ढङ्ग भारतवासियों पर रोब जमाने के लिये बर्ते जाते थे। अंग्रेजों ने यह अनुभव कर लिया था कि, यहाँ के लोगों में आडम्बर से रहनेवाले ही बड़े आदमी कहलाते हैं और जनता पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ता है।

अंग्रेजों के प्रभाव का विस्तार—

सूरत और बम्बई में होनेवाली घटनाओं का इतिहास बहुत बड़ा है। वहां की प्रत्येक घटना से अंग्रेजों की विशेषता तथा कार्यकुशलता का पता लगता है। उदाहरण के लिये हम यहाँ पर एक दो बातों का वर्णन करेंगे। अक्सेण्डन के बाद 'जेराल्ड अङ्गियर' नामक एक अंग्रेज बम्बई की कोठी का कप्तान होकर इङ्गलैण्ड से आया। उसने यहां आकर देखा कि, शिवाजी और बादशाह औरंगजेब में युद्ध ठना हुआ है। देशवासी शस्त्रों से सुसज्जित हो रहे हैं। मालावार की तरफ़ जलदस्युओं का उपद्रव मचा हुआ है। समुद्र में डेन्मार्क और पोर्तगीजों का अत्याचार वृद्धि पा रहा है। ऐसी अवस्था में सावधान होकर रहना बड़ा आवश्यक है। इसलिये उसने बम्बई में एक उपयोगी स्थान पर "मार्टेलो टावर" नामक किला निर्माण करना शुरू कर दिया। कानूनन किला तब बन सकता था, जब कि, बादशाह की आज्ञा प्राप्त हो जाती। पर बादशाह औरंगजेब और शिवाजी में घमासान युद्ध मचा हुआ था। ऐसी अवस्था में बम्बई में क्या हो रहा है उस पर विचार एवं दृष्टिपात करने की किसी को फ़ुर्सत ही नहीं थी। ऐसे मौकेपर अंगियर ने देखा कि, अपना मतलब सहज में बन सकता है। यदि किसी समय आपत्ति भी उठेगी तो सहज में यह कह कर बचाव किया जा सकेगा कि, अंग्रेजों ने अपनी आत्मरक्षा

के लिये यह किला बनाया है। परिणाम यह हुआ कि, 'मार्टेलो टावर' किला बिना किसी प्रकार की विघ्न-बाधा के तैयार हो गया और बादशाह की ओर से कुछ ध्यान भी नहीं दिया गया।

जिस समय बम्बई पोर्तगीजों के हाथ में थी, उस समय दस हजार आदमी भी बम्बई में नहीं बसते थे, पर अंगियर ने जनता के लिए कुछ ऐसी सुव्यवस्था कर दी कि, थोड़े से समय में ही बम्बई की जन-संख्या ६० हजार हो गई। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के साथ बड़ी रियायतें की गईं। पोर्तगीज शासक किसानों से उनकी आय का चतुर्थांश लिया करते थे, परन्तु अंगियर ने नाम मात्र का कर लेना शुरू कर दिया। उस प्रान्त में सबसे अधिक रूई पैदा होती थी और रूई का व्यापार ही वहाँ पर प्रधान था। अंगियर ने रूई के व्यापारियों और किसानों को कर्ज देना शुरू कर दिया। इस कार्य में उसे दो बातों का लाभ था। एक तो यह कि, इस लालच से बाहर के लोग आ-आकर बम्बई में बसने लगे और दूसरे उस जगह जो रूई पैदा होती थी, वह कम्पनी के सिवा और कोई नहीं खरीद सकता था। किसानों को जब कर्ज दिया जाता उस समय यह शर्त करा ली जाती थी कि, अमुक दर में रूई कम्पनी को देनी होगी। इन सब ढंगों से कम्पनी का व्यापार चमक उठा था।

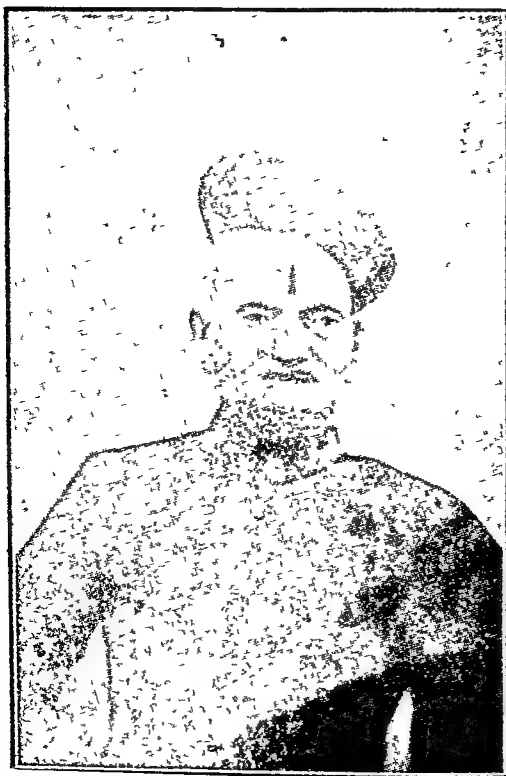
मजदूरों से पोर्तगीजवाले मुफ्त बेगार लिया करते थे परन्तु अङ्गियर ने मुफ्त बेगार लेना बन्द कर उनकी उचित मजदूरी नियत कर दी, जिसका फल भी बहुत अच्छा हुआ।

अङ्गियर का हिन्दुओं पर बड़ा विश्वास होने का पता लगता है। वह जानता था कि, इस प्रान्त में हिन्दू जाति का ही प्राधान्य है। उसने हिन्दुओं के मुहल्लों के इर्द-गिर्द गौकशी बंद कर दी, जिससे वे उसके अनुकूल बन गये। उसने एक सभा का भी संगठन किया था, जिसमें प्रभावशाली हिन्दू सदस्य मनोनीत किये गये थे। उसने एक ऐसी सेना

भी तैयार की, जिसमें शामिल होनेवाला व्यक्ति अपना-अपना स्वतन्त्र व्यवसाय भी करता रहे और जब आवश्यकता हो तब अङ्गियर की सहायता भी कर सके। इसके लिए उसने साधारण सा वेतन नियत कर दिया था। अङ्गियर ने प्रजा के लिए अस्पताल खोल दिये और न्याय के लिए अदालत की सृष्टि की। कहते हैं कि, कुछ समय के बाद अङ्गियर ने एक टकसाल भी बनाई थी। प्रजा को जलदस्युओं का उस समय बड़ा डर रहा करता था। इसलिए अङ्गियर ने अपनी नौकाओं पर शस्त्र-सुसज्जित सिपाहियों को पहरों पर नियत किया था।

बम्बई की उन्नति होने पर अङ्गियर ने कम्पनी के डाइरेक्टरों को लिखा कि, सूरत की कोठी उठा कर बम्बई ले आना अच्छा है। उसका कारण यह था, कि बम्बई एक प्रकार से अंग्रेजों का स्वतन्त्र स्थान था और सूरत पर मुगलों की सत्ता थी। सूरत में प्रत्येक समय ही अंग्रेजों पर मुगल कर्मचारियों के जुल्म हुआ करते थे। और हर वक्त रिश्वतें देते देते अङ्गरेजों के नाकों दम आ गया था। अङ्गियर का यह विचार जब मुगल राजकर्मचारियों को मालूम हुआ तो अपनी आमदनी में क्षति होने का अनुमान कर, उन्होंने अङ्गियर पर दबाव डाला कि, बादशाह ने कम्पनी को सूरत में ही व्यवसाय करने का आदेश दिया था। अब यदि अंग्रेज सूरत का व्यवसाय बन्द कर बम्बई में करेंगे तो उससे बादशाह की हानि होगी और उसके जिम्मेवार अंग्रेज ठहराये जायेंगे। परन्तु अङ्गियर इस धमकी में आनेवाला न था। राजकर्मचारियों की स्वार्थभरी इस धमकी को अङ्गियर ताड़ गया। उसने स्थिर किया कि, जब बादशाह औरंगजेब दीन का दीवाना बन कर शिवाजी से लड़ने में व्यस्त है, तब उसे इतना अवकाश कहाँ है कि, वह इन बातों पर ध्यान दे सके। इसलिए उसने मुगल राजकर्मचारियों को जवाब दे दिया कि, कम्पनी स्वतन्त्र व्यापारिक संस्था है, वह किसीकी गुलाम अथवा कैदी नहीं है। इस प्रकार का कड़ा उत्तर पाने पर मुगल राजकर्मचारी जब

हैदराबाद राज्य के सम्मानित



स्वर्गीय राजा बंशीलालजी पित्ती

कड़ाई करने पर उतारू हुए, तब अञ्जियर ने कहला भेजा कि, "तुम्हारी इस व्यक्तिगत स्वार्थ भरी चाल को अंग्रेज खूब समझते हैं। यदि तुम इस अनुचित कार्यवाही से बाज नहीं आवोगे तो मज़बूर होकर इन सब बातों को बादशाह के सामने रखना पड़ेगा।" फिर क्या था। अञ्जियर की चाल चल गयी। रिश्वतखोर मुगल राजकर्मचारियों ने फिर चूँ तक नहीं की।

अञ्जियर के समय अंग्रेजों का बड़ा दबदबा और रोब बढ़ा। व्यापार भी बहुत चमक उठा। जिस प्रकार वर्तमान कलकत्ता शहर बसाने में जॉब चारनेक का नाम लिया जा सकता है, उसी प्रकार बम्बई के लिए अञ्जियर का भी नाम लिया ज़ा सकता है। इस प्रकार दिन-प्रतिदिन अञ्जियर सफल मनोरथ होता हुआ सन् १६७७ में इसी देश में मर गया। बम्बई में इस प्रकार उन्नति होने पर भी सुचतुर और दूरदर्शी अंग्रेजों ने यह अनुभव किया कि, भारत के ये प्रान्त युद्ध प्रदेश हो रहे हैं, इसलिए न जाने यहां पर किस समय कैसा परिवर्तन हो जाय और कम्पनी को बोरिया बंधना बांधना पड़े। उन्होंने इस बात पर भी विचार किया कि, यद्यपि इन लड़ाई-झगड़ों से लाभ उठाकर उन्होंने मद्रास और बम्बई में किले आदि बना लिए हैं, तथापि यह संभव नहीं है कि, आगे चलकर इसपर ध्यान ही नहीं दिया जायगा। उन्होंने यह भी सोचा कि, मुगल राज-कर्मचारी रिश्वतें देकर भी मिलाये जा सकते हैं, तथापि मराठों को प्रलोभन में डालना अत्यन्त कठिन है। शिवाजी के कर्मचारी भी जातीयता एवं देश-प्रेम में रंगे हुए हैं। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि, पहले उड़ीसे और बाद में बंगाल में वाणिज्य-व्यापार खोलने का प्रयत्न किया जाय।

इसी निश्चयानुसार आठ अंग्रेजों का एक दल मि० कार्टराइट की अध्यक्षता में ता० २४ मार्च सन् १६३३ को विदा हुआ। उड़ीसे में पहुंच कर उन्होंने अपने साहस और कार्यचातुरी से वहाँ के शासक 'आगा

मुहम्मद' को प्रसन्न कर लिया। व्यापार करने की सनद भी उन्हें प्राप्त हो गई। पर पोर्तगीजों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनका व्यापार वहां चमक नहीं सका। साथ ही वहाँ की आवहवा भी उनके अनुकूल नहीं हुई। उनके कितने ही आदमी बीमारियों से वहाँ मर गये। इस पर वे बंगाल की ओर बढ़ने पर विचार करने लगे। परन्तु, बंगाल में आकर वाणिज्य-व्यापार करना उन्हें खतरे से खाली प्रतीत नहीं होता था। इसका कारण यह था कि, कुछ समय पूर्व ही बादशाह शाहजहां ने पोर्तगीजों का खात्मा बंगाल में कर दिया था। उन्हें इस बात का डर था कि, पोर्तगीजों की तरह बंगाल में हमारा भी खात्मा न कर दिया जाय। यह आशङ्का उन्हें बंगाल में आने से रोकती थी। उन्होंने विचार किया कि, कोई ऐसा प्रयत्न किया जाय, जिससे मुगल सम्राट् हमारी ओर आकर्षित हो जांय और हमें बंगाल में व्यापार करने की इजाजत दे दें। वे इस प्रयत्न में लग गये। इतने में हठात् एक ऐसी घटना घटी कि अंग्रेजों का बंगाल में आकर व्यापार करना सुगम हो गया।

बादशाह की लड़की का जलना और शाही फर्मान की प्राप्ति—

सन् १६४४ के लगभग आगरा में बादशाह शाहजहां की प्यारी पुत्री 'जहानआरा' के कपड़ों में आग लग जाने से वह ऐसी जल गई कि, उसके बचने की आशा ही नहीं रही। इससे बादशाह बड़े दुःखी थे। किसी प्रकार जहानआरा बच सके, इसके लिये वे अधीर हो उठे थे। दिल्ली, आगरा और लाहौर आदि बड़े-बड़े शहरों से हकीम बुलाये गये; किन्तु जहानआरा को आराम नहीं मिला। उस समय आगरा में ईष्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से मछलीपट्टम से आये हुए दो अंग्रेज मौजूद थे। वे बादशाह को प्रसन्न कर बंगाल में व्यापार के लिये पर्वाना हासिल करने का उद्योग कर रहे थे। मौका देख कर वे बादशाह शाहजहाँ की सेवा में हाजिर हुए और यह निवेदन किया कि, हमारी कम्पनी की सूरतवाली कोठी में एक सुदक्ष डाक्टर है, जो शाहजादी

को सहज में आराम कर सकता है। देर क्या थी, तुरन्त घोड़ों की डाक बैठा दी गई और डाक्टर 'गीब्रियल बॅाटन' सूरत से आगरा आये और उसी दिन से उनका इलाज शुरू हो गया। शाहजादी को कई दिनों से जलन के कारण नींद नहीं आती थी, पर अंग्रेज डाक्टर बॅाटन के पहले दिन के इलाज से ही शाहजादी को इतनी शान्ति मिली कि, उसी रात को नींद आ गई। अब क्या था, बॅाटन साहब हथेलियों पर नाचने लगे। देखते-देखते कुछ ही दिनों में शाहजादी पूर्ण स्वस्थ हो गई। इस प्रकार डाक्टर बाटन के इलाज से शाहजादी का जीवन बचने पर बादशाह भी परम प्रसन्न हुए। उन्होंने बाटन साहब को कई लाख रुपयों का पारितोषिक देने के लिये अपने दरबार में बुलाया। दरबार में डाक्टर बाटन की तारीफ़ करते हुए बादशाह ने उससे इनाम लेने को कहा। पर दूरदर्शी सुचतुर डाक्टर ने हाथ जोड़ कर बादशाह से कहा कि, "यद्यपि मैं जानता हूँ कि, जहांपनाह मेरी सेवा से बड़े प्रसन्न हुए हैं, जिसके लिये मुझे बड़ा भारी गौरव है, तथापि जहांपनाह ने जिस इनाम का आयोजन किया है, उसे प्राप्त करने का मुझे अधिकार नहीं है। क्योंकि मैं 'कम्पनी बहादुर' का वेतनभोगी नौकर हूँ। जब तक कम्पनी का नौकर हूँ, तब तक व्यक्तिगत रूप से किसी प्रकार का इनाम-इकराम लेने का मुझे अधिकार नहीं है। मैं उस अंग्रेज जाति का एक व्यक्ति हूँ जो कि, किसी समय भी अनधिकार लाभ उठाना पसन्द नहीं करती। यदि मुझसे आपकी कोई सेवा हो सकी है तो उसका लाभ कम्पनी ही उठा सकती है। इस पर बादशाह ने वह इनाम कम्पनी को देने की इच्छा प्रकट की। इस पर बाटन साहब ने गंभीरतापूर्वक फिर निवेदन किया कि, कम्पनी एक व्यापार करनेवाली संस्था है, वह अपने वाणिज्य-व्यापार द्वारा ही लाभ उठाना न्यायानुमोदित कार्य समझती है। आप उस पर प्रसन्न हैं, तो इस बड़े इनाम के बदले उसके नाम एक ऐसा सनद-पत्र लिख दें, जिससे वह आपकी सल्तनत में बिना रुकावट और बिना कर दिये

अपना व्यवसाय कर सके। यह बात डाक्टर बॅाटन ने इस ढङ्ग से कही कि, जिसका असर बादशाह के हृदय पर अत्यधिक पड़ा और उनकी निगाह में डाक्टर बॅाटन एक बहुत बड़ा त्यागी एवं सच्चा व्यक्ति जान पड़ा। बादशाह ने इस मांग के भावी परिणाम पर किंचित् भी विचार न कर अपने समस्त राज्य में बिना रोक-टोक और बिना जकात दिये व्यापार करने का हुक्म-नामा लिख दिया।

डाक्टर बॅाटन की धमनियों में अपने देश और जातीयता का पवित्र रक्त प्रवाहित हो रहा था। उसके नजदीक अपना स्वार्थ जातीय स्वार्थ के सामने तुच्छ एवं हेय था। वह जानता था कि, एक बार कुछ समय तक मैं इस धनका भोग कर सकता हूं, परन्तु वह स्थायी कभी न होगा। इसलिए उसने बड़ी चतुरता से बादशाह को राजी कर अंग्रेज जाति के लिये भारतवर्ष में निर्बाध व्यापार करने का अधिकार प्राप्त किया।

हुगली में पहली कोठी—

इस प्रकार शाही फर्मान मिल जाने से अंग्रेजों का अभिष्ट सिद्ध हो गया तो वे बंगाल में आकर व्यापार की चेष्टा करने लगे। डा० बॅाटन भी बंगाल में आ गया और वहाँ के शासक शाह शुजा की एक बेगम का सफलतापूर्वक इलाज कर उसे भी प्रसन्न कर लिया। अंग्रेजों से तीन हजार रुपये शाह शुजा को नज़राना दिला कर बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में व्यापार करने का एक नया फ़र्मान और हासिल कर लिया।

यहां पर यह बतलाना आवश्यक है कि, बंगाल की प्राचीन राजधानी गौड़ नगरी पठान वंशीय दाउद खां के मारे जाने के बाद सन् १५८० से अवनत होने लगी थी और नाना प्रकार की बीमारी आदि फैल जाने तथा ईश्वरीय कोप के कारण सोलहवीं शताब्दी के शेष होते-होते उसकी प्रतिष्ठा भी प्रायः नष्ट हो चुकी थी। उसके बाद सप्तग्राम जो कि, सुन्दर वन के किनारे त्रिवेणी संगम पर बसा हुआ था, तथा तीर्थस्थान होने के कारण हिन्दू यात्रियों का विशेष आवागमन वहाँ हुआ करता था, बंगाल

की राजधानी और व्यापार का केन्द्र स्थान बना। सप्तग्राम में सेठ और वैसाख जाति के बंगालियों की व्यापार में प्रधानता थी। उस समय वे ही धनी व्यापारी बने हुए थे। बाद में पोर्तगीजों की तूती बोली, क्योंकि उनके व्यापारिक जहाज सप्तग्राम पर ही लगते थे। परन्तु घटनाक्रम और परिवर्तन के हिसाब से सरस्वती नदी के लोप हो जाने से त्रिवेणी तीर्थ का महत्व घट गया। परिणाम यह हुआ कि, हिन्दू तीर्थ यात्री आने बंद हो गये और सप्तग्राम का व्यापार घट चला। इसके बाद वेतड़ा * में पोर्तगीजों ने हाट लगानी शुरू की और बाद में सप्तग्राम के सेठ और वैसाख भी वहां व्यापार करने के लिए आ गये। पर यह स्थान भी बहुत समय तक आबाद न रह सका। वेताई नहर मिट्टी से भर जाने से वहाँ का व्यापार बन्द हो गया। उसके बाद हुगली व्यापार का केन्द्र बना। यद्यपि हुगली बड़ा बन्दर होने कारण पोर्तगीजों का व्यापार वहाँ बहुत चमका और उन्होंने खूब धन भी कमाया, तथापि व्यापारिक उन्नति [illegible] साथ व डाकाजनी, और दास व्यापार भी करते थे, जिससे उनके प्रति देशवासियों की सहानुभूति नहीं रही थी। इन सब कारणों से तत्कालीन बादशाह शाहजहां उन पर नाराज हो गया और ईस्वी सन् १६३३ में उनका प्रायः खात्मा कर दिया। उनके बाद बंगाल का व्यापार डेन्मार्कों के हाथ में आया। बाद में अंग्रेज व्यापारी भी बंगाल में आ गये और व्यापार करने लगे।

सन् १६५५ में ब्रिजमैन और स्टिफन्स नामक कर्मचारियों की प्रधानता में कम्पनी की पहली कोठी हुगली में खोली गई। उस समय शोरे का व्यापार अंग्रेजों के लिए बड़ा लाभदायक था। शोरे के व्यापार की बंगाल में खास मंडी थी। डाक्टर बॉटन ने बंगाल के सूबेदार शाह शुजा से शोरे का व्यापार करने का पूर्ण अधिकार कम्पनी को दिला

* वेतड़ा हबड़े से दो मील पश्चिम की ओर है और वहां की वेताई चंडी का नाम आज भी प्रसिद्ध है।

दिया था। परिणाम यह हुआ कि, कम्पनी का व्यापार चल पड़ा। अंग्रेजों के आने से डेन्मार्कवालों का व्यापार घटने लगा।

अंग्रेज व्यापारियों को शाही फर्मान द्वारा मिली हुई सुविधाओं से डेन्मार्कवासी ही तबाह नहीं हुए; वल्कि भारतीय व्यापारियों को भी भारी क्षति पहुँची। पर उस समय अंग्रेजों के विरुद्ध सुननेवाला कोई नहीं था। वादशाह शाहजहाँ और वंगाल का सूबेदार शाह शुजा दोनों ही अंग्रेजों पर प्रसन्न थे। इन सुभीतों से कम्पनी का व्यापार हुगली में जम गया और वह स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करने लगी।

कम्पनी के कर्मचारियों में विश्रृङ्खलता और उसके सुधार के प्रयत्न—

हुगली की कोठी का व्यापार कई वर्षों तक सुचारु रूप से चलता रहा। परन्तु इसके वाद कम्पनी के कर्मचारियों में व्यक्तिगत स्वार्थ ने घर कर लिया। वे कम्पनी को प्राप्त सनदों का मनमाना उपयोग करने लगे। इसी वीच में डा० वाटन का देहान्त भी हो गया और उसकी पत्नी ने दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया। अपने नये पति के साथ वह भी अधिकाधिक धांधली मचाने लगी। इस प्रकार की विश्रृङ्खलताओं से कम्पनी की व्यवस्था में वड़ी खलवली पड़ गयी और आर्थिक हानि भी होने लगी। ये समाचार जव मद्रास की कोठी में पहुंचे, तव वहाँ से डाइरेक्टरों को सूचित किया गया। उन्होंने विचार विनिमय के पश्चात् निश्चित किया कि, वंगाल का व्यापार वन्द तो नहीं किया जाय, प्रत्युत् कर्मचारियों के सुधार के प्रयत्न किये जांय। इसके लिए उन्होंने एक विधान-पत्र तैयार किया, जिनमें मुख्य वातें ये थी—

(१) कम्पनी का कोई कर्मचारी व्यक्तिगत रूप से व्यापार न कर सकेगा।

(२) उनके वेतन में वृद्धि की जाय।

(३) उनसे जमानतें ली जांय और यह लिखा लिया जाय कि, कुत्सित आचरण करने पर वह जब्त कर ली जायगी।

(४) उनकी दैनिक कार्यवाहियों का विवरण रक्खा जाय।

इस विधान-पत्र के साथ मि० गोटन को यहाँ भेजा गया। उसके साथ जाब चारनक भी आया। परन्तु, उस समय भारत की राजनीति में परिवर्तन हो रहा था। बादशाह शाहजहाँ रुग्णावस्था में अपने पुत्र औरंगजेब द्वारा कैद कर लिया गया था। भाई भाई अपनी सत्ता के लिए लड़ रहे थे। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजों को अपने सुधारों में विशेष सफलता नहीं मिली और यह अवस्था उसी प्रकार चलती रही।

शाह शुजा और राय बालकृष्णजी—

सन् १६३८ में शाह शुजा जब सूबेदार बनकर बंगाल में आया था, उस समय उनके साथ सेठ बालकृष्णजी भी दिल्ली से आये थे। सेठ बालकृष्णजी के पूर्वज राजपूताना मारवाड़ के रहनेवाले अग्रवाल वैश्य थे जो बहुत समय से दिल्ली में रहने लग गये थे। बादशाही घराने से उनका बड़ा संबंध और घनिष्ट प्रेम था। राय बालकृष्णजी शाहजादा शुजा के बाल मित्रों में थे। जब शुजा सूबेदार बनकर बंगाल में आया, तो वह अपने साथ अपने मित्र सेठ बालकृष्णजी को भी ले आया। सेठ बालकृष्णजी प्रतिष्ठित व्यापारी और धनिक थे। बंगाल में आकर अपने मित्र शुजा की सहायता से वे व्यापार करने लगे और बहुत बड़े धनिक बन गये। इसके सिवा राज-कार्य में भी वे अपने मित्र को परामर्श देते थे। कम्पनी के अंग्रेजों को लाखों रुपये वे उधार देते और उनसे वाणिज्य-व्यापार कर यथेष्ट लाभ उठाते थे। इसके फलस्वरूप सेठ बालकृष्णजी धनशाली और शक्तिशाली बन गये तथा उनका घराना बंगाल में ही रहने लग गया। आगे चल कर उनके द्वारा मारवाड़ी जाति की विशेष प्रगति हुई।

औरंगजेब का शासन काल—

औरंगजेब के गद्दी पर बैठते ही मीर जुमला ने ईष्ट इण्डिया कंपनी को सूबेदार की हैसियत से लिखा, 'बादशाह शाहजहाँ के शासन काल तक व्यापार के लिये तुम्हें जो अधिकार प्राप्त थे—वे सब अब शाहंशाह

हैदराबाद राज्य के लब्धप्रतिष्ठित



स्वर्गीय सेठ रामलालजी गनेड़ीवाला

पूर्ण ध्यान रक्खें। इसके सिवा वे इस बात पर भी दृष्टि रक्खें कि, इस देश के व्यवसायी और जुलाहे किसी प्रकार उन्हें न ठग सकें। यद्यपि डेन्मार्कों के लिए इसके पूर्व यह आदेश दिया गया था कि, वे बंगाल में अबाध वाणिज्य-व्यापार न कर सकेंगे, तथापि अंग्रेज सौदागरों पर यह आदेश लागू न होगा और वे विना रोक टोक तथा विना जकात दिये स्वतंत्रता-पूर्वक व्यापार कर सकेंगे। हमारा यह फर्मान है कि, समस्त मुगल कर्मचारी उनके लिए सुव्यवस्था करें और ऐसा मौका ही न आने दें कि, जिससे अंग्रेजों द्वारा मुझे कोई अभाव अभियोग सुनना पड़े।"

शाइस्ता खां की इस आज्ञा से न केवल मुगल राजकर्मचारी ही सहमे, किन्तु प्रजा में भी यह भाव फैल गया कि, नवाब अंग्रेज सौदागरों के पक्ष में है। अंग्रेज व्यापारियों के विरुद्ध कोई बर्ताव करना नवाब की नाराजगी मोल लेना है। परिणाम यह हुआ कि, व्यापारी, कृषक और तांती व जुलाहे आदि अंग्रेज सौदागरों से डरने लगे तथा कम्पनी के नाम की धाक जनता के हृदय पर जम गई। यहां पर यह बतलाना बहुत आवश्यक है कि, नवाब शाइस्ता खां की इस प्रकार सहानुभूति पाने और कम्पनी के पक्ष में आज्ञा प्रचारित होने पर भी अंग्रेजों ने बड़ी गंभीरता से कार्य किया। यद्यपि वे जानते थे कि, नवाब का फ़र्मान सर्वथा उनके पक्ष में है और यदि वे चाहें तो बड़े से बड़े मुगल कर्मचारी की छीछालेदर करा सकते हैं, तथापि उन्होंने इस भाव से कार्य नहीं किया। वे समझने लगे कि, नवाब नवाब ही है। हमारा सभी काम उनसे पूरा नहीं होता। काम तो सदैव निम्न कर्मचारियों से पड़ता है। इसलिए नवाब की आज्ञा चिरस्थायी रखने के लिए उन्हें कर्मचारियों को प्रसन्न रखना चाहिए। छोटे से छोटे कर्मचारी के विरुद्ध नवाब के सामने शिकायत करने तथा उन्हें अप्रसन्न करने का परिणाम एक दिन उनके विरुद्ध भी हो सकता है। इस दृष्टि से अच्छा यही होगा कि, नवाब के फ़र्मान का आतङ्क प्रजा तथा राजकर्मचारियों पर रख कर चतुराई से लाभ उठाया जाय। इस नीति के अनुसार अंग्रेजों ने राजकर्मचारियों

के साथ बर्ताव करना शुरू किया। कोई कार्य होता, तो पहले वे फ़र्मान के बल पर राजकर्मचारियों को शान्त कर देते थे। पर यदि कोई राजकर्मचारी विशेष कड़ाई करता दिखाई देता तो वे यह कहते कि, उनके पास नवाब का फ़र्मान मौजूद है, वे यदि चाहें तो उनकी शिकायत कर सकते हैं, तथापि उनकी यह इच्छा नहीं कि, शिकायतें कर कर्मचारियों को हानि पहुंचाई जाय। इस प्रकार अपना प्रभाव बतला कर कर्मचारियों की भेंट-पूजा कर काम निकाल लेते। इसका नतीजा यह हुआ कि, नवाब के फ़र्मान से इधर तो राजकर्मचारी तथा व्यापारी वर्ग को अंग्रेजों के विरुद्ध थोड़ी सी भी आवाज़ उठाने का साहस नहीं होता था, और उधर अंग्रेजों ने भी युक्ति से अपना काम ले कोई भी शिकायत नवाब के सामने नहीं जाने दी। इससे अंग्रेजों की व्यापार में तूती बोलने लगी और कम्पनी के कर्मचारियों को प्रभाव बढ़ता चला गया। फिर क्या था, ज्यों-ज्यों कम्पनी का व्यापार वृद्धि पाने लगा; त्यों-त्यों कम्पनी के कर्मचारियों में स्वेच्छाचारिता का अङ्कुर पैदा होने लगा और वे मनमानी करने पर उतारू हो गये। जुलाहों और किसानों पर अंग्रेज मनमानी कड़ाई करने लगे। बंगाल के कलाकौशल की वस्तुएं जब इंगलैण्ड में बिकने लगीं तब वहां तो उस प्रकार की वस्तुओं के बनाने की व्यवस्था की जाने लगी और यहाँ उनका बनाना कठोर उपायों से बन्द किया जाने लगा। इस संबन्ध में इतिहास में अंग्रेजों के अत्याचारों का वर्णन बड़ा ही रोमांचकारी किया गया है। पर यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि, नबाब शाइस्ता खां की सहानुभूति के कारण किसी में उसके प्रतिकार का साहस ही नहीं रहा था।

इस प्रकार बढ़ते हुए अत्याचारों की दर्दनाक गाथायें जब नवाब के कानों तक पहुंची, तब उसका मन भी अंग्रेजों की ओर से फिर गया। शाइस्ता खां समझने लगा कि, अंग्रेज उसके फर्मान से अनुचित लाभ उठाने लगे हैं और इस देश के व्यापारी, जुलाहे तथा कृषक तबाह हो रहे

हैं। उसका दृष्टिकोण अंग्रेजों के प्रति एक दम बदल गया।

इधर कम्पनी के डाइरेक्टरों को जब मालूम हुआ कि, शाइस्ता खां की सहानुभूति घट रही है और उसके फर्मान की रियायतों को खोकर कम्पनी के कर्मचारी मनमानी कर रहे हैं, तो उन्होंने मास्टर 'स्ट्रीनशाम' को हिन्दुस्थान में भेजा, जो बड़ा बुद्धिमान और व्यवस्था करने में सुदक्ष था।

मास्टर स्ट्रीनशाम को निम्नलिखित आदेशों के साथ रवाना किया गया था—

१—बंगाल, बिहार और उड़ीसा की कोठियों के अंग्रेज कर्मचारी अत्यन्त स्वेच्छाचारी हो गये हैं। वे व्यक्तिगत रूप से गुप्त व्यापार कर कम्पनी को क्षति पहुंचाते हैं, अतः गुप्त व्यापार का मूलोच्छेदन किया जाय।

२—जो माल कम्पनी इंगलैण्ड से हिन्दुस्थान बिक्री के लिये भेजती है और हिन्दुस्थान का माल इंग्लैण्ड में मंगाती है, उन सबकी खरीद बिक्री की सुव्यवस्था की जाय और सब प्रकार के माल का हिसाब-किताब स्टाक आदि का सावधानी के साथ निरीक्षण किया जाय।

३—कम्पनी के कर्मचारियों के चाल-चलन और चरित्र सम्बन्धी रिपोर्ट सदैव भेजी जाय और उनके सुधार के लिए ध्यान दिया जाय, जिससे भारतवासियों के हृदय पर अंग्रेज जाति का विश्वास जमे और कम्पनी के कर्मचारी भी मन लगाकर सचाई के साथ कार्य करें।

४—कासिमबाजार की कोठी में "रग्घू पोद्दार" * नामक व्यक्ति की जो हत्या हुई है, उसका अनुसन्धान कर लोगों को शान्त किया जाय।

---

* 'रग्घू पोद्दार' कासिमबजार को कोठी का कर्मचारी था, वह कोठी के अध्यक्ष की नाराजी से कैद कर लिया गया था। उसकी हत्या कैदखाने में ही हुई थी। रग्घू मुगलों की रैयत था, अतः बादशाह की ओर से कम्पनी से जवाब तलब किया गया था।

इस प्रकार अधिकार पाकर जब वह बंगाल में पहुँचा तब उसे बड़ी भयंकर परिस्थिति दिखाई दी। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार विलसन ने लिखा है कि—'मनुष्यत्व के उच्च आदर्श पर विचार करने से यह स्वीकार करना होगा कि, उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों में अनेक व्यक्ति अति हीन प्रकृति के थे। आज संसार में अंग्रेज जाति का नाम जिन उच्च आदर्श व्यक्तियों के पवित्र आचरणों के कारण हो रहा है, उनमें और उस समय के कर्मचारियों में बड़ा अन्तर था। उस समय जो व्यक्ति हिन्दुस्थान में आते थे, उनमें अधिकांश अनभिज्ञ और तरुण अवस्था के युवक ही थे। उनमें अनेक आवारा और अविवाहित थे। वे निर्व्वासित की तरह इस देश में आते थे। उनकी आय कम और खर्च अधिक था। यही कारण था कि, इस देश में आकर वे नाना प्रकार की चोरी और गुप्त व्यापार करते थे। कम्पनी के डाइरेक्टरों के इंगलैण्ड में रहने के कारण उन पर किसी प्रकार का डर या आतंक नहीं था। इसी से वे यह अनुचित व्यापार मुगल दरबार की सनदें दिखा कर करने लगे थे। उनके इन कार्यों से कम्पनी की आर्थिक हानि होने लगी थी। व्यक्तिगत स्वार्थ की मात्रा उनमें बढ़ चली थी। नतीजा यह हुआ कि, वे फिर परस्पर में ही लड़ने लगे थे। कम्पनी की ओर से अंग्रेज कर्मचारियों को सामाजिक, धार्मिक और नैतिक शिक्षा देने का कोई साधन हिन्दुस्थान में नहीं था। यही कारण था कि, वे समय २ पर अनेक कुकर्म कर बैठते थे।"

इस प्रकार की परिस्थिति देख कर मास्टर ने कर्मचारियों पर नियंत्रण करना चाहा परन्तु कासिमबाजार की कोठी में उस समय जाब चार्नक का प्रभाव अत्यधिक था। गुप्त व्यापार करने में उसी की प्रधानता थी। परिणाम यह हुआ कि, चार्नक ने मास्टर के सामने कुछ ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया कि, वह कुछ न कर सका। इस बार मास्टर रघू पोदार का मामला १३०००) रुपयों में तै करके मद्रास लौट गया।

इसके कुछ समय बाद वह फिर बंगाल में आया और 'जान इव्हान्स' नामक पादरी को उसने ईसाई धर्मशिक्षक नियुक्त किया और उसके परामर्श से कुछ ऐसे कठोर नियम जारी किये जिससे कंपनी के नौकरों का चरित्र सुधरे। यद्यपि उसकी व्यवस्था से कम्पनी के कर्मचारियों के चरित्रों में काफी सुधार हुआ तथापि गुप्त व्यापार में होनेवाली लबड़ धोंधों बनी ही रही।

इधर तो यह अवस्था थी, और उधर इंग्लैण्ड में भी स्वतन्त्रता की लहर जाग उठी थी, जिसके कारण ईष्ट इण्डिया कम्पनी को इंग्लेण्ड की सरकार से जो 'चार्टर' हिन्दुस्थान में वाणिज्य व्यापार करने का मिला था—उसमें शिथिलता आ गई। परिणाम यह हुआ कि, एक दूसरी कंपनी बनकर भारत में व्यापार करने चली आई। अंग्रेज इतिहासकारों ने इन नये व्यापारियों को 'इन्टर लोपा' बोलकर लिखा है। इसका अर्थ यह है कि, एक चलती हुई व्यवस्था को बिगाड़ने के लक्ष्य से उसके विरुद्ध चोरी से कोई कार्य करना। यही अवस्था उस कंपनी की थी।

दूसरी कम्पनी का प्रादुर्भाव-

ईष्ट इण्डिया कम्पनी के विरुद्ध जो नये व्यापारी इंग्लैण्ड से आये थे, उनका मुखिया मि० पिट था। उसने सन् १६८१ में भारत में आकर बड़ी चालाकी से यह एलान किया कि, पुरानी ईष्ट इण्डिया कम्पनी दिवालिया हो गई और नई ईष्ट इण्डिया कम्पनी बनी है, जिसका वह प्रधान एजेण्ट है।

मि० पिट बड़ा साहसी और चालाक था। उसने बंगाल में आकर चिन्सुरा में अपना केन्द्र कायम किया और कुछ तुर्की सौदागरों की आर्थिक सहायता के बलपर अपनी कोठी नई ईष्ट इण्डिया कम्पनी के नाम पर खोल दी। पिट के पास पुरानी ईष्ट इण्डिया कम्पनी की तरह कोई सुव्यवस्थित साधन नहीं था। न तो काफी रुपये थे और न काम चलाने लायक आदमी। परन्तु साहसी और जुगाड़ी वह इतना था कि,

सूखेपर नाव चलाने लगा। निज के जहाज और नौकाएं न होने पर भी पोर्तगीज, डेन्मार्क तथा देशी लोगों के जहाज़ तथा नौकाएं, किराये पर लेकर वह अपना काम चलाने लगा। पुरानी कम्पनी के कई-एक कर्मचारियों को अपने में मिला लिया। कहते हैं कि, हुगली की कोठी का अध्यक्ष विन्सेंट भी पिट से गुप्त रूप से मिल गया था। इसके अतिरिक्त मुगल दरवार का परमिट अफसर बूलचन्द भी पिट का सहायक वन गया था। इन सब कारणों से एक वार पिट का प्रभाव खासा जम गया था और पुरानी कम्पनी का व्यापार घट चला और उसकी जड़ एक वार हिल गई। यह देख कर परिस्थिति का अनुभव करने के लिये इंगलैण्ड के डाइरेक्टरों ने मि० विलियम हेज्स को भारत में भेजा।

जिस समय हेज्स वंगाल में पहुँचा उस समय हुगली की कोठी का कप्तान विन्सेंट था। उसे जव मालूम हुआ कि, हेज्स गवर्नर होकर आ रहा है तो उसके पेट में चूहे दौड़ने लगे। वह चालाक तो था ही। न जाने क्या हो जाय, इस आशंका से और भी अधिक सावधान हो गया। जव हेज्स चिन्सुरा पहुंचा तो डच लोगों के वाग़ान में विन्सेंट ने वड़े ही रोव के साथ ७५ पोर्तग़ीज सैनिक और ५० राजपूत सिपाही तथा अन्य लोगों के साथ राजसी ठाट से मि० हेज्स से भेंट की। इस प्रकार रोव के साथ भेंट करने का तात्पर्य यह था कि, उसको डर हो गया था कि, न जाने हेज्स पहली मुलाकात में ही कैसा उचित अनुचित वर्ताव कर वैठे। इसी आशंका से वह वड़े रोव के साथ मिला। परन्तु हेज्स भी वड़ा चतुर और अनुभवी था, उसने इस पहली मुलाकात में ही विन्सेंट की तैयारियाँ देख ताड़ लिया कि, मामला विल्कुल सीधा नहीं है। उसने साधारण ढंग से शान्ति के साथ विन्सेंट से वातें की और जो आदेश-पत्र कम्पनी के डाइरेक्टरों ने दिया था, उसे विन्सेंट को दिखाया। विन्सेंट पहले ही से ताड़ गया था। उसने तत्काल उत्तर दिया कि, इसका जवाव मैं आपको नहीं दे सकता।

विलियम हेज्स—

मुझे जो कुछ कहना होगा, वह मैं डाइरेक्टरों के समक्ष ही कहूँगा। इस प्रकार पहली मुलाकात शेष कर वह अपने स्थान पर आ गया और उसी दिन से प्रकाश रूप में पिट के साथ रहने लगा।

हेज्स ने जब देखा कि, पिट अपनी नयी कम्पनी के नाम से अपना व्यवसाय खासा जमा चुका है और मुगल राजकर्मचारी भी उसके अनुकूल बने हुए हैं तथा विन्सेंट भी अब उसके साथ जा रहा है तो उसे निश्चय हो गया कि विन्सेंट को कैद करना तथा 'इन्टर लोपा' लोगों का विध्वंस करना सहज कार्य नहीं है।

तब मि० हेज्स ने हुगली में डेरा डाल कर सर्व प्रथम नवाब शाइस्ता खां से पत्र-व्यवहार शुरू किया। नवाब ने इस पर कुछ कदम बढ़ाने की चेष्टा भी की, परन्तु अधीनस्थ कर्मचारियों ने अपनी कार्य-चातुरी से उसे कुछ नहीं करने दिया और हेज्स अपने प्रयत्नों में सफल न हो सका। तब उसने बादशाह औरंगजेब से ही इस कार्य के लिए आज्ञा प्राप्त करने का निश्चय किया और इसके लिए सूरत की कोठी के अध्यक्ष को लिखा। सूरत के अध्यक्ष ने बादशाह को पत्र लिखा और अपने प्रतिनिधि भी उसके पास भेजे। परन्तु बादशाह पर इसका कुछ असर न हुआ। यह देख कर उसने फिर एक पत्र निम्नाशय का लिखा कि.—'कम्पनी प्रायः १०० वर्षों से हिन्दुस्थान में वाणिज्य व्यापार करती आ रही है, उसका बर्ताव कभी मुगल दरबार के विरुद्ध नहीं हुआ; बल्कि वह सदा सरकार की खैरख्वाह रही है। जिस समय शिवाजी के साथ दरबार का युद्ध हो रहा था, उस समय कम्पनी का जहाजी बल मुगल सरकार की सहायता के लिए तैयार रहा था। कम्पनी के व्यापार से बादशाह को यथेष्ट आमदनी होती है। ऐसी अवस्था में भी बंगाल वगैरह के सूबों में कम्पनी पर अत्याचार हो रहे हैं और आपके कर्मचारी 'इन्टर लोपा' लोगों को मदद देकर कम्पनी को हानि पहुँचा रहे हैं। अगर बादशाह की यह मर्जी हो कि कम्पनी यहाँ व्यापार नहीं करे, तो हुजूर की इच्छा जानने पर हम अपना

व्यापार निश्चय ही बन्द कर देंगे। कम्पनी के व्यवसाय बन्द करने पर बेकार कर्मचारियों का भरण-पोषण कठिन हो जायगा। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर क्या आश्चर्य है कि, वे उपद्रव करने लगें।

सूरत के अध्यक्ष का यह पत्र जब बादशाह औरंगजेब के पास पहुँचा, तो उसकी लापरवाही हवा हो गई। वह बड़े गम्भीर विचार में गोता खाने लगा। सम्राट् औरंगजेब असमंजस में पड़ कर अधीर हो उठा। कारण उस समय की परिस्थिति बड़ी गम्भीर थी। औरंगजेब कट्टर मुसलमान था, जो दीन का दीवाना बन कर आर्य देश में हिन्दुओं पर अत्याचार करने में अपनी सारी शक्ति खर्च चुका था, जिससे हिन्दू जनता विद्रोही बन गई थी। महाराष्ट्र वीर शिवाजी की मृत्यु होने पर भी महाराष्ट्र जाति उसके काबू में न आने के कारण बादशाह बुजदिल बन गया था। खज़ाने में धन की कमी हो रही थी फिर दक्षिण की लड़ाई में बादशाह जान चुका था कि, कम्पनी के अँग्रेजों के पास जहाज और नौकाएँ इतनी हैं कि, वह समुद्र मार्ग में उपद्रव खड़ा कर सकती है। बादशाह ने सोचा कि, क्या आश्चर्य है कम्पनी के अंग्रेज व्यापारी अपने जहाज और नौकाओं की सहायता महाराष्ट्रों को देने लग जांय, जिसका परिणाम यह हो कि, हिन्दू शक्ति प्रबल हो उठे अथवा कम्पनी के जहाज मक्के जानेवाले मुसलमान यात्रियों को ही लूटने लग जांय। इन विचारों से बादशाह चिन्तित हो कोई सिद्धान्त स्थिर न कर सका। यद्यपि सूरत की कोठी के कप्तान का पत्र प्रार्थना के रूप में था, तथापि उसकी भाषा एवं भाव उद्दण्डता और दंभ से खाली नहीं थे। बादशाह ने परामर्श के लिये नवाब शाइस्ता खाँ को बंगाल से बुलाया। शाइस्ता खाँ की सलाह से औरंगजेब ने निश्चय किया कि, अंग्रेज कम्पनी यदि "जिजिया" कर देना स्वीकार करे तो उसे एक नया सनद-पत्र दिया जा सकता है। शाइस्ता खाँ हेज्स से मिल कर आया ही था, तथा उसके भेजे हुये कुछ अंग्रेज प्रतिनिधि भी नवाब के साथ में आये थे। नवाब ने 'जिजिया' कर देना स्वीकार कराके

मध्यप्रान्त के सुप्रतिष्ठित रईस



स्वर्गीय राजा गोकुलदासजी मालपाणी (जब्बलपुर)
(फर्म—सेवाराम खुशालचन्द)

कम्पनी के नाम बादशाह औरंगजेब से एक नया फर्मान पत्र लिखवा दिया।

जिजिया कर स्वीकार कर लेने पर बादशाह औरंगजेब ने कम्पनी के नाम जो सनद्-पत्र लिख दिया था, वह इस प्रकार है—

"सूरत के वर्तमान और भविष्य के जो कर्मचारी बादशाह के अनुग्रह भाजन होना चाहते हैं, उनके प्रति हमारा आदेश है कि, अब तक ईष्ट इण्डिया कम्पनी अपने व्यापार पर सैंकड़े पीछे दो रुपये कर देती आई है, अगले महीने से उसको डेढ़ रुपया सैंकड़ा जिजिया कर और देना होगा अर्थात् अगले महीने से उनके व्यापार पर साढ़े तीन रुपये प्रतिशत कर वसूल किया जावेगा। इसके बदले में हम घोषणा करते हैं कि, जब तक कम्पनी के कर्मचारी इस शर्त के अनुसार काम करें, तब तक न तो उनको किसी प्रकार का कष्ट दिया जाय और न अन्य प्रकार से एक पैसा भी उनसे वसूल किया जाय।"

यह सनद्-पत्र २३ सफ़र को अर्थात् औरंगजेब के शासन काल के २३ वें वर्ष में लिखा गया था।

इस सनद्-पत्र के अनुसार जब जिजिया कर मुगल कर्मचारियों ने वसूल करना चाहा तब बंगाल में अंग्रेजों ने यह आपत्ति उठाई कि, सनद् में "सूरत के वर्तमान और भविष्य के कर्मचारी" लिखा गया है, जिसका अर्थ यह है कि, जिजिया कर देने के लिये सूरत की कोठी के अंग्रेज ही वाध्य समझे जा सकते हैं, अन्य स्थानों के नहीं। मुगल राजकर्मचारियों ने कहा कि, जहां-जहां कम्पनी का व्यवसाय है वहां-वहां सभी स्थानों पर यह सनद्-पत्र लागू होता है और हम बंगाल में बिना जिजिया कर वसूल किये अंग्रेजों का व्यापार न होने देंगे। परिणाम यह हुआ कि, बंगाल में कम्पनी की व्यापारिक नौकाएं अटकाई जाने लगीं। नवाब शाइस्ता खाँ जब ढाका आया तो उसे मालूम हुआ कि, अंग्रेज शब्दों की नुकता-चीनी कर बंगाल में जिजिया कर देने को तैयार नहीं है। इससे नवाब को बड़ा आश्चर्य हुआ। नवाब ने इस

बात का अनुभव किया कि, सनद-पत्र की शब्द-योजना में अवश्य भूल हुई है। उसमें सूरत के अंग्रेजों का ही सम्बोधन होता है। पर यह तो सच है कि, सभी स्थानों पर जिजिया कर देना मेरे से स्वीकार कर लेने पर ही यह सनद-पत्र लिखा गया था। इस पर नवाब शाइस्ता खाँ ने देखा कि, जिजिया कर देना उसके सामने स्वीकार कर जब अंग्रेज इन्कार कर रहे हैं तो उसका मन अंग्रेजों की ओर से एकबारगी ही बदल गया।

नवाब ने हुक्म दिया कि, कम्पनी को सभी स्थानों पर जिजिया कर देना होगा। इससे अंग्रेजों को लेने के देने पड़ गये। यहाँ पर प्रकट होता है कि, हेज्स बुद्धिमान तथा दूरदर्शी होने पर भी कार्य-पटु एवं व्यव-हार-कुशल नहीं था। यही कारण था कि, उसकी सारी चेष्टाएँ विफल हो गईं।

पर बात यह थी कि—'घर का भेदिया लंका दाह।' उस समय कम्पनी की कुछ ऐसी परिस्थिति हो गई थी कि, एक ओर हेज्स था और दूसरी ओर कम्पनी के व्यक्तिगत स्वार्थ-परायण प्रायः सभी कर्मचारी थे। हेज्स कम्पनी के लिये कोई स्थायी प्रबन्ध करना चाहता था, परन्तु अन्य कर्मचारी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में बाधा पड़ती देख भीतर ही भीतर उसके विरुद्ध हो रहे थे।

जाब चार्नक पर हेज्स का सब से बड़ा सन्देह था। उसे ही वह सब रोगों की जड़ समझता था; क्योंकि सब से बड़ी शिकायत उसी की उसने सुनी थी। मगर इतना होने पर भी हेज्स का साहस नहीं हुआ कि, वह जाब चार्नक पर कोई खुल्लम-खुल्ला अभियोग लगावे। कारण यह था कि, प्रायः पच्चीस वर्ष से चार्नक हिन्दुस्थान में रह कर यहां की परिस्थिति का जानकार और कम्पनी के व्यापार में पटु बन गया था। यद्यपि वह छोटे कर्मचारियों में मिल कर गुप्त व्यापार करने में सब से आगे हो रहा था, तथापि अनुभवी होने के कारण कम्पनी के

डाइरेक्टर भी उसकी सम्मति का आदर किया करते थे और उसे टाल नहीं सकते थे। इस समय चार्नक ने डाइरेक्टरों को लिखा कि, हेज्स की व्यवस्था से कम्पनी को अधिक हानि हो रही है, इस पर डाइरेक्टरों ने हेज्स को वापिस बुला लिया।

जब वह इङ्गलैण्ड पहुंचा तो उसने दृढ़तापूर्वक डाइरेक्टरों के सन्मुख हिन्दुस्थान की अवस्था का ऐसा ख़ाका खींचा कि, डाइरेक्टरों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो गया। हेज्स ने बतलाया कि, भारतवर्ष वास्तव में हिन्दुओं का देश है और वहां पर हिन्दू संस्कृति की ही प्रधानता है। मुसलमानों की दीर्घकालीन राजसत्ता होने पर भी वे अब तक उनके कट्टर शत्रु बने हुए हैं। मुसलमान अपनी राजसत्ता के जोर से हिन्दुओं पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं। जिजिया कर उन्हें देना पड़ता है। हिन्दू रमणियां अपहरण कर हुर्में बनाई जाती हैं। इस अपहरण के कारण हिन्दुओं में बाल विवाह और पर्दे की प्रथा चल पड़ी है। ये सब ऐसी बातें हैं जो राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्थान की भीतरी अवस्था को डाँवा-डोल बना रही है।

मुगल राजकर्मचारी घूसखोर, अत्याचारी और अर्थ के दास हैं। वे रक्त चूस कर अपना पेट बड़ा करते हैं। यद्यपि औरंगजेब महान् कूटनीतिज्ञ और शक्तिशाली बादशाह है, तथापि एक तो वह बंगाल से बहुत दूर रहता है, दूसरे उसका ध्येय एकमात्र यही है कि, जिस प्रकार भी हो हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जाय। मुगल राजकर्मचारी हाथ जोड़ कर सामने खड़े रहनेवालों पर हुक्म चलाने के लिए बड़े मर्द हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति हिम्मत कर उनके सामने आता है तो, उनकी बहादुरी जाती रहती है। मुगलों की सैनिक शक्ति भी परिष्कृत नहीं है। जितने सैनिक हैं, वे सब अशिक्षित हैं। उनके पुराने जमाने के शस्त्र बहुत कम काम करते हैं। हमारी बन्दूकें, उनसे पचास गुना बल रखती हैं। इसलिए रिश्वतें न देकर चतुराई के साथ शक्ति-प्रदर्शन की नीति

व्यवहार में लाई जाय तो भारतवर्ष में कम्पनी का प्रभाव सहज में जम सकता है। और आगे चल कर कोई लाभप्रद परिणाम भी निकल सकता है। इन वातों का डाइरेक्टरों पर वड़ा असर पड़ा। एक तो वे पहले ही रात दिन की शिकायतों से तंग आ रहे थे और दूसरे भारत में कम्पनी रह सकेगी, इसका भी उन्हें सन्देह था। पर हेज्स की अनुभवयुक्त वातों ने उनमें उत्साह पैदा किया। अन्त में वोर्ड के डाइरेक्टरों ने साहस कर हेज्स की योजनानुसार कार्य करने का निश्चय किया।

डारेक्टरों ने इंगलैण्ड के द्वितीय राजा जेम्स से इस सम्वन्ध में अनुमति मांगी। राजा जेम्स ने आज्ञा दे दी और उसकी सहायता से कई जहाज और कुछ सैनिक हिन्दुस्थान भेजना निश्चित किया गया। सूरत की कोठी के कप्तान को लिखा गया कि, वह सूरत छोड़ कर वम्वई चला जाय और मुगलों के जहाज व नौकाओं को लूटे। इसके सिवा यह प्रवन्ध किया गया कि, कतिपय जहाज वंगाल में भेजे जांय, जिन पर कुछ सैनिक और तोपें भी हों। यह सव काम जाव चार्नक की अध्यक्षता में उसके अनुभव से किये जांय। अव ईष्ट इण्डिया कम्पनी का दृष्टिकोण वदल चला। जो कम्पनी प्रायः एक सौ वर्षों से हिन्दुस्थानियों की कृपा एवं दया की पात्र होकर भारतवर्ष में दो पैसा कमाने आई थी, वह लूट-पाट और वल का प्रयोग करने के लिए आमादा हो गई।

जाव चार्नक—

चार्नक ने आगे चल कर वंगाल में क्या किया, यह इतिहास वड़ा दिलचस्प है। कम्पनी की नींव जमने का आरंभ उसी समय से होता है। फिर किस परिस्थिति में कितने अदम्य परिश्रम एवं साहस के साथ अनेक उतार चढ़ावों का सामना कर उसने किस चातुरी और महान् अनुभव से कार्य किया था, तथा अन्त में सभी झंझटों का खातमा कर किस प्रकार सफलता प्राप्त की आदि वातों का इतिहास भी वड़ा रोचक है।

भारतवर्ष में अंग्रेजों की राजसत्ता स्थापित करनेवालों में यद्यपि

डाक्टर गब्रियल बाटन, डाक्टर हमिल्टन, अङ्गियर, क्लाइव, बाटसन, वारन हेस्टिंग्स आदि अंग्रेजों के नाम उल्लेखनीय हैं, तथापि जाब चार्नक का स्थान उनसे कम नहीं है। कारण यह है कि, तैयार किये हुए क्षेत्रपर सत्ता का विस्तार करना आसान है। पर अपने साहस व चतुराई से बिना किसी अवलम्ब के क्षेत्र तैयार करना बड़ा कठिन है। आज भारत वर्ष में अंग्रेजों की राजसत्ता चरम सीमा तक पहुंच गई है। अंग्रेज जाति का एक साधारण से साधारण और अदना से अदना आदमी भी आज भारतवर्ष में आकर बिना कठिनाई के अपना काम चला सकता है। शासनसत्ता पूर्ण रूप से अंग्रेज जाति के हाथ में है, मगर आज से अढ़ाई सौ वर्ष पूर्व अंग्रेजों की राजसत्ता भारत में नहीं थी, और वे उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनी के रूप में वणिक् बनकर हिन्दुस्थान में आये थे और न केवल शासनाधिकारी मुगल राजकर्मचारियों के, किन्तु प्रत्येक भारत-वासी की रहम दिली एवं सहानुभूति के पात्र बनकर दो पैसा कमाने की चेष्टा करते थे। राज दरबारों में पहुंच कर भेंट-पूजा चढ़ाते हुए व्यापार की भिक्षा मांगते थे, और भारतवासियों की जिसमें सहानुभूति प्राप्त हो सके ऐसा आचरण करते थे। उस समय ईष्ट इण्डिया कम्पनी के मुट्ठी भर वणिक् अंग्रेजों के हृदय में हिन्दुस्थानियों की खुशामद करने और कृपा-पात्र बनने के सिवाय और कोई कल्पना भी नहीं होती थी। आज उनके हृदय में शक्तिशाली मुगल राजसत्ता के मुकाबले में सचमुच बल का प्रयोग कर लूट-पाट मचा देना—अपने प्रभाव को जमाने की पूरी चेष्टा करना एक नयी बात थी। पर उस अवस्था में भी जाब चार्नक ने बंगाल में असंभव को संभव कर दिखाया। यद्यपि यह बिल्कुल सच है कि, फ्रांसीसी डुप्ले ने बहुत पहले ही हिन्दुस्थान में फ्रांस की राजसत्ता जमाने की कल्पना की थी और बाद में हेज्स ने बलप्रयोग करने की राय दी। परन्तु ऐसी कल्पनाएं कर लेना जितना सहज है कार्य रूप में परणित कर दिखाना उतना मामूली कार्य नहीं है। फिर भी चार्नक ने हुगली में

पहले-पहल मुगल राजशक्ति के मुकावले शत्रुता ठान वलप्रयोग करना आरम्भ कर दिया। यहां हम जाव चार्नक के पूर्व जीवन के सम्बन्ध में कुछ लिखें तो अनुचित न होगा।

जाव चार्नक सन् १६५५ में ईष्ट इण्डिया कम्पनी की, पच्चीस रुपये मासिक की नौकरी पर हिन्दुस्थान में आया था। पहले पहल उसे कासिमवज़ार की कोठी में क्लर्की दी गई, फिर सन् १६५८ में वह कासिमवजार से वदल कर पटना भेज दिया गया। पटना में उसे चौथे दर्जे का काम मिला। सन् १६८० तक पटना में रह कर चार्नक ने उत्तरोत्तर वड़ी उन्नति की और अन्त में पटना की कोठी का प्रधान पद पाया। वाणिज्य व्यापार में वह वड़ा दक्ष और अनुभवी हो गया था। जाव चार्नक अँग्रेज होने पर भी पटना में एक प्रकार से भारतीय बन गया था। इसका कारण यह था कि, उसने पटना में रहते हुए एक विधवा ब्राह्मणी से विवाह कर लिया था और दूसरा कारण यह था कि, वह देशवासियों से बहुत हिल-मिल गया था। इस देश की भाषा और भाव तथा रीति-रिवाज एवं चाल ढाल का वड़ा जानकार हो गया था। इसी कारण से वह कम्पनी के उच्च से उच्च पद को भी पाने में समर्थ हुआ।

सेठ चूहड़मलजी—

कम्पनी के तत्कालीन कागजातों से पता लगता है कि, सन् १६६० के लगभग कुछ मारवाड़ी व्यापारी राजपूताने से आकर पटना में वाणिज्य-व्यापार करते थे। उनमें हमें सेठ चूहड़मलजी का नाम भी मिलता है। वे वड़े धनिक और सफल व्यापारी थे। सेठ चूहड़मलजी के साथ ईष्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से चार्नक का बड़ा कारवार और लेन देन होता था। लाखों रुपये सेठ चूहड़मलजी कम्पनी को उधार देते थे। इतिहासकारों ने जाव चार्नक की डायरियों से पता लगाया है कि, उसके साथ सेठ चूहड़मलजी का वड़ा भारी व्यवसाय होता था और यही कारण है कि, जाब चार्नक ने अपनी डायरी में

एक स्थान पर यह भी लिखा है कि—"हिन्दुस्तान में एक मारवाड़ी जाति ही ऐसी है कि, जो अन्य सभी जातियों की अपेक्षा वाणिज्य-व्यापार करने में विशेष दक्ष और ईमानदार है। कम्पनी यदि चाहे तो मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त कर अपने व्यापार का भारतवर्ष में अधिकाधिक प्रसार कर सकती है"।

चार्नक का अद्भुत साहस—

सन् १६८५ में हुगली की कोठी का अध्यक्ष बियर्ड जब मर गया, तो डाइरेक्टरों ने जाब चार्नक को वहाँ का अध्यक्ष बनाने का हुक्म भेजा, पर यहाँ चार्नक कर्जदार होने के कारण कासिमबज़ार से बाहर नहीं जा सकता था। चार्नक ने सुना कि, डाइरेक्टरों ने उसे अध्यक्ष-पद प्रदान किया है, तो वह गुप्त रूप से कासिमबाजार से भाग कर हुगली में आ गया और प्रधान पद का चार्ज लेकर काम करने लगा।

सन् १६८१ में जिजिया कर सम्बन्धी बन्दोवस्त पर कम्पनी के इन्कार करने और फ़र्मान-पत्र के शब्दों पर झगड़ा उठाने से नवाब शाइस्ता खां कम्पनी पर नाराज़ तो था ही परन्तु जब उसने सुना कि, हुगली की कोठी का अध्यक्ष बियर्ड मर गया है, और कम्पनी के डाइरेक्टरों ने जाब चार्नक को हुगली की कोठी का अध्यक्ष नियत किया है, एवं चार्नक बिना मुगल सरकार की आज्ञा के कासिम बाजार से भाग कर हुगली में आया है, तो नवाब और भी अधिक नाराज़ हो गया। नवाब के गुप्तचरों ने खबर दी कि, हुगली में आकर चार्नक ने पोर्तगीज आदि विदेशी और भारतीयों को सेना में भर्ती करना शुरू कर दिया है तथा हुगली की कोठी में एक ऐसा मज़बूत और ऊँचा भवन बनवाने लगा है कि, जो किसी समय मोर्चे का काम दे सकता है। इन सब बातों को सुन कर नवाब चौकन्ना हो गया। इसके सिवा उसे यह भी खबर मिली कि इंगलैण्ड से कुछ जहाज ऐसे आ रहे हैं, जिनमें लड़ाई के समान के साथ वहां के सैनिक भी हैं, उनके पहुंचने पर चार्नक

मुगलों का सामना करेगा। ये बातें जब नबाब को मालूम हुई तो अंग्रेजों के प्रति उसका कोप उमड़ पड़ा। उस समय नबाब की अवस्था अस्सी वर्ष से अधिक हो चुकी थी और वह इतना शक्तिहीन हो गया था कि, उसका सारा दिन मुल्ला-मौलवियों में बैठ कर कुरान सुनने में बीतता था। मगर फिर भी नबाब ने हुगली के फौज़दार को हुक्म दिया कि, अंग्रेजों को न बढ़ने दे तथा इस बात पर पूरा ध्यान रखे, जिससे वे कोई उपद्रव खड़ा न करने पावें।

उस समय हुगली में मुगलों के तीन सौ घुड़सवार और तीन हज़ार पैदल सेना फौजदार के आधीन थी। नबाब का हुक्म पाकर फौजदार ने आतङ्क जमाने के लिये सेना का शहर में प्रदर्शन किया। इसके सिवा चार्नक को शिक्षा देने के लिये लोगों को सूचना दी कि, अंग्रेज वणिकों के साथ न तो कोई लेन-देन करे और न उन्हें कोई किसी भी प्रकार का माल बेचे।

चार्नक के पास उस समय सिर्फ चार सौ सिपाही थे। इंगलैण्ड से सेना के सहित जिन जहाजों के चलने की उसे खबर थी, वे अभी पहुँचे नहीं थे। मुगल सरकार के इस आतङ्क से चार्नक एक बार घबड़ा गया और बादशाह शाहजहां के समय पोर्तगीजों की निर्वासन सम्बन्धी घटना उसके नेत्रों के सामने नाचने लगी। यद्यपि डाइरेक्टरों की आज्ञा थी कि, हुगली छोड़ कर कम्पनी के लोग चट्टग्राम चले जांय। परन्तु दूरदर्शी चार्नक इस आज्ञा के अनुसार कार्य करना कम्पनी के लिये हितकर नहीं समझता था। उसकी यह निश्चित धारणा थी कि, जिस वाणिज्य-व्यापार के उद्देश्य से कम्पनी हिन्दुस्थान में आई है और बंगाल में अपना व्यापार विस्तार करना चाहती है, वह उद्देश्य हुगली में अथवा उसके आस-पास रहने से ही सिद्ध हो सकता है। वह समझता था कि, चट्टग्राम व्यापार का स्थान नहीं है। वहाँ जाने से कम्पनी का प्रधान उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। यही कारण था कि, डाइरेक्टरों के हुक्म की पर्वाह न कर

आदर्श चरित्र, दानवीर और कुशल व्यापारी



स्वर्गीय शिवनारायणजी नेमाणी (बम्बई)

हुगली में रह कर, मुगलों से छेड़छाड़ कर, वह सन्मानयुक्त सन्धि का प्रयास करने लगा। फिर उसने यह भी तो समझ रखा था कि, भय केवल नवाब शाइस्ता खां का है, क्योंकि वह एक बड़ा अनुभवी शासक है। इतने पर भी वह यह समझता था कि, नवाब इतना वृद्ध हो गया है कि, वह मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ कयामत की घड़ियां गिन रहा है। इसलिये वह विशेष ध्यान न दे सकेगा और सन्धि हो जायगी। पर उसकी छेड़छाड़ के पहले ही नवाब को सचेत होते देखा तो, वह घबड़ा गया। फिर भी वह एक बड़ा अजीब आदमी था। ऐसी कठिन परिस्थिति में भी धैर्य से कार्य करने लगा।

एक तरफ तो यह चेष्टा करने लगा कि, यदि हुगली छोड़ कर भागना ही पड़े तो ऐसा कौन सा स्थान है कि, जहां पहुँच कर आत्मरक्षा की जाय और दूसरी ओर नवाब शाइस्ता खाँ को अपनी सफ़ाई देने का उद्योग शुरू कर दिया। भैरामल नामक एक व्यक्ति ढाका में नवाब के दरबार में रहता था। चतुर चार्नक ने धन देकर पहले से ही उसे अपने अनुकूल बना रक्खा था। भैरामल नवाब शाइस्ता खाँ का बहुत मुंहलगा था। चार्नक ने उसके द्वारा नवाब के साथ लिखा-पढ़ी की और अपनी बहुत अच्छी सफाई दी। परन्तु एक दिन अक्स्मात आग भड़क उठी। चार्नक के तीन सिपाही शहर में कुछ चीज़ लाने गये, इसी पर झगड़ा मच गया। उस समय अंग्रेजों के विरुद्ध ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था कि, जिससे चार्नक को हुगली छोड़ कर जाने का ही निश्चय करना पड़ा और रातों-रात नौकाओं में अपना माल-असबाब लाद कर तथा हुगली में आग लगा कर अपने कर्मचारियों के साथ भाग निकला और हुगली से पूर्व सत्ताईस मील पर 'सूतालूटी' घाट पर, जो इस समय 'कलकत्ते' के नाम से प्रसिद्ध है, आकर विश्राम लिया।

सन् १६८६ के अक्टोवर मास में चार्नक ने हुगली से भाग कर सत्ताईस मील पूर्व की ओर सूतालूटी घाट पर अपने जहाज और नौकाओं को गंगा के किनारे गाछों से

सूतालूटी घाट—

बांध कर खुली जगह में डेरा लगा दिया। घाट पर रहने का कोई आश्रय न होने से कुछ लोग जहाज और नौकाओं में विश्राम करने लगे और कुछ व्यक्तियों ने जमीन का सहारा लिया। चार्नक की अवस्था उस समय बड़ी संकटापन्न थी। उसे यह चिन्ता अधीर कर रही थी कि, यदि हुगली से मुगल सेना पीछा करे और ढाके से भी अतिरिक्त सेना आ धमके तो क्या होगा। उस अवस्था में आत्मरक्षा करना भी कठिन हो जायगा। पर चार्नक ने फिर भी धैर्य न छोड़ा। उसने विचारा कि, एक वार तो आत्मरक्षा के लिए यह घाट ही उपयुक्त स्थान है। सूतालूटी घाट उस समय दक्षिण, उत्तर और पूर्व की ओर से घनघोर जंगल से घिरा हुआ था। स्थान-स्थान पर खन्दक पड़े हुए थे। पश्चिम की ओर भागीरथी गंगा इस प्रकार बांक लिए बहती थी कि, जिससे जहाज और नौकाओं के ठहरने में सुगमता थी। यदि जल या स्थल मार्ग से मुगल सेना का आक्रमण भी हो तो जहाज तथा नौकाओं में बैठ कर अंग्रेजों के भाग निकलने में विशेष कठिनाई नहीं थी।

यद्यपि उस समय सूतालूटी घाट की आवहवा इतनी गन्दी थी कि, स्थायी रूप से वहां पर कोई नहीं रह सकता था। मगर यह सब होते हुए भी चार्नक को आत्मरक्षा के लिए वहां रहना ही पड़ा।

सूतालूटी घाट से प्रायः दो मील दक्षिण की ओर गोविन्दपुर बसा हुआ था* जिस समय सप्तग्राम का ह्रास हुआ उस समय वहां से उठ कर

* यह ग्राम वहां पर बसा हुआ था, जहां पर आजकल फोर्ट विलियम किला है। जब बंगाल में कम्पनी का पैर जम गया और सत्ता बढ़ने लगी तब अंग्रेजों ने गोविन्दपुर जनता से खाली करा लिया और किला बनाया। अंग्रेजों ने इस स्थान को मोर्चाबन्दी की दृष्टि से चुना था। कहते हैं सेठ और

सेठ और बैसाखों ने इस गांव को बसाया था, और यहीं वे अपना वाणिज्य-व्यापार करते थे। वे तांती और जुलाहों तथा किसानों को कर्ज देते थे। उन्होंने घाट पर सप्ताह में एक दिन हाट लगवानी शुरू की, जिसमें सूते और लूटी की खरीद बिक्री होती थी। जहाँ पर हाट लगती थी, वहाँ पर सेठ, बैसाखों ने कच्ची खोला की दुकानें बना दी थीं, जिससे वह खोला हाट बोली जाती थी। बाद में यह हाट खोला बोली जाने लगी। पर आज उस मुहल्ले का नाम हठ खोला हो गया है। सूते और लूटी की हाट लगाने के कारण घाट का नाम सूतालूटी पड़ गया था। तत्पश्चात् उसका नाम कलकत्ता पड़ा।

चार्नक का उद्योग—

चार्नक बड़ी ही अद्भुत प्रकृति का अनुभवी, चालाक और अथक परिश्रमी तथा साहसी व्यक्ति था। हुगली में उपद्रव मचा कर तथा वहाँ से भाग कर भी निरुत्साह होना तो दूर रहा, वह उत्साह और उद्योग की मूर्ति बन गया था।

सूतालूटी घाट पर डेरा डाल कर आत्मरक्षा के उपाय में तो चार्नक लगा ही हुआ था। इसके सिवा नवाब शाइस्ता खां को पत्र लिखना फिर शुरू किया। भैरामल को चार्नक ने अपने अनुकूल बना ही रखा था। चार्नक ने नवाब को लिखा कि, हुगली काण्ड में मुगल कर्मचारियों की ज्यादतियाँ हुई हैं। कम्पनी के अंग्रेज सर्वथा निर्दोष हैं। इस प्रकार की सफाई की बातें उसने भैरामल को भी लिखीं। भैरामल ने नवाब को दिखाया कि, कम्पनी के अंग्रेजों से वैमनस्य करने से सरकार को आर्थिक हानि होने के सिवा कोई लाभ न होगा। अंग्रेजों की हस्ती ही क्या है, जो मुगलों का अनिष्ट कर सकें। वह एक व्यापारी समुदाय है और व्यापार से धन कमाना उसका उद्देश्य है। इस सम्बन्ध में भैरामल ने नवाब को इस ढंग से समझाया कि, शक्तिहीन वृद्ध नवाब पर उसकी

बैसाख जाति के जो व्यापारी गोविन्दपुर में बसते थे, उन्हें सूतालूटी अर्थात् कलकत्ते में लाकर बसाया गया था।

बातों का असर पड़ गया। नवाब शाइस्ता खां ने आज्ञा दी कि, अंग्रेज कोई उपद्रव खड़ा न कर सकें, इसलिए उनके साथ सन्धि कर ली जाय। इस कार्य के लिए भैरामल को ही नवाब ने चार्नक के पास भेजा।

भैरामल ढाका से चलकर जब चार्नक के पास सूतालूटी में आया तो चार्नक ने समझा कि, नवाब की वृद्ध अवस्था के कारण जिस कमजोरी का अन्दाज किया था, वही हुआ। नवाब ने भैरामल को सन्धि के लिए भेजा है, इससे प्रकट होता है कि, नवाब ढीला पड़ गया है और अपने अनुकूल सन्धि होने में अब देर नहीं है। चार्नक ने मौका पाकर सन्धि के लिए अपनी ओर से इस प्रकार चार शर्तें पेश कीः—

१—नवाब अपने राज्य में एक ऐसा स्थान कम्पनी को किला बनाने के लिए दे, जो कम्पनी अपनी आत्मरक्षा और सुगमता के लिए अनुकूल समझे।

२—कम्पनी को अपने व्यापार में किसी प्रकार का कर देना नहीं होगा और कम्पनी यदि चाहेगी तो अपनी टकसाल बनाकर रुपये तय्यार कर सकेगी।

३—मालदा में नवाब के कर्मचारियों द्वारा कम्पनी की कोठी लूटी गई है, वह धन सहित लौटा दी जावे और कोठी की मरम्मत भी करा दी जाय।

४—कम्पनी का नवाब की प्रजापर जो पावना है, उसे वह वसूल कर सकेगी।

भैरामल नवाब शाइस्ता खां का जितना विश्वास-पात्र था, उतना ही चार्नक के अनुकूल बना हुआ था। उसने चार्नक की मांग के अनुसार सन्धिपत्र तैयार किया और ता० ११ जनवरी सन् १६८७ को यह सन्धि-पत्र स्वीकृति के लिए नवाब शाइस्ता खां के पास ढाका भेजा गया। चार्नक के इच्छानुसार यह भी लिखा गया कि, नवाब के दस्तख़त के साथ उसपर बादशाह औरंगजेब के भी दस्तख़त होने चाहिए।

पाठक देखें कि, मृत्यु मुख में पड़े हुए चार्नक की नसों में कितना साहस था। मानों हुगली के उपद्रव में चार्नक ही की जीत हुई थी और नवाब को हार माननी पड़ी थी। यही कारण था कि चार्नक ने विजेता के रूप में ये शर्तें भेजी थीं। कहना न होगा कि, अंग्रेजों में उस समय आत्मगौरव और साहस अत्यधिक था। वे अपनी सफलता में विश्वास करते थे। यही कारण था, कि चार्नक ने ऐसी शर्तें पेश करने का साहस किया।

आजकल हम पद पद पर यह अनुभव करते हैं कि, हमारे भारतवासी भाई चाहे कोई पढ़ा लिखा हो या साधारण, उनमें आत्मविश्वास बहुत ही कम हो गया है। बात २ में वे आत्मग्लानि के कीचड़ में फंस जाते हैं और यह कहते देखे जाते हैं कि, अमुक कार्य में उद्योग करना व्यर्थ है, क्योंकि इसमें सफलता मिलनी कठिन है। जिसका परिणाम यह होता जा रहा है कि, इस देशका कोई वास्तविक कार्य सम्पन्न होने नहीं पाता। क्या हम आशा करें कि, बुरी से बुरी दशा में पड़े हुए चार्नक की इन शर्तों और साहस को देख हमारे भारतवासी भाई कुछ शिक्षा-ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे ?

सन्धि-पत्र का मसौदा जब नवाब के पास पहुंचा तो वह उन शर्तों को पढ़कर चार्नक की कूटनीति पर दांत किट-किटाने लगा। परन्तु करता तो क्या करता। खून का जोश नहीं रहा था और फिर अंग्रेजों का आतङ्क-भी उसके दिल में समा गया था। अगर ऐसा न होता तो कोई बड़ी बात नहीं थी कि, अंग्रेजों को उसी समय नसीहत दी जाती। पर ऐसा न कर नवाब ने भैरामल को लिख दिया कि, सन्धि-पत्र बादशाह के पास भेज दिया गया है।

नवाब का जवाब पाकर भैरामल ढाका लौट आया और चार्नक बाद-शाह की स्वीकृति की राह देखने लगा। मगर फ़रवरी के लगते ही नवाब ने उस सन्धि-पत्र को बिना दस्तखत किये ही चार्नक के पास लौटा दिया

और अपने कर्मचारी तथा सेनापतियों को आज्ञा दी कि, जिस प्रकार भी हो, अंग्रेजों का बंगाल से उच्छेदन कर दो।

सन्धि-पत्र बिना दस्तखत किये वापस आने पर चानक ने समझ लिया कि, अब खैरियत नहीं है। अब सिर-धड़ की वाजी लगे बिना नहीं रहेगी। चार्नक ने विचार किया कि, यदि जलमार्ग से आक्रमण हो तो सूतालूटी आत्मरक्षा के लिए उपयुक्त स्थान है, मगर मुगलों की बड़ी सेना जब स्थल मार्ग से सूतालूटी को आ घेरेगी तब रक्षा करना कठिन है। कारण यहां मोर्चाबन्दी के लिए कोई दुर्ग अथवा अन्य प्रबन्ध नहीं है। इस प्रकार विचार कर चार्नक ने निश्चय किया कि, सूतालूटी से दक्षिण में मुगलों का थाना दुर्ग व हिजली दुर्ग है, उनपर दखल कर लिया जाय तो आत्म-रक्षा हो सकती है। साहसी चार्नक ने पहले तो थाना दुर्ग पर धावा बोला और उसे सहज़ में दखल कर लिया। फिर कप्तान निकोलस को भेज कर हिजली दुर्ग भी अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार चार्नक ने प्रकट रूप में मुगलों के साथ शत्रुता ठनने का पुनः साहस किया।

नवाब शाइस्ता खां ने अब्दुल समद नामक एक सेनापति के मातहत बारह हज़ार सेना भेज कर आज्ञा दी कि, जिस तरह हो उस तरह अंग्रेजों को विताड़ित किया जाय। अब्दुल समद ने हिजली को तीन ओर से घेर कर गोले बर्साना शुरू कर दिया। एक ओर मुगलों का आक्रमण होने लगा, और दूसरी ओर दैवी घटना भी घटी। उस समय हिजली की आबहवा बड़ी दूषित थी। चार्नक की सेना में आमरक्त और हैजे की बीमारी फैल गई और एक ही रात में उसके प्रायः १८० आदमी मृत्यु-मुख में पड़ गये। एक ओर गोलों की मार और दूसरी ओर दैवी घटना से एक सौ अस्सी आदमियों की मृत्यु! दोनों कितनी भयंकर बातें थीं? मगर चार्नक साधारण मिट्टी का पुतला नहीं था। इस प्रकार की महान् विपत्ति आने पर भी वह विचलित नहीं हुआ। घबड़ाना और आत्म-

समर्पण करना तो दूर रहा वह संजीदगी के साथ अपना बचाव करता रहा। एक ओर वह मुगलों का आक्रमण रोकने में लगा हुआ था और दूसरी ओर समुद्र अर्थात् गंगा के मार्ग की रक्षा करता था तथा तीसरी ओर मुगल सेनापति के साथ लिखापढ़ी भी करता जाता था।

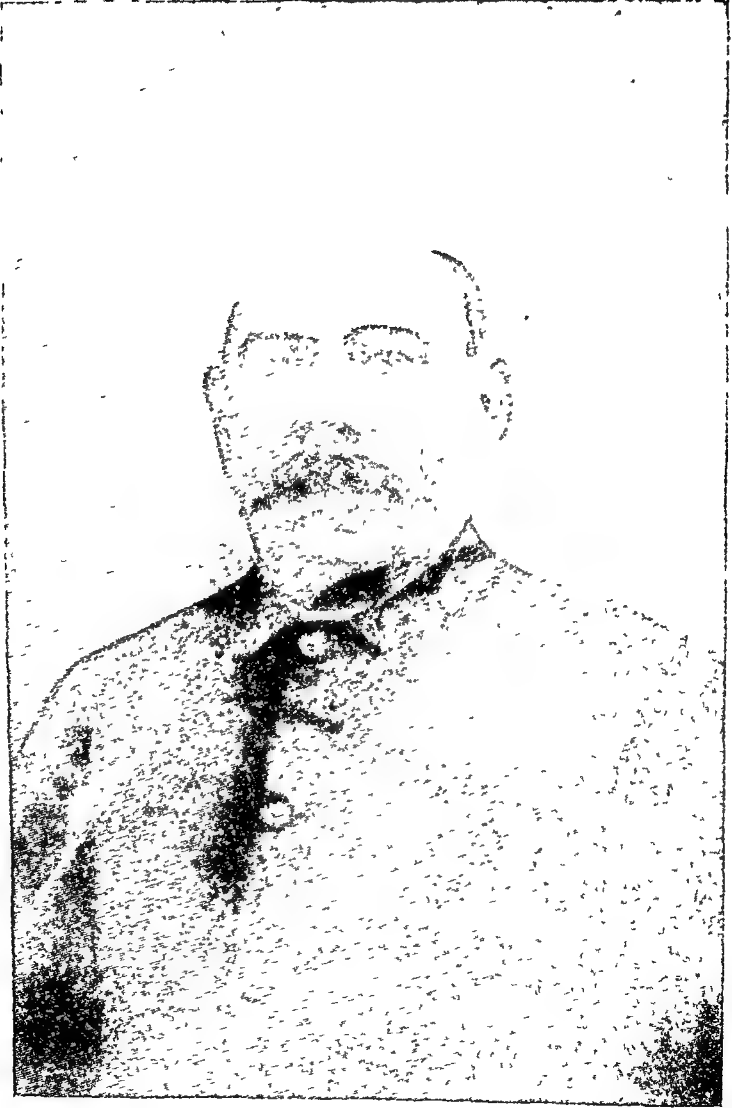
ऐसे कठिन समय में देखते-देखते कप्तान डनहम की आधीनता में एक जहाज विलायत से हिजली में आ पहुंचा। उस जहाज में केवल सत्तर सैनिक, कुछ तोपें और थोड़ा-सा लड़ाई का सामान था। जब जहाज हिजली के किनारे आ लगा, तब चार्नक ने बड़े कौशल से काम लिया। जो सत्तर सैनिक जहाज में आये थे उन्हें बड़ी झांक-झमक से, प्रत्येक सैनिक के हाथ में बड़े-बड़े झंडे देकर जोरशोर से उतारा और गुप्त रीति से दो-दो, चार-चार सैनिकों को पुनः जहाज में भेजकर तीन चार बार उन्हें उतारने का कौशल किया। इसका परिणाम यह हुआ कि, मुगल सेना दूर से यह दृश्य देखकर सहम गई और समझने लगी कि, कम्पनी के जहाज आ गए हैं। न मालूम कितनी सेना आ रही है। एक ही जहाज में जब इतनी सेना उतरी है, तो न मालूम दूसरे जहाजों में कितनी सेना आवेगी। इससे मुगल सेना विचलित हो उठी।

चार्नक ने इधर तो यह कौशल दिखाया और उधर एक पत्र लिखकर मुगल सेनापति के पास संधि के लिये दूत भेजा, जिसमें लिखा कि, "वह प्रायः तीस वर्षों से हिन्दुस्थान में रहता है। उसका भारतवासियों से कितना अधिक सम्बन्ध है। वह हृदय से नहीं चाहता कि, मुगलों के साथ कोई लड़ाई खड़ी करे। पर लाचार होकर सब कुछ करना पड़ रहा है। मुगल कर्मचारियों द्वारा कम्पनी के आदमियों पर जो अत्याचार और ज्याद-तियाँ हुई हैं, उसे कम्पनी के डाइरेक्टर सहन नहीं कर सके। यही कारण है कि, उन्होंने सेना के साथ जहाज भेजना शुरू कर दिया है। उनमें से एक जहाज आ भी गया है, और जहाज जो मार्ग में हैं वे भी अत्यन्त शीघ्र पहुंचनेवाले हैं। अब यदि आपको लड़ाई पसन्द हो तो लड़ाई करें और

यदि कम्पनी पर अत्याचार और ज्यादतियां न कर उसे शान्ति के साथ व्यापार करने देना पसन्द हो तो जो शर्तें यहां से नवाव के पास भेजी हैं, उन्हें स्वीकार कर लें। वह शान्ति का इच्छुक है। यदि आपकी तरफ़ से शान्ति का पैगाम मिलेगा तो वह कम्पनी की इच्छा के विरुद्ध भी आपके साथ मेल-जोल वढ़ाने की चेष्टा करेगा। इसपर भी यदि मुगलों की इच्छा लड़ाई की होगी, तो मुझे लड़ने के लिये मजवूर होना पड़ेगा"।

इस प्रकार का पत्र जव मुगल सेनापति अव्दुल समद के पास पहुंचा, तो उसको विश्वास हो गया कि, कम्पनी के अंग्रेज लड़ने पर आमादा हो गये हैं। इन सव वातों को सोच समझ कर अव्दुल समद ने चार्नक के पत्र का विरोध नहीं किया और उस अवस्था में शर्तें स्वीकार करना ही अच्छा समझा। 'ट्रेंच फिल्ड' चार्नक की ओर से अव्दुल समद के कैम्प में पहुंचा, और संधि-पत्र पर हस्ताक्षर हो गये। अव्दुल समद ने किसी प्रकार चार्नक से हिजली और थाना दुर्ग वापस लेकर, कुछ समय के लिए इस विचार से सन्धि की कि, पीछे तैय्यारी करके दूसरी कारंवाई की जायगी। यह सन्धि क्षणिक रूप में हुई थी। मुख्य मुख्य शर्तें जो चार्नक ने पेश की थी, उन पर यह तय हुआ कि, वे नवाव के पास भेजी जावेंगी और उनकी मंजूरी तथा दस्तखत हो जाने पर उन पर अमल किया जावेगा।

चार्नक का हुगली से भागकर सूतालूटी में आना और फिर हिज़ली में आकर छेड़छाड़ करना तथा वहां से पुनः सूतालूटी में लौट आने के समाचार जव इंगलैण्ड पहुंचे तो चार्नक के कार्यों पर कम्पनी के डाइरेक्टर वहुत खिन्न हुए। जिन डाइरेक्टरों ने अवतक चार्नक को अच्छा कर्मचारी सम्वोधन किया था और सवसे अधिक अनुभवी जान कर मुगल सत्ता से सामना करने के अधिकार प्रदान किये थे, उन्होंने उसके इन कार्यों को सुन कर उस पर रोप प्रकट किया। उन्होंने एक पत्र में लिखा



स्वर्गीय रामनारायणजी रुइया (बम्बई)

कि, "तुमने इस समय जो कुछ किया है, उससे तुम्हारी असहिष्णुता और दुर्बलता प्रमाणित होती है। उससे तुम दोषी प्रमाणित होते हो और इसके जिम्मेवार भी तुम्हीं हो।"

डाइरेक्टरों का यह पत्र जब चार्नक को मिला तो उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहा। उसे यह आशा थी कि, हिजली की घटना का समाचार पाकर डाइरेक्टर मुझ पर प्रसन्न होंगे। पर उसे घृणायुक्त पत्र मिलने पर उसका दिल टूटने लगा। पर दूसरे ही क्षण उसने फिर निश्चय किया कि, किसी समय तो डाइरेक्टरों को अपनी गलती का पता लगेगा। इसलिए उसे अपने लक्ष्य पर डटा रहना चाहिए। अतः वह सूतालूटी में रह कर फिर नवाब शाइस्ता खां से लिखापढ़ी करने लगा। कहना न होगा कि, वह इतना आशावादी और असीम साहसी था कि, इस परिस्थिति में भी उसे यह पूरा भरोसा था कि, मुगलों से सन्मानयुक्त सन्धि अवश्य हो जायगी। एक ओर नवाब से पत्र व्यवहार जारी रहा और दूसरी ओर सूतालूटी में वाणिज्य-व्यापार बढ़ाने की भी चेष्टा करने लगा। पर देखते-देखते फिर चक्र घूम गया। चार्नक के तीस-बत्तीस वर्ष के अनुभव तथा उद्योगों पर एकबारगी ही पानी फिर गया।

कप्तान हिथ का आना और चट्टग्राम के लिए प्रस्थान—

जिस समय दूसरी बार सूतालूटी में डेरा डाल कर चार्नक फिर से नवाब के साथ लिखापढ़ी कर रहा था, और वाणिज्य-व्यापार की ओर ध्यान लगा रहा था, उसी समय एकाएक कप्तान हिथ की आधीनता में एक जहाज बिलायत से सूतालूटी घाट पर आ लगा। कप्तान हिथ ने चार्नक को एक पत्र दिया, जो इस प्रकार था:—

"तुम्हारे आधीन जितने अंग्रेज रुग्णावस्था में हों तथा स्वस्थ हों, उन्हें कप्तान हिथ के आधीन जहाज में बैठा कर अपने दलबल सहित सूतालूटी छोड़ कर सीधे चट्टग्राम चले जावो। चट्टग्राम दखल करना ही हमें अभीष्ट है।"

यह पत्र पढ़ कर चार्नक की वड़ी विचित्र अवस्था हुई। चार्नक ने कप्तान हिथ को वहां की तत्कालीन परिस्थिति से परिचित कराया और यह कहा कि, कम्पनी के लिये चट्टग्राम न जाकर यहीं रहना हितकर है। परन्तु हिथ ने चार्नक की किसी वात पर भी ध्यान नहीं दिया और डाइरेक्टरों के आदेशानुसार चार्नक को सूतालूटी छोड़ कर चट्टग्राम चलने के लिये वाध्य किया। कहना पड़ेगा कि, जिस चार्नक ने मुगलों जैसी असीम शक्तिशाली राजसत्ता के साथ मनमाने ढङ्ग से विवाद करने में स्वतन्त्रता से कार्य किया था उसी चार्नक को अव कप्तान हिथ के हाथ की कठपुतली वन कर चट्टग्राम जाना पड़ा। कम्पनी की सेना और कुछ सामान लेकर चार्नक कप्तान हिथ की आधीनता में चट्टग्राम की ओर रवाना हुआ। मार्ग में हिथ ने वालेश्वर को लूट लिया। इससे कुछ अंग्रेज सैनिक मुगलों द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये। मगर हिथ इसकी कुछ पर्वाह न कर आगे वढ़ने लगा। हिथ यह भी नहीं जानता था कि, चट्ट-ग्राम कहां पर है और वहां पर मुगलों की कैसी सत्ता है। वह आंख वन्द कर चट्टग्राम पहुँच गया।

चट्टग्राम वन्दर होने के कारण अच्छी स्थिति में था। एक फौज़दार के आधीन वहां पर मुगलों की वारह हजार पलटन रहती थी। कप्तान हिथ जव चट्टग्राम पहुँचा तो वहां पर मुगलों की स्थिति देख चकरा गया। उसने देखा कि, चट्टग्राम दखल करना जैसा सहज कार्य समझा जाता था—वैसा नहीं है। अपने जहाजों का लंगर डाल कर फौज़दार के साथ कुछ लिखा-पढ़ी की, परन्तु कोई फल न हुआ। उसके वाद आराकान के राजा से भी पत्र-व्यवहार किया, किन्तु वहां पर भी दाल गलती न देख कर निराश होना पड़ा। इतने में कम्पनी के आदमियों में सांघातिक वीमारी फैल गई। कई आदमी मर गये। हिथ घवड़ा गया। तव कोई उपाय न देख कर वह मद्रास की ओर चल पड़ा। जिस समय कप्तान हिथ और चार्नक मद्रास पहुंचे उस समय उनकी वड़ी विचित्र अवस्था

हो गई थी। मद्रास की कोठी के अध्यक्ष ने भी इस प्रकार वंगाल से कम्पनी का पैर उखाड़ कर चले आने का विरोध किया। परन्तु अव तो एक बार कम्पनी का डेरा बंगाल से उठ चुका था। ये लोग मद्रास में पन्द्रह महीने रहे और फिर से बंगाल में पैर जमाने का विचार और उद्योग करने लगे। डाइरेक्टरों की भी आंखें खुलीं। उन्होंने स्थिर किया कि, सूरत की कोठी के अध्यक्ष 'सर जान चाइल्ड' को यह भार सौंपा जाय। वह कम्पनी का बड़ा सुदक्ष व्यक्ति था। बादशाह औरंगजेब पर भी उसका बड़ा प्रभाव था। कारण, मराठों की लड़ाई में उसकी बुद्धिमानी और जहाजी सेवा का सिक्का बादशाह के हृदय पर बैठ चुका था।

सर चाइल्ड का औरंगजेब से पत्र-व्यवहार—

सर जान चाइल्ड बुद्धिमान तो था ही, बादशाह की प्रकृति को भी खूब जानता था तथा मराठों की लड़ाई में अपनी जहाजी शक्ति और कम्पनी की सेवा का बादशाह के हृदय पर काफ़ी प्रभाव जमा चुका था। उसने पहले तो अपनी सेवाओं का परिचय कराते हुए बंगाल के काण्ड सम्बन्धी बातों को ऐसे ढंग से पत्र में लिखा जिससे बादशाह यह समझ सके कि, बंगाल में जो कुछ काण्ड हुआ है उसमें कम्पनी के अंग्रेज निर्दोष हैं और सारी ज्यादतियां मुगल कर्मचारियों की हैं। उसने यह भी दिखाया कि, बंगाल में बस कर कम्पनी अपना वाणिज्य-व्यापार करती थी, उससे न केवल कम्पनी का ही भरण-पोषण होता था; किन्तु दरबार के ख़जाने में भी यथेष्ट आमदनी होती थी। परन्तु कर्मचारियों की ज्यादतियों से कम्पनी को लाचार होकर वंगाल छोड़ देना पड़ा। उसने इस ढंग से बादशाह का मन खींचना चाहा। पर सर चाइल्ड के पत्रों पर न तो कुछ ध्यान ही दिया गया और न कोई उत्तर ही भेजा गया। जब उसने यह देखा कि, बादशाह के कानों पर जूं तक नहीं रेंगती, तव उसने फिर जो पत्र लिखा उसमें यह धमकी दी कि, यदि बादशाह हमारी प्रार्थना पर ध्यान न देंगे तो हम अपना व्यापार सूरत से भी उठा लेंगे और मक्का

जानेवाले यात्रियों के जहाज समुद्र में लूट लेंगे। जब यह दूसरा पत्र बादशाह के पास पहुँचा तब अपनी भीतरी कमजोरियों का अनुभव कर उसने अंग्रेजों को माफ कर देना ही निश्चित किया और गम्भीर विचार करने के पश्चात् २७ फरवरी सन् १६६० को एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जो इस प्रकार थाः—

"अंग्रेजों ने हमारे राज्य में अबतक जितने गर्हित कार्य किये हैं, जिनके कारण यद्यपि वे अक्षम्य हैं, तथापि उनकी विनीत प्रार्थना पर ध्यान देते हुए हम सब अपराध माफ़ करते हैं। अंग्रेजों द्वारा मुगल साम्राज्याधिकृत जितने द्रव्य लूटे गये हैं, उसकी पूर्ति के लिए सरकारी खजाने में उन्हें डेढ़ लाख रुपये दण्ड स्वरूप देने होंगे। यह जुर्माना चुका देने पर वे पूर्ववत् अपना वाणिज्य-व्यापार कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त हम अंग्रेजों को यह भी हुक्म देते हैं कि, सूरत की कोठी का अध्यक्ष अब इस देश में न रहे। यदि वह अब यहां रहने की चेष्टा करेगा तो मुगल दरबार उसे अपने राज्य की सीमा से बाहर कर देंगे।"

इस फ़र्मान की एक नकल बंगाल के तत्कालीन सूबेदार नवाब इब्राहिम खाँ के पास भी भेजी गई। बादशाह का फ़र्मान जब सूरत की कोठी में पहुँचा,उसके पहले ही चाइल्ड का बम्बई में देहान्त हो चुका था।

बंगाल में प्रत्यागमन—

नवाब इब्राहिम एक शान्तिप्रिय शासक था। उसका लक्ष्य वाणिज्य-व्यापार की उन्नति कर सरकारी आय को बढ़ाना ही था। उसने जब बंगाल का शासन अपने हाथ में लिया, तब ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेज बंगाल छोड़ कर मद्रास चले गये थे। उनके चले जाने से व्यापार में सरकारी आय कम हो गयी थी। पर इसी बीच में उसे बादशाह का फ़र्मान मिला। फ़र्मान से उसे ज्ञात हुआ कि, अंग्रेजों के अबतक के सारे अपराध बादशाह ने माफ़ कर दिये हैं।

नवाब इब्राहिम ने चार्नक को मद्रास से लौट आने के लिए लिखा। मगर चार्नक बड़ा चालाक आदमी था। वह जानता था कि, नवाब इब्रा-

हिम शान्तिप्रिय शासक है और उसके शासन से कम्पनी लाभ उठा सकती है। इसके अतिरिक्त चार्नक यह भी जानता था कि, नवाब इब्राहिम जितना अच्छा है, उतना ही उसके अधीनस्थ सलाहकारों का दल कम्पनी का विरोधी है। चार्नक ने नवाब इब्राहिम की सरलता से लाभ उठाने के लिए इस ढंग का उत्तर दिया:—

"मुझे आपके बर्ताव में पूर्ण विश्वास है। बादशाह ने कम्पनी के लिए जो हुक्म दिया है, वह समस्त भारतवर्ष के लिए है। जहां-जहां अंग्रेजों की कोठियां हैं, वहां-वहाँ यह हुक्म समान रूप से लागू होगा। आप यदि बंगाल की कोठियों के लिए पहले की तरह तीन हजार रुपये वार्षिक कर लेकर हमारे सभी स्वत्व पूर्ववत् बनाये रख सकें और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा हम पर आये दिन होनेवाले अत्याचारों से रक्षा करने के लिए बचन-बद्ध हों, तो हम बंगाल में पुनः आकर अपना व्यापार शुरू कर सकते हैं"। *

नवाब इब्राहिम ने चार्नक को जवाब में अभय दे दिया। अपनी सचाई और सहृदयता को प्रकट करने के लिए उसने उन हुगली, हिजली, आदि काण्डों में गिरफ्तार सभी अंग्रेजों को छोड़ दिया। नवाब ने चार्नक को यह भी लिखा कि, उसकी दरख्वास्त को बादशाह के पास भेज दिया गया है।

यह जवाब पाकर चार्नक अपने दल-बल सहित पुनः बंगाल में लौट आने के लिए मद्रास से चल पड़ा। † जिस जहाज में चार्नक स्वयं सवार हुआ, उसमें तीस आदमी उसके शरीररक्षक थे। श्रावण मास था, वर्षा का महीना होने के कारण बड़े जोरों से तूफान चल रहा था। जिस समय जहाजों ने गंगा में प्रवेश किया, उस समय नवाब इब्राहिम के हुक्म से घाटों पर मुगल कर्मचारियों ने चार्नक के साथ न केवल अच्छा बर्ताव ही

* देखो कलकत्ता से कालेर आर ये कालेर पृष्ठ २७६

† मालूम नहीं कप्तान हिथ का क्या हुआ, कुछ भी पता नहीं चलता।

किया; किन्तु मटियाबुर्ज और थाना दुर्ग आदि से मुगलों की ओर से तोपों द्वारा उसका स्वागत किया गया।

पाठक विचार सकते हैं कि, वातावरण किस प्रकार एकदम बदल गया था और किस प्रकार चार्नक का दूरदर्शिता-पूर्ण विचार सफल हुआ।

सूतालूटी की अवस्था और वहाँ पर डेरा डालने का कारण—

सूतालूटी घाट उस समय कोई व्यवस्थित ग्राम के रूप में नहीं था। इधर-उधर झाड़ियों में दो-दो, चार-चार तांतियों के घर बसे हुए थे। गंगा के मार्ग से नौकाओं द्वारा लोगों का आना-जाना घाट पर होता था। वे अपनी नौकाएँ सूतालूटी घाट पर लगाते थे और हफ्ते में जो हाट वहां पर लगती थी, उसमें अपनी खरीद-बिक्री कर गुजर करते थे। सूतालूटी घाट से प्रायः दो मील दक्षिण की ओर गविन्दपुर नामक एक ग्राम बसा हुआ था।*

---

* कवि कंकण के चंडी ग्रन्थ में लिखा गया है कि, सप्तग्राम का ह्रास होने पर यादवेन्द्र, वैसाख और सेठ वंशीय मुकन्दराय ने अपने इष्टदेव श्री गोविन्दजी के नाम पर ग्राम बसाया था और सूतालूटी घाट पर एक हफ्तेवार हाट लगा कर वाणिज्य-व्यापार करते थे। कई एक लेखकों ने गोविन्दपुर का आदि नाम 'धनस्थ ग्राम' भी लिखा है, जिसका मतलब यह था कि, धनिकों की वस्ती। पर उन्होंने अपने इष्टदेव के नामानुसार गोविन्दपुर नाम रखा था। गोविन्दपुर में बस कर वे लोग तांती, जुलाहों को कर्ज के रुपये (दादन) दिया करते थे और उनसे सूत तथा पूनी लेते थे। उस समय बंगाल में घर घर चर्खा चलने की आम रिवाज़ थी। स्त्रियाँ चर्खा चला कर सूत तैयार करती थीं। पेशगी रुपये मिलने के कारण इधर-उधर से अनेक तांती और जुलाहे आकर इस ग्राम में बसने लगे थे, जिससे उस समय गोविन्दपुर एक अच्छे ग्राम की शकल में हो गया था। इसके अतिरिक्त इधर उधर कई एक पाड़े भी बस गये थे, जो कि दस-दस, वीस-वीस घरों में आबाद थे। उस हाट में सूत और लूटी की खरीद-बिक्री होने के कारण उसका नाम सूतालूटी घाट पड़ गया था। बाद में जब अंग्रेजों की राजसत्ता

बंगाल और बिहार में प्रायः पैंतीस वर्षों तक रहने के कारण कौन व्यापार कहां पर कैसे चलता है और किस स्थान पर कैसा व्यापार करने से लाभ अथवा हानि हो सकती है, इसका चार्नक को अच्छा अनुभव हो गया था। चार्नक व्यापारपटु और अनुभवी होने के साथ-साथ दूरदर्शी तथा परिणामदर्शी भी था। इससे उसका यह एक दृढ़ निश्चय हो गया था कि, कम्पनी जिस लक्ष्य से हिन्दुस्थान में आई है, उसकी पूर्त्ति बंगाल में हुगली के आसपास व्यापार करने और रहने पर ही हो सकती है। इसलिए उसने हुगली को ही सबसे अधिक पसन्द किया था और वहीं पर कम्पनी का पहला जमाव हुआ था। पर जब चार्नक ने देखा कि, हुगली में मुगल फौजदार के रहने के कारण उसका आतङ्क हर समय बना रहता है, तब उसने सूतालूटी को पसन्द किया। उसके इस चुनाव के और भी कई कारण थे। मुगल फौजदार के समीप न रह कर यहां पर स्वतंत्र रहा जा सकता था। फिर किसी समय कोई अनबन हो जाय तो आत्मरक्षा कर सकने तथा भारी आपत्ति के समय जहाजों पर चढ़ कर भाग निकलने की भी पूरी सुविधा थी। इसके सिवाय वाणिज्य-व्यापार भी सुगमता के साथ होने की आशा पर चार्नक ने सूतालूटी को अधिक पसन्द किया था। उसके दृढ़ निश्चय का पता इस बात से भी लगता है कि, डाइरेक्टरों ने जब उसे लिखा कि, हुगली छोड़ कर चट्टग्राम चले जाओ, तब भी उसने हुगली के आसपास ही रहने की चेष्टा की। इसके बाद जब बादशाह औरंगजेब का नया फ़र्मान निकला और नवाब इब्राहिम ने भी बंगाल में आने का आश्वासन दिया, तब भी चार्नक ने किसी दूसरे स्थान को न चुन कर सूतालूटी पर ही डेरा लगाया। इससे मालूम होता है कि, दूरदर्शी चार्नक ने इसी सूतालूटी

जमने लगी, तो उन्होंने गोविन्दपुर ग्राम खाली करा लिया और वहाँ पर 'फोर्ट विलियम' किला बनाया जो आज भी बना हुआ है। गोविन्दपुर ग्राम को खाली कराकर अंग्रेजों ने सेठ और बैसाखों को कलकत्ते के बड़ाबाजार में बसाया।

स्थान को ही कम्पनी के लिए सबसे अच्छा समझा था। सम्भव है व्यापारिक दृष्टि से चार्नक ने यह अनुभव किया हो कि, सेठ तथा वैसाख जाति के व्यापारी जब गोविन्दपुर में रह कर वाणिज्य-व्यापार करते हैं, तथा तांती, जुलाहे और किसानों को ऋण देते हैं एवं सूतालूटी में हाट लगाते हैं तो यही स्थान हमारे लिए भी उपयुक्त है। यहीं पर रह कर वे भी कर्ज देकर अपना व्यापार बढ़ा सकते हैं। इन्हीं सब कारणों से चार्नक ने सूतालूटी में अपना पड़ाव डाला था।

इस प्रकार तीसरी बार सूतालूटी में आने के समय भी वहां की अवस्था बड़ी भयंकर थी। सन् १६९० का अगस्त महीना था और भयानक वर्षा होने के कारण, रहने के लिए कोई स्थान नहीं था। भागीरथी गंगा का वेग उस समय बड़ा भयानक था। साहसी चार्नक ने अनेक वाधाओं की पर्वाह न कर अपने दृढ़ निश्चयानुसार सूतालूटी पर ही डेरा लगाया। रात किसी प्रकार उसने काटी। कुछ व्यक्ति जहाज और नौकाओं में पड़े रहे और कुछ लोगों ने वृक्षों के नीचे रात बिताई। सुबह होते ही चार्नक ने फूसकी झोपड़ियां बंधवानी शुरू की और उन्हीं में लोग रहने लगे। पता लगता है कि, सूतालूटी से प्रायः एक मील दक्षिण की ओर लाल डिग्गी थी, जिसे हम लोग आजकल 'डलहौसी स्क्वायर' कहते हैं। वहां पर एक पक्का कोठा जमींदार सावर्न चौधरियों की ओर से वना हुआ था। वह कोठा किराये पर लिया गया और वहीं पर कम्पनी का दफ्तर खोला गया। ❀

चार्नक ने गोविन्दपुर के सेठ और वैसाखों से लेन-देन और वाणिज्य-

---

❀ पाठक ध्यान में रक्खें कि, लालडिग्गी का अस्तित्व वहुत पुराना है। जो कोठा चार्नक ने किराये पर लिया था, वह वर्तमान जनरल पोस्ट आफिस के स्थान पर था और वाद में उसीने पुराने किले का रूप धारण किया था। उस समय कौन जानता था कि, चार्नक का वही कोठा किले का रूप धारण करता हुआ एक दिन कलकत्ते जैसा विराट् नगर वन कर व्यापार का केन्द्र-स्थान कहलावेगा।

अग्रवाल जातीय फण्ड के प्रधान उद्योगी, 'शिक्षा मण्डल' के संचालक, सुधारप्रिय, कुशल-व्यापारी और दानशूर



श्रीयुक्त आनन्दीलालजी पोद्दार (बम्बई)

व्यापार करना शुरू कर दिया। सेठ और बैसाख लोग तांती और जुलाहों को क़र्ज देकर उनसे सूता और पूनी आदि तैयार कराते थे और चार्नक के हाथ कम्पनी को बेचते थे। चार्नक ने भी तांती, जुलाहों तथा किसानों को कर्ज देना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि, कम्पनी का व्यापार चलने लगा। आसपास के लोग कर्ज के पेशगी रुपए मिलने और व्यापार के अन्य सुभीते देख कर सूतालूटी में आकर बसने लगे और सूतालूटी एक ग्राम के रूप में दीख पड़ने लगा। इस प्रकार इधर तो वाणिज्य-व्यापार चलने लगा और उधर सूतालूटी की आबादी भी बढ़ने लगी। इसके बाद चार्नक ने सूतालूटी, गोविन्दपुर और कालीकाटा खाल की जमीन पाने के लिए कोशिश की कि, जिससे वह किसी प्रकार कम्पनी के अधिकार में आ जाय, पर दैववशात् उसकी वह इच्छा उसके जीवन में पूर्ण न हुई। ईस्वी सन् १६६३ में सूतालूटी में ही उसकी मृत्यु हो गई।[†]

दो शब्द— इस चराचर संसार का यह एक अटल नियम है कि, जो व्यक्ति जन्म धारण करता है, वह अवश्य ही एक दिन मरता है। जो व्यक्ति जन्म धारण कर अपना कर्त्तव्य पालन कर जाता है, उसका जन्म सार्थक और नाम अमर हो जाता है। जिस व्यक्ति ने जन्म धारण कर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, उसका जीना और मरना समान है। यदि वह व्यक्ति जीता रहा तो क्या और मर गया तो क्या। आजकल इस अद्भुत संसार में प्रायः यही देखने में आता है कि, असंख्य व्यक्ति जन्म धारण करते हैं और मर जाते हैं, उन्हें कोई याद भी नहीं करता। परन्तु वे ही व्यक्ति धन्य हैं, जिन्होंने इस

[†] चार्नक की मृत्यु सूतालूटी में ही हुई थी और उसका शव सूतालूटी और गोविन्दपुर की सीमा पर (जो कि आजकल 'हेयर स्ट्रीट' है) जो एक नहर बनी हुई थी, उसीके किनारे दफ़नाई गई थी। आजकल की छोटी अदालत के सामने 'सेन्ट जान चर्च' नामक जो गिर्जाघर बना हुआ है, उस स्थान में चार्नक आदि अंग्रेजों की कब्रें आज भी बनी हुई हैं।

संसार में जन्म धारण कर न केवल अपना ही स्वार्थ साधन किया है; किन्तु अपने देश और अपनी जाति को भी लाभ पहुंचाया है। ऐसे व्यक्ति यद्यपि संसार के नियमानुसार मर तो अवश्य जाते हैं, पर उनकी कीर्त्ति सदा के लिए चिरस्थायी बनी रहती है अर्थात् मरने पर भी वे जीवित समझे जाते हैं, क्योंकि जिस प्रकार जीवित अवस्था में उनके द्वारा जाति तथा देश को लाभ पहुंचता है, उसी प्रकार उनके किये हुए सत्कार्यों का अनुकरण कर उनकी भावी सन्तान लाभ उठाती हुई सुख का उपभोग किया करती है।

सत्य के लिहाज से कहना पड़ेगा कि, चार्नक की गणना शायद उन्हीं व्यक्तियों में थी, जो संसार में जन्म धारण कर अपने देश और अपनी जाति को लाभ पहुँचा कर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। चार्नक ने अपनी वहुत ही हीन अवस्था में भारत जैसे अपरिचित देश में आकर महान् से महान् कष्ट भोग कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया। यही उसकी विशेपता थी कि, जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेज जाति के लिए राजसुख भोगने का साधन उपस्थित हुआ। भारतवर्ष में डाक्टर बॉटन ने अंग्रेजों के लिए क्षेत्र तैयार किया था, तो चार्नक ने बीज वपन किया। इस दृष्टि से ईष्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों में चार्नक का स्थान वहुत ऊँचा है। प्रत्येक भारतवासी का यह प्रयत्न होना चाहिए कि, वह देशभक्ति और जातीयता का सवक चार्नक के कार्यों से सीखे और उसके अद्भुत चरित्र, साहस, दूरदर्शिता दृढ़निश्चयता, अद्भुत कौशल और कार्य-कुशलता का मनन करते हुए अपने देश तथा समाज का हित साधन करे।

गोल्डसवरा और सर चार्ल्स सूतालूटी का विस्तार—

चार्नक के मर जाने के वाद गोल्डसवरा सूतालूटी में कम्पनी का अध्यक्ष वनाया गया। उसने कम्पनी के व्यापार के विस्तार पर अत्यधिक ध्यान दिया। उसने सूतालूटी को आवाद करने की भी वहुत कोशिश की। कम्पनी के कर्मचारियों के रहने के लिये मिट्टी के घर

बनाये। आफिस और माल-गोदामों का निर्माण किया। आजकल लाल-डिग्गी के उत्तर की ओर जो 'राइटर्स बिल्डिंग' का भवन दिखाई पड़ता है, यहीं पर उस समय कम्पनी के कर्मचारियों के रहने के लिये मिट्टी और फूस के घर बनाये गये थे, जिसमें सभी राइटर्स लोग रहते थे। इसीसे उसका नाम 'राइटर्स बिल्डिंग' पड़ा। जो कि, अब तक उसी नाम से पुकारा जाता है। गोल्ड्सबरा के प्रयत्न से सूतालूटी एक अच्छे ग्राम के रूप में दिखाई पड़ने लगा था।

गोल्ड्सबरा के बाद सर चार्ल्स कम्पनी का प्रधान हुआ। वह चार्नक का जमाई था और यहाँ की परिस्थिति का बड़ा जानकार था। उसके प्रधान बनने के कुछ समय बाद ही सन् १६९८ में बंगाल में एक विप्लव खड़ा हो गया। बंगाल के इतिहास में इस विप्लव को शोभसिंह का उपद्रव कह कर प्रकट किया गया है। पाठक यहां देखें कि, यह उपद्रव क्या था और क्यों हुआ तथा उसके कारण सूतालूटी की उन्नति कैसे हुई।

बंगाल के बर्दवान जिले का राजा उस समय कृष्णराय था और शोभासिंह उसके अधीनस्थ मेदनीपुर जिले में चेतवा नामक ग्राम का जमींदार था। पर किसी कारणवश दोनों में मन-मुटाव हो गया था। और लड़ाई-झगड़े की नौबत आ पहुंची थी। शोभासिंह बड़ा जबर्दस्त और अत्याचारी था। राजा से वैमनस्य हो जाने पर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये उसने उड़ीसा प्रान्त से रहीमशाह पठान को अपनी सहायता के लिये बुलाया। रहीमशाह साधारण आदमी नहीं था। उसके साथ पठानों का बड़ा दल था। उड़ीसा में किसी समय एक लड़ाई में उसकी नाक कट जाने से वह 'नकटा रहीम' भी कहा जाने लगा था। उसने शोभासिंह के साथ बर्दवान जिले को लूट-खसोट कर तबाह करना शुरू कर दिया। जिससे भय के मारे लोग इधर-उधर भागने लगे थे। राजा कृष्णराय पर शोभासिंह और रहीमशाह का इतना जोर पड़ा कि, उसे बर्दवान छोड़ कर भाग जाना पड़ा। शोभासिंह अत्याचारी था ही, वह कृष्णराय

के महलों पर आक्रमण कर राजमहल की युवती कन्या के साथ वलात्कार करने के लिये तत्पर हुआ। शोभासिंह को रमणी के साहस का ज्ञान नहीं था। जब उसने वलात्कार करना चाहा तो युवती ने एक तेज चाकू से उसका पेट चीर कर उसके कुकर्म का फल चखा दिया। इसके वाद रहीम के अत्याचार से बचने के लिये उसने कटारी से अपनी हत्या भी कर डाली।

अपने कुकर्म का फल यद्यपि शोभासिंह ने तत्काल पा लिया, तथापि उसके साथी रहीमशाह का उपद्रव शान्त नहीं हुआ। उसने वर्द्वान जिले को तो तहस-नहस कर ही डाला था इसके अतिरिक्त उसने हुगली, माल्दा और राजमहल आदि स्थानों को भी नहीं छोड़ा। इससे समस्त प्रजा घबरा उठी थी। अपना-अपना घरवार और काम-धन्धा छोड़ कर लोग भाग खड़े हुए।

जिस समय शोभासिंह और रहीमशाह का उपद्रव वर्द्वान जिले को तहस-नहस करता हुआ समस्त वंगाल में आतङ्क जमा रहा था और धन, जन की रक्षा के लिये सारे वंगाल में भगदड़ मची हुई थी, उस समय सूतालूटी स्थित सर चार्ल्स ने विचार किया कि, यह एक वड़ा भारी सुअवसर है। यदि हो सके तो इस अवसर से लाभ उठाया जाय। चार्ल्स ने अपनी सुसज्जित नौकाएँ सूतालूटी की रक्षा के लिये विशेप रूप से तैनात कर दी। सूतालूटी ग्राम के चारों ओर पहरा दिया जाने लगा। शोभासिंह और रहीमशाह ने यद्यपि बंगाल में कोई ऐसा स्थान नहीं छोड़ा था, जिसे कुछ न कुछ हानि न पहुंचाई हो, परन्तु वे सूतालूटी की ओर आंख भी नहीं उठा सके। परिणाम यह हुआ कि सशंकित और घवड़ाये हुए बंगाली सूतालूटी में आकर वसने लगे। दूरदर्शी चार्ल्स ने उन सव को आश्रय दिया। इस प्रकार शोभासिंह के उपद्रव से सूतालूटी की जन-संख्या में भारी वृद्धि हुई।

चार्ल्स ने अवसर देख कर नवाब को लिखा कि, हम लोग मुगल सर-

कार के मित्र हैं। इसलिए विद्रोही हम से भी शत्रुता करते हैं, न जानें वे हमें भी किस समय लूट लें। अतएव इस कठिन समय में सूतालूटी की रक्षा के लिए हमें एक दुर्ग बनाने की आज्ञा दी जाय। यह पत्र जब नवाब के पास पहुंचा और उसने देखा कि, बंगाल की प्रजा भाग-भाग कर सूतालूटी में आश्रय ले रही है, तब नवाब ने किला बनाने की इजाज़त अंग्रेजों को दे दी। इस प्रकार कम्पनी को जब नवाब से आज्ञा मिल गई, तो चार्ल्स ने कतिपय बुर्जें बना कर कुछ तोपें उन पर लगा दी और इस ढंग से सूतालूटी की रक्षा की।

शोभासिंह और रहीमशाह के उपद्रवों से कम्पनी ने बहुत बड़ा लाभ उठाया था। अंग्रेजों ने आत्मरक्षा के बहाने दुर्ग बना लिया था और उनकी यह लालसा बहुत दिनों के बाद पूरी हुई थी। इसके सिवा बंगाल की जनता पर यह विश्वास जम गया था कि, अंग्रेज न केवल व्यापार करनेवाले बनिये ही हैं; किन्तु समय पर जनता की रक्षा करने की भी सामर्थ्य रखते हैं। इससे उनके प्रति बंगवासियों की श्रद्धा दिन पर दिन बढ़ने लगी थी।

तीन ग्राम खरीदने की इजाजत—

शोभासिंह के उपद्रव को शान्त करने के लिए बादशाह औरंगजेब ने अपने पौत्र आजम उस्मान को बारह हजार सेना के साथ सूबेदार बनाकर बंगाल में भेजा। परन्तु उसके पहुंचने के पहले ही सूबेदार ईब्राहिम के पुत्र ने रहीम को कत्ल कर दिया था।

आजम ढाका में न रहकर वर्दवान में रहने लगा। इधर कम्पनी के अंग्रेज बणिक पहले से ही सावधान थे। उन्हें शाहजादा आजम की धन-लोलुप प्रकृति का अनुभव हो गया था। उन्होंने नये सूबेदार को नाना प्रकार की भेंट देकर तथा अनुनय विनय कर अपने अनुकूल बना लिया। आजम ने अंग्रेजों के साथ सहानुभूति और प्रसन्नता प्रकट की, तथा बादशाह औरंगजेब से नया सनद-पत्र भी कम्पनी को दिलवाया।

इस प्रकार बादशाह-पौत्र नये सूबेदार को अपने अनुकूल देख अंग्रेजों ने विचार किया कि, यद्यपि सचतुर चार्लस ने शोभासिंह के उपद्रव के समय नवाब इब्राहिम से सूतालूटी में किला बनाने की इजाजत हासिल कर ली थी, तथापि उसका अर्थ यह नहीं है कि, शोभासिंह का उपद्रव शान्त हो जाने पर भी ईष्ट इण्डिया कम्पनी उस किले को और भी सुदृढ़ बना सकेगी। फिर सूतालूटी की जमींदारी बेहला के जमींदारों के अधिकार में है। न जाने जमींदार कब यह जमीन खाली करा ले। यह विचार कर अंग्रेजों ने सूतालूटी, गोविन्दपुर और कालीकाटा खाल—इन तीन ग्रामों की जमीन का बन्दोबस्त करने के अधिकार की मांग नये सूबेदार से की और वालेस नामक एक व्यक्ति को जनवरी सन् १६६८ में वर्द्वान को रवाना किया। वालेस ने सोलह हजार रुपए आजम को देकर तीनों ग्राम खरीदने का अधिकार प्राप्त कर लिया। * आजम से जब अनुमति प्राप्त हो गई, तब जमींदार सावर्न चौधरियों से बन्दोबस्त करने का उद्योग शुरू हुआ। सावर्न चौधरियों को प्रसन्न करने तथा उन्हें अपने अनुकूल बनाने का कार्य तो पहले से ही जारी था। सूबेदार से अनुमति मिल जानेपर किसी प्रकार सावर्न चौधरी, रामचन्द्र राय और मनोहर राय प्रभृति जमींदारों को राजी कर अंग्रेजों ने तीनों ग्रामों का अधिकार प्राप्त किया। † प्रथम वर्ष जो कर तीनों ग्रामों का जिसकी जमीन ५०७७ बीघा थी, सावर्न चौधरियों को दिया गया; वह बारह सौ इक्यावन रुपये दस आना था। अब पाठक विचार करें कि, ये तीनों ग्राम जिस समय कम्पनी के अधिकार में आये, उस समय उनकी कैसी अवस्था थी और आज वर्त्तमान कलकत्ते की कैसी अवस्था है।

---

* A. K. Roy's History of Calcutta. Chap IV

† इन ग्रामों का अधिकार पाने के सम्बन्ध में जो दलील लिखी गई थी, उसका पता विलसन ने विलायत के ब्रिटिश म्युजियम के रेकार्डों से लगाया है और मि० ए० के०, राय की History of old Fort William नामक पुस्तक में उसका उल्लेख है।

जब सन् १७०० में सूतालूटी, गोविन्दपुर और कालीकाटा खाल की जमींदारी ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार में आ गई, तो अंग्रेजों ने उसका सुधार बड़ी दिलचस्पी से करना शुरू कर दिया।

यद्यपि जमींदारों से बन्दोबस्त करने और सूबेदार की अनुमति प्राप्त करने पर भी यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि, वहां अंग्रेज स्थायी रूप से सुदृढ़ दुर्ग निर्माण कर सकेंगे। पर सर चार्ल्स ने किले को सुदृढ़ और बड़ा बनाना शुरू कर दिया। उन्होंने शायद यह सोच लिया था कि, हो सकता है कि, मुगल दरबार की ओरसे किले का विरोध उठे। पर यदि विरोध उठेगा भी तो, कम्पनी रुपयों के बलसे उसे दबा सकती है। यदि इसपर भी लड़ाई छिड़ेगी तो इसी किले की सहायता से बिरोध का दमन भी किया जायगा।‡ लेकिन बिना किसी प्रकार की छेड़छाड़ के चार्ल्स किला बनाने में सफल मनोरथ हो गया। *

इस किले के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन ने ईस्वी सन् १९०३ में अनुसन्धान कर पीतल की रेखा लगाकर उक्त किले का सीमा-निर्देश किया था, जो इस समय भी लालडिग्गी के पश्चिम की ओर जनरल पोस्ट आफिस की सीढ़ियों से लेकर ईष्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी के दफ्तर तक दिखाई पड़ता है। पुराने किले की सीमा उत्तर की ओर ३४० फीट, दक्षिण की ओर ४८५ फीट और पूर्व-पश्चिम में ७१० फीट निर्धारित की गई थी। इस किले में ४ बुर्जों पर १० तोपें लगी रहती थीं। पूर्व की

‡ सन् १७०२ में कम्पनी की जो रिपोर्ट डाइरेक्टरों के पास इंगलैण्ड पहुंची थी, उसमें ऐसा ही उल्लेख किया गया था।

* हेमिल्टन ने लिखा है कि, सन् १७५७ में यही किला नवाब सिराजुद्दौला द्वारा तोड़ा गया था, उसके वाद जव क्लाइव ने फिर से किला दखल कर लिया, तो उसने पुराने किले की मरम्मत कराकर उसे ठीक वना लिया था। परन्तु सन् १८२० में पुराना किला सर्वथा तोड़ दिया गया। पुराने किले का नक्शा इस समय भी स्थानीय अजायवघर और विक्टोरिया हाल में देखने को मिलता है।

ओर किले के प्रधान द्वारपर भी चार तोपें लगी रहती थीं। किले की दीवार १८ फीट ऊंची और ४ फीट चौड़ी थी।

हेमिल्टन की डायरी और कम्पनी के पुराने पत्रों तथा रिपोटों से पता लगता है कि, सन् १७०० ईस्वी तक ईष्ट इण्डिया कम्पनी के कागजों व पत्रों में सूतालूटी नाम का व्यवहार होता था।* परन्तु २७ मार्च सन् १७०० से सूतालूटी के स्थान पर कलकत्ता लिखा जाने लगा। इसका कारण यह था कि, लालडिग्गी के पश्चिम की ओर जो किला चार्ल्स ने वनाया था, उसके कारण ग्राम की वृद्धि होने लगी थी। उसके दक्षिण की ओर गोविन्दपुर था और उत्तर की ओर सूतालूटी। वीच में कालीजी जाने के लिए काटाखाल था। उसके किनारे-किनारे झोपड़ियों के रूप में ग्राम वस गया था। लालडिग्गी के वाहर की जमीन काटाखाल के अन्तर्गत थी। यही कारण था कि, कम्पनी ने इसी स्थान को अपना केन्द्र कायम किया। इस सम्वन्ध में कतिपय लेखकों के भिन्न-भिन्न मत देखने में आते हैं। पर यहाँ पर इतना ही कहना यथेष्ट है कि, कलकत्ता नामकरण होने का प्रधान कारण "काटाखाल" अथवा "खालकाटा है"; जो काली मन्दिर तक जाने के लिए नहर के रूप में भागीरथी गंगा से काट कर वनाया गया था। इसका प्रमाण हमें कम्पनी के भूतपूर्व अध्यक्ष गोल्डूसवरा की डायरी से भी मिलता है। गोल्डूसवरा ने काटाखाल को Colie cotta लिखा है। इससे मालूम होता है कि, गोविन्दपुर और सूतालूटी के सिवा जो तीसरा ग्राम था, वह कालीकाटा के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। गोल्डूसवरा ने उसे 'कालीकोटा' लिखा है। उनके लिखने का उद्देश्य कालीकाटा तथा कालीकोता हो सकता है। यहाँ पर यह वता देना भी आवश्यक है कि, अंग्रेजों का उच्चारण उस समय ठीक नहीं था। इस प्रकार के हमें अनेकों

कलकत्ता नाम कैसे पड़ा ? —

* कलकत्ते के उत्तरी विभाग में जितनी जमीन और मकानों के पट्टे इस समय भी देखने में आते हैं, उनमें सूतालूटी नाम लिखा हुआ मिलता है।



स्वर्गीय केदारमलजी लढिया (बम्बई)

प्रमाण मिलते हैं। ऐतिहासिक अनुशीलन करते समय हमने देखा कि, उनके उच्चारण-दोष से बहुत से शब्दों का अपभ्रन्श हो गया है। 'कालीकोता' शब्द बंगला भाषा का है, इसका अर्थ होता है कि, काली कहां पर है ? हो सकता है कि, काली तीर्थ आनेवाले जो यात्री भागीरथी द्वारा आते थे, वे खाल के किनारे पर बसनेवालों से पूछते हों कि, काली कहां पर है ? इससे 'कालीकोता' नाम सिद्ध होता है। पर फिर भी हमें यह बात उपयुक्त नहीं जान पड़ती। हमारी सम्मति में कालीकाटा या खालकाटा ही से कलकत्ता नाम पड़ा है। गंगा से काट कर यह खाल काली-मंदिर जाने के लिए बनाया गया था, जिससे उसका नाम कालीकाटा खाल पड़ गया था। जो यात्री कालीजी का दर्शन करने आते, वे काटाखाल में जब प्रवेश करते, तो खाल के किनारे पर पड़े हुए भिक्षुओं को धान, चावल तथा पाई पैसा दान करते थे। यहीं कारण था कि, वहां पर बस्ती बस गई थी और उसने एक ग्राम का सा रूप धारण कर लिया था। अंग्रेजों के आ टिकने से सूतालूटी हाट की उन्नति हुई। तांती जुलाहे भी बसने लगे। शोभासिंह के उपद्रव के कारण लोग भाग-भाग कर सूतालूटी में आने लगे और उसका विस्तार हो चला। कम्पनी ने जो किला बनाया था, वह काटाखाल की हद् में था, इसी से वह कलकत्ता लिखा जाने लगा।

इस प्रकार सूतालूटी नाम बदल कर कलकत्ता हो गया, तो कम्पनी के अंग्रेजों ने सूतालूटी, गोविन्दपुर और काटाखाल—इन तीनों ग्रामों की एक साथ उन्नति करने में बड़ी भारी चेष्टा की। देखते-देखते कुछ वर्षों में ही जनसंख्या आश्चर्यजनक रूप से बढ़ने लगी। हेमिल्टन ने लिखा है कि, सन् १७०६ में कलकत्ते की जनसंख्या दस हजार थी और आगे चल कर इतनी बढ़ी कि, लाखों तक पहुँच गई।

किस क्रम से यह उन्नति हुई, उसे जानने के लिये कुछ नक्शे यहां पर दिये जाते हैं:—

सन्	पक्के मकान	कच्चे मकान	बड़ा रास्ता	गली	तालाब
१७०६	९	८०००	२	२	१७
१७२६	४०	१३३००	४	८	२७
१७४२	१२१	१४७४७	१६	४६	२७
१७५६	४९८	१४४५०	२७	५२	१३

जनसंख्या का क्रमिक विकास

जातिविशेष	सन् १७१०	१७५२	१८२१	१८९१	१९०१
हिन्दू	८०००	७५६९६	११८२०३	३३१२६६	३८६५०२
मुसलमान	२१५०	३७८७८	४८१६२	१४०९७२	१५२२००
कृस्तान	१८५०	३८००	१३१३८	२३७७३	३०३४४
वर्म्मिज	+	+	+	६७४	१३२६
चीना	+	+	४१४	७७१	१४६६
पारसी	+	+	+	१४३	२७४
यहूदी	+	+	+	१३७४	१८०८
अन्य धर्मावलम्बी	+	+	+	१९१९	३२३६

अब यहां पर यह बताना आवश्यक है कि, राजसत्ता मुगलों की होने पर भी कलकत्ते में अंग्रेजों का दबदबा बढ़ रहा था। उनकी राजसत्ता न होने पर भी एक प्रकार से कलकत्ते में कम्पनी की तूती बोलने लगी थी।

मुर्शिदकुली खाँ—

नवाब मुर्शिदकुली खाँ जन्मजात मुसलमान नहीं था। उसने एक ब्राह्मण कुल में जन्म धारण किया था। वह किसी कारणवश दास व्यापार के फेर में पड़ गया था। ❀ 'हाजी सफ़ी' नामक एक मुसलमान सौदागर उसे दास व्यापार में खरीद

❀ हिन्दुस्थान में उस समय दास-व्यापार की प्रथा प्रचलित थी। संभ्रांत व्यक्ति गरीब, हीन व्यक्तियों को खरीद लेते और गुलाम बनाते थे। इसके सिवा ये लोग विदेशों में भी भेज दिये जाते थे।

कर अपने देश 'इस्पान' में ले गया और कोई पुत्र न होने के कारण उसे अपना पुत्र बना लिया। हाजी सफ़ी जब मर गया, तो मुर्शिदकुली खाँ हिन्दुस्थान वापस लौट आया और यहीं पर रहने लगा। बराड़ प्रदेश में अब्दुल खुरेशानी नामक एक व्यक्ति के यहाँ, जो उस समय उस प्रान्त का सूबेदार था, माली विभाग में काम करने लगा। वहां पर उसने बड़ी दक्षता से काम किया और नामवरी हासिल की। उसकी तीव्र बुद्धि देख कर खुरेशानी बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी सिफ़ारिश उसने बादशाह औरंगजेब से की। औरंगजेब ने उसे नवमुस्लिम समझ कर उसका आदर किया और 'मनसबदार' बना, उसे करतलब खाँ की उपाधि से विभूषित कर हैदराबाद का सूबेदार बना कर भेज दिया। हैदराबाद में आकर उसने माली विभाग की बहुत अधिक उन्नति की और इन्साफ़ करने में बड़ा नाम पाया। कहते हैं कि, हैदराबाद में उसका नौजवान पुत्र एक समय एक विवाहिता हिन्दू रमणी को उसके पति के घर से उठा लाया था और उसका धर्म भ्रष्ट कर दिया था। इसकी फर्याद जब उसके पास पहुँची, तो इन्साफ करते समय अपने इकलौते पुत्र का जरा भी ख्याल न कर उसे प्राणदण्ड की आज्ञा दी, जिससे उसकी ख्याति न्यायप्रिय होने में बहुत अधिक बढ़ गई। बादशाह औरंगजेब भी उसकी न्यायप्रियता और सरकारी आय बढ़ाने की बात सुन कर अधिक प्रसन्न हुआ। अभी तक तो वह करतलब खाँ ही था, पर अब बादशाह ने उसे मुर्शिदकुली की पदवी देकर 'नवाब मुर्शिदकुली खाँ बना दिया। तब से वह नवाब मुर्शिदकुली खाँ कहा जाने लगा। बंगाल में माली विभाग की व्यवस्था उस समय ठीक नहीं थी। बादशाह ने सन् १७०१ में माली विभाग का दीवान बना कर उसे बंगाल में भेजा। यद्यपि बंगाल में आकर मुर्शिदकुली खाँ ने माली विभाग की बड़ी भारी उन्नति की और देखते-देखते सरकारी मालगुजारी की आय एक करोड़ हो गई, जो कि, आगे चल कर दो करोड़ तक पहुंच गई थी, परन्तु बंगाल का प्रधान

शासक—उस समय बादशाह औरंगजेब का पौत्र आजम उस्मान था। इससे उसे आज़म के आधीन रहकर काम करना पड़ता था। आज़म एक तो सूबेदार था, दूसरे बादशाह का पौत्र होने के कारण उसके मद का ठिकाना नहीं था। इधर नवाब मुर्शिदकुली अत्यन्त साधारण अवस्था से उन्नति करता हुआ नवाब मुर्शिदकुली खां बना था, इसलिये उसके दिमाग़ का भी ठिकाना नहीं था। परिणाम यह हुआ कि, एक दूसरे की प्रतिभा को सहन नहीं कर सका। एक कारण और भी था, वह यह कि, आज़म उस्मान कम्पनी के अंग्रेजों से घूंस खा-खाकर उनके हाथ की कठपुतली बनकर हर प्रकार से व्यापार में उनकी पक्ष लेता था, पर मुर्शिदकुली खां अंग्रेजों का पक्ष करने से सरकारी आय में कमी होती देख कर, वैसा करना पसन्द नहीं करता था। यही कारण था कि, दोनों में परस्पर अन-बन और मन-मुटाव हो गया। आज़म ने अपने कौशल से मुर्शिदकुली खां को मरवा देने तक का प्रयत्न किया, परन्तु मुर्शिदकुली की सावधानी से उसके सब प्रयत्न निष्फल हो गये। आखिर में यह मामला बादशाह औरंग-जेब के पास पहुंचा, तो बादशाह बड़े असमंजस में पड़ गये। कारण, एक ओर उनका प्यारा पौत्र था, जिसे वे किसी प्रकार नाराज करना नहीं चाहते थे और दूसरी ओर नवाब मुर्शिदकुली था, जो उनकी कृपा से उत्तरोत्तर तरक्की कर इस पद पर पहुंचा था तथा राज की आय बढ़ाने में विशेष सहायक समझा जाने लगा था। बादशाह को यह डर था कि, मुर्शिदकुली को हटाने से सरकारी आय में बाधा पहुंच सकती है, इसलिये उन्होंने माली विभाग को सूबेदारी से अलग करना निश्चित किया। बाद-शाह ने यह आज्ञा दी कि, सूबेदार अपने सूबे का सब प्रकार से स्वतन्त्रता के साथ शासन करे, किन्तु माली विभाग में उसकी दस्तन्दाजी न हो। इस व्यवस्था के अनुसार नवाब मुर्शिदकुली खां ढाका से अपना स्टाफ मकसूदाबाद में ले आया और स्वतन्त्रता से अपना कार्य करने लगा। मकसूदाबाद उस समय एक मामूली ग्राम था, परन्तु माली विभाग के आजाने

से वह एक बड़ा शहर बन गया और नवाब मुर्शिदकुली के नामानुसार मकसूदाबाद नाम बदलकर मुर्शिदाबाद कहा जाने लगा।

जगतसेठों का अभ्युदय—

यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि, ईस्वी सन् की सत्रहवीं शताब्दी के शेप होने पर जब नवाब मुर्शिदकुली खां का बंगाल में अभ्युदय हुआ, तो उसके साथ ही साथ जगतसेठ घराने का भी प्रादुर्भाव हो गया था। सेठ हीरानन्दजी ईस्वी सन् १७०० के लगभग अपने जन्मस्थान राजपूताने से चलकर बिहार प्रदेश—पटने में आये। वहां आकर उन्होंने कारबार शुरू किया और अपने सात पुत्रों को भिन्न-भिन्न स्थानों में भेजकर व्यापारिक कोठियाँ खोलीं। सबसे छोटे पुत्र मानकचन्द को उन्होंने बंगाल में भेजा और ढाका में कारबार करना प्रारंभ किया। मानकचन्द ने उस समय इतनी उन्नति की कि, नवाब मुर्शिदकुली खां भी उसका अभिन्न हृदय बन गया था। माली विभाग जब मुर्शिदाबाद में आ गया तब सेठ मानकचन्द भी मुर्शिदकुली के साथ मुर्शिदाबाद में रहने लगा था। पता चलता है कि, सन् १७०७ में बादशाह औरंगजेब के मरने पर तख्त का झगड़ा उठा, तो सेठ मानकचन्द ने शाहजादा फर्रुखसेयर को धन की बहुत बड़ी सहायता दी थी और उसी के बल पर शाहजादे ने दिल्ली का तख्त प्राप्त किया था। उसके उपलक्ष में सन् १७१५ में बादशाह फर्रुखसेयर ने मानकचन्द को सर्व प्रथम 'सेठ' की पदवी प्रदान की। सन् १७२२ में मानकचन्द की मृत्यु हो गयी और उनके कोई सन्तान न होने के कारण उनका भांजा फतेहचन्द पौष्य पुत्र के रूप में उत्तराधिकारी हुआ। फतेहचन्द बड़ा बुद्धिमान था। सर्व प्रथम उन्होंने ही दिल्ली के बादशाह से जगतसेठ की पदवी प्राप्त की थी। इतिहासकारों ने जगतसेठ का अर्थ Merchant of the World प्रकट किया है। दिल्ली का बादशाह मुहम्मदशाह फतेहचन्द पर इतना प्रसन्न रहता था कि, वह मुर्शिदकुली खां के स्थान पर बंगाल की सूबेदारी उन्हें

देना चाहता था। मगर फतेहचन्द ने मित्रद्रोही बनना स्वीकार नहीं किया और बादशाह को नम्रतापूर्वक लिख भेजा कि, नवाब मुर्शिदकुली के ही कारण हम अपनी उन्नति कर सके हैं अतः ऐसे उपकारी मित्र का स्थान लेने की हमारी इच्छा नहीं है। इस पर बादशाह बड़ा प्रसन्न हुआ और नवाब को आदेश दिया कि, जगतसेठ का स्थान तुम्हारे दरबार में प्रथम श्रेणी का होगा तथा जगतसेठ की सम्मति के अनुसार कार्य करना होगा। इसके अतिरिक्त समय-समय पर जो खिलअतें नवाब को भेजी जाती थीं वैसी ही एक और खिलअत जगतसेठ के लिए भी भेजी जाने लगी।

मुर्शिदकुली के जमाने में बंगाल तेरह हिस्सों में बँटा हुआ था। कुल १६६० परगने थे और राजस्व-विभाग की आय दो करोड़ रुपए की। डाक्टर हेमिल्टन की कारगुजारी से सन् १७१३ में बादशाह फर्रुखसेयर ने ईष्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल में ३८ मौजे खरीदने का अधिकार दे दिया था और सभी प्रकार के राजकर भी माफ कर दिए थे तथा मुर्शिदाबाद की टकसाल में कम्पनी के रुपए हफ्ते में तीन दिन ढालने की आज्ञा भी दे दी थी, इन फ़र्मानों से नवाब मुर्शिदकुली खां सख्त नाराज़ हुआ था। उसने यह कोशिश की थी कि, यह फ़र्मान कार्य-रूप में परिणत न हो सके। उसका यह हुक्म था कि, कोई भी जमींदार एक इंच भी जमीन अंग्रेजों को न बेचने पावे। पर इस बीच में उसकी मृत्यु हो गई। नवाब की मृत्यु के सम्बन्ध में मुर्शिदाबाद में काठरा मसज़िद के एक पत्थर पर यह लिखा हुआ है कि, ईस्वी सन् १७२३ तथा हिजरी सन् ११०७ में यह मसज़िद बनी और यहीं पर नवाब मुर्शिद-कुली खां का शव दफ़नाया गया। यह मसज़िद मक्के की मसज़िद का अनुकरण कर बनाई गई थी, जिसका भग्नावशेष आज भी मुर्शिदाबाद में दिखाई देता है।

मुर्शिदकुली खां की मृत्यु के बाद जगतसेठ फतेहचन्द की सम्मति से मुर्शिदाबाद का नवाब, शुजाउद्दीन हुआ। वह बड़ा ही शान्त प्रकृति का शासक था। उसने सेठ आलमचन्द को राय रायाना की पदवी दी थी और अपने मन्त्री-मण्डल में जिन चार सदस्यों की नियुक्ति की उनमें 'जगतसेठ' प्रधान थे। उसके बाद उसका पुत्र 'सरफ़राज' गद्दी पर बैठा।

शुजाउद्दीन—

नवाब शुजाउद्दीन के मर जाने पर उसका पुत्र सरफ़राज खां मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठा। यद्यपि वह बड़ा होशियार था और बहुत पहले से ही राज-काज करता आता था, तथापि चरित्रहीन होने के कारण इतना लम्पट और दुराचारी बन गया था कि, कोई भी सुन्दर स्त्री उस समय अपने सतीत्व की रक्षा करने में भयभीत रहती थी। साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या थी, महाप्रतापी और नवाबी राज्य के स्तम्भ समझे जानेवाले जगतसेठ फतेहचन्द की भी उसने पर्वाह नहीं की। उस समय वह इतना निर्लज्ज हो गया था कि, जगतसेठ की पौत्रवधू को जिसके रूप लावण्य की ख्याति बड़ी प्रसिद्ध थी, देखने के लिए जबरन् महलों में बुला लिया था।* इस प्रकार हिन्दू जनता थर्रा उठी। उस समय जगतसेठ का सितारा बड़ा तेज था। बंगाल के प्रायः सभी जमींदारों को समय-समय पर जगतसेठ से आर्थिक सहायता लेनी पड़ती थी। इस काण्ड को लेकर जगतसेठ के विशाल भवन में न केवल मारवाड़ी सेठों की ही, बल्कि बंगाल के प्रायः सभी जमींदारों की उपस्थिति में एक परामर्श सभा हुई। उस सभा में जगतसेठ फतेहचन्द, सेठ दुलीचन्द, राय रायाना सेठ आलमचन्द, नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र और डीघापतिया-नरेश, नाटौर के दीवान दयाराम राय प्रभृति जो उस समय विशेष अनुभवी तथा

सरफ़राज़—

* एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है कि, उसकी उम्र केवल ११ वर्ष की होने से सरफ़राज ने उसे तत्काल वापस भेज दिया।

राजनीतिज्ञ समझे जाते थे, उपस्थित थे। हिन्दुओं के अतिरिक्त हाजी मुहम्मद भी शामिल हुआ था, जो कि, मुसलमान होने पर भी इस प्रकार के अत्याचारों का दुश्मन था। राय रायाना सेठ आलमचन्द ने परामर्श सभा का उद्देश्य बहुत ही मार्मिक शब्दों में बताया था। उन्होंने कहा था कि, एक प्रधान शासक द्वारा हिन्दू-रमणियों पर इस प्रकार के अत्याचारों को हिन्दू सहन नहीं कर सकते। इन अत्याचारों का अन्त हमें करना होगा और उसका उपाय यही है कि, जिस प्रकार भी हो हमें नवाब सरफ़राज को गद्दी से उतार देना चाहिए। सेठ आलमचन्द के कथन का अनुमोदन हाजी मुहम्मद ने किया था। सेठ दुलीचन्द ने, जो जगतसेठ घराने के प्रभावशाली व्यक्ति थे, कहा कि, हम यहाँ मुसलमानी सल्तनत के विरुद्ध कोई विचार नहीं करने बैठे हैं। हमारा उद्देश्य तो हिन्दू प्रजा पर होनेवाले असह्य अत्याचारों का ख़ात्मा करना है। सेठ दुलीचन्द के भाषण का सभा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। नवद्वीपाधिपति महाराज श्रीकृष्ण ने कहा कि, सरफ़राज खां ने नवाब शुजाउद्दीन का नाम डुबा दिया है। इन भाषणों के बाद विचार हुआ और सर्वसम्मति से निश्चय किया गया कि, सरफ़राज खां को गद्दी से हटा कर अलीवर्दी खां को जो कि, इस समय पटने का शासक है, नवाब बनाया जाय। दयारामराय के प्रस्ताव से बादशाह की स्वीकृति के लिए प्रतिनिधि दिल्ली भेजा गया और बादशाह ने अलीवर्दी खां के नाम का फ़रमान लिख दिया।

नवाब सरफराज खां को जब मालूम हुआ कि, उसके ख़िलाफ़ साज़िश की गयी है तो उसे सैनिक-शक्ति प्रबल करने की सूझी। अलीवर्दी खां उस समय पटने में था। जगतसेठ द्वारा मुर्शिदाबाद की नवाबी का फर्मान-पत्र जब उसे मिला तो उसने राजधानी मुर्शिदाबाद पर अधिकार करने का आयोजन शुरू किया। जगतसेठ की आर्थिक सहायता यथेष्ट थी; उसीके बलपर अली वर्दी खां ने सेना संग्रह की, और मुर्शिदाबाद दख़ल करने के लिए पटने से चल पड़ा। इधर सरफ़राज को मालूम हुआ कि, अलीवर्दी खां आ रहा है, तो





स्वर्गीय जमनाधरजी पोद्दार, नागपुर

(फर्म—सोनीराम जीतमल)

वह भी अपने दलबल के साथ सामना करने के लिए चढ़ खड़ा हुआ। गिरिया के मैदान में दोनों भिड़े। परिणाम यह हुआ कि, सरफ़राज़ अलीवर्दी द्वारा लड़ाई में मारा गया और अलीवर्दी ने विजय प्राप्त कर जगतसेठ और अन्य हिन्दू जमींदारों की इच्छानुसार मुर्शिदाबाद की गद्दी पर अधिकार जमाया। प्रजा पर अत्याचार करने का फल सरफ़राज को मिला और अलीवर्दी खां को नवाब बना कर हिन्दू जनता ने एक बार अत्याचारों से पिंड छुड़ाया।

बंगाल के इतिहास में नवाब अलीवर्दी खां का नाम बहुत अच्छे शासकों में उल्लेख किया गया है। वह जितना राज-नीति-विशारद था, उतना ही योद्धा भी था। कट्टर मुसलमान होने पर भी वह हिन्दू जाति का हितैषी और हिन्दू-संस्कृति का सहायक था। सन् १७४० में उसने मुर्शिदाबाद की गद्दी प्राप्त की और सन् १७५६ तक राज्य किया। इन सोलह वर्षों में उसने कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे यह कहा जा सके कि, उसने हिन्दुओं को धोखा दिया हो। अलीवर्दी खां ने हिन्दू और मुसलमानों की संस्कृति का अध्ययन किया था, जिससे उसे विदित हो गया था कि, हिन्दुओं की संस्कृति एकाएक बिना किसी विशेष कारण राजद्रोह अथवा अपने शासक पर हमला करने का आदेश नहीं देती; किन्तु इसके विपरीत मुसलमानों की संस्कृति कुछ ऐसी हो चली है कि, थोड़ा सा मौका मिलते ही राजसत्ता प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण भाई भाई और बाप, बेटे को भी घातक बनाने के लिए उभाड़ती है। यही कारण था कि, अलीवर्दी खां ने अपने शासन-काल में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं पर बहुत अधिक विश्वास किया था। अपने राज्य में जितने भी उत्तर-दायी पद थे, उनपर अपने आत्मीय पुरुषों के सिवाय अन्य प्रायः सभी पदों पर हिन्दुओं को नियुक्त किया था। वर्त्तमान नशीपुर राजघराने के पूर्वज जो कि, मारवाड़ी जाति के प्रसिद्ध अग्रवंशीय थे, उन्हें उसने कई-

अलीवर्दी खां—

एक दायित्व पूर्ण पदों पर नियुक्त किया था और जमींदार बनाया था। जगतसेठ के घराने की तो बात ही क्या थी। वह तो उस समय सर्वे-सर्वा था। जगतसेठ के विशाल भवन में टकसाल थी और वहीं पर जगतसेठ की इच्छा से सब सिक्के ढलते थे। जगतसेठ फतेहचन्द ही प्रधान खजाञ्ची और दीवान थे। जितना भी राजकर जमींदारों तथा अन्य प्रकार से प्राप्त होता था, वह जगतसेठ के यहां जमा होता था। अलीवर्दी खां के जमाने में जगतसेठ और उनका घराना यदि यह कहा जाय कि, नवाबी राजसत्ता का आधार था, तो शायद अनुचित न होगा। कारण; जिधर देखो, उधर ही उस समय जगतसेठ की प्रतिभा काम कर रही थी। तात्पर्य यह कि, अलीवर्दी खां के शासनकाल में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं का ही अधिक प्रभाव था और जगतसेठ की प्रधानता के कारण ही मारवाड़ी जाति की ख्याति और नाम बहुत बढ़ गया था। जगतसेठ फतेहचन्द की मृत्यु सन् १७४४ में हो गई तो उनका पौत्र महताबचन्द मालिक हुआ और उसने भी जगतसेठ की पदवी प्राप्त की। उनका छोटा भाई स्वरूपचन्द था, जिसे महाराज की पदवी मिली थी। सेठों के इतिहास से पता लगता है कि, महताबचन्द ने अपनी उन्नति को चरम सीमा तक पहुंचा दिया था।

नवाब अलीवर्दी खां चरित्रसम्पन्न, सरल स्वभाव और अच्छा शासक था। शासन करने की योग्यता थी। चरित्र सम्बन्धी दोष, जो मुस्लिम शासकों में प्रायः होता था, उसमें प्रकट नहीं हुआ था। हिन्दू या मुसलमानों में उसने किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा था। इतना होने पर भी उसका शासन काल शान्ति से नहीं बीता। उसके शासन काल में सब से बड़ा उपद्रव महाराष्ट्रों का हुआ, जो कि सन् १७४२ से शुरू होकर सन् १७५१ तक प्रायः नौ वर्ष तक रहा। कहना चाहिए कि, यह उपद्रव ऐसा भयानक था कि, उसे शान्त करने के लिये अलीवर्दी के घोड़े की जीन कसी ही रहती थी। सच तो यह है कि, महाराष्ट्रों के

उपद्रव ने अलीवर्दी खाँ का अस्तिपिंजर ढीला बना दिया था। अंत में सन् १७५१ में जगतसेठ महताबचन्द ने अपने पास से १२ लाख रुपए महाराष्ट्रों को देकर अलीवर्दी खाँ का पिंड छुड़ाया था। यहां पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि, महाराष्ट्रों के उपद्रव के समय कलकत्ते के अंग्रेजों ने बहुत अधिक लाभ उठाया और वाणिज्य-व्यापार के अतिरिक्त अपनी भीतरी शक्ति बहुत कुछ मजबूत कर ली। उन्होंने न केवल अपने किले को ही सुदृढ़ बना लिया था; बल्कि कलकत्ते के तीन तरफ एक बहुत बड़ी खाई ६ मील में बना डाली थी। यह खाई Maharata Ditch के नाम से प्रसिद्ध है। पर सन् १७९२ में यह पटा दी गई और आज यह सर्कुलर रोड के नाम से प्रसिद्ध है। महाराष्ट्रों की लूट के कारण भाग भाग कर लोग कलकत्ते में आ बसे थे और कलकत्ता एक सुरक्षित स्थान समझा जाने लगा था।

ऐसी परिस्थिति में जनता के हृदय में अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति का सञ्चार होना स्वाभाविक था। अलीवर्दी खाँ दूरदर्शी होने के कारण अंग्रेजों से सतर्क रहता था। एक समय कुछ व्यापारियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध फ़र्याद की। इस पर नवाब ने कलकत्ता स्थित कम्पनी के प्रधान बारवल साहब के नाम एक पत्र लिखा, जो इस प्रकार थाः—

"हुगली के सय्यद मुगल और अरमेनियन आदि सौदागरों ने दावा किया है कि, तुमने उनके कई लाख के माल से भरे हुए कतिपय जहाज लूट लिये हैं। आन्टनी नामक एक सौदागर कई लाख के माल के साथ ही साथ हमें नज़र देने के लिए कई एक बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर आता था, वे भी तुमने लूट ली हैं। ये सब व्यापारी हमारे राज्य के शुभचिन्तक और हितैषी हैं। हम उनके दावे की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमने तुम्हें वाणिज्य करने का अधिकार दिया है, न कि, डाका डालने और लूट-मार मचाने का। यदि इस राजाज्ञा को पाते ही तुम इन सब

व्यापारियों का हर्जाना नहीं चुकाओगे, तो हम तुम्हें वहुत कड़ी सजा का हुक्म देंगे।" *

इस पत्र को पाकर अंग्रेजों में एक बार भारी खलबली पड़ गई थी। उन्होंने तत्काल ही अपने स्टाफ की विशेप सभा कर यह निश्चय किया कि, अभियोग अस्वीकार किया जाय और जिन व्यक्तियों ने नवाव के सामने दावा किया है, प्राइवेट में उन्हें राजी कर लिया जाय। परन्तु इस कार्य में वहुत चेष्टा करने पर भी अंग्रेजों को सफलता प्राप्त नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि, अंग्रेजों की ओर से राजाज्ञा का पालन होने में देरी होती देख कर नवाव ने उनका कारवार वन्द कर दिया। फिर क्या था? अंग्रेजों की आंखें खुलीं और दूसरा कोई उपाय न देख कर अन्त में वे जगतसेठ की शरण में पहुँचे। जगतसेठ ने उनकी अनुनय-विनय पर ध्यान दिया और हर्जाने के वारह लाख रुपए नवाव को दिला कर फिर से पूर्ववत् व्यापार करने की अनुमति अंग्रेजों को दिला दी। †

मराठों के साथ प्रायः ९ वर्ष तक युद्ध में जुटे रहने के वाद जव सन् १७५१ में संधि हुई, तव भी अलीवर्दी खाँ को भली प्रकार साँस लेने का मौका नहीं मिला। गृह-कलह और कुटुम्ब की चरित्रहीनता ने उसे दुःखी वना रक्खा था। उसकी पुत्रियों का चरित्र दूपित हो चला था। इस विषय का वर्णन तत्कालीन इतिहास में वहुत पाया जाता है। परन्तु; यहाँ पर उन सव वातों का उल्लेख करना हम अच्छा नहीं समझते। तात्पर्य यह कि, इन सव वातों को लेकर उस समय वड़ी-वड़ी घटनाएँ घटी थीं। हत्याएँ भी होने लगी थीं। जिससे वृद्ध नवाव अलीवर्दी के हृदय पर वहुत वड़ी चोट पहुंची। उसका स्वास्थ्य विगड़ गया। अन्त में सन १७५६ की ९ अप्रेल को नवाव ने अपना शरीर छोड़ दिया।

---

* अक्षयकुमार मैत्रेय प्रणीत 'सिराजुद्दौला' पृष्ठ ५५

† सिराजुद्दौला पृष्ठ ५५

अलीवर्दी खाँ बड़ा निपुण शासक था। यदि वह अपने १६ वर्ष के शासन-काल में गृह-कलह और महाराष्ट्रों के उपद्रव में नहीं फँसा रहता तो इसमें सन्देह नहीं कि, प्रजाहित के अन्य उपयोगी कार्य भी करता। परन्तु; उसे वैसा समय ही नहीं मिला। इतना होने पर भी वह भले बुरे का अनुभव रखता था। इसका आभास हमें इतिहास के उन अवतरणों से मिलता है, जो मरते समय सिराजुद्दौला को शिक्षा के रूप में प्रकट किये थे, वे इस प्रकार हैं:—

"तलवार हाथ में लेकर अपनी सारी जिन्दगी केवल युद्ध-क्षेत्र में ही गुज़ार कर अब मैं इस दुनिया से कूंच कर रहा हूँ; किन्तु मैं जन्म भर किसके लिए इतनी लड़ाइयाँ लड़ता रहा और किसके लिए विविध उपायों से प्राण-पण के साथ इस राज्य की रक्षा कर आज मर रहा हूँ? वत्स! तुम्हारे ही लिए, यह सब किया।

मेरे न रहने पर तुम्हारी कैसी दुर्दशा होगी, इस सोच में मैंने कितनी ही रातों पलक नहीं लगाई, तुमने यह कुछ भी नहीं जाना। मेरे न होने पर कौन किस तरह से तुम्हारा सर्वनाश कर सकता है, इसे मैं भलीभांति जानता हूँ।

इस समय अधिक क्या कहूं, मेरा अन्तिम उपदेश सुनो! योरोपियन सौदागरों की शक्ति किस प्रकार बढ़ रही है, इसे हरघड़ी नज़र में रखना। वे ही एक-मात्र तुम्हारी आशंका की जड़ हैं।

यदि भगवान् मेरी जिन्दगी को कुछ दिन इस दुनिया में और कायम रखता, तो मैं तुम्हारी इस आशंका को भी निर्मूल कर डालता; परन्तु यह नहीं हुआ। अब यह काम अकेले तुम्हें ही करना होगा।

विदेशियों ने तैलंग प्रदेश की लड़ाई में अपनी जिस कुटिल नीति का परिचय दिया, उसे लक्ष्य में रखते हुए तुम्हें सदा होशियारी से रहना पड़ेगा। इन लोगों ने उस प्रदेश के निवासियों में परस्पर लड़ाई-झगड़ा करवा कर सारा प्रदेश आपस में बाँट-चूट कर प्रजा का सर्वस्व लूट लिया।

समस्त योरोपियन सौदागरों को एक ही साथ नीचा दिखाने की चेष्टा न करना। अंग्रेजों की शक्ति बहुत ज्यादा बढ़ गई है; सब से पहले उन्हीं का दमन करना।

अंग्रेजों को नीचा दिखाने पर अन्यान्य योरोपियन सौदागर सर उठाने पर किसी तरह का उत्पात करने की हिम्मत नहीं करेंगे। अंग्रेजों को किला बनवाने अथवा सेना एकत्रित करने का मौका कभी न देना। अगर दिया, तो समझ लो कि, यह देश तुम्हारा फिर नहीं रहेगा। *

नवाब अलीवर्दी खां ने अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों में यह उपदेश अपने उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला को दिया था। पाठक समझ सकते हैं कि, विदेशी सौदागरों के प्रति नवाब अलीवर्दी खां की कैसी धारणा थी।

अलीवर्दी खां के मरते ही बंगाल का शासन इस प्रकार से बदल गया कि, जिसका असर न केवल बङ्गवासियों पर ही पड़ा; किन्तु उसका फल समस्त भारतवर्ष को भी भोगना पड़ा।

सिराजुद्दौला—

नवाब सिराजुद्दौला उन शासकों में था, जो अपनी बाल्यावस्था तथा तरुणावस्था में अपने अभिभावकों द्वारा अत्यधिक स्नेह तथा लाड-प्यार के कारण उचित शिक्षा से वंचित रह जाते हैं और राजमद की उद्दण्ड वायु में पल कर चरित्र-सम्पन्न होने के बजाय चरित्रहीन बन कर अपने देश का शासन ग्रहण करते हैं।

यद्यपि नवाब अलीवर्दी खां बुद्धिमान और कुशल शासक था, तथापि देखा जाता है कि, वह अपनी सन्तानों के प्रति, माता-पिता की जिम्मेदारी नहीं निभा सका। नतीजा यह हुआ कि, वह जिस पौष्य-पुत्र सिराजुद्दौला को बंगाल बिहार और उड़ीसा का विधाता बनाना चाहता था, उसे योग्य शासक नहीं बना सका। अलीवर्दी खां के मरने पर ९ अप्रैल सन् १७५६ को जब सिराजुद्दौला मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठा, तो सवा वर्ष से

---

* अक्षयकुमार मैत्रेय प्रणीत "सिराजुद्दौला"

अधिक राज्य न कर सका। उसका अन्त इस प्रकार बुरी तरह से हुआ, जिस प्रकार होना कदापि सम्भव नहीं समझा जाता था। उसकी पराजय से भारत के राजनैतिक क्षेत्र का नक्शा ही बदल गया। इससे न केवल बंगाल प्रान्त को ही अपनी राजसत्ता से हाथ धोना पड़ा; अपितु उसका परिणाम सारे देश को भोगना पड़ा।

यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय तो, सिराजुद्दौला का सवा वर्ष का शासन-काल बहुत ही अल्प था। मगर इस थोड़े समय में जो घट-नाएँ घटीं, जो जो परिवर्तन हुए, वे दृष्टि से
अल्पकाल में ही देशी राजसत्ता के
सूत्रपात आरम्भ हो चला था।

इस सम्बन्ध में इतिहासकारों और
लिखे हैं। इस अल्पकाल में घटनेवाली
ही विस्तार के साथ किया
योग्यता का मनुष्य था,
प्रयत्न किया है।
लेखक भी हैं। मालसन और
सभी योरोपियन लेखकों ने
चरित्रभ्रष्ट और महान उद्दण्ड सिद्ध
तो उसकी कब्र को लक्ष्य
है कि—

अलीवर्दी के पास ही
यही सिराजुद्दौला गर्भिणी
लिए विदीर्ण कराता था।
देख कर प्रसन्न होने के लिए नाव
देता था। अनेक उपपत्नियों को

दववा देता था। परपुरुष गामिनी माता के व्यभिचार का प्रतिशोध लेने के लिए स्त्री-मात्र के सतीत्व का नाश करता। तलवार और वर्छाधारिणी तातार, जर्जिया और हवशी देश की स्त्रियों को अन्तःपुर के द्वार पर रक्षा के लिए तैनात रखता। मुर्शिदावाद की आम सड़कों पर खुले खजाने नर हत्या करता एवं अनेक रमणियों के साथ संभोग और नर हत्या से पुण्य संचय करके मुहम्मदीय मत के दो प्रधान उपदेशों का पालन करता हुआ, इस्लामी चरित्र के आदर्श रूप में जगमगा रहा था।" †

इस प्रकार विदेशी लेखकों ने सिराजुद्दौला को भारतवासियों की दृष्टि में हेय ठहराने की बड़ी भारी कोशिश की। परन्तु कुछ ऐसे अंग्रेज लेखक भी हैं, जिन्होंने स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार तथा अनुसन्धान कर इन अभियोगों को मिथ्या बतलाया है। इन लेखकों में मालसन और लिट्ल आदि वहुत प्रसिद्ध हैं। मालसन ने भारतवर्ष में अनेक वर्षों तक ऐतिहासिक खोज की है। उन्होंने सिराज के सम्बन्ध में लिखा है:—Sirajudaula was more unfortunate than wicked अर्थात् सिराजुद्दौला दुष्ट होने की अपेक्षा अधिक अभागा था। मालसन ने यह भी लिखा है कि,—

"सिराजुद्दौला में चाहे कुछ भी दोष हों, परन्तु उसने न तो अपने देश को वेचा था और न किसी को धोखा दिया था। हम यहां तक कहने को प्रस्तुत हैं कि, कोई भी पक्षपात-शून्य अंग्रेज यदि उन घटनाओं पर फैसला करे, जो कि; ७ फरवरी से २३ जून तक घटित हुई हैं, तो वह इस वात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि, क्लाइव की अपेक्षा सिराजुद्दौला का नाम प्रतिष्ठा के पल्ड़े में भारी है। उस शोकान्त नाटक में वही एक पात्र विशेष था, जिसने धोखा देने की चेष्टा नहीं की।"

इस प्रकार योरोपियन लेखकों के विचारों में वहुत अधिक मतभेद है। उनके वाद दूसरा स्थान मुसलमान लेखकों का है। उनके लिखित ग्रन्थों

उज्जैन के सुप्रसिद्ध समाजसेवी और रईस



श्रीयुक्त रायबहादुर लालचन्दजी सेठी
(फर्म—विनोदीराम बालचन्द)

में 'सैरुल मुताखरीन' 'रियाजुस्सलातीन' और तारीखे-मंसूरी आदि हैं *
इन ग्रन्थों में सिराजुद्दौला के सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे योरोपियन लेखकों के विवेचन में आकाश-पाताल का अन्तर है। सिराजुद्दौला नर-पिशाच था अथवा देशभक्त, इन बातों के अलावा जब हम घटनाओं का मिलान करते हैं, तो अधिकांश स्थानों पर बहुत बड़ा मतभेद प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में मालसन और लिट्टल आदि निष्पक्ष लेखक तथा मुसलमान इतिहासिज्ञ विद्वानों की ओर हमारा ध्यान आकर्पित होता है, जिससे स्वतः ही मनमें यह कल्पना होने लगती है कि. अधिकांश अंग्रेज लेखकों ने विजेता की दृष्टि से इस देश के पूर्व शासक—सिराजुद्दौला के प्रति देशवासियों की अश्रद्धा उत्पन्न करने के लिए ही इन अत्युक्तियों से काम लिया हो तो, कोई आश्चर्य नहीं है। खैर, जो भी कुछ हो; परन्तु यह बात अवश्य प्रकट होती है कि, सिराजुद्दौला सम्बन्धी इतिहास भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा प्रणीत हुआ है, उसमें सामंजस्य बहुत ही थोड़ा है।

आरम्भ में बंगाली लेखकों ने अंग्रेजों की रचनाओं के आधार पर ही अपने ग्रन्थों की रचना की है। सिराजुद्दौला के सम्बन्ध में 'मुताखरीन' आदि मुसलमान लेखकों के भी ग्रन्थ विद्यमान थे और उन ग्रन्थों में जो विरोधाभास पाया जाता है, उनपर स्वतंत्रता-पूर्वक विचार कर बंगाली लेखकों ने अपनी रचनाएं नहीं कीं।

जनता समझने लगी कि, वास्तव में सिराजुद्दौला "नरपिशाच, अत्याचारी, चरित्रभ्रष्ट और बड़ा उद्दण्ड था।" पर समय पाकर जब सत्य की खोज में नये नये अनुसन्धान होते हैं, तब संसार के सर्वमानित इतिहास

---

* 'सैरुल मुताखरीन' सैय्यद गुलाम हुसेन द्वारा लिखी गयी और सन् १७८२ में जाकर समाप्त हुई थी। 'रियाजुस्सलातीन' गुलाम हुसेन सलेमी ने सन् १७८७ में लिखी थी और 'तारीखे मंसूरी' की रचना सैय्यद अली द्वारा कुछ समय बाद हुई थी।

में भी परिवर्तन हो जाते हैं। एक समय एक व्यक्ति को लोग महान् अत्याचारी, देशद्रोही और समाज-शत्रु मानकर उसे सम्बोधन करते हैं, तो दूसरे समय में अनुसन्धानों के आधार पर वही व्यक्ति देश-सेवक और क्रान्तिकारी माना जाने लगता है। जूलियस सीजर सौ दो-सौ वर्ष पूर्व जैसा स्वार्थी, अधिकार-लोलुप और स्वतन्त्रता का विरोधी माना जाता था, वैसा अब नहीं माना जाता। आलीवर क्रामवैल इंग्लैण्ड में आज के साठ-सत्तर वर्ष पूर्व तक क्रूर, हत्यारा, महान् स्वार्थी और अराजक कह कर पुकारा जाता था, आज उसके सम्बन्ध में लोगों की धारणा बदल गई है। इंग्लैण्डवासियों की दृष्टि में क्रामवैल आज देशहितैषी, परम पवित्र और दूरदर्शी जंचने लगा है। यही बात अब सिराजुद्दौला के सम्बन्ध में प्रकट हो रही है। कारण यह है कि, जब बंगाल के विद्वानों ने ऐतिहासिक महत्व और तत्वों की ओर ध्यान दिया, तब वे स्वतंत्रतापूर्वक वैज्ञानिक ढंग से अनुसन्धान करने की ओर अग्रसर हुए। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने इस कार्य में प्रमुख भाग लिया। इसी संस्था ने 'मुताख़रीन' आदि उपर्युक्त ग्रन्थों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया। लखनऊ के 'नवलकिशोर प्रेस' से उर्दू अनुवाद भी छपे। हिंदुस्थान और इंग्लैण्ड के सरकारी दफ्तरों से प्राचीन कागज-पत्रों की छानबीन की गई। इन अनुसन्धानों से जब नई-नई बातें सामने आयीं तो इस सम्बन्ध के कई लेख 'अमृतबाजार पत्रिका' 'इण्डियन मिरर' 'बंगाली' 'भारती' 'साहित्य' और 'एजुकेशन गज़ट' आदि पत्रों में भी प्रकाशित हुए। 'साधना' के सम्पादक कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नये विचारों को अत्यन्त महत्व दिया। परिणाम यह हुआ कि, सर्वसाधारण जनता में सिराजुद्दौला के चरित्र के सम्बन्ध में जो एक तरफ़ा पड़दा पड़ा हुआ था, वह दूर होने लगा। बंगाली ऐतिहासिक विद्वान् अक्षयकुमार मैत्रेय ने अत्यधिक परिश्रम, भारी अनुसन्धान और अद्भुत तर्कशैली से सिराजुद्दौला के सम्बन्ध में यह प्रकट किया कि, कालकोठरी सम्बन्धी हत्याकांड

का जो लांछन सिराजुद्दौला पर लगाया गया है, वह मिथ्या है और जिस ढंग तथा अत्युक्तियों से घटनाक्रम बांधा गया है वह अतिरंजित है। इसके सिवा उक्त विद्वान् लेखक ने सिराजुद्दौला पर लगाये गये अन्य लांछनों का भी निराकरण किया। अब लोग यह सोचने लगे हैं कि, सिराजुद्दौला चरित्रभ्रष्ट शासक होने पर भी देशभक्त था और उसने जो कुछ किया, चाहे उनमें अनेक त्रुटियां हों, अनुभवहीनता हो और जो भी भ्रान्ति उसमें हो; परन्तु अपने देश की रक्षा करने में उसके भाव पवित्र थे।

यहां पर यह प्रश्न उठता है कि, सिराजुद्दौला में देशभक्ति और देश रक्षा के भाव विद्यमान थे, तो उसका पतन इतना शीघ्र क्यों हुआ ? सब से पहले इसी प्रश्न का हम विवेचन करेंगे। यह बात तो हम बता चुके हैं कि, अलीवर्दी खाँ के अत्यधिक स्नेह के कारण सिराजुद्दौला न तो सुशिक्षा ही प्राप्त कर सका और न उसका चरित्र ही निर्म्माण हुआ था। जब उसने अपनी किशोरावस्था से युवावस्था में पैर रखा, तो इन्द्रिय-विकार ने उसे धर दबाया। नाना प्रकार से उसकी चरित्रहीनता प्रकट होने लगी। कुछ घटनाएँ तो ऐसी मिलती हैं, जिनसे उसकी चरित्रहीनता की पराकाष्ठा दीख पड़ने लगती है। परन्तु हम उन घटनाओं का यहां पर विस्तार के साथ उल्लेख करना उचित नहीं समझते।

यहां पर यह कहना ही उचित होगा कि, यदि सिराजुद्दौला अनुभवी और चतुर शासक होता तो, गद्दी पर बैठते ही सर्व प्रथम अपना चरित्र सम्हाल कर हिन्दू प्रजा को सन्तुष्ट करता, उस पर अपना विश्वास जमाता और अपने आत्मीय जनों को भी उचित मार्ग से रास्ते पर लाता। परन्तु, वह ऐसा नहीं कर सका। एक तो इसका कारण यह था कि, वह गर्म खून का नवयुवक था और दूसरे अनुभवी तथा परिणामदर्शी भी न था। अपनी जवानी और नवाबी के जोश में आकर भला-बुरा कुछ भी न सोच सका। ऐयाशी और व्यभिचार के कारण खर्च बेहद बढ़ रहा था। सरकारी खज़ाना अलीवर्दी खाँ के समय ही महाराष्ट्रों के कारण खाली हो

चुका था। धन आवे तो कहां से! सिराजुद्दौला जब गद्दी पर बैठा, तब अर्थलोलुपता ने उसे घर दबाया। सेनापति मानिकचन्द पर उसकी पहले से आंख थी। सर्व प्रथम उसने उसी पर वार किया और दस लाख रुपए दण्ड के लेकर उसे छोड़ा।

इतिहासकारों ने बतलाया है कि, सिराजुद्दौला अत्यन्त चंचल और अस्थिर चित्त का व्यक्ति था। किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, उसका उसे ज्ञान नहीं था। उसमें कटूक्ति तो इतनी भरी हुई थी कि, जिसके कारण प्रधान प्रधान कर्मचारी असन्तुष्ट रहते थे। मानिकचन्द नवाबी सल्तनत में सब से बड़ा बुद्धिमान सेनापति गिना जाता था। परन्तु, चंचल नवाब ने सर्व प्रथम उसे ही अपना शत्रु बना लिया। अपनी इसी आदत के कारण राज्य के आधार-स्वरूप जगतसेठ महताबचन्द के प्रति भी अनुचित शब्दों का प्रयोग करने तथा उन्हें लांछित करने में उसे संकोच नहीं हुआ। 'मुताखरीन' के लेखक ने लिखा है कि, जगतसेठ महताब-चन्द के साथ सिराजुद्दौला ने बहुत ही अशिष्टता का व्यवहार शुरू कर दिया। कभी-कभी तो उन्हें मुसलमान बना लेने तक की धमकी देने लगा था। इन सब कारणों से जगतसेठ बहुत ही खिन्न रहने लगे थे। मामला बढ़ता चला गया। पहले यह नियम था कि, कोई भी नया नवाब गद्दी पर बैठता, तो दिल्ली के बादशाह से जगतसेठ ही नवाबी की सनद लाकर देते थे। परन्तु इस बार सिराज के गद्दी बैठने पर तत्काल सनद लाने में कुछ देर हो गई थी। इस पर सिराजुद्दौला ने जगतसेठ पर रोष प्रकट किया और उसने जगतसेठ को बनिये-महाजनों से तीन करोड़ रुपये वसूल करने का हुक्म दिया। जगतसेठ महताबचन्द ने पीड़ित जनों को अधिक सता कर धन लेना उचित नहीं समझा और प्रकारान्तर से नवाब की आज्ञा का प्रतिवाद किया। इस पर सिराजुद्दौला ने क्रोध में उन्मत्त होकर जगतसेठ के मुंह पर थप्पड़ रसीद किया और उन्हें कैद भी कर लिया। यह बात जब मीरजाफर को मालूम हुई, तो उसने हानि-लाभ

को समझाते हुए जगतसेठ को छोड़ देने का निवेदन किया। पहले तो सिराजुद्दौला ने ध्यान नहीं दिया, परन्तु पीछे होश ठिकाने आने पर उन्हें छोड़ दिया। इस प्रकार तरुण नवाब द्वारा अपमानित होने पर जगतसेठ के हृदय में नवाब के प्रति, प्रतिहिंसा का भाव जाग उठा था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था; क्योंकि जिस जगतसेठ की इज्ज़त दिल्ली का बादशाह तक करता आता था, वह सिराजुद्दौला के समान चंचल बुद्धि वाले नवाब के अपमान को भला किस प्रकार सहन करता। जगतसेठ के हृदय में ज़हर का अंकुर पैदा हो गया और वह नवाब का नाश सोचने लगा। जिस समय बड़े बड़े कर्मचारी और जगतसेठ प्रभृति नवाब को रास्ते पर लाने का उपाय सोच रहे थे, उसी समय सिराजुद्दौला ने आवेश में आकर कम्पनी के अंग्रेजों से भी लड़ाई छेड़ ली। कम्पनी के अंग्रेजों के साथ छेड़छाड़ क्यों हुई, इस सम्बन्ध में एक घटना का वर्णन करना ही पर्य्याप्त होगा।

महाराज राजवल्लभ नवाजिस मुहम्मद तथा उसके मरने पर उसकी बेगम घसीटी को तख्त पर बिठाने के लिए सिराजुद्दौला के विरुद्ध कार्य कर रहा था। अर्थलोलुप सिराज ने महाराज राजवल्लभ की सम्पत्ति जप्त करने का विचार किया। राजवल्लभ उस समय मुर्शिदाबाद में ही था। नवाब की इच्छा उसे किसी प्रकार मालूम हो गई। उसने जब देखा कि, इस बार खैर नहीं है, तो अपने पुत्र कृष्णवल्लभ को ढाके में लिखा कि, सब सम्पत्ति लेकर कलकत्ते में कम्पनी की शरण में चले जाओ। उसने भी ऐसा ही किया। रातों-रात अपनी धन-दौलत लेकर वह ढाका से भाग निकला और नौकाओं द्वारा कलकत्ते आ गया।

इस प्रकार राजवल्लभ का खज़ाना सिराज के हाथ न लग पाया, तो वह आग बबूला हो उठा और जोश में आकर उसने कलकत्ते के अंग्रेजों को लिखा कि, कृष्णवल्लभ को पकड़ कर हमारे हवाले करो। यदि ऐसा न करोगे तो, मैं स्वयं तुमपर चढ़ाई करूंगा और तुम्हें नेस्त-नाबूद कर

दूंगा। इसके साथ ही साथ 'खोजा वाहिद' को अपना दूत वनाकर कलकत्ते भेजा, किन्तु अंग्रेजों ने न तो दूत की बात पर ही ध्यान दिया और न नवाब के पत्र का उत्तर ही सन्तोष-जनक रूप में दिया। घर में तो असन्तोष फैल ही रहा था, अब अंग्रेजों से भी भिड़न्त होने का सूत्रपात आरम्भ हो गया। यद्यपि यह सच है कि, मुर्शिदाबाद के नवाब की राज शक्ति के सामने अंग्रेज व्यापारियों की उस समय कुछ हस्ती न थी और न वे राज्य के भागे हुए व्यक्ति को शरण देने का न्यायोचित अधिकार ही रखते थे। इस दृष्टि से सिराज की मांग बेजा नहीं थी, तथापि आवश्यक यह था कि, वह अपने घर के भीतरी विद्रोह को दबाकर अंग्रेजों से सामना करता। पर गर्म खून नवाब ने इन बातों पर कुछ विचार भी नहीं किया। पहले तो कासिम बाजार की कोठी पर धावा बोल कर उसपर दख़ल किया और बाद में तत्काल कलकत्ते पर चढ़ाई कर दी। * उस समय अंग्रेजों का किला लालडिग्गी के पश्चिम ओर था, जिसका जिक्र हम पहले कर चुके हैं। उसी किले के चारों ओर घमासान युद्ध शुरू हुआ था। पर नवाब की तोपों के सामने अंग्रेज नहीं ठहर सके। कम्पनी के प्रधान 'ड्रेक' आदि बहुत से अंग्रेज अपने बाल-बच्चों को लेकर जहाज़ में बैठ 'फलता' की ओर भाग गए। कुछ अंग्रेज किले में रहे, जिन्होंने

* कासिमबजार की कोठी के अध्यक्ष 'वाटसन' आदि अंग्रेज कैद किए गए थे और हेस्टिंग ने 'काली बाबू' नामक एक बंगाली हिन्दू के घर में शरण ली थी। हेस्टिंग उस समय कम्पनी का एक साधारण कर्मचारी था। कहा जाता है कि, वाटसन प्रभृति अंग्रेजों की रिहाई वाटसन की लेडी के प्रयत्न से हुई। उक्त महिला ने भूतपूर्व नवाब अलीवर्दी खां की बेगम से अपने पति तथा अन्य अंग्रेजों की मुक्ति के लिए आरजू-मिन्नतें कीं। उसकी इस प्रार्थना पर स्त्री स्वभाव के कारण बेगम ने सिराज पर दबाव डाला कि वह अंग्रेजों को छोड़ दे। सिराज ने जब मुक्ति का आदेश दिया, तब वाटसन आदि गले में रुमाल बांध कर नवाब के सामने हाज़िर हुए थे।

मोर्चा लिया। परन्तु; वे भी सहज ही में परास्त कर दिये गए। परिणाम यह हुआ कि, अंग्रेजों को हराकर नवाब सिराजुद्दौला ने २० जून सन् १७५६ को स्वयं सेना के साथ किले में प्रवेश किया। जो अंग्रेज बचे थे, कैद कर लिए गये। उनके साथ कृष्णवल्लभ भी पकड़ लिया गया था। परन्तु उसकी मिन्नतों पर पचास हजार रुपए दण्ड लेकर नवाब ने उसे छोड़ दिया। सिराजुद्दौला ने इस प्रकार जब कलकत्ता अंग्रेजों से खाली करा लिया, तब उसका नाम अलीनगर रक्खा † और सेनापति मानिकचन्द को तीन हजार सेना के साथ कलकत्ते का भार सौंपकर स्वयं मुर्शिदाबाद लौट गया।

इस प्रकार कलकत्ता अंग्रेजों से जब खाली हो गया तो, एक बार सिराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। परन्तु; ऐतिहासिक प्रमाणों से पता लगता है कि, उसी समय से सिराजुद्दौला की राजशक्ति और प्रभाव में भीतर ही भीतर घुन लग गया था। सिराज की चरित्र-भ्रष्टता, अस्थिर-बुद्धि और उद्दण्ड स्वभाव के कारण न केवल हिन्दू प्रजा ही असन्तुष्ट थी; बल्कि बड़े-बड़े राजकर्मचारी, प्रधान प्रधान जमींदार और जगतसेठ महताबचन्द जैसे शक्तिमान्, संभ्रान्त व्यक्ति सशंकित रहने लगे थे। इधर तो आन्तरिक अवस्था यह थी और उधर अंग्रेज कलकत्ते को पुनः प्राप्त करने के लिए सचेष्ट थे। जब अंग्रेजों के हाथ से कलकत्ता निकल जाने का समाचार कम्पनी की प्रधान कोठी मद्रास में पहुँचा, तो वहाँ पर भारी हलचल मच गई। कम्पनी के अध्यक्ष ने बड़े विचार के बाद दस जहाज, नौ सौ गोरे और पन्द्रह सौ देशी सैनिकों के साथ कर्नल क्लाइव और नौ सेनापति वाटसन को रवाना किया। वे सब दिसम्बर सन् १७५६ में हुगली नदी में आ पहुँचे। इसके पहले कलकत्ता से फलता भाग कर

† यद्यपि अंग्रेजों ने कुछ समय बाद कलकत्ते पर पुनः अधिकार प्राप्त कर उसका नाम 'कलकत्ता' ही रहने दिया, तथापि यह प्रकट होता है कि, कुछ स्थान अलीनगर बना रहा, जो आज भी 'अलीपुर' के रूप में विद्यमान है।

गए हुए अंग्रेजों ने २१ अगस्त सन् १७५६ को जगतसेठ महताबचन्द को एक पत्र लिख कर निवेदन किया कि, "नवाब के दरबार में आप हमारे पक्ष का समर्थन कीजिए।" इसके अतिरिक्त दूसरा पत्र जगतसेठ को 'मेजर किलपैट्रिक' ने फलता से ही २३ नवम्बर सन् १७५६ को पुनः लिखा, जिसमें उसने आरजू-मिन्नतें करते हुए निवेदन किया कि, 'आप पर ही सब कुछ निर्भर है और आपके द्वारा ही नवाब के साथ हमलोगों का झगड़ा तय होगा।' इसी समय वारेन हेस्टिंग को कासिम बाजार की कोठी से कैद कर मुर्शिदाबाद की जेल में रखा गया था। वह भी छिपे छिपे जगतसेठ से अपनी रिहाई के लिए निवेदन करता था। परन्तु इसका नतीजा कुछ भी नहीं हुआ। दिसम्बर सन् १७५६ में जब क्लाइव अपने दलबल के साथ हुगली नदी में आ पहुंचा, तो चिन्सुरा में रहनेवाले वेन्ट नामक एक पादरी ने क्लाइव को बतलाया कि, कलकत्ते के सेनापति मानिकचन्द का कोरा आडम्बर है और उसके पास वास्तविक सैनिक शक्ति कुछ भी नहीं है। इसके सिवा क्लाइव को यह भी मालूम हुआ कि, सिराजुद्दौला मानिकचन्द के साथ असद् व्यवहार कर दस लाख रुपए दण्ड स्वरूप ले चुका है। अतः सेनापति होने पर भी वह भीतरी मन से नवाब से असन्तुष्ट है। चतुर क्लाइव ने मानिकचन्द को हाथ में करने का भी प्रयत्न किया। इस प्रकार देखते देखते बिना कोई विशेष प्रयास और बड़ी लड़ाई के सहज में ही अंग्रेजों ने ५ फरवरी सन् १७५७ को कलकत्ता वापस ले लिया। जब क्लाइव ने कलकत्ता वापस ले लिया तो, परिस्थिति एकदम बदल गई और सिराज को क्लाइव के साथ सन्धि करने के लिए मजबूर होना पड़ा। यह सन्धि कतिपय शर्तों के साथ 'अलीनगर की सन्धि' के नाम से हुई थी, जिस पर नवाब की ओर से महाराज राय दुर्लभ* और मीर जाफर के हस्ताक्षर हुए थे।

* इतिहास तिमिर नाशक में बाबू शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने इन्हें अपना पूर्वज बतलाया है।

भारत के सुविख्यात इतिहासवेत्ता



महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा डी० लिट्
साहित्य-वाचस्पति, अजमेर

इस प्रकार जब नवाब के साथ सन्धि हो चुकी तो, कूटनीतिज्ञ क्लाइब भीतर ही भीतर सिराजुद्दौला के सर्वनाश की चेष्टा करने लगा। इधर मुर्शिदाबाद में असन्तुष्ट जनता और बड़े बड़े राजकर्मचारियों तथा जमींदारों की ओर से चलते हुए षड्यन्त्र में राजा दुर्लभराय, राजा रामनारायण, महाराजा राजवल्लभ, कृष्णवल्लभ और मीरजाफर आदि प्रमुख थे। इस षड्यन्त्र के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न हैं। किसी किसी ने तो यहाँ तक लिखा है कि, इस षड्यन्त्र की मन्त्रणा-सभा मत जगतसेठ के भवन पर होती थी और उस मन्त्रणा-सभा में नदिया के जमींदार महाराज कृष्णचन्द्र भी सम्मिलित होते थे। उन्हीं की राय से सिराज के स्थान पर मीरजाफर को नवाब बनाना तय किया गया था। परन्तु इस मन्त्रणा-सभा के होने का समर्थन कईएक इतिहास ग्रन्थों से नहीं होता। पर यह निश्चित-सा है कि, सिराजुद्दौला को पदच्युत कर उसके अत्याचारों से बचने के लिए कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों ने अवश्य ही उद्योग किया था; जिनका खास उद्देश्य दुराचारी शासक को हटाकर किसी दूसरे सुयोग्य व्यक्ति को नवाब बनाना ही था। इस प्रकार सिराजुद्दौला के विरुद्ध उस समय मुर्शिदाबाद में भीतर ही भीतर कई प्रकार की कार्यवाहियाँ चल रही थीं।

यह भी पता लगता है कि, यार लतीब खां, जो कि, नवाब सिराजुद्दौला के सेनापतियों में से था और जिसके अधिकार में दो हजार घुड़सवार सेना थी [1] उसने गुप्त रूप से अँग्रेजों को लिखा कि, यदि अंग्रेज उसे नवाब बनाना मंजूर कर लें तो वह उन्हें मदद देने को तैयार है। इसके सिवा उसी समय मीरजाफर ने भी नवाबी पाने की आशा से अंग्रेजों को पत्र लिखा। इन दोनों उम्मेदवारों के पत्र पहुँचे, तो अंग्रेजों ने मीर-जाफर को नवाब बनाना ही उचित समझा, पर यार लतीब खां को भी

[1] दो हजार घुड़सवारों की यह सेना जगतसेठ की रक्षा के लिये तैनात थी और जगतसेठ की वृत्ति पर उसका पालन होता था।

आश्वासन देकर अपने हाथ में बनाये रक्खा। इसके अतिरिक्त क्लाइव ने कलकत्ते के प्रसिद्ध धनिक व्यापारी सेठ अमीचन्द को भी अपने अनुकूल बना लेने में कमी नहीं की। इसका कारण यह था कि, अमीचन्द उस समय न केवल बड़ा भारी धनिक व्यापारी ही था बल्कि राजनीति में भी प्रमुख स्थान रखता था और वह न केवल अंग्रेजों पर ही, अपितु नवाब सिराजुद्दौला पर भी अपना प्रभाव जमाए हुए था। ऐसी अवस्था में कासिमबाज़ार से वाट्स साहब ने क्लाइव को लिखा था कि, अमीचन्द एक विचित्र व्यक्ति है, उसे किसी प्रकार भी मिलाये रखना आवश्यक है। यदि ऐसा न किया जायगा तो बहुत सम्भव है कि, वह नवाब के सामने हमारे षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ कर दे। इसलिए क्लाइव ने अमीचन्द को तीस लाख रुपए देने की प्रतिज्ञा कर लिखा-पढ़ी की थी। इस प्रकार क्लाइव ने अपने षड्यन्त्र को सब प्रकार से सुदृढ़ बना लिया तो सैनिक शक्ति से सुसज्जित हो, मुर्शिदाबाद की ओर चढ़ खड़ा हुआ। नवाब को जब मालूम हुआ कि, क्लाइव आ रहा है तो वह भी तैयार होकर एक बड़ी सेना के साथ कलकत्ते की ओर चल पड़ा। दोनों ओर की सेनाओं की मुठभेड़ रास्ते में प्लासी के मैदान में हुई * इस युद्ध में क्लाइव के पास केवल तीन हजार सेना थी, और नवाब ५० हजार सैनिक लेकर चढ़ा था। परिणाम जो कुछ हुआ वह इतिहास प्रसिद्ध है। यहाँ पर विशेष कुछ न लिख कर हम इतना ही लिखेंगे कि, नवाब की सेना के सेनापति मीरजाफ़र ने अंग्रेजों से मिल कर धोखा दिया और परिणामस्वरूप सिराजुद्दौला को भागना पड़ा और मीरजाफर के एक व्यक्ति महमदीबेग ने उसको मुर्शिदाबाद की जेल में कत्ल कर दिया।

कहा जाता है कि, प्लासी के इस खेल में दोनों ओर के केवल सत्तर आदमी मरे थे। २३ जून सन् १७५७ को सायंकाल नवाब की छावनी पर क्लाइव का अधिकार हो गया था। इसके बाद दूसरे दिन सात सौ

---

* प्लासी—कलकत्ते से ७० मील पूर्व की ओर है।

सैनिकों के साथ क्लाइब मुर्शिदाबाद में आया और २७ जून सन् १७५७ को मीरजाफर को कतिपय शर्तों के साथ नवाबी गद्दी पर बैठा दिया। मीरजाफर के गद्दी बैठने पर ३० जून को खजाने के बँटवारे पर विचार आरम्भ हुआ। सभी लोग उसमें शरीक थे। क्लाइब ने बड़ी चाल चली और अमीचन्द को अपनी की हुई लिखापढ़ी को जाली बता कर अंगूठा दिखा दिया। इस प्रकार सिराजुद्दौला का नाश हो गया। यह देश का दुर्भाग्य था कि, उसने सावधानी से अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, जिसका परिणाम जैसा होना था, वैसा ही हुआ।

मीरजाफर और अंग्रेजों की राजसत्ता का सूत्रपात—

सन् १७५७ की २४ वीं जून को प्लासी काण्ड जब विचित्र ढंग से समाप्त हुआ और मुर्शिदाबाद की जेलमें सिराजुद्दौला का अन्त कर दिया गया तो क्लाइब ने मीरजाफर को गद्दी पर बैठाया। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि, मीरजाफर भूतपूर्व नवाब अलीवर्दी खाँ का बहनोई होने के कारण नवाब घराने का एक प्रमुख व्यक्ति था और समय-समय पर प्रधान सेनापति भी रह चुका था। शायद यही कारण था कि, सिराजुद्दौला के विरुद्ध जब षड्यन्त्र खड़ा हुआ तब प्रजा के प्रमुख व्यक्तियों ने सिराजुद्दौला के स्थान पर मीरजाफर को ही नवाब बनाना उचित समझा था। मीरजाफर जब नवाब बनाया गया, तो उसने अपने कर्त्तव्य का कुछ भी पालन नहीं किया। वह ऐसा बुजदिल निकला कि, क्लाइब के इशारों का दास बन गया। सच तो यह है कि, देश की स्वतन्त्रता का उसने गला ही घोंट दिया और देशवासियों को सबसे बड़ा धोखा दिया।

क्लाइब ने उससे एक करोड़ रुपये प्लासी-युद्ध सम्बन्धी हर्जाने के मांगे; उसने देना स्वीकार कर लिया। चौबीस परगनों की जमींदारी अंग्रेजों ने चाही, वह भी दे दी गई। इसके बाद अंग्रेजों ने कम्पनी की टकसाल खोलने की इजाजत मांगी, बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के वह भी मंजर हुई। इस प्रकार मीरजाफर नाम-मात्र का नवाब बन

कर सल्तनत का वास्तविक शासनाधिकार अंग्रेजों के हाथ में सौंपता चला गया। इस प्रकार क्लाइव ने मीरजाफर को जब अपने हाथों में कर लिया तो अंग्रेजों का मन बहुत बढ़ गया और वे अपने को बंगाल का कर्त्ताधर्ता समझने लगे। क्लाइव बड़ा चतुर, दूरदर्शी और व्यवहारकुशल था। मीरजाफर को अपने हाथ में कर लेने पर भी हिन्दुओं की ओर से उसे आशंका बनी ही रही। वह जानता था कि, बंगाल में जगतसेठ महताबचन्द की क्षमता और प्रभाव अब भी अत्यधिक है। जगतसेठ जब चाहे बंगाल में इच्छानुसार परिवर्तन कर सकता है। यही कारण था कि, क्लाइव आदि कम्पनी के कर्मचारियों ने जगतसेठ को अपने अनुकूल बनाये रखने में ही कम्पनी का हित समझा। पता लगता है कि, सन् १७५९ के सितम्बर महीने में जब मीरजाफर कलकत्ते गया, तब जगतसेठ महताबचन्द भी उसके साथ थे। अंग्रेजों ने उनके स्वागत के लिये बड़ा भारी आयोजन किया। कलकत्ते का किला भली प्रकार सजाया गया, रोशनी की गई, शहर में स्थान-स्थान पर तोरण-पताका लगा कर उसे सुसज्जित और भव्य बनाया गया। इतिहास से जाना जाता है कि, इस स्वागत समारोह में अंग्रेजों ने प्रायः ८० हजार रुपये खर्च किये थे, जिसमें केवल जगतसेठ की आवभगत और आदर-सत्कार में ही १०३७४) रुपये व्यय हुए।

अंग्रेजों की तरफ से इस प्रकार बड़ी बड़ी चेष्टाएँ होने पर भी देखा जाता है कि, जगतसेठ महताबचन्द मन ही मन चिन्ताग्रस्त हो रहे थे। इसका कारण यह था कि, जिस मीरजाफर को नवाब बनाने में जगतसेठ ने अपनी सम्मति दी थी, उसका इस प्रकार दुरुपयोग होता देख तथा देश के भविष्य का अनुमान कर, वे खिन्न होने लगे थे। इसके अतिरिक्त जगतसेठ स्वभावतः महाजन थे। उन्होंने देखा कि, मीरजाफर जिस प्रकार कम्पनी के अंग्रेजों के इशारों का दास बनता जा रहा है, इसका नतीजा यही होगा कि, नवाब को दिये हुए धन से उन्हें हाथ धोना पड़ेगा।

इन बातों को सोच कर जगतसेठ ने अपने रुपयों का नवाब से तकाजा किया। पर रुपये कहाँ रक्खे थे? खजाना तो पहले ही अंग्रेजों ने हड़प लिया था। नतीजा यह हुआ कि, मीरजाफर और जगतसेठ में मनमुटाव हो गया।

उसी समय दिल्ली का शाहजादा शाह आलम बंगाल पर अपना कब्जा करने के लिये पटने तक आ गया था। इसकी चिन्ता मीरजाफर और कम्पनी के अंग्रेजों को हो रही थी। इधर जगतसेठ महताबचन्द और महाराजा स्वरूपचन्द—दोनों भाइयों ने तीर्थ-दर्शन के लिये अपने प्रधान सिद्ध-क्षेत्र पारसनाथ की ओर प्रस्थान किया। इससे मीरजाफर को भय हुआ कि, जगतसेठ शाहजादे की मदद करने जा रहे हैं। मालूम नहीं कि, अंग्रेजों के उकसाने से या अपनी इच्छा से मीरजाफर ने हुक्म दिया कि, वे आगे न बढ़ सकें। परन्तु जगतसेठ नवाब के हुक्म की पर्वाह न कर अपने दो हजार घुड़सवार सैनिकों के साथ पारसनाथ की ओर बढ़ गये। इस घटना से यद्यपि परस्पर वैमनस्य बहुत बढ़ गया था तथापि कम्पनी के अंग्रेजों ने बीच में पड़ कर मनमुटाव दूर कर दिया।

कतिपय इतिहासकारों ने लिखा है कि, उस समय अंग्रेजों की अर्थ-पिपासा इतनी बढ़ गई थी कि, जिसके कारण मीरजाफर को दिनरात तंग रहना पड़ता था। इसी अर्थ-संकट के कारण मीरजाफर ने सन् १७६० में उन्हीं हिन्दुओं से, जिनकी विशेष सहायता और सहानुभूति से ही वह नवाबी पाने में समर्थ हुआ था, धन प्राप्त करने के लिये छेड़छाड़ शुरू की। यह तो नहीं कहा जा सकता कि, इस छेड़छाड़ में भी कंपनी के अंग्रेजों की प्रेरणा थी, क्योंकि ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण देखने में नहीं आता। पर यह निश्चित बात है कि, महाराजा राय दुर्लभ, पटने का हाकिम राजा रामनारायण, मेदिनीपुर का शासक राजा रामसिंह, * और पूर्णिया के

---

* राजा रामसिंह और आदित्यसिंह नशीपुर घराने के अग्रवाल थे। महाराजा राय दुर्लभ मीरजाफर से वैमनस्य होने पर मुर्शिदाबाद से कलकत्ते जा बसे थे।

फौजदार राजा आदित्यसिंह आदि समृद्धिशाली पुरुषों से नवाब ने वैमनस्य कर अपने प्रति उनकी सहानुभूति खो दी थी। पर अंग्रेज बड़ी चतुराई और सावधानी से अपने स्वार्थ में लगे हुए थे। जब उन्होंने देखा कि, महाराजा राय दुर्लभ आदि संभ्रान्त हिन्दू मीरजाफर से नफ़रत करने लगे हैं तो, उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया और अपने स्वार्थ-साधन का अच्छा अवसर देखकर मीरजाफर के दामाद मीरकासिम को नवाब बनाने का प्रलोभन दिया। इसपर वह मेदिनीपुर तथा बर्दवान का परगना कम्पनी को देना स्वीकार कर कतिपय अन्य शर्तों के साथ अपने श्वसुर के स्थान पर नवाब बनने के लिये तैयार हो गया। यह वही कासिम था, जिसने एक दिन सिराजुद्दौला को निस्सहाय अवस्था में बन्दी कर अपने श्वसुर के हित-साधन की कामना से, उसे मुर्शिदाबाद की जेल में डाल दिया था और आज वही अपने श्वसुर को हटाकर स्वयं नवाब बनने के लिये अग्रसर हुआ। अंग्रेजों ने मीरजाफर पर यह दोष लगाया कि, वह चिन्सुरा के हालेण्डरों से गुप्त षड्यन्त्र रचता है, उसे गद्दी से उतार दिया और सन् १७६० में उसके जामाता मीरकासिम को मसनद पर विठा दिया।

मीरकासिम और जगतसेठों की हत्या—

मीरजाफर के सिंहासनच्युत होने पर सन् १७६० में मीरकासिम मुर्शिदावाद का नवाव बनाया गया। अंग्रेजों ने मेदिनीपुर, चट्टग्राम और बर्दवान परगने लेकर उसे नवाब बनाया था। गद्दी पर बैठते समय उसने प्रतिज्ञा की थी कि, वह जगतसेठ के परामर्श से शासन-कार्य संचालन करेगा। मीरकासिम न तो सिराजुद्दौला की तरह चंचल मन और चरित्रहीन ही था और न अपने श्वसुर मीरजाफर की तरह वुजदिल और कायर ही। अधिकार पाते ही उसने अनुभव किया कि, ईष्ट इण्डिया

बाद में उनके वंशज बनारस जाकर रहने लगे थे। ये भी अग्रवाल थे। आगे चलकर इस वंश में शिवप्रसाद सितारे हिन्द हुए। (इतिहास तिमिर नाशक)

कम्पनी के लिए व्यापारिक कर माफ होने से देश के व्यापारी तबाह हो रहे हैं। कम्पनी के अंग्रेज बिना जक़ात दिये व्यापार कर सकें और इस देश के व्यापारियों को कर देना पड़े—यह सर्वथा अनुचित है। उसने यह भी अनुभव किया कि, नमक एक ऐसी आवश्यक वस्तु है, जिसकी जरूरत अमीर-गरीब सभी को होती है। कम्पनी को कर माफ होने से नमक का कारबार भी अंग्रेजों के हाथ में पूर्ण रूप से चला गया है; इस अवस्था में देशी व्यापारी प्रतियोगिता में ठहर नहीं सकते। इन सब बातों का अनुभव कर मीरकासिम ने युक्तियुक्त ढंग से अंग्रेजों को लिखा कि, अन्य सभी व्यापारियों की तरह उन्हें भी कर देना होगा। न्याय की दृष्टि से ऐसा होना आवश्यक है। परन्तु अंग्रेजों को यह हुक्म कैसे स्वीकार हो सकता था। उन्होंने जब इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया तो, मीरकासिम ने देशवासी व्यापारियों को भी सब प्रकार के करों से मुक्त कर दिया। मीरकासिम का यह कार्य न्याय और समानाधिकार की पूर्ति का था। इस निर्णय से उसकी तेजस्विता और प्रजा-वात्सल्यता प्रकट होती है। यह कहा जा सकता है कि, उसमें न केवल शासन करने की योग्यता ही थी, बल्कि देशवासियों के प्रति न्यायोचित भाव भी था। परन्तु नवाब की इस आज्ञा से अंग्रेजों के कान खड़े हो गये। वे समझने लगे कि, मीरजाफर की तरह मीरकासिम को उल्लू बना कर काम निकालना सहज कार्य नहीं है। नतीजा यह हुआ कि, परस्पर में लिखापढ़ी होने लगी। इधर मीरकासिम का कहना था कि, बंगाल का वह शासक है और उसका न्यायोचित हुक्म अंग्रेजों को मानना पड़ेगा। उधर अंग्रेज समझते थे कि, प्लासी के युद्ध में उन्होंने विजय पाई है और इस समय वे ही बंगाल के भाग्यविधाता हैं। मीरकासिम उनकी इच्छा से ही शासन चला सकता है। पर यह सम्भव नहीं था कि, मीरकासिम जैसा तेजस्वी नवाब उनसे दब जाता। कहा जाता है कि, जगतसेठ महताबचन्द उस समय देश की बदलती हुई राजनैतिक परिस्थिति का

गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर रहे थे। जब उन्होंने इस वैमनस्य में किसी प्रकार का भाग नहीं लिया तो मीरकासिम को उन पर सन्देह होने लगा। मालूम होता है कि, मीरकासिम के हृदय में इस बात का डर हो गया था कि, यदि जगतसेठ महताबचन्द अंग्रेजों में मिल जायगा तो, बड़ी हानि हो सकती है। उस समय उसने अपनी सभी प्रकार की योग्यता, गम्भीरता और विवेक को भुला दिया और इतने आवेश में आ गया कि, जगतसेठ महताबचन्द और उनके भाई महाराजा स्वरूपचन्द को मुँगेर में बुला कर पहले तो कैद कर लिया और थोड़े दिनों के बाद उनकी हत्या भी कर डाली।

इस दृष्टिसे गंभीरतापूर्वक मनन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि, जब मीरकासिम और कम्पनी के अंग्रेजों में कर सम्बन्धी वादविवाद शुरू हुआ; उस समय बड़ी भारी राजनैतिक चालें चली जा रही थीं। एक ओर कम्पनी का गवर्नर वेन्सिटार्ट प्रकट में मीरकासिम का पक्ष ग्रहण करता दिखाई देता था और दूसरी ओर कम्पनी की कौंसिल के अन्य सभी सदस्य उसके विरुद्ध थे। अंग्रेजों की यह चाल कितनी विचित्र थी, यह एक विचारणीय बात है। क्या आश्चर्य है कि, जगतसेठों की इस प्रकार एकाएक हत्या करने के लिए गुप्त रूपसे किसी दूसरी शक्ति की भी प्रेरणा रही हो और मीरकासिम ने किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनकर हत्या कर डाली हो। कारण, उस समय जैसी गम्भीर समस्या उपस्थित हो गई थी, उसे सुलझाने के लिए एक मात्र आधार जगतसेठ ही दिखाई पड़ते थे और यह सर्वथा संभव था कि, जगतसेठ जिसका साथ देते, उसका पलड़ा भारी होता। परन्तु जगतसेठ के मौनावलंबन ने दोनों ओर सन्देह उत्पन्न कर दिया था। दोनों पक्ष उन्हें अपने-अपने विरुद्ध समझने लगे। बहुत संभव है कि, अंग्रेजों ने यह अनुभव किया हो कि, यदि जगतसेठ महताबचन्द मीरकासिम के साथ पूर्ण रूपसे हो जायगा तो कम्पनी का बना बनाया खेल विध्वंस हो जायगा। उधर मीरकासिम ने यह समझा

'शारदा एक्ट' के निर्माता सुप्रसिद्ध समाजसेवी



दीवान बहादुर हरबिलासजी शारदा (अजमेर)

हो कि, जगतसेठ के कम्पनी के साथ मिल जाने से उसे ही सल्तनत से हाथ धोना पड़े। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि, अंग्रेजों के मन में यह भाव भी पैदा हुआ हो कि, मीरकासिम के प्रति उसकी देशभक्ति पूर्ण कार्यवाहियों से प्रजावर्ग का जो दृष्टिकोण बदल रहा है, उसका परिवर्तन करना भी आवश्यक है। क्या आश्चर्य है कि, इन्हीं सब कारणों से किसी न किसी प्रकार यह काँटा दूर किया गया हो। परन्तु. इसका परिणाम देश के लिये बड़ा ही भयंकर एवं घातक हुआ। जगतसेठों के बाद बंगाल में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं रह गया जो उस समय की कठिन राजनैतिक परिस्थिति को सम्हाल सकता। जगतसेठों की हत्याएँ क्या हुई मानो उसी दिन से बंगाल में देश की राजनीति का अन्त हो गया।

हमारी धारणा है कि, मीरकासिम अन्य नवाबों की अपेक्षा जानदार शासक था। कठिन परिस्थितियों में शासनाधिकार प्राप्त करके भी वह कंपनी के अंग्रेजों के इशारों का दास नहीं बना था। उसने देश के प्रति न्यायोचित कार्य करना प्रारम्भ किया था। पर खेद है कि, वह भी स्थिर-चित्त न रह सका और देश की बची-खुची एकमात्र विभूति जगतसेठों को नष्ट करने का कलंक भी उसके सिर पर पड़ा।

हमारी इच्छा थी कि, इस अध्याय में हम उन बातों पर भी प्रकाश डालें, जिनका संबंध भारत की स्वदेशी राजसत्ता के परिवर्तन से है और हालवेल द्वारा प्रचारित किये गये हत्याकाण्ड पर भी विचार करें। किन्तु यहाँ हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि, हम इन बातों पर पूर्ण रूप से विचार कर सकें। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि, उस समय देश की अवस्था बदल चली थी, हिन्दू और मुसलमान इन दो प्रधान जातियों में परस्पर अविश्वास प्रकट होने लगा था, व्यक्तिगत स्वार्थ ने अनेकों भारतवासियों का नैतिक पतन कर दिया था, प्रजा-रक्षक शासक रक्षक के स्थान पर भक्षक बन रहे थे, जिससे सर्वसाधारण प्रजावर्ग में असन्तोष बढ़ने लगा था।

हम देखते हैं कि, वर्तमान समय में राजनैतिक परिस्थितियों के परिवर्तन से हमारा यह दृष्टिकोण हो गया है कि, जिससे हम यह समझने लगे हैं कि, सिराजुद्दौला के समय कुछ भारतवासियों ने षड्यंत्र नहीं रचा होता, तो भारत पराधीन न होता। परन्तु यह कहना कि, देश को पराधीन बना देने की सारी जिम्मेदारी उन्हीं पर है—युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। ऐतिहासिक अनुसन्धान करने पर भी हमें कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि, उस षड्यंत्र में किसी राजनैतिक भावना से कोई कार्य किया गया हो। हमें तो यही जान पड़ा कि, सिराजुद्दौला की देशभक्ति पर पूर्ण विश्वास होने पर भी प्रजा पर उसकी चरित्रहीनता का आतंक बढ़ गया था—उससे त्राण पाना ही देशवासियों का एक मात्र उद्देश्य था।

इसके सिवा दूसरी बात कलकत्ते के किले के हत्याकाण्ड की है। ऐतिहासिक अनुसन्धान से यह सिद्ध हो चुका है कि. यह चतुर-चालाक अंग्रेज राजनीतिज्ञों की कूट-नीतिपूर्ण कल्पना ही है। सत्यता और युक्तिपूर्ण ऐतिहासिक खोज से आज उसकी सत्यता प्रमाणित नहीं होती। पर हम देखते हैं कि, लार्ड कर्जन जैसे राजनीतिज्ञ ने भी कलकत्ते के डलहौसी स्कायर के पास 'हालवेल मौनूमेण्ट' बना कर तथा कालकोठरी का स्थान निर्देश कर भारतवासियों पर यह कलंक मढ़ने की स्थायी चेष्टा की। यह बड़े दुःख की बात है। इसके रहते हुए अंग्रेज और भारतवासियों में पारस्परिक सद्भाव नहीं रह सकता। अतएव आवश्यकता यह है कि, इस प्रकार की मिथ्या और कलंकस्वरूप जितनी भी घटनायें हों उन्हें भारतवर्ष के भावी इतिहास में कोई स्थान नहीं मिले, न इस प्रकार के कलंकित चिह्न ही देश में कहीं रहें।

जगतसेठों की हत्याएँ हो जाने के पश्चात् एक ओर तो उनके जोड़ का कोई प्रभावशाली व्यक्ति नहीं रहा और दूसरी ओर अंग्रेज भी निश्चिन्त हो गये।

अंग्रेजों की राजसत्ता—

परिणाम यह हुआ कि, मीरकासिम को भी उनके मुकाबले में भागना पड़ा। फिर क्या था, अंग्रेजों के लिये सभी काँटे दूर हो गये। मीरकासिम के भाग जाने के बाद पुनः एक बार मीरजाफर को नवाब बनाया गया। पर अब क्या था ? मीरजाफर ने देश की रही-सही स्वतन्त्रता का भी गला घोंट दिया। उसने १७६५ में अपना खेल समाप्त कर दिया। उसके बाद निजामुद्दौला को अंग्रेजों ने नवाब बनाया। पर कहना चाहिये कि, आगे जितने भी नवाब गद्दी पर बैठे, वे प्रायः जमींदार ही रह गये थे।

सन् १७६५ में लार्ड पदवी प्राप्त कर क्लाइव फिरसे बंगाल में आया और उसने बादशाह शाह आलम से २६ लाख रुपये सालाना देकर ंगाल की दीवानी प्राप्त कर ली, तो अंग्रेजों का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा। सन् १७७२ में वारेन हेस्टिंग्स कम्पनी का गवर्नर-जेनरल बनाया गया, जिसने देशवासियों पर अपना आतंक कायम कर दिया। महाराजा नन्दकुमार को एक जाली मामले में फँसा कर फाँसी पर चढ़ाया गया। इस अवस्था में देशवासियों के लिये यह समझना कठिन हो गया था कि, वास्तव में हेस्टिंग्स की नीति क्या है ?



६

बंगाल में मारवाड़ी



बंगाल, बिहार और उड़ीसा इन तीनों प्रान्तों में मारवाड़ियों का आवागमन प्राचीन काल से रहा है। अतीत काल से मारवाड़ी जाति के आस्तिक व्यक्ति अपने प्रान्त—राजस्थान से चल कर तीर्थ-दर्शन के लिए * इन प्रान्तों

* बिहार प्रान्त हिन्दुओं की तपोभूमि के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रान्त में बड़े-बड़े तपस्वी महात्मा और चक्रवर्ती नरेश हुए हैं। जैनियों का तो यह प्रान्त सर्वप्रधान तीर्थस्थान है। उनका सम्मेद शिखर (पार्श्वनाथ पहाड़) जिसका महत्व यह बताया जाता है कि, उनके चौबीस तीर्थङ्करों में से बीस तीर्थङ्कर उसी शैल पर निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इसके अतिरिक्त चंपापुर, पावापुर आदि और भी अनेक तीर्थ उनके विहार में हैं। गयाजी का महत्व तो पौराणिक हिन्दुओं में अत्यधिक माना जाता है। पौराणिक हिन्दू बराबर ही पितृ-श्राद्ध करने के लिए गयाजी में आते रहे हैं। बुद्ध गया की विशेषता तो एक इसी बात से प्रकट होती है कि, वहां पर भगवान् बुद्धदेव का निर्वाण हुआ था। उड़ीसा का श्री जगन्नाथ धाम और बंगाल का काली-क्षेत्र, ताड़केश्वर महादेव, त्रिवेणी-संगम और गंगासागर आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

में आते थे और तीर्थ-यात्रा कर वापिस चले जाते थे। उनके आवागमन का एक मात्र लक्ष्य तीर्थ-दर्शन ही था।

हमने जब यह अनुसन्धान करना आरम्भ किया कि, मारवाड़ी समाज के व्यक्ति बंगाल में रहने तथा वाणिज्य-व्यापार करने के लक्ष्य से पहले पहल कब आये, तो हमने तत्संबन्धी अनेक प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया। मध्यकालीन भारत के भी अनेक ग्रन्थ देखे और अन्य स्फुट बातों पर भी मनन किया। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचे कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों का बंगाल में पहले-पहल आगमन सन् १५६४ अर्थात् विक्रमी संवत् १६२१ में हुआ है। इस संबन्ध में हमने पहले बतलाया है कि, उस समय बंगाल की राजधानी गौड़ नगरी थी और बंगाल का शासन सुलेमान किरानी करता था। हमने यह भी बतलाया है कि, उसने दिल्ली के तत्कालीन बादशाह अकबर की आधीनता स्वीकार कर ली थी और उसके सहायतार्थ बादशाह की ओर से राजपूत सेना बंगाल में आकर रहने लगी थी। जो व्यक्ति सेना के साथ रसद जुटानेवाले विभाग—मोदीखाने में आये थे, वे जोधपुर—मारवाड़ के रहनेवाले वैश्य थे। उन्होंने सेना में भी काम किया और वाणिज्य-व्यापार भी करने लगे। इसके पश्चात् सन् १६०५ में महाराजा मानसिंह जब बीस हजार राजपूत सेना के साथ बंगाल में आये और यशोर के भौमिक राजा प्रतापादित्य को परास्त कर बंगाल का उपद्रव शान्त किया, तब उनके नाम की धाक बंगाल में जम गई। महाराजा मानसिंह ने कतिपय मारवाड़ियों को राजकार्य में स्थान दिया, जिससे राजसत्ता के सहारे मारवाड़ी जाति का पैर बंगाल में जम गया। राजकाज के सिवा जिन मारवाड़ियों ने वाणिज्य-व्यापार करना शुरू किया, उन्होंने मारवाड़ (जोधपुर) के वासी होने के कारण अपना परिचय 'मारवाड़ी' कह कर दिया, जिससे आगे चलकर यह नाम देशव्यापी हो गया।

इस प्रकार ईस्वी सन् १५६४ से लेकर आज तक प्रायः पौने चारसौ

वर्षों का समय बंगाल में मारवाड़ी जाति से सम्बन्ध रखता है। इस अध्याय में हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि, मारवाड़ी जाति के कर्मशील पूर्वज, पहले-पहल कैसे आये और उन्होंने यहाँ आकर क्या क्या किया ? किस प्रकार अपनी किन-किन विशेषताओं के कारण, इस बृहद् बंगाल प्रदेश में अपनी ज्ञाति का बीजारोपण करते हुए उसकी साख जमाने में कृतकार्य हुए। उस समय उनकी नैतिक अवस्था कैसी थी, धार्मिक और सामाजिक भाव कैसे थे, वाणिज्य-व्यापार तथा राजकार्य में उन्होंने कैसे और कहाँ तक भाग लिया था, व्यावहारिकता और समय की परिस्थिति को समझने तथा उसके अनुसार कार्य करने में वे कहाँ तक दक्ष थे. परिश्रमशीलता, ईमानदारी, एवं मिलनसारी कहाँ तक उनमें भरी हुई थी और कहाँ तक वे कष्टसहिष्णु थे। इसके अतिरिक्त हम यह भी बताने की चेष्टा करेंगे कि, किस किस समय में उनकी कैसी कैसी अवस्था रही और आज इस जाति की कैसी परिस्थिति है। इन सब बातों के साथ ही साथ हम यह भी बतावेंगे कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने किस प्रकार भारत के अन्य प्रान्तों में भी बस कर अपना अस्तित्व कायम किया और आज वे उन प्रान्तों में अपना स्थायी निवास बना कर न केवल वहाँ के प्रवासी (Domiciled) ही बने हुए हैं अपितु, उन्होंने प्रान्त के मूल-निवासियों की तरह स्थायी निवासी (Naturalisation) होने का हक प्राप्त कर लिया है।

राज-काज और वाणिज्य-व्यापार

(सन् १५६४ से सन् १७०० तक)

हमने पिछले अध्यायों में बतलाया है कि, सन् १५६४ में पहले-पहल सैनिक रूप में मारवाड़ी जाति के व्यक्ति बङ्गाल में आए। इन आनेवालों में राजपूत और वैश्य दोनों थे। वे सेना में भी काम करते रहे और वाणिज्य-व्यापार की भी चेष्टा करने लगे। उन्होंने अपनी स्वाभाविक व्यापार-पटुता के कारण अपने व्यापार का श्रीगणेश, इस आधार पर किया कि, अपनी राजपूत सेना के लिए जो-जो वस्तुएं उन्हें आवश्यक प्रतीत होती, उन वस्तुओं का संग्रह वे स्वतंत्र रूप से पहले से ही मन्दे भाव में कर लेते थे और जब जिस चीज की मांग होती, उचित दाम लगा कर सेना में सप्लाई करते थे। इस व्यवस्था से सेना को भी लाभ होता था और उनके लिए व्यापार का एक जरिया निकल आया था। यह अवस्था प्रायः पन्द्रह बीस वर्ष तक रही।

इसके बाद गौड़ नगरी के शासक दाउद खां के मारे जाने पर पठान वंश की राजसत्ता बदल गई, तो दिल्ली के तत्कालीन बादशाह अकबर ने बङ्गाल का शासन अपने हाथ में ले लिया और राजा टोडरमल को पहला सूबेदार बनाकर सन् १५८० में बङ्गाल में भेजा। राजा टोडरमल ने बङ्गाल में आकर किस प्रकार बुद्धिमानी के साथ शासन-व्यवस्था की, इसका दिग्दर्शन हम पहले करा चुके हैं। शासन-व्यवस्था करते हुए उन्होंने कतिपय मारवाड़ियों को उनकी योग्यतानुसार राज-कार्य में भर्ती किया। इसके अतिरिक्त सन् १६०५ में बीस हजार राजपूत सेना के साथ जब महाराजा मानसिंह बङ्गाल में आए और यहां आकर यशोर के भौमिक राजा प्रतापादित्य को परास्त कर उसका उपद्रव शान्त किया तो महाराजा मानसिंह की धाक बङ्गाल में जम गई। शासन-व्यवस्था करते हुए



श्रीयुक्त आनन्दरामजी जयपुरिया
(फर्म—आनन्दराम गजाधर)

उन्होंने कतिपय बङ्गालियों को बड़े-बड़े परगने देकर जमींदार बनाया और बहुतों को एक-एक और दो-दो मौजे बकसीस में दिये, जिससे वे मौजुमदार कहे जाने लगे। इसके साथ ही साथ उन्होंने अपने कई एक मारवाड़ी भाइयों को भी शासन-कार्य में शामिल किया। परिणाम यह हुआ कि, इस प्रकार राजसत्ता के सहारे मारवाड़ी जाति का पैर बङ्गाल में जम गया, और राज-कार्य के साथ ही साथ वाणिज्य-व्यापार में भी उसकी साख जमने लगी। मारवाड़ी जाति की यह अवस्था प्रारम्भिक और साधारण थी। परन्तु उस समय धीरे-धीरे जो उन्नति हुई, वह ठोस थी। इस जाति के व्यक्ति एक ओर राज-कार्य में अपनी तरक्की करते जाते थे और दूसरी ओर अपनी ईमानदारी, मिलनसारी, सच्चाई और परिश्रमशीलता से देशवासी व्यापारियों पर अपना विश्वास बढ़ाते जाते थे। उस समय उनका रहन-सहन बहुत ही सीधा सादा और मितव्ययिता का था। राजसत्ता का सहारा होनेपर भी, उन्होंने देशवासियों के साथ कभी उद्दण्ड व्यवहार नहीं किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि, क्रमशः मारवाड़ी जाति की उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता चला गया।

यहाँ पर यह बताना भी आवश्यक है कि, उस समय राजपूताना से चलकर बङ्गाल में आना सहज कार्य नहीं था। मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत थीं। नदी-नाले और बीहड़ जंगल पार करने पड़ते थे। बङ्गाल में पहुँचने में महीनों लग जाते थे। रास्ते में डाका-डकैती और चोरों का डर भी कम नहीं था। ऐसी अवस्था में बड़ी कठिनाई के साथ संघ बना कर ही लोग यात्रा करते थे। पता लगता है कि, अधिकांश व्यक्तियों का आगमन दिल्ली से आनेवाली सेनाओं के साथ ही हुआ करता था। यहाँ आने पर भी उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। यह बात न थी कि, आये और काम में लग गये। रहने की व्यवस्था भी कम कष्टप्रद न थी। दो-दो चार-चार आदमी बङ्गालियों के कच्चे घर भाड़े पर लेकर मिलजुल कर रहते थे। रसोई बनाना, आदि सभी

कार्य वे अपने हाथ से करते थे। जिस व्यक्ति के पास सौ रुपए होते, वह नौकरी की तलाश न कर छोटी-मोटी दूकान करना ही पसंद करता था। जिसके पास रुपए नहीं होते, वह भी जहाँ तक संभव होता, या तो दलाली करने लगता था या फेरी के काम में जुट जाता था। उनकी मनोवृत्ति ऐसी नहीं थी कि, किसी से किसी प्रकार की याचना की जाय। इसे वे अपना नैतिक पतन समझते थे। कष्ट सहना उन्हें मंजूर था, पर गिड़-गिड़ा कर काम निकालना वे हेय समझते थे। उस समय के लोगों में शारीरिक बल अधिक था और साधारणतया वे किसी से भय नहीं खाते थे। यही कारण था कि, वे किसी दूकानदार से थोड़ा बहुत माल लेकर अपने कंधे पर लाद, देहातों में जाकर उसे बेच आते थे। साधारणतया नौकरी करना वही व्यक्ति पसंद करता था, जिसे स्वतंत्र रूप से खरीद-बिक्री करने का मौका नहीं मिलता था। उस समय के लोगों की यह धारणा थी कि, नौकरी करने से मनुष्य का भाग्य नहीं चमक सकता। वह अपना पेट भर सकता है। छोटी-मोटी दूकान कर लेने तथा फेरी आदि में लग जाने से आगे चलकर उसका अभ्युदय हो सकता है। यही कारण था कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने कष्टों की कोई परवाह न कर अपने अध्यवसाय से बंगाल में अपनी जाति का बीजारोपण किया और अपनी साख जमाने में समर्थ हुए। अब हम उन व्यक्तियों का कुछ परिचय पाठकों को करावेंगे जिनके नाम विशेष रूप से इतिहास में हमारे दृष्टिगोचर हुए।

पाँचवे अध्याय से पाठक यह जान चुके हैं कि, सन् १६३८ में

राय बालकृष्णजी और सेठ लच्छीरामजी— बादशाह शाहजहाँ का पुत्र शाह शुजा जब सूबेदार बनकर बंगाल में आया, तो बाल-मित्र होने के कारण राय बालकृष्णजी भी शाह शुजा के साथ दिल्ली से चलकर बंगाल में आ गये और यहीं पर रहने लगे। हमने यह भी बतलाया है कि, राय बालकृष्णजी जाति के अग्रवाल थे। इनके घराने का आदि निवासस्थान जोधपुर-मारवाड़ राज्य में था।

दिल्ली के बादशाहों के साथ मैत्री तथा घनिष्टता होने के कारण, उनके पूर्वज पहले से ही दिल्ली में आ बसे थे। वे धनी होने के सिवाय, बादशाही घराने में सम्मानित समझे जाते थे। राय बालकृष्णजी बंगाल में आकर एक ओर तो अपने मित्र शाह शुजा को राज-कार्य में परामर्श देते रहे और दूसरी ओर अपना वाणिज्य व्यापार भी करने लगे। यह एक अनुभवपूर्ण बात है कि, राजसत्ता का सहारा होने से किसी भी जाति का व्यापार जम जाना आसान हो जाता है। इस प्रकार उनका व्यापार जम गया, तो उनकी कोठी से लाखों रुपयों का कारबार होने लगा। नौकरी चाहनेवाले मारवाड़ी भाई को उनकी कोठी से नौकरी मिलने लगी और जो भाई अपने कारबार की वृद्धि के लिए रुपये चाहते, उन्हें उचित सूद पर रुपये मिल जाते थे। पता लगता है कि, उनका कारबार देशवासियों के अतिरिक्त विदेशी व्यापारी पोर्तगीज, डेनमार्क और अङ्गरेज आदि सभी लोगों के साथ होता था। बालकृष्णजी के पुत्र सेठ लच्छीरामजी कारबार चलाने में और भी अधिक दक्ष थे। उन्होंने सभी प्रकार के व्यवसायों के साथ ही साथ सराफी का काम बड़े पैमाने पर करना शुरू किया। हुण्डी-पुर्जे और खाते के रूप में लाखों रुपये वे विनिमय करते थे, जिसका फल यह हुआ कि, मारवाड़ी जाति के व्यापारियों की उन्नति होने लगी। सेठ लच्छीरामजी को अपने धन का उचित ब्याज मिल जाता था और सर्व-साधारण मारवाड़ी भाई धन की सुगमता होने से अपनी उन्नति करने का सुअवसर पा जाते थे। सच तो यह है कि, उनकी कोठी से सर्वसाधारण भाइयों को अत्यधिक सुगमता प्राप्त हो गई थी। सेठ लच्छीरामजी के वंश में सेठ अमीचन्द हुए, जिनके सम्बन्ध में हम आगे चलकर यथास्थान लिखेंगे। यहांपर इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि, इसी घराने में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ, जिनके नाम की ख्याति आज भी हिन्दी संसार में सर्वश्रेष्ठ बनी हुई है। ※

※ "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र"

इनके सम्वन्ध में भी पूर्व अध्याय में उल्लेख किया गया है कि, इनका

सेठ चूहड़मलजी—

कारवार सन् १६६० के लगभग वङ्गाल, विहार और उड़ीसा इन तीनों प्रान्तों में वड़े पैमाने पर होता था। पटने की कोठी प्रधान थी। ईष्ट इण्डिया कम्पनी के विदेशी सौदागरों को ये लाखों रुपये उधार छोड़ते थे। कम्पनी के तत्कालीन कर्मचारी जाव चार्नक के साथ इनका वहुत अधिक कारवार होता था। चार्नक ने अपनी डायरी में लिखा है कि,

"हिन्दुस्थान में मारवाड़ी नामक एक व्यापारीपटु जाति है, जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि, वह व्यापारपटु होने के साथ ही साथ परिश्रमशील और ईमानदार भी है। कम्पनी यदि चाहे तो इस जाति के व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त कर हिन्दुस्थान में अपने व्यापार का अधिकाधिक प्रचार कर सकती है।"

खेद है कि, सेठ चूहड़मलजी के वंश में अब कौन है और वे कहां रहते हैं, यह खोज करने पर भी कोई पता नहीं चला।

सैनिकों में कवि वृन्द का नाम उल्लेखनीय पाया जाता है। वे कृष्ण-

कवि वृन्द—

गढ़ के रहनेवाले थे और कृष्णगढ़ की सेनामें किसी उच्च पद पर भरती होकर वङ्गाल में आये थे। उन्होंने ढाका में रह कर कितने ही वर्षों तक सेना का कार्य-सञ्चालन किया। उनकी वीरता और युद्धपटुता तथा विशेषताओं का निर्देश इतिहास में पाया जाता है, जिससे पता लगता है कि, उस समय उनकी ख्याति वहुत अधिक हो गई थी। वे जितने वड़े योद्धा थे उतने ही साहित्यरसिक और विद्वान् भी थे। ढाके में रहते समय उन्होंने "वृन्द सतसई" नामक काव्य-ग्रन्थ का निर्माण किया था, जिसका गौरवपूर्ण स्थान आज भी हिन्दी साहित्य में है।

सन् १६५२ में मारवाड़ के नागौर शहर से चलकर साह हीरानन्दजी

साह हीरानन्दजी—

पहले-पहल विहार प्रदेश के पटने शहर में आये थे। इन्हीं के वंशधर आगे चलकर जगतसेठ कहलाये। इस सम्वन्ध में हम विस्तारपूर्वक आगे लिखेंगे।

यहाँ पर यह लिखना आवश्यक है कि, सन १५६४ से १७०० ई० तक का समय मारवाड़ी जाति के लिए प्रारंभिक अवस्था में अपनी साख जमाने का था। इस अर्से में इस जाति के व्यक्तियों ने राज-कार्य भी किया और वाणिज्य-व्यापार भी जमाया। उनके ये सभी कार्य प्रगतिशील और ठोस रूप में होते रहे। यही कारण था कि, सत्रहवीं शताब्दी के शेष होते-होते मारवाड़ी जाति की साख बंगाल में जम गई और बंगाल प्रान्त के निवासी यह समझने लगे कि. मारवाड़ी जाति के व्यक्ति राज-काज में जितने निपुण हैं—उससे कहीं अधिक वाणिज्य-व्यापार में भी योग्यता रखते हैं।

जगतसेठों का प्रादुर्भाव

(व्यापार और राजनीति में उल्लेखनीय उन्नति)

(सन् १७०० से सन् १७६५ तक का समय)

हमने पूर्व अध्याय में बतलाया है कि, सन् १६९० में बादशाह औरंगजेब के फर्मान के आधार पर बङ्गाल के तत्कालीन सूबेदार इब्राहिम खां ने ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेजों को पुनः बङ्गाल में आकर वाणिज्य-व्यापार करने के लिये अभय वचन दिया, तो कम्पनी का प्रधान कर्मचारी जाब चार्नक अपने दल-बल के साथ मद्रास से चलकर बङ्गाल में फिर से आ गया और अपने पूर्व निश्चित-लक्ष्य-स्थान सूतालूटी घाट पर ही डेरा डाल कर कम्पनी के वाणिज्य-व्यापार को जमाने लगा। इसके अतिरिक्त हमने यह भी बतलाया है कि, उसने सूबेदार आजम उस्मान से तीन ग्राम खरीद लेने की आज्ञा प्राप्त कर बेहला के सावर्न-चौधरियों से सूतालूटी,

गोविन्दपुर और कालीकाटा खाल की जमींदारी ले ली तो कम्पनी के लिए सूतालूटी एक प्रकार से स्वतंत्र स्थान कायम हो गया। इस प्रकार एक ओर तो ईष्ट इण्डिया कम्पनी के विदेशी सौदागरों की नींव सूतालूटी में पड़ी और दूसरी ओर मुगलों की राज-व्यवस्था में भी परिवर्तन हुआ। पाठक जान चुके हैं कि, सूवेदार आजम उस्मान और मुर्शिदकुली खां में मनमुटाव होने के कारण बङ्गाल का माली विभाग सूवेदार की आधीनता से अलग कर दिया गया था और फलस्वरूप मुर्शिदकुली खां राजधानी ढाके को छोड़ कर अपने माली विभाग को लेकर मुर्शिदावाद में आ गया था। हमने यह भी वतलाया है कि, मुर्शिदकुली खां और सेठ मानिकचन्द में वहुत अधिक मित्रता थी। यही कारण था कि, मुर्शिदकुली खां के साथ ही सेठ मानिकचन्द भी ढाके से मुर्शिदाबाद में आ गये थे और महिमापुर में रहने लगे थे।

मुर्शिदाबाद में माली विभाग के आ जाने से एक ओर तो मुर्शिदावाद के नवावों की सृष्टि हुई और दूसरी ओर जगतसेठों का अभ्युदय होने लगा। इस सम्वन्ध में हमने पिछले अध्याय में काफी प्रकाश डाला है। यहाँ पर हमें यह कहना है कि, ईस्वी सन् १७०० से सन् १७६५ तक का समय मुर्शिदावाद के नवाबों का रहा और तत्कालीन राजनीति का संचालन एक मात्र जगतसेठों के हाथ में था। जगतसेठ जिसे नवाब बनाना चाहते, वही नवाव वन पाता था और जिसे वे नहीं चाहते, उसे नवाबी सल्तनत से हट जाना पड़ता था। यही कारण था कि, वंगाल में जगतसेठ किंग मेकर (King Maker) कहे जाने लगे थे। वाणिज्य-व्यापार में तो उन्होंने इतनी अधिक उन्नति की थी कि, प्रान्त प्रान्त में उनकी कोठियाँ खुली हुई थी। इस सम्वन्ध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्रीयुक्त सिन्हा ने लिखा है कि, *"वादशाह फर्रुखसेयर और वादशाह मुहम्मदशाह के समय फतेहचंद की सम्माति सर्वोच्च मानी जाती थी और वे जगतसेठ अर्थात् जगत् के सर्वश्रेष्ठ व्यापारी* Merchant of the world *कहे जाते थे।"*

सर पी० सी० राय ने अपनी पुस्तक * में लिखा है कि—

"जगतसेठ फतेहचन्द के बाद उनका पौत्र जगतसेठ महताबचंद और उनके भाई महाराजा स्वरूपचन्द का प्रभाव उस समय चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। वे सरकार के खजांची होते हुए केवल कमीशन में ४० लाख रुपये पैदा करते थे। जगतसेठों के समान सम्पत्तिशाली उस समय कोई नहीं था। वाणिज्य-व्यापार में उनकी प्रधानता भारतव्यापी थी। जहाँ देखो, वहाँ ही उनके वंशधर या जाति भाई काम करते थे।"

इसके अतिरिक्त बम्बई के प्रसिद्ध बैरिष्टर एस० आर० डाबर महोदय ने, जो कि अर्थशास्त्र और बैंकिंग व्यवसाय के विशेषज्ञ हैं, अपने एक बहुत ही प्रामाणिक लेख में यह उल्लेख किया है कि,—

"अठारहवीं सदी में जगतसेठों द्वारा सराफी का काम देशव्यापी होता था। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है कि आजकल जिस रूप में रिजर्व बैंक का काम होता है, उससे कहीं अधिक उस समय जगतसेठों का काम होता था।"

साह हीरानन्द—

जगतसेठ घराने के पूर्व पुरुषों में सेठ हीरानन्दजी ईस्वी सन १६५२ अर्थात् वि० सं० १७०६ की अक्षय तृतीया को अपनी जन्मभूमि राजस्थान से चल कर विहार प्रदेश में आये। हीरानन्दजी जैन सम्प्रदाय के माननेवाले गैलाडा गोत्र के ओसवाल थे। उनका खास निवास-स्थान जोधपुर (मारवाड़-राज्य) का नागौर शहर था। उनकी कल्पना और इच्छा का विस्तार बहुत था, जिसके कारण अपनी साधारण आर्थिक स्थिति में, वे सन्तुष्ट नहीं रह

* Life and Experience of a Bengali Chemist.

सकते थे। यही कारण था कि, वे नागौर से चल कर पहले-पहल विहार-प्रदेश पटने में आए।* पटने में रहते हुए सेठ हीरानन्दजी अपनी इच्छा के अनुसार वाणिज्य-व्यापार न होता देख वहुत उदासीन रहा करते थे। एक समय वे शहर के बाहर देहातों में घूमते-फिरते एक ऐसे स्थान पर पहुंच गये, जहाँ पर एक झोंपड़ी में एक वृद्ध पुरुष मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहा था। वृद्ध व्यक्ति को आर्तनाद करते देख कर हीरानन्दजी द्रवित हो गये और उसकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। परन्तु थोड़ी ही देर में वृद्ध व्यक्ति का प्राण पखेरू उड़ गया। पता लगता है कि, हीरानन्दजी की सेवा पाकर वृद्ध व्यक्ति अतिशय सन्तुष्ट हो गया था और मरने के पहले उसने अपनी अंगुली से एक स्थान विशेष की ओर इशारा किया था। जब वह मर गया तो, सेठ हीरानन्दजी ने उसका दाह-संस्कार भली प्रकार किया और जिस स्थान की ओर वृद्ध ने इशारा किया था, उस स्थान को खोदने पर हीरानन्दजी को बहुत अधिक धनराशि की प्राप्ति हुई।‡ कहा जाता है कि. वे उसी धन से वाणिज्य-व्यापार करते हुए इस अवस्था पर पहुंच गये कि, आगे चल कर उनके पुत्र-पौत्र जगतसेठ कहलाये।

सेठ मानिकचन्द— हीरानन्दजी ने अपने पुत्र मानिकचन्द को वङ्गाल की तत्कालीन राजधानी ढाके में भेजा और उन्होंने सन् १६६५ में वहां अपनी कोठी खोल कर वाणिज्य-व्यापार करना शुरू किया। हमने पहले वतलाया है कि, ईस्वी सन् १७०१ में जब मुर्शिद-कुली खां माली विभाग का दीवान वन कर ढाका में आया तो उसके साथ सेठ मानिकचन्द का वहुत अधिक प्रेम हो गया था और मुर्शिदकुली खां ढाका छोड़कर जब मुर्शिदावाद में आया तो, सेठ मानिकचन्द भी उनके साथ मक्सूदावाद में चले आये। मुर्शिदकुली खां के साथ ही साथ

---

* Bengal Past and Present Vol. 20 No. 39-40

‡ सरस्वती, जनवरी सन् १९२८

उनकी भी दिन प्रति दिन उन्नति होने लगी। वे दोनों परस्पर घनिष्ट मित्र और सिद्ध साधक बन कर रहे। रुपये ढालने की टकसाल मानिकचन्द की सलाह से खोली गई और उसके प्रधान संचालक वे ही बने।

आजम उस्मान के बाद मुर्शिदकुली खां को नवाब बनाने में सेठ मानिकचन्द ने बड़ी कोशिश की और अपने मित्र मुर्शिदकुली खां को विपुल धन की सहायता देकर उन्हें नवाब बना दिया। मुर्शिदकुली खाँ ने भी बादशाह फर्रुखसेयर से उन्हें "सेठ" पदवी से विभूषित कराने में बड़ा उद्योग किया। सच तो यह है कि, परस्पर के सहयोग से दोनों मित्रों ने बहुत अधिक उन्नति की। मुर्शिदकुली खां का नाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि, मकसूदाबाद का नाम बदल कर उसके नामानुसार मुर्शिदाबाद हो गया।

सेठ मानिकचन्द का परलोकवास ईस्वी सन् १७१४ में हुआ था और उनका अन्त्येष्टि संस्कार भागीरथी के तटपर 'माणक बाग' में किया गया। उनका स्मृति-स्तंभ थोड़े दिनों पहले तक विद्यमान था। मानिकचन्द के कोई पुत्र न होने के कारण उन्होंने अपने भाँजे फतेहचन्द को दत्तक लिया था। फतेहचन्द वनारस के सुप्रसिद्ध सेठ उदयचन्द के पुत्र थे और अपने मामा मानिकचन्द के यहां पहले से ही पटने की कोठी का कारबार देखा करते थे।

मानिकचन्द के दो स्त्रियाँ थीं—जिनमें बड़ी स्त्री मानिक देवी बड़ी ही जाति-हितैषिणी थी। उसने ओसवाल जाति की उन्नति के लिये दिल खोल कर सहायता दी। परिणामस्वरूप मुर्शिदाबाद की महाजन-टोली में ५०० घर ओसवालों के बस गये थे—इनके बसाने में मानिक देवी का बड़ा हाथ था। उसकी मृत्यु के बाद उसके कुलपुरोहित ने १२५ श्लोकों का एक काव्य उसकी प्रशंसा में लिखा।

जगतसेठ फतेहचन्द—

सेठ फतेहचन्द ने अपनी बहुत उन्नति की। ई० सन् १७२३ में दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह ने उन्हें जगतसेठ की उपाधि से अलंकृत किया और मोती के कुण्डल, हाथी तथा अन्य प्रकार के सम्माननीय उपकरण भी दिये। इस

सम्वन्ध में एक घटना का वर्णन करना आवश्यक है कि, सन् १७२२ में जिस समय दिल्ली प्रान्त में भयानक अकाल पड़ा हुआ था और प्रजा में त्राहि-त्राहि मची हुई थी, उस समय सेठ फतेहचन्द दिल्ली में ही थे। वादशाह ने सेठ फतेहचन्द से राय ली और उस समय उन्होंने वहां की परिस्थिति पर विचार कर हुण्डी पर रुपये देने शुरू किये। अकाल का कारण यही था कि, रुपयों की टान थी। सेठ फतेहचन्द के इस कार्य ने वहां के लोगों को वहुत वड़ा सहारा दिया। लोगों की आर्थिक अवस्था सुधर गई और वाणिज्य-व्यापार चलने लगा। आर्थिक अवस्था सुधरने के कारण अकाल की भीषणता दूर हो गई। वादशाह की वड़ी भारी चिन्ता दूर हुई, फतेहचन्द को उसने उस समय मानो अपना उद्धारक जाना और उन्हें जगतसेठ की उपाधि से विभूषित कर—उनका वहुत अधिक सम्मान किया। *

इतना ही नहीं, वादशाह उन पर इतना अधिक प्रसन्न था कि, उन्हें मुर्शिदावाद का नवाव वनाने की इच्छा भी उसने प्रकट की। परन्तु, जगतसेठ फतेहचन्द ने वादशाह के इस आदेश को स्वीकार नहीं किया और नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि, नवाव मुर्शिदकुली खां के सहयोग से ही हम लोग धनीमानी हुए हैं। अतः ऐसे उपकारी मित्र के पद को ग्रहण करने की इच्छा हम नहीं कर सकते। इस उत्तर को पाकर वादशाह के हृदय पर जगतसेठ का वहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसपर उसने मुर्शिदकुली खां को लिख भेजा कि, आज से समस्त राजकार्य जगतसेठ फतेहचन्द की सम्मति से करना होगा। इसके अतिरिक्त जो खिलअतें वंगाल के नवाव को वादशाह की ओर से भेजी जाती थीं वैसी ही एक और खिलअत जगतसेठ के लिये भी भेजी जाने लगी।

---

* An Emperor who had been rescued from such difficulties would naturally have hailed his deliverer as Jagat Seth, 'the banker of the world', and have authorised him to hand down the title to his descendants.

—Little, in Bengal past and present Vol. XX.

नवाब मुर्शिदकुली खां की मृत्यु सन् १७२५ में हो गई तो जगतसेठ फतेहचन्द की सम्मति से उसका जामाता शुजाउद्दीन नवाब बनाया गया। यद्यपि मुर्शिदकुली खाँ की इच्छा शुजाउद्दीन के पुत्र सरफराज खाँ को नवाब बनाने की थी क्योंकि वह पहले से ही राजकाज में दक्ष समझा जाने लगा था परन्तु जगतसेठ ने उसे नवाब बनाना स्वीकार नहीं किया। इसका कारण यह था कि, सरफराज खाँ राजकाज में दक्ष होनेपर भी चरित्रभ्रष्ट था। शुजाउद्दीन अच्छे चरित्र का था और प्रजा उसे चाहती भी थी। उसने गद्दी पर बैठते ही अपने मन्त्रीमण्डल में रायरायाना आलमचन्द, हाजी अहमद और जगतसेठ फतेहचन्द को शामिल कर लिया और उनकी मदद से १४ वर्ष तक राज्य किया। उसके समय में जगतसेठ राजस्व विभाग के प्रधान पोद्दार थे। शुजाउद्दीन की मृत्यु के बाद सरफराज खाँ को नवाब बनाया गया। परन्तु, वह बहुत ही अयोग्य निकला। उसकी चरित्रभ्रष्टता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि, साधारण आदमियों की तो बात ही क्या, उसने जगतसेठ जैसे प्रभावशाली व्यक्ति को भी लांछित करने में संकोच नहीं किया। कहा जाता है कि, उसने जगतसेठ की ११ वर्षीया पौत्रबधू को देखने के लिये अपने महल में जबरन् बुलाकर जगतसेठ के सम्मान को आघात पहुँचाया। इसका परिणाम यह हुआ कि, सरफराज खाँ को गद्दी से हटना पड़ा और बंगाल का नवाब अलीवर्दी खाँ को बनाया गया।

उस समय जगतसेठ के फर्म का नाम सेठ फतेहचन्द आनन्दचन्द था। इस फर्म के साथ और सेठ फतेहचन्द के साथ ईष्ट इण्डिया कम्पनी का बहुत अधिक व्यापारिक सम्बन्ध था। उस समय अंग्रेजों को अपने व्यापार में जगतसेठ के घराने से बहुत अधिक सहायता मिली थी। लाखों की तादाद में रुपये कम्पनी को उधार दिये गये। * इतना ही नहीं जब-जब कम्पनी और नवाब के बीच में मनमुटाव हुआ तब तब कम्पनी को

---

* Bengal past & present Vol—22. Page 116

जगतसेठ फतेहचन्द के द्वार को खटखटाना ही पड़ा और उन्होंने उसकी सहायता की।

जगतसेठ फतेहचन्द की मृत्यु सन् १७४४ में हुई। उनके दो पुत्र थे आनन्दचन्द और दयाचन्द। परन्तु दोनों की मृत्यु उनके जीवन-कालमें ही हो चुकी थी। अतः उनके पौत्र महतावचन्द और स्वरूपचन्द उत्तराधिकारी हुए।

महतावचन्द और स्वरूपचन्द दोनों भाई बड़े प्रतिभाशाली हुए।

जगतसेठ महतावचन्द*—

दिल्ली के बादशाह ने महतावचन्द को 'जगतसेठ' और स्वरूपचन्द को 'महाराजा' की पदवी से विभूषित किया। सच तो यह है कि जगतसेठ महतावचन्द

---

* जगतसेठ महतावचन्द के नाम के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद पाया जाता है। किसी ने इनका नाम महतावचन्द लिखा है और किसी ने महताव राय। मि० लिट्ल ने, जिनने जगतसेठों का इतिहास संग्रह करने में विशेष रूप से भाग लिया है; महतावचन्द न लिख कर महताव राय लिखा है और शायद यही कारण है कि, आजकल लोगों का अधिक झुकाव जगतसेठ का नाम महताव राय मान लेने की ओर दीख पड़ता है। किन्तु हमारी राय में यह युक्तिसंगत नहीं है। इसका कारण यह है कि मिस्टर लिट्ल ने जगतसेठों का जो वंशवृक्ष उद्धृत किया है उसमें इस घराने के पूर्व पुरुष साह हीरानन्दजी के बाद उनके जितने भी वंशज हुए हैं, उन सबके नामों के साथ 'चन्द' लगा हुआ है। इससे मालूम होता है कि, उनके घराने में 'चन्द' नाम रखने की एक प्रकार से परिपाटी सी हो गई थी। इस दृष्टि से केवल महतावचन्द का नाम महताव राय रहा हो यह उचित नहीं जान पड़ता। मालूम होता है कि, जगतसेठ महतावचन्द का कार्यक्षेत्र बङ्गाल प्रदेश में रहा और बङ्गाल में यह परिपाटी सी देखने में आती है कि, किसी भी बड़े आदमी के नाम के साथ 'राय' शब्द जोड़ दिया जाता है। हो सकता है कि मि० लिट्ल ने वंशवृक्ष की परिपाटी पर विचार न किया हो और बंगाली

के समय में सेठ घराने का ऐश्वर्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। दो हजार सैनिक उनकी शरीर-रक्षा के लिये हर समय तैनात रहते थे। जगतसेठ महताबचन्द से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक घटनाओं का उल्लेख हम पांचवें अध्याय में नवाब अलीवर्दी खाँ और सिराजुद्दौला के प्रकरणों के साथ कर चुके हैं। यहां पर इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि, महताबचन्द ने अपने जमाने में जहाँ वाणिज्य-व्यापार और बैंकिंग व्यवसाय में अद्वितीय स्थान पाया था, वहाँ राजनैतिक क्षेत्र में भी शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया था।

जगतसेठ की कोठी से प्रायः दस करोड़ का कारबार होता था। जमींदार, महाजन, कम्पनी के अंग्रेज सौदागर और फरासीसी आदि सभी विदेशी व्यापारी जगतसेठ के यहाँ आते थे और कर्ज के रूप में रुपये पाते थे। नवाव अलीवर्दी खाँ के दरबार में जगतसेठ महताबचन्द की गणना सर्वोपरि थी। जबतक अलीवर्दी खाँ का शासन रहा—तबतक बंगाल में जगतसेठ महतावचन्द के जोड़े का प्रतिभाशाली व्यक्ति कोई दूसरा नहीं था।* मराठों के दीर्घकालीन विप्लव ने यद्यपि अलीवर्दी खाँ

मुहाविरे के अनुसार उन्होंने महताब राय लिख दिया हो। हमारी राय में जगतसेठ का नाम महताब राय की अपेक्षा महताबचन्द होना ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि एक तो इस घराने की वंशावली में अन्य सभी व्यक्तियों के नाम 'चन्द' युक्त रहे हैं और दूसरे हम यह भी देखते हैं कि, हाल में 'ओसवाल जाति का वृहत् इतिहास' जो छपा है, जिसके संरक्षकों तथा इतिहास सम्बन्धी उपकरण संग्रह करने में श्रीयुक्त पूर्णचन्दजी नाहर और श्रीयुक्त वहादुर सिंहजी सिंघी का हाथ रहा है, उसमें भी जगतसेठ का नाम महताबचन्द लिखा गया है। इत्यादि कई कारण हैं जिनसे हमने उनका नाम महताव राय न लिख कर महताबचन्द लिखा है। हो सकता है कि, उन्हें महताव राय भी कहते हों।

* सर पी० सी० राय लिखित Life & Experience of a Bengali Chemist

का अस्थिपंजर ढीला कर दिया था और उसके खजाने में चूहे डण्ड पेलने लगे थे। परन्तु, जगतसेठ का ही यह काम था कि, मराठों के साथ जब नवाब की सन्धि हुई तब १२ लाख रुपये देकर अलीवर्दी खां की सहायता की। नवाब अलीवर्दी खां ने जगतसेठ को बराबर अपनी सल्तनत का आधार माना, और जगतसेठ की सम्मति का सदा ही सम्मान किया। वह जानता था कि, जगतसेठ ही एक ऐसा व्यक्ति है जो समय पड़ने पर सल्तनत की रक्षा कर सकता है। यही कारण था कि, ईस्वी सन् १७५६ में जब अलीवर्दी खां की मृत्यु निकट आ पहुंची, तब मरने के पहले उसने अपने उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला को खास तौर पर यह उपदेश दिया था कि, 'हिन्दू प्रजा और विशेष कर जगतसेठ को सन्तुष्ट रखने में ही तुम्हारा कल्याण है।'

अलीवर्दी खां के मरने पर सन् १७५६ में सिराजुद्दौला नवाब बन कर गद्दी पर बैठा। पर वह सवा वर्ष से अधिक शासन न कर सका और उसका इतनी बुरी तरह अन्त हुआ कि, जिसका जोड़ इतिहास में नहीं मिलता यहां पर यह कहना आवश्यक है कि, सिराजुद्दौला अपने नाना अलीवर्दी खां के उपदेशानुसार यदि हिन्दू प्रजा को सन्तुष्ट रख सकता और जगतसेठ महताबचन्द से बिगाड़ नहीं करता, तो यह कभी संभव नहीं था कि, इस प्रकार बुरी तरह उसका अंत होता और बंगाल की राज-सत्ता भी सदा के लिए विदेशियों के हाथ में चली जाती। इसका कारण यह था कि, उस समय जगतसेठ महताबचन्द का प्रभाव कोई साधारण नहीं था। हिन्दू समाज के वे अग्रणी थे और जितने भी राजकर्मचारी तथा जमींदार थे, प्रायः सब के सब जगतसेठ के इशारे पर चलनेवाले थे। इसके अतिरिक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी आदि विदेशी सौदागरों की तो उस समय ऐसी हस्ती ही क्या थी, जो वे जगतसेठ की सम्मति के विरुद्ध किसी प्रकार से भी सिर उठाने का साहस कर सकते। वे तो जगतसेठ की इच्छा के दास बने हुए थे जैसा कि, हमने

पूर्व अध्याय में बतलाया है। वे तो यह समझा करते थे कि, नवाब के दरबार में जगतसेठ द्वारा ही उनके अस्तित्व की रक्षा हो सकती है।

इस अवस्था में जगतसेठ यदि नवाब के अनुकूल होते तो वे हर प्रकार से शान्ति स्थापित कर सकते थे। परन्तु सिराजुद्दौला ने गद्दी पर बैठते ही अपने असद् व्यवहार से जगतसेठ महताबचन्द के हृदय को इतना टूक-टूक कर दिया था कि, फिर से उसका मिलना असंभव हो चुका था।

सिराजुद्दौला यदि अनुभवी होता तो गद्दी पर बैठते ही अपने चरित्र को संयत करता, हिन्दू प्रजा का आतङ्क दूर करने की चेष्टा करता और जगतसेठ आदि शक्तिशाली पुरुषों को अपने अनुकूल बनाये रख राज-कर्मचारियों पर अपना विश्वास जमाता। पर उसने गद्दी पर बैठते ही विपरीत कार्य करना प्रारंभ कर दिया। ऐसी अवस्था में जगतसेठ सिराजुद्दौला की ओर से सर्वथा निराश हो गये तो उनकी महान् शक्ति और अतुल प्रभाव उसके विरुद्ध हो चला। उन्होंने निश्चय किया कि, जिस प्रकार भी हो, सिराजुद्दौला को नवाबी सलतनत से हटाना ही होगा। जबतक वह सल्तनत पर बना रहेगा न तो हिन्दू ललनाओं के सतीत्व की रक्षा हो सकेगी और न कोई भी व्यक्ति अपनी मान-मर्य्यादा को कायम ही रख सकेगा। परिणाम यह हुआ कि, जो षड्यन्त्र सिराजुद्दौला के विरुद्ध जमींदारों, राजकर्मचारियों और उसके आत्मीय जनों की ओर से चल रहा था, जगतसेठ भी उसके सहायक बन गये।

यहां पर यह बताना आवश्यक है कि षड्यन्त्र का एक मात्र लक्ष्य सिरा-जुद्दौला को गद्दी से हटा कर किसी दूसरे सुयोग्य चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति को नवाब बनाना था और इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर उन्होंने उचित-अनुचित सभी उपायों का सहारा लिया था। अन्यथा क्या आवश्यकता थी कि, वे ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेजों को षड्यन्त्र में शामिल करते। परन्तु, यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि, मनुष्यों के

हृदय में जब इस प्रकार की कोई प्रबल और विशेष भावना घर कर लेती है, तब विचार-शक्ति और दूरदर्शिता कुण्ठित हो जाती है। वैसी अवस्था में यह सोचने की शक्ति नहीं रहती कि, उसका वास्तविक परिणाम आगे चलकर क्या होगा? उस समय तो एक ही लक्ष्य की मूर्ति बंध जाती है और येन-केन प्रकारेण उस लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा की जाने लगती है। यही अवस्था उस समय सिराजुद्दौला के विरुद्ध रचे जानेवाले षड्यन्त्र की थी। यह ठीक है कि, सामाजिक दृष्टि से एक भ्रष्ट-चरित्र शासक को हटाना जरूरी हुआ हो, परन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि, षड्यन्त्र का जिस प्रकार अन्त हुआ और सिराजुद्दौला के स्थान पर मीरजाफर को नवाब बनाने का समर्थन किया गया, यह षड्यन्त्रकारियों की सबसे बड़ी राजनैतिक भूल थी और यही कारण था कि. मीरजाफर ने अधिकार प्राप्त कर देश के प्रति विश्वासघात किया और उसी की करनी से देश की स्वतन्त्रता विदेशी सौदागरों के हाथ में जाने का सूत्रपात हो गया।

इस प्रकार एकाएक परिस्थिति को बदलते देख जगतसेठ महताबचन्द समझने लगे कि, हवा का रुख अनुकूल नहीं है। वे परिस्थिति का गंभीरता के साथ अध्ययन करने लगे। जगतसेठ महताबचन्द सुदक्ष राजनीतिज्ञ होने पर भी स्वभावतः एक व्यापारी थे। उन्होंने अपने व्यापारिक दृष्टिकोण से देखा कि, जिस प्रकार मीरजाफर क्लाइव के सिकंजे में फँस गया है, क्या आश्चर्य है कि, नवाब को दी हुई बड़ी भारी धनराशि से भी उन्हें हाथ धोना पड़े। यह समझ कर उन्होंने अपने रुपयों का मीरजाफर से तकाजा किया। इससे परस्पर मनमुटाव होने लगा। यह कब संभव था कि. मीरजाफर पर होनेवाले तकाजे को ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेज पसंद करते। यहाँ पर भी कूटनीति की चालें चली जाने लगीं। परस्पर अविश्वास ने घर कर लिया। हमने पहले बतलाया है कि, उसी समय जगतसेठ महताबचन्द और उनके भाई महाराजा स्वरूपचन्द ने अपने दो हजार सैनिकों के साथ अपने तीर्थस्थान सम्मेद

शिखर (पारसनाथ) की ओर यात्रा के लिये प्रस्थान किया तो मीरजाफर ने उसका विरोध किया। परन्तु जगतसेठों ने उसके हुक्म की पर्वाह न कर तीर्थ-यात्रा की। इससे उनका पारस्परिक वैमनस्य और भी अधिक बढ़ चला। यद्यपि बाद में किसी विशेष कारणवश अंग्रेजों ने बीच में पड़कर उनका वैमनस्य दूर कर दिया था, फिर भी परस्पर अविश्वास बना ही रहा। इसका एक मात्र कारण उस समय के अंग्रेजों की स्वार्थपूर्ण कूटनीति ही थी, जिसने मीरजाफर पर कब्जा कर लिया था। नतीजा यह हुआ कि, जिन जगतसेठों ने राजनीति में शीर्ष स्थान प्राप्त कर रखा था, वे इस प्रकार एकाएक परिस्थिति बदल जाने से किंकर्त्तव्यबिमूढ़ बन गये। अंग्रेजों का मन बढ़ चला और वे मनमाने ढंग से मुर्शिदाबाद की नवाबी का सौदा करने लगे। देश के हित की पर्वाह न कर ईष्ट इण्डिया कम्पनी को जो अधिक से अधिक अधिकार देना स्वीकार करता, उसे ही नवाब बनाया जाने लगा। उदाहरणार्थ जब मीरजाफर को शक्ति भर दूह लिया गया, तब बर्दवान, मेदिनीपुर और चट्टग्राम के परगने लेकर मीरजाफर के स्थान पर उसके दामाद मीरकासिम को गद्दी पर बिठा दिया गया। जब देखा गया कि, मीरकासिम अनुकूल नहीं हो रहा है, तो मीरजाफर से कतिपय नई मांगें स्वीकार कराके उसे फिर से गद्दी पर बिठाया गया। इस प्रकार का अभिनय जब होने लगा, तो बंगाल की स्थिति बहुत ही डाँवाडोल हो गई। सबसे बड़ी बात यह हुई कि, मीरकासिम दबंग शासक होने पर भी अंग्रेजों की कूटनीति का शिकार बनकर अपनी विवेक-बुद्धि को यहां तक खो बैठा कि, उसे देशके भविष्य का किंचित् भी विचार न रहा। उसने जगतसेठ महताबचन्द और उनके भाई महाराजा स्वरूपचन्द को मुंगेरमें बुलाकर पहले तो कैद कर लिया और बाद में उनकी हत्यायें कर डाली। देश का दुर्भाग्य था कि, उसी दिन से बंगाल की रही-सही राजनैतिक स्वतन्त्रता का भी अंत हो गया। जगतसेठों की हत्या के बाद ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं रहा, जो उस समय

देश की स्वतन्त्रता के लिये उद्योग करता। इस प्रकार जगतसेठों की विशेपताओं का अन्त हो गया और वंगाल की राजसत्ता पर अंग्रेजों का प्रभाव वढ़ने लगा।

जगतसेठ खुशालचन्द—

जगतसेठ महताबचन्द की हत्या के बाद उनके पुत्र खुशालचन्द ने काम संभाला। उन्हें भी दिल्ली के वादशाह की ओर से जगतसेठ का खिताव हासिल हुआ। इतिहासकारों ने वतलाया है कि, जगतसेठ खुशालचन्द यद्यपि बुद्धिमान थे, तथापि अपने पिता महतावचन्द की तरह राजनीतिनिपुण नहीं बन सके थे। एक तो उन्होंने विशेप परिस्थिति में काम सम्हाला था और दूसरे उस समय उनकी अवस्था केवल अठारह वर्ष की ही थी। इसके अतिरिक्त उस समय राजनैतिक क्षेत्र में हर प्रकार से शोपण नीति का प्रावल्य हो चला था। नवयुवक जगतसेठ खुशालचन्द "पोतड़ों का अमीर" होने के कारण स्वभावतः अधिक खर्चीले हो चले थे। यद्यपि यह तो पता नहीं लगता कि, उन्होंने किसी बुरे कार्य में फिजूलखर्च किया हो पर यह अवश्य जाना जाता है कि, दान-धर्म में उन्होंने वहुत अधिक धन व्यय कर दिया था। जैन धर्मावलम्वी होने के कारण उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध और प्रधान तीर्थ-स्थान पारसनाथ पहाड़ पर कई एक जैन-मंदिर और तीर्थंकरों की गुमटियां वनवाई। पगडण्डी और कहीं-कहीं पर पक्की पैड़ियां बना कर मार्ग को सुगम बनाया। वहां के शिलालेखों से पता लगता है कि, वे वड़े भारी दानी थे। उन्होंने सर्वसाधारण जनता के आराम के लिए स्थान-स्थान पर १०८ पोखरे निर्माण कराये थे। जगत सेठ महतावचन्द के समय से जो सम्पत्ति भिन्न-भिन्न रूप में लगी हुई थी, विशेष कर नवावों तथा विदेशी सौदागरों में, उसकी वसूली राजनैतिक परिस्थिति वदल जाने के कारण रुक गई। एक ओर दानशीलता के कारण विपुल धन खर्च हो रहा था, तो दूसरी ओर उपार्जित धन-राशि की वसूली बन्द हो गई थी। इससे जगतसेठ खुशालचन्द को कठिनाइयों

का सामना करना पड़ा। उनका नाम बहुत बड़ा था। प्राचीन कहावत है कि, "चिकनी चोटी के सब लागू होते हैं" और "जहां मीठा दिखाई पड़ता है वहां स्वभावतः मक्खियां भिनभिनाने लगती हैं।" सेठ खुशाल-चन्द की भी यही अवस्था हो गई। कम्पनी के अंग्रेज कर्मचारी जब कभी मुर्शिदाबाद में कार्यवश आये तो उन्होंने भी जगतसेठ को येनकेन प्रकारेण चूसने में कमी नहीं रक्खी। परिणाम यह हुआ कि, आर्थिक कठिनाइयां सामने आ खड़ी हुईं और मजबूरन जगतसेठ को कम्पनी के तत्कालीन गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स को सहायता के लिए आवेदन-पत्र भेजना पड़ा। यद्यपि इस पत्र के उत्तर में हेस्टिंग्स ने लिखा था कि, "मैं इस बात से भली प्रकार अवगत हूँ कि, आपके पिता महताबचन्द द्वारा कम्पनी का बड़ा भारी उपकार हुआ है, तथापि इस समय मैं पश्चिमोत्तर प्रान्त में जा रहा हूं। वहां से लौटने पर आपकी उचित प्रार्थना पर पूर्ण रूप से विचार करूंगा।" पर यह पता लगता है कि, वारेन हेस्टिंग्स के लौट आने के पहले ही ३६ वर्ष की अवस्था में खुशालचन्द का शरीरान्त हो गया।

जगतसेठ हरखचन्द—

खुशालचंद के बाद हरखचंद ने अधिकार प्राप्त किया। सन् १७८२ ईस्वी में वारेन हेस्टिंग्स ने उन्हें जगतसेठ की उपाधि दी थी। मालूम होता है कि, उस समय कम्पनी की ओर से उपाधियां भी दी जाने लगी थीं। ऐतिहासिक घटनाओं से पता लगता है कि, इन्हीं सेठ हरखचंद ने जैन मत छोड़कर वैष्णव-धर्म स्वीकार किया था और अपने विशाल भवन की परिधि में उन्होंने श्री गोविंददेवजी का मंदिर भी बनाया था। * पता लगता है कि, वैष्णव मत धारण करने पर उनका सामाजिक संबंध जैनियों के साथ ही होता रहा।

---

* कहते हैं कि, जगतसेठ हरखचन्द के कोई संतान नहीं होती थी। इससे वे बहुत दुखी रहते थे। उन्होंने एक वैष्णव साधु के परामर्शानुसार एक यज्ञ किया था और सौभाग्य से उनको पुत्र की प्राप्ति हुई थी। उनके जैन मतको छोड़ कर वैष्णव बनने का यही कारण मिलता है।

हरखचन्द के बाद उनके पुत्र इन्द्रचन्द और विशनचन्द बराबर के अधिकारी हुए। इन्द्रचन्द ने कम्पनी सरकार से जगतसेठ की पदवी पाई।

जगतसेठ इन्द्रचन्द—

इन्द्रचन्द के बाद उनके पुत्र गोविन्दचन्द हुए, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वे बड़े अपव्ययी थे। उन्होंने अपना अत्यधिक खर्च जेवर बेच कर चलाया। पता लगता है कि, ईस्वी सन् १७८२ तक जगतसेठ घराने का सम्बन्ध राज-कार्य और कम्पनी सरकार से रहा; परन्तु उसके बाद ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई कि, इस घराने का सम्बन्ध राजकाज से सर्वथा विच्छिन्न हो गया। गोविन्दचन्द ने रही-सही सम्पत्ति का इतना नाश किया कि, जगतसेठ घराने की आर्थिक अवस्था हीन प्रकट होने लगी। यहां तक नौबत आ पहुंची कि, मुर्शिदाबाद के तत्कालीन एजेंट मेजर जनरल रैपर के अनुरोध से कम्पनी सरकार ने उन्हें १२०० रुपये मासिक की वृत्ति दी। गोविन्दचन्द के बाद गोपालचन्द और उनके बाद गुलाबचन्द आदि के नाम मिलते हैं, जिनकी आर्थिक अवस्था क्रमशः क्षीण होती चली गयी थी।

परमात्मा की विचित्र लीला है कि, भाग्यवान हीरानन्दजी के वंशज जहाँ अठारहवीं सदी में उन्नति की चरम सीमा और वैभव के शिखर पर पहुंचे हुए थे, जिनके पैरों में बंगाल की राजसत्ता अठखेलियाँ किया करती थी, तथा वाणिज्य-व्यापार और समाज-व्यवस्था के, वे एक मात्र अधिकारी थे; वहाँ समय ने देखते-देखते ऐसा पलटा खाया कि, इस बीसवीं शताब्दी में इस लब्धप्रतिष्ठित घराने की यह शोचनीय अवस्था हुई। इस समय उनकी पूछ इतनी सी ही देखने में आती है कि, उनके पूर्वज एक समय जगतसेठ थे और ये लोग उनके वंशधर हैं। मुर्शिदाबाद का महिमापुर इस समय वीरान हो गया है अथवा यों कहना चाहिए कि, जगतसेठों का केवल चिह्न मात्र रह गया है, जिसे देख कर किसी भी इतिहास जाननेवाले व्यक्ति को कष्ट हुए बिना नहीं रह सकता।

संसार की बड़ी विचित्र अवस्था है। प्रायः देखने आता है कि "घर दीया तो मसीद दीया" इस लोकोक्ति के अनुसार जब मनुष्य का भाग्योदय होनेवाला होता है तब सभी अनुकूल साधन अनायास उपस्थित हो जाते हैं; और जब ह्रास होने लगता है तब सभी साधन विपरीत हो जाते हैं। असीम प्रयत्न करने पर भी वे काम नहीं आते। जगतसेठ घराने के व्यक्ति जब हीन अवस्था को प्राप्त होने लगे, तो उन्होंने समय-समय पर अंग्रेज शासकों से निवेदन किया कि, हमारे पूर्वज ऐसे थे, वैसे थे और उन्होंने समय-समय पर कम्पनी की बड़ी सेवा तथा सहायता की थी, इसलिये हमें अब सहायता मिलनी चाहिए। इतिहास से पता लगता है कि, पहले-पहल वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिस आदि कम्पनी के अधिकारियों ने मुक्तकण्ठ से उनकी सेवाओं और सहायताओं को स्वीकार भी किया था और उनके लिए वृत्तियों का भी कुछ-कुछ प्रबन्ध किया था। परन्तु परमुखापेक्षी व्यक्तियों की गिड़गिड़ाहट उनका रहा-सहा महत्व भी घटा देती है। फिर अधम राजनीति तो वेश्यावृत्ति के ही समान है। जिस प्रकार वेश्या के घर में किसी पुरुष का मान तब तक ही होता है, जब तक कि, उससे कोई स्वार्थ-साधन एवं धन प्राप्त होता रहता है। यदि वह जान लेती है कि, अब स्वार्थ-साधन हो नहीं सकता तो वह उस व्यक्ति से मुँह फेर लेती है और तिरस्कार भी करने लगती है। मालूम होता है कि, जगतसेठ घराने के व्यक्तियों को भी आगे चल कर कुछ ऐसा ही दृश्य देखना पड़ा। जो हो जगतसेठों का इतिहास सब प्रकार से महान् है, मारवाड़ी समाज को भी उससे अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं।

हमने पहले बतलाया है कि, राय बालकृष्णजी के वंश में इतिहासप्रसिद्ध सेठ अमीचन्द हुए। इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मत-भेद है कि, वास्तव में वे किस जाति के थे। अक्षयकुमार मैत्रेय आदि बंगाली लेखकों ने, उन्हें पश्चिमीय हिन्दू लिखा है। मेकाले ने उनका बंगाली होना बताया है। इसके अतिरिक्त अन्य कतिपय लेखकों

अमीचन्द—

ने पंजाबी या सिख कहा है। इस प्रकार कई मत देखने में आते हैं; परंतु भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उनको अपना पूर्वज माना है। उन्होंने अपना जो वंश-वृक्ष प्रकट किया है, उससे स्पष्ट मालूम होता है कि, राय बालकृष्ण के पुत्र सेठ लक्ष्मीराम हुए, लक्ष्मीराम के पुत्र का नाम गिरधारी लाल था और गिरधारीलाल का पुत्र अमीचन्द हुआ, जिसकी चौथी पीढ़ी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जन्म लिया †। इससे अन्य सारे मतभेद दूर हो जाते हैं और निश्चित रूप से यह मानना पड़ता है कि, अमीचंद जाति के अग्रवाल थे और राय बालकृष्णजी के ही वंश में पैदा हुए थे।

इतिहास से पता लगता है कि, सेठ अमीचंद की गणना कुशल व्यापारियों में थी। उनके यहां सभी प्रकार का व्यापार होता था। बैंकिङ्ग-व्यवसाय, सराफी का काम तो इतने बड़े पैमाने पर होता था कि, उनकी गणना सब से बड़े बैंकरों अर्थात् सराफों में होती थी। ※ उनके जीवन की घटनाओं से जाना जाता है कि, वे एक अद्भुत प्रकृति के मनुष्य थे। जहां वे विपुल सम्पत्ति के अधिकारी थे, वहां विचित्र प्रतिभाशाली भी थे। उनके जीवन की घटनाओं से इतिहास परिपूर्ण दिखाई देता है। यह भी प्रकट होता है कि, जहां वे सफल व्यापारी, महान् उद्योगी और व्यवहार में विशेष चतुर थे, वहां बड़े चालाक और अत्यधिक स्वार्थी भी थे। यही कारण था कि, उनकी कारगुजारी और होशियारी के कारण तत्कालीन विदेशी व्यापारी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेज और बङ्गाल के अतुल-बल

† बाबू श्यामसुन्दरदास लिखित "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र"

※ "Early European Banking in India" में मि० सिन्हा ने लिखा है कि, अंग्रेजी राजसत्ता जमने के पूर्व यहां पर देशी बैंकिंग व्यवसाय बहुत ही उन्नत अवस्था में था। सन् १७५६ का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि, आर्थिक क्षेत्र में हिन्दुओं का सर्वोच्च प्रभाव था, जिसमें सेठ अमीचन्द और जगतसेठ प्रधान थे।

वर्तमान हिन्दी के आचार्य



स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (बनारस)

शाली नवाब को भी उनका द्वार समय-समय पर खटखटाना तथा अपने मतलब के लिये गिड़गिड़ाना पड़ता था। घटना-चक्रसे यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि, 'हाथों लगाना और पगों बुझाना" वाली कहावत को चरितार्थ करनेवाले वे एक विचित्र व्यक्ति थे। एक ओर नवाब मुर्शिदाबाद को सुलगाते, तो दूसरी ओर कम्पनी के अंग्रेजों की पीठ ठोंकते थे और दोनों ओर से अपने पैर पुजाते थे। जगतसेठ जिनका सितारा उस समय चमक रहा था, भी अमीचंद के मित्र थे। कलकत्ते में ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेजों के साथ जगतसेठों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार उन्हीं को प्राप्त था। राजनीति में अमीचंद के लिये उस समय कोई ऐसी बात नहीं थी, जो उनसे छिपी हो। नवाब के दरबार में क्या हो रहा है और कम्पनी के अंग्रेज क्या सोचते हैं, इसका रत्ती रत्ती हाल वे जानते थे। अमीचंदने अपने गुप्तचरों का जाल चारों ओर फैला रखा था। इतना होने पर भी उन्हें अपने जीवनकाल में कई एक उतार-चढ़ाव देखने पड़े थे।

नवाब सिराजुद्दौला और ईष्ट इण्डिया कम्पनी के अंग्रेजों के बीच वैमनस्य शुरू हुआ तब दोनों की पक्षों की यह हालत थी कि, किसी भी पक्ष को खास अपने आदमियों पर भी विश्वास नहीं था और सब एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इतिहास बतलाता है कि, इस संदेह का शिकार अमीचंद को भी होना पड़ा। अमीचंद दोनों तरफ मित्र बने हुए थे। परन्तु अमीचंद का एक गुप्त पत्र अंग्रेजों के हाथ लग जाने से उन्हें संदेह हो गया कि, अमीचंद नवाब से मिला हुआ है। यही कारण था कि, कम्पनी के अंग्रेजों ने अमीचंद को पकड़ लाने के लिए कुछ अंग्रेज सैनिकों के साथ तिलङ्गे सिपाहियों का एक दल उनके घरपर भेजा। अमीचंद के विशाल भवन को जब उस दल ने घेर लिया, तो बड़ी हलचल मची परंतु सेठ अमीचंद उस समय कहीं बाहर गये हुए थे, वे घर पर नहीं मिले। इसपर अंग्रेजों ने घर की तलाशी लेनी चाही तो,

अमीचंद के जमादारों के साथ मुठभेड़ हो गई। अमीचंद का प्रधान जमादार जगन्नाथ नामक एक ब्राह्मण था, उसे भय हुआ कि, वे लोग महलों में पहुंच कर कहीं स्त्रियों पर अत्याचार न कर बैठें। उसने अपने अधीनस्थ जमादारों को सावधान कर जनानखाने में खबर दी। परिणाम यह हुआ कि, अमीचंद के घर में न होने के कारण सभी स्त्रियां घबड़ा गईं। उन्होंने सोचा कि, निश्चय ही उनका सतीत्व बचना आज कठिन है। अपने बचाव का जब कोई दूसरा उपाय उन्हें नहीं सूझ पड़ा तो तत्काल जमादार जगन्नाथ को हुक्म दिया गया कि 'बहुत शीघ्र एक चिताकुण्ड तैयार किया जाय'। जमादार ने वैसा ही किया और जो १३ स्त्रियां उस समय महलों में थीं, वे सबकी सब धांय-धांय करती हुई प्रज्वलित चिता में कूद पड़ीं। जमादार भी बाहर आकर तिलङ्गों से लड़-कर धराशायी हो गया।

यहां पर हमें चित्तौड़ का जौहर व्रत याद आ जाता है। ये स्त्रियां भी तो राजस्थान की नारियों की वंशज थीं और उनकी तरह अपने सतीत्व की रक्षा के लिए मरना जानती थीं।

अमीचन्द को जब मालूम हुआ कि, एक मामूली सी घटना के कारण घर में महान् अनर्थ हो गया है तो, यद्यपि एक बार वे बड़े दुःखी हुए और दुःखी होने की बात भी थी, तथापि इस घटना को उन्होंने आकस्मिक मान लिया और अंग्रेजों से मिलकर उनका सन्देह दूर कर दिया। *

नशीपुर का अग्रवंशीय राजघराना— इस घराने के पूर्व पुरुषों का खास निवास-स्थान हरियाणा प्रान्त के पानीपत में था। इस घराने के पूर्व पुरुष ताराचन्दजी पानीपत में निवास करते थे। उनके पौत्र अजीतसिंह पहले-पहल बादशाह जहांगीर के समय दिल्ली में आकर राज-कार्य करने लगे थे। बाद में उनके वंशज

* इस सम्बन्ध में यद्यपि मिस्टर ओर्म (Orme) ने लिखा है कि, अमीचन्द ने स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया था। इसके आगे वे यह भी

अग्रवाल-कुल-भूषण



स्वर्गीय महाराजा देवीसिंह, नशीपुर

दिवालीसिंह सत्रहवीं शताब्दी के बाद बंगाल में आये। उन्होंने बंगाल में आकर सर्व प्रथम व्यापार करना शुरू किया। अन्य सभी प्रकार के व्यापार के साथ सराफी का भी काम होता था। दिवालीसिंह के पुत्र का नाम देवीसिंह था, जिनका कार्यक्षेत्र ईस्वी सन् १७५६ से शुरू होता है। उन्होंने वाणिज्य-व्यापार के अतिरिक्त जमींदारी की ओर अधिक ध्यान दिया। सिराजुद्दौला के बाद 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' की राजसत्ता जमी, तब उन्होंने कम्पनी से रंगपुर, दिनाजपुर और इद्राकपुर आदि परगनों की मालगुजारी का ठेका ले लिया। मालगुजारी वसूल करने के साथ ही साथ उन्होंने अपनी निज की जमींदारी भी बढ़ाई। इस प्रकार उन्होंने धीरे-धीरे नशीपुर का राज्य स्थापित कर लिया। देवीसिंह ने 'ईष्टइण्डिया कम्पनी' के कार्यों में

लिखते हैं कि, जगन्नाथ जमादार ने महल में पहुंच कर अपने हाथों से १३ स्त्रियों का बध कर डाला। पर ये दोनों बातें इतनी असंगत हैं कि, इन्हें इसी रूप में सत्य मान लेने को जी नहीं चाहता; क्योंकि जब अमीचन्द ने स्वयं आत्म-समर्पण कर दिया तो महल में इस प्रकार का कांड होने की आवश्यकता ही क्या थी? इस दृष्टि से मि० ओर्म का कथन भ्रमात्मक प्रकट होता है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा उल्लेख भी मिलता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के दौहित्र बाबू बृजरत्नदास लिखा है कि, सन् १७५६ में सिराजुद्दौला ने पहले-पहल जब कलकत्ते पर चढ़ाई की और अंग्रेजों को भगा कर किले पर अधिकार जमाया, तब यह घटना घटी थी। उन्होंने लिखा है कि, नवाब की सेना ने विजय पाकर कलकत्ते को लूटना शुरू किया, तब अमीचन्द के ४ लाख रुपये नगद और बहुत सा बहुमूल्य सामान लूट लिया गया था और अमीचन्द के मकान में आग लगा देने से कई एक पुरुष और स्त्रियां जलकर भस्म हो गई थीं। इन दो मतों से घटना के संबंध में मतभेद प्रकट होता है। किंतु यह जो काण्ड हुआ वह अंग्रेजों द्वारा हुआ या मुसलमानों द्वारा, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु १३ स्त्रियों के मरने की घटना के संबंध में कोई सन्देह नहीं है।

वड़ा सहयोग दिया। इससे उन्हें महाराजा की पदवी मिली। उनकी मृत्यु १८ अप्रिल सन् १८०५ को होने के पश्चात् उनके भाई राजा वहादुरसिंह उत्तराधिकारी हुए। परन्तु उनकी मृत्यु वहुत शीघ्र होने से सन् १८११ में राजा उदवन्तसिंह नशीपुर की गद्दी पर वैठे। वे वड़े प्रतिभाशाली थे। उन्होंने वाणिज्य-व्यापार भी वड़े पैमाने पर किया। इसके अतिरिक्त राज-कार्य में वहुत अधिक भाग लिया। उनके यहां व्यवसाय के रूप में हर समय नगदा सेना तैयार रहती थी।† 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' को जव आवश्यकता होती, तव उनसे नगदा सेना ली जाती थी। इस प्रकार कम्पनी के यहां राजा उदवन्तसिंह की वड़ी प्रतिष्ठा हो गयी थी। राजा उदवन्तसिंह के नाम पर आज भी कलकत्ते में "राजा उदवन्त ष्ट्रीट" नामक रास्ता उनकी स्मृति करा रहा है। राजा उदवन्तसिंह के वाद राजा किसनचन्दसिंह और उनके वाद राजा कीर्तिसिंह वहादुर क्रमशः गद्दी पर वैठे और उनकी भी वड़ी ख्याति रही। उनके वाद राजा रणजीतसिंह राज्य के अधिकारी हुए। उनको महाराजा की पदवी मिली। वे वड़े तेजस्वी व्यक्ति थे और वृटिश सरकार के विशेष भक्त समझे जाते थे। इतना होने पर भी उन्होंने वहुत से सार्वजनिक काम किये। सन् १९१८ में जव वे परलोक सिधार गये, तो राजा भूपेन्द्रनारायणसिंह उनके उत्तराधिकारी हुए। वर्तमान में आप आनरेवल राजा भूपेंद्रनारायणसिंह बहादुर के नाम से प्रसिद्ध हैं। आप भारत-सरकार के वड़े भारी विश्वासपात्र हैं। आप न केवल वंगाल कौंसिल के सदस्य ही हैं, वल्कि आपने एक समय वंगाल सरकार की मिनिस्टरी का काम भी वड़ी योग्यता से किया है। अनेक सार्वजनिक

† उस समय नगदा सेना का भी एक व्यवसाय था। लोग लड़नेवाले व्यक्तियों को तैयार रखते थे और जव किसी को जरूरत होती, तो वे उसे भाड़े पर उस सेना को दे देते थे। इससे प्रकट होता है कि, प्रायः सवा सौ वर्ष पूर्व तक इस देश के लोगों में सैनिक-शक्ति विद्यमान थी।

वर्तमान नशीपुर-नरेश



राजा भूपेन्द्रनारायण सिंह



संस्थाओं के साथ आपका बड़ा घनिष्ठ सम्बंध देखा जाता है। आप में जातिहितैषिता तो इतनी अधिक है कि, जब कभी आपके पास किसी भी जातीय संस्था का संदेश पहुंचता है, तो आप बड़ी सहानुभूति दिखाते हैं और सहायता करते रहते हैं। अग्रवाल समाज में आपका बड़ा नाम है। इसका प्रमाण यही है कि, आपके घराने का न केवल देशवाली अग्रवालों के साथ ही सम्बंध होता है, अपितु मारवाड़ी अग्रवालों में भी होता है। मारवाड़ी समाज के लिए यह घराना गौरवस्वरूप है।

राजनीति से पृथक् होकर केवल व्यापार में प्रगति

(सन् १७६६ से सन् १८१३ तक)

पहले के प्रकरणों से यह तो पाठक जान चुके हैं कि, सन् १५६४ से १७६५ तक प्राय २०० वर्षों का समय बंगाल प्रदेश में मारवाड़ी जाति के लिए राज-कार्य और वाणिज्य-व्यापार दोनों में व्यतीत हुआ। एक ओर व्यापार में उत्तरोत्तर उन्नति होती रही, तो दूसरी ओर राज-कार्य और राजनीति में काफी प्रभाव जमा। पर जब सन् १७६३ में जगतसेठों की हत्यायें हुईं तब से परिस्थिति एकदम बदलने लगी। सन् १७६५ में नवाब मीरजाफर की जब मृत्यु हो गई, तब अंग्रेजों के लिये और भी अधिक मैदान साफ हो गया। उसके बाद जितने भी नवाब बनाये गये, वे केवल नाम-मात्र के नवाब रहे। राजसत्ता में कम्पनी की तूती बोलने लगी। सबसे बड़ी बात यह हुई कि, लार्ड पदवी प्राप्त कर क्लाइब पुनः भारत में आया और तत्कालीन तेजहीन बादशाह शाह आलम को २६ लाख रुपये सालाना देकर उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी हासिल की, तो कंपनी का प्रभाव विस्तार पाने लगा। सर्वसाधारण जनता समझने लगी कि, वास्तव में देश के शासक अंग्रेज हो गये हैं। लार्ड क्लाइब जब इंगलैण्ड वापिस

चला गया, तो उसके स्थान पर सन् १७७२ में कंपनी का पहला गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्स मनोनीत हुआ। वारेन हेस्टिंग्स बहुत ही साधारण अवस्था में वर्षों पूर्व हिंदुस्थान में आया था। उसने निम्न पदों पर रह कर कई एक उतार चढ़ाव देखे थे, जिसका उल्लेख हमने पूर्व अध्याय में किया है।

वारेन हेस्टिंग्स कुशाग्र-बुद्धि और बड़ा कूटनीतिज्ञ था। उसे इस बात का बड़ा अनुभव हो गया था कि, इस देश के लोगों पर किस प्रकार कंपनी की सत्ता का प्रभाव जमाया जा सकता है। यही कारण था कि, उसे गवर्नर जेनरल बनाया गया। अधिकार प्राप्त कर उसने कई प्रकार से कूटनीति की चालें चलनी शुरू की, जिनमें महाराजा नंदकुमार का एक मामला भी था। इतिहासकारों ने बतलाया है कि, नंदकुमार एक बड़ा ही प्रभावशाली पुरुष था। उसने वारेन हेस्टिंग्स के विरुद्ध आवाज उठाई थी। यही कारण था कि, हेस्टिंग्स के हृदय का वह काँटा बन गया था। पता लगता है कि, बुलाकीदास अग्रवाल जौहरी का जब असमय में देहान्त हो गया और उसका स्टेट ट्रस्ट के रूप में एक बंगाली वकील के हाथ में आया, तो वारेन हेस्टिंग्स ने उसको अपने अनुकूल बनाकर कई हजार रुपयों का मामला महाराज नंदकुमार पर दायर करवा दिया था। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि, उस समय सर्व प्रथम हेस्टिंग्स ने सुप्रिम कोर्ट की स्थापना की थी और उसका पहला प्रधान जज सर एलिजा इम्पी मनोनीत हुआ था। वह हेस्टिंग्स का हार्दिक मित्र था। नंदकुमार पर जब यह मामला चला और उसने अपनी सफाई में उक्त रुपयों का भरपाया किया हुआ बिल पेश किया, तो वह बिल जाली करार देकर, उसे फांसी की सजा दी गई। यहाँ पर यह बताना भी आवश्यक है कि, उस समय तक हिन्दुस्थान में किसी प्रकार के कानून का निर्माण नहीं हुआ था। परन्तु इंगलैण्ड के कानून के आधार पर उसे यह सजा दी गई थी। यद्यपि नंदकुमार को फांसी की सजा दी

जाने पर बंगाल भर में तहलका मच गया था और ६ लाख व्यक्तियों की सही से एक मेमोरियल भी सजा के विरुद्ध भेजा गया था पर उसका फल कुछ भी नहीं हुआ। अन्त में नंदकुमार को फांसी पर लटका ही दिया गया। यह घटना ऐसी थी कि, देशवासियों के लिए यह समझना कठिन हो गया था कि, 'ईष्ट इण्डिया कंपनी' और खास कर हेस्टिंग्स की नीति क्या है? मारवाड़ी जाति के व्यक्ति जगतसेठों की हत्या के बाद राजनैतिक क्षेत्र से उदासीन पहले से ही हो रहे थे पर इस घटना से वे और भी अधिक सहम गये।

उधर हेस्टिंग्स ने यह अनुभव किया कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्ति राजनीति से हट रहे हैं, तो उनसे लाभ उठाया जाय। इसका कारण प्रधानतया यह था कि, हेस्टिंग्स की इच्छा इंगलैण्ड के बने हुए माल का प्रचार हिन्दुस्थान में करने की प्रवल हो उठी थी। उसने सोचा कि, मारवाड़ी जाति के समक्ष व्यापारिक-क्षेत्र में बढ़ने के लिए कोई ऐसा प्रलोभन रक्खा जाय, जिससे वह इंगलैण्ड के माल का अधिकाधिक प्रचार कर सके। हेस्टिंग्स ने कुछ ऐसी ही नीति का प्रचार किया और परिणाम यह हुआ कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्ति राजनीति से हट कर केवल वाणिज्य-व्यापार में जुट गये।

राजनीति से हट कर मारवाड़ियों ने वाणिज्य-व्यापार पर इतना अधिक ध्यान दिया कि, वे न केवल बंगाल में ही प्रत्युत् आसाम, भूटान, और कालिम्पोंग तक फैल गये। इस सम्बन्ध में सर पी० सी० राय ने लिखा है कि, इस जाति के व्यक्ति, आसाम में सदिया नगर तक जो कि, उस समय व्यापार का केन्द्र बना हुआ था—व्यापार करने लगे थे। आसाम के चायबगानों का स्वत्व जिन यूरोपियनों ने अपने अधिकार में कर रखा था, उन्हें भी मारवाड़ी बैंकरों ने धन लगा कर अपने व्यापार का साधन बना लिया था। दार्जिलिंग, कालिम्पोंग, सिक्किम और भूटान में ऊन, घी, और मसालों का बड़ा भारी व्यापार होता था। उन सभी

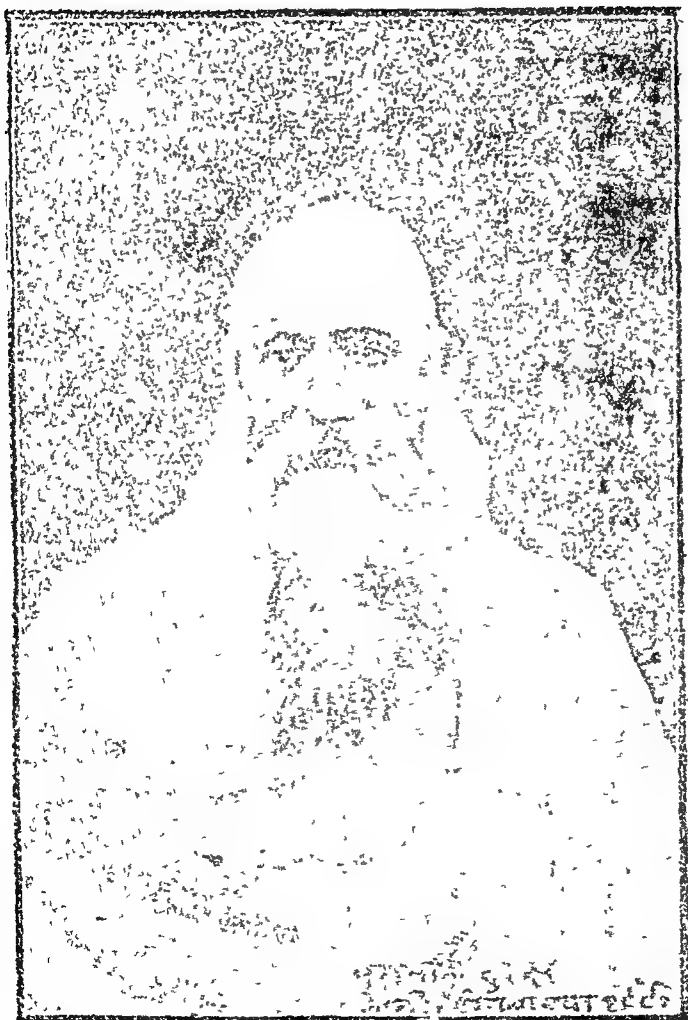
व्यवसायों में मारवाड़ियों ने अपनी प्रधानता कायम कर ली थी। इसके अतिरिक्त आचार्य राय ने यह भी लिखा है कि, सन् १७२७ में जब देशी बैंकिंग सिस्टम का प्राधान्य बना हुआ था, उस समय चार फर्म बड़े प्रसिद्ध थे। उनके नाम भी उन्होंने बताये हैं और वे ये हैं—(१) रामकृष्ण लक्ष्मीनारायण (२) नूंदराम बैजनाथ (३) रामचन्द्र साहा (४) गोपालचरण साहा। इनमें पहले दो नाम मारवाड़ियों के हैं और पिछले दो बंगालियों के। कहा गया है कि, नूँदराम बैजनाथ के फर्म में हुण्डी-पुर्जे के सिवा मालगुजारी का काम भी बड़े पैमाने में होता था। इस फर्म का कार्यकर्ता रामजीराम बड़ा दक्ष गुमाश्ता था। उसने सन् १७८७ में करेंसी कमीशन के सामने गवाही दी थी। सन् १७८८ में कलकत्ते के २४ सराफों† ने तत्कालीन लार्ड कार्नवालिस को एक अभिनन्दन-पत्र दिया था। उससे पता लगता है कि, सही करनेवालों में सभी व्यक्ति बंगाली न होकर पश्चिम के व्यापारी थे। इससे जाना जा सकता है कि, बंगालियों की अपेक्षा उस समय दूसरों की भी प्रधानता हो चली थी। उपरोक्त २४ फर्मों में शिवगोपालदास मनोहरदास नामका फर्म बड़ा प्रसिद्ध था। कलकत्ते के बड़ाबाजार में मनोहरदास का कटरा व्यापार का प्रधान स्थान आज भी बना हुआ है। यह उन्हीं मनोहरदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उनके वंशधर इस समय भी काशी में डा० भगवान दास और उनके पुत्र श्रीप्रकाश के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार एक ओर तो मारवाड़ियों ने सन् १८१३ तक वाणिज्य-व्यापार में अपनी प्रगति की और दूसरी ओर 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने भी अपना पैर बहुत कुछ मजबूत कर लिया। कम्पनी की स्थिति सुदृढ़ हो चली, तो इंगलैण्ड के कर्णधारों को अपने देश में बने हुए माल को भारत में अधिकाधिक रूप में चलाने की फिक्र हुई। अब तक भारत में वाणिज्य-

---

† Economic Annals of Bengal.

सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान्



डा० भगवानदास, बनारस

(फर्म—शिवगोपालदास मनोहरदास)

व्यापार करने के लिए केवल कम्पनी ही पूर्ण रूप से एक मात्र अधिकारिणी बनी हुई थी। भारत का व्यापार उस समय तक या तो कम्पनी के कर्मचारी ही कर सकते थे अथवा कम्पनी जिसे विशेष रूप से अधिकार देती वे अंग्रेज ही कर सकते थे। परंतु सन् १८१३ से कंपनी के डाइरेक्टरों ने ब्रिटेन के व्यापारियों को भारत में स्वतंत्र रूप से व्यापार करने की आजादी दे दी। उसका फल यह हुआ कि, कलकत्ते में अंग्रेज व्यापारियों की स्वतन्त्र आफिसें खुलने लगीं। उसी समय से विशेप रूप से विदेशी माल का आयात भारत में बढ़ने लगा।

कुछ विशेष बातें

(सन् १८१३ से १८३३ तक का समय)

जिस प्रकार 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' ने सन् १८१३ में अपने देशवासियों को हिन्दुस्थान में स्वतन्त्र व्यापार करने की अनुमति प्रदान कर परिवर्तन का सूत्रपात किया, उसी प्रकार मारवाड़ियों में भी परिवर्तन होने का परिचय मिलता है। जगतसेठों की हत्या होने के बाद मारवाड़ी जाति के व्यक्ति जब राजनैतिक क्षेत्र से उदासीन हो चले, उस समय शेखावाटी और बीकानेर राज्यों में रहनेवाले व्यक्ति विशेष रूप से यहाँ आने लगे। इससे पहले जो मारवाड़ी बंगाल में आये, उनमें या तो जोधपुर-मारवाड़ के व्यक्तियों की संख्या अधिक थी या वे व्यक्ति अधिक संख्या में आये, जिनका निवासस्थान राजपूताना, हरियाणा और मालवा से बदल कर अन्य प्रान्तों में हो गया था। शेखावाटी तथा बीकानेर राज्यों के रहनेवाले व्यक्तियों की संख्या उस समय अल्प थी। यहाँ पर हमें यह विचार करना है कि, पहले आनेवाले जिन मारवाड़ियों ने प्रायः दो सौ वर्षों तक वाणिज्य-व्यापार के साथ राज-कार्य और राजनीति में भाग लिया था, उनका

दृष्टिकोण एकाएक राजनैतिक क्षेत्र से हट कर केवल व्यापार की ओर हो जाना, एक प्रकार से विचित्र सा मालूम होता है।

यह एक अनुभव-सिद्ध वात है कि, जिन व्यक्तियों का सम्वन्ध सदियों तक राजनीति से रहता है, उनकी आदत कुछ ऐसी हो जाती है कि, विना राजनैतिक क्षेत्र के उनका मन किसी दूसरी ओर नहीं लगता। यदि उनके कार्य-क्षेत्र में विशेप कारणवश कोई परिवर्तन होता है, तो वे व्यक्ति किसी काम के नहीं रहते और उनका जीवन क्रियाहीन अवस्था में ही व्यनीत होता है।

यहाँ पर हमें यह वतलाना है कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने राजनीति और राज-कार्यों में वहुत समय तक भाग लेने पर भी अपना प्रधान दृष्टिकोण व्यापारिक ही रखा था। जगतसेठ और अमीचंद आदि की घटनाओं से ऐसा ही प्रतीत होता है और यही कारण है कि, जगतसेठों की हत्या के वाद राजनैतिक क्षेत्र से हटने की भावना जव मारवाड़ियों के हृदय में पैदा हुई तो, केवल वाणिज्य-व्यापार की ओर झुकने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि, व्यक्तिगत रूप से जिन व्यक्तियों ने राजनीति में विशेप भाग लिया था, वे इस परिवर्तन के साथ वाणिज्य-व्यापार में प्रगति नहीं कर सके। जगतसेठ घराने का उदाहरण हमें वतलाता है कि, सन् १७८२ तक वे राज-कार्य में रहे। वाद में उन्होंने वाणिज्य-व्यापार में भाग लिया हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। सारांश यह कि, जो व्यक्ति राजनीति में वहुत अधिक भाग लेते आये थे. इस परिवर्तन से उनकी उन्नति रुक गई। परन्तु राजनीति की अपेक्षा वाणिज्य-व्यापार में जिनका हाथ अधिक था, वे व्यापार में आगे वढ़े। इस परिवर्तन में प्रधान भाग शेखावाटी और वीकानेरी मारवाड़ियों ने लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि, वे व्यापार में आगे वढ़ गये और आगे चल कर उन्होंने व्यापारिक-क्षेत्र में शीर्प स्थान प्राप्त कर लिया।

यहाँ पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि, इस प्रकार शेखावाटी और बीकानेर रियासतों के व्यक्तियों के अधिक संख्या में आने पर मारवाड़ी जाति की दूसरी अवस्था शुरू हुई, तब उसके साथ ही साथ मारवाड़ियों का सम्बोधन भी दो नामों से होने लगा था, जो किसी न किसी रूप में आज भी देखने में आता है। एक भाग को लोग 'काइयाँ' और दूसरे भाग को 'चूरूवाले' कहने लगे। 'काइयाँ' शब्द का साधारणतया अर्थ चालाक तथा होशियार है। हो सकता है कि, राज-कार्य और राजनीति से सम्बन्ध रहने के कारण पहले आनेवाले मारवाड़ियों को बंगालियों ने 'काइयाँ' कहना शुरू किया हो और बाद में आनेवाले मारवाड़ी 'चूरूवाले' कहे जाने लगे हों। यद्यपि आज भी ये दोनों नाम मारवाड़ी समाज में प्रयोग होते हैं, तथापि इनके भाव में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है। 'काइयाँ' शब्द का प्रयोग इस समय केवल ओसवाल जाति के लिये होता है और शेष सभी मारवाड़ी कलकत्ते में 'चूरूवाले' कहे जाते हैं।

'काइयाँ' और 'चूरूवाले'—

इस प्रकार 'काइयाँ' शब्द की मीमांसा तो हो जाती है। पर 'चूरूवाले' कैसे और क्यों कहे जाने लगे, यह भी एक प्रश्न है। इसके सम्बन्ध में पता चलता है कि, शेखावाटी तथा बीकानेर रियासतों के आनेवाले व्यक्तियों में सबसे पहले 'चूरू' के लोग आये थे और उनकी ही प्रधानता समाज में रही थी। यह भी कहा जाता है कि, दूसरी अवस्था में आने-वाले मारवाड़ियों का सामाजिक संगठन चूरू की गद्दी में होता था। वे अपने अभाव-अभियोगों का विचार तथा सामाजिक रश्म-रिवाज आदि के सम्बन्ध में क्या करना चाहिये, इन सभी आवश्यक बातों का निर्णय चूरू की गद्दी में किया करते थे। यही संगठन कलकत्ते में आगे चलकर बड़ी पंचायत के रूप में दिखाई पड़ने लगा था, जिसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे।

श्रीयुक्त रामचरणदासजी सरावगी, जो फतहपुर शेखावाटी के रहनेवाले थे और जिन्होंने बहुत वर्षों तक कलकत्ते में निवास किया था, पुरानी बातों और इतिहास के बड़े प्रेमी थे। इस पुस्तक के लेखक पर उनकी बड़ी कृपा थी। लेखक के पूछने पर उन्होंने अपने अनुभव से तथा पूर्वजों के द्वारा सुनी हुई तथा आँखों देखी बातों के आधार पर बताया कि, पहले आनेवाले मारवाड़ियों के सिवाय शेखावाटी और बीकानेर आदि रियासतों से आनेवाले व्यक्तियों की संख्या कलकत्ते में विक्रमी संवत् १८६६ अर्थात् सन् १८१२ के लगभग १७५ थी और विक्रमी संवत् १८८० में वह संख्या ६०० हो गई थी। उन्होंने बताया कि, उस समय कलकत्ते में इन लोगों की १८ गद्दियाँ बड़ी मशहूर समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त छोटी-बड़ी कई एक दूकानें चलती थीं, जिनमें लोग खरीद-बिक्री का व्यवसाय करते थे। सर्वसाधारण व्यक्ति जहाँ तक संभव होता, नौकरी पेशा न कर देहातों में फेरी करके माल बिक्री किया करते थे। इसके बाद दिन-प्रति-दिन उनकी संख्या बढ़ने लगी। कई एक फर्मों ने देखते-देखते उन्नति कर ली। उन्होंने बतलाया कि, विक्रमी संवत् १८६० के बाद चूरूवाले मारवाड़ियों का खासा नाम हो गया था। अंग्रेजी आफिसों में खत्रियों के स्थान पर मारवाड़ी स्थान पाने लगे, तो सूतापट्टी में मारवाड़ियों का नाम सुदक्ष व्यापारियों में लिया जाने लगा था। सन् १८४८ अर्थात् विक्रमी संवत् १६०५ के लगभग जब रेल बननी शुरू हुई और पहले-पहल रानीगंज से कलकत्ते तक की रेल खुली, तो रास्ते की कठिनाई कम होने से धड़ल्ले के साथ लोग आने लगे। जन-संख्या बढ़ने के साथ ही साथ व्यापार भी अत्यधिक विस्तार पाने लगा।

चूरूवालों के सम्बन्ध में विशेष बातें—

उस समय आनेवाले व्यापारियों के सम्बन्ध में श्रीयुक्त रामचरणदासजी ने जो बातें बताईं, वे न केवल ध्यान देने योग्य ही हैं, अपितु

शिक्षाप्रद भी हैं। उन्होंने बतलाया कि, उस समय आनेवाले मारवाड़ियों का रहन-सहन बड़ा सादा था। वे मिलजुल कर परस्पर बड़े प्रेम से रहते थे। एक दूसरे का सुख दुःख अपना समझते थे। उनमें मिलनसारी बहुत थी। परिश्रमशीलता की तो बात ही क्या थी। वे मशीन की तरह काम करके भी नहीं थकते थे। बड़ेबाजार में बङ्गालियों के कच्चे घर भाड़े लेकर दस-दस और पाँच-पाँच व्यक्ति मिल कर रहते थे और उस स्थान को वे 'बासा' कहा करते थे। रसोई मिलजुल कर अपने हाथ से बना लेते थे। सवेरे उठ कर वे नियमित रूप से गंगास्नान करते और देवदर्शन कर भोजन बनाते थे। ठीक ९ बजे अपने-अपने काम पर चले जाते थे। यद्यपि उनमें विद्या अधिक न थी, परन्तु महाजनी में लिखने पढ़ने तथा गणितादि में वे बड़े दक्ष थे। हिसाब-किताब रखना और किस वस्तु की कहाँ पर कैसी पड़ता होती है और तोल-माप का रसकस कैसा है, इस बात को वे बहुत जानते थे। उनमें आस्तिक भाव बहुत था। जातीयता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। कोई भी असमर्थ भाई आ गया तो उसे वे छाती से लगा लेते थे। वे उन्हें आश्रय देते और जहां तक संभव होता, उसे किसी न किसी काम पर लगा देते थे। मितव्ययिता बहुत थी। वे इस तथ्य को खूब जानते थे कि, पैसे की रक्षा करनेवाला व्यक्ति ही मुहर की रक्षा कर सकता है, पाई-पाई फिजूलखर्च करने से बड़ा खजाना खाली हो जाता है और उचित रीति से पाई-पाई जोड़ने से धन जमा हो जाता है। मिहनत मजदूरी करके इस भावना से वे कुछ न कुछ पूँजी जोड़ लेते थे और अपने बाल-बच्चों को खर्च भेजने में समर्थ होते थे। उनकी मुसाफिरी कमसे कम प्रायः तीन वर्ष की हुआ करती थी। कोई कोई पाँच वर्ष से भी अपने घर जाते थे। आने-जाने में महीनों लग जाते थे। बड़ी कठिनाई से पैदल चल कर या ऊँटों पर वे मिर्जापुर तक आते थे। वहाँ पर यदि काम नहीं लगा, तो वहाँ से आनेवाली माल से भरी नौकाओं पर चढ़नदारी करके

अर्थात् रखवाले बन कर बंगाल में पहुंचते थे। इसके लिये उन्हें दो चार रुपये तथा खाना खर्च मिलता था। घर की सुध-बुध चार-चार और छः-छः महीनों से मिलती थी। जब उन्हें घर की चिट्ठी मिल जाती तब उछल पड़ते थे और दस बीस दिन तक उसी एक चिट्ठी को बारबार पढ़ा करते थे। उस समय न रेल थी, न तार था। टेलीफोन, मोटरगाड़ी और हवाई जहाजों की तो कल्पना भी नहीं थी। आज हमारे बाबू-बबुआ लोग एक दिन भी घर की चिट्ठी न मिले, तो घबड़ा जाते हैं और डबल तार भुगताने लगते हैं। पर उस समय ये सब बातें कहाँ थी?

ऐसी कठिन परिस्थिति में हमारे पूर्वज उस समय बंगाल में आये थे और बड़े परिश्रम तथा संयम से जाति की साख जमाई थी। सच तो यह है कि, उनका साहस और चरित्र-बल इतना अधिक था कि, उसका प्रभाव अनायास ही अन्य लोगों पर पड़ता था। आजकल की तरह बड़े बड़े कामों की वे कोरी कल्पना नहीं करते थे। उसे तो वे 'शेखचिल्ली का घर' मानते थे। उनकी अटल धारणा थी कि, जिस प्रकार एक एक सीढ़ी पर चढ़ने से ही मनुष्य सुगमता से अपने लक्ष्य स्थान तक पहुँचता है, उसी प्रकार छोटे-छोटे काम उत्साह और लगनपूर्वक करने से ही मनुष्य की वास्तविक उन्नति होती है। धीरे-धीरे योग्यता भी बढ़ती है। पर जो व्यक्ति अपनी योग्यता पर ध्यान न रख कर बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करता है, तथा किसी बड़े काम को ही करना चाहता है और छोटे काम पर मन नहीं लगाता, उसका नतीजा अक्सर यह होता है कि, न तो उसकी आर्थिक उन्नति ही हो पाती है और न किसी विषय में उसका ज्ञान ही बढ़ता है। ऐसी अवस्था में तो उसका उत्साह उलटा टूट जाता है और वह किसी भी काम का नहीं रहता। उस समय हमारे पूर्वजों में यही विशेषता थी कि, वे अपनी सचाई, ईमानदारी और ईश्वर में विश्वास रख कर किसी भी छोटे से छोटे काम में उत्साह के साथ लग जाते थे और नीचे से ऊपर उठनेवाले निश्चित सिद्धान्त के अनुसार अपनी योग्यता बढ़ाते

हुए सफलता प्राप्त करते थे। यही कारण था कि, हमारे पूर्वजों की इस प्रदेश में इतनी उन्नति हुई और मारवाड़ी जाति की साख जमी।

खेद की बात है कि, आज हमारी आर्थिक उन्नति विशेष रूप से होने पर भी हम में पूर्वजों के गुणों का एक प्रकार से अभाव सा हो गया है। आज हमें किसी छोटे काम में लगते शर्म आती है; क्योंकि हम अपने को धनिक समझने लगे हैं। हम अपने नवयुवकों को पहले-पहल किसी छोटे काम में लगा कर उनकी उन्नति का उपाय सोचते हैं, तो हमारी इज्जत घट जाती है। होता क्या है कि, हममें बड़प्पन का रोग घुस गया है। हममें कितनी योग्यता है, उसका विचार करना हमने छोड़ दिया है। बड़ी-बड़ी कल्पना करते हैं और बड़ा काम होता है, तभी हम उसमें हाथ देते हैं; अन्यथा बेकार बैठे रहते हैं। योग्यता से अधिक बड़े काम में हाथ देने का परिणाम अधिकतर विपरीत होता देखा जाता है। जिस प्रकार अपनी शक्ति से अधिक बोझ उठाने का बुरा परिणाम होता है, उसी प्रकार अपनी योग्यता से अधिक काम उठाने से उलटी हानि होती है और रहा-सहा उत्साह भी घट जाता है। जो काम अपनी योग्यता से हलके दर्जे का उठाया जाता है यद्यपि एक बार देखने में छोटा मालूम होता है, तथापि उसका परिणाम उत्साह और उन्नतिवर्धक होता है। यह एक निश्चित और अनुभूत सिद्धान्त है कि, क्रमशः उन्नति करने से ही ठोस उन्नति होती है और यदि छलांग मारी जाती है, तो निश्चय ही उसे गिर जाना पड़ता है। आज हम में और उस समय के व्यक्तियों में इतना ही भेद है कि, वे पहले-पहल जो काम आरम्भ करते थे, अपनी योग्यता से हलका काम अपनाते थे और उत्साह के साथ क्रमशः उन्नति करते हुए उच्च स्थान पर पहुँच जाते थे। पर आज हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। हम अपनी योग्यता से बहुत अधिक बड़ा काम खोजते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि, प्रथम तो कोई बड़े काम का सिलसिला ही बैठना कठिन रहता है और यदि धन के प्रभाव से बैठ भी जाता है, तो

योग्यता की कमी के कारण सफलता पाना सहज नहीं होता। उसका उलटा परिणाम तो यह होता है कि, सफलता न होने से हमारा पहले का उत्साह भी ठण्ढा पड़ जाता है और उत्साह घटने से लाभ के वदले हानि का शिकार होना पड़ता है।

असल बात तो यह है कि, संसार में उत्साह ही एक ऐसी चीज है कि, उसके सहारे मनुष्य चाहे सो वन सकता है। परन्तु जहाँ उत्साह की कमी हो जाती है और केवल वड़प्पन की ऐंठ वनी रहती है, उस मनुष्य की उन्नति अवश्य रुक जाती है। अव पाठक समझ सकते हैं कि, उस समय के हमारे पूर्वजों के भावों में और आज हमारे लक्ष्य में कितना वड़ा भेद हो गया है। वे किस प्रकार अपनी साधारण अवस्था में उन्नति की ओर अग्रसर हुए थे और आज हम धनिक होते हुए भी क्यों उन्नति से पीछे हट रहे हैं। सच तो यह है कि, पूर्वजों में उत्साह था और आज हमारा उत्साह वड़प्पन के रोग के कारण कुंठित होता जा रहा है। उचित तो यह है कि, हम ऐसा ही कार्य करें, जिससे हमारे उत्साह में कमी न आने पावे और क्रमशः हम उन्नति की ओर अग्रसर हो सकें।

हमारे इस कथन से पाठक यह न समझें कि, हम समाज को नीचे की ओर ढकेलने की चेष्टा कर रहे हैं और वावा आदम के जमाने की वही पुरानी तेल-लूण की दूकानें खोलने का उपदेश दे रहे हैं तथा आजकल के इस उन्नत जमाने में वड़े-वड़े कल-कारखाने आदि खोलने में समाज को हतोत्साहित कर रहे हैं। हमारा यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि, समय की रफ्तार के अनुसार उन्नतिजनक कारवार को न किया जाय। हमारे कथन का वास्तविक भाव यह है कि, हम झूठे वड़प्पन की धुन में अकर्मण्य न वन वैठें और नीचे से ऊपर उठनेवाले व्यापार के प्रकृत सिद्धान्त को न भूल कर ऐसा कार्य करें कि, हमारी भावी सन्तानें जव कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हों, तो वे केवल हवा में न उड़ कर छोटे-छोटे कामों में मन लगा कर उत्साह के साथ उस दर्जे पर पहुंच जांय, जो कि, संसार में आज-

कल उन्नति का विशेष कारण बना हुआ है। छोटा काम शुरू करने से जिस प्रकार उत्साह की वृद्धि होने के साथ ही साथ आर्थिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है, उसी प्रकार मनुष्य का अनुभव भी बढ़ता है और उसमें स्थायित्व भी अधिक रहता है तथा मनुष्य की योग्यता भी दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है। परन्तु किसी बड़े काम के संचालन में पूरी योग्यता और अनुभव नहीं होता तो उसमें सफलता प्राप्त होना कठिन हो जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि, उत्साह घट जाता है और लोगों को किंकर्तव्यविमूढ़ होना पड़ता है। अतः आवश्यकता यह है कि, कार्य-क्षेत्र में उतरने के समय हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि, जिससे हमारे उत्साह में ठेस न लगे और उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए हम अपने लक्ष्य-स्थल को प्राप्त कर सकें।

एक रुपये और नौ पैसों का रहस्य—

शेखावाटी और बीकानेर आदि रियासतों के मारवाड़ी पहले-पहल जब बंगाल में आये, उस समय उनकी आर्थिक अवस्था सन्तोषप्रद नहीं थी। उनका आना धन के जोर पर नहीं किन्तु व्यक्तिगत साहस और उत्साह से हुआ था। पाठक जान चुके हैं कि, आनेवाले व्यक्ति अपने घर से चल कर प्रायः पैदल मिर्जापुर तक आते थे और मिर्जापुर से माल की नौकाओं पर चढ़नदारी करके बड़ी कठिनाई से बंगाल का दर्शन कर पाते थे। इस सम्बन्ध में हम एक ऐसी प्रथा का वर्णन करेंगे जो आज भी मारवाड़ी समाज में प्रचलित है और उससे भली प्रकार उस समय की आर्थिक अवस्था जानी जा सकती है। कहा जाता है कि, प्राचीन समय में जब कि, राजस्थान से चल कर लोग अन्य प्रान्तों में व्यवसाय के लिये जाने लगे थे, उस समय किसी व्यक्ति के पास केवल एक रुपया और नौ पैसे थे और उसी पूंजी को पल्ले बाँध कर वह घर से विदा हुआ था। उस व्यक्ति ने अन्य प्रान्त में आकर अपनी इतनी आर्थिक उन्नति की कि, वह लक्षाधीश बनकर अपने घर वापिस लौटा। राजस्थानवासियों ने

समझा कि, एक रुपया और नौ पैसे पल्ले बांध कर विदा होने का ही फल है कि, वह व्यक्ति धनशाली बन जाता है। यही कारण था कि, एक रुपया और नौ पैसा पल्ले बांध कर घर से विदा होना शुभ समझा गया। यद्यपि आज मारवाड़ियों की वह हीन अवस्था नहीं रही और वे विपुल धन के स्वामी बन गये, तथापि यह रिवाज अब भी देखी जाती है कि, बड़े से बड़ा और साधारण से साधारण व्यक्ति भी जब अपने घर से विदा होता है तो केवल एक रुपया और नौ पैसा ही अपने पल्ले बांध कर रवाने होता है। इससे अधिक पूंजी लेकर घर से नहीं निकलता। यह एक दूसरी बात है कि, पीछे से उसके घर के व्यक्ति उसके पास आवश्यकतानुसार रुपये पहुंचा देते हैं, परन्तु घर से विदा होते समय स्वयं एक रुपया नौ पैसा ही लेकर चलता है। इस उदाहरण से पाठक समझ सकते हैं कि, मनुष्य की उन्नति केवल धन के जोर पर ही नहीं होती। उसके लिए साहस, उत्साह, सच्चाई और ईमानदारी की बड़ी आवश्यकता होती है। प्रायः देखा जाता है कि, बहुत से फर्म और सेठ साहूकार पीढ़ियों से नामी धनिक होने पर भी जब उनमें उत्साह की कमी हो जाती है और बड़प्पन के प्रभाव से वे अन्य प्रकार की नैतिकता छोड़ बैठते हैं, तब धन होने पर भी उनका ह्रास होने लगता है और देखते-देखते कितनी ही पुरानी से पुरानी आसामियां शेप हो जाती हैं। इसका कारण ही यह है कि, उनमें उत्साह और नैतिकता घट जाती है। जो व्यक्ति धनिक नहीं है, पर उसमें उत्साह और नैतिकता है, तो वह अपनी उन्नति करने में समर्थ होता है। मारवाड़ी जाति की उन्नति होने का भी यही कारण है कि, धन न होने पर भी हमारे पूर्व पुरुषों में उत्साह और नैतिकता बनी हुई थी। इसी से इस जाति की इतनी उन्नति हुई थी।

अंग्रेजों की व्यापारिक आफिसें

(सन् १८१३ से प्रारंभ)

सन् १८१३ में ईष्ट इण्डिया कम्पनी के कर्णधारों ने समस्त ब्रिटेन-वासियों के लिये भारतवर्ष में स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने की आजादी दे दी, तो देखते-देखते अंग्रेज व्यापारी धड़ल्ले के साथ हिन्दुस्थान में आने लगे। कलकत्ते में कतिपय अंग्रेजी आफिसें स्वतन्त्र रूप से काम करने लगीं। यहां पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि, जो अंग्रेज-व्यापारी स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने के लिये यहां आये, उनका प्रधान लक्ष्य क्या था और किस प्रकार उन्होंने अपना दबदबा कायम किया। इस सम्बन्ध में जहां तक पता चलता है, यह कहा जा सकता है कि, उस समय उनका एक मात्र लक्ष्य यही रहा कि, जिस प्रकार भी हो भारतवर्ष का कच्चा माल खरीद कर इंगलैण्ड भेजना और इंगलैंड में बनी हुई वस्तुओं को यहां लाकर अधिकाधिक रूप में चलाना। इसके लिये उन्होंने यह जानने की चेष्टा की कि, हिन्दुस्थान में कौनसी वस्तुएँ कहां पर कितनी पैदा होती हैं और किन-किन वस्तुओं की कहां पर कितनी खपत होती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस बात का बड़े गौर के साथ अनु-सन्धान किया कि, ऐसी कौन सी वस्तुएँ हैं, जिन्हें हम ग्रेट-ब्रिटेन में बना कर इस देश में उनका सुगमता से प्रचार कर सकते हैं। इसके लिये उन्होंने कतिपय गुप्त और प्रकट संस्थाओं का निर्माण किया और कई वर्षों तक अनुसन्धान कर उसकी रिपोर्ट इंगलैंड में भेजते रहे। इसका फल यह हुआ कि, हिन्दुस्थान की बनी वस्तुओं का प्रचार घटने लगा और ब्रिटेन में तैयार की हुई वस्तुओं का प्रचार शुरू हो गया। कपड़े के व्यापार में बड़ा भारी परिवर्तन होने लगा। इसका प्रधान कारण तो यह

था कि, उस समय अंग्रेजों की नीति ही यह हो गई थी कि, जिस प्रकार भी हो, उचित अथवा अनुचित सभी उपायों द्वारा भारतवर्ष की कारीगरी का अन्त किया जाय और इंगलैंड में अधिकाधिक माल तैयार कर उसका प्रचार यहाँ किया जाय। इस सम्बन्ध का इतिहास बहुत बड़ा है और उससे जाना जा सकता है कि, अंग्रेजों ने भारतवर्ष में अपनी सत्ता जमने पर किस प्रकार और किन-किन उपायों से भारतवर्ष की कारीगरी और उद्योग-धन्धों को नष्ट किया था और इंगलैंड में बने हुए माल का इस देश में प्रचार करने में किन उपायों का आश्रय लिया था। ऐतिहासिक उल्लेखों से पाया जाता है कि, भारतवर्ष का बढ़िया से बढ़िया कपड़ा इंगलैंड में जाता था और वहां के व्यक्ति बड़े चाव से उसे खरीदते थे। उसकी रोक के लिये इतना अधिक कर लगाया गया कि, उसका जाना बन्द हो चला। कहा जाता है कि, एक सौ रुपये के माल पर ८० और १०० प्रतिशत ड्यूटी लगाना तो एक मामूली बात थी। किसी किसी वस्तु पर तो कीमत से तीन गुना अधिक कर भी लगाया गया था। ये कर इसी दृष्टि से लगाये जाते थे कि, भारत का बना हुआ माल इंगलैंड में न आ सके। इस प्रकार एक ओर तो अनुचित रूपसे जकात लगा कर भारत में बने हुए माल का इंगलैंड में जाना रोका गया और दूसरी ओर हिन्दुस्थान में नृशंसतापूर्ण कठोर अत्याचारों के द्वारा ऐसा प्रयत्न किया गया कि, अच्छे से अच्छे कारीगरों को अपने हाथों के अंगूठे तक काट देने पड़े। इस प्रकार अंग्रेजों ने उचित और अनुचित सभी प्रकार की शक्ति को काम में लाकर हिन्दुस्थान की कारीगरी की रीढ़ तोड़ दी और उसके स्थान पर अपने देश के बने हुए माल का अधिकाधिक प्रचार करने का मार्ग साफ कर लिया।

इस प्रकार जब उनके लिए मार्ग साफ हो गया, तो उन्होंने हिन्दुस्थान की तरह बढ़िया से बढ़िया माल कलों के द्वारा इंगलैंड में तैयार करने का उद्योग बड़ी दिलचस्पी के साथ शुरू किया। ढाके की मलमल के मुका-

लिये उन्होंने बढ़िया से बढ़िया महीन मलमल बनानी शुरू की और ढाके की मलमल के जो दाम होते थे, उससे बहुत कम दाम में अपनी मलमल बेचने लगे। हमारे यहाँ की छींट के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि, उसकी बनावट और छपाई की तुलना आज भी संसार में नहीं हो सकती। परन्तु, अंग्रेजों ने इस कार्य में भी बहुत बड़ा उद्योग किया। उन्होंने न केवल भारतीय डिजाइनों का ही अनुकरण किया, अपितु और और भी इतने नये-नये डिजाइन बनाये, जिनके कारण यहाँ का बाजार उनके हाथ में आ गया। छींटों के अतिरिक्त साड़ियों की छपाई में तो उन्होंने कमाल का काम किया तथा वे इतनी सस्ती बेचने लगे कि, भारत में बननेवाली छींटों और साड़ियों की रीढ़ ही मारी गई। धोती की पाड़ें जो कि, भारत में बहुत ही थोड़े प्रकार की होती थीं, अंग्रेजों ने उसमें इतनी तरक्की की कि, देखते-देखते धोती का बाजार भी उन्होंने हथिया लिया। इसके सिवाय मारकीन, दुकड़ी, तिकड़ी और नैनसुख तथा अन्य प्रकार के रंगीन वस्त्रादि सभी प्रकार के कपड़े वे इस प्रकार बनाने लगे कि, देखने में सुन्दर और कीमत में मन्दे होने से अंग्रेजों का व्यापार यहां दिन प्रति दिन बढ़ने लगा।

जो अंग्रेज जाति अब तक 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' के रूप में कार्य करती आ रही थी और एक संस्था के रूप में अपना स्वार्थ साधन करती थी, अब उसका रुख जातीय-स्वार्थ की ओर हो चला। स्वतंत्र रूप से जो अंग्रेज भारत में आये, वे भी जातीयता के भावों में सराबोर थे। वे इस बात को जानते थे कि, स्वतंत्र व्यापार करने में हम लोग यदि अधिक लाभ न भी उठा सकें तो भी हमें उसकी परवा नहीं करनी चाहिए। वे जानते थे कि, हमारे देश का बना हुआ माल यदि इस देश में चल जायगा, तो हमारा देश मालामाल हो जायगा और उसका हिस्सा हमें और हमारी सन्तानों को भविष्य में मिलेगा। इन्हीं भावनाओं को लेकर वे अपनी-अपनी आफिसों के कारबार को आगे बढ़ाने लगे।

यहां पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि, इन लोगों ने उस समय बड़े संयम और सच्चाई से भी काम लिया था। उन्होंने प्रधान रूप से अपना एक ही लक्ष्य कायम किया कि, भारतवासियों के साथ हमें सावधानी से पेश आना चाहिए, जिससे वे समझने लगें कि, अंग्रेज लोग सच्चे और बात के पक्के हैं। उन्होंने समय-समय पर हानियां उठाकर भी अपनी सच्चाई की रक्षा की। वे उदार भी बहुत बने। इंगलैण्ड के बने हुए किसी माल को खरीदने पर किसी भारतीय व्यापारी को किसी समय घाटा होने लगता, तो अंग्रेजों ने उसका दिल नहीं टूटने दिया। यथेष्ट बाद-बट्टा देकर तथा डिलेवरी की ड्यू बढ़ा कर उसे दिक्कत तथा हानि से बचाया। इन सब बातों का इतना प्रभाव पड़ा कि, लोग समझने लगे कि, अंग्रेजों के साथ व्यापार करने में हानि उठाने का डर सर्वथा नहीं है।

इन सब बातों के अतिरिक्त अंग्रेज व्यापारियों ने अपनी चातुरी और दूरदर्शिता से यह अनुभव किया कि, किसी भी देश में दूसरे देश का माल चलाने के लिए उसी देश के लोगों की सहानुभूति और सहायता परमावश्यक होती है। देशवासियों की सहानुभूति बिना अन्य किसी भी देश का व्यापार यथेष्ट रूप से स्थान नहीं पा सकता। इस प्रकृत तथ्य को ध्यान में रख कर उन्होंने निश्चय किया कि, इस देश के व्यापारियों की सहानुभूति, सहायता और दिलचस्पी उसी अवस्था में हमें प्राप्त हो सकती है, जब कि, कोई विशेष प्रकार का प्रलोभन दिखाकर उन्हें आकर्षित किया जाय। इस दृष्टि से इंगलैण्ड का बना माल बेचने तथा इस देश का कच्चा माल खरीदने के लिए उन्होंने मिडिलमैनों को काफी दलाली देने की व्यवस्था की। उसका प्रभाव इतना पड़ा कि, भारत के व्यापारी "हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखा आवे" वाली कहावत के अनुसार इस ओर झुक पड़े।

यहां पर यह लिखना भी आवश्यक है कि, सुचतुर अंग्रेजों ने एक

तो दलाली का स्टैंडर्ड ही कुछ ऐसा ऊंचा रखा कि, देशवासी व्यापारी उसमें विशेष रूप से दिलचस्पी लेने लगे। दूसरे अंग्रेजों ने व्यापार करते हुए भारतीय व्यापारियों को दलाली देने में कभी भी सङ्कोच नहीं किया। उन्होंने बराबर ही काफी दलाली दी। परिणाम यह हुआ कि, बहुत से व्यक्ति स्वतन्त्र व्यापार की अपेक्षा दलाली के व्यवसाय को अधिक पसन्द करने लगे।

इस प्रकार दलाली की व्यवस्था से अंग्रेज व्यापारियों को अपना व्यापार चलाने में सुगमता होने लगी। उस समय उन्होंने यह भी अनुभव किया कि, वाणिज्य-व्यापार करनेवाले सभी व्यक्ति धनिक नहीं होते। पर्य्याप्त धन के साथ व्यापार करनेवाले व्यापारी बहुत अल्प होते हैं। अधिकांश व्यापारी ऐसे होते हैं, जो दूसरों की सहायता से अपने कारबार को चलाते हैं। ऐसी अवस्था में माल की डिलेवरी नगद रुपये लेकर देने से व्यापार की यथेष्ट वृद्धि नहीं हो सकती। अतः उन्होंने दलाली के अतिरिक्त मुसद्दीगिरी (Banianship) की व्यवस्था की। ऐसा करने में उनका लक्ष्य यह था कि, एक तो धनिक व्यक्ति अपने धन को कमीशन की आय के सहारे लगाने लगेंगे और दूसरे व्यापारियों को उधार माल छोड़ने में उनकी जोखिम भी न रहेगी। व्यापारियों को उधार माल छोड़ने में जोखिम के जिम्मेदार बैनियन रहेंगे। जो व्यक्ति किसी आफिस का बैनियन बनेगा, उससे कारबार के हिसाब से सिक्युरिटी के रूप में रुपये जमा लेने की व्यवस्था की गई। बदले में उचित व्याज के साथ एक रुपया सैंकड़ा कमीशन और दिया जाना निश्चित किया गया। शर्त यह थी कि, आफिसवाले जो माल की डिलेवरी देंगे, वह बैनियन के नाम पर देंगे और बैनियन जिस व्यापारी को माल छोड़ेगा, उसकी जोखिम उस पर रहेगी। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि, धनिक व्यक्ति कमीशन के लालच से आफिसों के बैनियन बनने लगे और माल उधार छोड़ने में अंग्रेजों को जो दिक्कत थी वह सहज में

दूर हो गई। मारवाड़ी व्यापारियों में यह साहस स्वाभाविक रूप में होने के कारण वे अन्य साधारण व्यापारियों को उधार माल छोड़ने में अधिकाधिक भाग लेने लगे। असल बात यह है कि, अंग्रेज व्यापारियों की आफिसों का व्यापार दलाली और मुसद्दीगिरी के होने से दिन प्रति दिन विस्तार पाने लगा। मारवाड़ी व्यापारियों ने बड़े साहस और दिलचस्पी के साथ भाग लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि, अंग्रेजी आफिसों में उनकी बढ़ती होने लगी।

आफिसों के दलाल

वङ्गाली, खत्री और मारवाड़ी—

जब कलकत्ते में अंग्रेजों की स्वतन्त्र आफिसें खुलने लगीं, तो सर्व प्रथम बंगाली व्यापारियों ने अंग्रेजी आफिसों में दलाली का काम करना शुरू किया था। हमने पहले बतलाया है कि, बंगालियों में वैशाख और सेठ जाति के व्यक्ति ही वाणिज्य-व्यापार में प्रसिद्ध थे और उस समय वैष्णवदास सेठ और शोभाराम वैशाख बड़े आदरणीय व्यापारी समझे जाते थे।* पता लगता है कि, अंग्रेजी आफिसों में कपड़े के दीवान कह कर इनकी भरती हुई थी। सर पी० सी० राय महोदय ने उन बंगाली व्यापारियों के नाम संग्रह किये हैं, जो उस समय अंग्रेजी आफिसों में काम करते थे। उन्होंने लिखा है कि, Crook Rowe & Co. में गौराचन्द दत्त और चण्डीचरण दत्त काम करते थे। आगे चलकर उन्होंने यह भी लिखा है कि, उनके पश्चात् उस फर्म का काम 'गुरुसहायमल घनश्याम' करने लगे

---

* आनन्द कृष्ण बोस लिखित "A short account of the residents of Calcutta in 1822".

थे।† Grahem & Co., Pigfourd Gurden & Co. और Hunderson & Co. आदि आठ फर्मों के दलाल प्राणकिसन ला थे। इस वंश का सम्बन्ध आज भी आफिसों से देखने में आता है। अभयचंद गुह का नाम भी मिलता है जिन्होंने Grahem & Co., Piljacob, Soni Kilburn & Co., और Sacherstein & Co., आदि नौ आफिसों में काम किया था और बाद में ललितमोहनदास ने भी इन्हीं आफिसों की दलाली तथा बैनियनशिप की थी। George Anderson Co., Chartered Mercantile Bank Ltd., Ross & Co., Raliegh Brothers., आदि आफिसों में द्वारकानाथ दत्त तथा उनके पुत्र धीरेनदास दत्त पीसगुड्स विभाग में कार्य करते थे। इसके सिवाय लक्ष्मीकान्तधर, सुखमय राम, रामयदुलाल सरकार, गोविन्दचन्द्र धर नीलमणि धर आदि के नाम भी बताये गये हैं कि, इन लोगों ने भिन्न-भिन्न आफिसों में काम किया था। उन्होंने यह भी बतलाया है कि, बहुत साधारण श्रेणी में रहनेवाले व्यक्तियों ने आफिसों में प्रवेश कर अपनी आर्थिक उन्नति की थी। परन्तु, बङ्गाली व्यापारी अधिक समय तक आफिसों का काम नहीं कर सके। यद्यपि प्राणकिशन और रामचन्द्र शील आदि दो चार फर्म बने रहे, तथापि अन्य सभी बङ्गाली हट गये। उनका स्थान खत्रियों ने लिया। बङ्गालियों की अपेक्षा खत्री लोग व्यापार में अधिक दक्ष थे। बङ्गाली लोगों का आफिसों में न टिक सकने का कारण बताते हुए आचार्य सर पी० सी० राय ने लिखा है कि, 'यद्यपि बङ्गाली

† पता नहीं यह कौन फर्म था। परन्तु फर्म के नाम से अनुमान किया जा सकता है कि, संभवतः सेठ ताराचन्द घनश्यामदास के सुप्रसिद्ध फर्म से ही इसका सम्बन्ध हो, क्योंकि गुरुसहायमलजी और घनश्यामदासजी इस फर्म के प्रसिद्ध पुरुष थे। यद्यपि कलकत्ते में इस फर्म का होना बहुत पीछे पाया जाता है तथापि आश्चर्य नहीं कि, उस समय गुरुसहायमल घनश्याम के नाम से कोई फर्म रहा हो।

आदर्शवादी और भावुक अवश्य हैं, किन्तु व्यवहारवादी न होने के कारण व्यापारिक क्षेत्र में पिछड़ जाते हैं।' उन्होंने यह भी लिखा है कि, 'बङ्गालियों में औद्योगिक भावना और व्यापारिक गुण ये दो बातें नहीं हैं। यही कारण है कि, स्वभावतः व्यापारिक-क्षेत्र से उन्हें हटना पड़ा।' आचार्य राय महोदय ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि, 'मैंने एक समय एक अर्थशास्त्रज्ञ से पूछा कि, वङ्गाल में बंगाली व्यापारी क्यों हट गये और मारवाड़ी कैसे बढ़ गये ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि, बंगालियों की अपेक्षा मारवाड़ी एक तो कम खर्चीले होते हैं और दूसरे व्यवहार करने में मिलनसार और ईमानदार हैं।'

यह सर्वथा सत्य है कि, बंगाली व्यापारियों की अपेक्षा खत्री समाज के लोगों ने अंग्रेजी आफिसों में अच्छा काम किया। एक बार वे बहुत बढ़े। कारण यह था कि, खत्री लोग स्वभावतः साफ-सुथरे और बोलचाल में मिष्टभाषी थे। इसके अतिरिक्त बंगालियों की अपेक्षा उनमें व्यापार करने की योग्यता भी अधिक थी। जिस समय उन्होंने आफिसों में काम करना शुरू किया, उस समय उनमें परिश्रमशीलता और मितव्ययिता भी बहुत थी। उन्होंने खूब मन लगा कर काम किया। परिणाम यह हुआ कि, उनका दबदबा आफिसों में बहुत हो गया। उनकी आर्थिक उन्नति भी बहुत हुई। देखते-देखते वे धनिक बन गये परन्तु यह कहना अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि, धन की बढ़ती के साथ ही साथ उनमें ऐयाशी और फिजूलखर्ची भी अत्यधिक मात्रा में बढ़ चली। बाग-बगीचों में रह कर गुलछर्रे उड़ाना और अनाप-शनाप खर्च करना उनका स्वभाव-सा बन गया। नतीजा यह हुआ कि, वे आफिसों का काम ठीक समय पर न सम्हाल सके। अंग्रेजों ने देखा कि, इन लोगों में ऐयाशी का दुर्गुण आ रहा है और साथ ही साथ आफिस के कामों में भी बाधा पड़ने लगी है, तो उनकी नजर परिश्रमशील मारवाड़ियों पर पड़ी। मारवाड़ी जाति के व्यक्ति किस प्रकार आफिसों में काम करने लगे और आगे चल कर

किस प्रकार आफिसों के काम में सर्व प्रधान हो गये, इस सम्बन्ध में आगे चल कर हम विस्तार के साथ लिखेंगे। इसके पहले हमें यह दिखाना है कि, खत्रियों ने पहले-पहल आफिसों में प्रवेश कर अपना दबदबा ऐसा जमाया था कि, उनके स्थान पर किसी दूसरी जाति के लोगों का आ जाना सम्भव ही नहीं था। परन्तु जिस जाति के व्यक्तियों में विशेष कर नवयुवकों में ऐयाशी बढ़ जाती है और नाना प्रकार की फिजूल-खर्ची में जो जाति फँस जाती है, उसकी उन्नति अवश्य रुक जाती है। खत्री समाज के हाथ से आफिसों का व्यापार निकल जाने का भी यही कारण हुआ कि, उस समाज के व्यक्तियों में संयम, परिश्रम और मितव्ययिता का स्थान प्रायः ऐयाशी, आरामतलबी और फिजूलखर्ची ने ले लिया था। परिणाम यह हुआ कि, उन्हें आफिसों के कारबार से क्रमशः हटना पड़ा।

खत्री समाज के तत्कालीन व्यापारियों में बाबू निक्कामल, बेसीजी मिश्र, जगन्नाथ टंडन, ममोजी मिश्र, भगवानदास अरोड़ा, ललिताप्रसाद खत्री, खेतू बाबू और मुकुन्दी बाबू आदि कई एक प्रमुख व्यक्तियों के नाम मिलते हैं, जिन्होंने समय-समय पर आफिसों के कामों में अच्छी ख्याति प्राप्त की थी।

पता चलता है कि, निक्कामल उस समय १२ आफिसों में काम करते थे। खेतू बाबू उनके दामाद थे, वे भी सुप्रसिद्ध "ग्राहम कम्पनी" में काम करते थे। मुकुन्दी बाबू बड़ेबाजार में बड़े प्रसिद्ध हुए, उनके नाम की प्रसिद्धि तो कुछ वर्षों पूर्व तक भी थी। 'कारतारक कम्पनी' के वे सर्वे-सर्वा बन कर रहे। अन्य प्रकार के माल के अतिरिक्त लाल कपड़े का कारबार इस आफिस में प्रधान था। यद्यपि 'फिलीमोर' में भी लाल कपड़ा बहुत आता था, परन्तु 'कारतारक' के लाल कपड़े की कहीं अधिक खपत थी। लाल कपड़े के व्यवसाय में मुकुन्दी बाबू के साथी जगन्नाथजी मोहता, जोधराजजी धानुका और घनश्यामदासजी गोयनका थे। उनका मेल-जोल और साथ ऐसा रहा कि, मुकुन्दी बाबू का बड़े-

बाजार में वड़ा दवदवा रहता था। मुकुन्दी वावू के वाद उनके पुत्र भैरव वावू ने भी वहुत अच्छा काम किया। वात यह थी कि, यह घराना अन्य खत्रियों की तरह ऐयाशी में नहीं फंसा था और मारवाड़ियों की वृद्धि के समय भी खत्री समाज का नाम वनाये रखने में समर्थ वना रहा। इसके सिवाय वावू छुटकामल और छोटेलालजी मिश्र ने भी वड़ेवाजार में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। मारवाड़ी जाति को खत्री समाज की घटनाओं को मनन करना चाहिए और इसके परिणाम पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार खत्री समाज की उन्नति जव आफिसों के काम में रुक गई, तो पहले-पहल श्रीयुक्त रामलालजी अग्रवाल ने 'गिलण्डर' की आफिस में प्रवेश किया। श्रीयुक्त वावूलालजी अग्रवाल ने "प्लण्टर्स" आदि दो तीन आफिसों का काम सम्हाला। इनके यहाँ श्रीयुक्त युगलकिशोरजी रूइया, रामकिशनदासजी सरावगी और गौरीदत्तजी सराफ आदि दो चार व्यक्ति पहले से ही काम करते थे। सच तो यह है कि, इन्होंने ही उपर्युक्त आफिसों का काम सम्हाला था। इनका काम इतने उत्तम रूप से हुआ कि, आफिसों के अंग्रेज व्यापारी समझने लगे कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्ति ही सर्वापेक्षा दक्ष हैं और इनके सहयोग से ही हमारे कारवार की अत्यधिक उन्नति हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्ति उसी समय से आफिसों में भर्ती होने लगे। श्रीयुक्त युगल-किशोरजी रूइया, सोनीरामजी पोद्दार, गौरीदत्तजी सराफ और रामकिशन दासजी सरावगी आदि ने अपनी होशियारी तथा कारगुजारी से इतनी सफ-लता प्राप्त की कि, आगे चलकर वे आफिसों के स्वतन्त्र दलाल वन गये।

श्रीयुक्त नाथूरामजी सराफ ने अपनी वहुत ही हीन अवस्था में किस प्रकार सन् १८३८ में "किसल एण्ड घोष कम्पनी" में प्रवेश किया और किस प्रकार उन्होंने अपनी उन्नति करते हुए सूतापट्टी में शीर्ष स्थान कायम किया, यह इतिहास वड़ा ही शिक्षाप्रद और मारवाड़ी समाज के लिये अनुकरणीय है। हम इन सभी वातों पर विस्तार के साथ आगे लिखेंगे।

अंग्रेजी आफिसों में सर्व प्रथम प्रवेश करनेवाले



स्वर्गीय रामलालजी अग्रवाल (गिलेण्डरवाले)

पहले के कतिपय फर्म और विशेष व्यक्ति

राजनैतिक क्षेत्र से हट कर केवल वाणिज्य-व्यापार में अग्रसर होने-वाले कुछ उल्लेखनीय व्यक्तियों का वर्णन यद्यपि हमने इससे पहले किया है, तथापि यहां हम उन फर्मों और विशेष व्यक्तियों के सम्बन्ध में लिखेंगे, जिन्होंने व्यापार की उन्नति और जाति-निर्माण में अधिक भाग लिया था। हमें यह मानना चाहिए कि, उस महान् परिवर्तन के समय में जिन व्यक्तियों ने वाणिज्य-व्यापार की ओर बढ़ कर व्यापारिक-क्षेत्र में अपना स्थान कायम किया, वास्तव में वे महान् व्यक्ति थे, क्योंकि उनके उद्योग और कार्य-कुशलता से मारवाड़ी जाति का अभ्युदय हुआ। हमें उन महानु-भावों को आदर के साथ स्मरण करना चाहिए।

सोजीराम हरदयाल—

इस फर्म के व्यक्ति पहले-पहल बीकानेर राज्यान्तर्गत चूरू में रहते थे और बाद में रामगढ़ जा बसे थे। यह घराना राजस्थान में 'भगवतीरामजी' के नाम से मशहूर था। सोजीरामजी भी बहुत प्रसिद्ध हुए, इससे उनके वंशधर 'सोजीरामजी' वाले भी कहे जाने लगे थे। इस घराने में सेठ अनतरामजी की ख्याति बहुत हुई। वे बड़े धर्मात्मा सेठ माने जाते थे। इस फर्म की किस समय स्थापना हुई, यह तो ठीक ठीक पता नहीं चलता। पर यह निश्चित है कि, कलकत्ते में जब चूरूवालों का विस्तार होने लगा, उस समय इस फर्म की प्रधानता थी। इसी फर्म की गद्दी में चूरूवाले मारवाड़ियों की पंचायत बैठती थी और उस पंचायत का सरपंच यही फर्म था। यही कारण था कि, उसी समय से मारवाड़ियों की दूसरी संज्ञा 'चूरूवाले' कही जाने लगी थी।

इस फर्म का नाम बदल कर जब अनतराम शिवप्रसाद हुआ, तो उसकी

भी बहुत अधिक ख्याति हुई। इस फर्म में सराफी के साथ ही साथ बीमा का काम बहुत अधिक होता था। अफीम का व्यापार बड़े पैमाने पर किया जाता था। यही कारण था कि, चीन में भी इस फर्म की दूकान थी। मिर्जापुर, फर्रुखाबाद आदि सभी व्यापारिक केन्द्रों में कोठियां चलती थीं। इस फर्म के गुमाश्ते फतहपुर निवासी धर्मचन्दजी केजड़ीवाल बड़े दक्ष मुनीम थे। व्यापार में उस समय उनकी इतनी धाक थी कि, व्यापारी लोग चिट्ठियों में वस्तुओं के भाव लिखा करते थे, उनमें यह लिखा करते थे, कि, 'आज के ये भाव हैं, कल के धर्मचन्द जाने'। इससे सिद्ध होता है कि, धर्मचन्दजी बड़े अनुभवी व्यापारी थे और उस समय उनके नाम की बड़ी धाक थी।

मिर्जापुर और फर्रुखाबाद की दूकानों पर बहुत अधिक व्यापार होता था। उस समय मार्ग की सुगमता न होने से नौकाओं द्वारा व्यापार किया जाता था। हमने पहले बतलाया है कि, एक समय 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' के कर्मचारियों ने माल से भरी १५०० नौकाएं मिर्जापुर घाट पर रोक ली थीं, जिनमें कुछ नौकाएँ इनकी भी थीं। इस फर्म का उस समय बड़ा नाम और दबदबा था। इस फर्म के गुमाश्ते ने कम्पनी पर दबाव डाला, तो कम्पनी के कर्मचारियों ने इसकी सभी नावें छोड़ देने का हुक्म दे दिया। परन्तु, यह कब संभव था कि, अनतरामजी का गुमाश्ता इस पर राजी हो जाता। उसने कंपनी को स्पष्ट शब्दों में लिख भेजा कि, ऐसा नहीं हो सकता। क्या तो सभी नौकाएँ एक साथ छूटेंगी; या उसकी नौकाएँ भी जब्त रहेंगी। इस प्रकार सभी नौकाएँ मुक्त न हो सकीं, तो सभी व्यापारी एक हो गये और उन्होंने कारबार बन्द कर दिया। इसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि, कंपनी के इंगलैण्ड-स्थित डाइरेक्टरों को तत्काल हुक्म भेजना पड़ा; जिससे इस फर्म की नौकाओं के साथ सभी नौकाएँ तुरन्त छोड़ दी गयीं। सारांश यह कि, उस समय मारवाड़ी व्यापारियों में एका था। यही कारण था कि, उनकी विजय हुई

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी और पुरातत्ववेत्ता



स्वर्गीय पूरणचन्दजी नाहर

थी। हमने पहले बतलाया है कि, इस फर्म में अफीम का कारबार बहुत अधिक होता था। परन्तु, विक्रमी संवत् १९१७ में इस फर्म की ओर से अफीम का खेला किया गया, तो अफीम की दर १७०० से २५०० रुपए तक हो गई थी। पर अनुभव बतलाता है कि, इस प्रकार 'खेला' करनेवाला फर्म कभी भी सफल नहीं हुआ। इस खेले के परिणाम-स्वरूप फर्म को बहुत अधिक घाटा लगा और वह संवत् १९१८ में बन्द हो गया।

यह फर्म जब बन्द हो गया, तो मारवाड़ी समाज की पंचायत का शीर्ष-स्थान इन्हीं के वंश में 'सेठ ताराचन्द घनश्यामदास' को दिया गया।

नाहर खान्दान—

इस खान्दान के पूर्वज बीकानेर रियासत में रहते थे और आगरे में वाणिज्य-व्यापार किया करते थे। इस खान्दान के श्री खड्गसिंहजी नाहर सन् १७६६ में बंगाल में आये और अजीमगंज में रहने लगे। पता लगता है कि, सन् १७६९ में पहले-पहल उन्होंने दिनाजपुर में अपना फर्म कायम किया और अजीमगंज तथा कलकत्ते में भी कारबार करने लगे। जमींदारी से उन्हें बड़ा प्रेम था, अतः सन् १७९७ में उन्होंने कितनी ही जमींदारी नीलाम में खरीद ली। दिनाजपुर में उन्होंने जैन-धर्म के तीर्थङ्कर श्री चन्द्रप्रभु के नाम से एक विशाल मन्दिर बनवाया और सर्वसाधारण के लिए एक धर्मशाला का निर्माण करवाया। उनकी मृत्यु के बाद कौटुम्बिक आपत्तियां बहुत अधिक रहीं। तथापि बाद में बाबू सिताबचन्दजी सन् १८४७ में गोद लिये गये तो उन्होंने अपने खान्दान की बहुत अधिक उन्नति और व्यवस्था की। सरकार ने सन् १८७५ में उन्हें रायबहादुर की उपाधि से अलंकृत किया। वे अपने व्यवसाय में जितने दक्ष थे, उतने ही साहित्यप्रेमी और विद्वान् भी थे। जैन-धर्म-ग्रन्थों के प्रकाशन में उनका बड़ा हाथ रहा। कलकत्ते के बड़ेबाजार में पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र द्वारा "उचितवक्ता" नामक हिन्दी का समाचारपत्र पहले-पहल उन्हीं की सहायता से प्रकाशित होता

था। उनके पुत्रों में श्री पूर्णचन्द्रजी नाहर बड़े प्रतिभाशाली हुए, जिन्होंने बंगाल के मारवाड़ियों में सबसे पहले बी० ए० पास किया और एम० ए० होकर वकालत की परीक्षा भी पास की। आप बड़े भारी विद्वान् और इतिहास के ज्ञाता थे। आपने कलकत्ते में एक आदर्श पुस्तकालय स्थापित किया जो आज भी मारवाड़ी समाज के लिए बहुत ही अभिमान की चीज समझी जाती है। आपके सम्बन्ध में हम आगे चलकर और भी लिखेंगे।

बुद्धसिंहजी दुधोड़िया—

आपके पूर्वज बीकानेर रियासत के राजलदेशर ग्राम के रहनेवाले ओसवाल थे। पहले-पहल सन् १७७४ में हर्जीमलजी बंगाल के अजीमगंज में आकर कपड़े का कारवार करने लगे। आगे चल कर हरखचन्दजी दुधोड़िया ने अपने कारवार में बड़ी उन्नति की। आपके पुत्र श्री बुद्धसिंहजी और बिशनचन्दजी ने कलकत्ता, सिराजगंज, मैमनसिंह, जंगीपुर और अजीमगंज में बैंकें स्थापित की। आपने अपनी जमींदारी का बहुत अधिक विस्तार किया। सन् १८७७ में दोनों भाइयों ने अपना कारवार पृथक् पृथक् कर लिया। बुद्धसिंहजी सन् १८८८ में रायबहादुर बने। बुद्धसिंहजी के पुत्र श्री इन्द्रचन्दजी ने दो अंग्रेज अध्यापकों से शिक्षा पाई, जिसका परिणाम यह हुआ कि, वे सन् १८८६ में विलायत चले गये। कलकत्ते के मारवाड़ियों में यह पहली विलायत-यात्रा थी। इस पर कलकत्ते के मारवाड़ी ओसवाल समाज में बड़ी हलचल मची थी। यहां तक देखनेमें आया था कि, उस समय विलायत-यात्रा के पक्ष और विपक्ष में दो दल हो गये थे। इस सम्बन्ध में विलायत-यात्रा सम्बन्धी प्रकरण में हम विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे।

साधुराम रामजीदास—

पता चलता है कि, संवत् १८६० के पहले से ही इस फर्म का कारवार जोरों से चलने लगा था। श्रीयुक्त मोहनरामजी सरावगी, साधुरामजी गोयनका और म्हालीरामजी जटिया, इन तीनों सज्जनों ने मिलकर साझे में यह



स्वर्गीय बुधसिंहजी दुधोड़िया

फर्म खोला था। यहां तीनों सज्जनों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् लिखना उपयुक्त होगा—

(क) श्रीयुक्त मोहनरामजी सरावगी बीकानेर राज्य के सुप्रसिद्ध शहर चूरू के निवासी थे और बाद में खुर्जे में आ बसे थे। खुर्जे में उनका कारबार बहुत था। मोहनरामजी दिगम्बर जैन सिद्धान्त के माननेवाले अग्रवाल थे। मोहनरामजी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वे शरीर के बड़े मजबूत और बलवान थे। प्रायः शस्त्रधारी रहा करते थे। उनके पुत्र का नाम माणकचन्दजी था। वे बड़े सीधे-सादे थे और भक्तिभाव में ही रहा करते थे। उनकी धर्मपत्नी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वह बड़ी सुयोग्या और बुद्धिमती थी। दान-धर्म भी बहुत किया करती थी। उसके सात पुत्र हुए, जिनके नाम ये थे—हरमुखराय, अमोलकचन्द अणतराम, फूलचन्द, चम्पालाल, अमृतलाल और भूरामल। माणकचन्दजी की धर्मपत्नी बड़ी प्रसिद्ध हुई और रानी कही जाने लगी। आगे चलकर माणकचन्दजी के वंशज उन्हीं के नाम से रानीवाले कहे जाने लगे और आज भी प्रायः इसी नाम से प्रसिद्ध हैं।

उस समय उनका कारबार खुर्जे में चलता था और रूई का काम प्रधान था। बिसाऊ निवासी श्रीयुक्त म्हालीरामजी जटिया और नवलगढ़ निवासी श्रीयुक्त साधुरामजी गोयनका भी खुर्जे में रहते थे। इन तीनों आदमियों का परस्पर बड़ा प्रेम था। इन तीनों आदमियों ने मिलकर साझे में काम करना शुरू किया और कलकत्ते में साधुराम रामजीदास फर्म बनाकर गद्दी कायम की। इस फर्म के प्रधान गुमाश्ता चूरू के श्रीयुक्त हरदयालजी लूंडिया थे, जिनकी गणना उस समय बुद्धिमान् मुनीमों में हुआ करती थी। यह फर्म कई वर्षों तक चला और उसकी बड़ी उन्नति हुई। बाद में तीनों आदमी अलग-अलग होकर काम करने लगे। साधुराम रामजीदास फर्म बन्द कर दिया गया। रानीवालों के फर्म का नाम हरमुखराय फूलचन्द हुआ और अन्य दो फर्म साधुराम तुलाराम तथा

म्हालीराम रामजीदास के नाम से काम करने लगे। इन तीनों फर्मों की बड़ी उन्नति हुई। लखपती तो कहाये ही; किन्तु करोड़पति होने तक की इज्जत इन तीनों फर्मों ने प्राप्त की।

माणकचन्दजी के बड़े पुत्र हरमुखरायजी पहले-पहल कलकत्ते आये। वे बड़े समझदार थे। उन्होंने फर्म की बड़ी उन्नति की। फूलचन्दजी भी बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने भी बड़ा अच्छा काम किया। रानीवालों के नाम की बड़ी प्रसिद्धि हुई। उनके फर्म से सर्वसाधारण मारवाड़ी भाइयों को बहुत अधिक मदद मिला करती थी। बाद में वे सातों भाई भी अलग-अलग हो गये और कलकत्ते में हरमुखराय अमोलकचन्द और फूलचन्द पद्मराज नामक दो फर्म चलने लगे। ब्यावर का काम चम्पालालजी के जिम्मे रहा और खुर्जे में मेवारामजी रहने लगे। मेवारामजी जैन सिद्धान्त के ज्ञाता और पंडित माने जाते थे। आप बड़े ओजस्वी वक्ता थे। कलकत्ते में श्री फूलचन्दजी और प्रमेष्टीदासजी ने अच्छी ख्याति प्राप्ति की। आज भी श्रीयुक्त फूलचन्दजी के पुत्र पद्मराजजी जैन और धर्मचन्दजी रानीवाले कह कर प्रसिद्ध हैं। पद्मराजजी विद्वान्, इतिहासज्ञ और ओजस्वी वक्ता हैं। एक समय वे जैन सिद्धान्त के बड़े हामी थे। उन्होंने स्वराज्य की लड़ाई में बडा भाग लिया। यहां तक कि, देश के लिए न केवल वे ही जेल गये अपितु उनकी पुत्री इन्दुमती ने भी जेल-यात्रा की। कुछ वर्ष हुए दोनों भाई विलायत भी हो आये हैं। पद्मराजजी ने बड़ी-बड़ी संस्थाओं का संचालन किया। अग्रवाल महासभा के सभापति बने। इस समय हिन्दू महासभा के प्रधान मन्त्री हैं। हिन्दू जाति की रक्षा और उसके हितों की ओर वे अधिक ध्यान देते हैं।

(ख) श्रीयुक्त साधुरामजी गोयनका शेखावाटी नवलगढ़ के रहनेवाले अग्रवाल थे। कलकत्ते में साधुराम रामजीदास का फर्म बन्द कर देने पर उन्होंने साधुराम तुलाराम के नाम से व्यापार करना शुरू किया। यह फर्म भी बहुत बढ़ा। उनके पुत्र तुलारामजी ने बड़ी प्रसिद्धि पाई। वे



स्वर्गीय फूलचन्दजी रानीवाला
(फर्म—हरमुखराय फूलचन्द)

शान्त स्वभाव और धर्मात्मा भी थे। मारवाड़ी समाज में वे आदर्श-चरित्र माने गये। सामाजिक कामों में उनका नाम प्रायः देखने में आता था। उनकी यह विशेषता थी कि, पार्टी विशेष के व्यक्तियों से सम्बन्ध रखते हुए भी समाज में पारस्परिक धड़ाबन्दी का होना वे कभी पसन्द नहीं करते थे। वे दानी भी बहुत थे। उनके भतीजे श्रीयुक्त गौरीशंकरजी आज भी मारवाड़ी समाज में संस्कृत के पण्डित और बड़े विचारशील हैं। इस फर्म का कारबार बड़े जोरों पर चलता है। इस समय हवड़ा में एक काटन मिल चलती है और अन्य प्रकार का व्यापार भी अच्छे रूप में होता है। तुलारामजी के सभी पुत्र बड़े सुयोग्य हैं।

(ग) श्रीयुक्त म्हालीरामजी जटिया—ये बिसाऊ के रहनेवाले अग्रवाल थे और खुर्जे में कारबार किया करते थे। साधुराम रामजीदास नामक फर्म जब बन्द कर दिया गया तो इन्होंने अपना फर्म म्हालीराम रामजीदास के नाम से शुरू किया। इनके पुत्र श्रीयुक्त रामजीदासजी की गणना उस समय मारवाड़ी समाज में बुद्धिमान् और विशेष पुरुषों में होती थी। मारवाड़ी समाज की उन्नति में उन्होंने बहुत बड़ा भाग लिया। जिन सेठ सूर्यमलजी झूँझनूंवाले ने समाज में सूर्य के समान प्रकाश फैलाया था, उनके रामजीदासजी अभिन्न मित्र और परामर्श-दाता थे। सूर्यमलजी जो भी काम करते, रामजीदासजी की सलाह लेकर किया करते थे। उनमें सत्परामर्श देने की शक्ति बहुत थी। रामजीदासजी के पुत्र किशोरीलालजी और ओंकारमलजी हुए। रामजीदासजी के बाद किशोरीलालजी ने भी बड़ी योग्यता से काम सम्हाला। वे भी छोटी अवस्था में गणनीय पुरुष हो गये थे। परन्तु उन्होंने अधिक उम्र नहीं पाई। उनके पीछे ओंकारमलजी बड़े प्रसिद्ध हुए। आपकी उन्नति और बुद्धिमानी का तो कहना ही क्या है। आपकी गणना करोड़पतियों में हुई। राजदरबार में आपका बड़ा सम्मान रहा। आप पहले तो राय बहादुर हुए। बाद में प्रधान नागरिक "शैरिफ" बनाये गये। उसके बाद 'सर' की सर्वोच्च पदवी से

विभूषित किये गये। व्यापार में आपने बड़ी उन्नति की। सुप्रसिद्ध फर्म एण्ड्र्यू ल कम्पनी के आप प्रधान हिस्सेदार और संचालक थे। आपने कई एक फ्लावर मिलें भी चलाई। जिस प्रकार आपने व्यापार में सफलता प्राप्त की, उसी प्रकार गवर्नमेंट से भी बहुत अधिक सन्मान प्राप्त किया। अंग्रेजों की बड़ी-बड़ी परामर्श-सभाओं और राज-दरबारों में आप बुलाये जाते थे। अंग्रेजों के साथ आपका यह समागम मारवाड़ी जाति का गौरव बढ़ानेवाला होता था। आप स्वतन्त्र विचार के होने पर भी आचार-विचार के बड़े पक्के थे। आपने अंग्रेजों से अत्यधिक संसर्ग रखने पर भी अपनी जातीय वेश-भूषा में परिवर्तन नहीं किया। बिना पगड़ी धारण किये बाहर नहीं निकलते थे। आपके सम्बन्ध में कुछ आदमियों की यह धारणा देखने में आती है कि, आप इतने धनिक और सम्माननीय होने पर भी सामाजिक कार्यों में तटस्थ रहते थे। उनकी यह धारणा किसी अंश में ठीक है, क्योंकि, आप सामाजिक विषयों में अवश्य ही दिलचस्पी नहीं लेते थे, परन्तु मारवाड़ी जाति की संस्कृति के आप बड़े हामी थे। खेद है कि, अभी हाल में ही आपका देहान्त हो गया। आपकी मृत्यु पर कलकत्ते के नागरिकों ने हार्दिक शोक मनाया। टाउनहाल में जो शोक-सभा हुई, उसमें न केवल समस्त नागरिक ही सम्मिलित थे प्रत्युत् कतिपय भूतपूर्व गवर्नर और स्टेट सेक्रेटरी एवं बड़े-बड़े राजा महाराजाओं ने भी शोकसूचक सन्देश भेजे थे। उस सभा में भिन्न-भिन्न समाज के प्रधान पुरुषों की जो उपस्थिति हुई थी, उससे जाना जा सकता है कि, आप कितने लोक-प्रिय व्यक्ति थे। आपके परिवार में श्रीयुत् कन्हैयालालजी और चम्पालालजी बड़े सुदक्ष और होनहार युवक हैं। समाज उनसे भी बहुत बड़ी आशा रखता है।

सेवाराम रामरिखदास— इस फर्म के पूर्व पुरुषों का आदि निवास-स्थान सिंघाणा ग्राम में था। इसी से वे सिंहानिया अग्रवाल कहलाये। प्रायः १५० वर्ष हुए विनोदीरामजी सिंघाणे से शेखावाटी के बिसाऊ गाँव में आ बसे थे। बाद में वे पैदल चल कर



स्वर्गीय तोलारामजी गोयनका
(फर्म—साधुराम तोलाराम)



फर्रूखाबाद आये और वहीं पर रहने लगे। उनके पुत्र रामसुखदासजी और सर्वसुखदासजी हुए, जिनके वंशज क्रमशः आज भी कानपुर, मिर्जा-पुर और फर्रूखाबाद में रहते हैं और बड़ी सम्पन्न अवस्था में हैं। इस घराने का पहला फर्म रामसुखदास सेवाराम के नाम से बड़ा प्रसिद्ध हुआ। सेवारामजी सराफी के व्यवसाय में बड़े दक्ष थे तथा सभी प्रकार का व्यापार किया करते थे। उन्होंने फर्म की बड़ी उन्नति की और बड़े धनिक बन गये।

कलकत्ते के मारवाड़ी समाज में सेवाराम रामरिखदास के फर्म की ख्याति बहुत अधिक रही। यह फर्म ठीक किस समय खोला गया था, यह तो पता नहीं लगता। पर यह निश्चित है कि, 'चूरूवाले' मारवाड़ियों का जब आगमन हुआ उस समय इस फर्म का नाम सर्वोपरि रहा। इस फर्म के गुमाश्ते श्रीयुक्त रामदत्तजी गोयनका थे। उन्होंने इस फर्म की बड़ी उन्नति की। इस सम्बन्ध में विशेष बातों का परिचय पाठकों को सेठ नाथूरामजी सराफ की जीवनी में मिलेगा। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि, रामदत्तजी ने उस समय इस फर्म द्वारा समाज की बड़ी सेवा की थी और जातीय उन्नति में बहुत बड़ा भाग लिया था। पता लगता है कि, श्रीयुक्त रामदत्तजी वि० संवत् १६१८ तक इस फर्म में काम करते रहे। बाद में श्रीयुक्त नानगरामजी सुरेका मुनीम हुए। नानगरामजी बड़े दबङ्ग व्यक्ति थे। मारवाड़ी समाज की पंचायत के पांच पंचों में इस फर्म का स्थान था और नानगरामजी पंचायत में पंच की हैसियत से बड़े ओज से काम करते थे। नानगरामजी ने फर्म की अधिकाधिक उन्नति करने के साथ ही साथ अपनी भी बहुत अधिक उन्नति की। वे स्वयं भी बड़े धन-शाली बन गये। उन्होंने इस फर्म में प्रायः चालीस पचास वर्षों तक काम किया और मारवाड़ी समाज में वे अग्रणी पुरुष माने जाते थे।

इस फर्म के सभी व्यक्ति वि० संवत् १६२५ तक शामिल में रहै। इसके बाद वे अलग-अलग हो गये। कानपुर में बैजनाथ रामनाथ,

मिर्जापुर में सेवाराम मुन्नालाल और फर्रुखाबाद में तुलसीराम धर्मनारायण के नामों से अलग-अलग काम होने लगा। इसके बाद ज्यों-ज्यों अलग होते गये, त्यों-त्यों फर्मों के नाम और भी बदले। परन्तु कलकत्ते के फर्म का नाम सेवाराम रामरिखदास ही रहा। मुन्नालालजी की मृत्यु होने पर इस फर्म के मालिक उनके पुत्र रायसाहब बिहारीलालजी और कुंजलालजी हुए। बिहारीलालजी का भी बड़ा नाम रहा। वे बड़े उदार और रईसी ठाठ के आदमी थे। राजदरबार में भी उनका बड़ा मान था और समाज में भी बहुत अधिक प्रतिष्ठा थी। उन्होंने गंगा काटन मिल आदि कई प्रकार के औद्योगिक कार्यों की सृष्टि की। इलाहाबाद और नैनी आदि में धर्मशालाएँ और मन्दिर बनवाये। सार्वजनिक संस्थाओं के संचालन में उनका बड़ा हाथ रहा। इस घराने में वे बड़े प्रतिभा-सम्पन्न हुए। वि० संवत् १९९० में उनकी मृत्यु हो गई। इस समय कलकत्ते में यह फर्म नहीं है, पर उनके वंशधर मिर्जापुर में कारबार करते हैं।

बैजनाथ रामनाथ के नाम से वि० संवत् १९२५ में कानपुर में अलग फर्म खोला गया, तो इस फर्म ने भी अच्छी उन्नति की। कानपुर में उस समय बैंकों का अधिक प्रचार न होने के कारण इसी फर्म में बैंकिङ्ग का काम सार्वजनिक रूप में होता था। बैजनाथजी के कई पुत्र हुए, जिनमें श्रीयुक्त जुग्गीलालजी ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। जुग्गीलालजी और रामनाथजी आदि सभी भाई अलग अलग हो गये, तो और भी कई फर्म बन गये, जिनमें जुग्गीलाल कमलापत नाम के फर्म ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। इस फर्म की गणना करोड़पतियों में होती है। जुग्गीलालजी के पुत्र कमलापतजी बड़े तीक्ष्णबुद्धि और कर्मठ सिद्ध हुए। कहना चाहिए कि, इस फर्म ने नये ढङ्ग के व्यापार में इतनी अधिक उन्नति की कि, इसने एलगिन मिल, कानपुर काटन मिल, न्यू विक्टोरिया मिल आदि कई एक मिलों की सोल सेलिंग एजेंसियां प्राप्त कर नवीन उद्योग-धन्धों में हाथ लगाया। वि० संवत् १९७८ में श्रीयुक्त जुग्गीलालजी की मृत्यु हो गई, तो उनके पुत्र



स्वर्गीय सर ओंकारमलजी जटिया

कमलापतजी ने आश्चर्यजनक उन्नति कर दिखाई। उन्होंने ही कानपुर में सब से पहले 'जुग्गीलाल कमलापत काटन स्पीनिंग एण्ड वीभिंग मिल लि०' की स्थापना की। इसके बाद 'अथर्टन वेस्टमिल', 'जे० के काटन मिल' में भी भारी पूंजी लगाई। एक जूट मिल भी कायम की। इसके अतिरिक्त प्रायः १५ मिलों से उनका सम्बन्ध रहा। 'जुग्गीलाल कमलापत काटन मेन्युफेक्चरर्स मिल' और 'लक्ष्मीरतन काटन मिल' भी उन्होंने कायम की। इस प्रकार कानपुर की टेक्सटाइल मिलों में उनका सब से बड़ा ग्रूप बन गया। गुटैया सूगर मिल और मझोलिया सूगर मिल भी उनके द्वारा संचालित होने लगी।

मारवाड़ी समाज के लिए बड़े गौरव की बात है कि, कमलापतजी के व्यवसाय-विवेक की धाक उत्तर भारत में विशेष रूप से देखो जाती है। उत्तरीय भारत में काटन मिलों के अतिरिक्त जूट मिल, सूगर मिल, आयल मिल, सोप, आइस, जीनिंग और लोहे आदि की मिलों और फैक्टरियों का काम बड़े पैमाने पर होता है। इस फर्म की यह विशेषता है कि, इसने उद्योग-धन्धों के विकास की ओर काफी ध्यान दिया। कमलापतजी की व्यवहारिक बुद्धि का तो कहना ही क्या था। धार्मिक और सार्वजनिक हितों के सम्बन्ध में भी उन्होंने बहुत अधिक काम किया। उनके फर्म द्वारा कई एक काम सार्वजनिक हित के हुए। कमलापतजी ने केवल वाणिज्य-व्यापार में ही ध्यान दिया हो, यह बात नहीं है। सन् १९२० में जब भारत में असहयोग की लहर उत्पन्न हुई और विदेशी मालका वहिष्कार हुआ, उस समय देश की पुकार पर कानपुर में उन्होंने अग्र भाग लिया था। कहा जाता है कि, उस समय जब एक बड़ा भारी राष्ट्रीय जुलूस निकला तो कमलापतजी राष्ट्रीय तिरङ्गे झण्डे को अपने हाथ में लेकर सब से आगे बढ़े थे। इससे पता लगता है कि, पूंजीपति होने पर भी उनमें देश-प्रेम था। वे मरण पर्यन्त कांग्रेस-प्रेमी रहे और स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करते थे। सामाजिक विषयों में वे रूढ़ियों के दास नहीं थे। उन्होंने

उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति की दृष्टि से अपने पुत्र पद्मपतजी को साथ लेकर विदेश-यात्रा भी की थी। पता लगता है कि, इंगलैण्ड और जर्मनी में बड़े-बड़े व्यापारियों ने उनका स्वागत किया था।

खेद है कि, कुछ वर्ष हुए उनका असमय में देहान्त हो गया। उनके इस समय तीन पुत्र हैं, जिनमें श्री पद्मपतजी योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। आपमें कार्य करने की लगन, सावधानी और तीक्ष्ण-बुद्धि है। आप इस समय युक्तप्रान्त की एसेम्बली के सदस्य हैं। आप इण्डियन चेम्बर्स, फेडरेशन और मारवाड़ी सम्मेलन आदि कई एक व्यापारिक और जातीय संस्थाओं के प्रधान रह चुके हैं। आपसे समाज को बहुत बड़ी आशा है।

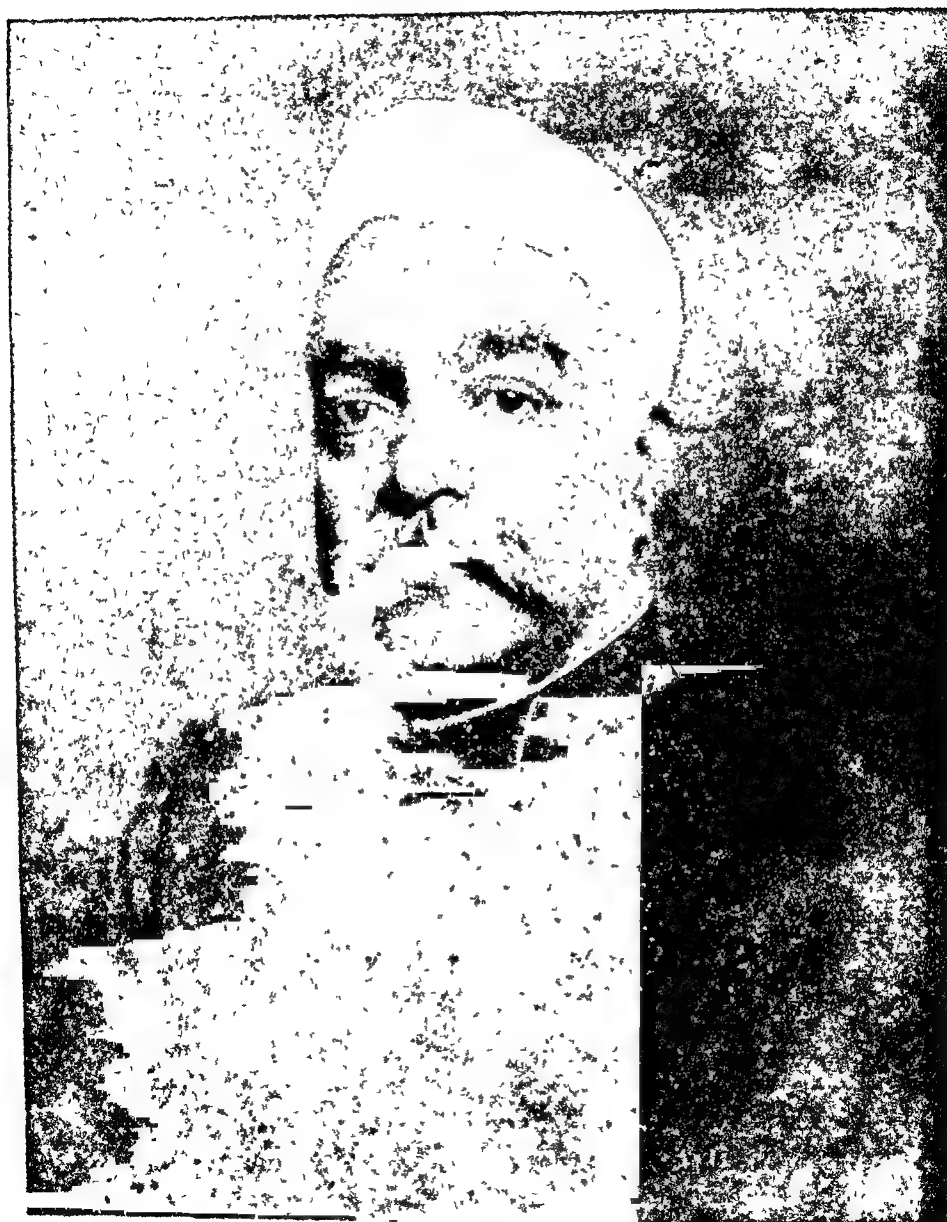
चेतराम चतुर्भुज—

मारवाड़ियों के इतिहास में इस फर्म का होना बहुत पहले से सिद्ध होता है। इस फर्म ने विक्रमी संवत् १८६० से ही किराने का व्यवसाय करना शुरू कर दिया था। इस फर्म की उस समय बड़ी प्रतिष्ठा थी। बाद में यह नाम बदल कर चेतराम रामविलास हो गया, जो कुछ समय पहले तक रहा। इनके यहां किराने का बड़ा काम होता था। जाति भाई मारवाड़ी इनकी दूकान से दलाली के काम में बहुत लाभ उठाते थे। कहा जाता है कि, मारवाड़ियों में घोड़ागाड़ी का जब प्रचार होने लगा तो पहले-पहल इनके ही यहां से हुआ था। खेद है कि, हाल में ही कुछ वर्ष हुए यह फर्म बन्द हो गया। इस समय भी इस फर्म के वंशधर श्रीयुक्त मुरलीधरजी किराने का ही काम करते हैं और बड़े सज्जन व्यक्ति हैं।

गजराजजी पारख—

चूरू से आनेवाले लोगों में श्री गजराजजी पारख का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वे वि० संवत् १८८० के लगभग ही यहां आ गये थे। उनकी आर्थिक अवस्था बड़ी हीन थी। गंगास्नान करनेवाले यात्रियों के संघ में पैदल चल कर पहले तो वे मिर्जापुर आये और बाद में माल की नौकाओं की चढ़नदारी कर कलकत्ते आ गये। उनमें उत्साह बहुत था।

राष्ट्रहितचिन्तक सफल व्यापारी



स्वर्गीय कमलापतिजी सिंहानिया

यही कारण था कि, पहले-पहल उन्होंने दलाली का काम किया और बाद में दूकान खोल कर बड़े भारी धनिक बन गये। कई वर्षों के बाद जब वे अपने जन्मस्थान चूरू गये, तो उनकी गणना बड़े धनिकों में होने लगी थी। चूरू में यह कहावत कुछ वर्षों तक सुनने में आती थी कि, "गज्जो पारख आयो, धन कमा कर लायो।" उनके फर्म का नाम बाद में नवलचन्द गणेशदास बड़ा मशहूर हुआ। ओसवाल जाति के व्यक्ति उनकी दूकान से बहुत सहायता पाते थे। उनके वंश में पन्नालालजी और नानूरामजी की ख्याति बहुत हुई। चूरू के ओसवाल समाज में यह घराना बड़ा प्रतिष्ठित माना जाता है।

लालचन्द बलदेवदास—

यह फर्म सूरजगढ़ के अग्रवंशी काँया जाति का है। इस फर्म का अस्तित्व वि० संवत् १८६४ से मिलता है। यह घराना प्राचीन समय से बड़ा प्रसिद्ध रहा है। इनके यहां कपड़े का कारबार बराबर होता रहा। पता चलता है कि, मारवाड़ी समाज के गौरव सेठ सूर्यमलजी झूँझनूंवाले जब देश से आये, तब उन्होंने इन्हीं की गद्दी में आश्रय लिया था और पहले-पहल इन्हीं के यहां काम सीखा था। इस फर्म में श्रीलालजी, डेडराजजी और जोखीरामजी बड़े नामी पुरुष हुए। ये तीनों व्यक्ति बड़े जातिहितैषी थे। बाद में भाई-भाई अलग हो गये, तो लालचन्द रामनारायण नामक दूसरा फर्म खुला। जोखीरामजी की मृत्यु के बाद लालचन्द बलदेवदास का फर्म बन्द हो गया और इस समय गणपतराय काँड्या के नाम से शेयर बाजार में काम होता है तथा टीन के पीपों की एक फैक्टरी भी चलती है।

हरसुखदासजी ककरानिया—

ये चिड़ावा के रहनेवाले अग्रवाल थे और वि० संवत् १८८८ के लगभग कलकत्ते आ गये थे। जिस समय ये कलकत्ते में आये इनकी बड़ी ही साधारण अवस्था थी। ये पढ़े-लिखे कुछ भी नहीं थे; परन्तु उत्साह बहुत था। पहले-पहल इन्होंने मद्रास के चेट्टी लोगों के यहां किराने की दलाली

करनी शुरू की। उस समय यहां चेट्टियों का रुपयों सम्बन्धी कारबार बहुत होता था। वे यहां ब्याज पर रुपये हुण्डी पुर्जे के रूप में लेते थे और बर्मा तथा मद्रास की ओर मोटा ब्याज उपजाते थे। बाद में ये हाजी जाकड़िया के फर्म में रूई की दलाली करने लगे। रूई की दलाली करते करते ये रूई के बाजार में चलते-पुर्जे हो गये थे। वि० संवत् १९२० में जब 'अमेरिकन सिविल वार' (American Civil War) शुरू हुई तो यहां के बाजार पर बहुत असर पड़ा और बाजार बहुत तेज हो गया। कहते हैं कि, हरसुखदासजी ने उस अवसर पर प्रायः ९ लाख रुपये पैदा किये जिससे उस समय ये बहुत बड़े धनिक कहे जाने लगे थे। संवत् १९२४ में इन्होंने नाखुदा गुलामहुसेन से पाट की गांठ बांधने का हाथ-प्रेस खरीद लिया। बाद में संवत् १९३७ में मशीन बैठा कर उसी प्रेस की इतनी उन्नति की कि, वह 'हुगली हाईड्रोलिक प्रेस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मारवाड़ियों में जूट की गांठ बांधने का प्रेस पहले-पहल इन्होंने ही बनवाया था। ये बड़े भारी जातिहितैषी और समाज का गौरव बढ़ानेवाले थे। इनके एक पुत्र संवत् १९१७ में हुआ, जिन्होंने सेठ दुलीचन्द के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। उनके सम्बन्ध में हम आगे चल कर लिखेंगे।

केशवदास सितावचन्द— इस फर्म के बंगाल में बहुत पुराने समय से होने का पता चलता है और मुर्शिदाबाद की उन्नति के समय से इसका अस्तित्व मिलता है। इस फर्म की यह ख्याति है कि, इनके यहां कोई भी ओसवाल भाई आ जाता था, वह बेकार नहीं रह सकता था। इनकी ओर से सहायता मिलने पर वह काम में लग जाता था। एक उदाहरण बहुत ही अद्भुत मिलता है, जिससे जाना जाता है कि, इनमें जातीयता कूटकूट कर भरी हुई थी। कहा जाता है कि, विक्रमी संवत् १८७० में पूर्णचन्द नामक एक ओसवाल भाई बहुत ही हीन अवस्था में इनके यहां आया। इन्होंने कुछ ऐसा नियम बना

व्यापार कुशल समाजसेवी कर्मवीर



श्रीयुक्त पद्मपतिजी सिंहानिया (कानपुर)

रखा था कि, आनेवाले ओसवाल भाई को ये पांच सौ रुपये का माल दिला देते थे और वह देहातों में माल बेच कर लाभ उठाने लगता था। उनको भी इन्होंने पांच सौ रुपयों का माल दिला दिया। परन्तु माल की नौका रास्ते में डूब गई। वह बच गया। रोता हुआ लौट आया, तो फिर से पांच सौ का माल दिलाया गया। पर यहां पर तो परमात्मा की ओर से परीक्षा होने लगी थी। वह नौका भी डूब गई। लौट कर सिर पीटने लगा और हताश होकर बैठ गया। परन्तु फर्मवालों ने उसे फिर उत्साहित किया और फिर माल दिला दिया। इस प्रकार चार बार माल दिलाया गया और चारों बार नौका डूब गई। पूर्णचन्द की कैसी अवस्था हुई होगी, यह कहना तो कठिन है; परन्तु मालिकों ने हिम्मत नहीं हारी। वे भी अड़ गये और पाँचवीं बार फिर माल दिला कर देहातों में भेजा। इस बार परीक्षा पूर्ण हो चुकी थी। नौका सुरक्षित रूप से लक्ष्यस्थान पर जा लगी। अब क्या था? पाँचसौ का हजार हो गया। नसीब जाग पड़ा। देखते-देखते एक ही वर्ष में वह लखपति बन गया। सारांश यह कि, उस समय इतनी जातीयता थी, तभी तो जाति का अभ्युदय हुआ था। परमात्मा की बड़ी विचित्र लीला है। उसे मनुष्य जान नहीं सकता। कुछ वर्षों के बाद केशवदास सिताबचन्द का फर्म घट चला और वह बढ़ता गया। आगे चल कर वह समय आया कि, केशवदास सिताबचन्द का फर्म बन्द हो गया और इस फर्म के वंशधरों को उनके फर्म 'जेसराज गिरधारीलाल' के यहाँ नौकरी करनी पड़ी। वर्तमान में इस फर्म के वंशधर श्री फूलचन्दजी दूगड़ और अमरचन्दजी दूगड़ को हम जानते हैं, वे बहुत ही साधारण अवस्था में हैं। इस सम्बन्ध में परमात्मा की मर्जी के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

वि० संवत् १८८६ में इस फर्म के होने का पता चलता है।

लालचंद रामपतदास— इस फर्म के साझेदार दो व्यक्ति थे। एक तो केशोरामजी नवलगढ़िया और दूसरे हनवतरामजी चौधरी। इस फर्म का काम आसाम में बड़े पैमाने पर चला। आसाम

में इस फर्म की इतनी प्रसिद्धि हुई कि, इसे लोग 'लाल बैंक' कहने लगे। आसाम में कोई भी मारवाड़ी भाई जाता, इनके यहाँ पहले-पहल आश्रय पा जाता था। बाद में इस फर्म का नाम बदल कर लालचन्द कन्हीराम हो गया। कलकत्ते तथा आसाम में इस फर्म की बड़े धनिकों में गणना होती थी। बाद में जब दोनों साझेदारों के वंशज अलग-अलग हो गये, तो नवलगढ़ियों का फर्म लालचन्द जेठमल के नाम से चला और चौधरी अपने फर्म का नाम कन्हीराम शिवनारायण रख कर व्यापार करने लगे। इन दोनों फर्मों के व्यक्तियों ने बड़ा नाम पाया और समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही। परन्तु खेद है कि, हाल में ही अब दोनों फर्मों का काम बन्द हो गया।

कस्तूरीमल रामगोपाल— यह फर्म शेखावाटी अलसीसर के अग्रवाल झूँझनूंवालों का था। विक्रमी संवत् १९०० के पहले ही इसकी रचना हो चुकी थी। बाद में इसका नाम किस्तूरीमल-गंगाधर हुआ। इस फर्म की इतनी अधिक ख्याति हुई कि, कलकत्ते के मारवाड़ियों में एक समय यह प्रधान फर्म समझा जाने लगा था। इस फर्म की ओर से पहले-पहल चैरिटी फण्ड खोला गया और उसे स्थायी बनाने के लिये मकान दिया गया। यह फण्ड आज भी चल रहा है और अन्नक्षेत्र लगता है। यद्यपि अब यह फर्म नहीं रहा, तथापि फण्ड का काम चलता है। इस फर्म में श्रीयुक्त बालमुकुन्दजी और बैजनाथजी समाज में नामी पुरुष हुए।

रामसहायमल चुन्नीलाल— ये चूरू के अग्रवंशी चमड़िये थे और विक्रमी संवत् १९०० से पहले आ गये थे। श्रीयुक्त चुन्नीलालजी बड़े नामी हुए, जिनका कारबार बिहार प्रदेश में बहुत रहा। आप छपरे के राजा कहलाते थे और बड़े जबर्दस्त थे। आपकी गणना बड़े धनिकों में होने लगी थी। परन्तु किसी आततायी जमींदार की तलवार से छपरे में मारे गये। आपके पुत्रों में श्रीयुक्त शिवबक्सजी मारवाड़ी समाज में अंग्रेजी के पहले शिक्षित माने

जाते थे। श्रीयुक्त चुन्नीलालजी में बहुत जातीयता थी और जाति भाइयों को बहुत चाहते थे। अब आपका कारबार कलकत्ते में नहीं रहा। उनका वंशधर छपरे में रहते हैं।

यह फर्म चूरू के ओसवाल वंशीय सुरानों का है। इस घराने के पूर्वज राज-काज करनेवाले और बड़े वीर थे।

रुक्मानंद वृद्धिचंद—

कहा जाता है कि, सेठ जीवनदासजी ने किसी युद्ध में अपना सिर कट जाने पर भी दोनों हाथों से तलवार चलाई थी और वे जूझार के नाम से प्रसिद्ध हुए। चूरू में स्त्रियां आज भी उनके गीत गाती हैं। वहां के लोकगीतों में आज भी उनकी स्मृति बनी हुई है। वि० संवत् १८९० के लगभग रुक्मानन्दजी पहले-पहल आये और संवत् १८९३ में इस फर्म की स्थापना की। इसके पूर्व चूरू में रुक्मानन्दजी और वृद्धिचन्दजी देहातों से घृत खरीद कर लाते थे और चूरू में बेचा करते थे। बाद में किसी तरह कलकत्ते आ गये। यहां आकर उन्होंने पहले-पहल फेरी का काम शुरू किया। कलकत्ते के आस-पास देहातों में कपड़ा ले जाते थे और बेच आते थे। बाद में सूतापट्टी में दलाली करने लगे। जब कुछ जुगाड़ हो गया तो सूतापट्टी में एक छोटी सी आलमारी भाड़े पर लेकर धोती बेचने लगे। बड़े होशियार और उत्साही थे। जड़ जमने लगी। कुछ ही वर्षों में अच्छे दूकानदारों में गणना हो गई। इस फर्म की इतनी उन्नति हुई कि, ओसवाल समाज में इसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। रुक्मानन्दजी, तेजपालजी और वृद्धिचन्दजी ये तीनों भाई साथ रहे। रुक्मानन्दजी ने कलकत्ते में धन कमाया और ख्याति प्राप्त की। चूरू में वृद्धिचन्दजी सेठ कहलाये। तेजपालजी का युवावस्था में ही देहान्त हो गया था। परन्तु उनके पुत्र तोलारामजी ने चूरू में रह कर बड़ी ख्याति प्राप्त की। आप बड़े उदार और सरल थे। आपने चूरू में पहले-पहल बगीचा बनवाया और एक ऐसे पुस्तकालय का निर्माण किया जो प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों का आज भी

एक अच्छा संग्रहालय समझा जाता है। इस फर्म का कारवार कई स्थानों पर होता था जिनमें फर्रुखाबाद की दूकान कालूराम जुहारमल के नाम से बड़ी प्रसिद्ध थी। जब सन् १८५७ में गदर हुआ तो उस समय वृद्धि-चन्दजी वहीं पर थे, जिन्हें कम्पनी के अंग्रेजों के अत्याचारों का बहुत बड़ा सामना करना पड़ा। रुक्मानन्दजी के बाद फर्म का काम उनके पुत्र गुलावचन्दजी और वृद्धिचन्दजी के पुत्र रिद्धकरणजी ने सम्हाला। रिद्धकरणजी ने तो इतना नाम प्राप्त किया कि, वे न केवल ओसवाल समाज में ही प्रसिद्ध हुए वल्कि अन्य समाजों में भी उनकी पूछ रही। यद्यपि वे पढ़े-लिखे विशेप नहीं थे, परन्तु उनमें मिलनसारी और होशियारी बहुत थी। फर्म का बड़ा नाम होने से परिवार में खर्च बहुत बढ़ गया था। कितनी ही वार ऐसी परिस्थिति हुई जिनसे रिद्धकरणजी को वहुत ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पर रिद्धकरणजी का ही काम था कि, उन्होंने फर्म को आंच न आने दी। उनके यहाँ कपड़े का प्रधान काम था। रेली ब्रदर्स के कोरे नैनसुख वन्धे रूप में उनके नाम पर सेल हुआ करते थे। इससे फर्म को खासी आय होती थी। बाद में रिद्धकरणजी ने चांदी का व्यापार भी करना शुरू किया। इसी संबंध में बंबई में भी दूकान खोली। चांदी का व्यापार वे जगन्नाथ दुरानी के परामर्श से करते थे। परंतु संवत् १९५९ में बंवई में जब वेग मुहम्मद ने चांदी का खेला किया तब इस फर्म में माथे का काम होने के कारण बड़ा घाटा दीख पड़ने लगा था, समस्या बहुत ही कठिन हो गयी थी। परंतु रिद्धकरणजी ने चांदी की ५२४ सिलें भोलाराम चूड़ीवाले की उठाई हुई, जो कलकत्ते की नेशनल बैंक में पड़ी थी, तत्काल खरीद कर बंबई भेज दी, जिससे वेग मुहम्मद का खेला टूट गया और परिणाम यह हुआ कि, जहां लाखों रुपये नुक्सान होने की संभावना थी, वहां रिद्ध-करणजी को, आठ दस लाख रुपयों का लाभ हुआ।

यहां पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, रिद्धकरणजी

ने चांदी की ५२४ सिलें कलकत्ते से बंबई भेजी थी, उस चांदी को डिलेवर देने के लिये इस पुस्तक का लेखक ही बंबई गया था। रास्ते में तथा बंबई पहुंचकर चांदी डिलेवरी करने में उसे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और जो अनुभव हुआ, व्यापारिक दृष्टि से वह बड़े महत्त्व का है। बंबई में बेग मुहम्मद को जब यह मालूम हुआ कि, चांदी कलकत्ते से आ रही है, तो उसने कुछ ऐसा प्रबन्ध किया कि, जिससे चांदी का डिब्बा रास्ते में ही कट जाय और ड्यू डेट के निश्चित समय पर माल न पहुंच सके। परिणाम स्वरूप रास्ते में मुगलसराय और भुसावल में चांदी का डिब्बा काट लिया गया। पर साथ जानेवाला व्यक्ति सावधान था। यद्यपि उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। दौड़ धूप भी बहुत हुई। परन्तु वह अपने उद्योग में सफल हो गया। चांदी का कटा हुआ डिब्बा उसने फिर से जुड़वा लिया और ड्यू डेट के दिन ठीक समय पर चांदी के साथ बंबई पहुंच गया। ठीक समय पर चांदी पहुंच जाने का परिणाम यह हुआ कि, वेग मुहम्मद उसी दिन चांदी डिलेवर न ले सका और खेला टूट गया। आश्चर्य इस बात से हुआ कि, रुक्मानंद वृद्धिचन्द का फर्म अधिक धनिक न होने पर भी रिद्धकरणजी ने नेशनल बैंक को कुछ मामूली रुपये मार्जिन के देकर १३ लाख रुपये की चांदी घंटों में रवाने कर दी थी, पर करोड़पति आसामी होने पर भी वेग मुहम्मद उस चांदी की तत्काल डिलेवरी न ले सका। प्रायः एक सप्ताह में बड़ी लिखा-पढ़ी होने पर कहीं माल डिलेवर हुआ। यहां पर विचारणीय बात यह है कि, वेग मुहम्मद उसी समय माल डिलेवर ले लेता तो शायद खेला नहीं टूटता। इस उदाहरण से स्पष्टतया प्रकट होता है कि, मारवाड़ी व्यापारी रुपयों की कमी होने पर भी व्यापार का संचालन करने में जितने दक्ष हैं, उतने दक्ष अन्य समाजों के व्यक्ति नहीं हैं।

उसी दिन से रिद्धकरणजी की धाक चांदी के बाजार में बढ़ने लगी। रिद्धकरणजी ने बहुत नाम पाया। कलकत्ते के बड़ेबाजार में कोई व्यापारिक

संस्था न होने के कारण व्यापारियों के हितों की रक्षा नहीं हो सकती थी। रिद्धकरणजी के उद्योग से ही सन् १९०० में "मारवाड़ी चेम्बर आफ कामर्स" स्थापित हुई और वे उसके जेनरल सेक्रेटरी मनोनीत हुए। रिद्धकरणजी उस समय बड़ेवाजार में माने हुए पंच थे। ओसवाल समाज की तो वात ही क्या थी, अन्य सभी मारवाड़ियों में पंच पंचायती के समय अक्सर उनका नाम लिया जाता था। उन्होंने ही जैनश्वेताम्बर तेरापन्थी सभा की स्थापना की थी और वे हवड़ा के आनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे। संवत् १९७५ में जव गवर्नमेंट ने काटन एडवाइजरी कमेटी वनाई तो वे भी उसके एक मेम्बर वनाये गये। खेद है कि, कुछ वर्ष हुए उनका देहान्त हो गया।

रुक्मानन्द वृद्धिचन्द के फर्म से रुक्मानन्दजी के पुत्र अलग हो गये तो तेजपाल वृद्धिचन्द और रुक्मानन्द उदयचन्द के नाम से कारवार होने लगा। इस फर्म में सुजानमलजी बड़े हिम्मतदार कार्यकर्त्ता हुए। रिद्धकरणजी के वाद उनका अभाव कुछ अंश में ये ही पूरा करते थे। वड़े फर्म से अलग होकर इन्होंने अपनी ताकत के वाहर व्यापार किया। जूट वेलिङ्ग का तो इतना बड़ा काम किया कि, ये वड़े वेलर समझे गये।

परंतु भाग्य-लक्ष्मी अनुकूल न होने से कारवार वंद कर देना पड़ा। हाल में इनका देहांत भी हो गया। परंतु यह कहना होगा कि, रिद्ध-करणजी के वाद सुरानों के घर में सुजानमल का स्थान भी साहसी पुरुषों में था और किसी अंश में रिद्धकरणजी का अभाव पूरा करता था। इस घराने में इस समय अनेक व्यक्ति हैं और तेजपाल वृद्धिचंद के नाम से कार-वार चलता है। चूरू के ओसवाल समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। रिद्ध-करणजी के पुत्र श्रीचंदजी इस समय भी बड़े लायक हैं और तोलारामजी के पुत्र शुभकर्णजी बड़े समझदार हैं। वे बड़े साहित्यप्रेमी भी हैं तथा बीकानेर राज कौंसिल के कई बार सदस्य रह चुके हैं।

यह फर्म रामगढ़ के पोद्दारों का था। इस फर्म की गणना सराफों में होती थी। बीमा का काम भी किया जाता था। इस फर्म की दूकान चीन में भी खोली गई थी। इस समय कलकत्ते की दूकान उठा दी गयी। परंतु इस घराने का नाम आज भी 'सीधेसादे सेठ' कह कर होता है। इसके वंशधर बड़ी मितव्ययिता से चल कर अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुए हैं।

जौहरीमल रामलाल—

कलकत्ते के मारवाड़ी समाज में नाथूरामजी सराफ का स्थान बहुत ऊँचा रहा है। जिस समय अंग्रेजी आफिसों में खत्रियों का बोलबाला हो रहा था, उस समय एक बहुत ही साधारण अवस्था में नाथूरामजी ने संवत् १८९६ में अंग्रेजी आफिसों में प्रवेश किया था। अंग्रेजी आफिसों में प्रवेश करनेवाले पहले मारवाड़ी नाथूरामजी थे। नाथूरामजी ने किस प्रकार, किस अवस्था में अपने जन्मस्थान मंडावा से आकर यहां अपनी उन्नति की और किस प्रकार अपने सगे-सम्बन्धी, भाई, बन्धु तथा अन्य जाति भाइयों को बुलाकर सहारा दिया, ये सब बातें न केवल ध्यान देने योग्य हैं, किन्तु अनुकरणीय भी हैं। किसी भी जाति का अभ्युदय तभी होता है, जब कि, उसमें स्वनामधन्य सेठ नाथूरामजी सराफ जैसे जातिप्रेमी तथा कुटुम्बपालक सज्जन जन्म धारण करते हैं।

नाथूरामजी सराफ—

नाथूरामजी का जन्म वि० संवत् १८७४ में शेखावाटी के ग्राम मंडावा में हुआ था। नाथूरामजी जब १२-१३ वर्ष के हुए तभी उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। तब से घर का सारा प्रबन्ध उनकी भौजाई करने लगी थी। कहा जाता है कि, नाथूरामजी की भौजाई स्वभाव की बड़ी क्रूर थी और घर में उसका शासन कठोर होता था। नाथूरामजी अपनी युवावस्था में बड़े बलवान और लम्बे चौड़े कद के व्यक्ति थे। उन्होंने मंडावे में खेती करना शुरू किया। केवल अपने पुरुषार्थ से वे सैकड़ों बीघा जमीन की खेती कर अपने गुजारे के लायक अन्नादि की उपज कर लेते थे।

एक दिन की बात है कि, जब वे खेत से लौट कर अपने घर पर आये, तो क्या देखते हैं कि, छोटी बहन को किसी कसूर पर भाभी मार रही है। यह देख उन्होंने इसका प्रतिवाद किया, परन्तु प्रतिवाद से भौजाई कब शान्त होनेवाली थी। वह उन्हें भी मारने दौड़ी। नाथूरामजी अपनी भौजाई को माता से बढ़ कर मानते थे। अतः उसका सामना न कर चुपचाप अपना 'गंडासा' लेकर वापिस खेत में चले गये। इस घटना से उनके मन पर बड़ा असर हुआ और वे घर छोड़कर निकल पड़े।

उस समय उनकी उम्र केवल २० वर्ष की थी। अपने घर मंडावा से चलकर वे मिर्जापुर पहुंचे। मिर्जापुर उस समय व्यापार का केन्द्र था। सेठ सेवाराम रामरिखदास सिंहानिया की गद्दी बड़ी प्रसिद्ध थी। नाथूरामजी उसी दूकान पर पहुंच गये। उस समय रेल नहीं बनी थी। बंगाल का व्यापार नौकाओं द्वारा होता था। सेवाराम रामरिख की नौकाएँ माल लेकर कलकत्ता जा रही थीं। नाथूरामजी उन नौकाओं के चढ़नदार (चौकसीवाले) बन कर कलकत्ते आये। इस चढ़नदारी के लिए उन्हें ५) रुपये नगद तथा रास्ते का खाना-खर्च मिला था। यह घटना विक्रमी संवत् १८९४ अर्थात् ईस्वी सन् १८३७ की है। कलकत्ते में उस समय सेवाराम रामरिख की दूकान के गुमाश्ते रामदत्तजी गोयनका थे। नाथूरामजी का साहस और नौकाओं के प्रबन्ध से खुश होकर उन्होंने दो रुपये मासिक और रोटी कपड़ों पर उन्हें नौकर रख लिया। वे रामदत्तजी के लिए रसोई बनाने लगे। यहां पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि, नाथूरामजी शरीर के हट्टे-कट्टे होने के कारण उनकी खुराक बहुत थी। यही कारण था कि, उन्होंने रसोइया बनना पसंद किया था। उन्हें घर की तो कोई झंझट थी ही नहीं, पेट भर भोजन करते और मस्त रहते थे। जो दो रुपया मासिक मिलता उसे गद्दी से लेकर कबूतरों को मटर डाल दिया करते थे। रामदत्तजी ने सुना कि, 'नाथिया' अपने वेतन के दो रुपये लेकर प्रति मास कबूतरों को मटर खिला देता है

तो उन्होंने नाथूराम को बुलाकर कहा कि, मटर के लिए दो रुपये गद्दी से ले लिया करो और अपने दो रुपये जमा किया करो। नाथूरामजी तब क्या करने लगे कि, ये दो और वेतन के दो, चारों रुपये कबूतरों को ही मटर डालने में खर्च करते। यह अवस्था कई महीनों तक चली। इसके बाद दोनों समय रसोई बनाने के बाद उन्हें जब अवकाश मिलता, तो वे सूतापट्टी में चले जाते थे और दो चार दिनों में एक दो गाँठ की दलाली कर लिया करते थे। इस दलाली में उन्हें बीस तीस रुपये महीने की आय होने लगी थी। परंतु, यह होने पर भी उन्होंने रसोई बनाना नहीं छोड़ा।

उस समय अंग्रेजी आफिसों का काम प्रायः खत्री लोगों के हाथ में था। परन्तु वे लोग आरामतलब हो चले थे। समय पर पूरा काम न करने के कारण आफिसों के अंग्रेज उनसे नाखुश रहने लगे। एक समय की बात है कि, सेवाराम रामरिख के मुनीम रामदत्तजी ने नाथूराम को माल की डिलेवरी लिखाने के लिए 'किसल एण्ड घोष कम्पनी' की आफिस में भेजा। यह आफिस किसल साहब और गोपालचन्द्र घोष के साझे में चलती थी और उस समय बड़ी आफिसों में इसकी गणना होती थी। इसी 'किसल एण्ड घोष कम्पनी' का आगे चल कर होरमिलर कम्पनी 'Hore Miller & Co' नाम हो गया जो कि, अबतक बड़े मजे में चल रही है। नाथूराम ने आफिस में जाकर माल डिलेवर लिखा दिया। परन्तु, मौसम गर्मी की थी। अतः वे उसी गोदाम में सो गये। थोड़ी देर बाद किसल साहब जब गोदाम में आये तो एक अपरिचित व्यक्ति को सोया देख उसे जगाया और परिचय पूछा, तो नाथूराम ने जवाब दिया कि, 'मैं कपड़े का एक दलाल हूं।' यह सुन कर किसल साहब नाथूराम को आफिस के कमरे में ले गये और माल के कुछ नमूने दिखा कर पूछा कि, 'यह माल किस भाव में बिक सकता है?' जिस व्यक्ति का दिन फिरता है, उसकी बुद्धि भी वैसा ही चमत्कार दिखाने लगती है। साहब

के पूछने पर नाथूरामजी ने माल के ऐसे भाव बताये कि, जिससे साहिब को निश्चय हो गया कि, यह व्यक्ति काम को जाननेवाला है। साहब ने कहा कि, 'इस भाव में क्या तुम माल वेच सकते हो।' नाथूरामजी ने कहा कि, 'जितना माल आप वेचना चाहें, मैं वेच सकता हूं।' साहब ने बताया कि, हमारे पास इतना माल तैयार है। पर माल तीन दिन के अन्दर डिलेवर कराना होगा। नाथूरामजी नमूने लेकर बाजार में आये। पहले पहल उन्होंने रामदत्तजी को नमूने दिखाये। पता चलता है कि, किंसल एण्ड घोष कम्पनी में छींट का काम बड़ा पुराना है और अबतक होर मिलर की आफिस इसीसे प्रसिद्ध है। उस समय निक्कामल खत्री इस आफिस के दलाल थे और छींट आदि का सबसे अधिक काम सेवाराम रामरिख के फर्म में होता था। परन्तु, किसी कारणवश अनवन होने से निक्कामल ने सेवाराम रामरिख को माल वेचना वंद कर दिया था। रामदत्तजी चाहते थे कि, किंसल एण्ड घोष का माल उन्हें मिलें। यही कारण था कि, रामदत्तजी ने बाजार भाव से भी कुछ अच्छी दर दी। इसके अतिरिक्त दूसरे फर्मों का भी आर्डर लेकर नाथूरामजी आफिस में पहुंचे। नाथूरामजी की दर सुनकर अवश्य ही किंसल साहब खुश हुए थे। परन्तु, उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि, नया दलाल जो दर देता है, वह वास्तव में ठीक है। इसका कारण यह था कि, निक्कामल जो दर देते थे, वह इससे कम थी। परन्तु निक्कामल का काम लापरवाही से होता था, जिसके कारण मनमानी दर दी जाती थीं। साहब ने एक बंगाली को नाथूरामजी के साथ इसलिए भेजा कि, वह व्यापारियों से मालूम करे कि, असल में उनका ऑफर ठीक है या नहीं। बंगाली साथ में गया और पूछने पर मालूम हुआ कि, ऑफर ठीक है। साहब बहुत खुश हुआ और उसने प्रायः चार पांच हजार पेचक सेल कर दिये।

नाथूरामजी के हाथ माल सेल कर देने के बाद जब निक्कामल चार बजे आफिस में पहुंचे तो उस समय नाथूरामजी भी साहब के पास बैठे हुए

थे। निक्कामल को आया देख कर साहब ने कहा कि, बाबू निक्कामल! अब तुम बड़ा आदमी हो गया है। बाग बगीचों में रहने लगा है। आराम-तलबी चाहता है, अतः हम ने तुम्हारे लिए एक सहकारी तजबीज किया है। आज से तुम्हारा और इस नाथूराम का आफिस के काम में साझा रहेगा और तुम्हें आराम मिलेगा। साहब की यह बात सुन कर यह कब संभव था कि, निक्कामल उसे स्वीकार कर लेते? उन्होंने कहा कि, यह हो नहीं सकता। इस पर साहब ने कहा कि, अच्छा आज से हम नाथूराम को न केवल दलाल ही नियुक्त करते हैं, किन्तु बेनियन भी बनाते हैं। निक्का-मल साहब को सलाम कर चले गये और उसी दिन से नाथूरामजी आफिस में स्थायी रूप से काम करने लगे।

नाथूरामजी ने सूतापट्टी में आकर यह ऐलान किया कि, 'किसल एण्ड घोष कम्पनी' का माल कोई भी मारवाड़ी भाई बेच सकता है, मैं सभी को आधी दलाली दूंगा।' इस बात का बहुत अच्छा असर पड़ा। एक ओर तो जाति भाइयों को दलाली का सहारा मिला और दूसरी ओर जो काम निक्कामल लापरवाही से करते थे, वह बड़ी तेजी के साथ होने लगा और परिणाम यह हुआ कि, किसल साहब और गोपाल घोष दोनों ही नाथू-रामजी को अधिकाधिक चाहने लगे। नाथूरामजी का भाग्य-सूर्य उदय हो गया।

नाथूरामजी में कुटुम्ब-पालन और जाति भाइयों को चाहने की भावना जाग पड़ी। वे ज्यों-ज्यों बढ़ते गये त्यों-त्यों मँडावे से अपने कुटुम्बी सराफ भाइयों तथा अपने भांजे और दोहितों को बुलाकर आफिस के काम में लगाने लगे तथा सूतापट्टी में दूकानें खुलवाने लगे। यदि यह कहा जाय कि, सूतापट्टी में अन्य ग्रामवासियों की अपेक्षा सबसे अधिक दूकानें मंडावे की खुली, तो इसके कारण नाथूरामजी ही थे। सच तो यह है कि, उन्होंने ही श्रीयुक्त गणेशदासजी, गंगारामजी, बलदेवदासजी कुंजलालजी, हरकिशनदासजी, उदयरामजी, गौरीदत्तजी, गोगराजजी,

और मोहनलालजी आदि अनेक सराफों को बुलाकर काम में लगाया। ये लोग आगे चलकर प्रायः सभी धनशाली बन गये और आज भी कई एक फर्मों की बड़ी उन्नत अवस्था देखी जाती है। इसके अतिरिक्त श्यामदेवजी भोतिका तथा हुक्मीचन्दजी चौधरी आदि इनके सम्बन्धी थे, उन्हें भी बुलाकर काम में लगाया, जिनमें हुक्मीचन्द सागरमल तथा श्यामदेव रामदेव आदि फर्म चलानीवालों में बड़े प्रसिद्ध हुए। लिखने का मतलब यह है कि, नाथूरामजी बड़े जातिप्रेमी और कुटुम्ब-पालक हुए।

कहा जाता है कि, नाथूरामजी बड़े दबङ्ग आदमी थे। आजकल चितपुर रोड और हरिसन रोड की मोड़ पर जहां अक्षय बाबू डाक्टर का दवाखाना है, उस स्थान में उस समय एक बहुत बड़ा मकान था और खाली पड़ा रहता था। उस समय पुराने विचार के लोग उस मकान में भूत-प्रेत का होना मानते थे। परन्तु नाथूरामजी को भूत-प्रेत का कोई डर नहीं था। उन्होंने उस मकान को लीज पर ले लिया और घर समेत रहने लग गये। उसी में अपनी गद्दी का काम भी खोल दिया। सर्वसाधारण मारवाड़ी भाइयों के लिए उन्होंने उसी मकान में एक ऐसा बासा बना दिया कि, कोई भी मारवाड़ी भाई अपनी इच्छा और सुभीते के अनुसार खर्च देकर या बिना कुछ दिये वहाँ भोजन पा सके तथा उसी में रह सके। एक बासा वैश्यों के लिए और एक ब्राह्मणों के लिए अलग-अलग बना कर जाति भाइयों और ब्राह्मणों के लिए सुविधा कर दी थी। कहा जाता है कि, उस मकान में तीन चौक थे, जिनमें एक चौक में उन्होंने गद्दी कायम की, एक चौक में स्त्रियों का रहवास बनाया और तीसरे चौक में सर्वसाधारण मारवाड़ी वैश्य भाइयों और ब्राह्मणों के लिए बासे तथा रहने का प्रबन्ध कर दिया।

संवत् १८९५ से लेकर विक्रमी संवत् १९२६ अर्थात् ३० वर्ष तक नाथूरामजी लगातार उक्त आफिस का काम करते रहे। इसके बाद विक्रमी संवत् १९२६ में वे अपने मुनीम गणेशदासजी मुसद्दी को अपनी

ओर से पूर्ण अधिकार देकर स्वयं अपने जन्मस्थान मंडावा चले गये और सब काम गणेशदासजी सम्हालने लगे। कहा जाता है कि, नाथूरामजी के देश चले जाने पर गणेशदासजी ने अपना दबदबा इतना बढ़ाया कि, आफिस के साहब गणेशदासजी को बहुत चाहने लगे। उन्होंने नाथूरामजी को देश से बुलाकर कहा कि, आफिस में गणेशदास का आधा हिस्सा उन्हें करना होगा। परन्तु नाथूरामजी ने यह स्वीकार नहीं किया और कहा कि, 'यदि आप चाहते हैं तो सब अधिकार गणेशदास को दे सकते हैं।' नाथूरामजी सलाम कर घर लौट आये। उसी दिन से आफिस गणेशदासजी के हाथ में आ गई, जो कि, आज भी होरमिलर का नाम परिवर्तन होने पर भी, उनके यहां बनी हुई है।

नाथूरामजी के पांच पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। पुत्रों के नाम हैं—बालमुकुन्द, देबीबक्स, रामचन्द्र, लक्ष्मीनारायण और बृजमोहन। इस समय इनमें केवल बृजमोहनजी जीवित हैं और कलकत्ते में ही रहते हैं। इनमें देबीबक्सजी बहुत प्रसिद्ध हुए। उनके सम्बन्ध में हम आगे चल कर लिखेंगे।

नाथूरामजी अपनी धुन के बड़े पक्के थे। उनमें आत्मविश्वास बहुत था। जो धुन लग जाती उसे सहज में नहीं छोड़ते थे। अपने देश मंडावा जाने पर उन्हें देशी रजवाड़ों और ठिकानों को रुपये उधार देने की धुन लग गई। देशी रजवाड़ों में सेठ कहे जाने में उनको बड़ा आनन्द आता था। नाथूरामजी का पहराव बड़ा सादा था। वे घुटने तक की धोती, बदन में कमरी और पगड़ी पहना करते थे। इस प्रकार की पोशाक ही उनके स्वभाव का परिचय देती थी। वे झूठ बोलने के बड़े विरोधी थे। पुनर्जन्म और परलोक मानते थे। दान-धर्म को मनुष्य का कर्त्तव्य समझा करते थे। कतिपय निरर्थक बातों पर उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने कूएँ, धर्मशालाएँ, सड़कें तथा छात्रालय बनवाने में हजारों रुपये लगाये। परन्तु मन्दिर बनाना वे पसन्द नहीं करते थे।

स्वभाव के कुछ कड़े थे। पर सत्यप्रिय थे, दान देना अपनी जीवित अवस्था में ही अच्छा समझते थे। मरने के वाद उस व्यक्ति के नाम पर हजारों रुपये खर्च करना, इस कार्य को समाज के लिए वे वड़ा भारस्वरूप मानते थे। कृषि तथा पशु-पालन से उन्हें वड़ा प्रेम था। हजारों बीघा खेती कराते और गाय सांडों की संख्या एक सौ से अधिक रखा करते थे। रूई की खेती कराके रूई पैदा कराते थे। उन्होंने रूई लौडने के लिए मंडावे में एक मशीन भी मंगाई थी और उसी रूई को अपने घर में कतवाते थे। कहा जाता है कि, उनके घर में २५-३० चर्खे हर समय चलते थे, जिन्हें घर की औरतें और नौकरानियां चलाती थीं। जिस समय भारत में स्वदेशी आन्दोलन का नाम भी नहीं था, उस समय वे घर में कते सूत का कपड़ा बनाकर व्यवहार में लाते थे। धनशाली होने पर भी उन्होंने कभी शाल दुशाले का व्यवहार नहीं किया। उन्हें अपने घर में कते हुए सूत का मोटा खेस ही पसन्द था और हर समय उसी खेस का व्यवहार करते थे। वे कलकत्ते में वहुत समय तक अंग्रेजों के संसर्ग में रहे, परन्तु अपना मोटा पहनाव कभी नहीं छोड़ा। सदा साफ-सुथरे रहते थे।

नाथूरामजी स्वयं पढ़े लिखे नहीं थे परन्तु उन्हें विद्या से वड़ा प्रेम था। मंडावे में पहले-पहल उन्होंने संस्कृत पाठशाला वनवाई, जिसमें एक सौ के लगभग विद्यार्थी विद्याध्ययन करते तथा भोजन पाते थे। मंडावे के पं० प्रेमसुखदासजी जोशी ने जो कि, आज भी ब्राह्मणों में एक आदर्श व्यक्ति समझे जाते हैं, नाथूरामजी की पाठशाला में ही शिक्षा पाई थी। नाथूरामजी का रहन-सहन वड़ा सीधा सादा था। उन्हें देख कर उनके वैभव का अनुमान किसी को नहीं होता था। पूछने पर वे अपने को सदा 'नाथिया' कहते थे। कभी नाथूराम वोल कर अपना परिचय नहीं दिया। एक समय की बात है कि, कुछ महाजन दूर से चल कर उनसे मिलने मंडावे आये। नाथूरामजी उस समय अपनी हवेली के दरवाजे पर स्वाभाविक रीति से एक मोटा सा लट्ठ लिए खड़े थे। आये हुए

महाजनों ने द्वारपाल समझ उनसे पूछा कि 'सेठ नाथूरामजी कहां हैं ?' इस पर उन्होंने जवाब दिया कि, 'सेठ नाथूराम का तो मुझे पता नहीं; पर 'नाथिया' तो यह खड़ा है।'

हमने पहले बतलाया है कि, नाथूरामजी को देशी रजवाड़ों और ठाकुरों को रुपये कर्ज देना बहुत पसन्द था। खेतड़ी के राजा श्री फतहसिंहजी को उन्होंने चार लाख रुपये कर्ज दिये थे जो कि, उन्होंने अपनी जिन्दगी में वसूल नहीं किये। * उनकी मृत्यु के बाद संवत् १९४८ में उनके पुत्र बाबू देवीबक्सजी उस समय के खेतड़ी नरेश राजाजी श्री अजीतसिंहजी के पास उगाही के लिए गये। यद्यपि खेतड़ी नरेश ने उनकी बड़ी खातिरदारी की और चार महीने तक उनको अपने पास रखा; परन्तु रुपयों के लिए टालमटोल ही होता रहा। नाथूरामजी जैसे अपनी धुन के पक्के व्यक्ति थे, वैसे ही उनके पुत्र देवीबक्सजी भी एक अजीब धुन के साबित हुए। रुपयों के लिए टालमटोल और खातिरी की भरमार देख कर देवीबक्सजी ने राजा की ओर से लिखे हुए सब कागजात भरपाई करके राजाजी को सौंप दिये और एक लिखित नोटिस दिया, जिसमें लिखा था कि, 'उस कर्ज के बाबत यदि आप कुछ भी देना चाहते हैं, तो २४ घण्टे के अन्दर दे दें, अन्यथा उस कर्ज से अपने को मुक्त समझें।' राजाजी ने दूसरे दिन उन्हें बुलाया और कहा कि, कुछ दिनों के लिये आप और ठहरें। परन्तु देवीक्बसजी बड़ी विचित्र प्रकृति के थे। वे अपनी बात को कैसे टाल सकते थे, उसी दिन चल दिये। कहा जाता है कि, उन रुपयों की पीछे उन्होंने कोई सुध नहीं ली।

विक्रमी सं० १९२६ में जब नाथूरामजी के मुनीम गणेशदासजी मुसद्दी ने आफिस का काम अपने नाम पर कर लिया तो नाथूरामजी प्रायः देश में

---

* खेतड़ी के राजा फतहसिंहजी राजपूताने में पहले राजा थे, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा का अध्ययन किया था और बड़े विद्याव्यसनी थे। श्री नाथूरामजी ने शिक्षित और विद्याव्यसनी राजा समझ कर चार लाख रुपये उन्हें दे दिये थे।

ही रहने लगे। वे अपने जन्मस्थान मंडावे में बहुत कम रह कर ज्यादा-तर जयपुर में रहते थे। मिती पोष कृष्णा ३ संवत् १९४३ को तेजपालजी जैपुरिया के नोहरे में उन्होंने ६९ वर्ष की अवस्था में शरीर त्याग किया। पता लगता है कि, मृत्यु के पूर्व उनके पुत्रों ने पूछा था कि 'आपके शरीर छोड़ने के वाद दान-धर्म कैसा किया जाय ?' इस पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में जवाब दिया था कि, दान-धर्म मनुष्य की जीवित अवस्था में करना ही उसके लिए फलप्रद होता है। मैंने अपनी जीवित अवस्था में जो कुछ किया है, वही यथेष्ट है। मरने के वाद उस व्यक्ति के नाम पर कुछ करना आडम्वर मात्र है।

श्री नाथूरामजी सराफ का जीवनचरित्र मारवाड़ी समाज के लिए वड़ा शिक्षाप्रद और मनन करने योग्य है। यही कारण है कि हमने उसे विस्तार के साथ यहां अङ्कित किया है। जिस समय मारवाड़ी समाज में नाथूरामजी जैसे कुटुम्वपालक और जातिप्रेमी पैदा हुए थे, उसी समय वंगाल जैसे सर्वथा भिन्न प्रकृतिवाले देश में मारवाड़ी जाति के पैर जमे और उसकी उन्नति हुई थी। आज मारवाड़ी समाज में कुशल व्यापारी और धनिकों की कमी नहीं है। लखपतियों की तो गणना ही क्या, वड़े-वड़े करोड़पती भी मौजूद हैं, परन्तु सेठ नाथूरामजी जैसे कुटुम्व पालक और जातीयता के भावों से सम्पन्न व्यक्ति कितने हैं ? आज से प्रायः एक सौ वर्ष पूर्व केवल एक नाथूरामजी ने साधारण धनिक वन कर सूतापट्टी में मारवाड़ियों का वोलवाला कर दिया था। क्या आज के अनेक धनशाली व्यक्ति अपनी मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों को यदि चाहें तो वेकारी के कष्ट से नहीं वचा सकते ? पर लिखते खेद होता है कि, उस समय जैसा जातीयता का पवित्र भाव इस समय के लोगों में नहीं रहा। उस समय परोपकार और जातीयता की भावना काम करती थी और इस समय व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता और झूठा आडम्वर चल रहा है। यदि आज मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों में नाथूरामजी के समान पवित्र

भावना जाति के लिए होती, तो आज समाज में जो अनेक त्रुटियां दिखाई पड़ रही हैं तथा जाति के अनेक व्यक्ति अशिक्षित तथा बेकार मारे-मारे फिरते हैं, वे एक भी नहीं दीख पड़ते और संसार समझता कि, भारतवर्ष में व्यापार करनेवाली एक धनिक मारवाड़ी जाति है, जिसने अपने धन के वल से अपनी जाति के व्यक्तियों की बेकारी और शिक्षा सम्बन्धी कमी को दूर कर दिया है। मारवाड़ी समाज को, नाथूरामजी की जीवनी पर ध्यान देना चाहिये। समाज के लोगों को सोचना चाहिए कि, मनुष्य का शरीर अमर नहीं है। लाखों-करोड़ों व्यक्ति बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली होते हैं और मर जाते हैं। उन्हें कोई भी याद नहीं करता। अनेक प्रपंच रच कर धन-सम्पत्ति जोड़ते हैं पर सबकी सब यहीं पर धरी रह जाती है। वे व्यक्ति धन्य हैं, जिन्होंने नाथूरामजी की तरह अपने धन का सदुपयोग समाज और देश के लिए किया है। यही कारण है कि, नाथूरामजी मरने पर भी आज जीवित हैं। मारवाड़ी समाज के सर्वसाधारण धनीमानी व्यक्ति नाथूरामजी के पवित्र भावों को धारण कर सकें, तो मारवाड़ी समाज की वेकारी, स्वतंत्र शिक्षा का अभाव और जातीयता के भावों की कमी सहज में दूर हो सकती है।

जुगलकिशोरजी रूइया—

आप शेखावाटी के सीकर राज्यान्तर्गत रामगढ़ के रहनेवाले थे। आपका जन्म वि० संवत् १८७३ में हुआ था। बाल्यावस्था में ही आप बड़े होनहार दिखते थे। विक्रमी संवत् १८९१ में तीर्थयात्रियों के साथ पैदल चलकर आप मिर्जापुर आये और वहां से नौका की चढ़नदारी कर कलकत्ते पहुंचे थे। आपने यहां आकर पहले-पहल श्रीयुक्त बाबूलालजी अग्रवाल की दूकान पर चार रुपये मासिक की नौकरी की और आगे चलकर सुदक्ष दूकानदार समझे जाने लगे। बाबूलालजी ने जब अंग्रेजी आफिस में काम करना शुरू किया तो जुगलकिशोरजी ने ही वह काम सम्हाला था और आगे चल-कर स्वयम् तमाखू कम्पनी और गीसबूरन कम्पनी में स्वतन्त्र रूप से

काम करने लग गये थे। आफिसों में आपकी ख्याति इतनी वढ़ी कि, पिटरू कोचीन ब्रदर्स, शावालेस कम्पनी और आलमन हर्प तथा वाईसमन आदि और भी कई आफिसें आपके हाथ में आ गई। गीसवूरन कम्पनी का नाम वदल कर वाकरगार्ड हो गया, जो अब तक आपके वंशधरों के हाथ में देखी जाती है। विक्रमी संवत् १९३६ में आपने राली ब्रादर्स में कुछ समय तक काम किया था। उस समय श्रीयुक्त भगवानदासजी मुसद्दी आपके साथ थे। जुगलकिशोरजी ने अंग्रेजी आफिसों में जिस योग्यता से काम किया, वह समाज के लिए अनुकरणीय और उन्नतिवर्द्धक था। आप शरीर के वड़े दुवले पतले थे। आपका रहन-सहन तथा पहराव-उढ़ाव वड़ा सीधा-सीदा पुराने ढङ्ग का था; परन्तु वड़े तेजस्वी थे। किसी से दवना नहीं जानते थे। कलकत्ते में पुलिस अफसरों पर आपका वड़ा दवाव रहता था। आप व्यापार में जितने दक्ष थे, उतने ही अदालती कामों में भी अनुभव रखते थे। इस सम्वन्ध में आपकी धाक मानी जाती थी। किसी भी वड़े मामले में आप से सलाह लेना समाज के व्यक्ति आवश्यक समझा करते थे। जुगलकिशोरजी अपने अध्यवसाय से वड़े धनिक वन गये। आपके दो पुत्र विलासीरामजी और सूरजमलजी वड़े सुयोग्य हुए। आपके पौत्र मनसारामजी की भी वहुत ख्याति है। विक्रमी संवत् १९५८ में ८५ वर्ष की अवस्था में आपने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। सच तो यह है कि, जिस प्रकार सेठ नाथूरामजी सराफ ने जाति भाइयों को सूतापट्टी में वढ़ाया, उसी प्रकार जुगलकिशोरजी ने उन्हें सँभाला था। विशेषता यह थी कि, नाथूरामजी का जीवन-क्षेत्र कलकत्ते में संवत् १९२६ तक केवल ३० वर्ष तक ही रहा; पर आपने प्रायः ७० वर्ष तक समाज की सेवा की। आपके पौत्र श्रीयुक्त चतुर्भुजजी और मानमलजी ने आपकी मृत्यु के वाद वाकरगार्ड की आफिस में इतना सुंदर काम किया कि, वे करोड़पतियों की सी इज्जत वनाने में समर्थ हुए तथा वाकरगार्ड कम्पनी के एक मात्र

स्वत्वाधिकारी बन गये। खेद है कि, चतुर्भुजजी का शीघ्र शरीरान्त होने से चीनी के काम में फर्म को नुकसान हुआ और अब वह अवस्था नहीं रही जैसी कि, पहले थी। पर इस रूइया बंश की जो छाप समाज पर है, वह मिट नहीं सकती। आज भी आपके वंशधरों के कतिपय मकान और बगीचे हैं। आपके बगीचे में राणी सतीजी का स्थान बना हुआ है, जिसे झूँझनूँवाले, जालान और तुलस्यान वंशीय जनता बड़ी श्रद्धा से मानती है तथा प्रेम से दर्शन करने जाती है।

रामकिशनदासजी सरावगी—

आप सीकर राज्यान्तर्गत फतहपुर निवासी दिगम्बर जैन थे। यह तो पता नहीं लगा कि, आपका जन्म कब हुआ और कलकत्ते कब आये थे। परन्तु यह निश्चित है कि, विक्रमी संवत् १६०० के लगभग आप कलकत्ते आये थे। श्रीयुक्त जुगलकिशोरजी की तरह आप भी किसी दूकान पर साधारण काम करने लगे थे। आप बड़े तीक्ष्ण-बुद्धि, कर्मशील और भाग्यशाली सिद्ध हुए। पहले-पहल श्रीयुक्त रामलालजी अग्रवाल के आधीन आफिस में काम करना शुरू किया तो अपना प्रभाव आफिस के साहबों पर भली भांति जमा लिया। आफिस के साहब आपके काम से इतने संतुष्ट रहने लगे कि, माल बेचना, डिलेवरी देना तथा किस व्यापारी में कितने रुपये बाकी रखना, आदि सभी काम आप पर छोड़ दिये। देखते-देखते आप स्वतंत्र रूप से काम करने लगे। एक समय की बात है कि, श्रावण का महीना था। वर्षा हो रही थी। एक मारवाड़ी भाई जो कि, बड़ेबाजार में कपड़े की दूकान करता था तथा उसके यहां अधिकतर काम फिलीमोर कम्पनी की आफिस से होता था, अपने कार्यवश आफिस में गया। उस समय कलकत्ते में आजकल की तरह सुधरी हुई न तो सड़कें थी और न आजकल की तरह ट्राम, मोटर और लारियां ही चलती थीं। घोड़ा-गाड़ियां भी बहुत कम कहीं—कहीं देखने में आती थीं। इसके अतिरिक्त भाड़े की गाड़ी करके आफिसों में जाना एक प्रकार का फिजूलखर्च

समझा जाता था। वह पैदल ही आफिस में गया। रास्ते में वर्षा के कारण कादा-कीचड़ बहुत था। परिणाम यह हुआ कि, फिड्डी जूतियों के कारण, कीचड़ के छींटों से उसके पैर लथपथ हो गये और धोती भी छींटों से रंग गई थी। इस अवस्था में वह आफिस में पहुंचा और सेल मास्टर से बातें करने लगा। आफिस के साहब ने देखा कि, इस व्यापारी के सिर पर बारह आने की गुलाबी रंग से रंगी हुई एक मोटी पगड़ी है। बदन में साधारण कमरी पहने हुए है। घुटने तक धोती है, जो फिड्डे जूतों के कारण कीचड़ से भर गयी है। वह आश्चर्य में आ गया। दूकानदार अपनी आवश्यक बातें करके जब वापस लौट गया, तो साहब ने अपने दलाल रामकिशनदासजी को बुलाया और पूछा कि, अभी जो व्यापारी आया था, उसमें कितने रुपये डिलेवरी के बाकी हैं? रामकिशनदासजी ने उत्तर दिया कि, सवा लाख। उत्तर सुनकर साहब हैरत में आ गया और बोला कि, रामकिशन! तुम ऐसे आदमी को सवा लाख रुपये डिलेवरी पर छोड़ता है, जिसके बदन पर न अच्छे कपड़े हैं और न पैर में अच्छी जूतियां! रामकिशनदासजी ने खड़े खड़े तुरंत जवाब दिया कि, हां, साहब यह सब ठीक है और यही कारण है कि, हम उसको सवा लाख रुपये उधार छोड़ते हैं। रामकिशनदासजी ने साहब को समझाया कि, जो व्यक्ति विशेष तड़क-भड़क से रहते हैं, गाडी घोड़े पर चढ़ते हैं और फैन्सी कपड़े पहनते हैं, वे प्रायः खर्चीले होते हैं तथा उनसे कमाने के लिए मेहनत मजदूरी का वास्तविक कार्य नहीं होता, उसका फल यह होता है कि, वे एक दिन फेल भी हो सकते हैं परन्तु हमने जिस दूकानदार को सवा लाख रुपये डिलेवरी पर छोड़ रखे हैं वह इतना मितव्ययी और परिश्रमी है कि, कभी फेल नहीं हो सकता। उत्तर सुनकर साहब चुप हो गया और डिलेवरी के सम्बन्ध में फिर कभी कुछ नहीं पूछा। कहने का मतलब यह है कि, हमारे पूर्वजों में मितव्ययिता का बड़ा गुण था और व्यापार करते हुए उनका लक्ष्य इन्हीं सब बातों पर रहता था।

पता चलता है कि, श्रीयुक्त धर्मचन्दजी केजड़ीवाल जो कि, उस समय सुप्रसिद्ध फर्म अणतरामजी शिवप्रसाद के मुनीम थे और व्यापार में जिनके नाम की धाक थी, वे रामकिशनदासजी के मित्र थे और उनका साथ होने के कारण रामकिशनदासजी ने अपनी बहुत उन्नति की। रामकिशनदासजी देखते-देखते इतने बड़े धनिक हो गये कि, उनकी गणना मारवाड़ी समाज में एक समय सर्वोच्च होने लगी थी। लेखक को याद है कि, प्रायः पचास वर्ष पूर्व वह देश में रहते हुए सुना करता था कि, कलकत्ते में 'नाभिलीवाले' हैं जिनके ३३ मकान हैं और ब्रह्मपुरी का सर्वाला करके दो रुपये ब्राह्मणों को दक्षिणा देते हैं। लिखने का मतलब यह है कि, उनका नाम पहले से ही बहुत बड़ा हो गया था। यह घराना 'नाभिलीवाले' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, इसका कारण यह है कि, जो व्यक्ति साधारण अवस्था से बहुत बड़ा धनिक बन जाता है, उसके सम्बन्ध में पहले की हीन अवस्था को याद करके जनता आश्चर्य करने लगती है और कहने लगती है कि, पहले क्या अवस्था थी और अब क्या हो गई। पता लगता है कि, उनके मातृकुल में किसी स्त्री का नाम नाभिली था। जब साधारण अवस्था बदल कर अच्छी अवस्था हो गई तो उसी के नाम पर यह घराना प्रसिद्ध हुआ।

रामकिशनदासजी के समय में कपड़े के व्यापारियों को बहुत मदद मिली थी। उससे उनका बहुत नाम हो गया था। रामकिशनदासजी के छोटे भाई का नाम हरकिशनदासजी था, जो उनसे भी कहीं अधिक बुद्धिमान् समझे जाते थे। सच तो यह है कि, रामकिशनदासजी ने अपनी उन्नति का पौधा लगाया था, उसके फूलने फलने में हरकिशनदासजी ने कम हिस्सा नहीं बँटाया। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण पेश करना उचित होगा, जिससे पाठक समझ सकेंगे कि, हरकिशनदासजी कितने होशियार और भ्रातृ-भक्त थे। कहा जाता है कि, हरकिशनदासजी की प्रतिभा इतनी अधिक थी कि, रामकिशनदासजी उनसे दबने लगे थे।

यही कारण था कि, रामकिशनदासजी ने पहले से ही एक चिट्ठी लिखा कर हरकिशनदासजी से दस्तखत करवा लिये थे कि, वे एक सौ रुपये मासिक लेंगे और उनका कोई सरोकार नहीं है। अवश्य ही रामकिशनदासजी का यह प्रयत्न श्लाघनीय नहीं था; परन्तु इससे हरकिशनदासजी की विशेपता तो प्रकट हो ही जाती है। कहा जाता है कि, जब रामकिशनदासजी मरने लगे तब उनकी इच्छा थी कि, हरकिशन को पांच सात लाख रुपये हाथ उठाये देकर बाकी सारी सम्पत्ति का मालिक अपने पुत्र गिरधारीलाल को बना देवें। यह घटना भी उल्लेखनीय है, क्योंकि पाठकों को पता लगेगा कि, मारवाड़ी जाति की अशिक्षिता स्त्रियों ने भी समय-समय पर बहुत बड़ी कर्त्तव्यपरायणता दिखाई है और कठिन से कठिन तथा अच्छे से अच्छे समय पर अपने पतियों को कर्त्तव्यच्युत होने से बचाया है। बात यह है कि, रामकिशनदासजी ने अपनी धर्मपत्नी से अपनी यह इच्छा जाहिर की, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। वह कहने लगी कि, हरशिनदासजी जो आपके मा-जाये भाई हैं, उनको हाथ उठाये रुपये दिये जांय और शेप सारी सम्पत्ति अपने पुत्र गिरधारीलाल को दी जाय जो कि, एक दत्तक लाया हुआ है। मैं नहीं समझ सकती कि, इसका कारण क्या है? हर-किशनदास आपका भाई है और जो स्टेट आपका है, उसमें 'एक चना दो दाल' होना ही तो उचित है। *मैं नहीं चाहती कि, मेरा बेटा बड़ा धनिक कहलावे और मेरा देवर हीन समझा जाय !'* कहने का मतलब यह है कि, उस देवी ने आधा-आधा हिस्सा करवा दिया। मारवाड़ी समाज में आजकल देखा जाता है कि, धन के पीछे भाई-भाई और बाप बेटे अक्सर लड़ा करते हैं और यह नहीं देखते कि, वास्तव में हक क्या है, उन्हें उपर्युक्त देवी के पवित्र भावों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

ये रामगढ़ के पोद्दार वंशीय अग्रवाल थे। अपने साहस के कारण संवत् १९०० के पूर्व ही कलकत्ते आये और छोटा-मोटा व्यापार करने लगे थे।

सोनीरामजी पोद्दार—

जब कलकत्ते में श्रीयुक्त रामलालजी और बाबूलालजी अग्रवालों ने अंग्रेजी आफिसों में काम करना शुरू किया तो ये भी आफिसों में काम करने लगे। ये प्रतिभासम्पन्न और व्यापारपटु तो थे ही, परिणाम यह हुआ कि, फ्लन्टर्स कम्पनी के स्वतंत्र दलाल बन गये। बाद में सोनी-किलबर्न कम्पनी आदि कई एक आफिसों में काम करने लगे थे। सोनी-किलबर्न की आफिस इनके मरने पर भी बहुत समय तक रही। इनके पौत्र श्रीयुक्त रंगलालजी पोद्दार ने बहुत समय तक इस आफिस में काम किया था। रंगलालजी मारवाड़ी समाज में शिक्षित माने गये और विशेष बुद्धिमान कहे जाने लगे। इनके सम्बन्ध में हम यथास्थान वर्णन करेंगे। सोनीरामजी के सम्बन्ध में हमें इतना ही और लिखना है कि, आप कुटुम्ब-पालक थे और जातीय भाव के पुरुष समझे जाते थे। यही कारण था कि, जब आफिसों में इनका दबदबा बढ़ा तो इन्होंने अपने सम्बन्धी श्रीयुक्त अर्जुनदासजी सरावगी (मोदी) को संवत् १९०५ में देश से बुलाया था। अर्जुनदासजी अपनी छोटी अवस्था में ही आगरे में सेठ गुरुसहायमल घनश्यामदास के यहां मुनीम थे और होनहार दिखाई पड़ते थे। उन्होंने यहां आकर सोनीरामजी की आफिसों का काम सम्हाला था।

वे दिगम्बर जैन धर्म को माननेवाले थे और चूरू के सुप्रसिद्ध मोदी घराने में उन्होंने जन्म धारण किया था। विक्रमी संवत् १९०५ में अपने सम्बन्धी

अर्जुनदासजी मोदी (सरावगी)—

श्रीयुक्त सोनीरामजी पोद्दार के बुलाने पर वे कलकत्ते आ गये और उनके साथ फ्लन्टर्स की आफिस में काम करने लगे। वे स्वभावतः तीव्र बुद्धि और संयमी थे। आफिस के काम में वे एक चलते पुर्जे

दलाल समझे जाने लगे। परन्तु अपने सम्बन्धी सोनीरामजी के पास रह कर काम करने में उन्हें अरुचि हो गई। इसका कारण एक तो यह था कि, सोनीरामजी के पुत्र बद्रीदासजी को उनके बड़े भाई भीमराजजी की पुत्री ब्याही थी, इससे सामाजिक रिवाज के कारण वे नीचे पद पर थे और अपने सम्बन्धी के यहां काम करने में सामाजिक एवं नैतिक पतन समझते थे। दूसरा कारण यह था कि, धार्मिक भावना उनमें बचपन से ही अधिक थी। व्यापारादि कार्य करने के सिवा उनका समय जैन सिद्धान्त के आर्षग्रन्थ 'गोमठ सार' आदि के अवलोकन तथा जप-जाप आदि में बीतता था। धार्मिक भावना होने के कारण स्वतंत्रता उन्हें बहुत प्रिय थी। सोनीरामजी के बहुत समझाने पर भी उन्होंने ब्रुन्टर्स आफिस का काम करना छोड़ दिया और श्रीयुक्त जुगलकिशोरजी रूइये की तमाखू-कम्पनी (Tobacco Co.) की आफिस में काम करने लगे। तमाखू कम्पनी में काम करना शुरू किया तब उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि, "मेरे पास ४० चालीस हजार रुपये नकद हो जायंगे तो कारबार करना छोड़ दूंगा और शेष जीवन धर्मध्यान में बिताऊंगा"। देखते-देखते कुछ वर्षों में ही उनके पास चालीस हजार रुपये हो गये और उनका नाम आफिसों में चमक उठा। परन्तु यह कब संभव था कि, इस उन्नत अवस्था में भी वे अपनी की हुई प्रतिज्ञा को भङ्ग कर देते। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तमाखू कम्पनी का काम भी छोड़ दिया। पता लगता है कि, श्रीयुक्त जुगलकिशोरजी और मनसारामजी रूइये ने उनको बहुत समझाया कि, 'आफिस के काम में तुम्हारी लियाकत बहुत बढ़ी चढ़ी है, कुछ ही समय में तुम्हारे पास लाखों रुपये हो जांयगे।' परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा के पक्के थे। किसी की भी बात पर ध्यान न देकर काम छोड़ ही तो दिया। उस दिन के बाद उन्होंने कारबार सम्बन्धी कोई काम नहीं किया और शांति का जीवन बिताने लगे। वे संयमी इतने थे कि, विक्रमी संवत् १६१३ से दिन में एक समय

भोजन करते थे। वे बासी भोजन न कर प्रति दिन ताजा भोजन करते थे। यहां तक कि, तुरन्त ताजा निकाला हुआ घृत और उसी समय बनाया हुआ पापड़ काम में लाते थे। भोजन करने के बाद दिन में केवल एक बार ही पानी पीते थे। यह अवस्था उनकी मरण पर्यन्त रही। बहुत वर्षों तक अपने कमाये हुए चालीस हजार रुपयों के ब्याज से खर्च चलाते रहे। बाद में पुत्र-पौत्रादि के होने से खर्च बढ़ गया और पास के रुपये शेष होने लगे तो वे अपने पौत्रों को व्यापार में होशियार करने के लक्ष्य से अपनी देखरेख में व्यापार कराने लगे। उन्होंने बहुत बड़ी उम्र पाई। बराबर कलकत्ते में ही रहे। प्रायः बीस वर्ष हुए, उनका ६४ वर्ष की अवस्था में शरीरान्त हो गया। उनकी ख्याति जैन समाज में बहुत थी। वे जैन सिद्धान्त के ज्ञाता और बड़े अनुभवी माने जाते थे। जैनी लोग उन्हें पण्डित कहा करते थे।

श्रीयुक्त अर्जुनदासजी इस पुस्तक के लेखक के ताऊ (ज्येष्ठ पितृव्य) होने के कारण पुरानी बातें बहुत कहा करते थे। हम जो यह प्रकरण लिख रहे हैं, इसका सम्बन्ध उनसे बहुत है, क्योंकि विक्रमी संवत् १९०५ के बाद की घटनाएँ उनकी आंखों देखी हैं तथा उससे पूर्व की बातें भी उनकी उन व्यक्तियों से सुनी हुई हैं जो कि, उस समय उपस्थित थे। अतएव लेखक को उनके द्वारा जो बातें मालूम हुईं, उनका महत्त्व बहुत अधिक है और तत्कालीन प्रायः सभी बातें उनके कथन के आधार पर ही लिखी गई हैं। हमने पहले श्रीयुक्त रामचरणदासजी सरावगी द्वारा मालूम की हुई बातों का जो वर्णन किया है, उसका प्रायः समर्थन उन्होंने किया था। यहां पर हमें अंग्रेजी आफिसों और अंग्रेज व्यापारियों के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखनी हैं, जो उनकी आंखों देखी और बर्ताव में आई हुई थीं।

उन्होंने कहा कि, "विक्रमी संवत् १९०५ में यहां आकर जब मैंने आफिस में काम करना शुरू किया, तो देखा कि, उस समय के अंग्रेज वास्तव में बनिये थे। उनमें राजसत्ता का घमण्ड और अनुचित अहंकार

नहीं था। वे हम लोगों के साथ ऐसे पेश आते थे, जैसे हमारे आश्रित होकर बर्ताव कर रहे हों। सच तो यह है कि, मारवाड़ी जाति की आर्थिक उन्नति उनसे हुई और उनकी उन्नति मारवाड़ी जाति से हुई। जहां वे बात के पक्के और उदार रहे, वहां मारवाड़ी जाति के व्यक्ति परिश्रमी, ईमानदार और सचाई के साथ लगन से काम करनेवाले सिद्ध हुए और अपने व्यापार में उन्होंने उन्नति की। अंग्रेजों को अपने व्यापार का विस्तार करने तथा मालामाल होने का साधन मारवाड़ियों द्वारा प्राप्त हुआ और मारवाड़ी जाति अंग्रेजों के संसर्ग से अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने तथा वाणिज्य-व्यापार में प्रमुख स्थान प्राप्त करने में समर्थ हुई।'

लेखक ने उनसे प्रश्न किया कि, 'यदि मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने अंग्रेजों को व्यापार करने में सहारा तथा साथ न दिया होता तो क्या यह संभव था कि, बंगाल में उनके व्यापार का इतना विस्तार होता, जितना कि, आज देखने में आ रहा है तथा देश की राजसत्ता उनके हाथ में इतनी मजबूत हो जाती, जितनी कि, आज सर्वव्यापक हो रही है?' इसके उत्तर में उन्होंने बतलाया कि, 'राजसत्ता के सम्बन्ध में असल में क्या होता, यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु मुझे याद है कि, उस समय देश में महारानी विक्टोरिया के नाम की ख्याति बहुत बढ़ रही थी और बंगाल के लोग यह समझने लगे थे कि, यवनों की राजसत्ता में आये दिन मार-काट, लूट-खसोट और व्यक्तिगत अत्याचार एवं अनाचार का भोग भोगना पड़ता था, अब उनका अन्त हो गया। सच तो यह है कि, उस समय जनता में एक प्रकार से रामराज्य की तरह सिंह बकरी एक घाट पानी पीनेवाली-सी भावना का उदय हो रहा था। ऐसी अवस्था में राजसत्ता के सम्बन्ध में भविष्य का कोई विचार करना, संभव ही नहीं था। रही बात वाणिज्य-व्यापार के सम्बन्ध की, इसके लिए मेरी धारणा तो यह है कि, उस समय बंगाल में अगर मारवाड़ी जाति के व्यक्ति व्यापार में प्रवेश

नहीं करते तो बंगाल में व्यापार का केन्द्र ही स्थापित न होता, क्योंकि इस प्रान्त के मूल निवासी बंगाली प्रकृत व्यापारी नहीं थे। वे चाहे अंग्रेजों के साथ काम कर सकते थे परन्तु उनमें स्वभावतः व्यापारिक साहस और अन्य प्रकार की पटुता नहीं थी जो कि, आगे चलकर बंगाल को व्यापार का केन्द्र बनाने में समर्थ होती। मेरी तो यह धारणा है कि, बंगाल में मारवाड़ी जाति के व्यक्ति व्यापार को न संभालते तो बहुत कुछ संभव था कि, अंग्रेजों के व्यापार का केन्द्र दक्षिण या पश्चिम प्रान्त में स्थापित होता और उसका सारा श्रेय बंबई या सूरत को मिलता।' उन्होंने कहा कि, 'मेरी राय में मारवाड़ियों ने बंगाल में अंग्रेजों के साथ जुट कर व्यापार विस्तार किया, इससे दोनों जातियों को आर्थिक लाभ तो हुआ ही, इसके अतिरिक्त बंगाल प्रान्त को भारत की राजधानी का पद भी प्राप्त हुआ और कलकत्ता भारत का प्रधान नगर बन गया।'

लेखक ने फिर पूछा कि, 'आपके कथन से मालूम होता है कि, उस समय राजनैतिक परिस्थिति ऐसी हो चली थी कि, भविष्य में क्या होगा, इसका विचार उठ ही नहीं सकता था और वाणिज्य-व्यापार में मारवाड़ी जाति के व्यक्ति अंग्रेजों का साथ न देते तो न तो वे अपनी अवस्था ही सुधार सकते थे और न कलकत्ता भारत की राजधानी होता। परन्तु आजकल के बङ्गाली इस बात को स्वीकार नहीं करते और वे यह समझते हैं कि, मारवाड़ियों ने यहां आकर उनके देश को चूस लिया। क्या उनका ऐसा समझना ठीक है ?'

उन्होंने कहा कि, 'मेरी राय में बंगाली भाइयों का ऐसा समझना युक्तिसंगत नहीं है। आज चाहे वे ऐसा समझने लग जांय, परन्तु उस समय ऐसा अनुभव करने का कोई कारण नहीं था। उस समय बंगालियों में न आज की तरह विद्या थी, न व्यापारपटुता थी और न देश के लिए स्वाभिमान था। यही कारण था कि, वे व्यापार तथा राजनीति में अपना कोई कर्त्तव्य पालन नहीं कर सके। मारवाड़ियों ने उस समय व्यापार

को संभाला तो कोई अपराध नहीं किया। वंगालियों को तो यह समझना चाहिए कि, मारवाड़ी उस समय न होते तो अंग्रेजी राजसत्ता में वङ्गाल की आज जो इतनी उन्नति हो रही है, वह न होती। मारवाड़ियों ने व्यापार में अंग्रेजों का साथ दिया, इसका निश्चित परिणाम यह हुआ कि, वंगाल में कलकत्ता भारत की राजधानी वन गया और उसे वह श्रेय प्राप्त हुआ जो कि, अन्य किसी भी शहर को प्राप्त नहीं हुआ। जो वङ्गाल एक समय कोरा कृपक वना हुआ था, उसमें राजधानी होने के कारण सभी प्रकार की उन्नति होने लगी, विद्या का यथेष्ट प्रचार हुआ। वङ्गाल विद्या में वृहस्पति समझा जाने लगा। वड़ी-वड़ी सरकारी नौकरियां उन्हें मिलने लगीं। व्यापार के कारण सारे देश का धन खिचकर वङ्गाल में आने लगा। हमारे वङ्गाली भाई जो यह कहते हैं कि, मारवाड़ी मोटे हो गये, किसी अंश में उनका यह कहना ठीक है, क्योंकि मारवाड़ी जाति में धन की वृद्धि अवश्य हुई है और एक व्यापार करनेवाली जाति के लिए ऐसा होना अनिवार्य भी है। पर उनका यह कहना कि, वंगाल का वड़ा नुकसान हुआ, यह ठीक नहीं है। मारवाड़ियों ने धन पैदा किया तो उन्होंने वंगाल को ही अधिकतर अपना घर वना लिया। जो सम्पत्ति उन्होंने जमा की है, वह कहीं ले नहीं गये प्रायः सवकी सव वंगाल में ही लगा रखी है। आज कलकत्ते में जो वड़ी-वड़ी अट्टालिकाएं और उच्च प्रासाद मारवाड़ियों के दिखाई पड़ते हैं, वे राजपूताने में नहीं जा सकते। आज उनकी करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति यहां के कल-कारखानों, शेयरों, और अन्य प्रकार के व्यापारों में लगी हुई है, वह वंगाल में ही है। वह राजस्थान नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त अपने जन्मस्थान राजपूताने का प्रेम और दर्शन, तीर्थस्थान वनता जा रहा है। संभव है कि, कुछ वर्षों में वे निश्चित रूप से वंगाल के ही होकर वंगाल में ही वास करने लगें और राजपूताने की केवल एक स्मृति मात्र वनी रह जाय। ऐसी अवस्था में उनका यह समझना कि, मारवाड़ी वंगाल को लूट रहे हैं,

निरर्थक प्रलाप है, इसमें कोई वास्तविकता नहीं। उन्हें तो यह समझना चाहिए कि, मारवाड़ी बंगाल का वैभव बढ़ा रहे हैं और उनके देश का उपकार कर रहे हैं। इसके विपरीत यदि वे होहल्ला मचावें तो यह केवल उनका दुराग्रह होगा। मैं तो यही कहूंगा कि, बंगाल प्रदेश में मारवाड़ी जाति को आर्थिक लाभ हुआ है तो बंगाल प्रदेश को मारवाड़ी जाति द्वारा उससे भी कहीं अधिक लाभ पहुंचा है। बंगाली भाइयों का कर्त्तव्य है कि, वे दुराग्रह के वशीभूत न होकर यह समझें कि, इस जाति का उनके देश पर बड़ा ऋण है और उन्हें इसका उपकार मानना चाहिए।'

श्रीयुक्त अर्जुनदासजी के सम्बन्ध में हमने इतना लिखा, वह लिखना आवश्यक था, क्योंकि उस समय का वर्णन एक तो उनका आंखो देखा था, जिससे बढ़ कर और कोई प्रमाण नहीं हो सकता। दूसरे बङ्गाल प्रदेश और मारवाड़ी जाति के सम्बन्ध में उनकी धारणा एक विशेष अर्थ रखती है।

ताराचन्द घनश्यामदास—

मारवाड़ी समाज में सेठ ताराचन्द घनश्यामदास का स्थान बहुत ऊंचा रहा है। इसका कारण यह है कि, एक तो यह घराना बहुत प्राचीन है। दूसरे इस घराने में अनेक व्यक्ति ऐसे हो गये हैं जिनमें धार्मिक भावना बहुत तीव्र थी और आचार-व्यवहार भी जिनका बड़ा पवित्र था। इस घराने के पूर्व पुरुष सेठ 'भगोतीरामजी' का नाम बड़ा प्रसिद्ध हुआ। आज भी यह घराना 'भगोतीरामजी' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वे अपङ्ग थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी साधारण थी। अपङ्ग होने के कारण उनका विवाह नहीं होता था। परन्तु किसी ब्राह्मण ने बड़ी चेष्टा कर उनका विवाह करा दिया था। सौभाग्य से उनको तीन पुत्रों की प्राप्ति हुई और उन तीन पुत्रों के आठ पुत्र हुए। इन्हीं आठ पुत्रों के नाम पर आठ घराने 'भगोतीरामजी वाले' कह

कर विख्यात हुए। भगोतीरामजी से लेकर अब तक इस घराने की सात आठ पीढ़ियाँ हो चुकी हैं। यही कारण है कि, सेठ ताराचन्द घनश्यामदास का फर्म आज 'सतपीढ़िया शाह' कहलाता है।

सेठ भगोतीरामजी बीकानेर राज्यान्तर्गत सुप्रसिद्ध शहर चूरू के आदि निवासी थे। वे अग्रवंशीय पोद्दार कहाते थे। उनके तीन पुत्र हुए, जिनमें सबसे बड़े पुत्र का नाम चतुर्भुजजी था। चूरू में उनकी पुरानी हवेली आज भी जतीजी के उपाश्रय के पीछे वर्त्तमान है। चतुर्भुजजी चूरू में रहते हुए जतीजी की बहुत सेवा किया करते थे। जतीजी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वे मन्त्रसिद्ध महात्मा और ज्योतिष के बड़े विद्वान् थे। उन्होंने चतुर्भुजजी को प्रदेश-यात्रा करने के लिए मुहूर्त बताया और कहा कि, इस मुहूर्त पर यात्रा करने से उनका सभी अभीष्ट सिद्ध हो जायगा। चतुर्भुजजी ने यात्रा की और पंजाब प्रान्त के भटिण्डा शहर में पहुंच कर दूकान खोली, जिससे मालामाल हो गये। यहां पर एक विशेष घटना का उल्लेख करना आवश्यक है कि, भटिण्डे में आकर चतुर्भुजजी दूकान का मुहूर्त कर रहे थे, उस समय असावधानी से उनकी पगड़ी के पेच में दीपक की लौ लग गई थी; उसी समय एक गर्भवती पनिहारिन सर पर पानी की भरी हुई दोघड़ लिए जा रही थी, वह रास्ते में चिल्ला उठी कि, 'नौहरिया तोरी लग गई'। * इस पर चतुर्भुजजी ने सावधान होकर पगड़ी के पेच को संभाला और आग बुझा दी, परन्तु इस घटना से वे चिन्तित से हो गये। पूजन करने के बाद वे उसी ज्योतिषी पण्डित के पास पहुंचे, जिसने दूकान का मुहूर्त बताया था। पण्डित ने उनका समाधान करते हुए कहा कि, 'साधारणतया ऐसी घटना शुभ कार्यों में अपशकुन मानी जाती है, तथापि पानी की दोघड़ लिए हुए गर्भवती पनिहारिन ने जो शब्द कहे, वे शुभ सूचक हो गये। अतः मुहूर्त अच्छा हुआ है। आप उत्साह के साथ अपना व्यवसाय शुरू कर

* पंजाब में मारवाड़ियों को 'नोहरिया' कह कर सम्बोधन किया जाता है।

दें।' चतुर्भुजजी ने वैसा ही किया और अनाजादि का व्यवसाय करने लगे। आगे चल कर एक घटना तो ऐसी विचित्र घटी कि, आर्थिक विषय में उनका भाग्योदय हो गया। कहते हैं कि, एक दिन रात के समय कतिपय यात्री चतुर्भुजजी की दूकान पर आये और खाद्य वस्तुएँ मांगने लगे। उन्होंने बताया कि, उनके पास नगद रुपये नहीं हैं। उनके पास पीतल की कतिपय थालियां हैं, उन्हें बेच कर बदले में वे रसद लेना चाहते हैं। चतुर्भुजजी व्यापारी थे और उस समय चीजों के फेरबदल में व्यापार भी हुआ करता था। उन्होंने पीतल की थालियां ले ली और आवश्यकतानुसार यात्रियों को खाद्य वस्तुएँ दे दी। दूसरे दिन बड़े सबेरे जब कि, सदा की तरह वे शौचादि करने शहर के बाहर गये तो क्या देखते हैं कि, कुछ तम्बू लगे हुए हैं और उनमें आग लग रही है। पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि, कुछ डाकुओं ने रात को अपना डेरा लगाया था, परन्तु बाद में उनको सूचना मिली कि, पीछा करनेवाले लोग आ रहे हैं, तो पकड़े जाने के डर से अपने तम्बुओं में आग लगा कर वे भाग गये। चतुर्भुजजी ने समझा कि, रात को रसदादि ले जानेवाले वे ही व्यक्ति थे। वे अपनी दूकान पर आये और रात को ली हुई थालियों को छिपाने की चेष्टा करने लगे। परन्तु देखते क्या हैं कि, वे थालियां पीतल की नहीं, बल्कि सोने की हैं। वे चकित हो गये, परन्तु डाकुओं का माल पकड़े जाने के भय से वे घबरा गये। जब कोई दूसरा उपाय नहीं सूझ पड़ा तो, उन थालियों को उन्होंने अनाज के ढेर में छिपा दिया। बाद में उन्हें खबर मिली कि, जले हुए तम्बुओं की चीजें नीलाम की जा रही हैं तो इस अवसर को चतुर्भुजजी ने बड़ा अच्छा समझा और नीलाम करनेवाले हाकिम के पास पहुंच कर एक साथ कुल सामान एक मुश्त रकम में खरीद लिया और सभी सामान अपने यहां ले आये। कहावत है कि, 'मनुष्य का दिन जब सीधा होता है तो धन छप्पर फाड़ कर बरसता है' यही अवस्था चतुर्भुजजी की हुई। लाये हुए सामान में घोड़ों के कुछ

'पावरे' भी थे जो कि, चमड़े के होते हैं और घोड़ों को दाना खिलाने के काम में आते हैं जिन्हें कहीं-कहीं पर तोवरे भी कहते हैं। उनमें कई तोवरे ऐसे मिले जो सोने चाँदी के जेवर तथा हीरे, मोती, पन्ने और माणिकों से भरे हुए थे। मालूम होता था कि, डाकुओंने लूट में वे सब चीजें प्राप्त की थीं। चतुर्भुजजी ने तोवरों से सभी चीजें निकाल कर चुपचाप एक गठड़ी में बांध कर अनाज में छिपा दी। उसी दिन से वे बड़े धनशाली बन गये।

पता लगता है कि, चतुर्भुजजी ने अपने जीवन में तीन वार पंजाब की यात्रा की थी और प्रत्येक यात्रा तीन वर्ष की होती थी। लोगों का कहना है कि, इन तीन यात्राओं में उन्होंने लगभग एक करोड़ की सम्पत्ति प्राप्त की थी।

उसके बाद वे अपने जन्मस्थान चूरू में ही रहने लगे और कई प्रान्तों में उनकी दूकानें सुदक्ष गुमाश्तों द्वारा चलती थीं। अमृतसर की दूकान में पशमीने का काम बहुत होता था। बिलोचिस्तान से लाखों रुपयों का पशमीना आता था और अमृतसर की दूकान में बिकता था। कहते हैं कि, बिलोचिस्तान से पशमीना लेकर जो कतार आया करती थी उसकी जकात के सम्बन्ध में चूरू के ठाकुर साहब के साथ उनका वैमनस्य हो गया था। इस पर चतुर्भुजजी सीकर के राव राजा देवीसिंहजी से मिले और उनके राज्य में बसने का निश्चय कर लिया। चूरू से ५ कोस पर 'नौशा' गांव था, जिसे लोग 'ढाणी' भी कहा करते थे और यह ग्राम सीकर की हद में था। चतुर्भुजजी अपने पिता श्री भगवतीरामजी को साथ लेकर परिवार सहित 'नौशा' ग्राम में आ गये। वहां पहुंच कर उन्होंने दो हवेली बनवाई और वहीं रहने लगे। सेठजी के आ जाने से और भी कई ग्रामों के लोग आकर बसने लगे और नौशा ग्राम का नाम बदलकर सेठों का रामगढ़ हो गया। *

---

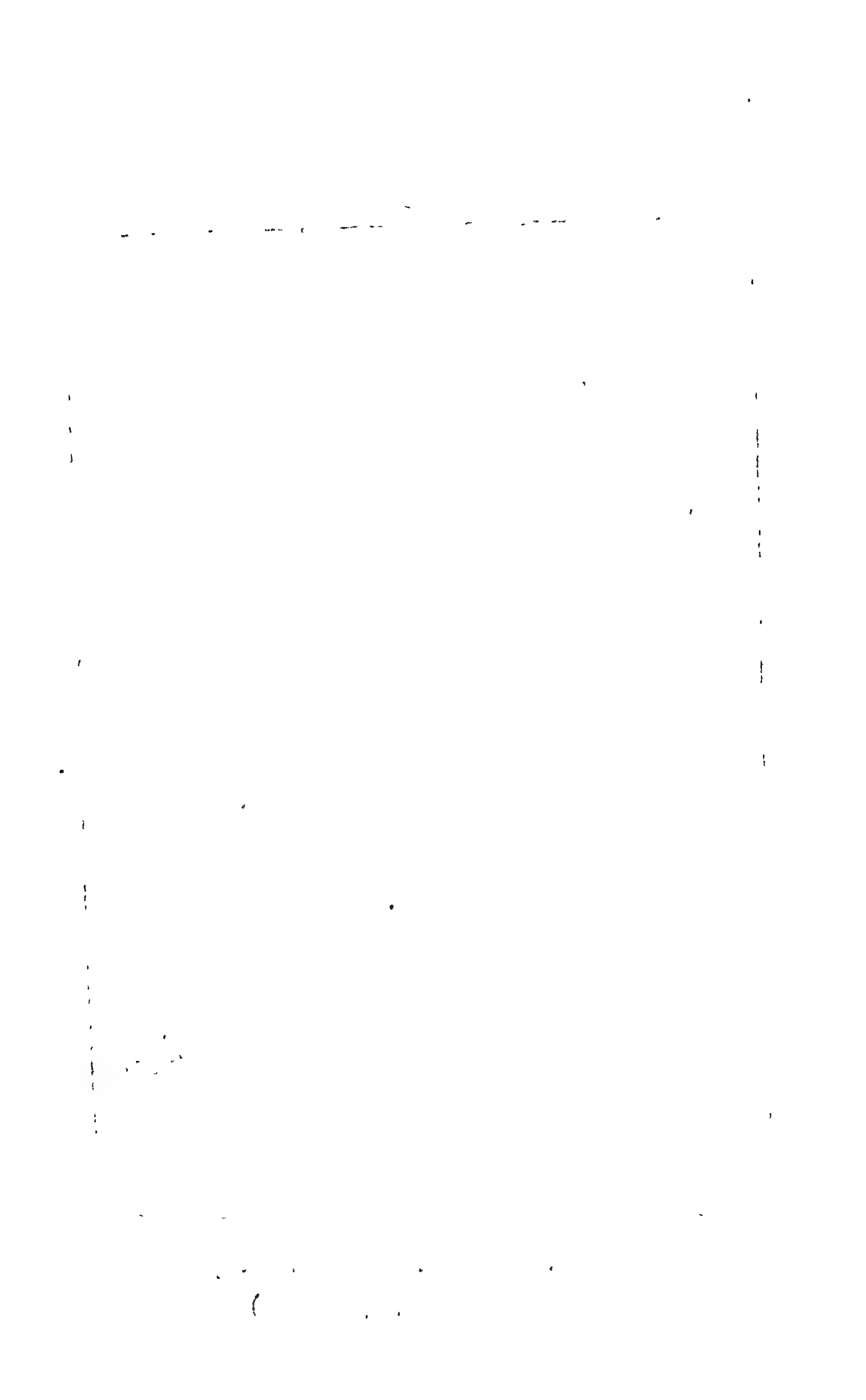
* प्रसङ्गानुसार यहां पर एक बात का वर्णन करना बहुत आवश्यक है। इससे पाठकों को पता लगेगा कि, उस समय राजस्थान के लोगों में कितनी

हम यहां पर चतुर्भुजजी के द्वितीय पुत्र सेठ ताराचन्दजी के वंशजों के सम्बन्ध में कुछ लिखेंगे, जिनमें कतिपय व्यक्ति बहुत ही प्रसिद्ध और धर्मात्मा हो गये हैं। ताराचन्दजी बड़े ही सरल स्वभाव के, संयमी और धार्मिक पुरुष थे। उनके दो पुत्र गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी हुए।

अधिक नैतिकता थी और अपनी बात को कायम रखने के लिए वे कहां तक स्वार्थ त्याग कर सकते थे। इस सम्बन्ध में एक परवाना हमारे देखने में आया जो उस समय चूरू के ठाकुर साहब की ओर से राज्य के मोदी चिमनरामजी के नाम लिखा गया था। वह परवाना हमने पूज्यपाद चिमनरामजी मोदी के वंशज गुड़ग्राम निवासी भाई हरकृष्णदासजी के पुत्र चि० मुन्नालाल के पास प्रायः ३० वर्ष पूर्व देखा था। उस परवाने के लिखने का कारण यह था कि, पोद्दार वंशीय सेठ चूरू से उठकर नौशा ग्राम में चले गये तो, इस घटना से चूरू के ठाकुर साहब को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पहले बहुत प्रयत्न किया कि, पोद्दार वंशीय सेठ चूरू का परित्याग न करें। परन्तु इस कार्य में वे सफल नहीं हुए और जब सेठ लोग चूरू छोड़ कर चले ही गये तो उन्होंने इस लक्ष्य से अनशन करना शुरू किया कि, 'जब तक सेठ लोग लौट कर चूरू न आ जावेंगे मैं थाल पर नहीं बैठूंगा।' उन्होंने अपने दरबार में एक 'बीड़ा' रखा। प्राचीन समय में यह चाल थी कि, किसी कठिन काम को करने के लिए दरबार में पान का बीड़ा रखा जाता था और वह बीड़ा जो व्यक्ति उठाकर खा लेता, उसकी जिम्मेदारी यह हो जाती थी कि, या तो वह उस काम को पूरा कर सम्मान प्राप्त करता या फिर से अपना मुंह नहीं दिखाता। ठाकुर साहब ने अपने दरबार में जब बीड़ा फेरा तो उस काम को सीधा करने का साहस किसी को नहीं हुआ। इस पर ठाकुर साहब और भी अधिक दुःखी हुए और कहने लगे कि, 'क्या मेरे यहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं कि, इस कार्य को कर सके?' इस प्रकार ठाकुर साहब को निराशा और दुःखी देख कर राज्य के मोदी चिमनरामजी ने अर्ज की कि, 'इस बीड़े को मैं उठा सकता हूं बशर्ते कि, ठाकुर साहब यह स्वीकार करें कि, मैं जो भी कर

ये दोनों भाई बहुत ही अधिक प्रसिद्ध हुए। राजपूताने में 'हरसा घुरसा' कह कर आज भी इन दोनों भाइयों के सद्गुणों की प्रशंसा होती है। इनमें गुरुसहायमलजी तो बहुत ही आदर्श पुरुष माने जाते हैं। स्थानीय 'वैश्यो पकारक' में पंडित माधवप्रसादजी मिश्र ने इनकी जीवनी में लिखा था

आऊंगा वह उनको स्वीकार होगा।' ठाकुर साहब ने यह मंजूर कर लिया और चिमनरामजी सेठों के पास नौशा ग्राम में गये। उन्होंने सेठों को समझाने में कोई प्रयत्न बाकी नहीं रखा परन्तु सेठ लोग राजी नहीं हुए। प्रकारान्तर से कहने लगे कि, वे लोग जो चाहते हैं वह काम उन से पूरा हो नहीं सकता। पर चिमनरामजी के लिए ऐसी कोई बात ही नहीं थी जिसे वे पूरा नहीं कर सकते थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा कि, ऐसा कोई भी कठिन काम नहीं है जिसे चूरू के ठाकुर साहब द्वारा 'चिमना मोदी' नहीं करा सकता। इस पर फिर बाद विवाद हुआ। आखिर चिमनरामजी ने बहुत अधिक दबाव डाला तो सेठ लोग कहने लगे कि, वे लोग जो बात चाहते हैं, वह उनसे न हो सकेगी। इस पर चिमनरामजी ने फिर कहा कि, 'चिमना मोदी' उनकी मांग पूरी न कर सकेगा तो आइन्दा मुंह भी नहीं दिखावेगा। तब सेठ जी ने कहा कि, 'तुम्हारी इतनी ही जिद है तो सुनो। हम चाहते हैं कि, गढ़ के मुंह आगे की सब दूकानें और उत्तराधे बाजार में छोटे महादेव तक सारा बाजार हमें दिया जाय। परन्तु गढ़ के मुंह आगे की सब दूकानें और हवेली से सटी हुई कोठी तथा दूकानें तुम्हारी हैं। क्या तुम हमें देना स्वीकार करोगे?' इस पर चिमनरामजी हँसे और कहने लगे कि, 'यह तो कोई भारी बात नहीं है। जब मैं बीड़ा चबाकर आया हूं तो अपना सर्वस्व देकर भी आपको राजी करूंगा। मेरी कोठी और सब दूकानें मैं आपको देना स्वीकार करता हूं, आप वापस पधारें।' इस पर सेठ लोग राजी हो गये और वापस चूरू आ गये। यद्यपि उस परवाने से यही पता लगता है कि, सेठ लोग वापस आ गये तो चिमनरामजी पर ठाकुर साहब बहुत खुश हुए और उनके सम्मानार्थ एक दरबार किया गया तथा वह पर-





स्वर्गीय सेठ घनश्यामदासजी पोद्दार
(फर्म—ताराचंद घनश्यामदास)

कि, दिल्ली और पंजाब में गुरुसहायमलजी की सत्यवादिता बड़ी प्रसिद्ध हो गयी थी। परस्पर बात करते हुए लोग कहा करते थे, 'तू बड़ा गुरुसहायमल है जो झूठ नहीं बोलेगा' इनके सम्बन्ध में और भी कई एक कहावतें और किम्बदन्तियां सुनी जाती हैं जिनसे मालूम होता है कि, ये बड़े संयमी और नाड़े के जती थे। इस घराने की बहुत अधिक प्रसिद्ध हुई।

गुरुसहायमलजी के केवल एक पुत्र घनश्यामदासजी हुए। वे बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने सेठाई का पालन राजसी ठाठ से किया। आज मारवाड़ी समाज में बड़े-बड़े धनिकों की कमी नहीं परन्तु घनश्यामदासजी की तरह सेठाई सम्बन्धी कर्त्तव्य पालन करनेवाले कितने व्यक्ति

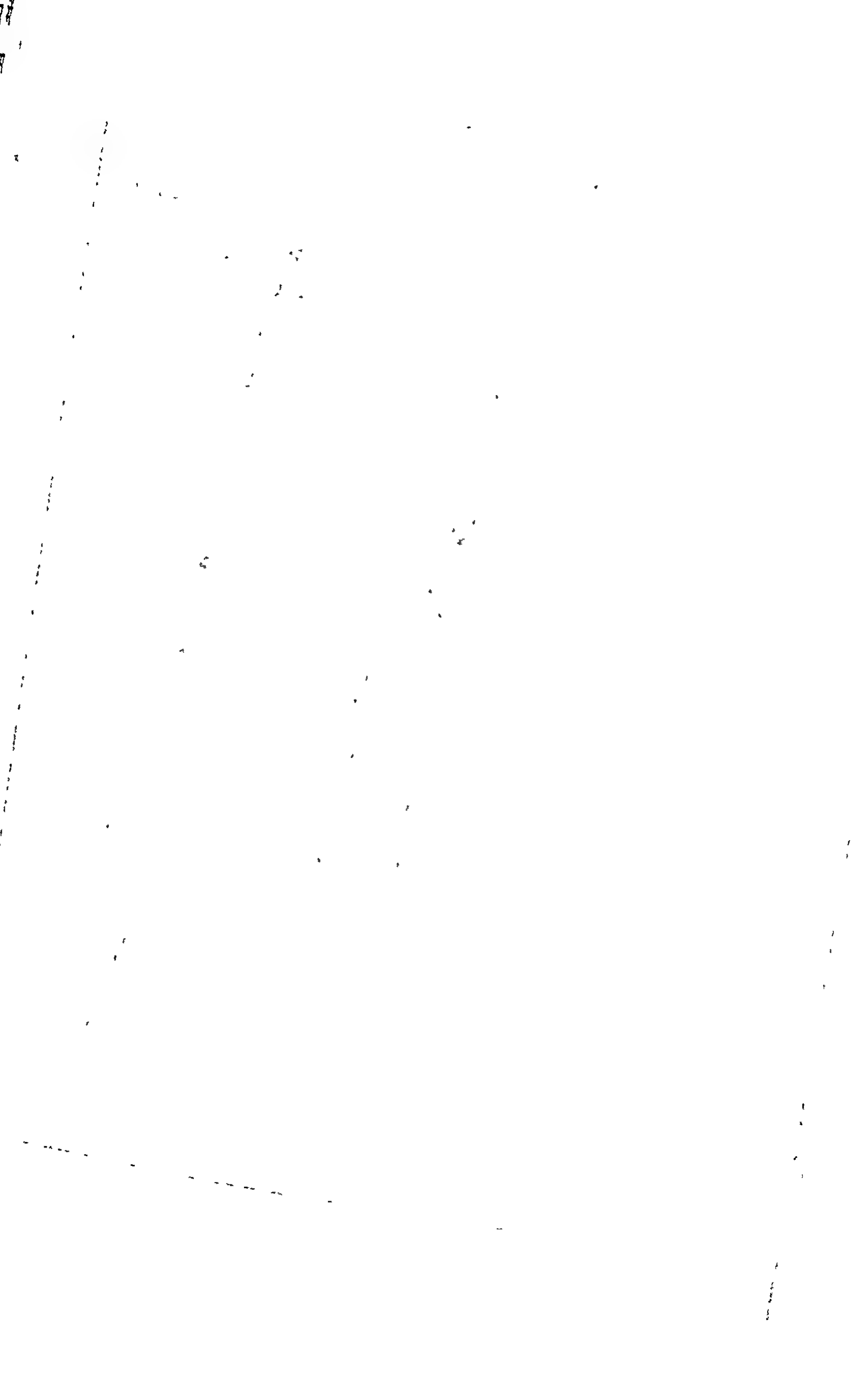
वाना लिखा गया जिसमें उन्हें कई प्रकार के अधिकार दिये गये थे तथा सिरोपाव आदि भी बकसीस किये गये थे। इन सभी बातों का उल्लेख उस परवाने में किया गया है। परन्तु यहां पर एक बात स्पष्ट नहीं होती कि, सेठ चतुर्भुजजी वापस आये या नहीं। जनश्रुति तो यह है कि, उस समय तो चतुर्भुजजी भी आ गये थे पर बाद में फिर चले गये थे। यह निश्चित है कि, चतुर्भुजजी के तीन पुत्रों में जिदारामजी अवश्य आ गये थे और उनके वंशधर आज तक भी चूरू में ही रहते हैं। उनके वंश में श्री मिर्जामलजी ने चूरू में बड़ा नाम प्राप्त किया। कहते हैं कि, राज्य की ओर से उनको बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त था। इस समय सेठ चतुर्भुजजी के तीन पुत्रों में से बड़े पुत्र जिदारामजी के वंशज तो चूरू में ही निवास करते हैं और ताराचन्दजी तथा जौहरीमलजी की सन्तानें रामगढ़ में रहती हैं।

यहां पर यह लिखना शायद अनुचित न समझा जायगा कि, श्रीयुक्त चिमनरामजी मोदी इस पुस्तक के लेखक के प्रपितामह थे। अतः लेखक को गर्व है कि, उसके पूर्वज ने अपनी बात को बनाई रखने के लिए इतना त्याग किया था। इस घटना की सचाई का प्रमाण चूरू में आज भी मिलता है, जैसा कि, हमारी पुरानी हवेली के इर्द-गिर्द सभी मकानात प्रायः पोद्दारों के अधिकार में देखे जाते हैं।

हैं ? उनके ६ पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटे पुत्र बद्रीदासजी का अल्पायु में ही शरीरांत हो गया। शेष पांच पुत्रों ने भिन्न-भिन्न रूप से बड़ा नाम पाया। इनमें सबसे बड़े पुत्र लक्ष्मीनारायणजी और जयनारायणजी बड़े ईश्वरभक्त और दानी हुए। कहा जाता है कि, लक्ष्मीनारायणजी को पिता की सम्पत्ति से उनके हिस्से के तीन लाख रुपये नगद मिले थे परन्तु वे रुपये उन्होंने सबके सब दान कर दिये। बरसाने में उन्होंने एक बड़ा भारी देव-मन्दिर बनाया और बड़ी शान्ति के साथ वहीं निवास किया। उनकी सन्तानें आज भी वहीं रहती हैं। जयनारायणजी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वे बड़े भक्तराज थे और स्वप्न में उन्हें श्री राधा-गोविन्दजी का दर्शन होता था। जो भी कुछ हो, परन्तु यह निश्चित है कि, घनश्यामदासजी के इन दोनों पुत्रों ने ईश्वर-भक्ति और दानशीलता में बड़ा नाम पाया था। जयनारायणजी के पुत्रों में कन्हैयालालजी की ख्याति आज भी बहुत है। यद्यपि उन्होंने वाणिज्य-व्यापार में सफलता प्राप्त नहीं की तथापि विद्या-बुद्धि में वे बड़े दक्ष समझे जाते हैं। हिन्दी साहित्य के बड़े विद्वान् हैं। उन्होंने हिन्दी में कई काव्य ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें 'अलंकार प्रकाश' का हिन्दी साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान है।

घनश्यामदासजी के शेष तीन पुत्रों में कनिष्ठ पुत्र मुरलीधरजी ने प्रायः ३० वर्ष की अवस्था में ही स्त्री वियोग होने पर धन-धान्य और सन्मान से पूर्ण घर को छोड़ दिया और उत्तराखण्ड में भगवे वस्त्र धारण कर रहने लगे। अभी हाल में ही उनका स्वर्गवास हुआ है।

अब हमें राधाकृष्णजी और केशवदेवजी के सम्बन्ध में लिखना है, जिन्होंने सेठ ताराचन्द घनश्यामदास के फर्म में सर्वाधिकार प्राप्त करते हुए पूर्वजों की कीर्ति का भली प्रकार विस्तार किया। राधाकृष्णजी सीता-राम के भक्त थे। उन्होंने जन्म के अमीर बन कर जिस प्रकार ऐश आराम किया तथा वास्तव में कैसा सेठ होना चाहिए इसका उन्होंने जो परिचय दिया, वह अनुकरणीय था। उनमें सरलता, उदारता और बड़प्पन बहुत अधिक





स्वर्गीय राधाकृष्णजी पोद्दार
(फर्म—सेठ ताराचन्द घनश्यामदास)

था। युवावस्था से लेकर प्रौढ़ होने तक उन्होंने अपनी प्रतिभा का बड़ा विस्तार किया और वृद्ध होने पर चित्रकूट में एकान्त वास करते हुए विक्रमी सं० १९७६ में शरीर छोड़ दिया। उनके चार पुत्र हैं, जिनके सम्बन्ध में हम आगे चल कर लिखेंगे। सेठ घनश्यामदासजी के पुत्रों में केवल केशवदेवजी ही अभी विद्यमान हैं। राधाकृष्णजी जिस प्रकार सरल प्रकृति, महान् उदार और श्लाघनीय प्रकृति के सेठ हुए उसी प्रकार केशवदेवजी के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि, उनमें राजवर्गीपन, ओज और स्वाभिमान वहुत अधिक है तो शायद अत्युक्ति न होगी। इस समय वे घर गृहस्थी के झंझट को छोड़ कर हरिद्वार में गंगाजी के तट पर एक विशाल भवन बना कर शान्ति से रहते हैं। सच तो यह है कि, इस घराने के व्यक्तियों में यह एक विशेषता देखी जाती है कि, युवा तथा प्रौढ़ अवस्था में पूर्ण रूप से भोग-विलास में रहने पर भी जीवन का अन्तिम समय प्रायः सभी व्यक्तियों ने बड़ी शान्ति के साथ व्यतीत किया है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हुआ हो जिसने किसी पवित्र तीर्थस्थान के सिवाय घर में ही शरीर त्यागा हो।

यहां पर यह भी बताना आवश्यक है कि, इस घराने के व्यक्तियों ने अपने विशाल कारबार को स्वयं कभी नहीं सम्हाला। जहां-जहां काम रहा प्रायः गुमाश्तों द्वारा ही होता रहा। इस फर्म के गुमाश्ते भी समय-समय पर बड़े प्रसिद्ध हुए जिन्होंने फर्म की बड़ी सेवाएं की और उसे हानियों से बचाकर उन्नति के चरम शिखर पर चढ़ाया।

आज के प्रायः ४० वर्ष पूर्व एक बार इस फर्म की अवस्था कुछ संदिग्ध हो चली थी। इसका कारण यह था कि, नाम बहुत बड़ा होने से खर्च वेहद बढ़ गया था। आय कम हो चली थी। सेठ राधाकृष्णजी और केशवदेवजी अपने घराने के नाम के अनुसार खर्च करते थे। उन्होंने कारबार को न कभी सम्हाला था और न सम्हालने की इच्छा रखते थे। इसी का परिणाम यह हुआ कि, फर्म की आर्थिक अवस्था कमजोर हो गई।

परन्तु प्रायः देखा जाता है कि, पुण्य का जोर होता है तब आप से आप अच्छी प्रेरणा हो जाया करती है। उस संदिग्ध अवस्था में कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि, श्री हरदत्तरायजी प्रह्लादका ने फर्म का काम अपने हाथ में ले लिया। सेठ राधाकृष्णजी और केशवदेवजी ने उन्हें इतना अधिकार दे दिया कि, हरदत्तरायजी के प्रवन्ध के अनुसार वे चलने लगे। हरदत्तरायजी ने आवश्यक खर्च के सिवाय सभी खर्च घटा दिये। यहां तक कि, सेठ राधाकृष्णजी और केशवदेवजी को भी निश्चित खर्च करने के लिए मजबूर होना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि, दिन प्रति दिन खर्च में दबते हुए फर्म को सहारा मिला और उसका ह्रास होना वन्द हो गया। एक तरफ हरदत्तरायजी ने आय के अनुसार खर्च का प्रवन्ध किया, दूसरी ओर उन्हें श्रीयुक्त जयनारायणजी पोद्दार का साथ मिला जिससे व्यापार में उन्नति करने का साधन उपस्थित हो गया। यद्यपि जयनारायणजी पहले से ही बुद्धिमान समझे जाते थे तथापि उस समय तक उनको कोई ऐसा मैदान नहीं मिला था कि, वे अपनी विशेपता प्रकट कर सकते। परन्तु उस समय इन दोनों मुनीमों ने मिलजुल कर ऐसा उद्योग किया कि, व्यापारिक स्थिति ही वदल गयी। जयनारायणजी ने कलकत्ते की दूकान के प्रधान मुनीम वन कर फर्म की काया पलट दी।

हरदत्तरायजी भी उनके साथ प्रायः कलकत्ते में रहने लगे। यद्यपि उस समय फर्म में बड़ी चतुराई से उन्होंने शावालेस कम्पनी Shaw Walace Company को प्राप्त कर यह दिखा दिया कि, बुद्धिमान् और कर्मशील व्यक्ति क्या नहीं कर सकते। यह भी सुना जाता है कि, उस समय सेठ दुलीचन्दजी ककरानिया ने इस काम में उनको बड़ी सहायता दी थी और बाद में रामनिरंजनदासजी मुरारका को साझे में मिला कर इस प्रकार का काम किया कि, प्रति वर्ष लाखों रुपये पैदा होने लगे। केवल फर्म की ही वहुत वड़ी आर्थिक उन्नति हुई हो यही नहीं, बल्कि हरदत्तरायजी और जयनारायणजी भी वहुत वड़े धनशाली बन गये।

जयनारायणजी में व्यापार की जितनी योग्यता थी, उतनी ही उनमें सभाचातुरी भी थी। वे नीतिज्ञ भी बहुत थे। कलकत्ते में मारवाड़ी समाज की बड़ी पंचायत में फर्म की ओर से सरपंची के आसन पर जयनारायणजी ही बैठते थे। जयनारायणजी ने पंचायत का जैसा ओज के साथ संचालन किया, समाज के इतिहास में वह एक दृष्टान्त हो गया है। सभा व पंचायत में ओज के साथ युक्तियुक्त तुले हुए शब्दों में बोलने की शक्ति जितनी जयनारायणजी में थी, वैसी आज किस में है? विक्रमी संवत् १६८१ में उनका देहावसान होने के बाद उनके जैसा प्रतिभाशाली व्यक्ति समाज की सभा व पंचायत में कोई नहीं रहा और आज समय-समय पर लोग उनको याद करते हैं। मारवाड़ी समाज के कर्मक्षेत्र में जयनारायणजी का बड़ा भाग रहा है। इस सम्बन्ध में विस्तार के साथ प्रसंगानुसार हम आगे चल कर लिखने की चेष्टा करेंगे। यहां पर यही कहना है कि, सेठ ताराचन्द घनश्यामदास के फर्म में हरदत्तरायजी प्रहलादका और जयनारायणजी पोद्दार का स्थान यद्यपि गुमाश्तों के रूप में था परन्तु यथार्थ में मालिकों को भी उनकी इच्छा देख कर काम करना पड़ता था।

सेठ राधाकृष्णजी के चार पुत्र हुए—रघुनाथप्रसादजी, जानकीप्रसादजी, लक्ष्मणप्रसादजी और हनुमानप्रसादजी। इसके अतिरिक्त केशवदेवजी के दो पुत्र हुए—श्रीनिवासदासजी और बालकृष्णदासजी। यहां यह कहना अयुक्त न होगा कि, इस घराने में अब बहुत बड़ा परिवर्तन होने लगा है। पूर्वजों में जहां बहुत अधिक धार्मिकता और आचार-व्यवहार का परहेज था, उसमें अब परिवर्तन हो रहा है और इस घराने के व्यक्ति नये विचारों की ओर झुकने लगे हैं। केवल श्रीनिवासदासजी ही ऐसे दीख पड़ते हैं कि, पुराने ढंग से रहना पसन्द करते हैं। परन्तु अन्य प्रायः सभी भाई अब समय के अनुसार नये रङ्ग-ढङ्ग में ढलने लगे हैं। उनमें पुरानी बातों में सुधार करने की भावना जाग्रत हो रही है।

लक्ष्मणप्रसादजी तो सकुटुम्ब विदेश भी हो आये हैं। वे सभी भाई वड़े मिलनसार और निरभिमानी हैं। हनुमानप्रसादजी राष्ट्रसेवी तथा साहित्य-प्रेमी हैं और इस समय वंगाल कौंसिल के सदस्य भी हैं।

हमने इस घराने के सम्बन्ध में इतने विस्तार के साथ लिखा, इसका कारण यही है कि, यह घराना एक तो प्राचीन काल से आदर्श घराना माना जाता रहा है। दूसरे इसमें जो भी कुछ परिवर्तन हुए और हो रहे हैं, उनका प्रभाव समाज पर पड़ता है।

हरनन्दराय फूलचन्द—

पहले इस फर्म का नाम मखनलाल फूलचन्द था। वाद में हरनन्दराय फूलचन्द हुआ। इस फर्म की ख्याति मारवाड़ी समाज में वहुत अधिक हुई। मारवाड़ी समाज की वड़ी पंचायत में इस फर्म का स्थान पांच पंचों में रहा। इस फर्म के गुमाश्ते लक्ष्मीनारायणजी कानोड़िया की गणना समझदार मुनीमों में होती थी। फर्म की ओर से वे ही पंचायत में प्रतिनिधित्व करते थे। फर्म की उन्नति के साथ उन्होंने अपनी भी वहुत उन्नति की। देखते-देखते वे लाखों रुपयों के स्वामी वन गये। वे वड़े दक्ष व्यापारी थे। मकलोड कम्पनी में 'सूरा जूट मिल' के निर्म्माण में उनका प्रधान हाथ रहा। उन्होंने वनारस में अपने पिता के स्मरणार्थ 'श्रीराम लक्ष्मी-नारायण कानोड़िया अस्पताल' ५ लाख रुपये लगा कर वनाया, जो आज भी उनकी दानशीलता का द्योतक वना हुआ है।

सेवाराम कालूराम—

यह फर्म भी रामगढ़ के पोद्दारों का था। इसकी गणना भी पंचायत के पांच पंचों में होती थी। इस फर्म का सराफी का कारवार वड़ा मशहूर रहा। इस फर्म में सेठ मिर्जामलजी का देश में वड़ा नाम हुआ और आज भी इस फर्म की अच्छी अवस्था है।

श्रीराम कानोड़िया अस्पताल, बनारस के निर्माता



स्वर्गीय लक्ष्मीनारायणजी कानोड़िया

ये शेखावाटी मलसीसर से चलकर लगभग वि० संवत् १९०० में यहां आ गये थे। ये बड़े परिश्रमशील और कर्मठ व्यक्ति थे। इनके फर्म का नाम पहले 'सेढ़मल शिखरचन्द' बाद में 'सेढ़मल दयाचन्द' हुआ। सेढ़मलजी ने पहले पहल विलियम सन कम्पनी की आफिस का काम करना शुरू किया था और बाद में स्टुदर कम्पनी की आफिस भी इनके हाथ में आ गई। कुछ समय तक खेतू बाबू खत्री के साझे में 'ग्राहम कम्पनी' का काम भी सँभाला था। बाद में विलियम सन कम्पनी का नाम बदल कर 'जार्जहण्डरसन' हो गया और इस समय 'जारडिन स्किनर' के नाम से इनके खान्दान में यह आफिस बनी हुई है। जिन-जिन आफिसों में इन्होंने काम किया, इनकी दक्षता प्रकट हुई। इनके पुत्रों में दयाचन्दजी बड़े व्यवहारकुशल और प्रतिष्ठित व्यक्ति हुए। आपका गार्हस्थ्य जीवन अनुकरणीय था। आपने अपने फर्म की बहुत इज्जत बढ़ाई। आफिस के काम में आपने दलाली और कमीशन के अतिरिक्त अन्य प्रकार का व्यक्तिगत स्वार्थ साधन नहीं किया। उस समय माल के चलते नम्बरों की बड़ी इज्जत थी और व्यापारी वर्ग जागीर के रूप में लाभ उठाते थे। परन्तु दयाचन्दजी ने कभी भी स्वयं लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की। जिस नम्बर का माल जिस व्यापारी के नाम सेल होता था उन्होंने कभी दूसरे को सेल नहीं किया। आप श्रावक समाज के माने हुए पञ्च थे। आपने बेलगछिया के जैन उद्यान में दो अढ़ाई लाख रुपये लगा कर एक दर्शनीय मन्दिर बनवाया। आपके पुत्र बलदेवदास और महावीरप्रसाद सुयोग्य व्यक्ति हैं। वे इस समय 'कलकत्ता जूट कम्पनी' और अन्य कई कम्पनियों का संचालन योग्यतापूर्वक करते हैं।

सेढ़मलजी सरावगी—

गोयनका परिवार

कलकत्ते के मारवाड़ियों में गोयनका परिवार का बहुत बड़ा नाम हुआ। शेखावाटी डूंडलोद से चल कर श्रीयुक्त जौहरीमलजी, रामदत्तजी और तुगनरामजी विक्रमी संवत् १८९० के लगभग कलकत्ते आ गये थे। हमने

पहले वतलाया है कि, उस समय कलकत्ते में सेवाराम रामरिखदास का फर्म बड़ा प्रसिद्ध था और वड़ा कारवार होता था। सर्व प्रथम इन्होंने इसी फर्म के साथ संसर्ग स्थापित किया। वाद में रामदत्तजी इस फर्म के स्थायी मुनीम हो गये और वड़े दक्ष कार्यकर्त्ता समझे गये। रामदत्तजी के सम्बन्ध में उस समय की वहुत सी वातों को हमने नाथूरामजी सराफ की जीवनी में लिखा है, जिससे पाठक समझ गये होंगे कि, रामदत्तजी का कार्य जात्युन्नति के लिए कितना महत्त्वपूर्ण होता था। सच तो यह है कि, उन्हीं के समय में मारवाड़ियों का अंग्रेजी आफिसों में प्रवेश शुरू हुआ और नाथूरामजी सराफ ने उन्हीं के सहारे से 'किसल एण्ड घोप कम्पनी' की आफिस में काम करना शुरू किया था। रामदत्तजी ने वहुत वर्षों तक सेवाराम रामरिख के फर्म की गुमाश्तगिरी की। जौहरीमलजी और तुगनरामजी आफिसों का काम करने लगे थे।

शिववक्सजी गोयनका—

जौहरीमलजी के पुत्र शिववक्सजी ने आफिसों का काम वड़ी वुद्धिमानी और हिम्मत से सँभाला। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि, रेली ब्रादर्स की आफिस में इन्होंने जव काम करना शुरू किया, तो इनकी प्रतिष्ठा इतनी वढ़ गयी कि, आफिस में साहव लोग केवल नाम मात्र के रहे। सव काम शिववक्सजी की इच्छा से होता था। माल सेल करना, वादवट्टा करना तथा किस माल का कौन नम्वर किस व्यापारी के हाथ वेचना इत्यादि कुल कार्य इनके अधिकार में थे। आजकल प्रायः देखा जाता है कि, दलाल, मुसद्दी लोग आफिसों में जाकर साहवों के मुंह की ओर देखते रहते हैं और गिड़गिड़ा कर काम निकालते हैं। परन्तु शिववक्सजी की क्षमता कुछ और ही थी। साहवों से विना पूछे ही अपने घर पर माल का वाद-वट्टा कर दिया करते थे और जो ये कर देते साहवों को मंजूर होता था। शिववक्सजी वड़े दवङ्ग थे और वड़े प्रभाव से काम करते थे। शिव-वक्सजी में यह विशेपता थी कि, आफिस के साहव इनके घर पर प्रति

अंग्रेजी आफिसों में दक्षता के साथ काम करनेवाले



स्वर्गीय सेढ़मलजी सरावगी

(फर्म—सेढ़मल दयाचन्द)

दिन हाजरी देने आया करते थे। शिवबक्सजी ने बड़ी उन्नति की और कुछ वर्षों में ही बड़े धनशाली हो गये। बाद में किसी कारणवश आफिस के साहबों के साथ वैमनस्य हो जाने से इन्होंने काम छोड़ दिया। इसका कारण यही था कि, ये साहबों पर अपना दबदबा रखना चाहते थे। इन्हें यह विश्वास था कि, रेली ब्रादर्स का काम जैसा 'मैं कर सकता हूँ वैसा दूसरा नहीं कर सकता।' पता लगता है कि, शिवबक्सजी के काम छोड़ देने पर एक बार आफिस के अंग्रेज हक्के-बक्के हो गये थे। विलायत के कर्णधारों ने लिखा था कि, जिस प्रकार भी हो, शिवबक्सजी को लौटा लाने का प्रयत्न किया जाय। परन्तु शिवबक्सजी उस समय काम छोड़ कर देश चले गये थे। जब ये लौट कर आये तब उसके पहले ही रेली ब्रादर्स की आफिस रामचन्द्रजी के नाम पर हो गयी थी।

कहा जाता है कि, राली ब्रादर्स के अण्डर ब्रोकर भानीरामजी भिवानी-वाले ने जिनका दबदबा आफिस के साहबों पर बहुत था, साहबों को समझाया कि, शिवबक्सजी बड़े जिद्दी आदमी हैं; सहज में लौट कर नहीं आवेंगे। इस अवस्था में अच्छा यह होगा कि, उनके भतीजे राम-चन्द्रजी के नाम पर आफिस कर दी जाय, वे सब प्रकार से योग्य हैं और ऐसा करने से विलायत के साहब भी नाराज न होंगे। इस प्रकार समझाने से साहबों पर उनकी बात का असर पड़ गया और शिवबक्सजी का नाम बदल कर आफिस का काम रामचन्द्रजी के नाम हो गया। शिवबक्सजी बड़े स्वाभिमानी थे। ये उसी समय से अपने देश डूंडलोद में रहने लगे और कुछ समय के बाद इनका देहान्त हो गया। शिवबक्सजी के पुत्र श्रीयुक्त रूड़मलजी भी समाज में बहुत प्रसिद्ध हुए। मारवाड़ी समाज में आपकी गणना विद्वानों में होती थी। शायद ही बाहर से आनेवाला कोई ऐसा विद्वान् हो जो कि, रूड़मलजी से न मिला हो। आपका रहन-सहन बड़ी शौकीनी और रईसी ठाठ का था। विद्वान् होने के कारण आपका पुस्तकालय एक आदर्श संग्रहालय समझा जाता था। पं० मदनमोहनजी

मालवीय के कहने पर आपने अपने संग्रहालय की सभी पुस्तकें काशी विश्वविद्यालय को दान कर दी थी। आपका स्थान समाज में प्रमुख रहा। यद्यपि वाणिज्य-व्यापार में आपने विशेष रूप से भाग नहीं लिया, तथापि मारवाड़ी समाज में आपका नाम विद्या के अभाव को दूर करने-वाला रहा। आपने समय-समय पर सामाजिक कामों में भी भाग लिया था। इस सम्बन्ध में आपके कार्यों का पता पाठकों को आगे के प्रकरण में मिलेगा।

तुगनरामजी—

आपने कटेलबुलन आदि कई एक आफिसों में बड़ी योग्यता से काम किया और आपके पुत्र केदारनाथजी अपने समय में बहुत अधिक चमके। एक समय बड़े बाजार में उनका नाम बहुत लिया जाता था। परन्तु उनका शरीरान्त छोटी अवस्था में ही हो गया। कहते हैं कि, कलकत्ते के मारवाड़ी समाज में बगीचों का प्रचार हुआ तो विक्रमी संवत् १६२२ में सर्वप्रथम उन्होंने ही बगीचा बनवाया था।

रामचन्द्रजी—

कहना चाहिये कि, इस गोयनका परिवार में श्रीयुक्त रामचन्द्रजी बड़े भाग्यशाली व्यक्ति हुए। वे बोलचाल के बड़े चतुर, मिष्टभाषी और सफल व्यापारी थे। उन्होंने पहले-पहल कटेलबुलन की आफिस में काम करना शुरू किया था। बाद में जब रेली ब्रादर्स की आफिस उनके नाम पर हो गई तो बड़े प्रसिद्ध हो चले। रेली ब्रादर्स की आफिस शिवबक्सजी से हट कर उनके नाम पर होना बुद्धिमानी और कारगुजारी का काम था। उन्होंने रेली ब्रादर्स की आफिस का काम इस ढङ्ग से संभाला कि, न केवल आफिस का ही सर्वोच्च नाम हो गया किन्तु उन्होंने भी व्यापारी समाज में सर्वोच्च स्थान पा लिया। उन्होंने यह दस्तूर कायम किया कि, जिस नम्बर का माल जिस व्यापारी के नाम से सेल होता था, वह माल किसी दूसरे को न बेचा

जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि, प्रचलित नम्बरों का माल नियमानुसार बन्धे हुए रूप में मिलने के कारण रेली के कई एक व्यापारी बड़े धनवान बन गये और अन्य आफिसों में भी यह प्रचार चल पड़ा। वे जितने सफल व्यापारी हुए, उतने ही भाग्यशाली भी थे। सामाजिक कामों में भी उनकी गणना प्रमुख व्यक्तियों में हुई। मारवाड़ी समाज में सूर्यमलजी झूंझनूंवाले, जहां 'सूर्य' कहलाए, वहां उनकी गणना 'चांद' कह कर हुई। उन्होंने 'हिन्दू विधवा सहायक फण्ड' स्थापित किया और अन्य प्रकार से भी कई एक परमार्थ के काम किये, जिनका परिचय पाठकों को यथास्थान मिलेगा। उनके तीन पुत्र हुए, जिनमें बड़े पुत्र हरीरामजी ने तो ऐसा स्थान ग्रहण किया कि, वे न केवल अपने कुटुम्ब के ही किन्तु समाज के सिरमौर कहलाये। वे समाज में जितने अधिक प्रतिष्ठित रहे, उतने ही सार्वजनिक तथा राजकीय क्षेत्र में भी सम्मानित रहे। सरकार ने सर्वप्रथम उन्हें रायबहादुर की पदवी प्रदान की। बाद में वे शेरिफ बनाये गये और अन्त में सी० आई० ई० और सर की उपाधि से विभूषित किये गये। वे योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र प्रमाणित हुए। उनमें बड़ी सभाचातुरी थी। बिगड़ी को बनाने की सामर्थ्य उनमें देखी जाती थी। एक समय तो ऐसा रहा कि, समाज में उनकी सम्मनि के बिना कोई कार्य नहीं हो पाता था। उनकी विशेषताओं का पता पाठकों को आगे चल कर सामाजिक प्रकरण में मिलेगा।

उनका स्थान कलकत्ते के बड़ेबाजार में सर्वोच्च था। यही कारण है कि, उनकी मृत्यु के बाद कलकत्ते के नागरिकों ने उनके स्मारक स्वरूप किले के मैदान में स्टेचू स्थापित किया, जो कि इसके पूर्व किसी भी मारवाड़ी का नहीं बन सका था।

रामचन्द्रजी के द्वितीय पुत्र घनश्यामदासजी हुए। वे बड़े सरल स्वभाव, व्यापार में दक्ष और शान्ति से रहनेवाले थे। रेली ब्रादर्स की आफिस में उनके जिम्मे धोती का काम था। उनके उद्योग से रेली

आदर्श की धोतियों का नाम सर्वोपरि हो गया था। बड़ेबाजार के धोती के व्यापारियों में उनकी धाक पड़ती थी। सैंकड़ों दलाल और दूकानदार एक समय धोती के बाजार में उनके इशारे से लाभ उठाते थे। उन्होंने सार्वजनिक तथा सामाजिक कामों में कभी भाग नहीं लिया, परन्तु सहानुभूति बहुत रखते थे। जहां हरीरामजी सरकारी पदवियां प्राप्त करने में अग्रसर हुए, वहां उन्होंने पदवियों की ओर दृष्टिपात तक नहीं किया। सारांश यह है कि, इस प्रकार नाम पाने की लालसा उनमें किंचित् मात्र भी नहीं थी।

तीसरे पुत्र श्रीयुक्त बद्रीदासजी हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा पर पहले से ही बहुत अधिक ध्यान रखा गया था। बड़े आदमी के पुत्र थे। सहज में आपने बी० ए० पास कर लिया। आप भी आफिस में काम करने लगे। स्वभाव के बड़े सरल, मिलनसार और समझदार हैं। हरीरामजी की तरह यद्यपि वर्तमान में आप भी सार्वजनिक तथा सामाजिक कामों में भाग लेते हैं और समाज सुधार की भावना भी देखी जाती है; तथापि आपकी नीति कुछ ऐसी देखने में आती है कि, स्वयं आगे बढ़ कर प्रकट रूप से काम करने के लिये आपको रोकती है। समाज में आज भी आपका इतना प्रभाव है कि, यदि हिम्मत के साथ आगे बढ़ें तो आप समाज का बहुत कुछ हित साधन कर सकते हैं। बद्रीदासजी ने भी अंग्रेजी सरकार में बड़ा नाम प्राप्त किया। आप भी रायबहादुर, शेरिफ, सी० आई० ई० और सर आदि पदवियों से विभूषित हुए। आपकी गणना सरकार के सहायकों में होती है। आप इम्पेरियल बैंक के सदस्य रह चुके हैं और रिजर्व बैंक के आज भी सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सी व्यापारिक संस्थाओं के डाइरेक्टर हैं।

इन तीनों भाइयों के पुत्र पौत्र अनेक हैं, जिनम ईश्वरीप्रसादजी और जगमोहनलालजी आदि होनहार मालूम पड़ते हैं। समाज को उनसे बहुत बड़ी आशा है। यहां हम इस परिवार के सम्बन्ध में इतना ही और

लिखेंगे कि, यह परिवार बड़ा भाग्यशाली रहा है और अब तक भी आदर्श चरित्र समझा जाता है। आजकल प्रायः देखा जाता है कि, अनेक बड़े आदमियों की सन्तानें जहां अधिकांश में फिजूलखर्चीली और चरित्रहीन बन जाती हैं, वहाँ यह घराना चरित्रसम्पन्न और अनुकरणीय बना हुआ है।

अर्जुनदासजी—

रामचन्द्रजी के चाचा अर्जुनदासजी की गणना गोयनका परिवार में विशेष समझदारों में होती थी। कहा जाता है कि, एक समय परिवार का संचालन वे ही करते थे। परन्तु उनकी मृत्यु छोटी अवस्था में हो गई। उनके दो पुत्र रायबहादुर शुभकरणदासजी और आनन्दरामजी हैं। इन्होंने कलकत्ते में रह कर 'कटेल बुलन' और 'पिटरु कोचिन ब्रादर्स' में बड़ी योग्यता से काम किया। परन्तु कुछ वर्षों से कारबार में ह्रास हो जाने के कारण अब ये अपने देश शेखावाटी डूंडलोद में ही निवास करते हैं।

यहां हमें यह कहना चाहिए कि, कलकत्ते में गोयनका परिवार ने बहुत ऊंचा स्थान पाया। अंग्रेजी आफिस वाले जब अपना कारबार खोलते, तो वे पहले दलाल और मुसद्दियों के सम्बन्ध में गोयनका परिवार के व्यक्ति की मांग करते थे। आज भी अंग्रेज व्यापारी भारत में खुलनेवाली नई लिमिटेड कम्पनियों में प्रायः सर बद्रीदासजी को डाइरेक्टरों में लेते हैं।

बागला वंश

जिस प्रकार डूंडलोद के गोयनका परिवार ने कलकत्ते में आकर ख्याति प्राप्त की उसी प्रकार चूरू का बागला वंश भी बहुत प्रसिद्ध हुआ। इन दोनों घरानों के पुरुषों ने जहां वाणिज्य-व्यापार में आशातीत उन्नति की, वहाँ राज सन्मान प्राप्त करने में भी बड़ी सफलता पाई। इस बागला वंश के सेठ भगवानदासजी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, पहले वे इतनी कमजोर अवस्था में थे कि, अपने जन्मस्थान चूरू में बड़े बेचकर अपना निर्वाह किया करते थे। बाद में

जब भाग्य ने पल्टा खाया तो मारवाड़ी समाज में पहले करोड़पति हुए। शिवबक्सजी बागले का तो इतना नाम हुआ कि, सरकार ने उन्हें राय-बहादुर, शेरिफ और राजा की पदवी से अलंकृत किया। हम यहां पर इस वंश के सभी विशेष-विशेष पुरुषों के सम्बन्ध में लिखेंगे। इसके पहिले हमें यह देखना है कि, इस बागला वंश में पहले पहल बंगाल में कौन आया और उन्होंने क्या किया।

रामदयालजी— विक्रमी संवत् १६०४ में चूरू से चल कर सर्वप्रथम रामदयालजी आये। रामदयालजी के पिता का नाम रामजी-दासजी था। उनके तीन पुत्र हुए। बड़े पुत्र का नाम रामदयालजी, दूसरे का मोतीलालजी और सबसे छोटे तीसरे पुत्र का नाम था गुलाबरायजी। रामदयालजी पहले पहल जब कलकत्ते आये तो अपने भाई मोतीलालजी को, जिनकी अवस्था केवल १४-१५ वर्ष की थी अपने साथ लाये थे। पीछे गुलाबरायजी को भी उन्होंने बुला लिया था। यहां आकर उन्होंने सर्व प्रथम चावल की दलाली की। बाद में जवाहिरात का काम भी किया, परन्तु भाग्यलक्ष्मी नहीं चेती। पर तीनों भाई एक साथ बड़े प्रेम से रहते थे। नित्यप्रति नियमपूर्वक गंगास्नान करते और अपने इष्टदेव श्री सत्यनारायणजी की पूजा कर बाद में भोजन पाते थे। उस समय भगवानदासजी भी चूरू से आ गये और उन्हीं के साथ रहने लगे थे। भगवानदासजी अत्यन्त हीन अवस्था में आये थे; परन्तु 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत के अनुसार वे साहसी और परिश्रमी बहुत थे। उन्होंने यहां आकर उनके साझे में चावल का काम किया और कुछ सफलता भी पाई। इस प्रकार स्थिति सुधरने लगी तो विक्रमी संवत् १६२८ में वे रामदयालजी से अलग हो गये और बर्मा के रंगून शहर में जाकर अपना कारबार करने लगे। राम-दयालजी के सम्बन्ध में इतना लिखना आवश्यक है कि, भगवानदासजी ने अपना साझा निकाल लिया, तो वे चार वर्ष तक अपने भाइयों के साथ

समाज के पहले करोड़पति



स्वर्गीय रायबहादुर सेठ भगवानदासजी बागला

काम करते रहे। परन्तु, बाद में विक्रमी संवत् १९३२ में मोतीलालजी भी अलग हो गये। रामदयालजी के साथ गुलाबरायजी रहे। उन्होंने 'गुलाबराय शिवबक्स' के नाम से अपना कारबार चलाया। उधर मोतीलालजी ने अपना कारबार पृथक् कर लिया और आगे चल कर वे 'मोतीलाल राधाकृष्ण' के नाम से व्यापार करने लगे।

राजा शिवबक्सजी—

रामदयालजी के दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र का नाम मिरजामलजी था और छोटे का शिवबक्सजी। इन दोनों भाइयों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। गुलाबरायजी के कोई सन्तान नहीं हुई। रामदयालजी अपने भाई मोतीलालजी से अलग हो गये, तो उनके पुत्र मिर्जामलजी ने फर्म का काम सँभाला। सागवान की लकड़ी का काम प्रधान था। बागला वंश जब से लकड़ी के काम में प्रवृत्त हुआ, तब से इस वंश की आर्थिक उन्नति बहुत होने लगी और आज भी इस वंश में लकड़ी का व्यापार ही प्रधान रूप से चलता है। मिर्जामलजी कारबार में बड़े दक्ष सिद्ध हुए। उन्होंने बर्मा में रह कर यथेष्ट अर्थोपार्जन किया। इधर कलकत्ते में शिवबक्सजी का नाम चमक उठा। यद्यपि मिर्जामलजी की तरह वे कारबार में दक्ष नहीं थे, तथापि बड़े भाग्यशाली हुए। वे बड़े दबङ्ग और रईसी ठाठ से रहनेवाले थे। कलकत्ते के मारवाड़ी समाज में उन्होंने बड़े गौरव का स्थान प्राप्त किया। उनका रहन-सहन राजसी ठाठ का था। मारवाड़ी समाज में पहले-पहल श्रीसत्यनारायणजी का मन्दिर उन्होंने बनाया। हबड़े में धर्मशाला बनायी। मन्दिर के लिए उन्होंने काफी सम्पत्ति का ऐसा प्रबन्ध किया, जिससे आज भी उसकी आय से श्री सत्यनारायणजी के मन्दिर का काम चलता है। शिवबक्सजी सत्यनारायणजी के जितने उपासक थे, उतने ही परम गोभक्त भी थे। उनके ही प्रधान उद्योग से 'कलकत्ता पिंजरापोल' की स्थापना हुई और उन्होंने अपने जन्मस्थान चूरू में भी पिंजरापोल की स्थापना की। सरकार में भी उनका यथेष्ट सम्मान हुआ।

वे रायबहादुर और शेरिफ बनाये गये। शेरिफ का पद इससे पहले किसी मारवाड़ी को नहीं मिला था। उनका प्रभाव इतना बढ़ा कि, महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबली के समय वे राजा की पदवी से विभूषित किये गये। उन्होंने हवड़ा में सूते की एक मिल बैठाई। पर सूते की मिल जैसी चलनी चाहिए थी, वैसी नहीं चली। उस मिल के सूत में ऐंठन रहती थी। परिणाम यह हुआ कि, उसमें लाखों रुपये नुकसान हो गये। शिवबक्सजी बड़े दूरदर्शी थे। उन्होंने जब इस प्रकार मिल में नुकसान होते देखा, तो पहले से चेत गये। उन्होंने अनुभव किया कि, इस समय भी अपनी आर्थिक अवस्था ऐसी है कि, जैसा अपना नाम और प्रतिष्ठा है, वह बिना रोजगार किये ही बनी रह सकती है। यदि मिल में इसी प्रकार नुकसान होता रहा तो एक दिन इज्जत में फर्क आ सकता है। हवड़े की मिल उठा कर उन्होंने उसकी कलें आदि मौलमीन भेज दी। परिणाम यह हुआ कि, वे जब तक जीवित रहे, राजसी ठाठ बनाये रख सके। पहले शिवबक्सजी के कोई पुत्र न था, इसलिए उन्होंने हीरालालजी को दत्तक लिया था। पर बाद में जब गंगाधरजी का जन्म हुआ, तब हीरालालजी मिर्जामलजी के पुत्र बना दिये गये। शिवबक्सजी की मृत्यु के बाद हीरालालजी और गंगाधरजी अलग-अलग हो गये। हीरालालजी समझदार हैं, पर वे अपने पिता की तरह कारबार में सफल नहीं हो सके। गंगाधरजी अपना कारबार अपने पुराने फर्म 'गुलाबराय शिवबक्स' के नाम से अब भी चला रहे हैं।

हमने पहले बतलाया है कि, रामदयालजी से अलग होकर वि० संवत् १९२८ में भगवानदासजी ने रंगून में अपना कारबार शुरू किया था। उस समय भगवान-

भगवानदासजी—

दासजी के साथी उनके मुनीम रामरिखदासजी भावसिंहका थे। वे भी बड़े हिम्मतदार और होशियार थे। लकड़ी के काम के सिवा, ठेकों का काम भी बहुत करते थे। विक्रमी संवत् १९४३-४४ में जब भारत सर-

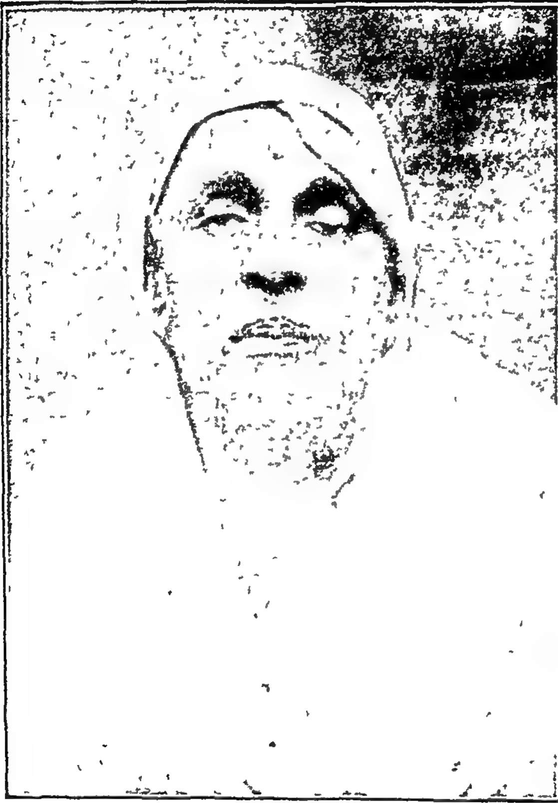
कार ने बर्मा देश पर चढ़ाई की और बर्मा को भारत में मिलाना चाहा तो सेना के लिए रसद वगैरह का ठेका भगवानदासजी ने लिया था। कहते हैं कि, मांडले पर सरकार ने चढ़ाई की, उस समय रसद देने के काम में रामरिखदासजी ने बड़ी हिम्मत और दक्षता से काम किया। लोगों का कहना है कि, भगवानदासजी की उन्नति में रामरिखदासजी ने बड़ा भाग लिया। इस लड़ाई के समय भगवानदासजी का बड़ा नाम हुआ और पुरस्कार स्वरूप सरकार ने उन्हें रायबहादुर बनाया। लोगों का विश्वास है कि, उस लड़ाई के रसद आदि के ठेकों से उन्हें लाखों रुपयों का फायदा हुआ था। उस समय से भगवानदासजी करोड़पति कहे जाने लगे। मारवाड़ियों में वे ही पहले करोड़पति कहलाये। रंगून में मुसलमानों की संख्या बहुत है। वहां भगवानदासजी ने अपने इष्टदेव श्री सत्यनारायणजी का मन्दिर बनवाया तो उसकी पूजा-आरती पर मुसलमानों ने पहले-पहल आपत्ति की कि, घण्टा-घड़ियाल तथा शंख आदि नहीं बज सकते। कुछ संघर्ष भी हुआ। परन्तु भगवानदासजी के मन्दिर का बाजा कभी बन्द नहीं हुआ।

भगवानदासजी की सन्तानों में केवल पुत्रियां ही थीं, कोई पुत्र नहीं था। इसलिए उन्होंने लक्ष्मीनारायण नाम का एक पुत्र गोद लिया। लक्ष्मीनारायण होनहार लड़का था। उसका विवाह कलकत्ते में बड़े धूमधाम से किया गया था। उस विवाह को आज भी लोग याद करते हैं। करोड़पति बन कर संवत् १९५० में भगवानदासजी अपने जन्मस्थान चूरू चले गये और वहीं पर उनका शरीरान्त सं० १९५२ में हुआ। भगवानदासजी की मृत्यु के बाद लक्ष्मीनारायणजी और उनकी माता में नहीं पटी। परिणाम यह हुआ कि, कलकत्ता हाईकोर्ट में नाजायजी का मामला चला। लाखों रुपये दोनों ओर से खर्च हुए। शेष में लक्ष्मीनारायणजी को ३३ लाख रुपये मिले और वे फर्म से अलग हो गये। परन्तु लक्ष्मीनारायणजी भी अधिक समय तक जीवित नहीं रह सके। कलकत्ते में

ही उनका देहान्त हो गया। रामरिखदासजी लक्ष्मीनारायणजी के साथ रहे थे। अतः कहा जाता है कि, लक्ष्मीनारायणजी ने मरते समय जो अपनी वसीयत लिखी वह अदालत में रामरिखदासजी के पक्ष में मानी गई और उनका कुल स्टेट रामरिखदासजी को मिला। लक्ष्मीनारायणजी के स्टेट से कलकत्तेमें एक पंचायती वाड़ी वनाई गई, जो आज भी उनके नाम की स्मृति कराती है।

यहां यह वतलाना आवश्यक है कि, मारवाड़ी समाज में दत्तक के सम्बन्ध में यह एक ऐसा मामला चला था कि, जिसमें लाखों रुपये वरवाद हुए थे। कहना चाहिये कि, यह तो भगवानदासजी का घर था, जो इतने धन की वरवादी सह सका। उस समय ऐसा ज्ञान पड़ने लगा था कि, दत्तक के सम्बन्ध में हमारे पूर्वजों की जो परिपाटी थी और जिस प्रथा से लिखापढ़ी हुआ करती थी, वह इतनी सुदृढ़ और प्रामाणिक थी कि, उसमें आगे चल कर कोई वखेड़ा नहीं उठ सकता था। परन्तु इस मामले से यह सिद्ध हो गया कि, जव से पुराने दस्तूर की अवहेलना कर नये कानून के नाम पर लोग लिखापढ़ी करने लगे, तव से उनमें अनेक वखेड़े उठने लगे और कौन सच्चा और कौन झूठा है, इसका निर्णय करना इतना कष्टकर हो गया कि, दत्तक के सम्बन्ध का झगड़ा यदि चल जाय, तो आसामी वरवाद होने के पहले कोई ठीक-ठीक निर्णय शायद ही हो सके। सौभाग्य से यदि कोई मामला वीच में भी तय हो जाता है तो भी आधी आसामी अवश्य ही शेष हो जाती है। वागला वंश के इस मामले को लेकर मारवाड़ी समाज को शिक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता है; क्योंकि इस प्रकार मामला खड़ा होने पर सिवाय वरवादी के और कोई लाभ नहीं हो सकता।

भगवानदासजी के मरने के वाद उनकी धर्मपत्नी ने काम सँभाला। यद्यपि वे महिला थीं, तथापि उनका कार्य पुरुषों से कम नहीं था। उनके सामने अपने पुत्र लक्ष्मीनारायण आदि से मामला लड़ने का भारी काम



स्वर्गीय मोतीलालजी वागला

आ पड़ा। बाद में उसी स्टेट को लेकर रामरिखदासजी भावसिंहका से मामला लड़ना पड़ा तथा दत्तक पुत्र लक्ष्मीनारायण को अलग कर दूसरे किसी पुत्र को गोद लेने की समस्या उपस्थित हुई। पर वे कभी विचलित नहीं हुईं। उन्होंने अपने दौहित्र को दत्तक लिया। मामले मुकद्दमे में उन्हें व्यस्त रहना पड़ा। इन सभी कामों में प्रायः एक करोड़ रुपये उनके हाथ से निकल गये। पर फर्म पर कोई आंच नहीं आने दी। भगवानदासजी की धर्मपत्नी के कार्यों से यह सिद्ध होता है कि, मारवाड़ी स्त्रियां समय पड़ने पर सब कुछ कर सकती हैं। जिस प्रकार राजपूत रमणियां महलों में रह कर भी समय पर रणचण्डी का रूप धारण कर लेती थीं, उसी प्रकार वैश्य स्त्रियां भी आवश्यकता होने पर अपना जौहर व्यापार का प्रबन्ध करने में भी दिखा सकती हैं। मारवाड़ी जाति के लिए भगवानदासजी और उनकी धर्मपत्नी का चरित्र शिक्षाप्रद है। भगवानदासजी के फर्म के एकमात्र अधिकारी इस समय श्रीयुक्त मदनगोपालजी बागला हैं। उनके पुत्र बनारसीप्रसाद भी होनहार युवक हैं।

मोतीलाल राधाकृष्ण—

इस फर्म के संस्थापक श्रीयुक्त मोतीलालजी, बड़े धर्मात्मा और आस्तिक व्यक्ति थे। वि० संवत् १९३२ में अपने भाइयों से अलग होकर इन्होंने पृथक् काम किया पर बहुत समय तक अधिक उन्नति नहीं कर सके। आगे चलकर इस फर्म की इतनी उन्नति हुई कि, आज इसकी गणना बागला वंश में सर्व प्रधान होने लगी है। इस फर्म की उन्नति होने का प्रधान कारण मोतीलालजी का धार्मिक भाव ही था। वि० संवत् १९६१ वैशाख सुदी ४ को देश जाते समय आगरे में मोतीलालजी का देहावसान हो गया, तो इनके सम्वन्ध में कलकत्ते के 'वैश्योपकारक' पत्र में जो कुछ छपा था उसका कुछ अंश यहां पर दे देना ही पर्य्याप्त होगा, जिससे पाठक जान सकेंगे कि, ये कैसे आदर्श व्यक्ति थे। 'वैश्योपकारक' के लेखक ने लिखा है कि, 'मोतीलालजी न राजा थे, न रायबहादुर और न देश

हितैषिता का झंडा उड़ानेवाली किसी सभा सोसाइटी के मेम्बर ही थे किन्तु जिस ढङ्ग के आप थे अब उस ढंग के लोग मारवाड़ियों में बहुत कम रह गये हैं। पाठक! जरा इनकी सरल और शान्त मूर्ति को तो देखिये, दर्शन से ही कैसे पवित्र भाव का उदय होता है? जिन लोगों के उत्तम चरित्र और पुण्यबल से मारवाड़ी जाति की उन्नति हुई है, वे इसी प्रकार के स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। आजकल के लोग भले ही पूजा-पाठ, दान-पुण्य आदि सत्कर्य्यों को व्यर्थ समझें; परन्तु उनसे समाज का बहुत मंगल होता है, इसमें सन्देह नहीं। यही कारण है कि, बागला जाति में आज इस वंश की ख्याति इतनी अधिक हो रही है।"

मोतीलालजी के दो पुत्र हुए—गणपतरायजी और रुक्मानन्दजी। रुक्मान्दजी अपने चाचा हरदेवदासजी के गोद चले गये। परन्तु कारबार साझे में ही रहा। आज भी 'मोतीलाल राधाकृष्ण' 'हरदेवदास रुक्मानन्द' और 'गणपतराय रुक्मानन्द' आदि फर्मों के नाम से कलकत्ता, मौलमीन और बंबई आदि में काम बड़े पैमाने पर होता है। गणपतरायजी बड़े कुशल व्यापारी समझे जाते थे। आपने फर्म की बड़ी उन्नति की। आपके पुत्र का नाम राधाकृष्णजी है।

रुक्मानन्दजी—

रुक्मानन्दजी बड़े सरल स्वभाव के मिलनसार व्यक्ति हैं। आप सनातनधर्मावलम्बी होते हुए भी सुधार के बड़े पक्षपाती हैं। आज से प्रायः ३० वर्ष पूर्व जब सुधार की बात मुंह से निकालना कठिन समझा जाता था उस समय अक्षतयोनि बालविधवाओं की कारुणिक स्थिति पर इन्होंने स्थानीय 'वैश्य सभा' को एक पत्र लिख कर स्पष्ट शब्दों में अपना मत प्रकट किया था। हम इनका वह पत्र 'वैश्योपकारक' से उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं। उससे पाठक समझ सकेंगे कि, ये कितनी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति हैं। 'वैश्य सभा' के नाम इन्होंने जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार था:—



श्रीयुक्त राधाकृष्णजी वागला
(फर्म--मोतीलाल राधाकृष्ण)

महाशय,

आपका पत्र ता० ८ अप्रिल १९१३ को आया। विधवा विवाह का मैं पूर्ण विरोधी हूँ, किन्तु 'मनु' आदि धर्मशास्त्रों में अक्षतयोनि कन्या का पुनः संस्कार करने की आज्ञा है, जो मन्त्रसहित नीचे लिखता हूँ—

"सचेदक्षतयोनिः स्यात, गत प्रत्यागतोऽपि वा।
पौनर्भवेन भर्त्तासा, पुनः संस्कारमर्हति ॥

मनु० अ० ९ शलोक १७६

इसका आश्रय लेकर मैं अक्षतयोनि कन्याओं के संस्कार करने का पूर्ण पक्षपाती हूँ। अब मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि, मारवाड़ी समाज में बालविवाह और वृद्ध विवाह प्रचलित हैं जो कि, धर्म के नितान्त विरुद्ध हैं। यदि इनके रोकने का आपकी सभा और मारवाड़ी एसोसियेशन मिल कर चेष्टा न करेगी तो जिस प्रकार बालविधवाओं की संख्या दिन-दिन बढ़ रही है—इससे विधवा विवाह का प्रचलित होना नितान्त संभव है, जिसके आप और मैं दोनों ही विरोधी हैं। इति

आपका—
रुक्मानंद बागला

इस पत्र से पाठक समझ सकते हैं कि, श्रीयुक्त रुक्मानंदजी ने आज से प्रायः तीस वर्ष पूर्व समाज की स्थिति पर जो अपना मत प्रकट किया था, वह समाज में सर्वथा एक नई बात थी। इसके अतिरिक्त हाल में इनकी धर्मपत्नी का स्वर्गवास हुआ तो इन्होंने कलकत्ते, बंबई और चूरू में कहीं पर भी खर्च नहीं किया। यद्यपि इनके कुटुम्बियों ने खर्च करने के लिए बड़ा जोर लगाया था। परन्तु इन्होंने ऐसा नहीं किया और २१ हजार रुपयों का एक फण्ड बना दिया। सरकार ने इनको रायबहादुर की पदवी दी है और इनके पुत्र रामनिवासजी बड़े होनहार युवक हैं। इस छोटी अवस्था में ही उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली है। इस समय वे म्युनिसिपैलिटी के केवल मेम्बर ही नहीं हैं, बल्कि बर्मा कौंसिल के भी सदस्य मनोनीत हुए हैं।

आप प्रायः कलकत्ते में ही रहते हैं। आपमें व्यापारिक योग्यता और कल्पना बहुत है। इस बात का पता तो आपकी युवा-

राधाकृष्णजी—

वस्था से ही लगता है। आपने जर्मन महायुद्ध के समय लकड़ी का एक बहुत बड़ा ठेका लेकर लाखों रुपये पैदा किये थे। आज भी लकड़ी के व्यवसाय में आपका बहुत बड़ा अनुभव है। आप में यह विशेषता है कि, निरर्थक बात नहीं करते और जो बात मुंह से कह देते हैं उसे पूरी करने का ध्यान रखते हैं। आजकल बहुत से धनिक व्यक्ति समय पर तूल तो बांध देते हैं। पर अपनी कही हुई बात पूरी होगी या नहीं, इसका ख्याल कम रखते हैं। परन्तु राधाकृष्णजी में यह बड़ा गुण देखा जाता है कि, या तो आप कुछ कहते नहीं और जब कह देते हैं तब उस बात को पूरी करते हैं। आपके द्वारा कई एक धार्मिक संस्थाएँ चलती हैं। आपके घराने में कई व्यक्तियों ने सरकारी पदवी प्राप्त की। राय-बहादुर तो बने ही, इसके अतिरिक्त राजा भी हुए। परन्तु आपने कभी ऐसी चेष्टा नहीं की, कि जिससे कोई सरकारी उपाधि प्राप्त की जाय। इस समय बागला वंश में आपकी बड़ी ख्याति और प्रधानता देखी जाती है। आज से प्रायः ३५ वर्ष पूर्व जब कि, यहां पर सिनेमा थियेटर का नाममात्र था, उस समय आपने हरिसन रोड पर 'कर्जन थियेटर' बनाया था। आपकी कल्पना थी कि, भविष्य में इसका बहुत अधिक प्रचार होनेवाला है। घर के व्यक्तियों के विरोध करने पर यद्यपि बाद में आपने उसे बेच दिया, तथापि इससे आपकी व्यापारिक बुद्धि का पता तो अवश्य लगता है, क्योंकि उसके बाद ही थियेटर और सिनेमाओं का बहुत बड़ा प्रचार देखने में आता है।

बागला वंश में श्री मंगनीरामजी कन्हैयालाल का फर्म भी बहुत पुराना है। यह फर्म अन्य सभी फर्मों के

मंगनीराम कन्हैयालाल—

पहले से ही धन सम्पन्न रहा। जयनारायणजी का देश में बड़ा नाम था। वे ही उस समय चूरू में सबसे बड़े धनिक समझे जाते थे। उनके पुत्र कन्हैयालालजी रायबहादुर हुए। उन्होंने

स्वर्गीय रामरिखदासजी भावसिंहका



आपने संवत् १९४४ के वर्मा-युद्ध में सेठ भगवानदासजी वागला के साथ प्रमुख भाग लिया था और स्वर्गीय लक्ष्मीनारायणजी वागले के इस्टेट के अधिकारी बने।

दिल्ली में कपड़े और सूते की मिल बैठाई और बड़ा नाम पाया। परन्तु वह मिल ठीक-ठीक न चलने से फायदे के बदले नुक्सान हुआ। इस समय उनके पुत्र हनुमानप्रसादजी और महादेवलालजी आदि शेयरों का काम 'बागला कम्पनी' के नाम से करते हैं और बड़े योग्य व्यक्ति हैं।

बागला वंश में भीखराजजी और बालमुकुंदजी तथा मीमराजजी भी बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति हुए। समय-समय पर इनकी भी बहुत ख्याति हुई। भीखराजजी बड़े दबङ्ग व्यक्ति थे। इस समय 'मीमराज ज्वालादत्त' और 'बालमुकुंद लक्ष्मीनारायण' नाम के फर्म मजे में चलते हैं। बालमुकुंदजी के पुत्र लक्ष्मीनारायणजी बड़ी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति हैं। उनमें यह विशेषता देखी जाती है कि, स्पष्ट बात कहने में वे किसी की पर्वाह नहीं करते।

सूर्यमलजी झूंझनूंवाला—

मारवाड़ी समाज में सूर्यमलजी का स्थान बहुत ऊंचा रहा। यदि यह कहा जाय कि, मारवाड़ी जाति को इस बंगाल प्रदेश में सुप्रसिद्ध और वाणिज्य व्यापार तथा सामाजिक कामों में समुन्नत बनाने में सर्वोपरि हाथ उनका रहा तो कोई अत्युक्ति न होगी। सूर्यमलजी उन महान् पुरुषों में से थे जो अपनी उन्नति के साथ-साथ अपनी जाति और जातिभाइयों की उन्नति करते हैं। सूर्यमलजी अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए भी परमार्थ को नहीं भूलते थे।

यद्यपि आज उनका पांचभौतिक शरीर नहीं रहा, तो भी उनकी दिवंगत आत्मा आज भी मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों में अपना प्रभाव दिखा रही है। वे जहां कुशल व्यापारी थे, वहां बड़े भारी समाज-सेवक और महान् दानी भी थे। समाज के लिए उन्होंने बड़े-बड़े काम किये। यहां तक कि, समाज के किन्हीं दो भाइयों में किसी प्रकार का वैमनस्य हुआ देखते तो वे अधीर हो उठते थे और दो-दो चार-चार दिन उपासे रह कर बड़ी तत्परता से उसे सलटा देते थे। आजकल प्रायः देखा जाता है कि, बड़े आदमी कहलानेवाले कतिपय धनिक व्यक्तियों की यह एक खास

नीति-सी हो गयी है कि, अपने वरावर की हैसियत रखनेवाले व्यक्तियों में किसी प्रकार का पारस्परिक झगड़ा उत्पन्न हो जाता है तो वे लोग प्रकट में अधिकतर उन्हें भिड़ा देने और वरवाद करने की ही कोशिश करते हैं। उनका यह भाव रहता है कि, उनकी वरवादी होने से ही उनकी प्रधानता रहेगी। पर सूर्यमलजी इस कुभाव से वहुत दूर रहते थे। वे जानते थे कि, मारवाड़ी जाति के प्रत्येक भाई की उन्नति में ही समाज की उन्नति है और समाज की उन्नति से ही मारवाड़ी जाति इस वंगाल प्रदेश में अपना सिक्का रख सकती है।

सूर्यमलजी शेखावाटी चिड़ावे के रहनेवाले अग्रवंशी झूंझनूंवाले थे। उनका जन्म अपने वासस्थान चिड़ावे में १४ मार्च सन् १८४७ ईस्वी में हुआ था और मृत्यु ता० १२ मार्च सन् १८९५ ईस्वी में हुई। उन्होंने वड़ी उम्र नहीं पाई किन्तु अपने ४७ वर्ष के जीवन-काल में जो कुछ कर दिखाया, वह महान् था।

जव वे १२ अथवा १३ वर्ष के हुए, उस समय घर की आर्थिक अवस्था वहुत साधारण थी। वे कमाने के लक्ष्य से पैदल ही अपने ग्राम से चल पड़े और किसी तरह कलकत्ते पहुंच गये। यहां आकर वे 'लालचन्द वलदेवदास' की गद्दी में रहने लगे। कुछ समय तक वहीं काम भी किया। पता लगता है कि, उसके वाद वे प्राणकिशन ला अथवा दुर्गाचरण ला की आफिस में माल की चिट्ठी चुकाने लगे थे। कहा जाता है कि, यद्यपि वे चिट्ठी चुकाने की नौकरी करते थे, तथापि व्यापारिक साहस अधिक होने के कारण वे और भी कुछ कारवार कर लिया करते थे। उनके विषय में एक वात कही जाती है कि, जिस समय वे चिट्ठी चुकाते थे, उस समय उन्होंने कई हजार रुपये व्यक्तिगत व्यापार में खो दिये और अपनी इज्जत रखने के लिए चुकाई हुई चिट्ठियों के रुपये अपने घाटे में भुगता दिये। यह भी सुनने में आता है कि, किसी खास व्यक्ति ने दुर्गाचरण ला से कह दिया कि, उनके रुपये इसी प्रकार विगड़ रहे हैं।

फिर क्या था, दूसरे ही दिन सूर्यमलजी से कहा गया कि, जो चिट्ठियां खड़ी हैं, उन सब का हिसाब कल तक समझाओ। इतना पूछना था कि, सूर्यमलजी के होश उड़ गये। उन्होंने विचार किया कि, जो रुपये बिगड़ गये हैं, वे तो हैं नहीं, अब हिसाब कैसे पूरा करेंगे ? बड़े मानी प्रकृति के आदमी थे। इसी विचार में वे अपने बासे में जाकर पड़ रहे। उनका साथी एक मित्र था, जो उनसे बड़ा स्नेह रखता था। जब वह बासे में आया और उन्हें बुरी अवस्था में पड़े देखा तो कुछ हाल जान कर तथा आत्महत्या की बात सुन कर सहम गया। उसके पास पन्द्रह बीस हजार रुपये थे। उसने कहा कि, 'मेरे पास इतने रुपये हैं। तुम चिट्ठियों का हिसाब बराबर समझा दो।' सूर्यमलजी ने दूसरे दिन सब हिसाब पूरा कर दिया। जब हिसाब में कोई गोलमाल साबित नहीं हुआ तो, ला महोदय ने समझा कि, जिस आदमी ने सूचना दी थी वह झूठा था और व्यक्तिगत द्वेष के कारण ही उसने झूठी चुगली खाई थी। सूर्यमल बड़ा नेक आदमी है और उससे ऐसा काम नहीं हो सकता। परिणाम यह हुआ कि, उसी दिन से सूर्यमलजी का मान होने लगा। वे आफिस के दलाल बनाये गये। बाद में 'ग्राहम कम्पनी' की आफिस भी उनके हाथ में आ गई। सूर्यमलजी की अवस्था सुधर चली तो जिस मित्र ने उन्हें समय पर अपनी कुल पूँजी देकर उनकी इज्जत बचाई थी, उसका एहसान वे कभी नहीं भूले, यही नहीं, बल्कि जिस व्यक्ति ने चुगली खाई थी उस पर भी सूर्यमलजी ने कोई रोष नहीं किया। उन्होंने विचार किया कि, घटना तो सच थी, इसमें उसका क्या दोष ? यह तो एक ईश्वरीय प्रेरणा थी जो उसके द्वारा प्रकट हुई और उनका भाग्योदय हुआ। सूर्यमलजी ने चुगली खानेवाले उस भाई को एक सौ रुपये मासिक वृत्ति जीवन पर्यन्त दी। इस विचित्र घटना से कई भाव प्रकट होते हैं। परन्तु हमें इस घटना का निष्कर्ष यह निकालना चाहिए कि, कभी-कभी अच्छे से अच्छे मनुष्य को भी अवस्था विशेष के

कारण अनुचित काम में फंस जाना पड़ता है। पर जिस व्यक्ति का असली लक्ष्य दूपित नहीं होता, उसकी रक्षा परमात्मा करता है। डूवता वही व्यक्ति है, जिसने जानबूझ कर किसी जघन्य कार्य में हाथ दिया हो। सूर्यमलजी हृदय से नेक थे और नेक व्यक्ति की रक्षा भगवान् करता है। यही बात इस घटना के सम्बन्ध में माननी चाहिए।

सूर्यमलजी में बाल्यावस्था से ही सचाई, नम्रता, सहनशीलता और कार्य्य-तत्परता विद्यमान थी। धर्म पर विश्वास था। जव वे कलकत्ते आये और कारवार करने लगे तो उन्होंने अपनी आय का कुछ निश्चित अंश धर्मादे में लगाना निश्चय कर लिया था। यही कारण था कि, अपनी जीवित अवस्था में उन्होंने अनेक धार्मिक कार्य किये और मरते समय 'ग्राहम कम्पनी' की दलाली की कुल आय पूर्णरूप से धर्मादे खाते कर गये। पुण्य के काम में वे सदा आगे रहते थे। कोई भाई साथ दे तो अमुक काम करें, इसकी वे प्रतीक्षा या पर्वाह नहीं करते थे।

जात्युन्नति और समाज-सेवा तो उनके जीवन का लक्ष्य ही था। आजकल के धनिकों की तरह वड़प्पन में धक्का न लग जाय, यह आशंका उन्हें कभी न होती थी। जाति-हित का कोई भी कार्य जो सामने आ जाता उसे वे हिम्मत के साथ आगे होकर पूरा करते थे। एक समय था जव कि, पहले-पहल कलकत्ते में चर्वी मिश्रित घी का आन्दोलन उठा तो उन्होंने साहस के साथ उसका प्रतिवाद किया था। कलकत्ते में ब्राह्मण भोजन के समय वहुत सी भ्रष्टचरित्रा स्त्रियाँ दक्षिणा लिया करती थीं, उन्होंने पं० देवीसहायजी की राय से उन सव का वहिष्कार करवा दिया था। हरिद्वार में महावारुणि के समय सरकारी कर्मचारियों ने मेला तोड़ने में मनमानी की थी, उन्होंने ही उस समय 'वृटिश इण्डियन एसोसियेशन' के द्वारा, हजारों रुपये खर्च कर उसका प्रतिवाद कराया और वड़ा आन्दोलन उठाया जिसके परिणामस्वरूप एक कमीशन वैठा। पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार ने इस आन्दोलन की अपने सरकारी गजट में वहुत

कड़ी आलोचना भी की थी। सूर्यमलजी यदि डरपोक होते तो उस आलोचना से हट जाते; परन्तु उनका साहस अदम्य था और लगन सच्ची थी। वे किसी प्रकार भी विचलित नहीं हुए और उस कार्य को पूरा करके ही छोड़ा। इस प्रकार अन्य अनेक कार्य उन्होंने किये।

कलकत्ते में उन्होंने ही पहले-पहल मल्लिक स्ट्रीट में धर्मशाला बनवाई, उसीमें चिकित्सालय भी खोला और श्राद्धकर्म के लिए गंगातट पर घाट बनवाया। श्री बद्रीनारायण धाम की यात्रा में यात्री लोग खतरनाक झूलों पर चढ़ कर पार होते थे, वहां पर 'लक्ष्मण-झूला' नामक झूलता हुआ पुल बनवा दिया। हृषीकेश में कालीकमलीवाले बाबा विशुद्धानन्द गिरि के उपदेश से पंचायती धर्मशाला और सदावर्त बनवाने में पहला हाथ रखा, हरिद्वार में धर्मशाला बनवाई और कई एक जीर्ण स्थानों की मरम्मत कराने में लाखों रुपये लगाये। उत्तर भारत में उनका नाम अमर हो गया। लेखक को याद है कि, कोई तीस वर्ष पहले एक पंजाबी व्यक्ति कलकत्ते में इस उद्देश्य से आया था कि, वह उन राजा सूर्यमल का दर्शन करके अपने को कृतार्थ करेगा जिन्होंने श्री बद्रीनाथ धाम के मार्ग में स्थान-स्थान पर धर्म के कार्य किये हैं। वह पूछता फिरता था। एक सज्जन ने कहा कि, वे तो अब जीवित नहीं हैं, किन्तु उनके पुत्र मिल सकते हैं। उन्होंने कहा उनका ही दर्शन करा दो। वह सज्जन उसे शिवप्रसादजी के पास ले गया और वह उनके चरणों में गिर पड़ा और कहा कि, 'आप धन्य हैं।' शिवप्रसादजी ने उसे छाती से लगा लिया। अपने जन्मस्थान चिड़ावे में धर्मशाला, संस्कृत-हिन्दी और अंग्रेजी की पाठशालाएँ खोलीं। उन्होंने इतने काम किये कि, जिसका उस समय कोई जोड़ नहीं था। एक कवि ने कहा था कि,—

'पुल बान्ध्यो जिन धर्म को, कियो अतुल जिन दान।
रायबहादुर सेठ सो, सूरजमल धनवान॥'

बड़ेबाजार के व्यापार में उन्हीं का बोलबाला था। आफिस के माल के

चलते हुए नम्वर वे वन्धे हुए व्यापारियों को देते थे। इसके अतिरिक्त कई एक व्यक्तियों को अपना धन लगा कर दूकानें खुलवा दी थीं। यदि कोई दूकानदार 'ग्राहम कम्पनी' का काम करता था और किसी समय घाटे में आकर फेल होने की अवस्था में आता तो जहां तक संभव होता उसे वे वचा लेते थे और फेल नहीं होने देते थे। समाज की वड़ी पंचायत के तो वे प्राण थे।

उनके वड़े पुत्र शिवप्रसादजी और छोटे गंगाप्रसाद जी हुए। शिवप्रसादजी बड़े होनहार निकले। उन्होंने पिता की ख्याति वहुत अधिक वढ़ाई और कई ऐसे काम किये जो कि, उनसे भी वढ़ कर थे। जो काम सूर्यमलजी द्वारा शुरू हुए थे उन सव की उन्होंने रक्षा तो की ही—इसके अतिरिक्त गयाजी और पुनपना में विशाल धर्मशालाएँ वनवाई। सभी धार्मिक कार्यों को स्थायी रूप से चलाने के लिए प्रायः २५ लाख रुपयों के स्टेट का ट्रस्ट वना दिया जिसमें 'खैरा' राज्य की जमींदारी भी है। शिवप्रसादजी का स्थान समाज में प्रमुख रहा।

'अच्छे जनों का जीवना थोड़ा ही फरमाया' के अनुसार सूर्यमलजी ने केवल सैंतालीस वर्ष की अवस्था में ही अपनी ईहलीला समाप्त कर दी। इनकी मृत्यु पर एक कवि ने कहा था—

'सूरजमल सूरज विना, अव यो वड़ोवजार।
अन्धकारमय हो गयो, गयो सत्य व्यापार॥

विशनदयाल हरदयाल—

पाठकों से यह वात शायद छिपी न होगी कि, कलकत्ते के मारवाड़ियों में श्रीयुक्त विशनदयाल हरदयाल का फर्म व्यापारिक और आर्थिक दृष्टि से वड़ा प्रसिद्ध हुआ है। एक समय था कि, यह फर्म कारवार में 'छोटी रेली' कहलाता था और 'सात टोपीवाले फर्म' के नाम से प्रसिद्ध था। इस फर्म के मालिक श्री हरदयालजी ने व्यापारिक और सामाजिक कामों में वड़ी ख्याति पाई थी। आपके यहां जो विस्तृत कारवार होता था, उससे सर्वसाधारण

जाति भाई लाभ उठाते थ तथा असमर्थ भाइयों को काम मिलता था। इसके अतिरिक्त सामाजिक कामों में श्रीयुक्त हरदयालजी सब से आगे रहते थे। मारवाड़ी जाति की बड़ी पंचायत के आप इनेगिने कर्णधारों में से थे। जिस कार्य से मारवाड़ी जाति का नाम बढ़ सके उस कार्य में आप बराबर दत्तचित्त रहा करते थे। आप बड़े संयमी और भजन करने-वाले व्यक्ति थे। आपके सात पुत्र हुए। इसी से आपका फर्म सात टोपीवाला कहाया। आपके पुत्रों में से श्रीयुक्त दुर्गाप्रसादजी योग्य पिता के योग्य पुत्र प्रमाणित हुए। व्यापार में आपकी जैसी बड़ी धाक थी वैसी ही समाज में भी थी। आप भी एक समय मारवाड़ी जाति की बड़ी पंचायत में विशेष स्थान रखते थे और जाति उन्नति के सभी कामों में ओज से भाग लेते थे। आपने अपने पिता हरदयालजी की सम्मति से सलकिया में श्री सत्यनारायणजी का मन्दिर बनवाया और उसकी व्यवस्था के लिए लाखों रुपयों की सम्पत्ति निकाल दी। आपने एक ऐसा नियम भी बना दिया कि, 'विशनदयाल हरदयाल' फर्म का कोई भी व्यक्ति यदि अर्थहीन हो जाय तो वह अपने निर्वाह के लिये तथा विवाह-शादी के लिये इस फण्ड से रुपये ले सकता है। वे रुपये उसके नामे लिखे जांयगे और जब उसकी अवस्था सुधर जायगी तब वह अपनी इच्छा से इस धार्मिक फण्ड के रुपये दे देगा। मारवाड़ी समाज में आपकी यह व्यवस्था सर्वथा नयी है। क्योंकि जिस धर्मभीरु मारवाड़ी समाज में यह भाव चला आया है कि, धार्मिक संस्थाओं का धन अलीन है और उस धन का उपभोग करना सद्गृहस्थ को उचित नहीं। इस दृष्टि से अवश्य ही आपकी यह व्यवस्था सर्वथा नयी थी। परन्तु विचार करके देखा जाय तो इसमें आपकी बुद्धिमानी और दूरदर्शिता टपकती है। आज हम देखते हैं कि, कितने ही बड़े-बड़े फर्मों ने अपने समय में बड़े-बड़े काम किये थे, दान-पुण्य में बड़ी-बड़ी रकमें निकाली थीं और उनकी स्थापित संस्थाएँ आज भी चलती हैं। परन्तु समय के प्रभाव से वे फर्म

अब वैसे नहीं है, उनके व्यक्ति धनहीन हो गये हैं और मारे-मारे फिरते हैं। उन्हें कोई आश्रय देकर कारवार में लगानेवाला भी नहीं रहता। इस अवस्था में धनाभाव के कारण उनका नैतिक पतन भी होने लगता है। ऐसी अवस्था में उनके अच्छे समय में स्थापित किया हुआ कोई फण्ड चल रहा हो तो उससे कर्ज के रूप में क्षणिक सहायता लेना अनुचित कैसे हो सकता है? अनुचित तो यह होगा कि, अपना स्थापित किया हुआ फण्ड होने पर भी वह दूसरों से याचना करें। हमारी राय में आपने इस फण्ड को स्थापित कर बहुत ही दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का काम किया था।

विक्रमी संवत् १६५८ के लगभग जब इस फर्म में नुकसान हुआ और कारवार बन्द हो गया तो आगे चलकर एक दो भाई की जब आर्थिक अवस्था गिर गई तब उन्होंने किसी दूसरे से सहायता न लेकर इसी फण्ड से सहायता ली और अपना पतन नहीं होने दिया। बाद में जब कारवार चल गया तब वे रुपये वापिस भी दे दिये। मारवाड़ी समाज में ऐसे फण्डों की बड़ी आवश्यकता है। समाज का ध्यान ऐसे फण्डों की स्थापना की ओर जाना चाहिए। यह परिवार बहुत बड़ा है। इस समय इसकी आर्थिक अवस्था अच्छी देखने में आती है। आवश्यकता होने पर इस वंश के व्यक्तियों को इस फंड से सहायता मिल सकती है। इस फंड के कायम करने में श्रीयुक्त हरदयालजी और उनके पुत्र दुर्गाप्रसादजी की दूरदर्शिता और बुद्धिमानी प्रकट होती है। मारवाड़ी समाज दानशील समाज है और उसके लाखों ही नहीं; किन्तु करोड़ों रुपये दान में लगते हैं। इस समाज के व्यक्ति दान करते हुए ऐसे फण्डों की स्थापना करें तो कुटुम्ब और समाज की बड़ी रक्षा हो सकती है।

इस समय हरदयालजी के अन्य पुत्रों में श्रीयुक्त ठाकुरदासजी बड़े सुयोग्य और मिलनसार सज्जन हैं। आपका कारवार इस समय सलकिया में बहुत अच्छी अवस्था में चलता है। आप पक्के धार्मिक व्यक्ति हैं।

चूरू के अग्रवंशीय श्रीयुक्त नाहरमलजी लोहिया ने कलकत्ते में बड़ी ख्याति प्राप्त की। आप व्यापारपटु होने के अतिरिक्त पंच पंचायती आदि कामों में अग्रणी रहे। आप बड़े दबंग, बोलचाल में मधुर और अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थे। अदालत और पुलिस आदि में आपका बड़ा प्रभाव था। सामाजिक संस्थाओं में तो एक समय आपके नाम की तूती बोला करती थी। आप बड़ेबाजार में इतने प्रसिद्ध हुए कि, सूतापट्टी और आरमेनियन ष्ट्रीट के बीच वाली पांचागली का नाम आज भी 'नाहरमल लोहिया लेन' प्रसिद्ध है और आपकी ख्याति का परिचय दे रही है।

नाहरमलजी लोहिया—

मारवाड़ी जाति को उन्नत करने और बंगाल में उसका नाम बढ़ाने में आपने बहुत बड़ा भाग लिया था। समाज में यदि कोई विषय ऐसा उपस्थित हो जाता, जिसके उचित निपटारे के बिना जाति का ह्रास हो सकता तो वैसे विषय को आप बड़े अच्छे ढङ्ग से सलटाया करते थे। सच तो यह है कि, मारवाड़ी जाति की साख जमाने तथा उसकी उन्नति करने में उस समय श्रीयुक्त सूर्यमलजी झूँझनूंवाले, रामजीदासजी जटिये, हरदयालजी सुरेके, रामचन्द्रजी गोयनके आदि पांच सात सज्जनों का हाथ था, तो उनसे कुछ कम हाथ आपका नहीं था। सभा पंचायत में किसी विषय पर जब आप बोलते थे तो आपका ढङ्ग बड़ा विचित्र होता था। आपमें युक्तियुक्त ढङ्ग से बोलने की शक्ति तो थी ही, इसके अतिरिक्त शब्दयोजना बड़ी मधुर और प्रभावशालिनी होती थी। साथ ही साथ आपके कथन में बड़ा ओज रहता था। मारवाड़ी जाति का कोई भी व्यक्ति अनुचित रूप से किसी मामले मुकद्दमे में फंस जाता तो आप उसका उद्धार करने और उसके कष्ट को दूर करने में तत्काल भाग लेते थे। आपने अपनी आर्थिक उन्नति भी यथेष्ट की थी। उस समय के बड़े धनिकों में आपकी गणना होने लगी थी। आपके पुत्र श्रीयुक्त बैजनाथजी समझदार और सुयोग्य थे, परन्तु उन्नत और जबर्दस्त पिता के पुत्र होने के कारण अमीरी ढङ्ग में पड़

गये थे और इनकी आदत इस प्रकार की हो गयी थी कि, वाणिज्य-व्यापार में उन्नति नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि, श्रीयुक्त नाहरमलजी के देहावसान के पश्चात् उनके जैसा स्थान ग्रहण करनेवाला लोहिया परिवार में कोई नहीं रहा। यद्यपि आपके मरने के वाद लोहिया परिवार में श्रीयुक्त भजनलालजी ने उस अभाव की पूर्ति की और इनका नाम नाहरमलजी से भी कहीं अधिक प्रसिद्ध हुआ तथापि श्रीयुक्त नाहरमलजी के कार्यों में और भजनलालजी के कार्यों में वड़ा अन्तर रहा। भजनलालजी के सम्वन्ध में पाठकों को सामाजिक प्रकरण में वहुत-सी वातें मालूम होगी। खेद है कि श्रीयुक्त नाहरमलजी के खास परिवार में इस समय कोई नहीं है। आपके भाई रंगलालजी के पुत्र लक्ष्मीनारायण, रामचन्द्र का कारवार चलता है, जिनमें श्री रामचन्द्रजी समझदार व्यक्ति हैं।

भोड़मलजी गोयनका— कुछ समय तक इनके नाम की वड़ी प्रसिद्धि रही थी आप पंचायत के कर्णधारों में माने जाते थे।

वाद में 'देवकरण रामविलास' तथा 'देवकरणदास रामकुमार', इन

दौलतराम किशनदास— फर्मों की वड़ी ख्याति हुई। सराफी में वड़ी धाक थी। इनकी दूकान चीन में भी चलती थी।

इस फर्म की प्रतिष्टा वहुत रही। एक समय तो वड़ेवाजार में

रामलाल वद्रीदास— हुण्डी-पुर्जे सम्वन्धी सभी वातों का कन्ट्रोल इसकी गद्दी से होता था।

यह गनेड़ीवालों का फर्म था। इस फर्म के व्यक्ति वड़े अनवी

हरगोपाल चिम्मनराम— कहे जाते थे। इनमें जातीय अभिमान वहुत था और वड़े पैमाने में व्यापार होता था।

यह फर्म चलानी के काम में अत्यधिक मशहूर था और इस फर्म

उग्रमल हजारीमल— का नाम भी समाज के पांच पंचों में रहा। उग्रमलजी और हजारीमलजी दोनों पिता-पुत्र वड़े सुयोग्य समझे जाते थे।

बाद में श्यामदेव गोपीराम। श्यामदेवजी, सेठ नाथूरामजी सराफ के निकट सम्बन्धी थे और उनके बुलाने पर यहां आये थे तथा उन्हीं की सहायता से सूते का काम करते थे। चलानी के काम में वे बहुत प्रसिद्ध हुए। उनकी एक धर्मशाला और दातव्य औषधालय है। उनके पुत्र गोपीरामजी आज भी मशहूर हैं।

श्यामदेव रामदेव—

हरचन्दरायजी विक्रमी संवत् १६०४ में मंडावा से चलकर यहां आये थे। इन्होंने अपने अध्यवसाय से इतनी उन्नति की कि, विहार प्रान्त भागलपुर में अपनी जमीन्दारी कायम की। इस फर्म में आनन्दरामजी और गोरधनदासजी बड़े जोरदार आदमी हुए। आज भी रायबहादुर बंशीधरजी ढांढनिया और ज्वालाप्रसादजी ढांढनिया बड़े सुयोग्य व्यक्ति हैं और सभी कामों में भाग लेते हैं।

हरचन्दराय गोरधनदास—

इस फर्म का भी बड़ा नाम रहा। भागलपुर में इनकी भी बड़ी जमींदारी तथा कारबार है। इस फर्म में रायबहादुर देवीप्रसादजी और रायबहादुर लोकनाथजी आज भी बड़े प्रतिष्ठित समझे जाते हैं।

रामकिशनदास चंडीप्रसाद—

यह पोद्दारों का फर्म था। इनके पूर्व पुरुष भगोतीरामजी का जिस प्रकार नाम हुआ उसी प्रकार उनके वंशज 'हरसा-घुरसा' ये दोनों भाई बड़े प्रसिद्ध हुए। हरसामलजी का फर्म उपर्युक्त नाम से प्रसिद्ध हुआ और घुरसामलजी का फर्म 'ताराचन्द घनश्यामदास' के नाम से आज भी मशहूर है।

हरसामल रामचन्द्र—

यह फर्म बजावे के केड़ियों का था। इस फर्म की कई दूकानें चलती थीं और बड़ा प्रसिद्ध फर्म था। इसी फर्म में श्री जगन्नाथजी मारवाड़ी समाज में पहले शिक्षित कहे जाते थे और बड़े होनहार समझे जाते थे।

रामनारायण नरसिंहदास—

विक्रमी संवत् १९४४ में वे एकाएक घर से निकल गये और कहां गये, इसका पता नहीं लगा। कोई बीस पचीस वर्षों के बाद 'वैश्योपकारक' पत्र में जापान की चिट्ठी छपी थी, जिससे लोग कल्पना करने लगे थे कि, वे जापान में जा बसे हैं। परन्तु बाद में उसका समर्थन नहीं हुआ। जगन्नाथजी बड़े उत्साही युवक थे। उनसे समाज बहुत बड़ी आशा रखता था और जाननेवाले आज भी उन्हें याद करते हैं। इसी घराने में आगे चलकर बैजनाथजी और श्रीधरजी हुए, उन्होंने भी अपने समय में सामाजिक कार्यों में बड़ा भाग लिया था।

गणेशदास गुरमुखराय— गणेशदासजी के सम्बन्ध में हमने सेठ नाथूरामजी सराफ की जीवनी में बहुत कुछ उल्लेख किया है। वे नाथूरामजी के मुनीम थे और बाद में होरमिलर की आफिस में सर्वेसर्वा हो गये थे। अंग्रेजी आफिसों में उनकी गणना अच्छी रही। उनके वंशधरों में रायबहादुर कन्हैयालालजी मुसद्दी ने भी होरमिलर कम्पनी का काम भली प्रकार सँभाला और आज भी होरमिलर की आफिस में उनके वंशधर काम कर रहे हैं।

हुक्मचन्द सागरमल— चलानी के फर्मों में यह फर्म बड़ा प्रसिद्ध हुआ। हुक्मीचन्दजी चौधरी समाज में गणनीय पुरुष हुए।

उदयमल चान्दमल— यह फर्म बीकानेर के ओसवाल वंशीय ढड्ढों का है। इसके पूर्वजों ने सबसे प्रथम हैदराबाद में 'अमरसी सुजानमल' के नाम से फर्म खोला था। हैदराबाद स्टेट से इनका काफी लेनदेन होता था। कहा जाता है कि, इनके व्यापारिक मामले-मुकद्दमों का विचार एक स्वतन्त्र न्यायालय में हुआ करता था। इनके खानदान में आगे चल कर सेठ चान्दमलजी हुए, जिन्होंने कलकत्ते में उपर्युक्त फर्म की स्थापना की। देशी रियासतों

और भारत सरकार में आपकी बड़ी प्रतिष्ठा रही। सरकार ने आपको सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की। निजाम राज्य ने आपको अपने दरबार में कुर्सी और चार घोड़ों की बग्गी में बैठने का सम्मान दिया। बीकानेर दरबार श्री डूंगरसिंहजी और महाराजा गंगासिंहजी से आपका घरेलू सम्बन्ध रहा। महाराजा गंगासिंहजी ने आपका मित्रतापूर्ण सम्मान किया। आपने बीकानेर के देशनोक ग्राम की श्री करनीजी के मन्दिर का द्वार साढ़े तीन लाख रुपये खर्च कर बनवाया था। उसकी कारीगरी देखने लायक है। पता लगता है कि, लार्ड मिण्टो ने दिलचस्पी के साथ उसका अवलोकन किया था। मारवाड़ी समाज में सेठ चांदमलजी एक अनुकरणीय सज्जन थे। इस पुस्तक का लेखक वि० सं० १९५९ में जब बीकानेर गया तो पहले-पहल आपसे मुलाकात हुई थी। उस समय आपने सामाजिक रश्म-रिवाजों के बारे में अपने विचार प्रकट किये थे जिनसे सुधारप्रियता टपकती थी।

गौरीदत्तजी भगवानदास मुसद्दी—

गौरीदत्तजी के सम्बन्ध में हमने पहले लिखा है कि, वे अंग्रेजी आफिसों में पहले-पहल प्रवेश करनेवाले कुछ इनेगिने व्यक्तियों में थे। भगवानदासजी का भी बड़ा नाम हुआ। उन्होंने कई एक आफिसों में काम किया। इसी बंश में श्रीयुक्त लूणकरणदासजी बड़े होनहार और तीक्ष्णबुद्धि के व्यक्ति हुए, जिन्होंने ऊन कम्पनी में बड़ी योग्यता से काम किया। लूणकरणजी युवावस्था में ही चल बसे। हम पहले-पहल उनसे विक्रमी संवत् १९५९ में मिले थे। हमारी यह धारणा है कि, यदि वे जीवित रहते तो आगे चल कर बड़ा नाम करते। उनमें कई विशेपताएँ थीं। परन्तु खेद है कि, उनकी सेवाएँ समाज को प्राप्त न हो सकीं और वे असमय में ही स्वर्ग सिधार गये। उनके पुत्र हनुमानवक्सजी हैं और सुयोग्य हैं।

रामचन्द्र जुहारमल ये दोनों फर्म कारोन्डियों के थे और इनकी चलानी के व्यवसाय में वड़ी इज्जत थी।

भजनलाल हरनन्दराय— मारवाड़ी समाज के साधारण व्यक्ति इन फर्मों से दलाली आदि में वड़ी सहायता पाते थे।

रामजीदास शिवदत्तराय— इस फर्म की कलकत्ते में वड़ी प्रतिष्टा रही।

शिवरामदास रामनिरंजनदास मुरारका— इस फर्म का स्थान वहुत अच्छा रहा। रामनिरंजनदासजी वड़े भारी धनिकों में हो गये। सेठ ताराचन्द घनश्यामदास के साझे में इन्होंने 'सा चालेस कम्पनी' में तेल का काम सम्हाला, जिससे दोनों फर्मों को लाखो रुपयों की प्राप्ति हुई। ये वड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनके सात पुत्रों में हीरालालजी आज भी वड़े सुयोग्य व्यक्ति हैं। आपमें वहुत अधिक स्वाभिमानता देखी जाती है।

वृद्धिचन्द रामलाल गोठी— कलकत्ते में इस फर्म की गणना अच्छी है। श्री वृद्धिचन्दजी गोठी विद्याप्रेमी और वृद्ध होने पर भी वड़े उत्साही हैं। सभा-सोसाइटियों में वड़े प्रेम से भाग लेते हैं। आपके यहां वेलिङ्ग जूट का कारवार वड़े पैमाने पर होता है और वड़ा नाम है। श्री रामलालजी भी वड़े सुयोग्य और समझदार हैं।

वहादुरसिंह प्रतापसिंह तथा लक्ष्मीपतसिंह धनपतसिंह— ये दोनों फर्म कलकत्ते में छोटी और वड़ी कोठी के नाम से वहुत प्रसिद्ध रहे। इनके यहां प्रधान रूप से वैंकिङ्ग और जमींदारी का काम होता था। इनके पूर्वज वीरदासजी अठारहवीं शताब्दी में किशनगढ़ से चलकर मुर्शिदावाद में आये थे। आपके पौत्र वहादुरसिंहजी और प्रतापसिंहजी ने वड़ी आर्थिक उन्नति की। प्रतापसिंहजी राजा कहे जाते थे। आपने कई एक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया और जातिभाइयों की वड़ी सहायता की। वंगाल के जैन समाज

सफल व्यापारी



स्वर्गीय सेठ रामनिरंजनदासजी मुरारका

में आप सबसे बड़े जमींदार थे। आपने अपने दोनों पुत्र लक्ष्मीपतसिंह और धनपतसिंह को अपनी जीवित अवस्था में ही पृथक् कर दूसरा फर्म बना दिया था और वह छोटी कोठी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लक्ष्मीपतसिंहजी को सन् १८६७ में रायबहादुरी मिली। मारवाड़ी समाज में इस घराने की बहुत प्रतिष्ठा मानी गई।

महासिंह राय मेघराज बहादुर—

इस फर्म के पूर्व पुरुष जेसलमेर और जोधपुर राज्यों में दीवान रहे थे। बाद में इस परिवार के व्यक्ति बीकानेर चले गये थे। रतनचन्दजी, महासिंहजी और आसकरणजी ये तीनों भाई मुर्शिदाबाद में आ कर रहने लगे और संवत् १८१८ में गन्नालपाड़े में अपना फर्म कायम किया। इनके यहां बैंकिङ्ग, रबर और चायबगानों में रसदादि सप्लाई का कारबार होता था। महासिंहजी के पुत्र मेघराजजी ने व्यापार में बहुत अधिक उन्नति की। सन् १८६७ में सरकार ने आपको रायबहादुर की पदवी दी। इस फर्म की बहुत ख्याति रही। इनके पुत्र श्री लक्ष्मीपतसिंहजी कोठारी बड़े सुयोग्य सज्जन हुए। आपमें असाधारण सहज बुद्धि और व्यावसायिक विचक्षणता थी। आप बड़े मिलनसार और प्रभावशाली व्यक्ति थे। पाट के व्यवसाय में आपके व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव की बराबरी करने वाला दूसरा कोई व्यक्ति न था। यही कारण था कि बड़े-बड़े जटिल विषयों में न केवल मारवाड़ी और बङ्गाली व्यवसायी ही किन्तु यूरोपियन सज्जन भी आपकी राय मानते थे। जूट बेलर्स एसोसियेशन के आप एक से अधिक बार प्रेसिडेंट रह चुके थे। बंगाल चेम्बर आफ कामर्स जैसी प्रभावशाली यूरोपियन संस्था के ट्रिब्यूनल आफ आर्बीट्रेशन में भी आप एक प्रमुख व्यक्ति थे। आपके दिये हुए अवार्ड इतने निष्पक्ष और न्याय संगत होते थे कि, सभी लोग उनकी प्रशंसा करते थे। यही कारण था कि हाल ही में बंगाल चेम्बर आफ कामर्स ने ट्रिब्यूनल से दिये जाने वाले सारे निर्णयों के निरीक्षण के लिये जो चार सभासदों की एक कमेटी बनाई

थी, उसके आप भी एक सदस्य थे। आपकी इतनी योग्यता के कारण ही सारे व्यापारी समाज के हृदय में आपकी स्मृति बनी हुई है। खेद है कि, हाल हीमें आपका स्वर्गवास हो गया। आपके सभी पुत्र सुयोग्य हैं। इस घराने का ओसवाल समाज में बड़ा अच्छा स्थान है।

लक्ष्मीचन्द राधाकृष्ण— इस फर्म की प्रसिद्धि 'पारखजीवाले' कहकर हुई। एक समय यह फर्म कोई साधारण फर्मों में नहीं था। इनके यहां बड़ी जमींदारी थी और कहीं जाते तो नकीब बोला करते थे। आज भी कलकत्ते में पारखजी की कोठी बड़ी मशहूर है और इनके फर्म की याद करा रही है।

सेवाराम खुशहालचन्द— यह करोड़पति फर्म समझा जाता है। इस फर्म की यह ख्याति है कि, मध्यप्रदेश जबलपुर में इस वंश के व्यक्तियों ने 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' की बड़ी भारी मदद की थी और इस वंश के राजा गोकुलदासजी का बड़ा नाम रहा। आपके यहां इस समय भी बहुत बड़ी जमींदारी है जिसका भोग इस समय राजा जीवनदासजी कर रहे हैं। उनके पुत्र सुप्रसिद्ध राष्ट्रसेवक गोविन्ददासजी हैं जो अपनी इच्छा से अपनी पैतृक सम्पत्ति का परित्याग कर राष्ट्रसेवा में संलग्न हैं। देशभक्ति की दृष्टि से आपका त्याग अनुकरणीय है।

रामलाल बिहारीलाल— इस फर्म की प्रसिद्धि 'शाह बिहारीलालजीवाले' कह कर हुई। इस घराने का एक समय बड़ा नाम रहा।

वंशीलाल अबीरचन्द— यह फर्म बीकानेर के डागा महेश्वरियों का है। इस फर्म की गणना करोड़पतियों में होती है। इस घराने में श्रीयुक्त रामरतनदासजी डागा बड़े दबंग व्यक्ति हुए। कहा जाता है कि, एक समय किसी बात पर खींचातान होने के कारण तत्काल उन्होंने बीकानेर का परित्याग कर अपने स्वाभिमान की



स्वर्गीय सेठ रामरत्तनदासजी डागा, बीकानेर

(फर्म—बंशीलाल अबीरचन्द)

रक्षा की थी। यह फर्म कई जिलों में खजांची का काम करता है। वर्तमान में दीवान बहादुर सर विश्वेश्वरदासजी डागा, के० सी० आई० ई० का बड़ा नाम है। हाल में ही बीकानेर नरेश श्री गंगासिंहजी ने अपनी 'स्वर्ण-जयन्ती' के अवसर पर आपको राजा की पदवी से विभूषित किया है। आपका फर्म कलकत्ते में सराफों की गणना में आता है। वर्तमान समय में आपकी गद्दी के मुनीम श्रीयुक्त बालमुकुंदजी डागा हैं जो बड़े उत्साही साहित्यसेवी, सुवक्ता. और समाजसेवी भी हैं। यद्यपि आपका सम्बन्ध पूंजीपतियों के साथ होने से आप पूर्ण स्वतन्त्रता से काम नहीं ले सकते परन्तु हमें अनुभव है कि, आपके विचार बहुत ही अच्छे हैं।

चनणमल सिरैमल—इस फर्म की गणना भी बड़े धनिकों में होती है। इस फर्म का कारबार कलकत्ते तथा अजमेर आदि में बहुत मशहूर है।

कालकाप्रसाद बद्रीदास—इस फर्म में रायबहादुर बद्रीदासजी मुकीम बड़े प्रसिद्ध हुए। आपने वायसराय के जौहरी कहलाने की इज्जत प्राप्त की। एक समय ऐसा था कि, कलकत्ते के ओसवालों एवं जौहरी समाज में आपके नाम की तूती बोलती थी। आपने अपने समय में जो नाम प्राप्त किया शायद ही अन्य किसी को नसीब हुआ हो। आप न केवल ओसवाल समाज में ही सुप्रसिद्ध थे बल्कि समस्त मारवाड़ी समाज में इज्जत पाते थे। आप गोभक्त भी बहुत थे। कलकत्ता पिंजरापोल के तो आप जन्मदाताओं में से थे। आपने कलकत्ते के माणिकतल्ले में एक ऐसा ऐतिहासिक मन्दिर और उद्यान बनाया जिसकी गणना दर्शनीय स्थानों में होती है और देश-विदेश के व्यक्ति उसे देखने आते हैं। खेद है कि कुछ वर्षों पूर्व आपके व्यापार में ह्रास हो गया जिससे पहले जैसा कारबार नहीं रहा। हाल में आपके सुयोग्य पुत्र राजकुमारसिंहजी का भी देहान्त हो गया। यद्यपि इस फर्म का अस्तित्व अब नहीं रहा तथापि बद्रीदासजी की ख्याति समाज नहीं भूल सकता।

ये भी गोयनका परिवार में से थे। सेढ़मलजी यद्यपि बहुत बड़े धनिक नहीं हुए, तथापि मारवाड़ी समाज में आप बड़े स्वाभिमानी और दबङ्ग रहे। उचित

खेमचन्द सेढ़मल—

बात कह देने में आप कभी किसी से नहीं दबे। आपमें यह विशेषता थी कि, धनिकों के रोब में कभी नहीं आते थे। समाजसेवी भी बड़े थे। आप अपने सुदीर्घ जीवन-काल में बड़ी प्रतिष्ठा से रहे। गोयनका समाज में आप नेता समझे जाते थे और अपने पक्ष के व्यक्तियों की हर प्रकार से संभाल करने का बीड़ा उठाये रहते थे। आपके यहां चलानी का काम बराबर रहा। धन भी कमाया और मकानादि भी बनाये। सेढ़मलजी के तीन पुत्र नरसिंहदासजी, रामकुमारजी और रामगोपालजी हुए। इनमें रामकुमारजी ने उस समय समाज में प्रवेश किया जब कि, बड़े बाजार की जनता में सार्वजनिक जीवन का एक प्रकार से अभाव था। बड़े बाजार के तत्कालीन चुने हुए नवयुवकों में आपका प्रमुख स्थान रहा और सभा-सोसाइटियों तथा समाज की कुरीतियों को दूर करने के उद्योग में आपने सर्व प्रथम भाग लिया। यद्यपि वर्तमान समय में आप अधिक भाग नहीं लेते तथापि आपके द्वारा 'वैश्य सभा' आदि में जो कार्य हुआ और म्युनिसिपैलिटी में मेम्बर बन कर जो कार्य आपने कर दिखाया, आज भी उसकी प्रशंसा होती है।

यह फर्म बनारस के अग्रवालों का है। यद्यपि बहुत वर्षों से बनारस में आ बसने के कारण इनकी गणना देशवाली अग्रवालों में होती है, तथापि आज

शीतलप्रसाद खड़गप्रसाद—

भी बहुत से सम्बन्धादि मारवाड़ियों में होते हैं। इस फर्म की गणना कलकत्ते में सराफी में रही। बनारस में इसकी बड़ी जमींदारी है। इस फर्म के राजा मोतीचन्दजी और शिवप्रसादजी गुप्त की बड़ी ख्याति हुई। राजा मोतीचन्दजी जहां रईस कहलाए वहां शिवप्रसादजी गुप्त विख्यात राष्ट्रभक्त हैं। इनके द्वारा 'काशी विद्यापीठ' में एक 'भारतमाता मन्दिर' का

समाजसेवक कर्मवीर



स्वर्गीय सेढ़मलजी गोयनका

निर्माण हुआ है। इसी वंश में मंगलाप्रसादजी एक होनहार विद्वान् नवयुवक हुए पर वे असमय में ही चल बसे। उनके भाई श्री गोकुलचन्दजी ने उनके नाम पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' देने की व्यवस्था की जिससे हिन्दी साहित्य में आज उनका नाम अमर हो रहा है। गोकुलचन्दजी के पुत्र कुमारकृष्णजी भी बड़े विद्वान् समझे जाते हैं। इधर में इस फर्म का कारबार पहले जैसा नहीं है। पर समाज में इस घराने की बड़ी प्रसिद्धि है।

किशनलाल मोहनलाल—यह फर्म एक समय बड़ी भारी ख्याति रखता था।

शिवलाल मोतीलाल—यह फर्म हैदराबाद वाले पित्तियों का है। हैदराबाद में इनका सम्बन्ध राजदरबार से बना हुआ है। यही कारण है कि, इस फर्म के वंशधर राजा कहलाते हैं। इस घराने में बड़े-बड़े नामी व्यक्ति हुए। राजा वंशीलालजी की बड़ी ख्याति हुई। वर्तमान में राजा गोविन्दलालजी और राजा नारायणदासजी पित्ती राष्ट्रसेवा और सामाजिक सुधार में बड़ा भाग लेते हैं। राजा गोविन्दलालजी इस समय केन्द्रीय स्टेट कौन्सिल के सदस्य भी हैं।

दयाराम हरनन्दराय—इस फर्म की गणना एक समय बड़े फर्मों में होती थी।

वलदेवदास वंशीलाल—इस फर्म की गणना चलानीवालों में बहुत अच्छी थी। इस फर्म में व्यापारिक लेन-देन जिस उत्तम ढंग से होता था वैसा उस समय अन्यत्र बहुत कम देखा जाता था। यही कारण था कि हुण्डी-पुर्जे के व्यवसाय में इस फर्म की बड़ी इज्जत मानी जाती थी।

जगन्नाथ सरदारमल—इस फर्म की एक समय बड़ी प्रसिद्धि थी।

हरिसिह निहालचन्द—इस फर्म के पूर्वज श्री सवाईसिंहजी विक्रमी संवत् १८४६ में राजपूताने से चलकर अजीमगंज में आये थे। यहाँ आकर आपने ग्वालपाड़े में अपना व्यापार शुरू किया। आपके पुत्र रायसिंहजी ने जिनका दूसरा नाम हरिसिंहजी भी

था—वड़ी उन्नति की। आपके पुत्र हुलासचन्दजी ने 'हरिसिंह निहालचन्द' के नाम से इस फर्म की स्थापना की। हुलासचन्दजी वड़े वुद्धिमान, दूरदर्शी और व्यापारकुशल थे। कहा जाता है कि, आपने दिल्ली के अन्तिम वादशाह वहादुरशाह के दरवार में भी काम किया था और राय पदवी पाई थी। हुलासचन्दजी के कोई पुत्र न होने के कारण निहालचन्दजी दत्तक आये। आप फारसी भाषा के विद्वान् और कवि भी थे। आपके पुत्र डालचन्दजी वड़े धार्मिक, जैन सिद्धान्त के वड़े प्रेमी और प्रचारक थे। उन्होंने जैन तीर्थस्थानों का जीर्णोद्धार लाखों रुपया खर्च करके किया। कलकत्ते की 'जूट वेलर्स एसोसिएशन' के वे पहले चेयरमैन थे। उनकी मृत्यु संवत् १९८४ में हुई। इस समय उनके पुत्र वहादुरसिंहजी वड़े सुयोग्य सज्जन हैं। आपका साहित्यिक ज्ञान और पुरातत्व-प्रेम अनुकरणीय है। प्राचीन पुस्तकों, सिक्कों और प्राचीन मूर्तियों का संग्रह करने में आपकी रुचि वहुत देखी जाती है। आपने जिन प्राचीन मूर्तियों का संग्रह किया है, उनमें राम, लक्ष्मण आदि की पन्ने की मूर्तियाँ जिनकी पूजा छत्रपति शिवाजी किया करते थे, वे भी हैं। आपके पुस्तकालय में अरेवियन और पर्सियन भाषा के हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। कहा जाता है कि कुछ ग्रन्थों पर दिल्ली के कतिपय वादशाहों के हस्ताक्षर भी किये हुए हैं।

आपमें जातीयता और स्वाभिमान वहुत अधिक देखा जाता है और सार्वजनिक कार्यों में वड़ी दिलचस्पी के साथ भाग लेते हैं। आपने हाल में ही विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन, वोलपुर में 'सिंघवी जैन विद्यापीठ' की स्थापना की है जिसमें सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी आचार्य के संरक्षण में कार्य होता है। आपकी ओर से 'सिंघवी जैन ग्रन्थमाला' भी प्रकाशित की जाती है। वास्तव में आप आदर्श विद्याप्रेमी हैं

आपके पुत्र राजेन्द्र, नरेन्द्र और वीरेन्द्र सभी होनहार युवक हैं। उनमें

श्री राजेन्द्रसिंह को तो यह श्रेय प्राप्त है कि, पौलैण्ड की सरकार ने उन्हें अपना स्थानीय राजदूत मनोनीत किया है।

चैनरूप सम्पतराम—

सूतापट्टी के दूकानदारों में सबसे प्रथम इस फर्म की ख्याति करोड़पतियों में हुई। यह फर्म बीकानेर राज्यान्तर्गत सरदारशहर के रहनेवाले ओसवाल जाति के दूगड़ों का है। चैनरूपजी के सम्बन्ध में यह एक मशहूर बात है कि, अपनी किशोरावस्था में वे देश में रहते हुए चेजे पर मजदूरी करके अपना काम चलाते थे। बाद में किस प्रकार नसीब खुला और किस प्रकार इतनी उन्नति हुई, वह पाठकों के लिए विशेष रूप से जानने योग्य है। कहा जाता है कि, एक दिन चैनरूपजी चेजे के काम पर कुछ देरी से पहुँचे और चुपचाप काम में लग गये। जब वे अपनी टोकरी लेकर चेजारे के समक्ष आये तो देर से आया देख कर चेजारे ने उन्हें डाँट बताई और करनी सहित अपना हाथ उठा कर कहने लगा कि, 'चले जाओ।' यह घटना ऐसी घटी कि लोगों का विश्वास है कि, चैनरूपजी का भाग्य उसी दिन से खुल गया। जाननेवाले लोगों का कथन है कि, डाँट बताते समय चेजारे के हाथ की 'करनी' से चैनरूपजी का माथा कट गया और एक गहरा घाव हो गया। देखते-देखते लेने के देने पड़ गये। मकान-मालिक भी दौड़ा हुआ आया और चैनरूपजी को दस पाँच रुपये देकर उनके घर पहुँचा दिया। माता ने 'लूपरी' से उनका उपचार किया और पट्टी बाँध दी। पाँच सात दिनके बाद जब घाव भर गया तो चैनरूपजी की इच्छा फिर से चेजे पर जाकर मज़दूरी करने की नहीं रही। उनके हृदय में यह प्रेरणा हुई कि, दस पाँच रुपये मालिक मकान से मिले हैं उसके सहारे से विदेश चलना चाहिए। माता की आज्ञा लेकर वे पैदल ही घर से चल पड़े और किसी प्रकार कलकत्ते पहुँच गए। कलकत्ते में उन्होंने एक ओसवाल फर्म में रोटी कपड़ों के साथ दो रुपये मासिक की नौकरी कर ली। काम यह था कि, उस फर्म के लड़कों की

सँभाल में वे उनके साथ स्कूल में जाते थे और सायंकाल उन्हें घर ले आते थे। यह नौकरी करते हुए उन्होंने स्कूल में कुछ लिखना पढ़ना भी सीख लिया और वाद में उक्त फर्म की दूकान पर माल दिखाने का काम करने लगे। धीरे-धीरे दो चार सौ रुपये उनके पास जमा हो गये। फिर क्या था, मारवाड़ी के लड़के थे, सूतापट्टी में एक छोटी सी आलमारी भाड़े पर ले ली और दूकानदारों से ला कर धोती जोड़े वेचने लगे। कुछ वर्षों के वाद ही वड़े दूकानदार वन गये। चैनरूपजी ने अपनी इतनी आर्थिक उन्नति की कि, वे सूतापट्टी में वड़े व्यापारी समझे जाने लगे। उन्होंने अपनी दूकान पर माल वेचने के सिवाय मैनचेष्टर से अपने नाम से सीधा माल मंगाना भी शुरू कर दिया। यहाँ पर यह वतलाना आवश्यक है कि, उस समय मैनचेष्टरवाले किसी हिन्दुस्थानी के हाथ माल न वेच कर अंग्रेज आफिसों के हाथ ही माल वेचा करते थे। परन्तु चैनरूपजी ने डिउहर्स्ट, और जी० पी० गन्नी तथा टेलर कम्पनी के साथ लिखापढ़ी करके डाइरेक्ट काम खोल लिया। इस तरह मैनचेष्टरवालों के साथ पहले-पहल चैनरूपजी ने ही वालावाला व्यापार करना शुरू किया था। चैनरूपजी की जिस समय मृत्यु हुई, उस समय उनका वड़ा नाम हो गया था और आर्थिक दृष्टि से उनका फर्म वहुत वड़ा समझा जाने लगा था। चैनरूपजी के वाद उनके पुत्र सम्पतरामजी फर्म के अधिकारी हुए। वे वहुत ही सीधे-सादे और भले आदमी थे। वे प्रायः ही अपने जन्मस्थान सरदारशहर में रहा करते थे और फर्म का काम गुमाश्तों द्वारा होता था। वे श्वेताम्बर जैन मतानुयायी ढूँढ़ापन्थी थे और शान्ति का जीवन बिताना पसन्द करते थे। जव उन्होंने देखा कि, अपने पास काफी रुपये हो गये हैं तव अधिक धन वढ़ाने की तृष्णा रखने से शान्ति नहीं मिलती, यह सोच कर उन्होंने अपने यहाँ नाममात्र का साधारण व्यापार रखा। उसका परिणाम यह हुआ कि, उनके गुमाश्तों को अवसर मिल गया और इस फर्म में जो व्यापार होता था उसका उपयोग

वे अपने लिये करने लगे। मैनचेष्टर का काम भी उन्होंने शुरू कर दिया और बड़े धनिक बन गये। इनमें बहादुरमलजी रामपुरिया बड़े सुदक्ष मुनीम थे। उन्होंने 'हजारीमल हीरालाल' के नाम से अपना निज का फर्म बनाया और इस फर्म की गणना भी देखते देखते करोड़पतियों में हो चली। चैनरूपजी के जीवन की घटनाएँ बड़ी शिक्षाप्रद हैं और टूटे से टूटे हृदय के मनुष्य में भी उत्साह पैदा कर सकती हैं।

ये विक्रमी संवत् १९०२ में चूरू से चलकर कलकत्ते आये थे।

गोरखरामजी खेमका—गोरखरामजी ने दूकानदारी का काम करके बड़ी उन्नति की। आगे चल कर आपके वंश में 'तनसुखराय गणपतराय' और 'गोरखराम जुहारमल' आदि फर्म बड़े प्रसिद्ध हुए। गणपतरायजी बड़े बाजार के व्यापारियों में प्रमुख व्यापारी समझे जाते थे। आपने 'मारवाड़ी चेम्बर आफ कामर्स' में पहले-पहल भाग लिया। आपमें गोरक्षा की भावना भी बहुत थी। आपने 'गणपतराय खेमका चैरिटी फण्ड' प्रायः छः सात लाख रुपयों का इष्टेट लगा कर बनाया है। इस फण्ड द्वारा प्रायः १००० रुपया मासिक खर्च किया जाता है। इधर कुछ काल से आप बनारस में रहने लगे थे। वहाँ पर आपने एक भजनाश्रम बनाया जिसमें अनाथ और असमर्थ स्त्रियों को भोजन दिया जाता है और उनसे अखण्ड कीर्तन कराया जाता है। खेद है कि, हाल में ही आपका बनारस में देहान्त हो गया है।

रामनिरंजन बद्रीदास—गल्ले के बाजार में इस फर्म का अच्छा नाम है।

खड्गसिंह लच्छीराम—इस फर्म की बड़ी प्रसिद्धि है। इस फर्म का कारवार आसाम में भी बहुत होता है।

छोटेलाल दुर्गाप्रसाद—इस फर्म की स्मृति गंगाघाट पर बना हुआ पक्का घाट करा रहा है।

मूलचन्द हरखचन्द—यह फर्म एक समय सराफी के फर्मों में था।

जोहारमल गंभीरमल— इस फर्म में मूलचन्दजी सोनी बड़े प्रसिद्ध हुए जिन्होंने लाखों रुपये लगाकर अजमेर में दर्शनीय जैन मन्दिर बनवाया और बड़ी ख्याति लाभ की।

निहालचन्द जादूलाल—इस फर्म की गणना एक समय बड़े फर्मों में थी। छपरे में इसका बड़ा काम होता था। अब यह फर्म कहीं देखने में नहीं आता।

गुरुमुखराय मदनगोपाल— इस फर्म में नन्दलालजी की बड़ी पूछ रही। आज भी रायबहादुर राधाकृष्णजी जालान की बड़ी ख्याति है। पटने में आपका बड़ा कारबार चलता है।

सांवतरामजी हरीराम चोखानी— अफीम चौरस्ते पर सांवतरामजी की धाक पड़ती थी। आप बहुत बड़े पैमाने में अफीम का कारबार करते थे।

गणेशदास जयरामदास— बाद में दूसरा फर्म 'गणेशदास रामगोपाल' पड़ा। भिवानी के हलवासियों के ये फर्म बड़े प्रसिद्ध समझे गये। भिवानीवालों में सबसे पहले जयरामदासजी ने यहाँ आकर बड़ी उन्नति की। बाद में माधवप्रसादजी, फूलचन्दजी और ज्ञानीरामजी ने तो इतना काम किया कि, चूरूवाले मारवाड़ियों में और भिवानी के मारवाड़ियों में परस्पर सम्बन्धादि होने लगे। इस समय माधवप्रसादजी के पुत्र हरिचरणजी बड़े सुयोग्य सज्जन हैं।

हरदेवदास गुरुदयाल— एक समय इस फर्म की ख्याति कलकत्ते के व्यापारिक क्षेत्र में बहुत थी। गुरुदयालजी बड़े लायक, सुयोग्य और हिम्मतवर व्यापारी थे। उनके नाम की धाक अंग्रेज व्यापारी मानते थे। एक समय तो उनके यहां गल्ले का व्यापार इतना होता था कि इस फर्म को लोग 'छोटी रेली' कहा करते थे।

आज भी इनके वंशधर श्रीयुक्त जगन्नाथजी नरसिंह कम्पनी के नाम से पुराने लोहे का कारबार बहुत बड़े पैमाने पर कर रहे हैं।

इस फर्म में पहले लील बीज का काम होता था। शिवदयालजी बड़े शानदार और उद्योगी पुरुष थे। आपमें यह विशेषता थी कि, धनिक न होने पर भी अपने बुद्धि-कौशल से व्यापार चलाते थे। कहा जाता है कि, लील बीज का काम करते हुए एक समय इन्होंने पुर्निया के राजा से नालिश कर प्रायः तीन लाख रुपये प्राप्त किये थे। इनके पुत्र जगन्नाथजी और रामजी-दासजी मारवाड़ी समाज में प्रसिद्ध हुए। जगन्नाथजी गम्भीर विचार-शील और व्यापारिक चतुर थे, परन्तु रामजीदासजी दबङ्ग,बुद्धिमान होने के साथ ही साथ बड़े कड़े मिजाज के और अपनी धुन के बड़े पक्के देखे जाते हैं। आपमें हिम्मत भी बहुत है। जिस काम को उठा लेते हैं, किसी की पर्वाह नहीं करते। दोनों भाइयों ने अपने अध्यवसाय से बड़ी उन्नति की। आपके यहां लील बीज, पकोड़ स्टोन और साबा घास का काम तो होता ही था, इसके अतिरिक्त एक लिमिटेड कम्पनी बना कर आपने 'इम्पेरियल जूट प्रेस' सलकिया में बैठाया और लूस जूट तथा बेलिंग का काम बड़े जोरों से किया। आपके घराने की यह विशेषता देखी जाती है कि, मामले मुकद्दमे से कभी नहीं घबड़ाते। रामजीदासजी में तो यह और भी अधिक विशेषता है कि, आप अन्य लोगों के फौजदारी केशों में भी भाग लेते हैं और आपकी सम्मति बड़ी जोरदार समझी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व तक रामजीदासजी वाणिज्य-व्यापार में लिप्त देखे जाते थे। परन्तु इधर कई वर्षों से आपने सामाजिक कामों में भी बहुत अधिक भाग लिया। आप पुराने विचारवाली पार्टी के लीडर बन गये। आपका साथ श्री जुहारमलजी खेमका से बहुत रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि, उनके साथ उद्योगी बन कर आपने 'मारवाड़ी अस्पताल' के लिये प्रायः बीस पचीस लाख रुपये जमा किये और स्वयं भी एक बड़ी

शिवदयाल सूर्यमल—

रकम दान दी। इस अस्पताल के द्वारा आज मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों का बड़ा उपकार हो रहा है। आप अब तक अस्पताल के प्रधान संचालक रहे। रामजीदासजी ने अस्पताल के लिए जितना उद्योग और परिश्रम किया उससे आपका नाम अमर रहेगा। आपको सरकार ने रायबहादुर भी बनाया। जगन्नाथजी के पुत्रों में नारायणदासजी और भगवानदासजी दोनों भाई शिक्षित और सुयोग्य हैं। रामजीदासजी के सभी पुत्र बड़े सावधान, पढ़े-लिखे और हिम्मतवाले देखे जाते हैं और श्रीयुक्त बैजनाथजी तो एसेम्बली के सदस्य भी हैं।

माणिकचन्द ताराचन्द—

माणिकचंद ताराचन्द और बींजराज हुकमचन्द इन दोनों फर्मों की बड़े बाजार में बड़ी इज्जत रही। इनके यहां विलायत से बालाबाला माल मंगा कर बेचने का काम रहा। सोमचन्दजी और हुकमचन्दजी बड़े दक्ष माने गये। इन दोनों फर्मों की आज भी बड़ी इज्जत है।

अमोलकचन्दजी पारख—

ओसवाल समाज में आप एक गणनीय व्यक्ति थे। समाज के व्यक्ति प्रायः ही आपकी सलाह और सहारा लिया करते थे।

लच्छीराम बलदेवदास
देवीदत्त हजारीमल
और
लच्छीराम वसन्तलाल—

बलदेवदासजी अपनी साधारण अवस्था में अपने जन्मस्थान दूदवे से चल कर कलकत्ते आये। बड़े अच्छे और उदार हृदय के व्यक्ति थे। बड़ी उन्नति की। शेयर बाजार के तो वे राजा कहाये और करोड़पति बन गये। वे 'कलकत्ता स्टाक एक्सचेंज एसोसियेशन' के निर्माताओं में से थे। उन्होंने भी अपने समय में काफी दान दिया। उनके छोटे भाई वसन्तलालजी ने भी शेयरबाजार में बड़ी उन्नति की। वे भी लक्षाधीश बन गये। बलदेव-

सिद्धहस्त व्यापारी और दानशील



श्रीयुक्त रायबहादुर हजारीमलजी दूदवेवाला

दासजी तथा उनके पुत्र रामेश्वरजी को सरकार ने रायबहादुरी प्रदान की। हजारीमलजी भी रायबहादुर बनाये गये। इस समय रायबहादुर बलदेवदास रामेश्वर, रायबहादुर हजारीमल सोहनलाल और लच्छीराम बसन्तलाल के नाम से तीन फर्म बड़े मशहूर हैं। हजारीमलजी रुपये बनाने में जितने सिद्धहस्त हैं, उतने ही दानशील भी हैं। इधर कई वर्षों से आपने काफी दान दिया है। जगन्नाथ धाम, वैद्यनाथ धाम, कालीघाट तथा उत्तर खंड आदि अन्य कई धार्मिक स्थानों पर आपने धर्मशालाएँ तथा मन्दिर निर्माण करवाये हैं। सब से बड़ी बात यह है कि, आपने अपने घर पर आये हुए भिक्षुक को बनी-बनाई दो रोटी देने की व्यवस्था कर रखी है। जिस प्रकार उपर्युक्त कामों में आप दान देते हैं उसी प्रकार विद्याप्रचार तथा समाज की बेकारी दूर करने में भी ध्यान दें तो समाज की और भी अधिक सेवा हो सकती है।

सूते के व्यापार में इस फर्म की ख्याति बहुत अधिक रही।

सुखदेवदास रामप्रसाद— सुखदेवदासजी, रामप्रसादजी और तनसुखरायजी ये तीनों भाई बड़े मिलनसार, सुदक्ष व्यापारी और अत्यधिक कार्यपटु थे। तीनों भाइयों ने सूते के व्यापार में अच्छी उन्नति की और फर्म की गणना अच्छे धनिकों में हो गई। उसके बाद उनके पुत्रों में श्रीयुक्त रंगलालजी, मोतीलालजी और मदनलालजी आदि ने काम सँभाला और अपने कारबार को इतना अधिक बढ़ाया कि कि, सूते के व्यापार के अतिरिक्त जूट प्रेस और काटन मिल बैठायी और जूट बेलिंग का काम भी करने लगे। अपनी व्यवसाय-बुद्धि का परिचय देते हुए रंगलालजी ने अपनी छोटी अवस्था होने पर भी ऐसा रंग जमाया कि, फर्म की गणना बड़े धनिक और उन्नत व्यापारियों में होने लगी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि, जिस प्रकार उन्होंने हिम्मत के साथ औद्योगिक व्यापार की ओर अपना पैर आगे बढ़ाया था, उसी प्रकार यदि उन्हें व्यापार की अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होती तो आज उनकी

गणना सफल व्यापारियों में होती। पर खेद है कि, जिस वातावरण में उन्होंने व्यापार विस्तार करना शुरू किया था उसमें उन्हें प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करना पड़ा। संसार में ऐसी मन्दी आई कि, सफलता प्राप्त करने के बजाय उन्हें असफल होना पड़ा। यह बड़ी विचित्र बात देखने में आती है कि, एक ही कार्य में एक व्यक्ति सफल होता है तो दूसरा असफल। शायद यही कारण है कि, हिन्दू समाज कर्म को मानता हुआ भी भाग्य को प्रधान समझता है।

रङ्गलालजी में यह विशेषता है कि, नवयुवक होते हुए भी उनके विचार प्रौढ़ हैं। शायद यही कारण था कि, मारवाड़ी समाज ने एक बार उन्हें केन्द्रीय एसेम्बली का सदस्य निर्वाचित किया था। इसके अतिरिक्त अग्रवाल महासभा के भी वे प्रधान मनोनीत हुए थे। उनका स्थान सुधारप्रिय नवयुवकों में श्लाघनीय है। उन्होंने 'शिवशंकर कम्पनी' के नाम से पहले-पहल अंग्रेजी दवाफरोशी का व्यवसाय आरम्भ किया। पर इस समय वे 'भारत इनश्योरेन्स कम्पनी' के मद्रास ब्रांच के सेक्रेटरी हैं। रङ्गलालजी सामाजिक कार्यों में न तो आवेश में आकर हठात् कोई काम कर बैठने के पक्षपाती हैं और न समाज को अनुचित रूढ़ियों का गुलाम ही देखना चाहते हैं।

कलकत्ते तथा हाथरस में इस फर्म का एक समय अच्छा नाम था।

हरसुखराय दुलीचन्द— दुलीचन्दजी बड़े मिलनसार और बुद्धिमान् आदमी थे। कलकत्ते में इनके यहाँ हुण्डी-चिट्ठी और चलानी का काम होता था। इम्पेरियल जूट प्रेस जब बना तो यह फर्म भी उसका हिस्सेदार था। इस फर्म के गुमाश्ते श्रीयुक्त शिवदत्तरायजी जालान और उनके पुत्र बंशीधरजी जालान ख्यातनामा मुनीम थे। पंच पंचायती और सामाजिक अन्य कामों में वे भाग लेते थे और उनके विचारों पर ध्यान दिया जाता था।



जाति हितैषी स्वर्गीय मन्नालालजी चमड़िया

मंडावे के चोखानियों का यह फर्म सूतापट्टी में बड़ा मशहूर रहा। हरमुखरायजी उन पुरुषों में से थे, जिन्होंने 'मारवाड़ी एसोसिएशन' जैसी नयी रोशनी की संस्था के निर्माण में भाग लिया था। हरमुखरायजी के छोटे भाई सनेहीरामजी और दौलतरामजी इतने प्रसिद्ध हुए कि, उनके नाम की समाज में बड़ी धाक मानी जाती थी। दौलतरामजी के पुत्र रामदेवजी हैं। इन दोनों पिता-पुत्रों ने समाज में बड़ा नाम पाया। इनके सम्बन्ध में प्रसंगानुसार हम आगे चल कर विशेष रूप से लिखेंगे। इस फर्म के व्यक्तियों में इस समय रामदेवजी, फूलचन्दजी, बृजलालजी, रामेश्वरजी और शिवप्रसादजी आदि बहुत समझदार हैं और अपना-अपना व्यवसाय अच्छे रूप में चलाते हैं।

हरमुखराय सनेहीराम —

रतनगढ़ निवासियों में इस फर्म के घराने की प्रतिष्ठा विशेष रूप से चली आयी है। इस फर्म में हाफारामजी, ताराचन्दजी और सनेहीरामजी बड़े सफल गृहस्थ हुए। सनेहीरामजी की गणना तो एक समय विशेष बुद्धिमानों में होती थी। समाज में भी उनका उच्च स्थान था। उनके बाद जुहारमलजी ने उक्त फर्म का काम सँभाला तो, उन्होंने फर्म की बहुत अधिक आर्थिक उन्नति की। यद्यपि जुहारमलजी अधिक पढ़े लिखे नहीं थे परन्तु उनमें अन्य प्रकार की कई एक विशेषताएँ थीं। उन्होंने व्यापार में बड़ी उन्नति की और समाज में तो एक समय उन्होंने वह स्थान प्राप्त किया कि, कोई भी सार्वजनिक कार्य होता तो धन जमा करने में तब ही सफलता होती थी, जब जुहारमलजी आगे होते थे। वे बड़े सहृदय और समाज-सेवक थे। उन्होंने अपने समय में जाति के लिए जो कार्य कर दिखाये, उन सबका परिचय पाठकों को आगे चल कराया जायगा। इस फर्म में मानमलजी और शिवदयालजी भी बड़े दक्ष व्यापारी हुए। यह प्राचीन घराना कलकत्ते में मारवाड़ी जाति के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

नाथूराम रामकिशनदास—

इस फर्म के ये दोनों व्यक्ति बहुत ही हीन अवस्था में देश से आये थे। लालचन्दजी मलसीसर के झूंझनूंवाले और शिवदत्तरायजी महणसर के मसकरे थे।

लालचन्द शिवदत्तराय—

परन्तु दोनों में बड़ा प्रेम था और एक साथ यहां आये थे। इन्होंने शेयर बाजार में व्यापार का श्रीगणेश किया और देखते-देखते बड़े धनिक बन गये। एक समय शेयर बाजार में इस फर्म की तूती बोली। लालचन्दजी पुराने ढङ्ग के आदमी थे, पर उनके पुत्र प्रेमसुखदासजी बड़े चलते-पुर्जे निकले। शिवदत्तरायजी का तो कहना ही क्या। वे अमीराना ढङ्ग के आदमी थे और बड़े समझदार समझे जाते थे। साधारण अवस्था से आश्चर्यजनक उन्नति करनेवालों में वे अनुकरणीय व्यक्ति थे। शिवदत्तरायजी के पुत्रों में इस समय बृजलालजी मसकरा बहुत ही विचारशील व्यक्ति हैं और शेयर बाजार में अपने पूर्वजों की ख्याति बनाये हुए हैं।

यह फर्म बीकानेर के माहेश्वरी कोठारियों का है। सदासुखजी बड़ेबाजार में सुप्रसिद्ध व्यापारी हुए। आपके यहाँ मूँगे का काम पहले बहुत होता था। सराफी

सदासुख गंभीरचंद—

के काम में भी इस फर्म का बड़ा नाम था। आपके नाम पर बड़े बाजार में 'सदासुख का कटरा' बड़ा मशहूर है। आपके पुत्रों में श्री मगनमलजी बड़े बुद्धिमान और जातिहितैषी सज्जन हैं। चान्दी का काम आपके फर्म में बराबर होता आया है। मगनमलजी के पुत्र श्री कृष्णचन्द्रजी कोठारी एक होनहार नवयुवक हैं। आपने जबसे काम देखना शुरू किया है, तब से नये-नये उद्योग-धन्धों की ओर आपका फर्म ध्यान दे रहा है। हाल में कई एक कम्पनियों के साथ आपने अपना सम्बन्ध स्थापित किया है। आप बड़े मिलनसार तथा उद्योगी जान पड़ते हैं।



स्वर्गीय मोहनलालजी सराफ

वृद्धिचन्दजी चमड़िया वि० सं० १६२० के लगभग कलकत्ते आये। उन्होंने आफिसों में काम किया। उनके पुत्र मुन्नालालजी बड़े सुयोग्य और मिलनसार व्यक्ति थे। सामाजिक कामों में भाग लेते थे। आज भी इस फर्म में ग्लाड्सट्रनवाली की आफिस बनी हुई है।

वृद्धिचन्द मन्नालाल—

कलकत्ते के बाजार में इस फर्म की बड़ी ख्याति रही। सूतापट्टी में इनकी दूकान प्रधान समझी जाती थी। इस फर्म में कभी फाटके का काम नहीं रहा। 'रेली ब्रादर्स' के कोरे नैनसुखों का बन्धा हुआ काम था। एक इसी कपड़े के काम से यह फर्म बहुत बढ़ा। परिवार बहुत बड़ा था। सामाजिक खर्चा भी अच्छे रूप में किया जाता था। गाड़ी-घोड़े और जोड़ी-गाड़ियाँ चलती थीं। सच तो यह है कि, इस फर्म ने केवल कपड़े की एक दूकान से बड़े-बड़े काम किये और समाज में श्लाघनीय स्थान प्राप्त किया। मोहनलालजी बड़े बुद्धिमान थे। उनके पुत्र लक्ष्मीनारायणजी और ओंकारमलजी बड़े चलते-पुर्जे हुए। हरिबक्सजी और आनन्दरामजी की भी बड़ी प्रतिष्ठा रही। आनन्दरामजी सूतापट्टी में सुदक्ष दूकानदार माने जाते थे। बाद में इस फर्म के तीनों भाई अलग-अलग हो गये और अपना-अपना काम करने लगे। सेवारामजी आज भी सुदक्ष व्यापारी समझे जाते हैं। हरिबक्सजी के पुत्रों में दुर्गाप्रसादजी सीधे-सादे किन्तु बड़े लायक व्यक्ति हैं। उनके छोटे भाई गोरधनदासजी की गणना होशियारों में होती है। आनन्दरामजी के कई पुत्र हैं, जिनमें महादेवजी और बाबूलालजी अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ वर्षों से इस फर्म के व्यक्ति अलग-अलग काम करने लगे हैं और इस घराने की ख्याति बहुत है।

मोहनलाल हीरानन्द—

इस फर्म का नाम पहले तेजपाल ब्रह्मादत्त था। बाद में दो फर्म चलने लगे। इन फर्मों की ख्याति बहुत रही और आज भी है।

तेजपाल जमनादास—

शिवचन्द्राय हरध्यानदास—इस फर्म में हरध्यानदासजी चूड़ीवाले वड़े प्रसिद्ध हुए। कपड़े के वाजार में इनकी वड़ी ख्याति रही। एक समय 'ग्राहम कम्पनी' के दलाल भी मनोनीत हुए थे। इनके परिवार में श्रीनिवासजी वड़े मिलनसार व्यक्ति थे, जिन्होंने 'एलन ब्रादर्स' की आफिस में अच्छा काम किया था।

मनोराम हर्जीमल—किराने के वाजार में इस फर्म की एक समय उल्लेखनीय ख्याति थी। कोई भी मारवाड़ी भाई किराने की दलाली करता, वह प्रायः इस फर्म से काम पाता था। वोहितरामजी की वड़ी प्रसिद्धि हुई। आपके पास कोई भी मारवाड़ी भाई दलाली पाने के उद्देश्य से आता था, तो विमुख होकर नहीं लौटता था।

शिवनारायण रामनारायण वोहरा—एक समय यह फर्म भी वड़ा प्रसिद्ध और अच्छा समझा जाता था।

गोपीराम भगतराम—इस फर्म ने एक समय वड़ा नाम प्राप्त किया था। वड़ा कारवार होता था। गोपीरामजी, भगतरामजी और फूलचन्दजी की वड़ी प्रतिष्ठा रही। वाद में ये अलग-अलग हो गये और दूसरा फर्म 'भगतराम शिवप्रसाद' के नाम से वड़ा प्रसिद्ध हुआ। घृतान्दोलन के समय समाज ने फूलचन्दजी को वड़ा कड़ा दण्ड दिया था। परन्तु फूलचन्दजी ने उस कड़े से कड़े दण्ड को इस प्रकार शिरोधार्य किया कि, जिससे लोग उनकी प्रशंसा करने लगे थे। इसका कारण यह था कि, फूलचन्दजी ने यह दिखा दिया था कि, सामाजिक सत्ता क्या है और समाज के व्यक्तियों को उसकी आज्ञा का पालन कैसे करना चाहिये।

कन्हीराम हजारीमल—इस फर्म का कारबार कई स्थानों पर अच्छे रूप में होता है और बड़ा सम्पन्न फर्म समझा जाता है। वर्तमान में इस फर्म के मालिक इन्द्रचन्दजी हैं और बड़े लायक एवं होनहार युवक दीख पड़ते हैं। आप विद्वानों का सत्कार भी किया करते हैं।

चेतरामजी चौधरी—सूतापट्टी में एक समय आपकी धाक पड़ती थी। लाल कपड़े के आप प्रसिद्ध व्यापारी थे। आपमें जातीयता और कुटुम्ब-प्रेम बहुत अधिक था।

श्रीगोपाल विलासराय—इस फर्म के मालिक विलासरायजी चौधरी का एक समय बड़ा नाम हुआ। आप साड़ियों के व्यापारी थे। दान-धर्म तथा सामाजिक कामों में अच्छा भाग लेते थे।

रामप्रसाद चिमनलाल—यह फर्म लकड़ी के व्यापार में बहुत बढ़ा। चिमनलालजी ने समाज में प्रमुख स्थान पाया। आप श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के कई वर्षों तक मन्त्री रहे जिससे विद्यालय की उन्नति हुई। इस समय उनके पुत्र रामेश्वरजी भी बड़े अच्छे व्यक्ति हैं।

जोधराज मुरलीधर—जोधराजजी धानुका ने श्लाघनीय नाम प्राप्त किया था।

गोपीराम गोविन्दराम—यह फर्म रतनगढ़ के माहेश्वरी तापड़ियों का है। इस फर्म में शिवबक्सजी, गोविन्दरामजी और हरदेवदासजी बड़े प्रसिद्ध हुए। इस समय रायबहादुर मंगतूरामजी तापड़िया इस फर्म में प्रमुख समझे जाते हैं। आप बड़े मिलनसार और समझदार हैं। आपका स्वास्थ्य वर्षों से खराब रहने पर भी व्यापार में फर्म की अधिकाधिक उन्नति करने का श्रेय आपको है।

आपकी विशेषताओं का यह भी प्रमाण है कि, सरकार ने आपको राय बहादुर की उपाधि प्रदान की है और इस समय आप इम्पेरियल बैंक के डाइरेक्टर तथा बंगाल कौन्सिल के सदस्य हैं। आपके फर्म की आज जो इतनी उन्नति देखी जाती है उसका एक इतिहास है श्रीयुक्त गोविन्दरामजी और हरदेवदासजी के साथ इस पुस्तक के लेखक का सम्पर्क कई वर्षों तक रहा था। वे कहा करते थे कि, हमारे पूर्वज और हम कपड़े के थान कन्धे पर रख कर गद्दियों तथा बाजारों में जाकर बेचा करते थे तथा बेचा हुआ माल निज में जाकर पहुंचाते थे। उनका कहना था कि, जाति के व्यक्तियों में इतनी परिश्रमशीलता थी, तब ही इस जाति की उन्नति हुई थी।

यह फर्म चूरू के माहेश्वरी मन्त्री जाति का है। इस फर्म के

रूपलाल जुहारमल— पूर्व पुरुष जोहरीमलजी रामलाल के, जो कि पोद्दारों का फर्म था, एक समय गुमाश्ते थे। परन्तु बाद में इस फर्म के पूर्व पुरुषों ने बड़ी उन्नति की और कई स्थानों पर इनकी दूकानें चलने लगीं। कलकत्ते में इस फर्म की बड़ी प्रतिष्ठा रही। इस फर्म के गुमाश्ते महादयालजी मंडावेवाले की गणना सुदक्ष और अनुभवी मुनीमों में होती थी। उन्होंने जिस प्रकार इस फर्म की उन्नति की उसी प्रकार आप भी धनी बन गये थे। बाद में इस फर्म के व्यक्ति अलग-अलग हो गये तो रूपलाल जुहारमल, रूपलाल रामप्रताप, रूपलाल लक्ष्मीनारायण और रूपलाल जमनाधर चार फर्म चलने लगे। इन फर्मों की बड़ेबाजार में एक समय बड़ी पूछ थी। खेद है कि, कुछ वर्षों से चारों फर्मों ने ही कारबार बन्द कर दिया है।

कपड़े के व्यापार में इस फर्म की एक समय बड़ी धाक रही।

हरिसिंह चुन्नीलाल— चुन्नीलालजी बड़े हिम्मतदार व्यापारी थे। एक समय तो ऐसा देखा गया कि, उनकी गद्दी में आफिसों के दलालों और व्यापारियों का मेला लगा रहता था।



श्रीयुक्त रामकुमारजी झूँझनूँवाला

चलानीवाले फर्मों में इस फर्म की गणना एक समय अच्छे रूप में देखी गई। इस फर्म के मालिकों में दलसुखरायजी व हरिबक्सजी जी खोल कर व्यापार करते थे।

रामप्रसाद सूर्यमल—

यह भी चलानी का फर्म था। इस फर्म में सूर्यमलजी ब्राह्मण गुमाश्ता थे और बड़े अच्छे ढङ्ग से काम करते थे। इस फर्म की ख्याति भी बहुत है।

रामप्रसाद ईश्वरदास—

नवलगढ़ के पाटोदियों का यह फर्म एक समय बड़ी उन्नति पर देखा जाता था। इस फर्म की कई दूकानें भिन्न भिन्न प्रान्तों में चलती थीं। देवीदत्तजी बड़े होशियार और हिम्मतदार व्यापारी थे। बाद में दो फर्म हो गये थे।

रामचरनदास हजारीमल—

इस फर्म का कारबार कलकत्ते और बंबई में बड़े जोरों पर चला। इस फर्म की गणना बहुत बड़े धनिक फर्मों में हुई, अब भी बहुत अच्छी अवस्था में है। परन्तु कुछ समय से फर्म के मालिक रामकुमारजी और श्रीरामजी दोनों भाई अलग अलग होने से पहले जैसा व्यापार अब नहीं रहा। श्रीयुक्त रामकुमारजी झूंझनूँवाले बड़े सावधान और चलते-पुर्जे व्यक्ति हैं। समाज में एक प्रकार से उनका विशिष्ट स्थान है। समाज की सनातनी पार्टी में उनकी गणना विशेष रूप से होती है। उनमें जातीयता की भावना बहुत देखी जाती है; परन्तु साम्प्रदायिकता भी बहुत रखते हैं। हमारी धारणा है कि, रामकुमारजी साम्प्रदायिकता की कट्टरता और पार्टी-लीडरी की भावना में उचित परिवर्तन कर सकें तो उनके द्वारा समाज-संगठन में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। वास्तव में वे एक प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनके सभी पुत्र सुयोग्य समझे जाते हैं।

सनेहीराम जुहारमल—

यह फर्म विश्वेश्वरलाल हलवासिया और हरगोविन्ददास डालमिया के साझे का था। विश्वेश्वरलालजी जिस समय भिवानी से आये उस समय बहुत ही साधारण स्थिति में थे। परन्तु स्वाभावतः व्यापारिक बुद्धि और उत्साह बहुत था। बोरों की दलाली करने लगे। देखते-देखते कुछ ही वर्षों में इतनी उन्नति की कि बड़े धनिकों में आपकी गणना होने लगी। आपमें यह विशेषता देखी गई कि हुल्लड़बाजी से व्यापार नहीं करते थे। आप बहुत बड़ी तादाद में हैसियन और बोरों का पोता-माथा रखते थे पर उसे बहुत ही कम आदमी जान पाते थे। यही कारण था कि, आपकी प्रसिद्धि समाज में बहुत बड़े धनिक बन जाने के बाद हुई। आपका फर्म करोड़पति समझा जाने लगा। सरकार ने आपको रायबहादुर की पदवी प्रदान की। सामाजिक कामों में भी आपने भाग लेना शुरू किया। परन्तु गार्हस्थ्य-सुख जितना मिलना चाहिए था, वैसा प्राप्त नहीं हुआ। पहले तो आपकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। बाद में एक मात्र छोटे भाई मोतीलाल भी आपके सामने ही चल बसे तो आपको इतना बड़ा धक्का लगा कि, स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। आप दोनों भाइयों के कोई पुत्र न होने के कारण दत्तक पुत्र लिए गए। परन्तु अपने छोटे भाई मोतीलाल की मृत्यु के बाद अपाका दिल इतना टूट गया कि आप अधिक समय तक जीवित न रह सके। यद्यपि अपनी जीवित तथा समुन्नत अवस्था में आपने धन कमाने पर ही अधिक ध्यान दिया था, दान पुण्य कम ही करते थे। परन्तु अन्त समय में आपने सर्वस्व दान कर दिया। विधवा पत्नियों और दत्तक पुत्रों के लिए मामूली रुपये छोड़ कर अपनी सारी सम्पत्ति आपने दान कर दी और स्वर्ग सिधार गये। मारवाड़ी समाज में यह सबसे बड़ा दान समझा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस दान का बहुत बड़ा स्टेट ट्रस्टियों के हाथ में है और आवश्यकतानुसार कार्य किया जाता है।

विश्वेश्वरलाल हरगोविन्द—



श्रीयुक्त रंगलाल पोद्दार

ट्रस्ट सावधानी और सुयोग्यता से कार्य करता रहे तो इस स्टेट से भविष्य में बहुत बड़ा कार्य हो सकता है।

बिश्वेश्वरलालजी ने अपनी जीवित अवस्था में ही अपने साथी हरगोबिन्दजी को लाखों रुपये देकर अलग कर दिया था। उन्होंने 'हरगोबिन्द मथुरालाल' के नाम से अपना फर्म खोल लिया। इन दोनों साझेदारों का जीवन पर्यन्त मेल रहा। इस समय रायबहादुर सेढ़मलजी डालमिया अपने फर्म का काम देखते हैं और सुयोग्य हैं।

बलदेवदास जगन्नाथ— यह फर्म मण्डावे के झूंझनूंवालों का है और रानीगंज में इसकी बड़ी ख्याति है। इस फर्म में श्री० जगन्नाथजी ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। रानीगंज में आपका नाम सर्वोपरि देखा जाता है। समाज-सुधार के कार्यों में तो आप नवयुवकों से दो कदम आगे रखते हैं। समाज-सुधार की भावना आप में उस समय से देखी जाती है जिस समय सुधार का नाम लेना भी अपराध समझा जाता था। आप में यह विशेषता है कि, अनुचित रूढ़ियों का मुकाबला करने के लिये आप हर समय मुस्तैद देखे जाते हैं। आपका परिवार बहुत बड़ा है तथा पुत्र-पौत्र और परपौत्र आदि प्रायः सभी सुशिक्षित हैं। आपकी पौत्री दिल्ली की श्रीमती पार्वती देवी डीडवानियां जो कि आज राष्ट्र-कार्य और समाज सुधार में प्रमुख भाग लेती देखी जाती है, उसका कारण आपकी शिक्षा-पद्धति ही है। यद्यपि आप स्वयं विशेष पढ़े लिखे नहीं हैं तथापि अपने स्वतंत्र विचार हर समय प्रकट करते रहते हैं। आपने शिक्षा और सुधार संबंधी कार्य बहुत किया है। सुधारप्रियता की दृष्टि से मारवाड़ी समाज में आप एक आदर्श व्यक्ति समझे जाते हैं।

जिन्दाराम हरविलास— इस फर्म के मालिक श्री० तेजपालजी सांगानेरिया मलसीसर से वि० सं० १९२७ में कलकत्ते आये। आपने बंकों के फर्म में काम करते हुए इतनी दक्षता प्रकट की कि, कपड़े के बाजार में आपकी प्रमुख गणना होने लगी। संवत्

१९५० में आपने उपरोक्त फर्म बनाकर स्वतंत्र रूप से कार्य करना शुरू किया। आढ़तदारी का काम प्रधान था। इसके अतिरिक्त 'एलेन ब्रादर्स' 'मिचल वार्सली' 'मैकेन एण्ड मैकेंजी' 'जापान काटन ट्रेडिंग कम्पनी' और 'टोयोमेन्का कैसा' आदि कई एक विदेशी कंपनियों की वैनियन-शिप का काम किया। आपने इतनी उन्नति की कि, मुजफ्फरपुर बलिया, नानपाड़ा, बहराइच, पटना, बनारस, अहमदाबाद और हिसार आदि स्थानों पर अपने फर्म की शाखाएँ खोल दीं।

आप में व्यापारिक योग्यता इतनी थी कि, आप 'मर्चेण्ट्स कमेटी' के एक समय सर्वेसर्वा देखे जाते थे। आपमें दान देने की भावना भी बहुत थी। संवत् १९६२ में मलसीसर में आपने दातव्य औषधालय खोला। वहीं पर 'तेजपाल संस्कृत पाठशाला' स्थापित की और धर्मशाला का निर्माण करवाया। आप में स्वाभिमान और जातीय-प्रेम बहुत था। मर्चेण्ट्स कमेटी में आप के साथ लेखक का संपर्क बहुत रहा। वास्तव में आप बड़े सुयोग्य सज्जन थे और मारवाड़ी समाज के हितचिन्तक थे। आपके पुत्र श्री राधाकृष्णजी सांगानेरिया इस समय बड़े मिलन-सार और सुयोग्य हैं।

मुन्नालाल शोभाचंद—

मुन्नालालजी सुराणा ने चूरू से आकर सूतापट्टी में धोती जोड़ों की दूकान की। आप बड़े परिश्रमशील व्यक्ति थे। क्रमशः उन्नति करते करते आपकी गणना बड़े धनिकों में होने लगी। मेहनत मजदूरी और रस कस बैठाकर पचासों लाख रुपये जमा करने का उदाहरण मुन्नालालजी में पाया जाता है। शोभाचंदजी के पुत्र तिलोकचंदजी की गणना विशेष समझदारों में होती है।



स्वर्गीय तेजपालजी सांगानेरिया

फतहपुर के श्री बिशनदयालजी पोद्दार ने कलकत्ते में आकर प्रधानतः स्थानीय स्टाक एक्सचेंज में दलाली का काम करना शुरू किया। आप कर्मठ और संयमी पुरुष थे। शेयर बाजार में आपने अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी कायम कर ली। आपके पुत्र श्री गजानन्दजी भी कारबार करने में बड़े सुयोग्य हुए। आपने देखते देखते शेयरों के व्यवसाय में लाखों रुपए कमाये। स्वभावतः कड़ा मिजाज होने के कारण यद्यपि अपने पुत्र श्री दयाराम से आपकी नहीं पटी और पिता-पुत्र अलग हो गये, तथापि आपने अपनी मृत्यु के समय दान करने की जो घोषणा की उससे समाज में आपकी बड़ी सुकीर्ति हुई। फलस्वरूप आज आपके धन से बने हुए 'मारवाड़ी छात्र निवास' और 'ब्राह्मण भवन' आपकी दानशीलता को घोषित कर रहे हैं। आपके पुत्र दयारामजी ने अपने पिता से अलग होकर बिशनदयाल दयाराम के नाम से कारबार करना शुरू किया। आप बड़े स्वाभिमानी और स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति हैं। आपने अपने घनिष्ठ मित्र बाबू बलदेवदास सरावगी के सहयोग से 'कलकत्ता जूट मैनुफैक्चरिंग कंपनी लिमिटेड' के नाम से हेसियन और बोरे बनाने की मिल स्थापित की। इसके अतिरिक्त मद्रास में पेपर मिल तथा कलकत्ते में स्वदेशी पंखे बनाने का कारखाना और कतिपय अन्य प्रकार के उद्योग धंधों में भी प्रगति की।

विशनदयाल गजानन्द—

सराफी के फर्म और बैंकिङ्ग व्यवसाय की उपयोगिता

बैंकिङ्ग व्यवसाय इस देश के लिए कोई नयी चीज नहीं है। कतिपय अर्थशास्त्रियों का कथन है कि, अन्य देशों में, जिस समय कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था, उस समय भारत के व्यापारियों ने सराफी के व्यवसाय को जन्म दिया था। राजस्थान तो सराफी के व्यवसाय में बराबर ही काफी प्रसिद्ध रहा है। सच तो यह है कि, हमारे समाजवेत्ताओं ने समाज में आर्थिक भेदभाव को दूर करने के लक्ष्य से बहुत पहले से सराफी के व्यवसाय की रचना की

थी। वे जानते थे कि, समाज में सभी व्यक्ति समान रूप से धनसम्पन्न नहीं होते। धन का बाहुल्य तो कुछ ही व्यक्तियों के पास होता है। उन्होंने अनुभव किया कि, समाज के कुछ ही व्यक्ति यदि धनसम्पन्न बने रहे और उनके धन का सदुपयोग सर्वसाधारण जनता में न हो सका तो बहुत संभव है कि समाज के धनी और निर्धनों में पारस्परिक सद्भाव का ह्रास हो जाय। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि, सिद्धान्ततः देश का धन वास्तव में राष्ट्र और समाज की सम्पत्ति है, उस पर यदि कतिपय व्यक्तियों का ही अधिकार रहे और सर्वसाधारण जनता तथा जाति भाई उस धन से कुछ भी लाभ न उठा सकें, तो यह असंतोषप्रद है। इस दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार कर उन्होंने यह तत्व खोज निकाला कि, धन की जो बड़ी राशि कुछ ही व्यक्तियों के पास रहती है उसका विनिमय एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर सर्वसाधारण व्यापारियों में हो सके और उससे सर्वसाधारण भाई वाणिज्य-व्यापार में लाभ उठाने का अवसर पा सकें, इस दृष्टि से सराफी का व्यवसाय कायम किया जाय। इसके लिए उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से व्यवस्था की। यह एक अनुभवसिद्ध स्वाभाविक सी बात है कि, संसार में सभी कार्य किसी न किसी रूप में स्वार्थ के आधार पर ही संचालित हुआ करते हैं। विना किसी प्रकार के स्वार्थ के कोई भी कार्य क्यों न हों, उसके लिए मनुष्यों में दिलचस्पी पैदा नहीं हो सकती। धनिक व्यक्तियों को अपने धन का विनिमय करने में यदि किसी प्रकार का स्वार्थ न दिखाई दे तो वे अपने धन का विनिमय क्यों करे। ऐसी अवस्था में तो उनका धन एक ही स्थान पर पड़ा रहेगा और उस धन से कोई भी दूसरा व्यक्ति लाभ न उठा सकेगा। इस विचार को सामने रख कर उन्होंने कमीशन के रूप में ब्याज का दस्तूर कायम किया, जिससे धनिकों को अपने धन का ब्याज मिलने से धन का विनिमय करने में दिलचस्पी होने लगी और साधारण जनता ने इस प्रकार धन प्राप्त कर उसे वाणिज्य-व्यापार में लगा अपनी उन्नति करने का अवसर

पाया। यहां पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, हमारे पूर्व पुरुषों और समाज-संचालकों ने व्याज का जो दस्तूर कायम किया था, उसमें उनका एक मात्र लक्ष्य यही था कि, व्याज के प्रलोभन से धनिक व्यक्ति अपने धन का विनिमय करेंगे और साधारण व्यक्ति कमीशन के रूप में निर्धारित साधारण व्याज पर रुपये प्राप्त कर अपना काम चला सकेंगे। इसके अतिरिक्त समाज में धनिक और निर्धन का भेद-भाव भी पैदा न होगा। निर्धन व्यक्ति समझेंगे कि, यद्यपि उनके पास धन नहीं है तथापि जिन भाइयों के पास धन है, उनका धन आवश्यकता होने पर उन्हें व्याज पर मिल सकता है और उस धन को व्यापार में लगा कर वे अपनी उन्नति कर सकते हैं। इससे धनिकों और निर्धनों में सद्भाव बना रहा और किसी प्रकार का विघटन नहीं हो सका। इस प्रकार धन प्राप्त करने की सुगमता होने से पूर्वजों ने पहले-पहल कमीशन के रूप में साधारण लेन-देन के लिए व्याज की दर पौने आठ आने सैंकड़ा कायम की थी। व्याज की यही दर व्यापार के बड़े बड़े केन्द्रों में खास कर उत्तर-पश्चिम भारत में आज भी इसी रूप में देखी जाती है। केवल बंगाल में नौ आना सैंकड़ा व्याज का प्रचलन हुआ, जो खाते-पत्र के रूप में आज भी बना हुआ है। रही बात हुण्डी, चिट्ठी और पुर्जों की। इनके लिए पूवजों ने ऐसी व्यवस्था की कि, व्यापारिक क्षेत्र में धन लगाने वालों की अधिकता होती तो व्याज की दर कम हो जाती और यदि धन की मांग अधिक होती तो उसकी दर बढ़ जाती थी, परन्तु, खाते के रूप में धन का जो लेन-देन होता था, उसका व्याज वही रहता था जो निश्चित किया गया था। इसके अतिरिक्त पूर्वजों ने डिसकाउन्ट का दस्तूर भी कायम किया था। उसका मतलब यह था कि, रुपये लगा कर मुद्दती हुण्डी खरीदनेवाले सराफ को मुद्दत के पहले यदि रुपयों की दरकार हो जाती, तो बाजार भाव से वह बीच में ही हुण्डी दूसरे के हाथ बेच कर धन प्राप्त कर सकता था। यह व्यवस्था इतनी सुन्दर और

सरल थी कि व्यापारिक क्षेत्र में धन का विनिमय करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो पाती थी। धनिक व्यक्तियों को अपने धन का उचित व्याज सुगमता के साथ मिल जाता था और साधारण व्यक्ति इस प्रकार धन प्राप्त कर व्यापार में अपनी उन्नति करने का अवसर पाते थे। यही कारण था कि, समाज में धनसम्पन्नता और गरीवी का न तो भेदभाव उत्पन्न हुआ और न सर्वसाधारण भाइयों को व्यापार में लगने में कठिनाइयां ही हुईं। कैसी सुन्दर व्यवस्था थी और कैसा सुंदर साम्यवाद था!

हमने कतिपय पुराने फर्मों का जो पहले उल्लेख किया है, उससे पाठक समझ गये होंगे कि, उन पुराने फर्मों में वाणिज्य-व्यापार के साथ थोड़े बहुत रूप में सराफी का व्यवसाय अवश्य होता था। जहां पर व्यापार की मंडी कायम होती थी, वहां सराफी के फर्म आजकल की वकों के रूप में धन का विनिमय करते थे। उसी के आधार पर सर्वसाधारण व्यापारी व्यापार किया करते थे।

कलकत्ते के वड़ेवाजार में एक समय सराफी के १६ फर्म वड़ मशहूर थे। वाद में उनकी संख्या घटती वढ़ती रही। पर सच तो यह है कि, वे ही १६ फर्म मारवाड़ी समाज की वैंकें थी। सराफी के फर्मों के सम्वन्ध में हमने जो अनुसन्धान किया, वह इस प्रकार है:—

(१) लक्ष्मीचन्द राधाकृष्ण, पारखजी वाले (२) रामलाल विहारीलाल साह, विहारीलाल वाले। (३) वहादुरसिंह प्रतापसिंह (४) कल्लूवावू लालचन्द (५) माधोवनदास द्वारकादास (६) चतुर्भुज गोविन्दनारायण (७) दुलीचन्द ववरीमल (८) जोहरीमल रामलाल (६) हरसामल रामचन्द्र (१०) ताराचन्द घनश्यामदास (११) रामप्रसाद सरजूप्रसाद (१२) सूरतराम रायभान (१३) दौलतराम किशनदास (१४) शीतलप्रसाद खड्गप्रसाद (१५) रामचन्द पूनमचन्द (१६) शिवलाल मोतीलाल (१७) हरगोपाल चिमनराम (१८) रामलाल

बद्रीदास (१६) सेवाराम कालूराम (२०) वंशीलाल अबीरचन्द (२१) फूलचन्द मखनलाल (२२) सेवाराम खुशालचन्द (२३) हरसुखदास बालकृष्ण (२४) मुलतानचन्द कन्हैयालाल (२५) मुलतानचन्द डागा (२६) हरसुखदास छोगमल (२७) चैनरूप सम्पत्तराम (२८) हरमुखराय रामचन्द्र (२६) हजारीमल सागरमल और (३०) गणेशदास किसनचन्द ।

बहुत संभव है कि, सराफी के और भी कई फर्म रहे हों। इन फर्मों द्वारा समाज में धन का विनिमय हुण्डी-पुर्जे और खाते के रूप में होता था, जिससे साधारण व्यापारी भाई धन प्राप्त कर लाभ उठाते थे और समाज के धनहीन भाई हुण्डियों की दलाली कर अपना काम चलाते थे।

पुराने और वर्तमान बैंकिंग व्यवसाय पर तुलनात्मक विचार—

वाणिज्य-व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले अनुभवी व्यक्तियों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि, व्यापारिक क्षेत्र में बैंकिङ्ग अर्थात् सराफी के व्यवसाय की कितनी आवश्यकता है। आज तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि संसार भर के व्यापार का संचालन बैंकों द्वारा ही होता है। जिस प्रकार आज बैंकों की सहायता बिना व्यापार का संचालन सुगमता से नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्राचीन समय में सराफी के व्यवसाय द्वारा व्यापार की वृद्धि और संचालन होता था। परन्तु प्राचीन समय के सराफी के व्यवसाय में और आजकल की बैंकों की पद्धति में मूलतः समता होने पर भी व्यावहारिकता में बहुत बड़ा अन्तर हो चला है। वह अन्तर यह है कि आजकल की बैंकें उस व्यापारी के हाथ धन का विनिमय करती हैं, जिसके पास स्थावर या जंगम किसी प्रकार की सम्पत्ति होती है और जमानत के रूप में उस सम्पत्ति द्वारा बैंक का मन भर दिया जाता है। यदि किसी व्यापारी के पास चल या अचल सम्पत्ति कुछ भी नहीं है तो

उस व्यक्ति को वर्तमान बैंकें एक रुपया भी नहीं देती। परन्तु हमारे पुराने सराफी के व्यवसाय में यह विशेषता थी कि, सम्पत्ति पर तो रुपये दिये ही जाते थे, इसके अतिरिक्त व्यापारियों को उनकी व्यक्तिगत साख पर भी रुपये मिलते थे। किसी प्रकार की निज की सम्पत्ति न होने पर भी जो व्यापारी अपनी व्यक्तिगत साख पर व्यापार करता था तथा करना चाहता था, उसको भी व्यापार के लिए हुण्डी-पुर्जे तथा खाते के रूप में रुपये मिल सकते थे। किसी भाई के पास रुपये या किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं होती और उसका व्यापारिक लेन-देन अच्छा होता तथा लेन-देन के व्यापार में किसी प्रकार का लांछन न पाया जाता तो उस व्यक्ति को उसके कारवार के अनुसार रुपये मिल जाते थे और साधारण व्यक्ति व्यापार में लग कर लाभ उठाते थे। इस प्रकार के लेन-देन में व्यक्तियों की साख ही आधार मानी जाती थी। उस समय अपनी साख बनाये रखने का बड़ा महत्व था। लोग हर समय इस बात का खयाल रखते थे कि, कहीं साख न चली जाय। इसका परिणाम समाज पर बहुत लाभप्रद होता था। साख के भय से लोग सावधान रहते थे। न तो वे फिजूलखर्च करते थे और न व्यापार के अतिरिक्त किसी प्रकार की फाटकेबाजी की शरण लेते थे। अपनी साख बनाये रखने के उद्देश्य से आय से अधिक व्यय करना वे साख को बरबाद करनेवाला ही नहीं समझते बल्कि पाप मानते थे। यही कारण है कि, मारवाड़ी समाज की इतनी उन्नति हुई। परन्तु आजकल की बैंकों द्वारा सर्व-साधारण व्यक्ति पहले जैसी सुगमता प्राप्त कर सकते हों, यह बात इस समय नहीं है। आवश्यकता यह है कि, समाज अपने पुराने सराफी के व्यवसाय पर अधिकाधिक ध्यान दे और वर्तमान बैंकों में सार्वजनिक हित के खयाल से जो त्रुटियां बनी हुई हैं, उसमें सुधार करने की चेष्टा करे। कुछ वर्षों से समाज के सराफी के व्यवसाय में बड़ा भारी ह्रास हो गया है। सच तो यह है कि वर्तमान समय में तो सराफी का केवल नाम

मात्र रह गया है। इसी का ही यह परिणाम है कि, कुछ वर्षों से समाज में बेकारी बढ़ने लगी है। इसके अतिरिक्त यह बात भी देखी जाती है कि, धनिक व्यक्तियों को अपने धन का उचित व्याज मिल सकता हो, यह बात भी नहीं रही है। वे अपने धन को सरकारी सिक्युरिटियों में लगाते हैं या अन्य प्रकार से इधर उधर विनिमय करते हैं, जिनसे न तो समाज का हित होता है और न देश की सम्पत्ति ही बढ़ने पाती है। आवश्यकता यह है कि, धनिक व्यक्ति अपने धन को प्राचीन सराफी के व्यवसाय के अनुसार समाज और देश के व्यापार में लगावें। इससे समाज और देश के हितों की रक्षा होगी और वे भी उचित व्याज सहज में पा सकेंगे।

हमने सराफी के व्यवसाय के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उस पर विशेष रूप से ध्यान देने और विचार करने की आवश्यकता है। व्यापार-पटु मारवाड़ी समाज के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए सराफी का व्यापार ही एक ऐसा साधन है जिससे समाज की रक्षा हो सकती है।

व्यापार में सर्वोपरि उन्नति और देशव्यापी ख्याति—

वाणिज्य-व्यापार के सम्बन्ध में अब तक हमने जो कुछ प्रकाश डाला उससे पाठक समझ सकते हैं कि, मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों ने किस प्रकार इस बंगाल प्रदेश में अपनी साख जमाई और व्यापारपटु जाति कहे जाने का श्रेय प्राप्त किया। इस प्रकार इस जाति की व्यापारिक क्षेत्र में जब श्लाघनीय साख जम गई तो इसकी ख्याति न केवल समस्त भारतवर्ष में ही हुई अपितु विदेशों में भी होने लगी। लोग समझने लगे कि, विद्या की कमी होने पर भी इस जाति के व्यक्तियों में व्यापार का गुण स्वाभाविक रीति से विद्यमान है। यही कारण हुआ कि, वे मारवाड़ी जाति की विशेषता वाणिज्य-व्यापार में स्वीकार करने लगे। 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' के अनुसार इस जाति की आर्थिक उन्नति भी बहुत हुई। कलकत्ते में मारवाड़ी जाति की

जन-संख्या इतनी वढ़ गयी कि, कलकत्ता वङ्गाल प्रदेश में होने पर भी उसका वड़ावाजार मारवाड़ी नगर की सी शोभा पाने लगा। जिधर देखो उधर ही मारवाड़ियों की वांकी पगड़ी की छटा यह प्रमाणित करने लगी कि, कलकत्ते का वड़ावाजार मानो राजपूताने में वसा हुआ है और मारवाड़ी जाति की संस्कृति, उसकी चाल-ढाल तथा रीति-रिवाज का डंका वज रहा है। मारवाड़ियों की वड़ी वड़ी दूकानें, व्यापारिक कोठियां तथा विशालकाय गगनस्पर्शी मकानात एवं अट्टालिकाएँ, वाग वगीचे और अन्य प्रकार के सभी वैभव इस जाति की चरमोन्नति का परिचय देने लगे। धर्मशालाएँ, मन्दिर, गोशाला, गंगाघाट, अस्पताल, दातव्य औषधालय, अन्नक्षेत्र आदि मारवाड़ी जाति की धनसम्पन्नता और परोपकारी भावों की घोषणा करने लगे। छोटी छोटी पाठशालाओं और गुरुशालाओं के अतिरिक्त स्कूल-विद्यालय और पुस्तकालयों तथा वाचनालयों पर भी समाज का ध्यान गया। नयी पद्धति के अनुसार सभा सोसाइटियों का सूत्रपात भी हुआ। कहने का सारांश यह है कि, विक्रमी संवत् १९६० अर्थात् सन् १९०३ तक समाज की उत्तरोत्तर उन्नति होती रही और किसी प्रकार भी प्रगति में कमी नहीं आ सकी।

वाणिज्य-व्यापार के सिवाय दानशीलता ने इस जाति का नाम अमर वना दिया। यद्यपि भारतवर्ष में दानशील समाजों की कमी नहीं, उनमें पारसी आदि समाज वहुत प्रसिद्ध हैं, तथापि मारवाड़ी जाति की ख्याति विशेष रूप से इसलिए हुई कि, इस जाति के व्यक्तियों ने दान देने के समय यह संकुचित भाव धारण नहीं किया कि, पहले अपनी जाति की सहायता की जाय और वाद में दूसरों को दान दिया जाय। मारवाड़ी धनिकों के पास जो भी कोई आया वह विमुख होकर नहीं लौटा। भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसा प्रान्त हो जहां किसी भी सार्वजनिक संस्था में किसी न किसी रूप में मारवाड़ी समाज द्वारा प्राप्त सहायता न लगी हो।

सर पी० सी राय महोदय ने Life & experience of a Bengali Chemist नामक पुस्तक में एक स्थान पर यह आक्षेप किया है कि, मारवाड़ी जाति के धनवान व्यक्ति दानशील होने पर भी पहले अपनी मारवाड़ी जाति और अपने देश राजस्थान की सहायता करते हैं और बाद में अन्य लोगों को दान देते हैं। परन्तु जाननेवाले व्यक्ति जानते हैं कि, उनका यह कथन सर्वथा भ्रमात्मक ही है। हो सकता है कि, उन्होंने यह आक्षेप किसी विशेष लक्ष्य से किया हो पर इसमें वास्तविकता का सर्वथा अभाव ही है; क्योंकि उनके इस प्रकार के कथन में यदि कुछ भी सार होता अर्थात् मारवाड़ी जाति के दानशील व्यक्ति पहले अपने समाज और अपने जन्मस्थान राजपूताने को ही दान के समय ध्यान में रखते तो आज राजस्थान की अवस्था कुछ दूसरी ही देखने में आती और समाज का एक भी व्यक्ति अशिक्षित और बेकारी का शिकार नहीं देखा जाता। संसार देखता कि, राजपूताना शिक्षा का केन्द्र बना हुआ है। वहां पर न केवल साधारण स्कूल और विद्यालय ही देखे जाते अपितु और कालेजों और युनिवर्सिटी की स्थापना भी हो जाती। पर सच तो यह है कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने दान देते समय इस स्वार्थपूर्ण भावना को अपने पास तक नहीं फटकने दिया। यद्यपि इस निःस्वार्थ भावना के कारण वे अपने जन्मस्थान राजपूताने में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार न कर सके परन्तु इसकी उन्होंने पर्वाह नहीं की। मारवाड़ी जाति की परंपरागत संस्कृति ही कुछ ऐसी है कि, दान देते समय उसका भाव स्वार्थ रहित ही रहता आया है। जिस जाति की संस्कृति में अतिथि-सेवा परम धर्म हो और जिसका यह दृढ़ संस्कार हो कि धनिक व्यक्तियों की तो बात ही क्या, अति कठिन परिश्रम से अपने लिये दो रोटियों का जुगाड़ करनेवाला व्यक्ति भी अपनी उन दो रोटियों के आटे में से अतिथि एवं भिक्षुक का अंश निकाल कर द्वार पर आये हुए व्यक्ति का सत्कार करना अपना कर्त्तव्य कर्म समझे, उसके दान के, निःस्वार्थ अतिथि-सत्कार के

परम पुनीत भाव की आज के आधुनिक साम्यवाद की उदारतम कल्पना भी बराबरी नहीं कर सकती। असल बात तो यह है कि, अपनी इस परंपरागत संस्कृति के अनुसार निःस्वार्थ बुद्धि से मारवाड़ी जाति ने अपने दान के द्वारा किसी प्रकार का भेदभाव न रख कर सब का ही स्वागत और सत्कार किया। यही कारण था कि, इस जाति की देश में इतनी अधिक ख्याति हुयी।

देश की राजनीति में परिवर्तन और असन्तोष—

ईस्वी सन् १९०० तक मारवाड़ी जाति ने वाणिज्य-व्यापार में किस प्रकार उन्नति की और किस प्रकार व्यापारपटु जाति कहलाने में देशव्यापी नाम प्राप्त किया, इन सब बातों का संक्षेप में अबतक हमने उल्लेख किया है। अब हमें तत्कालीन राजनीति के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना है क्योंकि कोई भी देश क्यों न हो उस पर राजनीति का असर सबसे अधिक पड़ता है। राजनीति अनुकूल होती है, तो किसी भी देश की उन्नति सुगमता से होने लगती है और यदि राजनीति अनुकूल न रहे तो देश की उन्नति होने में बाधा उपस्थित हो जाती है। अवश्य ही जहां स्वदेशी राजसत्ता होती है वहां अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि वहां तो साधारणतया राजा और प्रजा का स्वार्थ एक ही रहता है। परन्तु जहां राजसत्ता विदेशी होती है वहां ही यह प्रश्न उठता है। यहां पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि, प्लासी काण्ड के बाद भारतवर्ष में विदेशियों की राजसत्ता जमी और यह देश अब विदेशी राजसत्ता के आधीन हो रहा है। ऐसी अवस्था में राजनीति की प्रतिकूलता और अनुकूलता का प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही साथ यह भी स्वाभाविक है कि, किसी देश पर स्वदेशी राजसत्ता यदि न रहे तो विदेशी राजसत्ता अपना स्वार्थ साधन करती ही रहती है। इस दृष्टि से भारतवर्ष की राजनीति में स्वदेशी और विदेशी की भावना बनी रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

किसी भी देश पर विदेशी राजसत्ता का होना, उस देश के लिए एक बड़ा लांछन है। पर विदेशी राजसत्ता का सारा भार होता है स्वदेश-वासियों पर ही। यह एक ऐसी अवस्था है कि, इस भार को उठाते हुए भी देशवासियों को दूसरों के गुलाम बनकर रहना पड़ता और अपनी संस्कृति से हाथ धोना पड़ता है। भारतवर्ष में विदेशियों की राजसत्ता स्थापित होने का एक बड़ा विचित्र रहस्य है। इतिहास बतलाता है कि, भारतवर्ष में विदेशियों की राजसत्ता स्वयं भारतवासियोंने ही जमायी। उन्होंने देश-प्रेम की सार्वजनिक भावना को भुला दिया और व्यक्तिगत क्षणिक स्वार्थ के शिकार हो बिना कारण ही सदा के लिए परतंत्र बन बैठे। इतिहास का निष्कर्ष यही है कि, भारतवर्ष में विदेशियों की राजसत्ता होने में कारण विदेशी नहीं, प्रत्युत् स्वयं भारतवासी ही हैं। पलासी काण्ड के बाद पूरे एक सौ वर्षों तक देशवासियों ने किसी न किसी रूप में विदेशियों का सहयोग किया और उनकी राजसत्ता सुदृढ़ की। अवश्य ही सन् १८५७ का गदर इस बात को घोषित करता है कि, उस समय भी देश में ऐसे नेता और लोग मौजूद थे जो अपनी खोयी हुई स्वाधीनता को वापिस लेना चाहते थे। पर 'अब पछताये क्या होत है जब चिड़िया चुग गई खेत'? परिणाम यह हुआ कि, सिर उठाने का फल और भी हानिकर हुआ। देश निःशस्त्र बना दिया गया। वह समय बड़ा ही कठिन था, उसका सामना करने के लिये जिस संगठन शक्ति की आवश्यकता थी उसका अभाव होने से रही सही स्वतंत्रता से भी देश-वासियों को हाथ धोना पड़ा।

सन् १८५७ का गदर ईष्ट इण्डिया कम्पनी की राजसत्ता के समय हुआ था। घटनाओं से जाना जाता है कि, उस समय देशवासियों में बहुत अधिक असन्तोष फैल गया था। परन्तु, इङ्गलैण्ड की महारानी विक्टो-रिया ने उस समय बड़ी ही बुद्धिमानी और दूरदर्शिता से भारतवासियों के प्रति एक ऐसी घोषणा की जिसका भारतवर्ष के हृदय पर पूरा प्रभाव

पड़ा। उस घोषणा पर पूर्ण विश्वास कर भारतवासी महारानी की श्रद्धालु प्रजा बन गये। महारानी विक्टोरिया ने ईष्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से भारत का शासन-भार अपने हाथ में ले लिया और बिना किसी भेदभाव और पक्षपात के भारतीय प्रजा का पालन करने की घोषणा की। यह अभिवचन दिया गया कि, शासन में किसी प्रकार का धर्मभेद, जातिभेद तथा रंगभेद का भाव न रखा जायगा। इस घोषणा का इतना असर पड़ा कि, भारतवासी अपने सारे असन्तोष को भूल गये। महारानी विक्टोरिया का शासन ई० सन् १६०१ तक रहा। महारानी के इस दीर्घ कालीन शासनकाल में भारतवासी रामराज्य का सा अनुभव करने लगे। आज इस बात का कोई अनुभव करे या न करे, परन्तु, यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि, महारानी के व्यक्तित्व का भारतवासियों पर इतना प्रभाव था कि, वे उनके राज्य को 'शेर बकरी एक घाट पानी पीते हैं' वाली कहावत याद करके सराहते थे। यही कारण था कि, महारानी के शासनकाल में अंगरेजी शासन के विरुद्ध इस देश में कोई ऐसा आन्दोलन नहीं उठा। महारानी विक्टोरिया का ही यह यश था और इससे भारतवर्ष में अंगरेजी शासन की नींव सुदृढ़ हो गयी। पीछे सन् १६०१ में जब महारानी विक्टोरिया का देहान्त हुआ तब अंगरेजी शासन का रूप कुछ दूसरा ही भासने लगा और देश में असन्तोष की आग सुलग गयी। उस समय के विद्वान् और कार्यपटु पर अति मानी अभिमानी वायसराय लार्ड कर्जन के दिमाग में यह बात समायी हुई थी कि, वे ही एक ऐसे गवर्नर जेनरल हैं, जो भारतवर्ष में वृटिश राजसत्ता को सदा के लिए सुदृढ़ कर सकते हैं। उन्होंने कई बार यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कहा कि, उनके बाद आनेवाले वायसरायों को आरामकुर्सी पर लेट रहने के सिवा और कुछ भी न करना होगा। अधिकार-मद से उन्होंने भारतवासियों पर मिथ्याभाषी होने का लांछन भी लगाया और युनिवर्सिटी की शिक्षा व्यवस्था में कई ऐसे फेरफार किये, शासन संबन्धी कई कार्य ऐसे किये

जिनसे देश में असन्तोष फैला। वंगविच्छेद से तो सारा बंगाल और बंगाल के साथ सारा देश क्षुब्ध हो उठा।

लार्ड कर्जन की प्रकृति में आत्मश्लाघा और अत्यधिक घमण्ड के अतिरिक्त विशेष रूप से यह बात देखी जाती थी कि, वे बड़े वाक्-चपल थे। अपना प्रभाव जमाने के लिए वे प्रत्येक विषय पर बहुत बोला करते थे। बहुत अधिक बोलनेवाला व्यक्ति बराबर पार उतर सके, यह संभव नहीं होता। यही कारण है कि, भारतीय संस्कृति में वाक् चापल्य एक दोष माना जाता है। लार्ड कर्जन ने एक समय अपने भाषण में यहां तक अपना मुंह खोला कि, भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य और संस्कृति एवं नैतिकता की भी निराधार निन्दा की। वह समय ऐसा था कि, किसी वायसराय की बात का खंडन या प्रतिवाद करना बड़े साहस का काम था। पर माननीय गोपालकृष्ण गोखले महोदय भारतीय साहित्य, संस्कृति और आचार की निन्दा नहीं सह सके। उन्होंने उसी सभा में युक्तियुक्त और ओजपूर्ण भाषण करके लार्ड कर्जन के कथन का घोर प्रतिवाद किया और यह सिद्ध कर दिखाया कि, यूरोप की अपेक्षा भारतीय साहित्य, संस्कृति एवं नीति कहीं अधिक उज्ज्वल और महान् है। इस भाषण से देशवासियों पर मोह का जो मिथ्या आवरण पड़ा हुआ था, वह दूर हो गया। लार्ड कर्जन के कारनामों से देशवासी पहले ही चौकन्ने हो रहे थे। अपने साहित्य और संस्कृति की निन्दा सुन कर वे और भी क्षुब्ध हो उठे। उनकी समझ में यह बात आ गयी कि, वृटिश सरकार की पक्षपातरहित नीति महारानी विक्टोरिया के साथ गयी और अब लार्ड कर्जन जो जौहर दिखा रहे हैं वे भारतवर्ष के लिये अपशकुन हैं। लार्ड कर्जन की वाक् चपलता और झूठी शेखी से अंगरेजी शासन की कूट नीति चौड़े आ गयी और देश में भारी हलचल पैदा हुई। महारानी विक्टोरिया के बाद वृटिश राजसत्ता के विरुद्ध असन्तोष प्रकट करनेवाला पहला आन्दोलन वंगभंग का था, जिसने न केवल बङ्गाल प्रान्त में ही अपितु,

समस्त भारत में एक नयी लहर पैदा कर दी थी। इस आन्दोलन के प्रधान संचालक उस समय बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे, जिन्होंने विलायत जाकर भी बंगभंग के विरुद्ध आन्दोलन किया था। लेखक को याद है कि, बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जब इंगलैंड गये हुए थे तब "रिव्यू आफ रिव्यूज" के सुप्रसिद्ध सम्पादक मि० स्टेड ने विनोद के रूप में उनसे पूछा कि, "आपको यदि फांसी की सजा दी जाय तो आपका अन्तिम वक्तव्य क्या होगा?" इस पर उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि, मैं यही कहूंगा कि, "बंग-भंग करना बृटिश सरकार का अन्याय है" यह कहकर फांसी के तख्ते पर खुशी से चढ़ जाऊंगा। सुरेन्द्र बाबू के अतिरिक्त उस आन्दोलन के सब से बड़े सहायक बाबू विपिनचन्द्र पाल और श्रीयुक्त अरविन्द घोष आदि थे। विपिनचन्द्र पाल ने उस समय अपने अद्भुत व्याख्यानों से सारे देश को जगा दिया। ईस्वी सन् १९०६ में जब कलकत्ते में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' का अधिवेशन स्वनामधन्य दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में हुआ तो इस जातीय महासभा में विशेष रूप से जान आ गयी। कांग्रेस के भाषणों और प्रस्तावों में उस समय तक स्वराज्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। कांग्रेस में पहले-पहल दादाभाई नौरोजी ने ही अध्यक्ष के नाते दिये हुए अपने भाषण में 'स्वराज्य' को कांग्रेस का ध्येय बतलाया। लोकमान्य तिलक महोदय ने कुछ ऐसा उद्योग किया कि, कांग्रेस के उसी अधिवेशन में स्वराज्य, स्वदेशी, विदेशी का बायकाट और राष्ट्रीय स्वतंत्र शिक्षा-सम्बन्धी चार प्रस्ताव स्वीकृत हुए। यह आन्दोलन कई वर्षों तक चला। अन्त में बृटिश सरकार को झुकना पड़ा। सन् १९१२ में सम्राट् पंचम जार्ज महोदय ने स्वयं भारतवर्ष में पधार कर दिल्ली दरबार मे बंग-भंग को रद्द कर दिया और भारतवर्ष की राजधानी जो उस समय कलकत्ता महानगरी थी उसे बदल कर दिल्ली में राजधानी कायम की। यहां पर हमें विशेष रूप से यह बतलाना है कि,बंग-भंग आन्दोलन के समय स्वदेशी

की जो लहर पैदा हुई उसका प्रभाव विदेशी व्यापार पर बहुत पड़ा। मारवाड़ी जाति उस समय तक पूर्ण रूप से विदेशी व्यापार में लगी हुई थी और उसीसे उसकी आर्थिक उन्नति भी हुई थी। अर्थात् इस व्यापार के साथ मारवाड़ियों की मोह-ममता थी और 'स्वदेशी' और 'बहिष्कार' के इस आन्दोलन से उन्हें बहुत क्षतिग्रस्त होना पड़ा। इसलिये समष्टि रूप से वे इस आन्दोलन से तटस्थ ही रहना पसन्द करते थे। परन्तु मारवाड़ी जाति के कुछ नवयुवक जो कुछ-कुछ शिक्षित भी हो गये थे तथा राजनीति और नई रोशनी की ओर पैर आगे बढ़ा रहे थे, स्वदेश के इस आन्दोलन के साथ हो लिये। लेखक को याद है कि, उस समय स्थान स्थान पर जो व्याख्यान हुआ करते थे, उनमें कुछ मारवाड़ी नवयुवक अवश्य पहुंच जाते थे और स्वदेशी के प्रचार तथा विदेशी के बायकाट सम्बन्धी प्रस्ताव का समर्थन करते थे। इन नवयुवकों में उस समय श्री ज्वालाप्रसाद बाजोरिया भी थे, जिनकी दूकान सूतापट्टी में थी। उन्होंने इस आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया था। कहने का सारांश यह है कि, सार्वजनिक रूप में मारवाड़ी व्यापारियों के आन्दोलन का साथ न देने पर भी नवयुवकों ने पूरा साथ दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि, मारवाड़ी जाति के व्यापारियों ने अपने स्वार्थ की हानि होती देख कर भी प्रकट में देश के आन्दोलन का विरोध नहीं किया और जैसे-जैसे देश में स्वदेशी का प्रचार बढ़ने लगा वैसे-वैसे मारवाड़ी जाति की दृष्टि भी फिरने लगी। यह अवस्था सन् १९१४ ई० तक रही। उसके बाद जब जर्मन महायुद्ध शुरू हुआ और संसार भर में उसका असर पड़ा तो फिर एक बार अवस्था बदलने लगी। भारतवर्ष पर उस युद्ध का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। व्यापारिक क्षेत्र में तो इतना अधिक परिवर्तन हुआ कि, उसके पहले वैसा कभी नहीं देखा गया था। महायुद्ध के कारण विलायती माल का आना बहुत कम हो गया, इससे विलायत से आनेवाले माल का दाम प्रायः चौगुना हो गया और भारतवर्ण का कच्चा माल

जो विदेशों में जाता था, उसकी मांग अधिक होने से उसकी दर बढ़ गयी। यह युद्ध प्रायः चार वर्ष तक चला। बड़ा भारी आर्थिक परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष के व्यापारियों ने इससे एक बार बहुत अधिक लाभ उठाया। मारवाड़ी व्यापारियों को भी इससे अत्यधिक लाभ हुआ। देखते-देखते धन की बाढ़-सी आ गयी। जिस व्यापारी के यहां जितना अधिक व्यापार होता था, उसने उतना ही अधिक लाभ उठाया। कलकत्ते के बड़ेबाजार में धन बरसने लगा। परन्तु सन् १९१८ ई० में, जब युद्ध समाप्त हुआ, युद्धमान् राष्ट्रों ने युद्ध सम्बन्धी खर्चों की पूर्ति के लिए कुछ ऐसी नीतियों का आश्रय लिया जिनसे भारतीय व्यापारियों का प्राप्त किया हुआ धन वापिस खिंचने लगा। सबसे बड़ा काम इसमें एक्सचेंज की नीति ने किया। जिन व्यापारियों ने युद्ध के समय धन पैदा कर व्यापार कम कर दिया था, वे तो किसी तरह बच गये पर जिन्होंने व्यापार को बढ़ाये रखा, उनका प्राप्त किया हुआ धन जिस प्रकार आया था, उसी प्रकार वापिस जाने लगा। बृटिश सरकार की नीति और भी अधिक विचित्र रही। एक्सचेंज के अतिरिक्त अन्य प्रकारों से भी देश का धन शोषित किया जाने लगा। यहां यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि, महायुद्ध के समय मारवाड़ी समाज ने जो बेहद धन प्राप्त किया था, उससे मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों का इतना मन बढ़ गया कि, वे परिश्रमशीलता और मितव्ययिता को खो बैठे और उनमें ऐयाशी और फिजूलखर्ची बेतरह बढ़ गयी। शादी-गमी और अन्य प्रकार के सामाजिक खर्च करने में धन-मद के कारण एक दूसरे की देखादेखी होड़ बढ़ने लगी। इस प्रकार से जब एक बार सामाजिक खर्च बढ़ जाता है तो वह रूढ़ि में परिणत हो जाता है। यही अवस्था मारवाड़ी समाज की हुई। सन् १९१८ के बाद जब व्यापार का ह्रास शुरू हुआ तो युद्ध के समय प्राप्त किया हुआ धन प्रायः वापिस चला गया; पर जो खर्च बढ़ गया था, उसका घटना कठिन हो गया। बढ़ा हुआ खर्च समाज के

गले का हार बन गया। मारवाड़ी जाति का जिस मितव्ययिता और परिश्रमशीलता में इतना नाम था, वह महायुद्ध से उत्पन्न परिवर्तन से हवा हो गयी और फल यह हुआ कि, मारवाड़ी समाज बढ़े हुए सामाजिक खर्च के कारण आज तबाह हो रहा है और आगे चलकर यह बढ़ा हुआ खर्च समाज को किस स्थिति में पहुंचावेगा यह कहना कठिन है।

महायुद्ध के समय तथा उसके बाद राजनैतिक दृष्टिकोण क्या रहा इस पर भी एक दृष्टि डालने की आवश्यकता है। कारण देश में आज जो राजनैतिक संघर्ष चल रहा है उसका सम्बन्ध उस समय के दृष्टिकोण से बहुत अधिक है। यद्यपि महारानी विक्टोरिया की मृत्यु के बाद सन् १९०१ ईस्वी से लेकर सन् १९१२ तक की राजनैतिक हल-चल और विशेष विशेष घटनाओं का दिग्दर्शन कराकर हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि, सम्राट् पंचम जार्ज महोदय ने सन् १९१२ ईस्वी में स्वयम् हिन्दुस्थान में आकर दिल्ली दरबार के समय वंग-भंग रद्द करने की घोषणा की और उससे पहले का राजनैतिक असन्तोष बहुत कुछ शान्त हो गया। परन्तु सन् १९१४ में जब महायुद्ध शुरू हुआ, उस समय वृटिश सरकार ने धन-जन की सहायता पाने के गरज से जो आश्वासन भारतवासियों को दिये थे और इस संबंध में जो प्रतिज्ञा की थी, उनका पालन महायुद्ध के समाप्त होने पर नहीं किया गया। भारतवासी यह समझते थे कि, भारतवर्ष की सुशिक्षित सेनाओं द्वारा महायुद्ध में कठिन से कठिन मौकों पर वृटिश सरकार को जो मदद मिली है और बड़े भयंकर युद्धों में भारतीय सेना ने अपना सर्वस्व खोकर मित्र राष्ट्रों को बचाया है, उसे वृटिश सरकार कभी न भूलेगी और महायुद्ध के समाप्त होने पर अपने दिये हुए आश्वासन के अनुसार भारतवासियों को राजनैतिक अधिकार प्रदान करेगी। परन्तु महायुद्ध के समाप्त होते ही उन्हें निराश होना पड़ा। राजनैतिक अधिकारों के बजाय भारतवासियों के सामने रौलट

एक, जलियानवाला बाग का हत्याकाण्ड और खिलाफत का संकट ये चीजें आयीं। जिन महात्मा गांधी ने महायुद्ध के समय जी जान से वृटिश सरकार की सेवा की थी वे भी इस प्रकार उसका दृष्टिकोण बदलता देख कर आश्चर्य में पड़ गये। जब उन्होंने सब प्रकार से देख लिया कि, वृटिश सरकार युद्ध के समय भारतवासियों को दिये गये आश्वासन पर अमल नहीं कर रही है, और उलटे उनका दमन करना चाहती है तो, उनसे नहीं देखा गया और मनुष्यता तथा न्याय के नाते उन्होंने रौलट एक्ट तथा खिलाफत संबन्धी अन्याय का विरोध करना उचित समझा। जब देखा गया कि, विरोध का असर वृटिश सरकार पर नहीं पड़ रहा है, तो अन्त में सन् १९२० में महात्मा गांधी को नन-कॉ-ऑपरेशन (असहयोग) का आश्रय लेना पड़ा। सन् १९२० में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन लाला लाजपतराय के सभापतित्व में कलकत्ते में किया गया। यद्यपि बहुत से राजनीतिज्ञ नेताओं का असहयोग और सत्याग्रह में विश्वास नहीं था, तथापि वृटिश सरकार और देशवासियों का पारस्परिक दृष्टिकोण ऐसा दूषित हो गया था कि, बिना सत्याग्रह के देश का हित साधन करने के लिये दूसरा कोई सुगम मार्ग ही नहीं था। साधारणतः बहुत से लोग असहयोग और सत्याग्रह को कायरता का द्योतक समझते थे और बहुतों की धारणा यह थी कि, 'शठं प्रति शाठ्यम्' की नीति के बिना न तो अब तक किसी भी देश के अधिकारों की रक्षा हुई है और न भविष्य में हो ही सकती है। यही कारण था कि, अनेक व्यक्तियों ने महात्मा गांधी के इस असहयोग-आन्दोलन को पसन्द नहीं किया। परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि, यह बात उन देशों के लिये उपयुक्त हो सकती है, जो स्वतन्त्र होते हैं और जिनमें सामरिक शक्ति भी होती है। भारतवर्ष न केवल परतन्त्र ही है, बल्कि उसने अपनी सामरिक शक्ति भी खो दी है। ऐसी अवस्था में 'शठं प्रति शाठ्यम्' नहीं, बल्कि सत्याग्रह ही एक ऐसा अमोघ साधन है, जिसके सहारे ही देश के अधिकारों की

रक्षा हो सकती है। पर साधारणतया बहुत लोग उस समय महात्मा गान्धी के इस नवीन प्रयोग के विरुद्ध थे। फिर भी स्पेशल कांग्रेस के मंच पर प्रचण्ड बहुमत से महात्मा गान्धी का असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव पास हो गया। महात्मा गांधी सत्याग्रह के अस्त्र से दक्षिण अफ्रिका में काम ले चुके थे। उन्हें अनुभव था कि, किस प्रकार और किस स्थिति में इसका प्रयोग किया जाता है। महात्मा गांधी ने इस आन्दोलन को अपनी प्रधानता में उठाया और असंभव को संभव कर दिखाया। देश के राजनैतिक नेता जो कि, पहले सत्याग्रह में विश्वास नहीं करते थे, वे भी प्रायः आकर्षित हो गये और महात्मा गांधी के साथ होने लगे। यहाँ तक कि, बंगाल के तत्कालीन प्रतिभाशाली नेता श्रीयुक्त चित्तरंजनदास तथा युक्तप्रदेश के पंडित मोतीलाल नेहरू भी अपना विरोधी भाव छोड़कर सत्याग्रही बन गये। दास बाबू ने तो बंगाल में इस ढंग से सत्याग्रह चलाया कि, देखते देखते परिस्थिति ही बदल गई। स्पष्टतया यह दीख पड़ने लगा कि, यही एक साधन है जो परतंत्र और शक्तिहीन देश को बिना मारकाट के अपने लक्ष्य पर पहुँचा सकता है। महात्मा गान्धी ने भले प्रकार यह सिद्ध कर दिखाया कि स्वतंत्र देशों के लिए शायद आसुरी शक्ति फलप्रद हो सकती हो पर परतंत्र और शक्तिहीन देश के लिए सत्याग्रह ही एक मात्र साधन है। सच तो यह है कि, महात्मा गान्धी ने ही इस नये शस्त्र से कमजोर से कमजोर व्यक्तियों को भी सबल बना कर देश के अहिंसात्मक युद्ध में लड़ने के लिए तैयार किया। यह एक दूसरी बात है कि, महात्मा गान्धी का यह आन्दोलन इस देश को पूर्ण रूप से स्वतंत्र बनाने में अभी सफल नहीं हुआ है, परन्तु संसार जान गया कि, महात्मा गान्धी का यह आविष्कार सर्वथा नया होने पर भी बड़ी से बड़ी आसुरी शक्ति को नैतिकता की ओर झुकाने के लिए उपयुक्त है। महात्मा गान्धी के सत्याग्रह ने जो कार्य किया और देश में जो घटनाएँ घटीं, उन सब का उल्लेख करना न तो इस प्रकरण का विषय ही है और न

इतना स्थान ही है कि, इस विषय पर विशेष रूप से लिखा जाय। यहाँ इतना लिखने का कारण केवल यह है कि, देश की राजनैतिक परिस्थिति इस प्रकार डाँवाडोल होने पर भी मारवाड़ी जाति के व्यापारियों ने देश के विरुद्ध कोई काम नहीं किया। यद्यपि यह एक निर्विवाद सत्य है कि, मारवाड़ी जाति की आर्थिक उन्नति विदेशी व्यापार के कारण हुई और मनुष्य की जिस काम से उन्नति होती है, वह उससे अलग होना पसंद नहीं कर सकता, तथापि मारवाड़ी जाति ने असीम हानि उठा कर भी देश की इच्छा और आवश्यकताओं का कभी भी विरोध नहीं किया। अवश्य ही उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के समय विदेशी व्यापार का सर्वथा परित्याग नहीं किया और उनके लिए ऐसा करना भी सहज कार्य नहीं था, तथापि निष्पक्ष बुद्धि से यह मानना पड़ेगा कि, ज्यों-ज्यों स्वदेशी आन्दोलन ने सफलता प्राप्त की त्यों-त्यों इस जाति के व्यापारियों ने असीम हानि उठा कर भी अपना दृष्टिकोण बदल किया और जहाँ तक संभव था उन्होंने विदेशी व्यापार के स्थान पर स्वदेशी माल का व्यवसाय करने की ओर ध्यान दिया। आज यदि कोई यह कहे कि, स्वदेशी आन्दोलन में मारवाड़ी जाति के व्यापारियों ने खुल्लमखुल्ला भाग नहीं लिया तो ऐसा कहना सर्वथा भूल है। वे यदि वास्तविक परिस्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे तो उन्हें मालूम होगा कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने खुल्लमखुल्ला भाग न लेकर भी स्वदेशी का विरोध नहीं किया। यह भी उनका बहुत बड़ा त्याग था और देश के प्रति उनकी यह सच्ची सहानुभूति ही तो थी। सच तो यह है कि, स्वदेशी के आन्दोलन से जितनी आर्थिक हानि मारवाड़ी व्यापारियों की हुई, उतनी अन्य किसी भी जाति की नहीं हुई। विदेशी व्यापार के कारण जिस जाति का देश के व्यापारिक क्षेत्र में शीर्ष स्थान हो रहा था, वह नहीं रहा। व्यापार की आय से हाथ धोकर बहुत से व्यक्तियों को बेकार होना पड़ा और आज तो यह स्थिति है कि, स्वदेशी के व्यापार ने मार-



समाजसेवक और देशभक्त



सेठ जमनालालजी बजाज

वाड़ी जाति की प्रधानता न रखकर अन्य जातियों को आगे बढ़ा दिया है। परन्तु, इतना सब कुछ होने पर भी मारवाड़ी जाति ने देश का साथ नहीं छोड़ा। मारवाड़ी समाज के प्रमुख व्यक्ति श्री जमनालाल बजाज ने तो सन् १९२० से ही अपना जीवन देश की सेवा और खद्दर के प्रचार में लगा दिया। इसके अतिरिक्त देश भर के अनेक पढ़े लिखे मारवाड़ी युवकों ने देश के आन्दोलन का साथ देकर अनेक कष्ट उठाये। शायद ही ऐसा कोई राजनैतिक आन्दोलन हुआ हो, जिसमें किसी न किसी तरह प्रकट या अप्रकट रूप में मारवाड़ी जाति ने देश की आर्थिक सहायता न की हो।

यह कहना अनुचित न होगा कि, अब देश में विदेशी वस्त्रका व्यवसाय बहुत कम रह गया है और इससे अवश्य ही मारवाड़ी जाति की अपार आर्थिक हानि हुई है और वर्तमान में स्वदेशी का जो प्रचार हुआ है, उसमें गुजराती भाटिये और अन्य लोगों को अधिक सुगमता मिली है। पर इतना होने पर भी स्वदेशी व्यवसाय से यह जाति उदासीन नहीं है। जहाँ तक हो सकता है, इस जाति के व्यापारी स्वदेशी के व्यवसाय में आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। नये नये उद्योग-धंधों का इस समय जो प्रचार हो रहा है उसमें वे अपने धन का उपयोग यथा-संभव करने में किसी से पीछे नहीं हैं। अपने देश के लिए, मारवाड़ी जाति का यह त्याग, सेवा और देश-प्रेम उपेक्षा करने योग्य नहीं है, प्रत्युत गौरवजनक है।

प्रकृत व्यापार और फाटका

कुछ सफल व्यापारी

पहले के प्रकरणों में अब तक हमने उन फर्मों और विशेष-विशेष व्यक्तियों के सम्बन्ध में साधारणतया लिखने की चेष्टा की, जिन्होंने वाणिज्य-व्यापार करते हुए अपनी आर्थिक उन्नति की और देश के व्यापारिक क्षेत्र में मारवाड़ी जाति की साख जमाने तथा उसके लिए शीर्ष स्थान प्राप्त करने में विशेष रूप से भाग लिया था। अब इस प्रकरण में हमें उन फर्मों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी कुछ लिखना है जिन्होंने वास्तविक वाणिज्य-व्यापार के अतिरिक्त हेजिंग के रूप में तथा केवल फाटके (Speculation) के लक्ष्य से व्यवसाय कर अपनी आर्थिक उन्नति की।

कुछ लिखने के पहले यदि हम वास्तविक व्यापार और फाटके में क्या भेद है, इस संबंध में कुछ उल्लेख करें तो शायद अनुचित न होगा, क्योंकि वर्तमान समय में व्यापारिक क्षेत्र में फाटकेबाजी ने इतना विस्तृत रूप धारण कर लिया है कि, अब यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि, असल में वास्तविक व्यापार कौन-सा है और केवल फाटका किसे कहा जा सकता है? कुछ समय पूर्व तक जिस व्यवसाय को वास्तविक व्यापार समझते थे और प्राचीन समय से करते आते थे, अब देखा जाने लगा है कि, उसमें भी कम-वेश, किसी न किसी रूप में फाटके के कीटाणु घुस गये हैं। आज तो यह अवस्था हो रही है कि, कोई भी व्यापार फाटके के कीटाणुओं से शून्य नहीं है। पूर्वजों के सिद्धान्तानुसार वास्तविक व्यापार तो उसे ही माना जा सकता है, जिसके करने से लाभ के अतिरिक्त हानि की संभावना ही न हो। परन्तु, वर्तमान में हम जिस

ढंग से व्यापार करते हैं, उसमें नफा भी होता है और नुक्सान भी। यदि प्राचीन समय में किये जानेवाले व्यवसाय में नफा और नुक्सान दोनों होने की संभावना रहती तो पूर्वजों ने 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' का सिद्धान्त स्थिर न किया होता। इस सिद्धान्त का स्पष्टतया यही अर्थ है कि, व्यापार में लाभ के सिवाय हानि हो ही नहीं सकती। जिस व्यवसाय के करने में लाभ के सिवाय हानि भी हो सके उस व्यवसाय को हमारे पूर्वज वास्तविक व्यापार ही नहीं मानते थे। इस दृष्टि से जिस व्यवसाय के करने से नफा और नुक्सान दोनों हो सकता हो, वह वास्तविक व्यापार नहीं कहा जा सकता। उसे तो अधिकतर फाटके का ही रूप देना चाहिये। साधारणतया सिद्धान्त रूप में असली व्यापार और फाटके में यही अन्तर है।

अब हमें वास्तविक व्यापार और फाटके के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा किये बिना वास्तविक व्यापार और फाटका दोनों के असली रूप सामने नहीं आ सकते। वास्तविक व्यापार के असली स्वरूप को समझने के लिये एक बार प्राचीन समय की समाज-व्यवस्था को देखना होगा जिससे यह पता लगेगा कि, 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' के सिद्धान्त में क्या रहस्य है? एक समय था कि, देश के व्यवहार क्षेत्र की एक बन्धी हुई सीमा थी। आजकल की तरह विदेशों की आमदरफ्त की तो बात ही क्या, अपने देश के अन्य प्रान्तों तक का आवागमन सुगम नहीं था। एक-एक प्रान्त के छोटे से दायरे में लोग निवास करते और अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं का उत्पादन कर अपना काम चला लेते थे। एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त कर शान्ति का जीवन निर्वाह करते थे। परन्तु, ज्यों-ज्यों विकास होता गया त्यों-त्यों आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं। आवश्यकता से ही उत्साह की वृद्धि होती है। इसी क्रम से सामाजिक व्यवस्था भी बनने लगी। तौल-माप की व्यवस्था हुई। बाद में सिक्कों का प्रचार हुआ। आगे चल कर

हुण्डी-पुर्जे और खाते के रूप में धन का विनिमय होने लगा। समाज-संचालकों ने बड़ी दूरदर्शिता से व्यापारीवर्ग का निर्माण किया। ऐसा करने में पूर्वजों का लक्ष्य यह था कि, वस्तु-उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों को अपनी वस्तु का आवश्यकतानुसार फेर-बदल करने तथा क्रय-विक्रय करने में जो कष्ट होता और भटकना पड़ता है उसमें उन्हें यथासंभव सुविधा प्राप्त हो। व्यापारीवर्ग को उन्होंने कितनी ही सुविधायें प्रदान कीं, जिनसे व्यापारीवर्ग निश्चित रूप से मन लगा कर काम करता रहे। व्यापारीवर्ग के लिये समाज ने जो सुगमता प्रदान की वह नियमबद्ध थी और अनुचित नहीं समझी जाती थी। वस्तु-उत्पादन करनेवाले व्यक्तियों के हित की दृष्टि से ही उन्होंने व्यापारीवर्ग का निर्माण किया। तोल-माप की ढलनी, आढ़तदारी, सिक्कों के बाद बट्टे का रस-कस आदि कितनी ही बातें ऐसी कायम कीं, जिनसे व्यापारीवर्ग साधारण लाभ उठा कर उस व्यवसाय में संलग्न रहने लगा। यह प्राचीन समय की व्यवस्था थी। बाद में और भी आवश्यकताएँ बढ़ीं और समय २ पर व्यवस्था में परिवर्तन होता रहा। वस्तुओं का संग्रह करना, समय पर बेचना तथा जिस प्रान्त में मन्दे भाव में माल मिल सकता हो वहाँ खरीदना और जहाँ तेज भाव में बिक सकता हो वहां ले जाकर बेचना—ये सब बातें भी वास्तविक व्यापार के अन्तर्गत समझी गयीं। संक्षेप में, वास्तविक व्यापार की यही व्याख्या है, जिसे पूर्वजों ने निर्धारित किया था और 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' का सिद्धान्त कायम किया था। यद्यपि इस व्यवस्था से व्यापारीवर्ग को बहुत साधारण-सा ही लाभ होता था तथापि इसमें विशेषता यह थी कि, एक तो इसमें हानि होने की संभावना बिलकुल ही नहीं रहती थी, दूसरे जो भी लाभ होता, वह स्थायी और ठोस होता था। इस ठोस लाभ के होने से व्यापारीवर्ग को अधिक उन्नति करने का अवसर भी मिल जाता था। इस प्रकार के व्यापार के करने में सब से बड़ी विशेषता यह थी कि, व्यक्तियों का जीवन सुख और शान्ति से व्यतीत होता था।

यही कारण था कि, समाज ने इस प्रकार के व्यापार को वास्तविक व्यापार माना और उसे सबसे अधिक महत्व दिया। यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि, इस प्रकार के वाणिज्य-व्यापार के करने से व्यापारीवर्ग की धीरे-धीरे जो उन्नति होती थी, वह ठोस थी और उसमें स्थायीपन भी बहुत रहता था। आज चाहे हमारे दिमाग में इस प्रकार की बातें न आवें परन्तु, मारवाड़ी जाति की अतीत काल में जो व्यापारिक उन्नति हुई उसकी प्रधान सहायक ये ही बातें थीं।

अब रही बात फाटके के सम्बन्ध की। इसके लिए हमें यह देखना है कि, इसका प्रारंभ कब से हुआ और इसके होने में हेतु क्या था? इस सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि, जब तक तैयार वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता रहा तब तक तो व्यापार का वास्तविक रूप बना रहा। परन्तु, जब से व्यापारिक क्षेत्र में आमदनी माल का क्रय-विक्रय होने लगा तभी से फाटके का रूप प्रकट होने लगा। यद्यपि वस्तु-उत्पादन करनेवाले व्यक्ति अपनी वस्तुओं को कुछ नियत समय के आधार पर बेचते और व्यापारीवर्ग दर की कुछ सुगमता के सहारे आमदनी माल खरीद कर बचनवद्ध होते तब तक उसमें फाटके का रूप नहीं माना जाता था क्योंकि माल बेचनेवाला व्यक्ति वस्तु उत्पादन करनेवाला होता था और इसी आधार पर आमदनी माल बेचता था और खरीद करनेवाला व्यापारी वर्तमान भाव से कुछ मंदी दर के आधार पर आमदनी माल खरीद करने में समर्थ होता था। तथापि आगे चलकर इस भावना में भी परिवर्तन होने लगा। वस्तु उत्पादन करनेवालों के अतिरिक्त वे व्यक्ति भी आमदनी माल मत्थे धर कर बेचने लगे जिनके पास न तो उस वस्तु के उत्पादन करने का साधन था और न उस माल का उनके पास पहले से कोई स्टाक था। इसी प्रकार खरीद करनेवालों में भी यह भावना पैदा हो गई कि, समय पर माल डिलेवरी न लेकर केवल नफे-नुक्सान से ही सम्बन्ध रखेंगे। तब इस व्यवसाय ने फाटके का रूप

धारण कर लिया। साधारणतया वास्तविक व्यापार और फाटके के बीच भेद की यही मीमांसा हो सकती है। वस्तु उत्पादन करनेवाला व्यक्ति हेजिंग के रूप में अपना माल आमदनी वेचता है और खरीद करनेवाला व्यक्ति माल डिलेवर लेने के ख्याल से आमदनी माल खरीदता है तो साधारणतया वह फाटका नहीं समझा जाता। परन्तु, जहाँ माल के लेने तथा देने की निश्चित भावना न हो उसीका नाम फाटका है। इस प्रकार की फाटकेवाजी से वास्तविक व्यापार को धक्का लगता है और व्यापार में निश्चित लाभ होने का जो सिद्धान्त है उसमें नफा और नुक्सान दोनों होने लगता है। उसमें ठोसपन और स्थायित्व नहीं रहता। लोगों का मन शान्ति से रहित होकर चंचल वना रहता है। वास्तविक व्यापार में जहां फिजूलखर्ची स्थान नहीं पाती, वहां फाटकेवाजी के कारण लोगों का मन वढ़ जाता है और वे अपव्ययी वनकर अशान्ति को मोल ले लेते हैं। इसके सिवा फाटकेवाजी और वास्तविक व्यापार में साहूकारी तथा व्यक्तियों की साख के सम्वन्ध में वड़ा भारी भेद यह है कि, वास्तविक व्यापार करनेवाले व्यक्ति की साख धन न होने पर भी वनी रहती है पर फाटके में अपनी अवस्था अनिश्चित रखनेवाले व्यक्ति की साख का प्रायः ह्रास हो जाता है। आज हम देखते हैं कि, कुछ वर्ष पूर्व तक जिन धनहीन व्यक्तियों की व्यापारिक क्षेत्र में साख वनी रहती थी और उन्हें व्यापार के लिए आवश्यक धन कर्ज के रूप में मिल जाया करता था और वह व्यक्ति अपनी उन्नति करने का अवसर पाता था, यह अवस्था फाटकेवाजी के कारण प्रायः नष्ट हो गई है। यही कारण है कि, सराफी के व्यवसाय में धन का जो विनिमय होता था और समाज के साधारण व्यक्ति अपनी साख के कारण धनिकों से धन प्राप्त कर सकते थे, वह सिलसिला अव वन्द हो गया है और अविश्वास ने स्थान पा लिया है जिसके कारण समाज में वेकारी वढ़ रही है और फाटकेवाजी को प्रोत्साहन मिल रहा है। आवश्यकता यह है कि, ऐसा प्रयत्न किया



स्वर्गीय रायबहादुर हरदत्तरायजी चमड़िया

जाय, जिससे समाज में फाटकेबाजी को उतना ही स्थान मिले कि, जिसका रूप किसी वस्तु की हेजिंग से हो और जहाँ केवल फाटकेबाजी होती हो उसका नियंत्रण किया जाय।

वर्तमान में जिस प्रकार फाटकेबाजी बढ़ रही है, उसे देखते सहज में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, वाणिज्य-व्यापार के नाम पर जिस मारवाड़ी जाति ने सर्वोच्च ख्याति प्राप्त की थी, अब उसका भविष्य अंधकार में है। इसी प्रकार फाटकेबाजी बढ़ती रही तो आश्चर्य नहीं कि, इस जाति को वह दिन शीघ्र ही देखना पड़े कि, व्यापारिक क्षेत्र में इसका नाम ही मिट जाय। मारवाड़ी जाति की विशेषता वास्तविक व्यापार से है। यदि वास्तविक व्यापार से हटकर यह जाति केवल फाटके में ही संलग्न हो जाय तो यह निश्चित है कि, भविष्य में इसकी सभी विशेषताएँ नष्ट हो जावेंगी। आवश्यकता यह है कि, समय रहते समाज चेत जाय और ऐसी व्यवस्था करे कि, जिससे यह जाति वास्तविक व्यापार में उन्नति करे।

अब हम यहाँ कुछ ऐसे व्यक्तियों और फर्मों के सम्बन्ध में लिखेंगे

वर्तमान समय के कुछ सफल व्यापारी— जिनका व्यापारिक सम्बन्ध वास्तविक व्यापार के अतिरिक्त किसी न किसी रूप में फाटके से भी रहा और उसके सहारे जिन्होंने विशेष रूप से आर्थिक उन्नति करने में सफलता प्राप्त की।

हरदत्तरायजी चमड़िया— इनके पिता श्री नन्दरामजी चमड़िया, शेखावाटी, फतहपुर से चल कर वि० संवत् १८९० के लगभग कलकत्ते आ गये थे। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि, वे अफीम चौरस्ते पर रहते थे। नन्दरामजी के दो पुत्र हुए—(१) गोरखरामजी (२) हरदत्तरायजी। इनमें से हरदत्तरायजी तथा गोरखरामजी के ज्येष्ठ पुत्र रामप्रतापजी ने अफीम चौरस्ते पर बड़ी उन्नति की। कलकत्ते के बड़ेबाजार में अफीम चौरस्ता बहुत प्रसिद्ध है।

फाटके के व्यवसाय में इसका बड़ा नाम हुआ। एक समय पटने और बनारस की अफीम का कारबार बहुत अधिक परिमाण में इसी स्थान पर होता था और इसी से उसका नाम अफीम चौरस्ता पड़ा। इस व्यवसाय ने आगे चल कर फाटके का ऐसा रूप धारण किया कि, इसका प्रचार देशव्यापी हो गया। हरदत्तरायजी ने पहले-पहल साधारण भावताव के तार लिखने शुरू किये। परन्तु वे बड़े तेज थे और उनकी व्यापारिक बुद्धि बड़ी तीव्र थी। तार लिखते-लिखते उन्होंने इतनी दक्षता प्राप्त की कि, उनकी गणना प्रमुख व्यक्तियों में होने लगी। तत्कालीन अफीम के बड़े-बड़े व्यापारी ई० डी० सासुन तथा करीमभाई इब्राहिम के फर्मों से उनका सम्बन्ध हो गया। अफीम के क्रय-विक्रय रूप वास्तविक व्यापार के अतिरिक्त उन्होंने 'आखर दड़े' के व्यवसाय में बड़ा मन लगाया। गवर्नमेंट द्वारा अफीम की पेटियाँ प्रति मास नीलाम की जाती थीं, उनका जो एवरेज होता था, उसके आधार पर 'आखर दड़े' का फाटका हुआ करता था। इस व्यवसाय ने उत्तर और पश्चिम भारत में बड़ा विस्तृत रूप धारण कर लिया था। हरदत्तरायजी इस व्यवसाय में बड़े सुदक्ष समझे जाते थे। यहाँ तक देखने में आता था कि जो आखर या दड़ा हरदत्तरायजी चाहते प्रायः वही एवरेज में आ जाता था। इसका कारण यह था कि, हिसाव लगाने में वे बड़े होशियार थे। जब नीलाम होता उस समय जिन-जिन भावों में माल बिकता था, उनका एवरेज लगाते रहते थे और आखिरी लाट जब सेल होती तब उन्हें एवरेज का जो दड़ा आखर कराना होता, उसी के अनुसार डाक देकर भाव समाप्त करा लेते थे। उन्होंने उत्तर और पश्चिम भारत में अपनी एजेन्सियां बना रखी थीं। 'आखर दड़े' के व्यवसाय में उन्होंने बहुत अधिक धन प्राप्त किया। उनकी कल्पना शक्ति बहुत बड़ी थी। वाणिज्य-व्यापार और फाटके में नयी-नयी कल्पनाएँ किया करते थे। उनकी विशेष बुद्धिका परिचय तो उस समय मिला जब कि अफीम की दर घटकर ४००) रुपये प्रति पेटी हो गई थी। उस

समय उनके पास भी माल बहुत था। अफीम की दर इसी प्रकार गिरती रहती तो बहुत संभव था कि, अफीम के बड़े-बड़े व्यापारी नष्ट हो जाते और उन्हें अपनी इज्जत बचाना कठिन हो जाता, पर इस कठिन समय में भी हरदत्तरायजी ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने उस समय एक ऐसी कल्पना की कि, बिगड़ती हुई स्थिति सुधर गई। जो कल्पना गवर्नमेंट के बड़े-बड़े अधिकारियों के माथे में नहीं आ सकी, वह हरदत्तरायजी के दिमाग से निकली। इस सम्बन्ध में वे अधिकारियों से मिले और उन्होंने ऐसी योजना उनके सामने रखी जिससे न केवल, अफीम के व्यापारियों का ही उद्धार होता बल्कि गवर्नमेण्ट को भी अत्यधिक लाभ हो सकता था। हरदत्तरायजी की कल्पना सफल हो गयी और एक्साइज ड्यूटी (Excise Duty) बढ़ा देने से अफीम की दर चार सौ रुपये पेटी से आठ हजार रुपये हो गई। मनुष्य की बुद्धि और कल्पना का परिचय समय पर ही मिला करता है। हरदत्तरायजी ने उस समय जो कर दिखाया, उससे उनकी व्यापारिक बुद्धि की विशेषता का परिचय मिलता है। परिणाम यह हुआ कि, अफीम के व्यापारियों का उद्धार हो गया और हरदत्तरायजी ने भी कई करोड़ रुपये कमाये। हरदत्तरायजी की बुद्धि और कल्पनाएँ यदि देश के वास्तविक व्यापार की ओर भी झुकतीं तो इसमें सन्देह नहीं कि, भारतीय उद्योग-धन्धे और वाणिज्य-व्यापार को बहुत अधिक लाभ होता। पर उन्होंने फाटके की ओर ही अधिक मन लगाया। अफीम के फाटके के सिवा उन्होंने अन्य प्रकार के फाटकों में भी मन लगाया था। फाटके के व्यवसाय में किस प्रकार धन प्राप्त किया जा सकता है, उसे वे बहुत समझते थे। आजकल कलकत्ते में पाट, हेसियन, चांदी, रूई और गल्ले आदि के जो फाटके वृद्धि पा रहे हैं, वास्तव में उन सब को प्रोत्साहन देनेवाले वे ही थे। कलकत्ते में पाट का व्यापार सर्व प्रधान माना जाता है, क्योंकि पाट केवल बंगाल में ही होता है। हरदत्त-रायजी ने पहले-पहल अफीम चौरस्ते पर पाट का फाटका शुरू किया

और हफ्तेवार डिफरेन्स का भुगतान करने की व्यवस्था चलाई। उसी के परिणामस्वरूप अन्य फाटकों में भी वही दस्तूर कायम हो गया। यहां हम इस दृष्टि से उनकी प्रशंसा नहीं करते कि, उन्होंने फाटके के व्यवसाय को प्रोत्साहन देकर समाज का कोई हित साधन किया। यहां पर हमारा लक्ष्य यही है कि, हरदत्तरायजी में धन कमाने की व्यापारिक बुद्धि बहुत अधिक थी और इसका परिचय उन्होंने भले प्रकार दिया। धन कमाने की जितनी योग्यता उनमें प्रकट हुई, उतनी ही यदि अन्य सामाजिक कामों में लगती तो समाज में उनका बड़ा नाम हो जाता। परन्तु, दैववश उनका शीघ्र ही देहान्त हो गया। वे करोड़ों की सम्पत्ति छोड़ कर स्वर्गगामी हुए।

हरदत्तरायजी के भतीजे रामप्रतापजी भी साधारणतया सुदक्ष व्यक्ति थे। हरदत्तरायजी की मृत्यु के बाद उन्होंने तथा हरदत्तरायजी के पुत्रों ने फर्म का काम सँभाला। हरदत्तरायजी की तरह उन्होंने धन की वृद्धि की हो, ऐसा तो नहीं जान पड़ता, परन्तु, अपने मतलब में सभी होशियार सिद्ध हुए। आज भी इस घराने की गणना करोड़पतियों में ही होती है। परन्तु पारस्परिक प्रेम न रहने से वृद्धि की जगह ह्रास होने लगा है। राम-प्रतापजी का भी कुछ समय पूर्व स्वर्गवास हो गया। उनकी सम्पत्ति के अधिकारी इस समय उनके पौत्र हैं। हरदत्तरायजी के पुत्र दुर्गाप्रसादजी, राधाकृष्णजी और मोतीलालजी आदि सभी व्यक्ति अपनी-अपनी धुन के पक्के और कार्य में पूरे दक्ष देखे जाते हैं। सरकार ने हरदत्तरायजी और रामप्रतापजी की तरह मोतीलालजी को भी रायबहादुर बना दिया है। हरदत्तरायजी के मझले पुत्र राधाकृष्णजी सर्वापेक्षा अधिक सुशील मालूम होते हैं। हाल में ही जयपुर नरेश ने आपको ताज़ीम देकर सम्मानित किया है।



राजा बलदेवदासजी बिड़ला

मारवाड़ी समाज के आधुनिक काल में बिड़ला परिवार ने जो प्रसिद्धि प्राप्त की, उसके सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि, वह सर्वाधिक है, तो यह कोई अत्युक्ति नहीं है। इस परिवार ने मारवाड़ी जाति की ख्याति का विस्तार न केवल भारतवर्ष में ही प्रत्युत विदेशों में भी फैलाने में श्लाघनीय कार्य किया है। दानशूरता में तो यह परिवार बहुत आगे बढ़ गया है। आज न केवल भारत में ही अपितु, विदेशों में भी इस परिवार का कारबार बड़े पैमाने में होता है। इस परिवार के सम्बन्ध में हम यहाँ विस्तार के साथ लिखने की चेष्टा करेंगे।

विड़ला परिवार—

इस परिवार के पूर्व पुरुष श्री शिवनारायणजी बिड़ला अपने जन्म-स्थान पिलानी से चल कर पहले-पहल बम्बई आये और वहीं पर 'शिव-नारायण बलदेवदास' के नाम से कारबार करने लगे। आर्थिक अवस्था साधारण थी। बाद में वि० सं० १९५७ में उन्होंने कलकत्ते में अफीम चौरस्ते पर कालीगोदाम में 'बलदेवदास जुगलकिशोर' के नाम से कार-बार शुरू किया। शिवनारायणजी के पुत्र बलदेवदासजी कलकत्ते में रहने लगे। इनके यहां पहले-पहल अफीम का काम होने का पता लगता है। बलदेवदासजी बड़े सुदक्ष और भाग्यवान् सिद्ध हुए। वे अफीम के अतिरिक्त गल्ले का व्यापार भी करने लगे। बलदेवदासजी ने गल्ले का काम इस ढंग से किया कि, बम्बई और कलकत्ता आदि स्थानों में जहां भाव फर्क का सट्टा मिलता वहीं खरीद-बिक्री कर लाभ उठाने लगे। व्यापारिक नीति के अनुसार भाव फर्क का सट्टा सुदक्ष व्यापारियों के लिए, धन कमाने का साधन होता है। बलदेवदासजी ने इस प्रकार व्यापार करके फर्म की उन्नति करना आरम्भ किया और फर्म की आर्थिक स्थिति समृद्ध होने लगी।

संवत् १९५९ के लगभग बलदेवदासजी के बड़े पुत्र जुगलकिशोरजी भी कलकत्ते आ गये। उस समय उनकी अवस्था केवल बीस-बाईस वर्ष

की थी। परन्तु वे बड़े होनहार और विशेष रूप से योग्य दीख पड़ते थे। लेखक का परिचय उनसे उस समय हुआ था, जब कि, वे पहले-पहल तीसी, गेहूँ और चांदी आदि का काम करने लगे थे। जुगलकिशोरजी पढ़े-लिखे तो साधारण ही थे, परन्तु गुजराती तथा हिन्दी के समाचार-पत्र पढ़ने का उन्हें बहुत शौक था। उनके यहां उस समय के प्रायः सभी समाचार-पत्र आते थे। लेखक को भी पत्रों से प्रेम रहता था। शायद यही कारण था कि, परस्पर घनिष्ठ परिचय हो गया था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की लोकोक्ति के अनुसार लेखक ने जुगल-किशोरजी की विशेषताओं का अनुभव किया। उसने देखा कि, जुगल-किशोरजी के पास जितने भी व्यापारी और दलाल आते हैं, वे सत्कार पाते हैं। जुगलकिशोरजी में यह विशेषता देखी जाने लगी कि, वे आने-वाले सभी दलालों को बड़ी-खुशी से काम देते थे। मालूम होता था कि, उनके हृदय में जातीयता और प्रेम छलक रहा है। परिणाम यह हुआ कि, जुगलकिशोरजी अपने व्यवसाय में दिनों दिन सफलता प्राप्त करने लगे। दान देने की प्रवृत्ति तो उनमें पहले से ही थी पर व्यापारिक सफ-लता ने उसमें इतना प्रोत्साहन दिया कि वे जी खोलकर दान देते देखे जाने लगे। शायद ही कोई ऐसा अवसर आया हो कि, किसी भी याचक व्यक्ति को विमुख लौटना पड़ा हो। इस प्रकार एक ओर तो व्यापार ने उनका साथ दिया और दूसरी ओर व्यापारिक सफलता के साथ ही साथ दान करने की प्रवृत्ति भी अधिकाधिक बढ़ने लगी। फिर क्या था, थोड़े ही समय में उनकी ख्याति विस्तार पाने लगी और आगे चलकर उनका नाम दानवीरों में हो गया। प्रायः देखा जाता है कि, अनुकूल अवसर मिल जाने से धन तो बहुत से व्यक्ति कमा लेते हैं, परन्तु कमाये हुए धन का सदुपयोग दान के रूप में जी खोलकर करने की भावना बहुत कम आद-मियों में होती है। जुगलकिशोरजी शायद यह समझते थे कि, दान करने से ही धन आता है। इसी भावना ने उन्हें दानवीर बना दिया।

व्यापार ने भी उनका इतना साथ दिया कि, वे अपनी इच्छा पूरी करने लगे। जुगलकिशोरजी ने व्यवसाय में अग्रसर होकर इस ३५ वर्ष के अर्से में कितना धन कमाया और कितना दान किया इसका हिसाब लगाना आसान बात नहीं है। सच तो यह है कि, जिस प्रकार व्यापार में उनके पास धन आया, उसी प्रकार उन्होंने जी खोल कर दान भी किया।

यहाँ एक बात का उल्लेख करना विशेष रूप से आवश्यक है। जुगल-किशोरजी की व्यापार करने की शैली अधिकतर फाटके के ढंग की ही रही। यह तो नहीं कहा जा सकता कि, उन्होंने देश के प्रकृत व्यापार और उद्योग धन्धों में कोई उल्लेखनीय भाग लिया हो। परन्तु, आश्चर्य इस बात का है कि, फाटके की लाइन का व्यापार करते रहने पर भी उन्हें फाटके की बुराइयों के कष्ट किसी समय भी उठाने पड़े हों, ऐसा अवसर उनके सामने नहीं आया। फाटके के ढङ्ग का व्यापार कर इस प्रकार उत्तरोत्तर सफल होना, एक अद्भुत उदाहरण है। हो सकता है कि, दान की भावना के प्रभाव ने ही असंभव को संभव बनाया हो।

कुछ वर्षों से देखा जाता है कि, जुगलकिशोरजी ने फर्म का काम देखना छोड़ दिया है। इस समय उनके छोटे भाई रामेश्वरजी, घनश्याम-दासजी, तथा वृजमोहनजी फर्म का काम देखते हैं। परन्तु फर्म के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से जुगलकिशोरजी अब भी व्यवसाय करते हैं। ऐसा करने में उनका लक्ष्य यह मालूम होता है कि, इस प्रकार स्वतंत्र व्यवसाय करने में जो धन प्राप्त हो, उससे आर्य-संस्कृति और हिन्दू जाति की रक्षा करने में भाग लिया जाय। हम पहले बता चुके हैं कि, जुगलकिशोरजी के दान की सीमा नहीं है। वे हर प्रकार से दान करते रहते हैं, परन्तु हिन्दू जाति की रक्षा के लिए तो इस समय प्रति दिन बंधे रूप में एक बड़ी धनराशि व्यय करते हैं। हिन्दुस्थान में हिन्दू जाति पर आये दिन अन्य जातियों द्वारा बड़े अत्याचार होते रहते हैं और हिन्दू जाति किंकर्त्तव्य-विमूढ़ सी बन गई है। इस कठिन समय में जुगलकिशोरजी ही

एक ऐसे व्यक्ति हैं जो लगन के साथ अपने धन के वल पर हिन्दुओं की रक्षा की चेष्टा करते देखे जाते हैं। शायद वहुत आदमी नहीं जानते कि, इस सम्वन्ध में उन्होंने अव तक क्या किया है और वर्तमान में क्या कर रहे हैं। आज इस वात का चाहे कोई अनुभव करे या न करे, परन्तु, हमारा विश्वास है कि, एक समय जव कि, हिन्दू जाति और आर्य-संस्कृति का डंका पुनः संसार में वजेगा, उस समय सव से पहले जुगलकिशोरजी का नाम लिया जायगा कि उस कठिन समय में उन्होंने क्या किया था? हमारी दृढ़ धारणा है कि, इस समय हिन्दू जाति के लिए जुगलकिशोरजी जो कुछ कर रहे हैं, वह जातीयता की दृष्टि से महान् है। यही कारण है कि, इतिहास में उनका नाम अमिट रहेगा। उस समय स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने उन्हें 'महान् जुगलकिशोर' (Great Jugalkishore) कह कर संवोधित किया था, जव कि, कोहाट में हिन्दुओं पर महान् संकट उपस्थित हुआ और उन्होंने उनकी सहायता करने के लिए लालाजी के सामने व्लैंक चेक रख दिया था।

'वलदेवदास जुगलकिशोर' फर्म के नाम से जव तक कारवार होता रहा, तव तक फर्म का काम जुगलकिशोरजी ही प्रधान रूप से देखते रहे। फर्म की इज्जत जव काफी हो गयी और अन्य सभी भाई काम सँभालने लायक वन गये तो घनश्यामदासजी ने फर्म की वागडोर अपने हाथ में ली। घनश्यामदासजी ने किसी यूनिवर्सिटी में शिक्षा नहीं पाई, किन्तु, घर में ही शिक्षा प्राप्त कर व्यापार में इतना मन लगाया कि, उनकी तीक्ष्ण वुद्धि का विकास होने लगा। उन्होंने अनुभव किया कि, फर्म में अव तक जिस ढङ्ग का व्यापार होता आया है, वह समय के अनुकूल नहीं है। उन्होंने देश के उद्योग धन्धों की ओर ध्यान दिया और फर्म को वास्तविक औद्योगिक व्यापार में अग्रसर करने के लिए वड़ी दूरदर्शिता और वुद्धिमानी से कुछ निश्चित पूँजी लगा कर 'विड़ला

सुप्रसिद्ध दानवीर, आर्य संस्कृति के
पोषक और सफल व्यापारी



श्रीयुक्त युगलकिशोरजी बिड़ला

ब्रदर्स, लिमिटेड' के नाम से कारबार करने की व्यवस्था की। यद्यपि इस परिवार से फाटकेबाजी का व्यवसाय सर्वथा दूर तो नहीं हुआ, परन्तु, फर्म में फाटके का संसर्ग उतना ही रखा, जितना वास्तविक व्यापार के लिए 'हेजिंग' के रूप में आवश्यक समझा गया। परिणाम यह हुआ कि, फाटके के व्यवसाय की हानिकर आशंका बहुत कम हो गयी और उद्योग धन्धों की वृद्धि की जाने लगी। घनश्यामदासजी ने ऐसा उद्योग किया कि कई एक लिमिटेड कंपनियाँ खोलीं तथा कतिपय अन्य कंपनियों की मैनेजिंग डाइरेक्टरी तथा एजेंसियाँ प्राप्त कर लीं जिनमें 'बिड़ला जूट मिल,' 'केशोराम काटन मिल,' 'जयाजीराव काटन मिल्स,' 'बिड़ला काटन मिल,' एवं कतिपय चीनी, कागज और बीमा आदि की कंपनियाँ हैं। इन कंपनियों द्वारा फर्म को कमीशन से यथेष्ट लाभ होता है। इस समय प्रधान रूप से घनश्यामदासजी की इच्छा यही जान पड़ती है कि, जिस प्रकार भी हो नयी नयी कंपनियों का निर्माण कर फर्म की आय बढ़ाई जाय। देखा जाता है कि, इस कार्य में उनको यथेष्ट सफलता भी मिल रही है। यद्यपि ज्वाइण्ट स्टाक कंपनियों के ढङ्ग से व्यापार चलाने की आवश्यकता बहुत अधिक प्रतीत होती है तथापि सत्य और अनुभव के लिहाज से यह कहना भी अनुचित नहीं है कि, ज्वाइण्ट स्टाक कंपनियों की पद्धति यहां पर सुव्यवस्थित और संतोषप्रद अभी नहीं हो पाई है। प्रायः देखा जाता है कि, किसी प्रभावशाली व्यक्ति द्वारा संचालित होने वाली कंपनी के शेयर अनायास बिक तो जाते हैं परन्तु यूरोपादि देशों की तरह शेयरहोल्डरों को वास्तविक लाभ होता हो, इसमें कमी ही बनी हुई है। वे धन तो लगा देते हैं पर कंपनी का व्यवसाय किस प्रकार और किस आधार पर होता है तथा उनके लगाये हुए धन की रक्षा कैसे की जाती है, इसकी देखरेख प्रायः वे नहीं करते। सारा दारमदार मैनेजिंग एजेण्ट पर ही रहता है। यह व्यवस्था अवश्य ही संतोषप्रद नहीं है। परन्तु घनश्यामदासजी का कुछ ऐसा प्रभाव देखा जाता है कि,

उनके लिये नयी नयी कंपनियों का निर्माण करना कोई कठिन कार्य नहीं है। मालूम होता है कि, उनकी जिम्मेदारी में जो कार्य-संचालन होता है, उसमें किसी को सन्देह नहीं है। यही कारण है कि, उनको कंपनियों के व्यवसाय में सफलता प्राप्त होती है।

लिमिटेड कंपनियों के अतिरिक्त विदेशों में माल भेजना आदि कार्य भी इस फर्म में बड़े पैमाने में किया जाता है। इसके लिए घनश्यामदासजी ने लंदन, न्यूयार्क, आदि स्थानों में अपनी आफिसें भी खोल रखी हैं। सच तो यह है कि, घनश्यामदासजी ने फर्म का काम सँभालने में आश्चर्य-जनक दक्षता दिखाई है। यही उनकी प्रखर बुद्धि का प्रमाण है। वाणिज्य-व्यापार के अतिरिक्त देश के आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक विषयों में भी वे आवश्यकतानुसार काफी भाग लेते हैं। असेम्बली के सदस्य भी रह चुके हैं। कई एक आर्थिक कमीशनों में भी उन्होंने सदस्य रूप से भाग लिया है तथा भारवर्ष के व्यापारियों की ओर से जिनेवा कान्फ्रेंस में भी भाग ले चुके हैं। यद्यपि उनका राजनैतिक दृष्टिकोण राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेस के अनुकूल रहता है, तथापि पूंजीवाद का भाव भी उनमें प्रायः ही देखा जाता है। महात्मा गांधी के वे परम भक्त समझे जाते हैं और उन्हीं के निर्देशों पर चलने की भावना रखते हैं। परन्तु, जहाँ पूंजीवाद का प्रश्न होता है, वहाँ वे महात्माजी पर भी अपना असर डालते देखे जाते हैं—यह उनकी विशेपता है। वास्तव में घनश्यामदासजी का राजनैतिक दृष्टिकोण, पूंजीवाद से शून्य न होने पर भी देश के हितों के विरुद्ध नहीं है। भारतवर्ष के व्यापारिक प्रश्नों पर सरकारी और सार्वजनिक दृष्टि में उनकी सम्मति बहुमूल्य समझी जाती है।

सामाजिक विषयों में उनका दृष्टिकोण क्रांति द्वारा सुधार की ओर प्रकट होता है। इस सम्बन्ध में उनकी कार्यशैली और प्रचार प्रणाली महत्त्वपूर्ण और स्वतंत्र देखी जाती है। जिस कार्य को करना उनको अभीष्ट होता है, उसे वे इस ढङ्ग से करते हैं कि, जिससे प्रधान रूप से वे



श्रीयुक्त घनश्यामदासजी बिड़ला

प्रकट में न आवे और अनुयायियों द्वारा वह कार्य सहज में ही संपन्न हो जाय। यद्यपि कभी कभी सामाजिक कार्यों में वे स्वयं भी भाग लेते हैं तथापि उनकी नीति जहां तक संभव होता है अनुयायियों द्वारा उस कार्य को सफल बनाने की ओर ही अधिक रहती देखी जाती है। घनश्यामदासजी विधवा विवाह के समर्थकों में से हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार समय समय पर प्रकट भी किये हैं। तथापि मालूम होता है कि, अनिवार्य रूप से विधवा विवाह को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा वे विधुर विवाह के विरोधी ही अधिक हैं। इसका प्रमाण यह है कि, उनकी धर्मपत्नी का देहान्त बहुत छोटी अवस्था में होने पर भी उन्होंने फिर से अपना विवाह नहीं किया और समाज के सामने यह आदर्श रखा कि, युवती विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं हो सकता तो पुरुषों को क्या अधिकार है कि, वे अपना विधुर विवाह कर युवती विधवाओं के सामने असमानता का उदाहरण रखकर न्याय का हनन करें। वे अन्तर्जातीय विवाहों से भी सहानुभूति रखनेवाले देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही जाति में प्रान्तीय भेद तथा साधारण रस्म-रिवाज की भिन्नता के कारण पारस्परिक सम्बन्धादि न किया जाय, इसको अच्छा नहीं समझते। यही कारण है कि, उन्होंने अपने बड़े भाई रामेश्वरजी की पहली धर्मपत्नी का जब देहान्त हो गया तो माहेश्वरी समाज की दूसरी शाखा कही जानेवाली कोलवार जाति में उनका विवाह कराया। इस विवाह के होने से बिड़ला परिवार को माहेश्वरी समाज का कोपभाजन बनना पड़ा और बहुत सी सामाजिक कठिनाइयाँ भी उसके सामने आईं। आगे चल कर घर के कुछ व्यक्ति विचलित से भी दीख पड़े। परन्तु घनश्यामदासजी अपने विचारों में सुदृढ़ देखे गये। उस समय घनश्यामदासजी यदि कुछ भी विचलित हो जाते तो समाज में इस घराने का नैतिक पतन होना कुछ भी असंभव न था। परन्तु, उन्होंने ऐसा नहीं होने दिया। यह कहना उचित ही होगा कि, इस कोलवार काण्ड के कारण माहेश्वरी समाज में बहुत अधिक

विघटन हुआ। पारस्परिक तनातनी इतनी बढ़ी कि, अनेकों घरों में बहिन-बेटी और जँवाई-भाइयों तक का आना-जाना और संसर्ग बन्द हो गया। यह तनातनी खूब चली और आज भी पहले जैसी तो नहीं, किन्तु कुछ अंशों में बनी ही हुई है। खेद तो इस बात का है कि, माहेश्वरी समाज ने इस कोलवार काण्ड पर सार्वजनिक जातीयता के हित की दृष्टि से विचार न कर विशेष रूप से मनुष्यों के व्यक्तित्व पर ही अधिक ध्यान दिया जिसका परिणाम यह देखा गया कि, जातीय संगठन की आवश्यकता के इस जमाने में बृहत् माहेश्वरी जाति का सार्वजनिक संगठन होने में बाधा उपस्थित हो रही है। क्या ही अच्छा हो कि, माहेश्वरी समाज के प्रमुख व्यक्ति जातीयता के महत्व को समझें और समाज में जो विघटन हो रहा है, उसका प्रेमपूर्वक अन्त कर दें।

जुगलकिशोरजी की तरह घनश्यामदासजी में भी दान करने की भावना बहुत देखी जाती है। जिस काम को वे आवश्यक समझते हैं, उसमें जी खोल कर दान देते हैं। पर दान की शैली में कुछ अन्तर भी है। जुगलकिशोरजी का दान जहां सार्वजनिक हिन्दू जाति के हितों से विशेष संबंध रखता है वहां घनश्यामदासजी का दान अधिकांश रूप में एक नवीन दृष्टि से ही होता देखा जाता है। शिक्षा के सम्बन्ध में उनकी भावना अनुकरणीय है। उन्होंने अपने जन्मस्थान 'पिलानी' में शिक्षा-प्रचार के लिए 'बिड़ला इन्टरमीडियट कालेज' की स्थापना की है तथा अन्य प्रकार से भी शिक्षा-प्रचार की व्यवस्था की है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी शिक्षा के लिये दान दिया है और देते रहते हैं। हिन्दू समाज के 'हरिजनों' के सम्बन्ध में तो उनका हृदय विशेष रूप से दयार्द्र देखा जाता है। पूना पैक्ट के समय उन्होंने प्रमुख भाग लिया था। यही कारण है कि, वे 'हरिजन सेवक संघ' के सभापति के रूप में हर समय उनकी सेवा करने के लिए तैयार रहते हैं।

पाटके अनुभवी कुशल व्यापारी



स्वर्गीय जीवनमलजी वेंगाणी

घनश्यामदासजी कई बार विलायत भी हो आये हैं। वे बड़े गम्भीर विचार रखनेवाले हैं और उनकी गणना मारवाड़ी समाज में विशेष रूप से विचारशील व्यक्तियों में होती है। बिड़ला परिवार में जुगलकिशोरजी और घनश्यामदासजी के अतिरिक्त उनके भाई रामेश्वरदासजी और बृजमोहनजी भी बड़े सुदक्ष हैं। रामेश्वरदासजी बम्बई का काम संभालते और प्रायः वहीं रहते भी हैं। आप वाणिज्य-व्यापार में इतने दक्ष हैं कि, जो काम करते हैं उनमें प्रायः लाभ ही होता देखा जाता है। बृज-मोहनजी कलकत्ते में रह कर स्थायी रूप से 'बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड' का काम प्रधानतया देखते हैं। आपने इधर में थोड़े समय के भीतर बड़ी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली है। आप रिजर्व बैंक की प्रान्तीय और केन्द्रीय शाखा के डाइरेक्टर हैं और सपत्नीक विलायत भी हो आये हैं। आप बड़े मिलनसार, हंसमुख और शान्त प्रकृति के सज्जन हैं।

बिड़ला परिवार की यह विशेषता है कि, दान देने में सभी भाइयों की रुचि रहती है। यदि यह कहा जाय कि, दान देने में भाइयों में परस्पर होड़ होती है, तो अत्युक्ति नहीं है। घनश्यामदासजी के कई पुत्र हैं, जिनमें लक्ष्मीनिवासजी सुयोग्य दीख पड़ते हैं। आशा की जाती है कि, समय पाकर वे भी योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र सिद्ध होंगे। राजा बल-देवदासजी बहुत समय से व्यापारिक क्षेत्र से हट गये हैं और अपने पुत्रों पर सारा भार छोड़ कर काशी में वानप्रस्थ का जीवन व्यतीत करते हैं। सरकार ने उनको 'राजा' की पदवी से अलंकृत किया है। वे बड़े स्वतन्त्र विचार के और बड़े भाग्यशाली भी हैं। यदि परमात्मा किसी की सुने तो बलदेवदासजी की तरह सब प्रकार से सुखी बनावे। सच तो यह है कि, मारवाड़ी समाज में बलदेवदासजी का परिवार एक आदर्श घराना है और सब प्रकार से मारवाड़ी समाज का गौरव बढ़ानेवाला है।

ओसवाल समाज में जीवनमलजी बगानी की गणना करोड़पतियों में हुई। विक्रमी संवत् १९६० तक आप हाटखोले और फूलबागान में लूज जूट की आढ़तदारी का काम 'मौजीराम इन्द्रचन्द' के नाम से सीर-साझे में किया करते थे। आप पाट के व्यवसाय में दक्ष समझे जाते थे। अपने हिस्से के कई लाख रुपये प्राप्त होने पर आपने 'जीवनमल चन्दनमल' के नाम से अपना स्वतंत्र फर्म बनाकर काम करना शुरू कर दिया। आढ़तदारी के अतिरिक्त मुकामों में पाट खरीदने की एजेंसियाँ खोलीं। कुछ ही वर्षों में आपने इतनी आर्थिक उन्नति की कि, बेलिंग का काम भी करने लगे। काशीपुर में पाट की गांठ बांधने का प्रेस बनाया और अपने प्रभाव से हाटखोले, फूलबागान की तरह 'जीवन बाजार' के नाम से पाट की स्वतन्त्र मण्डी वहां पर स्थापित कर दी। आज तो पाट के बाजारों में काशीपुर के बाजार की गणना प्रधान बाजारों में होती है। लूज जूट और बेलिंग के काम में तो आपने अपनी अभिज्ञता का परिचय विशेष रूप से दिया ही, इसके अतिरिक्त हेजिंग के रूप में फाटके का व्यवसाय भी करने लगे। कलकत्त में पाट का फाटका बढ़ने लगा तो आपने उसमें बहुत अधिक भाग लिया। एक समय था कि,बेलिंग के काम में तथा फाटके के बाजार में आपके नाम की धाक पड़ा करती थी। आपके छोटे भाई इन्द्रचन्दजी भी पाट के कारबार में बड़े दक्ष हुए। आपने भी लाखों रुपये इस व्यवसाय में पैदा किये। आप पाट के सिद्धहस्त और अनुभवी दलाल थे। आप सुप्रसिद्ध फर्म 'राली ब्रदर्स' के जूट विभाग के जीवन पर्यन्त प्रतिभासंपन्न दलाल रहे। फाटके के बाजार में भी आपकी धाक मानी जाती थी। जीवनमलजी के पुत्रों में हाथीमलजी सर्वापेक्षा बड़े सुयोग्य और समझदार कहे जाते हैं। वे बड़े साहसी व्यापारी हैं, परन्तु वर्तमान में व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय हलचल के कारण जो अनिश्चित परिस्थिति हो रही है, उसमें वे असफल ही देखे जाते हैं। इस समय भी उनके घराने की बहुत अच्छी

जीवनमल चंदनमल—



धनकुबेर श्रीयुक्त मंगनीरामजी बांगड़

प्रतिष्ठा है। यहाँ पर श्री फूलचन्दजी सरावगी के सम्बन्ध में भी हम लिखना आवश्यक समझते हैं क्योंकि इस घराने से उनका सम्बन्ध जीवनमलजी के समय से ही रहा है तथा आज भी उसी प्रकार बना हुआ है। फूलचन्दजी सुदक्ष व्यापारी, सरल प्रकृति और बड़े मिलनसार व्यक्ति हैं। फाटके के मार्केट में उनकी गणना प्रमुख व्यक्तियों में होती है।

मंगनीराम रामकुमार बाँगड़—

यह फर्म डीडवाने के माहेश्वरियों का है और इस फर्म की गणना इस समय मारवाड़ी समाज में सर्वोपरि धनिकों में होती है। इस प्रकार आर्थिक उन्नति करने का श्रेय आप दोनों भाइयों को है। आपने शेयर बाजार में जिस समय कारबार करना शुरू किया था, उस समय आपकी गणना साधारण दलालों में होती थी। परन्तु, कुछ ही वर्षों में विशेष कर जर्मन महायुद्ध के समय जब कि कलकत्ते की जूट मिलों ने अत्यधिक लाभ उठाया और शेयरों की दर बहुत अधिक बढ़ गयी तो आपने दलाली में तथा अपनी निज की खरीद बिक्री में इतना लाभ उठाया कि, देखते-देखते आपकी गणना करोड़पतियों में हो गयी। आज तो यह अवस्था है कि, यह फर्म कई करोड़ का समझा जाता है। कहते हैं कि, इस फर्म में इस समय ब्याज, भाड़े और शेयरों के डिविडेंड से लाखों रुपयों की प्रति वर्ष आय होती है। मंगनीरामजी कुछ वर्षों से पुष्कर में रहने लगे हैं। पुष्कर में कई लाख रुपये लगाकर आपने एक ऐतिहासिक मन्दिर बनवाया है जिसके द्वारा अन्न क्षेत्रादि कई प्रकार से दान-धर्म का कार्य होता रहता है। रामकुमारजी शेयर के बाजार में बड़े होशियार और अनुभवी माने जाते हैं। आपका घराना धार्मिक विषय में पुराने विचारों का समर्थक देखा जाता है। यही कारण है कि, आपमें साम्प्रदायिक कट्टरता अधिक प्रकट होती है। आपका फर्म जितना अधिक धनशाली है, उसके अनुसार सामाजिक और देश के आवश्यक कामों में उदारतापूर्वक भाग ले तो देश तथा समाज के लिए विशेष रूप से उपकारी सिद्ध हो सकता है।

आपके सभी पुत्र-पौत्र सीधे-सादे और लायक दीख पड़ते हैं। आशा है, आगे चल कर इस घराने के व्यक्ति अपनी धार्मिक भावना बनाये रह कर देश की वर्तमान गति के अनुसार देश के सहायक बनेंगे और बड़े धनिक होने के साथ ही साथ समाज एवं देश के उपकारी सिद्ध होंगे।

इस फर्म का अस्तित्व वि० सं १९६० से देखा जाता है। यद्यपि इनके पूर्व पुरुष बहुत पहले ही बंगाल में आये थे, तथापि उल्लेखनीय स्थिति इसी समय से देखी जाती है। इस समय इस फर्म की गणना करोड़पतियों में होने लगी है।

सूरजमल नागरमल—

इस फर्म के प्रतिष्ठाता रतनगढ़ के सूरजमलजी जालान थे, जिन्होंने अपने साले नागरमलजी बाजोरिया के साझे में पन्द्रह बीस हजार की पूंजी से इस फर्म को खोला था और पाट की आढ़तदारी का काम शुरू कर देखते-देखते कुछ ही वर्षों में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। आढ़तदारी के काम में जब आर्थिक स्थिति जमने लगी तो उन्होंने पटसन का काम भी शुरू कर दिया। बाद में जूट बेलिंग का काम भी करने लगे। कुछ रुपये बन गये तो चितपुर में पहले-पहल एक छोटा-सा जूट प्रेस खरीद लिया। उत्तरोत्तर उनकी उन्नति होती गई और बड़े धनिकों में इस फर्म की गणना होने लगी। सूरजमलजी के छोटे भाई बंशीधरजी भी बड़े होशियार सिद्ध हुए। यदि यह कहा जाय कि, सूरजमलजी की देखरेख और व्यवस्था में बंशीधरजी ने आर्थिक उन्नति करने में सर्वापेक्षा अत्य-धिक भाग लिया तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। इस समय इनके यहाँ कई एक जूट-प्रेस, हेसियन की मिलें तथा चीनी के कारखाने स्वतन्त्र रूप से चलते हैं और देश के उद्योग-धन्धों में सहायक हो रहे हैं। इस फर्म का सम्बन्ध हेजिंग के रूप में फाटके के बाजार से भी बहुत रहा है। पाट के बाजार में हेजिंग के रूप में इस फर्म ने बहुत लाभ उठाया और आज भी उठा रहा है। इस फर्म ने कुछ ही वर्षों में इतनी बड़ी ख्याति प्राप्त की।

सफल व्यापारी और जाति-हितेच्छुक



स्वर्गीय सूरजमलजी जालान

(फर्म—सूरजमल नागरमल)

सूरजमलजी ने इस फर्म को कायम कर जितनी आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की उतनी ही समाज में उन्होंने ख्याति पाई। वे बड़े मिलनसार व्यक्ति थे। नये धनिक होने के कारण वे साधारण भाइयों के दुःख दर्द को स्वानुभव से समझते थे। चतुर भी बहुत थे। सामाजिक कार्यों में भाग लेने की इच्छा बहुत रखते थे। दान धर्म भी करते थे। उनका दान आँख मींच कर नहीं, बहुत समझ बूझ कर होता था। अपने साले श्रीयुक्त नागरमलजी बाजोरिया को वे अपने भाई और बालक की तरह मानते थे। दो तीन वर्ष हुए, जब कि शिमले में उनका हठात् देहावसान हो गया तो सूरजमलजी ने प्रायः दो लाख रुपये लगा कर उनकी स्मृति के लिए कलकत्ते में 'रामचन्द्र नागरमल बाजोरिया शिल्प विद्यालय' बनवाया जो कि, आज उद्योग-धन्धों की शिक्षा का प्रसार कर रहा है। सूरजमलजी में पुस्तकालय स्थापना की भावना बहुत देखी जाती थी। सलकिया और रतनगढ़ आदि में आपने अच्छे-अच्छे पुस्तकालय स्थापित किये। सूरजमलजी के साथ लेखक का बहुत घनिष्ठ परिचय रहा। उसे इस बात का अनुभव है कि, सूरजमलजी में समाज के आवश्यक कार्यों को करने की भावना बहुत रहा करती थी। जब कभी एकान्त में बातें होतीं, वे आवश्यक कार्यों की पूछताछ किया करते थे। गत वर्ष जब वे वैद्यनाथधाम में थे, उस समय लेखक के साथ दो कामों के लिए विस्तृत रूप में परामर्श हुआ था। एक काम तो यह था कि, कलकत्ते में एक ऐसा व्यवहारिक स्कूल खोला जाय जिसमें छठे, सातवें, आठवें और नवें क्लास तक पढ़े हुए मारवाड़ी बालकों को, जिन्होंने स्कूल छोड़ दिया हो, अंगरेजी बोलना सिखाया जाय जिससे वे व्यापार में व्यवहार-चतुर बन कर सफलता प्राप्त कर सकें। इसके सिवा सभी प्रकार के व्यापार की व्यावहारिक शिक्षा क्रियात्मक रूप में दी जाय, जिससे किसी भी व्यापार में वे दक्ष सिद्ध हों। दूसरी योजना यह थी कि, जो मारवाड़ी भाई अर्थाभाव के कारण बेकार फिरते हैं, उनके लिए

एक फण्ड बनाया जाय और उसमें दो विभाग रखे जाँय। पहली व्यवस्था में पहले-पहल अढ़ाई-सौ व्यक्तियों को फेरी आदि के काम में लगाया जाय। उन्हें पहले २५) रुपयों का माल दिला कर काम में लगाया जाय और जब वे जानकार हो जाँय तब उन्हें ५०) रुपयों तक का माल दिलाया जाय। इसमें सफलता होने लगे, तब संख्या बढ़ा दी जाय। इसके लिये फण्ड की ओर से एक स्थान रहे जिसमें उनका माल सायंकाल रख लिया जाय और बिक्री का हिसाब प्रति दिन समझ लिया जाय। जो नफा हो उसमें से आवश्यकतानुसार उन्हें दे दिया जाय और शेष नफा जमा रहे। दूसरी व्यवस्था यह हो कि, कोई भाई फेरी का काम न कर दक्ष होने के कारण दूकान करना चाहे तो उसे पहले पांच सौ रुपये और बाद में एक हजार रुपये तक लगा कर दूकान खुलवा दी जाय और उसकी देखरेख तथा सँभाल फण्ड की ओर से हो। पहले-पहल ऐसी एक सौ दूकानें खुलवाई जाँय। इस प्रकार दो कामों की योजना सोची गयी थी और इनको कार्य में परिणत करने के लिये सुगमता और मौका वे देख रहे थे। मालूम होता था कि, भाइयों की स्वीकृति लेकर शीघ्र ही वे इन कामों को करना चाहते थे। पर खेद है कि, उनका असमय में ही हठात् स्वर्गवास हो गया। सच कहा है कि, 'शुभं च शीघ्रम्'। उनकी मृत्यु के समय पांच लाख रुपये दान की घोषणा हुई, परन्तु यह नहीं मालूम हुआ कि, वे रुपये किस कार्य में लगाये जावेंगे। सुना तो यह जाता है कि, इन रुपयों से कलकत्ते में एक विशाल पुस्तकालय बनाया जावेगा और साधारण गरीब भाइयों के लिये वहीं पर एक ऐसा मकान बनाया जायगा, जिसमें वे निःशुल्क रह कर मेहनत-मजदूरी कर अपना काम चला सकेंगे। यह व्यवस्था भी बुरी नहीं है और इसकी भी बहुत आवश्यकता है। परन्तु उपर्युक्त जिन दो कामों के करने की उनकी भावना दीख पड़ती थी, उनकी कोई व्यवस्था होगी या नहीं, यही अभी नहीं मालूम हुआ। क्या ही अच्छा हो कि, उनके उत्तराधिकारी उनकी

सुयोग्य व्यापारी



श्रीयुक्त बंशीधरजी जालान
(फर्म—सूरजमल नागरमल)

अन्तिम इच्छा का अनुभव करें और साथ ही साथ ऐसी व्यवस्था करें जिससे उनकी पूर्ति हो सके।

इस समय इस फर्म के सर्व प्रधान संचालक बंशीधरजी हैं और उनके छोटे भाई बैजनाथजी तथा सूरजमलजी के पुत्र मोहनलाल और बंशीधरजी के पुत्र केशरदेव आदि सभी दक्षता से काम करते हैं और सभी सुयोग्य व्यक्ति हैं। सारांश यह कि, इस फर्म ने बहुत अल्प समय में ही व्यापारिक सफलता प्राप्त कर समाज के समक्ष अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है और इसका सबसे अधिक श्रेय बंशीधरजी को है।

पनयचन्दजी सिंघी—

मारवाड़ी समाज में पनयचन्दजी सिंघी की गणना भी एक समय प्रभावशाली व्यक्तियों में हुई। इनके पूर्वजों का आदि निवास चूरू में था। पर बाद में ये सुजानगढ़ जा बसे थे। कहा जाता है कि, इनके दादा श्री पूर्णचंदजी वि० सं० १८८० के लगभग कलकत्ते आये थे। उस समय उनकी बहुत ही साधारण अवस्था थी। इस सम्बन्ध में हमने श्री० केशवदास शितावचन्द के फर्म का वर्णन पहले किया है, उससे पाठक जान चुके हैं कि, इस फर्मवालों ने किस प्रकार पूर्णचंदजी की सहायता की थी और माल की नौकाएँ लगातार डूबने पर भी बारबार माल दिला कर उन्हें व्यापार में लगाया था तथा किस प्रकार देखते-देखते पूर्णचंदजी लखपति बन गये थे। आगे चल कर 'जेसराज गिरधारीलाल' नामक उनका फर्म बहुत प्रसिद्ध हुआ। जेसराजजी का बड़ा नाम रहा। कपड़े के अतिरिक्त पाट का काम होता था। जेसराजजी के भाई पनयचंदजी ने समाज में तथा पाट के व्यापारिक क्षेत्र में बड़ा नाम प्राप्त किया। जूट बेलिंग के व्यवसाय में एक समय इनकी धाक पड़ती थी। इनकी सुदक्षता का प्रमाण तो यही है कि, वि० संवत् १९६३ के एक ही वर्ष में इन्होंने प्रायः बीस लाख रुपये बेलिंग के काम में पैदा किये थे। इन्होंने पाट की गाँठ बाँधने का प्रेस बनाया और पाट के व्यवसाय में सर्वोपरि समझे जाने लगे थे। सन् १९०९ में इन्होंने

ही अपने उद्योग से 'जूट बेलर्स एसोसियेशन' का निर्माण किया, जो आज भी बेलिंग के व्यापारियों के हितों की रक्षा करता है। एक जमाना था कि, पाट के बड़े-बड़े शीपर एवं दलाल इनके मुँह की तरफ देखा करते थे। एक बार कपड़े के बाजार में व्यापारियों का पारस्परिक वैमनस्य हुआ तो, उसे दूर करने के लिए ये ही सरपंच माने गये थे। इनमें स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक है। इसका प्रमाण यही है कि, इनके फर्म की आर्थिक अवस्था जब घटने लगी तो अपने घराने की पूर्व प्रतिष्ठा के अनुसार सम्बन्धादि करने में कठिनाई होती देख अपनी पुत्री का विवाह समाज के एक ऐसे लड़के से कर दिया था जो कि, उच्च घराने का होने पर भी आर्थिक अवस्था में सम्पन्न नहीं था। इन्होंने यह सम्बन्ध करके समाज के सामने एक नया आदर्श रखा कि, धन की थैलियों का मिलान न कर सुयोग्य बालक के साथ सम्बन्ध करना कितना आवश्यक है। इन्होंने पहले जैसी आर्थिक समुन्नत अवस्था न रहने पर भी हजारों रुपये नगद और हवेली, नोहरा तथा दूकान आदि दहेज में देकर उसे बराबर का बना लिया। खेद है कि, आगे चल कर पुत्री अधिक समय तक सौभाग्यवती न रह सकी, परन्तु पनयचंदजी के सामाजिक उच्च विचार इससे जाने जा सकते हैं। इन्होंने अपने जन्मस्थान सुजानगढ़ में प्रायः पाँच लाख रुपयों की संपत्ति लगा कर श्री पारसनाथजी का एक ऐतिहासिक मन्दिर बनाया है और उसी सम्पत्ति से मन्दिर का खर्च चलाया जाता है। इनका बीकानेर राज्य में भी बहुत सम्मान देखा जाता है। ये कई वर्षों तक बीकानेर स्टेट असेंबली के सदस्य भी रह चुके हैं। यद्यपि पहले जैसी आर्थिक अवस्था अब नहीं है, तथापि समाज में इनकी प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी हुई है।



श्रीयुक्त पनयचंदजी सिंघी



आपका जन्मस्थान भिवानी से १२ कोस पर अलखपुरा ग्राम है।

सर छाजूरामजी चौधरी— सामाजिक प्रथा के अनुसार आपके पूर्वज कृषि का काम करते थे। आपका जन्म वि० सं० १९१९ अर्थात् ई० सन् १८६२ में हुआ। आपने कृषि का पेशा न कर शिक्षा प्राप्त की और एण्ट्रेन्स पास कर सन् १८८६ में कलकत्ते आ गये। कलकत्ते में पहले पहल ट्यूटर बन कर रहने लगे। इसमें आपको दस पंद्रह रुपये मासिक की आय होती थी। बाद में किसी मित्र की सहायता से आपको होरमिलर कम्पनी की आफिस में २५) रुपये मासिक की जहाज पर आनेवाले माल का बट्टा करने की नौकरी मिल गयी। यह काम आपने प्रायः दो वर्ष तक किया। परन्तु बाद बट्टा करने में पक्षापक्ष बहुत था—और घूँसखोरी आपको पसन्द नहीं थी। अतः काम छोड़ दिया और मकानों की दलाली में फिरने लगे। एक वर्ष तक इस कार्य में भी लगे रहे पर सफलता नहीं मिली। पश्चात् आपने शेयर बाजार में प्रवेश किया। उस समय 'झटपट पटपट' नामक शेयरों का बाजार चल रहा था। एण्ड्र्यूल कम्पनी आदि कतिपय विदेशी व्यापारियों ने यह कम्पनी खोली थी और करोड़ों रुपयों के शेयर क्रय-विक्रय होने लगे थे। कुछ ही दिनों में एक रुपये के शेयर का दाम बीस रुपये और दस रुपये-वाले शेयर का दाम एक सौ से अधिक हो गया था। ये शेयर ६ महीने चले। बाद में इन शेयरों की इतनी मिट्टी पलीद हुई कि, पता भी नहीं लगा कि, उस कम्पनी का क्या हुआ? परन्तु आपने इस व्यवसाय में दलाली करके अवश्य लाभ उठाया। इन शेयरों की खरीद-बिक्री जब बन्द हो गयी तो छाजूरामजी बोरे की दलाली करने लगे। साथ ही हाट-खोले में लूज पाट की दलाली भी कर लिया करते थे। वि० संवत् १९५६ तक इसी प्रकार साधारण व्यवसाय करते रहे। उस समय तक आपके पास लाख दो लाख की पूँजी जुट गयी थी परन्तु, १९५६ में जब देश व्यापी अकाल पड़ा तो आपने अपने पास की सारी पूंजी उसी में लगा दी।

वोरों की दलाली में आपका आना जाना अंग्रेजी आफिसों में हो गया था। डेनकिन, एण्ड्रयूल आदि कम्पनियों में जाने आने लगे थे। रोज और साइम साहव आपको वहुत चाहते थे। स्थिति भी अच्छी हो गयी थी। आपमें व्यापारिक साहस वहुत था। जितने रुपये पास में होते निजके व्यापार में लगा देते थे। इसके अतिरिक्त जहाँ तक व्यापार करने की सुगमता पाते, कर लेते थे। सन् १९१४ में जव जर्मन महायुद्ध शुरू हुआ तो एक वार वोरों का वाजार इतना विगड़ा कि, आपको वड़ा घाटा लगा और कर्जदार वन गये। पर वाद में जव हैसियन वोरों का व्यापार सुधरने लगा तो आपने वड़ी उन्नति की और आपकी गणना करोड़पतियों में होने लगी। आपमें उदारता और दान करने की भावना वहुत रही। आपने इस अल्प समय में सार्वजनिक संस्थाओं को जो दान दिया, उसका हिसाव लगाना कठिन है परन्तु कहा जाता है कि, वह पचास साठ लाख रुपयों से अवश्य ही कम नहीं है। पता लगता है कि, दान करने की भावना आपके पुत्र सज्जनकुमार की प्रेरणा से ही वृद्धि पा सकी थी। आप सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी हैं। आर्यसमाज से सम्वन्ध रखनेवाली संस्थाओं को तो आपने जी खोलकर दान दिया ही, इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी दान देने में आपने वरावर भाग लिया। हिसार में 'डी० ए० वी० हाई स्कूल' में पहले-पहल एक लाख रुपये दिये और वाद में अपने नाम पर वोर्डिंग हाउस वनवाया, जिसमें प्रायः दो लाख रुपये खर्च किये। रोहतक में 'जाट हाई स्कूल' के लिए प्रायः एक लाख रुपये दिये। हिसार में भी जाट हाई स्कूल का निर्माण करवाया और वोर्डिंग आदि वनवाने में चार लाख रुपये लगाये। अपनी पुत्री कमला के नाम पर आपने भिवानी में जनाना अस्पताल वनवाया, उसमें ५ लाख रुपये खर्च किये। भिवानी में पानी की कल लगाने में ५० हजार रुपये खर्च किये। सरकार ने भी आपके सार्वजनिक कामों को पसन्द किया। फलस्वरूप सन् १९२९ में आपको सी० आई० ई० की उपाधि मिली और

सफल व्यापारी और दानवीर



सर छाजूरामजी चौधरी, सी० आई० ई०

१९२८ में आप 'सर' बना दिये गये। आप पंजाब कौन्सिल के सदस्य भी रहे। परन्तु 'सर' की उपाधि मिलने के बाद हैसियन वोरों के व्यापार की स्थिति बिगड़ने लगी। उस समय आपके पास प्रायः ३ करोड़ रुपये थे। परन्तु व्यापार इतना अन्धाधुन्ध करते थे कि, इस मन्दी ने कुछ ही समय में आपको घाटे में डाल दिया। इस समय आपकी आर्थिक अवस्था पहले जैसी नहीं है, परन्तु, आपका नाम बहुत है। इस समय ७६ वष की अवस्था हो जाने पर भी आपकी ज्ञानशक्ति और व्यापारिक बुद्धि काम करती है। सच तो यह है कि, मारवाड़ी समाज में आपने कृषक घराने में जन्म लेकर भी व्यापार में इतनी उन्नति की कि, व्यापार-पटु होने के अतिरिक्त जनसेवक और दानशूर कहलाये।

सर स्वरूपचन्द हुक्मचन्द— इस फर्म के मालिक सर हुक्मचन्दजी की गणना न केवल मारवाड़ी समाज में ही, किन्तु सभी क्षेत्रों में प्रमुख व्यापारियों होती है। आप वास्तविक व्यापार में जितने दक्ष हैं, उससे कहीं अधिक अनुभवी फाटके के व्यवसाय में माने जाते हैं। आप दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के माननेवाले हैं। आपका कार-बार इन्दौर, उज्जैन, बम्बई और कलकत्ता आदि बड़े-बड़े व्यापारिक क्षेत्रों में होता है। आपका फर्म कई करोड़ का माना जाता है। फाटके के व्यवसाय में यद्यपि आपने कई बार उतार चढ़ाव देखे परन्तु कभी आँच नहीं आई और करोड़पति ही बने रहे। आपके व्यापारिक अनुभवों की धाक यूरोपियन व्यापारी और राजे-महाराजे भी मानते हैं और समय-समय पर आपसे मिलकर आपके अनुभव से लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। कुछ वर्षों से आपने कलकत्ते में 'हुक्मचन्द जूट मिल' 'हुक्मचन्द इलेक्ट्रिक कम्पनी' तथा कतिपय बीमा कम्पनियाँ खोल कर देश की औद्योगिक उन्नति में बड़ा भाग लिया है। इसके अतिरिक्त इन्दौर, उज्जैन और बम्बई में कई काटन मिलें हैं। आपके जीवन का बहुत बड़ा भाग फाटके से सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसाय में बीता, परन्तु

हाल में आपने फाटकेबाजी में अशान्ति और निश्चिन्तता के अभाव का अनुभव कर फाटके का व्यवसाय करना छोड़ दिया है। आपने सार्वजनिक कार्यों के लिये और जैन समाज के लिये बहुत अधिक दान दिया है। इन्दौर में तो आपने विद्यालय, बोर्डिंग हाउस और अस्पताल आदि बनाकर अपनी दानशीलता का विशेष परिचय दिया है।

आपके कलकत्ते के फर्म में हरकिशनदासजी भट्टड़ बड़े सुयोग्य मुनीम हुए। आपके उद्योग से ही जूट आदि की मिलों का निर्माण हुआ। आप अनुभवी व्यापारी थे। आपने अपनी भी श्लाघनीय उन्नति की। आपकी मृत्यु के बाद से आपके भतीजे शिवकृष्णजी भट्टड़ फर्म के प्रधान कार्यकर्त्ता हैं। युवक होने पर भी आप कर्मशील और होशियार व्यक्ति हैं। कलकत्ता कारपोरेशन ने आपको एल्डरमैन बनाया था। सार्वजनिक संस्थाओं से भी आपका बहुत अधिक सम्बन्ध रहता है।

केशोराम पोद्दार--

मारवाड़ी व्यापारिक समाज में केशोरामजी पोद्दार की जीवनी का महत्त्व एक प्रकार से विशेष रूप से है। उससे कई प्रकार की शिक्षा मिल सकती है। उन्होंने अपनी साधारण आर्थिक अवस्था से जिस प्रकार देखते-देखते असाधारण उन्नति की और कई करोड़ के स्वामी बन गये उसी प्रकार अल्प काल में ही देखते देखते उनके विपुल धन का ह्रास भी हो गया। सच तो यह है कि, केशोरामजी के आर्थिक उतार-चढ़ाव का समाज पर बहुत गहरा असर पड़ा। साधारणतया समाज में यही देखने में आता था कि, वाणिज्य-व्यापार में जिस मनुष्य की धीरे धीरे उन्नति होती, उसका ह्रास भी धीरे धीरे ही होता था तथा एक बार सम्पत्तिशाली बननेवाले मनुष्य का जब ह्रास भी होता तो कुछ न कुछ सम्पत्ति उसके पास ऐसी बनी रहती, जिससे कई वर्षों तक उससे वह अपना काम चला सकता। परन्तु केशोरामजी के सम्बन्ध में यह देखने में आया कि, जिस प्रकार पांच सात वर्षों में उन्होंने आश्चर्यजनक उन्नति की और देखते देखते करोड़-



रावराजा सर हुकमचन्द, इन्दौर
(फर्म—सर स्वरूपचन्द हुकमचन्द)

पति बने, उसी प्रकार चार पाँच वर्ष में ही हानि भी उठाई। उनमें यह विशेषता और भी अधिक रूप में देखी गई कि, अपनी उन्नत अवस्था में जहाँ वे लाखों रुपयों का विनिमय हर तरह से करते थे, वहाँ उन्होंने अपने घर में जेवरादि बनाने तथा अन्य प्रकार से ठोस सम्पत्ति का संग्रह करने पर कभी कोई ध्यान नहीं दिया। शायद यही कारण है कि, इतना अधिक धन निकल जाने पर उनके पास कोई ऐसी स्थायी सम्पत्ति नहीं रह सकी कि, जिससे वे सुगमता से अपना काम कुछ वर्षों तक चला सकते। केशोरामजी में जी खोलकर व्यापार करने की धुन थी। कमाई-खोई करना वे जानते थे। पर कमाये हुए धन का ठोस रूप में संग्रह करने की उन्होंने कभी पर्वाह नहीं की। उनमें आत्मविश्वास बहुत था। भविष्य में क्या होगा, इसकी वे कल्पना भी नहीं करते थे।

यहां यह बतलाना अनुचित न होगा कि, केशोरामजी की आश्चर्यजनक उन्नति ने उस समय के अनेक व्यापारियों पर भी बड़ा जादू डाला। बहुत से व्यापारी यह समझने लगे कि. केशोरामजी देखते-देखते करोड़पति बन सकते हैं तो वे क्यों नहीं बन सकते। इस भावना ने अनेक व्यापारियों को संयम से वंचित कर दिया था। वास्तव में उनकी सफलता से अनेक व्यक्तियों का व्यापार में हद से ज्यादा मन बढ़ गया था और अधिकाधिक खोई कमाई करने की रुचि लोगों में जाग पड़ी थी।

केशोरामजी के पूर्व पुरुषों का सम्बन्ध बंगाल प्रदेश से प्रायः एक सौ वर्षों का है। उनके पूर्व पुरुषों में श्री सोनीरामजी पहले-पहल कलकत्ते आये थे, जिनके सम्बन्ध में हमने पहले उल्लेख किया है। केशोरामजी के सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि, पहले-पहल उन्होंने जब कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया तब उनकी आर्थिक अवस्था बहुत ही साधारण थी। अन्य कामों के अतिरिक्त उन्होंने रूड़मलजी गोनयका के यहां काम करना शुरू किया और उनके अधीनस्थ 'मित्सुईभूषणकैसा' की जापानी आफिस में काम करते रहे। बाद में चीनी की दलाली की और राली ब्रदर्स की

आफिस की चीनी वेचने लगे। पहले-पहल तो सफलता नहीं मिली परन्तु वाद में जव जावा चीनी का बाजार सुधरा तो उनके पास कई लाख रुपये हो गये और उन्नति का चक्र चलने लगा। उनमें व्यापारिक साहस वहुत था। अतः 'मित्सुईभूपणकैसा' की जापानी आफिस के वे दलाल और वेनियन वन गये। इस आफिस में जी खोलकर काम किया। जो माल बाजार में नहीं बिकता था, उस माल का कण्ट्राक्ट अपनी वद में करने लगे। उस समय उनको ऐसा मौका मिला कि, जव जर्मन महायुद्ध शुरू हुआ तो वे मालामाल हो गये। उन्होंने हैसियन, वोरे, पाट, चांदी, तीसी और रूई आदि सभी वस्तुओं का व्यापार और फाटका करना शुरू कर दिया। समय अनुकूल था, देखते-देखते दो चार करोड़ के मालिक हो गये। उस समय उनका मन इतना वढ़ गया कि, जो मन में आता उसी वस्तु का व्यापार कर उसका दाम मनमाना बढ़ाने लगे। हैसियन पर ध्यान दिया तो उसका दाम दुगुना तिगुना कर दिया। मकानों की धुन लगी तो उनकी भी कीमत वढ़ा दी। कोई कल कांटे का काम सामने आया तो उन्होंने यह विचार नहीं किया कि, यह काम समझते हैं या नहीं तथा सँभाल सकेंगे या नहीं, उसे भी खरीद लिया। मकान वनाने की ईंटों पर नजर गई तो मोनोपोली करने लगे और उसकी दर भी चौगुनी कर दी। महायुद्ध के समय वार लोन निकला तो ६६ लाख रुपयों का वार लोन एक साथ खरीद लिया और उसका व्यापार करने लगे। लिखने का सारांश यह है कि, केशोरामजी ने उस समय व्यापार में विचित्र उदाहरण उपस्थित कर दिया था। जिस माल को पकड़ लेते उसे वे छोड़ना नहीं जानते थे। महायुद्ध के कारण समय अनुकूल रहा और आँख मींच कर जिस वस्तु में हाथ दिया उसी में मालामाल होते गये। उनका मन इतना वढ़ा कि, करोड़ों रुपये हो जाने पर भी सन्तोष धारण नहीं किया। साथ ही इस बात की भी पर्वाह नहीं की कि, जो फैलाव फैलाया जाता है, उसकी देखरेख कौन करेगा? अन्त में परिणाम यह



श्रीयुक्त केशोरामजी पोद्दार

हुआ कि, जर्मन महायुद्ध के समाप्त होने पर महायुद्ध के खर्च से दबे हुए राष्ट्रों की आर्थिक नीति बदलने लगी और उसका प्रभाव इस देश पर भी पड़ा। महायुद्ध के समय धन कमाकर जिन व्यापारियों ने सन्तोष धारण कर लिया था, वे तो बने रहे पर जिन्होंने व्यापार में और भी अधिक मन बढ़ा लिया, उनका धन जिस प्रकार आया था, उसी प्रकार निकलने लगा। केशोरामजी माल खरीद कर बेचना नहीं जानते थे, जिसका नतीजा इतना घातक हुआ कि, जिस प्रकार देखते-देखते धन बरसा था, उसी प्रकार देखते-देखते नदी सूख गयी।

अपनी उन्नति के समय केशोरामजी ने सामाजिक विषयों में भी भाग लिया था और अपने धन के प्रभाव से वे एक दल के अगुआ भी बन गये थे। उनमें यह एक विशेषता थी कि, जिस काम को करना चाहते साहस के साथ आगे आते थे और उसे येनकेनप्रकारेण पूरा करने की चेष्टा करते थे। जिस बात को पकड़ लेते, उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। परन्तु सामाजिक कामों में वे सार्वजनिक भावना को धारण न कर एक पक्ष का ही समर्थन करते थे। केशोरामजी जैसे धुन के पक्के और डटे रहनेवाले व्यक्ति यदि समाज में सार्वजनिक हित सम्बन्धी कार्य करने लगते तो उनके द्वारा उस समय समाज का बहुत बड़ा हित साधन हो सकता था। परन्तु, खेद है कि, वे एक दल विशेष की ओर ही झुके। उसका परिणाम समाज के लिये अनुकूल नहीं हुआ। केशोरामजी को हम एक साहसी, सच्चा और कर्मठ व्यक्ति मानते हैं और उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारी बहुत अच्छी धारणा है। परन्तु सामाजिक कामों में उनका दृष्टिकोण सार्वजनिक न होकर साम्प्रदायिक ही रहा। उनमें यह विशेषता है कि, न तो अच्छी अवस्था में उछलते ही हैं और न हीन से हीन अवस्था में पश्चात्ताप ही करते हैं। उनमें ऐसी ही कई एक विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि, उनके सम्बन्ध में हमने सचाई के साथ इतना उल्लेख किया है।

इन्होंने बड़ेबाजार में एक समय बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की।

श्रीलाल चमड़िया— वि० संवत् १९६० के लगभग बहुत ही साधारण अवस्था में ये फतहपुर से चल कर कलकत्ते आये। पहले इधर-उधर साधारण काम करते रहे। बाद में श्री विलासरायजी चौधरी के यहाँ नौकरी करने लगे। साहसपूर्ण बोलचाल की योग्यता बहुत थी। किसी भी काम में निधड़क प्रवेश कर जाना इनके लिए मामूली काम था। विलासरायजी के यहाँ इन्होंने मकानों को लीज पर लेकर भाड़े में लगाने का काम देखना शुरू किया। उस समय व्यापार की स्थिति अच्छी थी। महायुद्ध के समय व्यापारी वर्ग अच्छी अवस्था में हो गया था। मकानों के काम में सफलता मिली। बाद में मन बढ़ने लगा। अफीम चौरस्ते पर पाट आदि का व्यवसाय भी करने लगे। कुछ ऐसा मौका भी आया कि, व्यापारिक और सामाजिक कामों में इन्होंने इतना साहस दिखाया कि, नाम होने लगा। एक ओर व्यापार ने साथ दिया, दूसरी ओर नाम पाने की लालसा ने उदारता और समाजसेवा का भाव भी पैदा कर दिया। देखते-देखते कुछ ही वर्षों में खासा नाम हो गया और एक प्रकार से धाक पड़ने लगी। व्यापारिक साहस तो इतना दिखाया कि, अपनी सामर्थ्य से बहुत अधिक व्यापार करने लगे। लाखों रुपयों के मकानात और अन्य प्रकार की जायदाद बनाने में अद्भुत कार्य किया, जिससे बड़ी आर्थिक प्रतिष्टा बन गयी। हिम्मत और साहस बहुत अधिक होने के कारण इन्होंने अपनी बड़ी भारी आर्थिक उन्नति की। परन्तु इनमें चंचलता भी अधिक थी। किसी काम के करते समय उसका परिणाम अनिष्टकर भी हो सकता है, इसकी इन्होंने कभी पर्वाह नहीं की। इससे इन्हें कष्ट भी उठाना पड़ा। इतना होने पर भी ये साहस, हिम्मत और व्यापारिक उन्नति करने में एक विशेष व्यक्ति सिद्ध हुए। अवश्य अब वह बात नहीं रही, पर आज भी इनकी गणना साहसी व्यक्तियों में होती है।



श्रीयुक्त ज्वालाप्रसादजी भरतिया

जयदयालजी के पिता श्री भजनलालजी बहुत पहले से कलकत्ते में रहते थे और दलाली का काम करते थे। आपकी भजन करने में बड़ी रुचि थी। जयदयालजी भी

जयदयाल कसेरा—

दलाली करने लगे। कुछ समय तक आपने 'शिवनारायण सागरमल' के सीर-साझे में भी काम किया। बाद में कतिपय अंगरेजी आफिसों में दलाली करने लगे। जयदयालजी की गणना सफल दलालों में होती थी। इतना होने पर भी आप कोई उल्लेखनीय उन्नति नहीं कर सके। पीछे वि० संवत् १९७० में श्रीलाल चमड़िया और इस पुस्तक के लेखक के साथ 'रामकुमार कम्पनी' के नाम से फर्म खोल कर सीर-साझे में काम करना शुरू किया तो आर्थिक उन्नति होने लगी। पाँच वर्ष के बाद सब अलग-अलग हो गये तो और भी अधिक उन्नति हुई। जयदयालजी खर्चीले और उदार रहे। फाटके के व्यापार में आपके व्यापार करने की शैली भी अच्छी थी। अक्सर दलाली की आय के सहारे फाटके का व्यापार करते थे। कुछ ही वर्षों में आपने अच्छी उन्नति की और दस बीस लाख रुपये भी हो गये। परन्तु फाटके के व्यापार में रुपये होकर जो व्यक्ति सन्तोष धारण नहीं करता और उसी में आँख बन्द कर लगा रहता है, उसे अक्सर हानि उठानी पड़ती है। यही कारण है कि, आपने जिस प्रकार धन प्राप्त किया था, उसी प्रकार हानि का भी आपको सामना करना पड़ा।

जयदयालजी ने सामाजिक कामों में भी भाग लिया। परन्तु, आप भी सार्वजनिक भावना से अग्रसर न होकर दलविशेष के ही सदस्य बने। धन की उदारता के कारण अपने दल में आपने प्रमुख स्थान पाया। जयदयालजी में उदारता और मिलनसारी बहुत है। आपमें दान करने की रुचि भी देखी जाती है। 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी अस्पताल' में आपने कई हजार रुपये लगा कर अपने नाम से कमरे बनवाये हैं। फतहपुर में गोचर-भूमि का भी प्रबन्ध किया है।

ज्वालाप्रसाद भरतिया—

शेखावाटी फतहपुर से अपनी किशोरावस्था पार करते ही ये कलकत्ते आ गये थे। यहाँ आकर पहले-पहल गल्ले की दलाली में फिरने लगे। साथ ही अफीम चौरस्ते पर पाट का कुछ-कुछ फाटका भी कर लिया करते थे। परन्तु अवस्था पूर्ववत् ही बनी रही। आपने फाटके के सिवाय किसी प्रकार के अन्य व्यापार में मन नहीं लगाया। कुछ वर्षों तक इसी प्रकार निर्वाह करते रहे। बाद में कलकत्ते में जब रूई का फाटका जोरों पर चलने लगा तो उसमें आपके भाग्य की परीक्षा हुई। रुपये पास में न होने पर भी खोई-कमाई करने का साहस बहुत था। गर्म खून होने के कारण परिणाम की पर्वाह नहीं करते थे। रूई के व्यवसाय में सीधी पड़ने लगी तो कुछ ही दिनों में आपने चार-पांच लाख रुपये कमा लिये। बाद में हैसियन बोरों का काम भी करने लगे और पाट का काम भी किया। बीच-बीच में हानि लाभ दोनों ही होते रहे पर जो रुपये आपने बनाये थे, वे प्रायः बने रहे और आगे चल कर आपने इतनी सावधानी से व्यापार किया कि, कुछ ही वर्षों में आप बड़े धनिक समझे जाने लगे। सफलता से ही मनुष्य की पूछ हुआ करती है। फाटके के बाजार में आपकी धाक पड़ने लगी। यहाँ तक देखा गया कि, आप जिस वस्तु को पोते या माथे करते उसकी ओर सर्वसाधारण व्यापारियों का झुकाव हो जाता था और बाजार भी प्रायः उसी ओर चलने लगता था। सच तो यह है कि, आपने फाटके के बाजार में श्लाघनीय सफलता पाई। प्रायः देखा जाता है कि, फाटके में एक बार धन तो बहुत आदमी कमा लेते हैं परन्तु, जो आदमी फाटके में लगे ही रहते हैं उनका धन प्रायः चला भी जाता है। पर आपमें विशेषता यह रही कि, जब आपके पास काफी रुपये हो गये तो आपने फाटके का व्यवसाय करने में संयम धारण कर लिया। यद्यपि फाटके का सर्वथा परित्याग तो आपने नहीं किया तथापि उसे बहुत ही कम कर दिया। उसी का यह परिणाम है कि, फाटके का

फर्म होने पर भी आपकी स्थिति आज ठोस समझी जाने लगी है। इस लक्ष्य से हम आपकी समझदारी की प्रशंसा करते हैं। ज्वालाप्रसादजी पढ़-लिखे विशेष नहीं हैं परन्तु व्यापारिक विषय को समझने की शक्ति देखी जाती है। आपने धन कमाकर सब से बड़ा काम यह किया है कि, अपने जन्मस्थान फतहपुर में प्रायः १० लाख रुपये लगा कर एक ऐसा अस्पताल बनाया है जिसमें निःशुल्क चिकित्सा की जाती है। आपका यह दान आदर्श दान है। शेखावाटी में आपने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसके अतिरिक्त आपने 'भरतिया जातीय फण्ड' का भी निर्माण किया है।

आपके पिता श्री मुखरामजी मोर ने नवलगढ़ से आकर अफीम चौरस्ते पर व्यवसाय करना शुरू किया था। बहुत भले आदमी थ। उन्होंने अपने समय में अच्छी इज्जत आबरू बनाई। बाद में रामसहायमलजी ने काम करना शुरू किया तो उन्नति होने लगी। फाटके की दलाली का व्यवसाय होता रहा। इनमें मिलनसारी और परिश्रमशीलता बहुत रही। दलाली के काम में इन्होंने अपनी स्थिति मजबूत कर ली। सामाजिक कामों में भी भाग लेने लगे। यद्यपि ये पढ़े-लिखे विशेष नहीं हैं तथापि सामाजिक कामों में भी दिलचस्पी के साथ भाग लेने की भावना बहुत रखते हैं। समाज में नाम पाने की लालसा भी देखी जाती है। लालसा ही एक ऐसी चीज है कि, मनुष्य को किसी कार्य में अग्रसर करती है। इधर में इस भावना ने इनको इतना आगे बढ़ाया कि, देखते-देखते मारवाड़ी समाज में इनका नाम प्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओं में हो गया। इनमें उदारता भी बहुत देखी जाती है। इनमें यह विशेषता है कि, किसी काम के करने में इनको यदि कुछ खर्च भी करना पड़े तो वहाँ कार्य को सफल बनाने की भावना से खर्च भी करते हैं। इधर में व्यापार में भी इनकी बहुत उन्नति हुई है। इस समय इनके भतीजे मनसुखराय ही व्यापार का काम

रामसहायमल मोर—

प्रायः देखते हैं। आपने इधर थोड़े समय में ही हैसियन बोरों के काम में अच्छी दक्षता दिखाई है। रामसहायमलजी जहाँ सामाजिक कामों में अधिक भाग लेकर अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाते रहते हैं वहाँ मनसुखराय ने वाणिज्य व्यापार में अच्छी सफलता प्राप्त की है। इस समय फर्म का खासा नाम हो गया है। सामाजिक तथा व्यापारिक कोई भी काम क्यों न हो, जब जो भी कोई आता है, ये उसे करने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। यद्यपि इनकी यह भावना इनके सरल हृदय का परिचय देती है, फिर भी प्रायः देखा जाता है कि, ये इतना अधिक भार उठा लेते हैं कि, सभी कामों को पूरा कर सकने में इनको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इतना होने पर भी ये बड़े उत्साह से काम करते रहते हैं।

कन्हैयालाल लोहिया--

चूरू के लोहिया परिवार की ख्याति कलकत्ते में नाहरमलजी के समय से काफी रूप में देखी जाती है। भजनलालजी ने भी बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। हाल में इन्होंने भी अपनी बहुत ही साधारण अवस्था से उल्लेखनीय आर्थिक उन्नति की है। पहले-पहल इन्होंने अफीम चौरस्ते पर फाटके का व्यवसाय प्रारम्भ किया। शिवप्रसाद लडिये के साझे में काम कर आर्थिक उन्नति का श्री गणेश किया। बाद में हरदत्तरायजी चमड़िये के फर्म के सीर-साझे में लूज पाट का व्यवसाय करने लगे। पाट का फाटका भी बहुत किया। फाटके के व्यवसाय में इनकी गणना होशियारों में होने लगी। देखते-देखते स्थिति जम गई। इस समय फाटका तो नाम मात्र का किया जाता है। अधिक काम लूज जूट और जूट बेलिंग का होता है। इस समय इनके फर्म की काफी इज्जत है। पक्की गाँठ बाँधने का प्रेस भी निज में बना लिया है। पाट के व्यापार में ये दक्ष समझे जाते हैं।



श्रीयुक्त रामसहायमलजी मोर

इनकी जीवनी बहुत ही विचित्र और विशेष रूप से उतार चढ़ाव की रही है। इन्होंने बहुत छोटी अवस्था से केवल फाटकेबाजी का काम किया और बहुत हानि-लाभ देखा। परन्तु अच्छी से अच्छी और हीन से हीन अवस्था में भी कभी विचलित होते नहीं देखे गये। लाखों रुपये कर्ज होने पर भी हिम्मत नहीं हारी। फाटके के व्यवसाय में प्रायः देखा जाता है कि, जो व्यक्ति हिम्मत हार जाता है, उसकी उन्नति फिर नहीं होती और जो व्यक्ति असफल होकर भी हिम्मत से काम करता रहता है उसकी हालत फिर सुधर जाती है। यही अवस्था इनकी देखी गयी। पाँच सात वर्ष पूर्व जब कि, इनके पास कुछ भी नहीं था और प्रायः तीस लाख रुपये कर्ज थे, उस समय भी इन्होंने अपनी होशियारी से विलायत में चाँदी का काम किया। 'धन कमाने से नहीं आता, आपसे आप आता है।' यही बात देखी गयी। कहा जाता है कि, तार में भूल हो जाने के कारण विना धारे ही इनको लाखों रुपये प्राप्त हो गये। अब क्या था, इनकी अवस्था बदल गई। इनमें व्यापारिक बुद्धि तो बराबर से थी ही। इन्होंने 'भारत इनस्योरेन्स कम्पनी' के ११ लाख रुपयों के शेयर बात की बात में खरीद लिये और उस कम्पनी के कर्त्ताधर्त्ता बन गये। कम्पनी के करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति के कारबार को ये चलाने लगे। इस समय इन्होंने फाटका करना बन्द कर दिया है और देश के उद्योग-धन्धों की ओर ध्यान दिया है। ये अथक परिश्रमशील व्यक्ति हैं। इधर दो चार वर्षों में इन्होंने असंभव को संभव कर दिखाया। कई एक चीनी की मिलों का निर्माण किया। सीमेंट और कागज आदि की फैक्टरियाँ खोल कर व्यापार में आश्चर्य उत्पन्न कर दिया है। इन्होंने अपनी जाति के नाम पर बिहार में 'डाल-मियाँ नगर' बसाया है। भिवानी जिले में दादरी स्टेशन का नाम बदल कर 'डालमिया' कायम कर दिया है। इस समय उद्योग-धन्धों में इनकी ख्याति विस्तार पा रही है। एक प्रसिद्ध फाटकिये होकर भी इन्होंने

रामकृष्णदास डालमिया—

इस समय उद्योग-धन्धों की उन्नति में जैसा मन लगाया है वह अनुकरणीय ही नहीं, किन्तु मारवाड़ी समाज के लिये शिक्षाप्रद है।

इनमें उदारता भी बहुत है। समय-समय पर जी खोल कर दान देते हैं। राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेस के कार्यों में भी भाग लेते हैं। अग्रवाल महासभा ने इनको अपना सभापति बनाया। ये हर समय खद्दर का ही व्यवहार करते हैं। इनमें धार्मिक भावना भी अच्छी देखी जाती है। इनमें कुछ सन्देह नहीं है कि, इन्होंने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देख कर वर्तमान में जो भी कुछ कर दिखाया और कर रहे हैं, वह आश्चर्यजनक है।

यहां हमने उदाहरणस्वरूप कुछ विशेष व्यक्तियों का ही इसलिये उल्लेख किया है कि, समाज की व्यापारिक अवस्था का परिचय प्राप्त हो सके। हो सकता है कि, ऐसे ही अन्य कतिपय व्यक्तियों का हम उल्लेख न कर पाये हों, क्योंकि मारवाड़ी समाज का दायरा इतना विस्तृत है कि, सभी व्यक्तियों के सम्बन्ध में लिखा जाना संभव नहीं है।



श्रीयुक्त रामकृष्णजी डालमिया

७

सामाजिक प्रकरण

पूर्व के छः अध्यायों में हम ने मारवाड़ी जाति की प्राचीन संस्कृति, रहन-सहन, वाणिज्य-व्यापार और राजनैतिक कार्यों पर यथासाध्य प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। इस अध्याय में अब हम सामाजिक कार्यों पर विचार करेंगे। यह तो सम्भव नहीं है कि, ईस्वी सन् १५६४ से लेकर आज तक प्रायः पौने चार सौ वर्षों में होनेवाले सभी सामाजिक कार्यों का दिग्दर्शन कराया जा सके। पर तो भी इतिहास की घटनाओं के आधार पर सामाजिक विषयों का जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है तथा वृद्ध जनों से पूछतांछ कर हमने जो कुछ अनुभव प्राप्त किया है उसी के आधार पर संक्षेप में हम यहाँ लिखने का प्रयास करेंगे।

मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों का पहले-पहल सन् ५६४ में जब सैनिक रूप में आगमन हुआ तब वे सेना में भी काम करते रहे और बाद में अपनी स्वाभाविक व्यापारिक योग्यता के कारण स्वतन्त्र रूप से वाणिज्य-व्यापार भी करने लगे। उस समय आनेवालों में राजपूतों के अतिरिक्त अग्रवाल और ओसवाल भी थे। बंगाल में आकर उन्होंने अपना रहन-सहन ऐसा बनाया कि, वे मारवाड़ी नाम के एक सूत्र में आबद्ध हो गये। इस प्रकार राजस्थान का राष्ट्रीय रूप उन्होंने धारण किया तो उसका परिणाम यह हुआ कि, आगे चल कर बंगाल में राजस्थानियों का जातीय नाम 'मारवाड़ी' विख्यात हो गया और इस जाति की उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी। यहाँ यह बतलाना भी आवश्यक है कि, आध्यात्मिक विषयों में अपने-अपने विश्वास के अनुसार वे सभी व्यक्ति स्वतन्त्र रहे, परन्तु, लौकिक एवं व्यावहारिक कामों में उन्होंने विभिन्नता से काम नहीं लिया। साधारणतया सार्वजनिक क्षेत्र में परस्पर मिलजुल कर प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक एक ही शक्ति से सभी कामों को सम्पन्न किया।

ई० सन् १७०० के लगभग जब जगतसेठों का अभ्युदय हुआ, तो मारवाड़ी जाति का प्रभाव बंगाल में विशेष रूप से प्रकट होने लगा। वाणिज्य-व्यापार और राज-काज के क्षेत्र में जगतसेठों के नाम का डंका बजने लगा। बंगाल की राजधानी जो ढाके से उठ कर मुर्शिदाबाद में स्थापित हुई, उसके कारण सेठ मानिकचंद ही थे और नवाब मुर्शिदकुलीखां से लेकर नवाब मीरकासिम तक जितने भी नवाब मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठे, जगतसेठों की इच्छा से बैठ पाये। कतिपय ऐतिहासिकों का कथन है कि, अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही वाणिज्य-व्यापार और बैंकिंग व्यवसाय में जगतसेठों की देशव्यापी उन्नति हो चुकी थी। जिधर देखो उधर ही मारवाड़ी जाति के व्यक्ति कोठीघर और बैंकिंग व्यवसाय में सर्वोपरि बने हुए थे। नवाब अलीवर्दीखां के जमाने में बंगाल की राज-सत्ता सब प्रकार से जगतसेठों के हाथों में आ गयी थी। इस प्रकार

जगतसेठों का दबदबा बढ़ जाने से ओसवाल समाज का नाम सर्वापेक्षा बहुत अधिक हो गया था। परन्तु मारवाड़ी जाति के सार्वजनिक रूप में कोई परिवर्तन हुआ हो, ऐसा पता नहीं चलता। जातीयता की दृष्टि से सामाजिक दृष्टिकोण एक ही रहा। यही कारण था कि, इस जाति की उत्तरोत्तर उन्नति होती गयी।

पलासी काण्ड के बाद स्थिति बदलने लगी। सन् १७६३ में जब नवाब मीरकासिम ने विचारशून्य बन, आवेश में आकर जगतसेठों की हत्याएँ कर डालीं तो परिस्थिति एक दम बदल गयी। परिणाम यह हुआ कि, जगतसेठों के न रहने से बंगाल की तत्कालीन डांवाडोल राजनैतिक परिस्थिति को सँभालनेवाला कोई नहीं रहा और बंगाल की राजसत्ता 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' के हाथ में चली गयी। इस प्रकार जब राजनैतिक क्षेत्र में भारी परिवर्तन हुआ तो अवस्था विशेष का अनुभव कर मारवाड़ियों ने भी अपना दृष्टिकोण बदल दिया। वे राजकाज और राजनीति से हटने लगे और केवल वाणिज्य-व्यापार को ही उन्होंने अपना लक्ष्य बना लिया। इस सम्बन्ध में हमने पूर्व अध्याय में काफी प्रकाश डालने की चेष्टा की है। यहां पर इतना ही लिखना उचित होगा कि, इस प्रकार जब परिवर्तन होने लगा तो उस समय 'चूरूवाले' मारवाड़ियों ने वाणिज्य-व्यापार में सर्वापेक्षा बहुत अधिक भाग लिया जिसका परिणाम यह हुआ कि, व्यापारिक क्षेत्र में मारवाड़ी जाति का नाम देशव्यापी हो चला।

सामाजिक संस्था का निर्माण—

यह एक स्वाभाविक-सी बात है कि, मनुष्यों की जब उन्नति होती है तो आवश्यकताएँ भी बढ़ने लगती हैं तथा उनकी जिम्मेदारियाँ भी विस्तार पाने लगती हैं। मारवाड़ी जाति की इस प्रकार एक ओर तो व्यापार में उन्नति हुई और दूसरी ओर जब संख्या बढ़ने लगी तो व्यापारिक तथा सामाजिक अभाव अभियोगों पर विचार करने के लिये उन्होंने एक

जातीय पंचायत का निर्माण किया। यह तो पता नहीं लगा कि, ठीक किस समय इस संस्था का निर्माण हुआ था। परन्तु हमने पहले बतलाया है कि, सन् १८२८ अर्थात् वि० संवत् १८८५ के पहले ही इस संस्था की स्थापना हो चुकी थी। उस समय श्री 'सोजीरामजी हरदयाल' की सरपंची में पंचायत का संचालन होता था। राजस्थान की प्राचीन पंचायत प्रथा के अनुसार अवश्य ही इस संस्था के भी उस समय पांच पंच रहे होंगे परन्तु 'सोजीरामजी हरदयाल' के अतिरिक्त अन्य चार पंच कौन थे, उनके नामों का हमें पता नहीं लगा। यह पता अवश्य लगता है कि, सोजीराम हरदयाल फर्म का नाम बदल कर जब 'अणतराम शिवप्रसाद' हो गया तो भी सरपंची का अधिकार इनके ही हाथ में रहा। वि० संवत् १६१७ में जब 'अणतराम शिवप्रसाद' नामक फर्म भी बन्द हो गया तो समाज ने पंचायत का फिर से संगठन किया। यहाँ पर एक बात का विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है कि, प्राचीन समय में पंचायत के पाँच पंचों की नियुक्ति होती थी, उसका बहुत बड़ा महत्व था। साधारणतया लोगों का यह विश्वास था कि, 'पांच पंचों में परमेश्वर काम करता है।' यही कारण था कि, पंचों द्वारा जो भी निर्णय होता, उसे वे मानते थे और उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य करते थे। पंचों का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाता था। आजकल की तरह यह बात न थी कि, केवल धन के प्रभाव से चलते-पुर्जे, प्रभावशाली व्यक्तियों का ही चुनाव पंचों में किया जाता हो। इसके अतिरिक्त यह बात भी नहीं थी कि, किसी गुटबन्दी के सहारे कोई प्रभावशाली व्यक्ति अबूझ पंच बन कर समाज के व्यक्तियों पर मनमानी सत्ता चलाने की चेष्टा कर सकता हो। उस समय बड़ी छानबीन के साथ ऐसे व्यक्ति पंच बनाये जाते थे, जो पूर्ण विचारशील होते थे और जिनमें पक्षपातरहित जातीयता के भाव तथा व्यावहारिकता विद्यमान रहती थी। यही कारण था कि, पांच पंचों में लोग परमेश्वर का अनुभव करते थे। वि० संवत् १६१८ में पंचायत का

बड़ी पंचायत के पंचों में से एक



स्वर्गीय हजारीमलजी लोहिया
(फर्म—उग्रमल हजारीमल)

पुनर्संगठन हुआ तो सेठ ताराचन्द घनश्यामदास को सरपंची दी गयी। इसका कारण यह था कि, उस समय इस फर्म के सेठ गुरुसहायमलजी पोद्दार की सत्यवादिता, चरित्रसम्पन्नता और निष्पक्ष जातीयता विख्यात हो रही थी। इसी कारण से इनके फर्म को ही सरपंच मनोनीत किया गया। इनकी सरपंची में अन्य चार पंचों का जो चुनाव हुआ था, वह इस प्रकार था—(१) सेवाराम रामरिख, (२) हरनन्दराय फूलचन्द, (३) उग्रमल हजारीमल और (४) सेवाराम कालूराम। इस चुनाव से मालूम होता है कि, उस समय इन फर्मों के सम्बन्ध में भी लोगों की धारणा बहुत पवित्र थी यही कारण था कि, पांच पंचों में उनकी नियुक्ति हुई थी।

पंचायत की सत्ता और उसकी कार्यप्रणाली—

यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, पंचायत का संगठन उस समय आजकल की सभा सोसाइटियों की तरह बहुत से निश्चित नियमों में जकड़ा हुआ नहीं होता था। उसका अस्तित्व जातीयता के भावों और व्यवहारिकता पर ही निर्भर माना जाता था। यद्यपि किसी भी आवश्यक विषय पर समाज के सर्वसाधारण भाइयों की सम्मति ली जानी आवश्यक थी तथापि अन्तिम निर्णय करना पंचों के अधिकार में था। समाज द्वारा पंचों को विशेषाधिकार प्राप्त था कि, किसी भी विपय का विचार करते समय यदि वे इस बात का अनुभव करें कि, प्रकट होनेवाले बहुमत में किसी प्रकार का आवेश काम कर रहा है तथा कुछ व्यक्ति गुटबन्दी के सहारे अपने प्रभाव को काम में ला रहे हैं तो वे उस निर्णय को स्थगित कर देते थे और उस विषय का अनुसन्धान और भी अधिक रूप से करने की व्यवस्था करते थे। पंचायत-व्यवस्था और पाँच पंचों की यही विशेषता थी। वास्तव में उस समय न तो कोई आवेशयुक्त निर्णय ही हो पाता था और न कोई धनशाली तथा प्रभावशाली व्यक्ति किसी प्रकार की गुटबन्दी के सहारे मनमानी ही कर सकता था।

पंचायत के समक्ष यदि कोई ऐसा विषय उपस्थित होता कि, जिससे समाज की परम्परागत संस्कृति में आघात पहुंचता, सार्वजनिक धर्मभावना में कमी आ सकती, जाति की पवित्रता नष्ट होती तथा सामाजिक सत्ता के ह्रास की संभावना होती तो वैसे कार्य के करनेवाले व्यक्ति को आवश्यकतानुसार कड़े-से-कड़ा दंड दिया जाता था। परन्तु दण्ड देने के पूर्व गंभीरता के साथ पूरा अनुसन्धान और विचार कर लिया जाता था। अनुसन्धान करने पर यदि कोई व्यक्ति दोषी दिखाई पड़ता तो भी उसे एक बार काफी मौका दिया जाता कि, वह अपनी भूल को समझने तथा भविष्य में ऐसा न करने का विश्वास पंचायत को दिला दे और समाज में बना रह सके। इस पर भी यदि वह रास्ते पर न आता और जिद के कारण अपनी भूल स्वीकार न करता, तो खेद के साथ उसे दण्ड देने की व्यवस्था की जाती थी। दण्ड सुनाने के पहले सब प्रकार से देख लिया जाता था कि, दण्ड के विरुद्ध सिर उठाने की भावना तो समाज में नहीं है। इस प्रकार जब भले प्रकार समझ लिया जाता था तब दण्ड सुनाया जाता था। दण्ड के दिये जाने में समाज की एक ही भावना रहती थी कि, समाज में दुराचार न फैलने पावे और दण्ड के आतंक से अन्य भाई सावधान रहें। दण्ड के दिये जाने के बाद यदि दण्ड पाया हुआ व्यक्ति रास्ते पर आ जाता और समाज को यह विश्वास दिला देता कि, वास्तव में वह उसकी भूल थी और पश्चात्ताप के साथ अब वह अपनी भूल का मार्जन करना चाहता है तो समाज उस पर आवश्यक पुनर्विचार करता था। उस विचार का ध्येय यही होता था कि, समाज की शक्ति का ह्रास न हो। यही कारण था कि, न तो समाज की शक्ति का ह्रास हो पाता था और न किसी प्रकार का समाज में विघटन ही हो सकता था।

हमने पहले बतलाया है कि, पंचायत का संगठन किसी प्रकार के निश्चित नियमों से जकड़ा हुआ नहीं था। परन्तु जातीयता के भावों के आधार पर तथा व्यावहारिकता की दृष्टि से जो निर्णय किया जाता

था, उसे मानना और पूरा करना समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना अटल कर्त्तव्य समझता था। पंचायत की सत्ता का इतना प्रभाव था कि, उसकी व्यवस्था के विरुद्ध कोई सिर नहीं उठा सकता था। इतना होने पर भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त था कि, वह अपने स्वतन्त्र विचारों को पंचायत के सामने रख सके।

यह बात न थी कि, नये विचारों को प्रकट करनेवाले व्यक्ति का समाज तिरस्कार करता हो। समाज-नीति को जाननेवाले अनुभवी व्यक्ति यह जानते थे कि, समाज की प्रचलित व्यवस्था के अनुसार ही यदि काम होगा और नया विषय विचारणीय न समझा जायगा तो जाति की प्रगति ही रुक जायगी और वैसी अवस्था में समाज या पंचायत की आवश्यकता ही न रहेगी। यही कारण था कि, नये विचारों का वे आदर करते थे और उसका विचार गंभीरता के साथ बड़ी छानबीन, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से किया जाता था। जब कभी उन्हें यह प्रतीत होता कि, प्रचलित रूढ़ि निस्सार हो गयी है और वर्तमान समय में उसके सुधार की आवश्यकता है तो वे न तो किसी प्रकार की जिद करते थे और न किसी प्रकार की गुटबन्दी का ही सहारा लेते थे। बड़े से बड़ा परिवर्तन आवश्यक होने पर वे एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर कर देते थे। अवश्य ही ऐसा करते समय वे अपनी संस्कृति की रक्षा का पूरा ध्यान रख कर नयी व्यवस्था करते थे। यह बात नहीं थी कि, प्रचलित रूढ़ि के विरुद्ध किसी नई बात के उपस्थित होने पर आजकल की तरह बिना सोचे समझे धर्म के नाम पर होहल्ला मचाया जाता हो और उस विषय का विचार ही न कर प्रस्ताव करनेवाले भाई को ही उलटे लांछित किया जाता हो। साधारणतया लोगों का यह विश्वास था कि, जिस विषय को समाज मान लेता है, वही धर्म है और जिस विषय को समाज स्वीकार नहीं करता वही अधर्म है। वे समाज-संचालन के लिये लौकिक धर्म की साधारणतया यही व्याख्या करते थे। स्मृतियों की

विभिन्न व्यवस्थाएँ भी हमें यही बतलाती हैं कि, अमुक अमुक समय में समाज ने आवश्यकता का अनुभव कर अमुक अमुक परिवर्तन किया था। इससे सिद्ध हो जाता है कि, समाजधर्म कोई अपरिवर्तनीय नहीं है। समय की आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन होता रहता है और समाज जिसे कर्त्तव्य-कर्म मान लेता है, वही धर्म बन जाता है। यही भाव उस समय सामाजिक संस्थाओं का था। जब तक समाज में यह भाव काम करता रहा, तब तक सामाजिक संगठन बना रहा और उसकी दिन प्रति दिन उन्नति होती रही। मारवाड़ी समाज के सार्वजनिक संगठन का संक्षेप में यही मर्म था और इसी से उसमें धड़ावन्दी और विघटन नहीं हो पाया।

पंचायत में परिवर्तन—

वि० सं० १९०५ में जब हिन्दुस्थान में पहले-पहल रेल बननी शुरू हुई तो दूर-दूर का आवागमन सुगम होने लगा। परिणाम यह हुआ कि, मारवाड़ी जाति की जन-संख्या बंगाल में तेजी के साथ विस्तार पाने लगी। मारवाड़ी समाज की सभी उपजातियों की जनसंख्या बढ़ गयी तो कई उपजातियों में राजस्थान की प्राचीन प्रथा के अनुसार खास तौर पर अपनी-अपनी विरादरी की स्वतन्त्र पंचायतों का निर्माण होना शुरू हो गया। वे अपने साधारण अभाव अभियोगों तथा रस्म-रिवाजों का विचार अपनी-अपनी खास जातीय पंचायतों में करने लगे। मालूम होता है कि, उस समय बड़ी पंचायत का कार्य कुछ हलका हो गया था और उसमें प्रधानता केवल अग्र-वालों की ही रह गयी थी। इसका प्रमाण वि० संवत् १९१८ में होनेवाले पंचायत के पुनर्संगठन से मिलता है और वह यह है कि, वि० संवत् १९१८ में सेठ ताराचन्द घनश्यामदास की सरपंची में पंचायत का पुनर्संगठन किया गया तो अन्य चार पंच भी अग्रवाल ही मनोनीत किये गये। यह चुनाव इस बात को बतलाता है कि, उस समय बड़ी पंचायत में अग्रवालों की ही प्रधानता रह गयी थी और अन्य उपजातियों के व्यक्ति अपने-अपने समाज

का विचार अपनी-अपनी पंचायतों में करने लगे थे। परन्तु इतना होने पर भी आगे की घटनाओं से मालूम होता है कि, मारवाड़ी समाज के सार्वजनिक विषय पर जब कभी आवश्यकता होती तो उसका विचार बड़ी पंचायत में ही किया जाता था। इस प्रकार का सार्वजनिक विचार करते समय अवश्य ही अन्य समाजों के खास व्यक्ति बुलाये जाते थे और उनके सहयोग तथा सम्मति से निर्णय किया जाता था। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि बड़ी पंचायत यद्यपि अग्रवाल जाति से ही सम्बन्ध रखने लगी थी तथापि उसके निर्णय का नैतिक असर अन्य सभी उपजातियों पर पड़ता था। यह बात कुछ समय पूर्व तक देखी जाती थी कि, साधारण सामाजिक विषयों के अतिरिक्त राजनैतिक तथा वाणिज्य-व्यापारादि अन्य सभी सार्वजनिक विषयों का विचार बड़ी पंचायत ही करती थी और उसका निर्णय प्रायः सभी समाजों के व्यक्ति मानते थे। सारांश यह है कि, भिन्न-भिन्न जातियों की सामाजिक पंचायतें होने पर भी सार्वजनिक कार्यों का विचार करने की क्षमता केवल बड़ी पंचायत को ही प्राप्त थी।

जातीय संगठन बनाये रखने की भावना--

पंचायत के सामने समय-समय पर ऐसे प्रश्न भी उपस्थित हुए थे, जो कि बड़े मतभेद के थे और जिनसे समाज में दलबन्दी होकर समाज का विघटन हो सकता था। परन्तु, उस समय के संचालकों में यह विशेषता थी कि, ऐसे कठिन विषयों का विचार वे इस प्रकार करते थे कि, जिससे समाज का सार्वजनिक संगठन टूटने न पाता था। उदाहरण के लिये वि० संवत् १९४४ में पंचायत के सामने उपस्थित होने-वाला नारनौल निवासी डाक्टर अयोध्याप्रसाद चौधरी का मामला पेश किया जा सकता है। यह मामला ऐसा था कि, समाज में खासे दो दल हो गये थे। एक अयोध्याप्रसाद के पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। दोनों पक्षों में ही बड़े-बड़े चलते-पुर्जे प्रभावशाली व्यक्ति थे। रंगढंग से मालूम

होने लगा था कि, पंचायत यदि एक पक्ष में निर्णय कर देगी तो समाज में विघटन हुए बिना न रहेगा। मामला यह था कि, डा० अयोध्याप्रसाद ने अपना विवाह किसी देशवाली अग्रवाल की लड़की से किया था। आज तो देशवाली और मारवाड़ी अग्रवालों में विवाह सम्बन्ध किया जाना आपत्तिजनक नहीं रहा, पर उस समय इस प्रकार का सम्बन्ध साधारणतया सुगम और प्रचलित नहीं था। कुछ व्यक्ति ऐसे सम्बन्ध के पक्ष में थे और कुछ विपक्ष में। यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि, इस प्रकार का मतभेद जब उपस्थित हो जाता है तो, अपने-अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये दोनों ओर के व्यक्ति उचित तथा अनुचित बातें भी पेश करने लगते हैं। उस समय इसी प्रकार की अनेक बातें दोनों ओर से पंचायत के सामने आईं थीं। इस अवस्था में उसका निर्णय किसी एक पक्ष में किया जाना बड़ा कठिन प्रतीत होने लगा था। परन्तु, उस समय पंचायत के कर्णधारों में स्वनामधन्य सेठ सूर्यमलजी झूंझनूंवाला, जुगलकिशोरजी रूइया, रामजीदासजी जटिया, हरदयालजी सूरेका, रामचंद्रजी गोयनका और नाहरमलजी लोहिया आदि प्रमुख जातिहितैषी पुरुष थे, जिनके हृदय में सच्ची जातीयता काम करती थी। परिस्थिति को अति कठिन देख कर उन्होंने पञ्चायत का निर्णय किसी एक पक्ष के अनुकूल नहीं होने दिया और पञ्चायत द्वारा यह घोषणा की गयी कि, यह विषय मारवाड़ी अग्रवालों और देशवाली अग्रवालों के पारस्परिक संबन्धादि करने का है और दोनों पक्ष बड़े जोरदार हैं। इस अवस्था में पञ्चायत किसी भी पक्ष को महत्व देना उचित नहीं समझती और इस विषय को पञ्चायत व्यक्तियों की इच्छा पर छोड़ती है। जो व्यक्ति देशवाली अग्रवालों के साथ सम्बन्धादि करना उचित समझें, वे डाक्टर अयोध्याप्रसाद के साथ खानपान कर सकते हैं और जो व्यक्ति ऐसा करने के विरुद्ध हों, उन्हें अधिकार है कि, वे उनके साथ खानपान करें या न करें। इस घोषणा का प्रभाव इतना पड़ा कि, समाज में किसी प्रकार का विघटन नहीं हो पाया।

इसी प्रकार और भी कई एक प्रश्न समाज के सामने आये और पञ्चायत ने ऐसा ही निर्णय दिया, जिससे उसकी सर्वमान्यता बनी रही। असल बात यह थी कि, उस समय के समाज-संचालक निष्पक्ष थे और जातीयता की दृष्टि से समाज का संचालन किया करते थे। उनका प्रधान लक्ष्य यह रहता था कि, समाज का संगठन बना रहे और वह टूटने न पावे।

देश में एक नयी लहर का प्रादुर्भाव और मारवाड़ी नवयुवकों में जागृति—

हमने पहले बतलाया है कि, ई० सन् १९०० के समाप्त होते ही जब महारानी विक्टोरिया का शरीरान्त हो गया तो भारतवर्ष के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की नीति बदलने लगी। हमने यह भी बतलाया है कि, भारतवर्ष के तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन के कुछ कारनामों ने देश में राजनैतिक जागृति और असन्तोष उत्पन्न कर दिया था। सच तो यह है कि, उस समय देश में एक ऐसी लहर उठी थी कि, जिससे न केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही अपितु व्यापारिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी सभी क्षेत्रों में हलचल एवं क्रान्ति की भावना जाग पड़ी। मारवाड़ी समाज भी तो देश का एक अंग है और व्यापारिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अपना प्रमुख स्थान रखता है। ऐसी अवस्था में यह कैसे सम्भव होता कि, इस नयी लहर से वह अपने को अछूता रख सकता? यद्यपि यह एक इतिहास प्रसिद्ध बात है कि, ई० सन् १७६३ में जगतसेठों की हत्याएँ होने के बाद मारवाड़ियों ने राजनीति में भाग लेना छोड़ दिया था और प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक शान्ति के साथ केवल वाणिज्य-व्यापार करते रहे थे, परन्तु, देश में उत्पन्न होनेवाली इस नयी लहर ने मारवाड़ी समाज के नवयुवकों का दृष्टिकोण बदल दिया। वे वाणिज्य-व्यापार के अतिरिक्त राजनैतिक क्षेत्र में भी भाग लेने में तत्पर हो गये। यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि, किसी भी देश या समाज में जब कभी कोई नयी जागृति होती

है, तो उसका प्रारम्भ नवयुवकों द्वारा ही होता है और जहाँ नवयुवक सचेत होकर उठ खड़े होते हैं, वहाँ उनकी जागृति और उनके नये-नये विचारों को दबाना बड़ी से बड़ी राजशक्ति और सुदृढ़ समाजसत्ता के लिए भी कठिन हो जाता है। यही अवस्था उस समय मारवाड़ी समाज में दीख पड़ने लगी थी। यह सर्वथा सत्य है कि, उस समय समाज के वयोवृद्ध व्यक्ति इस नयी लहर की हलचल में न पड़ कर अपने पुराने ढंग से ही रहना पसन्द करते थे। पर यह भी निश्चित है कि, समय का प्रवाह किसी के रोके नहीं रुकता और बलात् यदि कोई उसे रोकने की चेष्टा करता है, तो वह स्वयं उसमें बह जाता है। जो व्यक्ति बुद्धिमान्, दूरदर्शी और अनुभवी होते हैं वे प्रवाह का पहले से अनुभव कर लेते हैं और सावधानी के साथ ऐसी व्यवस्था करते हैं, जिससे वह प्रवाह हानि पहुँचाने के बजाय लाभप्रद सिद्ध होता है। शायद यही कारण था कि, समाज के नवयुवकों ने नयी लहर का अनुभव किया और उनमें सुधार की भावना जाग पड़ी। राजनैतिक विषयों में प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से मारवाड़ी जाति उदासीन बनी हुई थी, उसमें अब मारवाड़ी जाति के नवयुवक दिलचस्पी लेने लगे। इसके अतिरिक्त व्यापारिक, सामाजिक और शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने विशेष उत्साह दिखाना शुरू कर दिया। इस जागृति और उत्साह का परिणाम यह हुआ कि, समाज में अनेक ऐसे कार्य हुए, जिनकी बहुत अधिक आवश्यकता थी। शिक्षा के सम्बन्ध में मारवाड़ी जाति का नाम बहुत पिछड़ा हुआ था। उसकी ओर सर्वप्रथम उनका ध्यान आकर्षित हुआ। फलस्वरूप 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी विद्यालय' नामक हाई स्कूल की सर्व प्रथम स्थापना कर नवीन शिक्षा का श्रीगणेश किया गया। सार्वजनिक सेवाओं के लिये संस्थाएँ खोली जाने लगीं। निस्सहाय विधवाओं की सहायता के लिए 'मारवाड़ी विधवा सहायक फण्ड' का निर्माण हुआ। दातव्य औषधालय और चिकित्सालयों की व्यवस्था की जाने लगी। पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित होने शुरू हो गये।

स्वयंसेवकों का संगठन करने की ओर भी समाज का ध्यान आकर्षित हुआ। व्यापारिक उन्नति और नियमबद्ध कार्य-संचालन करने के लिए 'मारवाड़ी चैम्बर आफ कामर्स' का निर्माण किया गया। सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर विचार करने के लिए नये ढंग की सभा सोसाइटियों की रचनायें होने लगीं, जिनमें 'मारवाड़ी एसोसियेशन' और 'वैश्य सभा' ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया। प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'बुद्धिवर्द्धिनी सभा' आदि डिबेटिंग क्लबों में विचार-विमर्श और भाषण होने लगे। समाचार-पत्रों की ओर भी समाज का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। सामाजिक कुरीतियों को बन्द करने तथा सुरीतियों को चलाने के लिये उद्योग होने लगा। संक्षेप में कहने का सार यह है कि, देश की इस नयी लहर के कारण मारवाड़ी समाज में काफी जागरण हो चला। वास्तव में वह समय मारवाड़ी समाज के लिये बड़े भारी परिवर्तन और उन्नति का सिद्ध हुआ। समाज की आर्थिक अवस्था विशेष रूप से वृद्धि पा रही थी। व्यक्तियों का उत्साह बढ़ रहा था। नवयुवकों के अतिरिक्त समाज के विचारशील वयोवृद्धों ने भी काफी उत्साह दिखाया। उन सज्जनों में सर हरीरामजी गोयनका, रायबहादुर शिवप्रसादजी झूंझनूंवाला, सेठ दुलीचंदजी ककरानिया, राजा शिवबक्सजी बागला, रूड़मलजी गोयनका, जयनारायणजी पोद्दार, नानगरामजी सुरेका, ताराचंदजी जालान, रामकृष्णदासजी भावसिंहका, हरमुखरायजी दौलतराम चोखानी, जुहारमलजी खेमका, गुलाबरायजी पोद्दार, भोलारामजी चूड़ीवाला, भीमराजजी जालान, हजारीमलजी लोहिया, चिम्मनलालजी गनेड़ीवाला, तोलारामजी गोयनका, तेजपालजी सांगानेरिया, माधोप्रसादजी, फूलचंद और ज्ञानीराम हलवासिया, शिवप्रसादजी सराफ, ऋद्धकरणजी सुराणा, और सेढ़मलजी गोयनका आदि प्रमुख थे। शिक्षित और उत्साही नवयुवकों में सर्व श्री रंगलाल पोद्दार, मोतीलाल चाँदगोठिया, शिवनाथ-राय सेखसरिया, प्रह्लादराय डालमिया, धन्नूलाल अग्रवाला, रामकुमार

गोयनका, लक्ष्मीनारायण कानोड़िया, गुलाबराय सिंहानिया, वैजनाथ बजावेवाला, वालमुकुन्द गुप्त, देवीवक्स सराफ, लक्ष्मीनारायण मुरोदिया, किशनदयाल जालान, सदाराम खेड़िया, फूलचन्द चौधरी, नागरमल मोदी, राधाकृष्ण टीवड़ेवाला, रामगोपाल खेमका, रामकुमार जालान, ज्वालाप्रसाद भागचंदका, नागरमल राजगढ़िया, म्हालचंद वैद्य, और श्रीधर केड़िया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ब्राह्मण समाज चुप रहा हो यह बात भी न थी। पाटन निवासी पं० देवीसहायजी और वैद्यवर पं० हरिनारायणजी आदि कतिपय महानुभाव समाज के सार्वजनिक कामों में पहले से ही भाग लेते आ रहे थे। पर उस समय रामगढ़ के श्री० वालमुकुन्दजी पुजारी ने बहुत अधिक सुधारप्रियता प्रकट की। व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा, एवं पं० माधव-प्रसाद मिश्र ने तो अपने व्याख्यानों तथा समाचार-पत्रों द्वारा ऐसा काम किया कि, समाज में जान आ गयी। ब्राह्मण समाज के अन्य व्यक्तियों में पं० वल्लभजी जोशी, वैद्यवर पं० रामदयालुजी शर्मा, प्रेमसुखदासजी जोशी, लक्ष्मणगढ़ के पं० वालमुकुन्दजी शर्मा, चिड़ावे के पं० विश्वेश्वरलालजी, पं० कन्हैयालालजी, गोपालाचार्य, पं० भूरामल मिश्र, पं० शम्भुरामजी पुजारी, सीकर के पं० रामचन्द्र जोशी, फतहपुर के पं० मोतीलाल विंयाला, अफीम चौरस्ते के पं० शिवनन्दनजी तिवारी, पं० कालीचरणजी शर्मा, पं० जय-नारायणजी मिश्र, वैद्यराज पं० चिरंजीलालजी भिवानीवाले, सिद्धहस्त वैद्य पं० जगन्नाथजी गुँसाई, पं० भजनलालजी, द्वारकादास जोशी, हरिवक्सजी गोसांई और पं० केदारनाथजी, वावलिया आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं क्योंकि इन सज्जनों ने समय-समय पर अपने-अपने ढंग से सार्वजनिक कामों में बहुत अधिक भाग लिया था।

हम यहाँ पर उन महानुभावों के शुभ नामों को भी नहीं भुला सकते जिन्होंने मारवाड़ी न होते हुए भी मारवाड़ी समाज में उत्साह पैदा करने में श्लाघनीय काम किया था। उन सज्जनों में सर्वप्रथम पं० दुर्गाप्रसादजी



सुप्रसिद्ध पत्रकार

स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्दजी गुप्त

मिश्र, सदानन्दजी मिश्र, पं० मदनमोहनजी मालवीय, छोटेलालजी मिश्र, महाराष्ट्रवीर पं० सखाराम गणेश देउस्कर, सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा, पं० बाबूराव विष्णु पराडकर, पं० अम्बिकाप्रसादजी बाजपेयी और पं० लक्ष्मणनारायणजी गर्दे आदि कतिपय महानुभाव हैं जिनकी प्रेरणा, कर्त्तव्य की शिक्षा और उपदेश ने मारवाड़ी समाज को कर्त्तव्य-परायण और सचेत बना दिया था और यही कारण था कि, उस समय मारवाड़ी जाति की गणना श्लाघनीय रूप में देशव्यापी होने लगी।

समाचार-पत्र और मारवाड़ी जाति—

कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले हिन्दी के समाचार-पत्रों का भी एक इतिहास है। अनुसन्धान करने पर पता लगता है कि, ई० सन् १८२६ में कलकत्ते से पहले पहल 'उदन्त मार्त्तण्ड' नामक समाचार-पत्र हिन्दी में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद समय-समय पर कई एक पत्र प्रकाशित हुए, जिनमें 'भारतमित्र' 'हिन्दी बंगवासी' 'सार-सुधानिधि' 'बंगदूत' 'उचित वक्ता' 'मारवाड़ी व्यापारी' 'बड़ाबाजार गजट' 'मारवाड़ी' 'वीर भारत' 'हितवार्ता' 'कलकत्ता समाचार' 'मारवाड़ी बन्धु' 'सनातनधर्म' 'सत्य सनातन धर्म' 'सुधारक' 'वैश्योपकारक' 'नृसिंह' 'स्वतन्त्र' 'विश्वमित्र' 'लोकमान्य' तथा 'मारवाड़ी ब्राह्मण' आदि के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। 'भारतमित्र' का सम्पादन पहले-पहल यद्यपि पं० छोटेलालजी मिश्र और संचालन पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र द्वारा होता था तथापि आर्थिक सहायता मारवाड़ियों द्वारा ही प्राप्त होती थी। शिवबक्सजी गोयनका और मोहन-लालजी सराफ 'भारतमित्र' का खर्च चलाते थे। बाद में श्रीयुक्त जगन्नाथ-दास दुरानी (अग्रवाल) ने 'भारतमित्र' का भार अपने ऊपर ले लिया और बिना किसी प्रकार के व्यक्तिगत नाम और स्वार्थ के हजारों रुपये प्रति वर्ष व्यय कर उसे वर्षों तक चलाते रहे। पं० रुद्रदत्त शर्मा, बालमुकुन्द गुप्त, अमृतलाल चक्रवर्ती, पं० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, पं० बाबूराव विष्णु पराडकर और पण्डित लक्ष्मणनारायण गर्दे के सम्पादकत्व में 'भारतमित्र'

ने मारवाड़ी समाज में बड़ी भारी जागृति उत्पन्न की। सच तो यह है कि 'भारतमित्र' अपनी प्रारम्भिक अवस्था से लेकर शेष तक मारवाड़ियों का पत्र रहा और उसने न केवल मारवाड़ी समाज की ही उन्नति में भाग लिया अपितु उसने देश के सार्वजनिक हित-साधन में भी भाग लिया। खेद है कि, मारवाड़ी समाज में जब पारस्परिक विघटन पैदा हुआ तो यह पत्र कुछ साम्प्रदायिक व्यक्तियों के हाथों में आ गया और उन्होंने इसका अन्त कर दिया। 'सारसुधानिधि' पत्र का जन्म पं० देवीसहायजी द्वारा हुआ था। 'उचित वक्ता' का सम्पादन और संचालन यद्यपि पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र करते थे परन्तु उस पत्र के खर्च का भार श्री० पूर्णचन्दजी नाहर के पिता रायबहादुर शितावचन्दजी नाहर ने ले रखा था।

'मारवाड़ी व्यापारी' 'बड़ाबाजार गजट' और 'मारवाड़ी' इन तीनों पत्रों के जन्मदाता और सम्पादक श्री० राधाकृष्णजी टीबड़ेवाले थे। जिन्होंने 'मारवाड़ी व्यापारी' का प्रकाशन ई० सन् १८६० के लगभग उस समय किया था, जब समाचार-पत्रों के महत्व को बहुत कम आदमी जानते थे। इसके अतिरिक्त उनकी आर्थिक स्थिति भी सम्पन्न नहीं थी। समाचार-पत्रों के इतिहास में राधाकृष्णजी का नाम अमर रहेगा, जिन्होंने अपना सर्वस्व लगा कर बड़ेबाजार में वर्षों तक तीन पत्र चलाये। 'वैश्योपकारक' 'नृसिंह' 'स्वतन्त्र' 'मारवाड़ी बन्धु' 'सुदर्शन' 'कलकत्ता समाचार' 'सनातनधर्म' 'सुधारक' 'सत्य सनातन धर्म' आदि अनेक पत्र बाद में प्रकाशित हुए जो कि, किसी न किसी रूप में मारवाड़ियों की सहायता और उनके उद्योग से प्रकट हुए थे। आज भी कलकत्ते से 'विश्वमित्र' और 'लोकमान्य' आदि दैनिक पत्र और इनके अतिरिक्त दर्जनों साप्ताहिक और मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं जिनमें मारवाड़ी समाज की सहायता पर्याप्त रूप में देखी जाती है। वास्तव में नयी जागृति के समय से ही मारवाड़ी समाज ने समाचार-पत्रों के संचालन में श्लाघनीय भाग लिया है।

साहित्यसेवी, सुलेखक और पत्रकार



स्वर्गीय शिवचन्द्रजी भरतिया

अब हमें इस सम्बन्ध में विशेष रूप से यह लिखना है कि, यद्यपि साधारणतया पत्रों का प्रकाशन हो रहा है तथापि मारवाड़ी समाज का दायरा जितना विस्तृत हो चला है और उसकी जिम्मेदारियाँ तथा स्वत्व दिन पर दिन बढ़ रहे हैं एवं वह जिस प्रकार बंगाल में मूल-निवासी होने का रूप धारण कर रहा है, उसे देखते हुए विशेष रूप से आवश्यकता यह हो चली है कि, मारवाड़ी समाज को ऐसा प्रयत्न बहुत शीघ्र करना चाहिये कि, उसकी ओर से कम से कम हिन्दी और अंग्रेजी में एक एक दैनिक पत्र अप-टू-डेट ढंग से प्रकाशित किये जाँय जो कि, उनकी आवश्यकताओं और अभाव अभियोगों पर समुचित प्रकाश डाल सकें तथा उसके अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हों। समय बतला रहा है कि, जब तक यह कार्य सम्पन्न न किया जायगा मारवाड़ी समाज के हितों की रक्षा न हो सकेगी। हमारी राय में यह कार्य पाँच या दस लाख रुपयों की लिमिटेड कम्पनी बना कर शुरू करने से ही सफल हो सकेगा।

नवीन सभा-सोसाइटियों का प्रारम्भ

पहले के प्रकरणों से पाठक जान चुके हैं कि, ईस्वी सन् १६०० तक मारवाड़ी जाति का सार्वजनिक संगठन और उसका संचालन प्रधान रूप से पंचायत द्वारा होता था। उस समय तक समाज की बड़ी पंचायत के अतिरिक्त कोई ऐसी दूसरी संस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, जो कि, सार्वजनिक रूप में समाज का संचालन कर सकती। केवल एक मात्र बड़ी पंचायत ऐसी थी, जहाँ जातीयता की भावना से प्रेरित होकर समाज के सभी विचारवाले व्यक्ति अपने अभाव अभियोगों पर विचार किया करते थे। किसी एक ही विषय पर यदि भिन्न-भिन्न मत प्रकट होते तो सभी व्यक्तियों को अपने अपने मत को पुष्ट करने का अवसर दिया जाता था और वादानुवाद के पश्चात् जो निष्कर्ष निकलता, उसके अनुसार

अन्तिम निर्णय एक ही होता था। किसी भी विषय का दो प्रकार से निर्णय हो सकता हो, ऐसा कोई साधन नहीं था। यही कारण था कि, किसी विषय पर व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न विचार होने पर भी पंचायत के अन्तिम निर्णय के सामने सब सिर झुकाते और उसे मानना अपना कर्त्तव्य समझते थे। परन्तु सन् १९०० के बाद जब देश के राजनैतिक क्षेत्र में नयी लहर उठी और सभी समाजों में जागरण पैदा हुआ तो मारवाड़ी समाज पर भी उसका असर पड़ा। मारवाड़ी समाज के नवयुवकों में नाना प्रकार के नये-नये भाव जागृत होने लगे। एकमात्र बड़ी पंचायत द्वारा नव जागृत भावों की पूर्ति सम्पूर्ण रूप से न होती देख कर कुछ उत्साही नवयुवकों ने नये ढंग की सभा-सोसाइटियाँ खोलने का विचार किया और देखते-देखते 'मारवाड़ी एसोसियेशन' 'मारवाड़ी चेम्बर आफ कामर्स' 'वैश्य सभा' और 'मर्चेण्ट्स कमेटी' आदि कतिपय नवीन ढंग की संस्थाओं की स्थापना हो गयी। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि, पहले पहल जिस समय उपर्युक्त संस्थाओं का निर्माण किया गया, उस समय समाज के व्यक्तियों की विशेष कर उत्साही नवयुवकों की दृष्टि बहुत ही पवित्र और उत्साहवर्द्धक थी। वे समय के प्रवाह के अनुसार पंचायत के अतिरिक्त सभा-सोसाइटियों की नयी पद्धति द्वारा भी समाज और देश की सेवा करना चाहते थे। उन्होंने प्रारम्भ में बड़ा उत्साह प्रकट किया और कई ऐसे कार्य भी सम्पन्न किये, जिनसे मारवाड़ी जाति की ख्याति पूर्वापेक्षा और भी अधिक बढ़ने लगी। व्यापारिक क्षेत्र में मारवाड़ी समाज का स्थान पहले से ही प्रमुख समझा जाता था, अब इस नयी जागृति से राजदरबार, सरकारी कौंसिलों और म्युनिसिपैलिटियों में भी उसकी गणना होने लगी। सारांश यह कि, मारवाड़ी समाज के लिए वह समय बड़े परिवर्तन का था और इस नये जागरण ने मारवाड़ी समाज का नाम बहुत आगे बढ़ा दिया। परन्तु इतना होने पर भी उसके सार्वभौम संगठन में तथा जातीयता के पवित्र

भावों में भी प्रगति हुई हो, ऐसा परिचय नहीं मिलता। सच तो यह है कि, इस नये जागरण ने जहाँ अन्य कामों में अत्यधिक उत्साह प्रदान किया, वहाँ नये ढङ्ग की सभा-सोसाइटियों की रचना के कारण समाज के सार्वजनिक संगठन और सद्भावना का ह्रास भी शुरू हो गया। नयी सभा-सोसाइटियों के निर्माण का परिणाम आगे चल कर यह देखने में आया कि, समाज की एकसूत्रता टूट गयी और धड़ावन्दियाँ होने लगीं। इसके पूर्व जो मारवाड़ी समाज पंचायत रूपी एक सूत्र में आबद्ध चला आता था और उससे पृथक् होने का दूसरा कोई मार्ग नहीं था, अब इन सभा-सोसाइटियों की भिन्न-भिन्न रचना ने समाज को कई भागों में बाँट दिया। प्रत्येक सभा के सदस्य अपनी-अपनी सोसाइटी को ही समाज समझने लगे। इसके पूर्व पंचायत में जहाँ किसी भी विषय का अन्तिम निर्णय एक ही होता था, वहाँ अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न सभा-सोसाइटियों में एक ही विषय का भिन्न भिन्न प्रकार से निर्णय किया जाने लगा। यह अनुभवसिद्ध है कि, व्यक्तियों पर समाज का नियन्त्रण उसी अवस्था में रहता है, जब कि, किसी भी विषय का अन्तिम निर्णय एक ही होता है। पर जहाँ एक ही विषय का दो प्रकार से अन्तिम निर्णय किये जाने का साधन उपस्थित हो जाता है, वहाँ मतभेद होने से सामाजिक शासन ढीला पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में समाज में एक राम होने के वजाय दो राम होने की कहावत चरितार्थ होने लगती है और समाज की सत्ता व्यक्तियों के हृदय पर से हट जाती है। उनमें अपने-अपने निर्णय को कायम रखने की जिद पैदा हो जाती है। जब वे देखते है कि उनका निर्णय सर्वसाधारण व्यक्ति मानने के लिये तैयार नहीं हैं तो व्यक्तिगत भावना जाग पड़ती है और गुटबन्दी तथा धड़ाबन्दियां होने लगती हैं। नयी सभा-सोसाइटियों की रचना से मारवाड़ी समाज की कुछ ऐसी ही अवस्था होने लगी। नतीजा यह हुआ कि, समाज में पंचायत रूपी एक सूत्र के न रहने से भिन्न-भिन्न सभा-सोसाइटियों के

रूप में भिन्न-भिन्न विचार होने लगे, जिसका फल समाज के सामने यह आया कि, समाज का सार्वजनिक संगठन और जातीयता की सद्भावना का ह्रास होने लगा और समाज भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त हो गया।

इससे पाठक यह न समझें कि, जहाँ हम पञ्चायत प्रथा का गुणगान कर रहे हैं वहां हमारा अभिप्राय सभा-सोसाइटियों का महत्व घटाने से है। इस विषय का विचार तो हम आगे चलकर करेंगे कि, सामाजिक क्षेत्र में किसकी कितनी उपयोगिता है? यहाँ हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि, हम उस हेतु को प्रकट करें, जिससे समाज की एकसूत्रता के भावों में धक्का लगा और व्यक्तियों को मनमानी करने का मौका मिला तथा उसका परिणाम यह हुआ कि, समाज में विघटन पैदा हो गया।

यहाँ यह बताना शायद अनुचित न होगा कि, जिस समय समाज में नयी जागृति हुई और नवीन सभा-सोसाइटियों का निर्माण होने लगा, उस समय उनसे इस पुस्तक के लेखक का सम्पर्क बहुत अधिक रहा। उसने भी सभा-सोसाइटियों के निर्माण में यथाशक्ति भाग लिया था और सभा-सोसाइटियों की पद्धति की पूरी हिमायत की थी। परन्तु, कई वर्षों तक कार्यक्षेत्र में रह कर उसने जो अनुभव किया और वह जिस नतीजे पर पहुंचा, वह यही है कि, नवीन ढंग की सभा-सोसाइटियों की रचना समाज के सार्वजनिक संगठन और जातीयता की पवित्र भावना के बढ़ाने में सहायक सिद्ध नहीं हुई। सभा-सोसाइटियों की रचना के साथ ही साथ समाज के व्यक्ति यदि समाज-नीति को ध्यान में रख सकते और अपने वास्तविक ध्येय पर अटल रह कर सच्चाई के साथ आगे बढ़ते तो भिन्न-भिन्न सभा-सोसाइटियों का होना समाज की जीवनी शक्ति को बढ़ाने का कारण होता, क्योंकि एक ही ढर्रे पर अवलम्बित न रह कर किसी विषय का विचार भिन्न-भिन्न प्रकार से करना और अन्त में एक नतीजे पर पहुंचना, यह तो समाज की जीवनी शक्ति का द्योतक होता है और उससे



श्रीयुक्त रंगलाल पोद्दार

समाज आगे बढ़ता है। परन्तु इसमें सफलता उसी अवस्था में प्राप्त होती है जब कि, समाज के व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की विचारधाराओं को रखते हुए भी समाज-नीति और समाज के वास्तविक लक्ष्य पर अटल रहते हैं। खेद की बात है कि, व्यक्तियों में अनेक प्रकार की विचार-धाराओं का प्रादुर्भाव तो हुआ, पर समाज-नीति और जातीयता के वास्तविक ध्येय को वे सुरक्षित न रख सके। व्यक्तिगत भावना जाग पड़ी। गुटबन्दी और धड़ाबन्दियाँ होने लगीं। जहाँ तहाँ गुरुडम भी चलने लगा। पदलोलुपता और अहमन्यता इतनी बढ़ी कि, नैतिकता को भी लोग भूल बैठे। परिणाम यह हुआ कि, सभा-सोसाइटियों की पद्धति का जो मूल आधार बहुमत माना जाता है उसकी छीछालेदर की जाने लगी। अपनी ही बात को कायम रखने के लिए उचित अनुचित रूप से किसी प्रकार बहुमत बना लेना व्यक्तियों का ध्येय हो गया। नाना प्रकार की चालाकियाँ, विश्वासघात और प्रभावपूर्ण झूठे प्रचार किये जाने लगे। धन का प्रभाव तो इतना बढ़ा कि, सच्चे से सच्चे व्यक्ति के लिये भी उसके सामने ठहरना मुश्किल हो गया। सच तो यह है कि, बहुमत के इस पचड़े ने सभा-सोसाइटियों के बहुमतवाले सुगम उपाय का नाश कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, बहुमत पर झुकना व्यक्तियों के लिये असह्य हो गया। वे इतने अधीर होने लगे कि, अपनी सचाइयों पर सुदृढ़ रह कर उसी संस्था में अपने विचारों के अनुसार बहुमत प्राप्त करने का उद्योग छोड़ बैठे और उस संस्था से अलग होते चले गये। इस प्रकार की अवस्था का होना समाज-संगठन और पारस्परिक सद्भावना के लिए बड़ा घातक हुआ। यही कारण है कि, मारवाड़ी समाज में सार्वजनिक संगठन और जातीयता के भावों में ह्रास होने लगा और आगे चल कर समाज छिन्न-भिन्न हो गया।

अब हम यहां पर उन कतिपय सभा-सोसाइटियों के सम्बन्ध में लिखेंगे जो कि, उस समय पहले-पहल स्थापित हुई थीं और जिनके कार्यों का समाज पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ा था।

मारवाड़ी समाज में नवीन ढंग की सभा-सोसाइटियों का आरम्भ

मारवाड़ी एसोसियेशन—

'मारवाड़ी एसोसियेशन' की स्थापना के साथ हुआ। अवश्य ही इस संस्था को जन्म होना उस समय सर्वथा एक नयी बात थी। परन्तु, देश की नयी लहर ने मारवाड़ी समाज के कतिपय नवयुवकों को ऐसा करने के लिए मजबूर कर दिया और ई० सन् १८९९ में इस संस्था का श्रीगणेश हुआ। इस संस्था को स्थापित करने में प्रधान उद्योगी बाबू रंगलाल पोद्दार थे जिनका प्रभाव कुछ शिक्षित होने के कारण नवयुवकों पर पड़ रहा था। उन्होंने श्री मोतीलाल चांदगोठिया, प्रहलादराय डालमिया, शिवनाथराय सेखसरिया, दयाचंद सरावगी और रामगोपाल खेमका आदि तत्कालीन नवयुवकों के साथ मिल कर इस संस्था की स्थापना की। श्री हरमुखरायजी चोखानी और तोलारामजी गोयनका उनके पृष्ठपोषक बने। यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक है कि, इन नवयुवकों ने पहले-पहल जिस समय एसोसियेशन की स्थापना की, उस समय इनकी भावना बड़ी पवित्र और उत्साहपूर्ण थी। ये लोग सभा-सोसाइटियों की नयी पद्धति चला कर समाज का हित ही साधन करना चाहते थे। इस सभा के जनमते ही मारवाड़ी समाज में अद्भुत उत्साह और एक प्रकार का नया जागरण आ गया। बाबू रंगलाल का स्थान उस समय के नवयुवकों में सर्वोपरि था, क्योंकि नवीन ढंग की सभा-सोसाइटियों का संचालन कैसे किया जाता है और उनकी कार्यप्रणाली क्या है, इसके वे ही सब से बड़े जानकार थे। उस समय उन्होंने मारवाड़ी समाज के धनिक नवयुवकों के लिए सभा-सोसाइटियों के सम्बन्ध में शिक्षा-गुरु का काम किया। आगे चल कर अनेक नवयुवकों में वे उस्ताद या गुरुजी कहे जाने लगे। यह अवस्था बहुत दिनों तक रही। वास्तव में बाबू रंगलाल जिस धनिक युवक को सभा-सोसाइटियों के काम में आगे बढ़ाना चाहते, वही नवयुवक प्रसिद्ध हो जाता था। उन्होंने उस समय बहुत से नवयुवक तैयार किये, जिनमें

नवयुवक समाज के अग्रणी-कार्यकर्त्ता



स्वर्गीय मोतीलालजी चाँदगोठिया

श्री० रामदेव चोखानी भी थे। शिक्षित होने के कुछ समय के बाद ही ये एसोसियेशन के मन्त्री बनाये गये और लगातार आठ दस वर्षों तक ये ही मन्त्री बने रहे।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एसोसियेशन ने सामाजिक और व्यापारिक क्षेत्रों में बहुत अधिक ध्यान देने के अतिरिक्त राजनैतिक क्षेत्र में भी भाग लेना शुरू कर दिया। सरकारी दफ्तरों और अन्य विभागों से पत्र-व्यवहार किया जाने लगा। बड़े-बड़े सरकारी अफसरों से मिलने और उन्हें एड्रेस देने की व्यवस्था की। उसी समय से सरकारी उपाधियां भी मारवाड़ियों को अधिकाधिक मिलने लगी। कई व्यक्तियों को रायबहादुरी, रायसाहबी, सर और राजा आदि पदवियाँ प्राप्त हुईं। कई बातें ऐसी थीं कि, समाज का ध्यान अधिकाधिक रूप में एसोसियेशन की ओर खिंचने लगा। समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति इसमें भाग लेने लगे। यह अवस्था जब तक रही, एसोसियेशन के प्रभाव की वृद्धि होती रही। इसके बाद लोगों का दृष्टिकोण बदलने लगा। कुछ कार्यकर्ताओं को किसी विपरीत भावना ने धर दबाया और वे इतने घमंड में आ गये कि, अपने वैयक्तिक प्रभुत्व का ही स्वप्न देखने लगे। धनी और निर्धन का भेदभाव अधिकाधिक प्रकट होने लगा। प्रायः देखा गया कि, जो व्यक्ति धनिक होता, चाहे वह बुद्धिविहीन ही हो पर उसकी आवभगत और आदर विशेष रूप से होता था और जो व्यक्ति धनसम्पन्न न होने के कारण पढ़ा-लिखा और बुद्धिमान् तथा अधिक उत्साही भी होता तो भी उसके साथ अधिकतर उपेक्षा का ही वर्ताव किया जाता। आगे चलकर तो इस संस्था ने इंग-लैण्ड की लार्ड सभा का सा रूप धारण कर लिया, जिसमें पूंजीपति और जमींदारों का ही बोलबाला रहता है। इसका परिणाम यह हुआ कि, इससे समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति निराश होने लगे। धनिकों ने इस संस्था को सरकारी उपाधियाँ प्राप्त करने और बड़े-बड़े सरकारी अफसरों

से मिलने का एक साधन-सा बना लिया। फलतः व्यक्तिगत प्रलोभनों के आगे समाज का कार्य गौण बन गया। सरकारी उपाधियों को प्राप्त करने के अतिरिक्त कौन्सिलों और म्युनिसिपैलिटियों में दो एक सीटें अपने हाथ में कर लेना या अपने ही किसी आदमी को उस पर बैठा देना इसका प्रधान कार्य हो गया। इस तरह यह संस्था मारवाड़ी समाज के नाम पर कुछ इनेगिने धनी व्यक्तियों के हाथ की कठपुतली बन गयी। सब से बड़ा आश्चर्य तो यह देखने में आया कि, जिन बाबू रंगलाल पोद्दार ने पहले-पहल कल्पना करके इस संस्था का निर्माण किया था और एक बार बहुत अधिक आगे बढ़ाया था, वे भी अपने पहले के पवित्र ध्येय की रक्षा नहीं कर सके। उन्होंने गुरुडम धारण कर धनिक युवकों के संपर्क में रहना ही हितकर समझ लिया। जिसका फल यह देखने में आया कि, एसोसियेशन की सर्वप्रियता न रह सकी और जिन व्यक्तियोंने उत्साह के साथ इस संस्था में योग दिया था, उनमें से समानाधिकार और स्वतन्त्र विचार रखनेवाले व्यक्ति अलग हो गये और दूसरी संस्था कायम करने पर आमादा हो गये। इस संस्था का अस्तित्व तो आज भी देखा जाता है परन्तु समाज पर इसका प्रभाव अब नहीं के बराबर सा है। अब इसका काम केवल लीक पीटना ही रह गया है। इसमें अब कोई ऐसा ओज नहीं जो समाज का कोई वास्तविक हित-साधन कर सके।

इस संस्था के जन्मदाता बाबू रंगलाल पोद्दार ने—जो कि इस समय वयोवृद्ध होने के कारण सार्वजनिक कामों से हट गये हैं—गत वर्ष स्थानीय 'मारवाड़ी ब्राह्मण' में एक लेखमाला लिख कर एसोसियेशन की कार्यवाहियों के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला था, उससे जाना जा सकता है कि, किस प्रकार कुछ धनिक और चलते-पुर्जे व्यक्तियों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन की भावना से इस जीती-जागती संस्था को अपने वास्तविक ध्येय से च्युत कर दिया और आज उसकी कैसी शोचनीय अवस्था है! इस संस्था में कुछ धनिक और व्यक्तिगत सत्ता के लोलुप व्यक्ति मनमानी

नवयुवक समाज के उत्साही कार्यकर्ता



स्वर्गीय प्रहलादरायजी डालमिया

करने पर उतारू न होते और सार्वजनिक सद्भावना से कार्य-संचालन करते तो इस संस्था द्वारा समाज का बहुत हित-साधन होता। परन्तु खेद है कि, ऐसा न हुआ। इसी का यह परिणाम है कि, समाज में आज इस संस्था का कोई विशेष प्रभाव नहीं रहा, केवल नाम के लिये यह संस्था जीती है।

कलकत्ते के वृहत् व्यापारिक क्षेत्र में 'बंगाल चेम्बर आफ कामर्स' नामक एक ही संस्था ऐसी थी, जो कि, अंगरेज व्यापारियों का हित-साधन किया करती थी। उस संस्था में भारतीय व्यापारियों का कोई अधिकार नहीं था। वे इस संस्था के मेम्बर भी नहीं बन सकते थे। इतना होने पर भी अंगरेज व्यापारियों के साथ होनेवाले व्यापार का झगड़ा-झमेला सलटाने का काम 'बंगाल चेम्बर ऑफ कामर्स' द्वारा ही होता था। इसका कारण यह था कि इस संस्था के यूरोपियन अधिकारियों ने भारतीय व्यापारियों के साथ होनेवाले माल के कण्ट्राक्टों में कुछ ऐसी ही मनमानी एकतरफा शर्तें लगा रखी थीं, जिनके कारण मजबूर होकर भारतीय व्यापारियों को 'बंगाल चेम्बर ऑफ कामर्स' की शरण लेनी पड़ती थी और उसका निर्णय मानना पड़ता था। कलकत्ते का बड़ाबाजार जो कि, व्यापार का प्रधान केन्द्र समझा जाता है और जिसमें मारवाड़ी समाज का शीर्ष स्थान माना जाता है, उसमें भारतीय व्यापारियों की किसी संस्था का न होना बड़े आश्चर्य की बात थी। सच तो यह है कि अंगरेजों के बढ़ते हुए व्यापार का दारमदार और आधार ही कलकत्ते का बड़ाबाजार था। ऐसी अवस्था में अंगरेज व्यापारियों की संस्था तो हो और भारतीयों की न हो, यह एक बड़ी विचित्र बात थी। यह अवस्था ईस्वी सन् १८१३ से लगाकर सन् १९०० तक रही। अंगरेज व्यापारियों ने माल बेचने के कण्ट्राक्ट में मनमानी एकतरफा शर्तें लगायीं। झगड़े-झमेले निपटाने का अधिकार भी उन्होंने अपनी संस्था के

मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कामर्स—

अधीन ही रखा। इसी प्रकार और भी कई बातें थीं, जो कि, भारतीय व्यापारियों को खटका करती थीं। लोगों को अपनी इच्छा के विरुद्ध हानि उठा कर भी चलना पड़ता था परन्तु परिस्थिति का ऐसा दबाव समानाधिकार के तत्व को बहुत काल तक इस तरह दबा कर नहीं रख सकता। दबा हुआ असन्तोष समय आने पर बारूद की तरह भड़क उठता है। बड़ेबाजार के व्यापारियों ने व्यापार में समानाधिकार होते हुए भी परिस्थिति विशेष के कारण सन १९०० तक किसी तरह बंगाल चेम्बर की एकतरफा शर्तों को मान कर काम किया, परन्तु जब देश में नयी जागृति हुई तो उसके प्रभाव से उन्होंने ईस्वी सन् १९०० में बड़ेबाजार की ओर से 'मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कामर्स' की स्थापना स्वतन्त्र रूप से कर डाली। इस संस्था को खड़ा करने के प्रधान उद्योगी थे—बाबू रिद्धकरणजी सुराणा। उन्होंने श्री० हाफारामजी खेमका, और गणपतरायजी खेमका आदि कतिपय प्रमुख व्यापारियों के सहयोग से चेम्बर का काम शुरू कर दिया और उसके पहले सभापति श्री हाफारामजी खेमका और प्रधान मन्त्री स्वयम् ऋद्धकरणजी मनोनीत हुए। 'मारवाड़ी चेम्बर आफ कामर्स' का जन्म होना मारवाड़ी समाज की व्यापारिक क्षेत्र में विशेष उन्नति और प्रभाव का सूचक था। उसका प्रभाव बंगाल चेम्बर पर भी बहुत पड़ा। इस संस्था ने कुछ ऐसे नियम बनाये, जिनसे माल के खरीददारों और बेचवालों में नियमबद्ध कार्य होने लगा। व्यापारिक झगड़े-झमेले जो आपस में नहीं सलटते थे और लोगों को अदालतों की शरण लेनी पड़ती थी, जिससे अदालती खर्च के मारे समाज तबाह हो रहा था और मामले-मुकदमों के कारण लोगों में वैमनस्य बढ़ कर नैतिक पतन और बदनामी हुआ करती थी उनके सम्बन्ध में इस संस्था ने एक ऐसी कमेटी कायम कर दी कि, जिसमें ये सब व्यापारिक झगड़े सलटाये जाने लगे। चेम्बर की प्रथम वर्ष की रिपोर्ट से प्रकट होता है कि, उस वर्ष कमेटी के सामने ११९८ मामले आये और १०८१ मामले सन्तोषजनक रूप में

निपटाये गये। इसके अतिरिक्त जो व्यापारी नुकसान हो जाने के कारण फेल हो जाता और उसे इशानी आफिस की शरण लेनी पड़ती तथा उसके लेनदेन को सलटाने में इशानी आफिस की व्यवस्था से बड़ी रकम खर्च में बरबाद हो जाती, उससे बचाने के लिए चेम्बर ने उचित रूप से काम सलटा कर पावनेदारों को रुपये बांट देने का आयोजन किया। ये सब ऐसे आवश्यक और उपयोगी कार्य थे, जिनसे चेम्बर का बहुत नाम हो गया और लोग इसकी महत्ता का अनुभव करने लगे। आगे चलकर मारवाड़ी चेम्बर ने कण्ट्राक्ट की शर्त्तों पर भी ध्यान दिया जो कि, 'बंगाल चेम्बर आफ कामर्स' की व्यवस्था से बड़ेबाजार के व्यापारियों के साथ एकतरफा और मनमानी थीं। इस प्रकार की लिखापढ़ी बंगाल चेम्बर के साथ शुरू की गयी तो अंगरेज व्यापारियों के भी कान खड़े हो गये और वे समझने लगे कि, अब वह समय नहीं रहा कि, वे मनमानी शर्तों से काम ले सके। इस लिखापढ़ी का इतना प्रभाव पड़ा कि, समानाधिकार के माननेवाले बहुत से अंगरेज व्यापारी कण्ट्राक्ट की शर्त्तों को बदल देने के पक्ष में हो गये थे और यह विषय बहुत शीघ्र ही हल हो जाने की सम्भावना हो चली थी। परन्तु इसके पहले ही बड़ाबाजार के व्यापारियों में एक पारस्परिक झगड़ा खड़ा हो गया। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि, जिस समय पहले-पहल इस संस्था की स्थापना हुई, उस समय कार्य-कर्ताओं में सार्वजनिक भावना विद्यमान थी और इसीसे यह संस्था आगे बढ़ी थी, परन्तु बाद में कुछ ही वर्षों के पश्चात् वह सार्वजनिक भावना घटने लगी। बेचवालों और खरीददारों का भिन्न-भिन्न स्वार्थ समझा जाने लगा। पदाधिकारियों में प्रधानता बेचवाल व्यापारियों की थी, उन्होंने अपने स्वार्थ को ही अधिक सामने रखा और खरीददार चलानी-वालों पर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगाये कि चलानीवालों के लिये वे असह्य होने लगे और पक्षापक्ष की भावना का उदय हो गया। अधिकारी-वर्ग इस प्रकार बेचवालों के ही स्वार्थ की ओर न झुक कर दोनों ओर के हितों का

ख्याल रखता तो कोई विघटन पैदा न होकर प्रारम्भ किये हुए सभी कार्य सफल होते रहते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि, बेचवाल और खरीददारों में मनमुटाव हो गया और यहां तक नौबत आयी कि, परस्पर की खरीद-बिक्री वन्द होकर वाजार ही वन्द हो गया। तत्पश्चात् खरीददार चलानीवालों ने 'मर्चेण्ट्स कमेटी' का निर्माण स्वतन्त्र रूप से कर लिया और परस्पर संघर्ष चला। 'मर्चेंट्स कमेटी' का संगठन भी ऐसा हुआ कि, उसका प्रभाव भी चेम्बर से कम नहीं रहा। कुछ दिनों तक भारी हलचल रही और वाजार वन्द रहने के बाद किसी प्रकार समानाधिकार के आधार पर सुलह हो गयी। परन्तु संस्थाओं का संगठन एक न होकर दोनों का ही अलग-अलग बना रहा। यदि उस समय दो संस्थाओं को अलग न रख कर दोनों एक ही संस्था में मिला दी जातीं तो वड़ा काम होता। पर ऐसा नहीं हुआ, इससे सुलह होने पर भी स्वार्थों की दृष्टि भिन्न-भिन्न ही रही।

वंगाल चेम्बर के एकतरफा कण्ट्राक्टों के सम्बन्ध में जो उद्योग चल रहा था और जो सफल होने पर ही आ गया था, उसमें खरीददार और बेचवालों में पारस्परिक वैमनस्य होने से कठिनाई पैदा हो गयी। अंगरेज जाति स्वभावतः ही वड़ी चालाक होती है। यद्यपि वड़ावाजार के संगठन को देख कर एक बार वह कण्ट्राक्टों की शर्त्तें वदल देने के लिये तैयार होने लगी थी, परन्तु व्यापारियों के पारस्परिक संघर्ष को देखकर अंगरेज व्यापारी कूटनीति से उस आंदोलन को विफल बनाने की भीतरी चेष्टा करने लगे। पाठक जानते हैं कि, उस समय सभी अंगरेजी आफिसों के दलाल मुसद्दी प्रायः मारवाड़ी व्यापारी थे और इस प्रकार आफिसों द्वारा उन्हें काफी आय होती थी। अंगरेज व्यापारियों ने अपनी-अपनी आफिस के दलाल मुसद्दियों पर प्राइवेट में कुछ ऐसा दवाव डालना शुरू किया कि, वे अपने स्वार्थ में हानि पहुंच जाने के डर से आन्दोलन को सफल बनने देने में रोड़ा अटकाने लगे। उन्होंने जातीय



स्वर्गीय गणपतरायजी खेमका
(फर्म—तनसुखराय गणपतराय)

स्वार्थ पर ध्यान न देकर व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर ही ध्यान दिया। लेखक की स्मृति यदि ठीक है तो वह कह सकता है कि 'मर्चेण्ट्स कमेटी' के स्थान पर जिस दिन 'मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कामर्स' और 'मर्चेण्ट्स कमेटी' के सदस्यों की सम्मिलित सभा हुई थी, उस दिन आफिसों के दलाल मुसद्दियों की ओर से कुछ ऐसे भाव प्रकट हुए थे, जिनसे कण्ट्राक्ट सम्बन्धी समस्या का हल होना दुष्कर हो गया। खेद के साथ लिखना पड़ेगा कि, इस विरोध में सब से अधिक भाग एक ऐसे प्रमुख व्यक्ति ने लिया जो कि आफिस के दलाल और मुसद्दी होने के सिवाय सामाजिक कामों में उत्साह के साथ भाग लेते थे। इससे सफलता में बड़ी बाधा उपस्थित हो गयी। इस प्रकार कतिपय दलाल मुसद्दियों की ओर से सार्वजनिक जातीय हित के विरुद्ध भाग नहीं लिया जाता तो बहुत संभव था कि, समानाधिकार के सिद्धान्त पर कण्ट्राक्टों का सुधार हो जाता। पर ऐसा न हो सका।

खेद के साथ हमें यहां यह बतलाना है कि, यद्यपि समय की रफ्तार को देख कर मारवाड़ी समाज ने नवीन सभा-सोसाइटियाँ तो बनायीं, परन्तु, सुधरे हुए अन्य देशों और समाजों की तरह वे जातीयता और संगठन के महत्व को न समझ सके। जहाँ अन्य देशों के व्यक्ति सभा-सोसाइटियों में व्यक्तिगत स्वार्थ की पर्वाह न कर पहले जातीय तथा देश के स्वार्थ की ओर झुकते हैं और नैतिकता की रक्षा करते हैं, वहाँ मारवाड़ी समाज के अधिकांश सम्पन्न व्यक्ति सभा-सोसाइटियों में अधिकारी बन कर व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता और सत्ता के शिकार बन गये। उनमें सब से बड़ा दोष यह आने लगा कि, चाहे कोई कैसी भी संस्था क्यों न हो, यदि उसमें किसी को कोई अच्छा स्थान या पद मिल जाता अथवा उसका थोड़ा नाम भी हो जाता तो उसका मिजाज ठिकाने न रहता और सार्वजनिक भावों का स्थान व्यक्तिगत दंभ ले लेता। यही अवस्था उस समय बंगाल चेम्बर के एकतरफा कण्ट्राक्ट सम्बन्धी आन्दोलन में देखी जाने लगी थी। सच तो यह है कि, मारवाड़ी समाज के सभी विचार-

वाले व्यक्ति यदि यह देखते कि, यह विषय जातीय स्वार्थ का तथा न्याय-संगत है और इसके सम्बन्ध में व्यक्तिगत भावना से काम न लेकर जातीयता की दृष्टि से काम लेना चाहिए तो उस समय बड़े प्रभाव के साथ एकतरफा कण्ट्राक्टों का सुधार हो जाता और संस्था की छाप पड़ जाती। परन्तु खेद है कि, समाज के प्रभावशाली व्यक्ति ऐसा नहीं कर सके और वह आन्दोलन सफल होने के बजाय दब गया।

आज भी ये दोनों संस्थाएँ कायम हैं, परन्तु वास्तविक काय की दृष्टि से उनका केवल नाम ही नाम शेष रह गया है। आज व्यापारिक क्षेत्र में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें और समस्याएँ मुंह बाये खड़ी हैं। राजनैतिक दावपेंच भी चल रहे हैं। परन्तु इन संस्थाओं में अब वह ओज नहीं रहा कि, इन बातों की ओर ध्यान दे सकें। बड़े-बड़े कामों के अतिरिक्त इन्कम टैक्स, टेलीफोन चार्ज, अदालतों में वकील बैरिस्टरों के चार्ज से बर्बादी आदि कितनी ही छोटी-छोटी बातें हैं और उनका सुधार तथा उचित प्रबन्ध कराने की भी आवश्यकता है पर इन सब पर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता। यह अवस्था व्यापारिक संस्थाओं की है।

'मारवाड़ी एसोसियेशन' सम्बन्धी प्रकरण से पाठक जान गये होंगे

वैश्य सभा—

कि, उस संस्था का जन्म बहुत बड़ी आशा और उत्साह के साथ होने पर भी कुछ समय के बाद ही उसमें व्यक्तिगत प्रभुत्व और गुरुडम की भावनाएँ घुस बैठीं। परिणाम यह हुआ कि, बहुत से पढ़े-लिखे युवकों और सर्वसाधारण उत्साही व्यक्तियों के लिए उसमें काम करने की कोई सुगमता नहीं रही। वैसी अवस्था हो जाने पर कुछ विशेष उत्साही युवकों ने हवा का रुख पहचान कर विचार किया कि, एसोसियेशन सार्वजनिक भावों से पीछे हट रही है और कुछ चलते-पुर्जे सदस्य इस संस्था को अपने इशारे पर चलाना चाहते हैं तो अब इस संस्था में रहने से लाभ ही क्या है? वे स्वेच्छापूर्वक उस संस्था

नवयुवक समाज के पहले कार्यकर्ता



श्रीयुक्त रामकुमार गोयनका

से हट गये। कुछ युवकों ने 'वैश्य मित्र सभा' नामक एक गोष्ठी पहले से बना रखी थी, उसमें वे शामिल हो गये। उन्होंने विचार किया कि, 'मारवाड़ी एसोसियेशन' का क्षेत्र व्यापक नहीं है। उसमें अन्य सभी जातियों के व्यापार करनेवाले व्यक्ति मेम्बर नहीं बन सकते। अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि, किसी एक ही स्टेज पर बिना भेदभाव के समान रूप से सभी व्यापारी भाग ले सकें और अपने अभाव अभियोगों पर सार्वजनिक रूप में विचार कर सकें। उन लोगों ने 'वैश्य मित्र-सभा' का नाम बदल कर व्यापक रूप में उसका नाम 'वैश्य सभा' कर दिया। यद्यपि प्रधानता मारवाड़ियों की ही रही, परन्तु अन्य सभी समाजों के व्यापारी वैश्य सुगमता से भाग लेने लगे। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि, 'वैश्य सभा' को जन्म देनेवाले लोगों में बाबू रामकुमार गोयनका का बहुत बड़ा हाथ रहा जो अपनी छोटी अवस्था से ही सभा-सोसाइटियों की पद्धति की जानकारी रखते थे और दिलचस्पी एवं उत्साह भी रखते थे। इनके साथियों में सदाराम खेड़िया, फूलचन्द चौधरी, रामगोपाल खेमका, बजाजे वाला बैजनाथ केडिया, देवीबक्स सराफ, नैनसुखदास शारदा, नागरमल मोदी और लक्ष्मीनारायण कानोड़िया आदि प्रमुख व्यक्ति थे। धन्नूलाल अग्रवाला अटर्नी हाईकोर्ट ने भी साथ दिया और उनकी अध्यक्षता तथा रामकुमार के मन्त्रित्व में सन् १९०२ ई० से 'वैश्य सभा' का कार्य प्रारम्भ हो गया।

'वैश्य सभा' का जन्म क्या हुआ, मारवाड़ी समाज में पुनः एक नवीन उत्साह और जागरण उत्पन्न करने का कारण हुआ। जहाँ तक सम्भव था, इस संस्था ने बड़ेबाजार के प्रायः सभी अभाव-अभियोगों पर ध्यान दिया। बाबू रामकुमार गोयनका और उनके कतिपय साथियों का उत्साह और कार्य करने की लगन देखने लायक थी। इस संस्था का प्रभाव इतना जमा कि, सदस्यों की बाढ़ सी आ गयी। मारवाड़ी समाज और बड़ेबाजार के अन्य वैश्यों में जहाँ कुछ समय पहले तक वाणिज्य-व्यापार

के सिवाय शायद ही कोई यह जानता हो कि, राजनीति किस चिड़िया का नाम है तथा सभा-सोसाइटियों द्वारा सामाजिक तथा व्यापारिक कार्य भी हो सकते हैं—उनमें सभी विषयों की विचारधारा प्रवाहित होने लगी। जिस व्यक्ति ने उस समय का दृश्य अपनी आँखों देखा है तथा उसमें भाग लिया है, वह कह सकता है कि, 'वैश्य सभा' के नाम की चर्चा जहाँ देखो वहाँ ही सुनाई पड़ने लगी थी। हरिसन रोड और सूतापट्टी के मोड़वाले मकान में जब सभा का अधिवेशन होता था, तब जनता में अपूर्व उत्साह दिखाई पड़ता था। इस सभा ने बड़ेबाजार में विशेष रूप से एक जीती जागती संस्था होने का परिचय दिया था और समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति इसकी ओर विशेष रूप से आकर्षित होने लगे थे।

इस संस्था ने अपना कार्यक्रम बहुत व्यापक बनाया और उसके अनुसार कार्य भी आरम्भ किया था। 'मारवाड़ी एसोसियेशन' ने राजनैतिक स्वत्व प्राप्त करने में जहाँ सरकारी पदाधिकारियों के रुख को देख कर आगे बढ़ना, उनकी मर्जी के आधार पर छोटी-मोटी उपाधि पा जाना, एसोसियेशन के नाम से समय-समय पर कुछ अफसरों से मिल लेना, तथा हो सके तो मारवाड़ी जाति के नाम पर कौंसिलों में एकाध सीट प्राप्त कर उस पर अपने मनमाने व्यक्ति को भेज देना आदि कार्यों में ही अपने जीवन की इतिकर्त्तव्यता मान ली थी, वहाँ 'वैश्य सभा' ने 'ठकुरसुहाती' छोड़ स्वावलम्बन के मार्ग पर चलना आरम्भ किया। उसकी दृष्टि में सरकारी उपाधियों की लालसा रखना तथा चोगा चपकन लगा कर अधिकारियों से मिलना स्वतन्त्रता और नैतिकता का घातक था। राजनीति के सम्बन्ध में उसने उन सभी कार्यों को अपने हाथ में लिया, जिनका सम्बन्ध किसी प्रकार के व्यक्तिगत स्वार्थ से न होकर सार्वजनिक जातीय हित से था। व्यापारी समाज के लिए कोई भी बात उसे अनुचित जान पड़ी तथा रंगभेद अथवा जातिभेद दिखाई पड़ा तो उसे दूर करने के लिए ओज के साथ उसने प्रयत्न किया और जहाँ तक

बन पड़ा सुधार कराने की चेष्टा की। इस सभा द्वारा किये गये कार्यों का विवरण बहुत बड़ा है, जो सिद्धान्त तथा व्यावहारिकता की दृष्टि से बड़े महत्व का है। परन्तु हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि, हम उन सभी बातों का उल्लेख करें।

सामाजिक विषय तो इस सभा का प्रधान कार्य रहा। बढ़ती हुई फिजूलखर्ची, अनावश्यक रूढ़ियाँ, शिक्षा की कमी—इन विषयों की ओर इस सभा ने बहुत अधिक ध्यान दिया। फिजूलखर्ची दूर करने का आन्दोलन उठाया गया, जिसका प्रभाव इतना पड़ा, कि, जनता का ध्यान आकर्षित हो गया और समाज की 'बड़ी पञ्चायत' तथा 'मारवाड़ी एसोसियेशन' आदि अन्य संस्थाओं पर भी इसके आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। पञ्चायत ने तथा एसोसियेशन ने भी सुधार सम्बन्धी नियम बनाये। मारवाड़ी स्त्रियों में उस समय गन्दे गीत गाने की आदत बेतरह बढ़ी हुई थी और उससे सभ्य समाजों में मारवाड़ी जाति की हँसी हुआ करती थी। 'वैश्य सभा' ने उन गीतों द्वारा होनेवाली हानियों पर खूबी के साथ प्रकाश डाला, जिसका असर यह हुआ कि, इसके पहले जो काम समाज की बड़ी पञ्चायत तथा चौरस्ते की पञ्चायत भी न कर सकी थी उसे कर दिखाया। सर्वसाधारण नवयुवकों में गन्दे गीतों के प्रति काफी घृणा पैदा हो गयी। वे इसके सुधार तथा विरोध में लग गये। सज्जनगोठ की जीमनवार के समय जो महा गन्दे गीत गाये जाते थे, उन्हें बन्द करने के लिए, नवयुवकों ने एक प्रकार का सत्याग्रह किया। वे जीमने के समय पत्तल पर तो बैठ जाते थे पर जब गीत गाये जाने लगते तब पत्तल पर से उठ खड़े होते थे और कहते थे कि, जब तक गन्दे गीत बन्द न किये जांयगे, वे भोजन नहीं करेंगे। इसका फल यह होने लगा कि, विवाहवाले व्यक्तियों को तत्काल गन्दे गीत बन्द करने पड़े और आगे के लिए पहले से ही लोग गीतों का संयम रखने लगे और धीरे-धीरे गन्दे और कुत्सित शब्दवाले गीत बन्द हो गये। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि,

गीतों के सम्बन्ध में आन्दोलन तो बहुत पहले से चलता था और कई प्रकार की सूचनाएँ भी निकलती थीं, परन्तु, उन सब का जितना असर होना चाहिए था, वह नहीं होता था क्योंकि, जबतक किसी प्रस्ताव के पीछे क्रियात्मक बल नहीं होता, तबतक कोरे प्रस्तावों से क्या होता है ? वैश्य सभा के सदस्यों ने क्रिया-बल से गन्दे गीत बन्द कर दिये।

कलकत्ते में गङ्गास्नान करनेवाली स्त्रियाँ रात के तीन बजे से ही गङ्गाघाट जाने लगती है। उन दिनों ऐसी-ऐसी शिकायतें रोज ही सुनने में आती थीं कि, आज अमुक स्त्री के साथ गुण्डों ने छेड़छाड़ की, आज अमुक स्त्री के गहने छीन लिये, और आज अमुक स्त्री को बेइज्जत कर दिया गया। वैश्य सभा ने पहले तो स्थानीय पुलिस का ध्यान इस तरफ आकर्पित किया, परन्तु उससे कुछ होता जाता न देख क्रिया-बल का प्रयोग करने के लिए अपने नवयुवक सदस्यों को स्वयंसेवक बना कर इस कार्य पर नियत किया। वे रात के तीन बजे से ही विशेप-विशेप रास्तों पर अपनी-अपनी ड्यूटी पर जा डटते थे। एक ओर तो वे अपनी माँ-बहनों को समझाते थे कि, वे इतनी रात में न आकर भोर होने पर गङ्गास्नान करने आया करें और दूसरी ओर वे इतने सावधान और मुस्तैद रहते थे कि, यदि किसी बदमाश गुण्डे ने किसी स्त्री पर हाथ डाला अथवा छेड़-छाड़ की तो उसी समय उसकी मरम्मत कर देते थे। हरिसन रोड में एक फल बेचनेवाले पेशावरी का उत्पात बहुत बढ़ गया था। वह काबू में आता ही न था। परन्तु वैश्य सभा के कतिपय स्वयंसेवकों ने उसे ऐसा छकाया कि, उसे वहाँ से भाग जाना पड़ा। उस समय नवयुवकों ने जातीयता की भावना से हिम्मत के साथ काम किया था और उसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि, बदमाशों और गुण्डों में आतंक छा गया कि, गङ्गास्नान करने जानेवाली मारवाड़ी स्त्रियों पर हाथ डालना खतरे से खाली नहीं है। उन्होंने छेड़छाड़ करना छोड़ दिया।

उन दिनों वैश्य सभा द्वारा कई ऐसे काम हुए, जिनसे समाज का



स्वर्गीय सदारामजी खेड़िया

बड़ा उपकार हुआ। 'वैश्य सभा' केवल प्रस्ताव पास करके ही बैठी नहीं रहती थी, बल्कि प्रचार-कार्य करके जनता को अपने अनुकूल भी बनाती थी। अनुभव यह बतलाता है कि, सामाजिक कार्य न तो प्रस्तावों से ही सम्पन्न होते हैं, न विवेक रहित आवेश से। सामाजिक सुधार उसी अवस्था में हो सकते हैं जब जनता में उसके अनुकूल तीव्र भावना उत्पन्न की जाय। इस प्रकार से होनेवाला सुधार ही स्थायी भी होता है। आवेश में आकर किया जानेवाला सुधार न तो स्थायी होता है और न उसके साथ सर्व-साधारण की सहानुभूति ही होती है। उससे सिर्फ धड़ाबन्दियों को ही प्रोत्साहन मिलता है। वैश्य सभा में यह विशेषता थी कि, उसका सामाजिक कार्य आन्दोलन और क्रियात्मक रूप में अधिकतर होता था। वैश्य सभा की यह नीति थी कि, प्रस्ताव उसी अवस्था में पास किया जाय, जब कि उस विषय का काफी प्रचार किया जा चुका हो।

'वैश्य सभा' ने व्यापारी समाज के अनेक अभाव अभियोगों पर भी ध्यान दिया। रेलवे और जहाजी गोदामों में व्यापारियों को अनेक प्रकार की असुविधाएँ होती थीं, उनके सम्बन्ध में वैश्य सभा ने अधिकारियों पर दवाव डाला और लाखों रुपये खर्च कराके उन असुविधाओं को दूर किया। बड़ेबाजार की सड़कें जो कि, कीचड़ से लथपथ रहा करती थीं, उन्हें कीचड़ रहित बनाने का प्रवन्ध कराया। बड़ेबाजार में एक ही पोस्ट आफिस और तार-घर होने से व्यापारियों और सर्वसाधारण को बड़ा कष्ट होता था। वैश्य सभा ने अधिकारियों पर दबाव डाल कर 'वैश्य सभा पोष्ट आफिस' खुलवाया, जो कि, आज भी उसके स्मारक रूप में दिखाई दे रहा है।

कलकत्ते जैसे शहर में बड़ाबाजारवालों के काम में आनेवाला एक ही श्मशान-स्थान नीमतल्ला घाट है। वहाँ स्थान का संकोच होने के कारण मुर्दे जलाने के लिये लोगों को नंबर के अनुसार घण्टों इन्तजार करना पड़ता था और बड़ा कष्ट होता था इसके अतिरिक्त लकड़ी, कफन और

अन्त्येष्टि की अन्य चीजें सुगमता से नहीं मिलती थीं; जो मिलती भी थीं उनका दाम बहुत अधिक देना पड़ता था। वैश्य सभा ने अधिकारियों द्वारा श्मशान घाट का विस्तार करवाया और ऐसी दूकानें खोल दीं, जहाँ से उचित दाम में सुगमता के साथ चीजें मिलने लगीं।

'वैश्य सभा' ने जब देखा कि, स्थानीय 'मारवाड़ी चैम्बर आफ कामर्स' अपने सार्वजनिक ध्येय को छोड़ कर केवल बेचवालों की ही संस्था बनने लगी है और उसके कुछ कार्य ऐसे होने लगे हैं जिनसे खरीद-दार चलानीवाले व्यापारियों को हानि हो रही है तो पहले उसने चैम्बर मे समानता लाने का प्रयत्न किया, परन्तु जब देखा कि, उसमें बेचवालों की ही प्रधानता है तो उसने समानता के लक्ष्य से अपनी सभा के अधीन 'मर्चेण्ट्स कमेटी' की स्थापना की और खरीददारों के हितों पर विचार किया जाने लगा। इस सम्बन्ध में हमने 'मारवाड़ी चैम्बर आफ कामर्स' वाले प्रकरण में बहुत कुछ लिखा है।

'वैश्य सभा' ने बड़ाबाजार में विशेष कर मारवाड़ी समाज में सार्वजनिक जीवन पैदा करने के लक्ष्य से अपने अधीन 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' की स्थापना की जो कि, डिबेटिंग क्लब के रूप में समाज के नवयुवकों का ज्ञान बढ़ाने और उनमें भाषण देने की शक्ति उत्पन्न करने आदि के आवश्यक कार्य करने लगी। इस संस्था ने बड़ेबाजार के नवयुवकों में जीवन डाल दिया। उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान करा दिया। जब यह संस्था बनाई गई थी, उस समय यह अवस्था थी कि, मारवाड़ी नवयुवक किसी विषय पर व्याख्यान दे सकते हों यह तो बहुत दूर रहा, किसी विषय पर भले प्रकार वे अपने विचार भी प्रकट नहीं कर सकते थे। उस समय सदस्यों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों को बुला-बुला कर व्याख्यान कराये जाते थे। बाबू देवीबक्स सराफ, नागरमल मोदी, जमनाधर डरोलिया आदि दो-चार व्यक्ति कुछ बोल लिया करते थे, फिर भी सर्वसाधारण युवकों में वैसी बात न थी। इस संस्था के साथ इन

मारवाड़ी समाज में स्वदेशी और राजनीति की जीवन ज्योति जगानेवाले



महाराष्ट्रवीर स्वर्गीय सखारामजी गणेश देउस्कर

पंक्तियों के लेखक का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। मंत्रित्व का कार्य भार इसे ही सौंपा गया था। यद्यपि इसमें उत्साह था तथापि बुद्धिवर्द्धिनी सभा के मंत्री की सी योग्यता न थी। परन्तु सौभाग्यवश ऐसे सुयोग्य सभापति का साथ मिल गया था कि, सभा का कार्य-संचालन करने में कठिनाइयों का सामना बहुत कम करना पड़ा। सभापति थे बंगला 'हितवादी' के प्रधान सम्पादक स्वनामधन्य पं सखाराम गणेश देउस्कर जो महाराष्ट्र होते हुए भी बंगला भाषा के प्रकाण्ड पंडित थे और हिन्दू इतिहास और राजनीति के प्रखर विद्वान् थे। यही कारण था कि, उस समय के बंगाल के सब से अधिक प्रभावशाली पत्र का सम्पादन करने का गुरुतर कार्य वे किया करते थे। इसी से पाठक समझ सकते हैं कि, विद्या में बृहस्पति कहे जानेवाले प्रान्त में एक महाराष्ट्र को यह पद दिया गया था। इस दृष्टि से वे कितने सुयोग्य थे, उसे पाठक समझ सकते हैं। उन्होंने बड़ाबाजार के धनसम्पन्न मारवाड़ियों में राजनीति के प्रचार की भावना से सभापति बनना स्वीकार किया था। वे लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे। बड़े त्यागी और परम देशभक्त थे। वैसे ही अध्यवसायी और बड़े मिलनसार तथा सहृदय भी थे। एक बड़े पत्र का सम्पादन करते हुए उन्होंने 'देशेर कथा' और 'बाजीराव' जैसी पुस्तकें लिखीं और बंगाल को जगाया। देश के कामों में इस तरह अनवरत लगे हुए होने पर भी वे 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' को नियमित रूप से अपना समय देते थे। शायद ही कोई ऐसा अधिवेशन हुआ हो, जिसमें वे उपस्थित न हुए हों या प्रत्येक अधिवेशन में नाना प्रकार के विषयों पर व्याख्यान देकर नवयुवकों में ज्ञान की वृद्धि न की हो तथा उनमें देशभक्ति का मन्त्र न फूंका हो। उन्होंने सभा में नियम बना दिया था कि, प्रत्येक सदस्य के लिए किसी न किसी विषय पर बोलना अनिवार्य है, चाहे वह दो चार शब्द ही बोल कर बैठ जाय। ऐसा करने का लक्ष्य यही था कि, इस प्रकार किये बिना उनकी बोलने की झिझक नहीं मिट सकती थी। आरम्भ में यह कार्य एक प्रकार से

विनोद सा मालूम होता था, परन्तु कुछ समय बाद अनेक युवक अच्छी तरह व्याख्यान देना सीख गये। प्रत्येक अधिवेशन के लिए नया विषय रखा जाता था और उस पर वाद-विवाद तथा भाषण होते थे। देउस्करजी सभी विषयों को ऐसी खूबी से समझाते थे कि, लोगों में ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ राजनीतिक शिक्षा का प्रचार भी हो जाता था। यही कारण था कि, एक समय पं० माधवप्रसादजी मिश्र ने लिखा था कि, 'बड़ेबाजार के विद्याविहीन मारवाड़ियों को एक महाराष्ट्र युवक राजनीति की शिक्षा दे रहा है और मारवाड़ी नवयुवकों में बड़ी तेजी के साथ राजनीति के भाव वृद्धि पा रहे हैं।' उस नयी जागृति के समय मारवाड़ियों में कर्त्तव्य-ज्ञान और राजनीति की भावना का उदय हुआ। उसका सर्वाधिक श्रेय पं० सखारामजी को है।

'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' ने स्वदेशी वस्तु के प्रचार का भी बहुत बड़ा काम किया। जिस समय विलायती वस्तुओं के अतिरिक्त स्वदेशी वस्तुओं का नाम मात्र शेष रह गया था, उस समय 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' में स्वदेशी वस्तुओं का संग्रह कर प्रदर्शिनियाँ की जाती थीं। साथ ही अनेकों नवयुवक जो जन्म से ही विलायती वस्त्रों के पहनने के आदी थे, स्वदेशी वस्त्रों का व्यवहार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध किये जाते थे। स्वदेशी के सम्बन्ध में सब से पहले इसी सभा ने आवाज उठाई और प्रयत्न शुरू किया। इसके कारण सखारामजी थे क्योंकि स्वदेशी के सम्बन्ध में उनकी भावना बड़ी तीव्र थी। जिस समय बंगाल में स्वदेशी का व्यवहार नाम मात्र ही को था, उस समय देउस्करजी ने मारवाड़ियों को उसका महत्व बताया। सच तो यह है कि, बंगाल में ई० सन् १९०५ में जब बंगाल पार्टीसन के समय स्वदेशी का आन्दोलन छिड़ा, उसके पहले ही 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' द्वारा देउस्करजी ने सुप्रसिद्ध वाग्मी व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयालुजी शर्मा से स्थानीय 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी विद्यालय' में 'स्वदेशी का प्रचार' विषयक व्याख्यान कराया था।

विदेशी वस्त्रों के व्यापारी मारवाड़ियों द्वारा संचालित विद्यालय-भवन में स्वदेशी के प्रचार का व्याख्यान कराना एक सर्वथा अनोखी और अनहोनी बात थी। परन्तु यह 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' का ही काम था कि, विद्यालय-भवन में पहले-पहल स्वदेशी-प्रचार की शंखध्वनि की गयी। यद्यपि अंगरेजी आफिसों से सम्बन्ध रखनेवाले विदेशी वस्तुओं के व्यापारी कितने ही धनसम्पन्न भाई इस व्याख्यान से झुंझला उठे थे और विद्यालय के तत्कालीन मन्त्री रूड़मलजी गोयनका को दूसरे दिन होनेवाले व्याख्यान को रोक देना पड़ा था तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि, देउस्करजी की प्रेरणा से बड़ेबाजार में सब से पहले 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' ने ही स्वदेशी का बीज वपन किया।

शिक्षा के महत्व के सम्बन्ध में इस सभा ने नवयुवकों के हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। वे गुरुशालाओं के अतिरिक्त अपने बालकों को स्कूलों में भी अधिक संख्या में भेजने लगे। उस समय पढ़नेवाले विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ाया जाता था। उदाहरण के लिये यह लिखना पर्याप्त होगा कि, जिस समय नौरंगरायजी खेतान के पुत्र देवीप्रसाद, कालीप्रसाद और दुर्गाप्रसाद आदि उच्च शिक्षा की ओर बढ़ रहे थे उस समय 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' की ओर से मन्त्री द्वारा स्थानीय 'भारतमित्र' में समय-समय पर उनकी उत्तीर्णता पर लेख लिखकर उनका उत्साह बढ़ाया जाता था। श्री० बद्रीदासजी गोयनका ने जब बी० ए० पास किया तो सभाने बड़ा हर्ष मनाया था और उन्हें सभा द्वारा बधाई दी गई थी। सारांश यह कि, 'वैश्य सभा' और उसके अधीनस्थ 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' ने उस समय समाज में विद्या प्राप्त करने की रुचि और उत्साह पैदा करने में बहुत अधिक भाग लिया।

बड़ाबाजार में पुरानी संस्थाएँ और नवीन ढंग की कई सभा-सोसाइटियाँ होने पर भी जितना महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य 'वैश्य सभा' और 'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' ने किया, उतना शायद ही किसी

दूसरी संस्था ने किया हो। यही कारण था कि, एक वार वड़े-बाजार में वैश्य सभा का नाम और प्रभाव बहुत अधिक हो गया था। पर खेद के साथ लिखना होगा कि, इस बढ़ती हुई संस्था में भी आगे चलकर विघटन दीख पड़ने लगा। व्यक्तिगत सत्ता की दुर्भावना से यह संस्था भी वंचित न रह सकी। इस संक्रामक रोग ने वैश्य सभा को भी धर दबाया। सत्यता के लिहाज से खेद के साथ यह लिखना होगा कि, जिन बाबू रामकुमार गोयनका ने अपने अनवरत परिश्रम और लगन से इस संस्था को महान् बनाया था, वे भी व्यक्तिगत भावना और सत्ता के शिकार हो गये। जब तक इस संस्था का कार्य वे सार्वजनिक हित की भावना से करते रहे और नाम पाने का कीटाणु उनमें प्रवेश नहीं हुआ तव तक संस्था की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हुई, परन्तु उसके वाद व्यक्तिगत सत्ता की भावना और गुरुडम का रोग उनमें आने लगा तो कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनसे सदस्यों में पारस्परिक अविश्वास और वैमनस्य दीख पड़ने लगा। दलबन्दियाँ होने लगीं। कई अप्रिय काण्ड भी हुए। उन सब का उल्लेख करने की हमारी इच्छा नहीं है। सिद्धान्त रूप से हमें यह बतलाना है कि, मारवाड़ी समाज में नवीन सभा-सोसाइटियों द्वारा पहले-पहल कार्य-आरम्भ तो बड़े उत्साह से हुआ, परन्तु आगे चलकर प्रायः सभी संस्थाओं में कार्यकर्तागण अपने वास्तविक ध्येय पर कायम न रह सके और जिस प्रकार संस्था की उन्नति हुई, उसी प्रकार उनमें व्यक्तिगत सत्ता जमाये रखने की लालसा ने सार्वजनिक भावना को बदल दिया। इस रोग से वैश्य सभा भी न बच सकी और उसका परिणाम इतना खेदजनक हुआ कि, आगे चलकर इस संस्था का अस्तित्व तक भी नहीं रह सका। परन्तु यह अवश्य है कि, यद्यपि इस संस्था का अस्तित्व अब नहीं है, तथापि इसके द्वारा होनेवाले अनेक कार्य अब भी बने हुए हैं।

यह सभा पाटन निवासी पण्डित देवीसहायजी के उद्योग से बहुत पहले स्थापित हुई थी। मारवाड़ी समाज के ब्राह्मणों में उक्त पंडितजी बड़े आदर्श व्यक्ति थे। सुधार भावना भी उनमें बहुत थी। उन्होंने इस सभा को स्थापित कर कई एक आवश्यक काम किये। कलकत्ते में ६४ खानगी ब्राह्मणियों की दक्षिणा बन्द करने का आन्दोलन उन्होंने उठाया था और सेठ सूर्यमलजी झूँझनूवाले आदि वैश्य नेताओं से मिल कर उनकी दक्षिणा बन्द कर दी थी।

धर्म सभा—

इसका जन्म वि० संवत् १९६१ में भिवानी निवासी पं० माधवप्रसादजी मिश्र के उद्योग से हुआ था। बाबू रूड़मलजी गोयनका, फूलचन्दजी हलवासिया आदि मारवाड़ी वैश्य इसके संचालकों में थे। पहले सभापति फूलचन्दजी हलवासिया और बाद में रूड़मलजी गोयनका मनोनीत हुए थे। पं० सोमनाथजी झाड़खंडी मन्त्री का काम करते थे। पं० माधवप्रसादजी मिश्र के अतिरिक्त पं० गोविन्दनारायणजी मिश्र, पं० सखाराम गणेश देउस्कर, पं० दुर्गाप्रसादजी मिश्र, शिवचन्द्रजी भरतिया और पण्डित छोटेलालजी मिश्र बहुत अधिक भाग लेते थे। यह सभा साहित्यिक विषयों पर व्याख्यान और निबन्ध पाठ कराती थी। हिन्दी का एक विशाल कोष बनाने के लिए इसने कार्य आरम्भ किया था, परन्तु 'सरस्वती' सम्पादक पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के परामर्शानुसार तब तक के लिये यह कार्य स्थगित कर दिया गया था जब तक कि, हिन्दी भाषा में काफी शब्दों का प्रचार न हो जाय। लेखक को याद है कि, इसी सभा में एक बार बाबू रामदेवजी चोखानी ने एक निबन्ध पाठ किया था जो सदस्यों को बहुत पसन्द आया था। खेद है कि, इस संस्था का भी अब अस्तित्व नहीं है।

हिन्दी-साहित्य सभा—

'बुद्धि-वर्द्धिनी सभा' के कतिपय सदस्यों ने स्वतन्त्र रूप से इसका निर्माण किया था। बाबू रूड़मलजी गोयनका इसके उद्योगी थे और उन्हीं के मकान पर यह सभा स्थापित हुई थी। कुछ समय तक इस सभा ने युवकों में चरित्र सुधार का काम किया। पर बाद में यह शीघ्र ही बन्द हो गयी।

आचरण सुधार सभा—

इस संस्था का जन्म उस समय हुआ जब कि, मारवाड़ी समाज वाणिज्य-व्यापार में यथेष्ट उन्नति और व्यापारिक क्षेत्र में शीर्ष स्थान प्राप्त कर चुका था। परन्तु, इस सभा ने सार्वजनिक रूप धारण न कर साम्प्रदायिक रूप धारण किया जैसा कि, इसके नाम से ही प्रकट होता है। मारवाड़ी समाज में जब साम्प्रदायिक तनातनी पैदा हुई उस समय उसमें इस सभा का प्रमुख भाग रहा और समाज में बड़ा पारस्परिक वैमनस्य बढ़ा जातीय संगठन की दृष्टि से उसका परिणाम समाज के लिये बड़ा भयंकर हुआ। यह इतिहास बहुत बड़ा है, जिसका उल्लेख प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। इस सभा की धाक एक समय सांप्रदायिक क्षेत्र में बहुत रही। अब भी इसका अस्तित्व तो देखा जाता है, पर पहले जैसा प्रभाव नहीं है।

सनातन धर्मावलम्बीय अग्रवाल सभा—

यहाँ पर सब से पहले यह उल्लेख करना आवश्यक है कि, मारवाड़ी जाति के राजपूत, अग्रवाल और ओसवाल समाजों के व्यक्ति ही पहले-पहल बंगाल में आये। वह ई० सन् की १६ वीं सदी का मध्य काल था। उस समय उनके साथ माहेश्वरी समाज के व्यक्ति भी आये हों, ऐसा परिचय नहीं मिलता। माहेश्वरी समाज के व्यक्ति बहुत पीछे आये। पता लगता है कि विक्रमी संवत् १६०० के बाद ही माहेश्वरियों का अधिक आना हुआ है। माहेश्वरी समाज के व्यक्तियों ने बंगाल में आकर या तो बैंकिंग के ढंग से सराफी का काम किया या उन्होंने माल की खरीद बिक्री के काम में अधिक भाग लिया। अंगरेजी आफिसों में काम करने-

माहेश्वरी सभा और डीडू पंचायत—

वालों की सूची में केवल चूरू के छोगमलजी पेड़ीवाल का नाम मिलता है, जिन्होंने बड़ी योग्यता से काम किया और उनके वंशधर आज भी किसी न किसी रूप में आफिसों का काम करते देखे जाते हैं। माहेश्वरी समाज के व्यक्ति यद्यपि बंगाल में बहुत पीछे से आये तथापि उन्होंने व्यापार में देखते-देखते बहुत अधिक उन्नति की। सराफी के फर्मों में इस समाज का स्थान प्रमुख हो गया। हुण्डी-पुर्जे के काम में इन्होंने अपने धन का बहुत अधिक विनिमय किया। यद्यपि इधर कुछ समय से सराफी के फर्म प्रायः बन्द हो गये हैं तथापि यह कहना सर्वथा उचित होगा कि, माहेश्वरी समाज इस समय वाणिज्य-व्यापार और वैभव में किसी भी समाज से कम नहीं है। इस समाज में न केवल अनेक फर्म लखपति और करोड़पति ही हो गये हैं, बल्कि राजा, रायबहादुर, दीवान और के० सी० आई० ई० आदि अनेक उपाधियों से भी विभूषित हैं।

इस समाज की जातीय संस्थाओं में हम सबसे पहले 'माहेश्वरी सभा' का नाम पाते हैं। इस सभा का जन्म भी बड़े उत्साह से हुआ था। इस सभा में सभी विचारों के माहेश्वरी भाई सार्वजनिक रूप में भाग लेते थे। यही कारण था कि, अनेक कार्य इसने अपनी प्रथम अवस्था में सम्पन्न किये। यह एक उल्लेखनीय बात है कि, कलकत्ते में अग्रवाल, ओसवाल आदि सम्पन्न समाजों के रहते हुए भी बड़ाबाजार में सबसे पहले इसी सभा ने 'माहेश्वरी भवन' का निर्माण किया जो कि, न केवल माहेश्वरी समाज की ही आवश्यकता पूरी कर रहा है बल्कि बड़ेबाजार में सार्वजनिक सभा आदि-आदि कार्यों में भी इसका बहुत उपयोग हो रहा है। 'माहेश्वरी भवन' निर्माण करने में बाबू युगलकिशोर बिड़ला और रामकृष्ण मोहता का उद्योग प्रधान था। इस सभा द्वारा 'माहेश्वरी विद्यालय' नामक एक हाई स्कूल भी चलता है। इसमें भी प्रति वर्ष अनेक छात्र उत्तीर्ण होते हैं।

यह खेद की बात है कि, इस उन्नत समाज में भी सामाजिक ऐक्य कायम नहीं रह सका। व्यक्तिगत सत्ता की भावना ने इस समाज पर भी

अपना रंग जमाया और व्यक्तियों में परस्पर मतभेद हो गया। सुप्रसिद्ध बिड़ला परिवार में राजा बलदेवदासजी के पुत्र रामेश्वरदास ने समाज-सुधार की भावना से जब कोलवार परिवार में अपना विवाह कर लिया तो इस समाज में बड़ी हलचल मची। कुछ लोगों ने कहा कि, कोलवार माहेश्वरी नहीं हैं। कुछ ने कहा कि, कोलवार जाति माहेश्वरी जाति की ही एक शाखा है और उसके साथ सम्बन्धादि करना जातीय कर्त्तव्य है। परन्तु किसी प्रकार का सन्तोषप्रद और शान्तिजनक समझौता नहीं हो सका। एक ओर 'माहेश्वरी सभा' कोलवार सम्बन्ध के पक्ष में हो गयी और जो व्यक्ति विरुद्ध थे उन्होंने 'डीडू माहेश्वरी पंचायत' के नाम से अपनी एक दूसरी जातीय संस्था कायम की। डीडू पंचायत का भी एक बार अच्छा रंग जमा परन्तु उसमें जातीय भावों के बजाय साम्प्रदायिकता ही अधिक देखने में आई। यह झगड़ा इतना बढ़ा कि, माहेश्वरी समाज के प्रत्यक्षतया दो टुकड़े हो गये। अवस्था यहाँ तक पहुंची कि, भाई भाई और बाप-बेटों तक में ही नहीं, किन्तु लड़की और जँवाई आदि का पारस्परिक व्यवहार भी बन्द होने लगा। माहेश्वरी जाति के न केवल नवयुवकों में ही किन्तु प्रौढ़ और वृद्धों में भी एक अजीब तरह की धुन देखी जाने लगी। इस समाज के व्यक्तियों में यह एक विचित्रता देखने में आती है कि, जो बात पकड़ ली जाती है, उसे छोड़ने और सुधारने को कोई तैयार नहीं होता। अगर यह बात न होती तो यह कदापि सम्भव नहीं था कि, यह पारस्परिक वैमनस्य और आन्दोलन इतना उग्र रूप धारण कर सकता जो कि, किसी प्रकार भी मिटाये नहीं मिटता। आज भी कुछ लोगों में वही धुन और वही जिद बनी हुई देखी जाती है और काम पड़ने पर अपनी बात के लिए सर्वस्व लगाने को भी तैयार हो जाते हैं। इस जाति के व्यक्तियों में अपनी बात को बना रखने की धुन जितनी पारस्परिक विवाद में है, उतनी यदि विवाद को हटा कर जातीय संगठन और सार्वजनिक हित में हो जाय तो हमारा विश्वास है कि,

इस समाज द्वारा देश तथा समाज का बहुत अधिक हित हो सकता है।

मारवाड़ी समाज में ओसवाल जाति का स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत गौरव का है। राजस्थान का प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास हमें बतलाता है कि इस समाज के पूर्व पुरुषों ने न केवल वाणिज्य-व्यापार में ही उन्नति की थी अपितु राजनैतिक क्षेत्र में भी श्लाघनीय भाग लिया था। साधारणतया वैश्य कर्म करते हुए भी इस समाज के अनेक व्यक्तियों ने राजस्थान की बड़ी-बड़ी रियासतों में जिम्मेदार पदों को प्राप्त कर अपनी योग्यता का परिचय दिया था। साधारण पदों के अतिरिक्त वे सेनापति और प्रधान अमात्य तक बने थे। ऐसे दस बीस और पचास ही नहीं, किन्तु सैंकड़ों व्यक्तियों के नाम राजस्थान के इतिहास में पाये जाते हैं, जिन्होंने राजनीति, राज्य-संचालन और युद्धादि में भाग लेकर बड़े-बड़े काम किये थे। हमारी इच्छा थी कि, हम उन सभी कर्मवीर पूर्व-पुरुषों के सम्बन्ध में विस्तार के साथ वर्णन करें और पाठकों को बतलावें कि, मारवाड़ी समाज के इस अंग ने किस किस समय कैसे कैसे महत्व-पूर्ण कार्य किये थे। पर खेद है कि, इस पुस्तक में इतना स्थान नहीं है कि, हम उनके विषय में विस्तार के साथ कुछ लिख सकें। संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि, राजस्थान के प्राचीन इतिहास में ओसवाल जाति की देश-सेवा सर्वापेक्षा अधिक रही है। वीरवर भामासाह को कौन भुला सकता है, जिन्होंने देश की आवश्यकता का अनुभव कर करोड़ों की सम्पत्ति का मोह नहीं किया और स्वदेश-रक्षा की पवित्र भावना से अपनी सारी सम्पत्ति महाराणा के चरणों में रख दी थी? इसके अतिरिक्त पाठक जान चुके हैं कि, ईस्वी सन् की १८ वीं सदी में बंगाल की राजनीति और उसका संचालन जगतसेठों की इच्छा पर ही अवलंबित रहा था।

ओसवाल समाज और उसकी संस्थाएँ—

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे लब्धप्रतिष्ठित समाज के सम्बन्ध में आज

यदि यह कहना पड़े कि, इस समय उसमें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है तो यह कम खेद की बात न होगी। आज तो प्रायः यह अवस्था देखने में आती है कि, यह समाज पूर्वापेक्षा सुदक्ष व्यापारी और अधिक धन संपन्न होने पर भी उसमें स्वजाति और स्वदेश की भावना पहले की अपेक्षा बहुत कम हो चली है। यद्यपि इस समाज के कुछ विशेष-विशेष व्यक्ति आज भी देशसेवा के व्रती बने हुए हैं और समय-समय पर बड़े से बड़ा त्याग करते देखे जाते हैं तथा कुछ नवयुवक उच्च शिक्षा की ओर भी बढ़ते देखे जाते हैं तथापि एक तो उनकी संख्या अंगुलियों पर गिनने लायक है, दूसरे पूर्व इतिहास और पूर्व सुकृति की दृष्टि से वह नहीं के बराबर है। यह कितने खेद की बात है कि, जहाँ मारवाड़ी समाज के अन्य व्यक्ति देश और समाज-सेवा के लिए अपने पैर कुछ आगे बढ़ा रहे हैं, वहाँ ओसवाल समाज का एक बहुत बड़ा भाग पश्चात्पद होता देखा जाता है। पाठक एक निगाह दौड़ा कर देख सकते हैं कि, इस समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा केवल धनमद में मस्त रहना ही पसन्द करता है। उसे शायद यह भी मालूम नहीं है कि, देश में क्या हो रहा है और समाज किधर जा रहा है ? उसके प्रति उनका कोई कर्त्तव्य भी है या नहीं ? उनमें से कुछ व्यक्ति तो ऐसे दीख पड़ते हैं कि, अच्छा खाना और अच्छा पहनना—यही उनके जीवन की इतिकर्त्तव्यता है। देश और समाज के कार्यों में क्रियात्मक रूप से भाग लेना तो दूर रहा, कोई आर्थिक सहायता का प्रश्न भी सामने आता है तो वे अपने कर्त्तव्य-पालन से प्रायः विमुख ही देख पड़ते है। इनमें से ऐसे बहुत कम आदमी हैं, जो देश और समाज की आवश्यकताओं को समझने और उसकी ओर ध्यान देने की पर्वाह रखते हों, यह कम कष्टप्रद बात नहीं है। यह आलोचना हमारे भाइयों को कटु सी प्रतीत हो सकती है; परन्तु सचाई से देखा जाय तो यह सर्वथा सत्य है।

आवश्यकता इस बात की है कि, ओसवाल समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति अपने पूर्व इतिहास का मनन करें और अपने पूर्वजों की सार्वजनिक

सहृदय चिकित्सक भिवानी निवासी



स्वर्गीय पंडित चिरंजीलालजी वैद्य

सेवा और उनके त्याग का अनुकरण करें। धनमद में मस्त रह कर केवल अपने शरीर का ही पालन करते रहना न तो मनुष्योचित कार्य है और न उसकी शोभा ही है। हम आशा करते हैं कि, इस समाज के वे भाई जो कि, देश और समाज की सार्वजनिक सेवा से पृथक् रहते हैं अपने कर्त्तव्य का अनुभव करेंगे और अपने पूर्वजों की तरह ही देश और समाज-सेवा में अधिकाधिक भाग लेंगे।

ओसवाल समाज में यद्यपि छोटी-बड़ी कई सभा-सोसाइटियों का अस्तित्व देखा जाता है जैसे कि, 'जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा' 'जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी सभा' आदि। परन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि, ये सब सार्गजनिक संस्थाएँ नहीं हैं। इन सब का सम्बन्ध प्रायः साम्प्रदायिकता से ही है। हाँ, यह हर्ष की बात है कि, इधर कुछ दिनों से इस समाज के नवयुवकों के उत्साह से 'अखिल भारतवर्षीय ओसवाल सम्मेलन' नामक एक सार्गजनिक संस्था का गठन हुआ है। यह सम्मेलन यदि सार्वजनिक भावना से कार्य करने में अग्रसर होगा तो आशा है कि, इस समाज में अब तक जो अभाव रहा है, उसकी पूर्ति हो सकेगी। आवश्यकता यह है कि, ओसवाल समाज के सभी वर्गों और सभी संप्रदायों के व्यक्ति उसमें जातीयता की भावना से योग दें, जिससे न केवल ओसवाल समाज का ही गौरवपूर्ण हित साधन हो सके, अपितु देश और समस्त मारवाड़ी समाज का गौरव भी बढ़ सके।

ब्राह्मण समाज और उसकी संस्थाएँ—

कलकत्ते में 'ब्राह्मण सभा' का स्थापित होना निश्चय ही एक महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य था, क्योंकि समाज के चारों वर्णों में ब्राह्मणों का स्थान प्राचीन समय से प्रधान रहता आया है। सच तो यह है कि, प्राचीन समय के ब्राह्मण विवेकशील, त्यागी और निस्पृह थे और उनके सदुपदेशों के आधार पर सभी वर्णों का संचालन हुआ करता था। इस दृष्टि से 'ब्राह्मण सभा' का होना बहुत ही आवश्यक था। परन्तु

इस सभा ने जन्म लेकर प्राचीन समय के अनुसार अन्य वर्णों के लिए ब्राह्मणोच्चित कोई ठोस कार्य करने में भाग लिया हो, ऐसा परिचय हमें नहीं मिलता। यह सभा समय का रुख देख कर ब्राह्मणोचित भावना से सभी समाजों के समक्ष कोई आवश्यक कार्यक्रम रखती तो इसके द्वारा समाज का बड़ा भारी हित-साधन हो सकता था परन्तु खेद है कि इस सभा को ऐसा करने का मौका ही नहीं मिला। इतना होने पर भी हम यह कह सकते है कि, 'ब्राह्मण सभा' ने जो भी कुछ किया, वह उसका निज का कार्य था।

'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' अपना पृथक् रूप धारण न कर यदि ब्राह्मण सभा का ही साथ देती तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि, 'ब्राह्मण सभा' की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती और उसके द्वारा ब्राह्मणोचित कोई ठोस कार्य भी हो सकता। परन्तु हमने पहले बतलाया है कि, नवीन सभा-सोसाइटियों के अस्तित्व से चाहे और कुछ हुआ हो या न हुआ हो परन्तु सार्वजनिक भावना घट कर व्यक्तिगत सत्ता और गुटबन्दी की भावना का असर समाज पर बहुत अधिक पड़ा। यही कारण था कि, 'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' की भी स्वतन्त्र स्थापना हुई। इस सभा का जन्म उस समय हुआ, जिस समय कि, मारवाड़ी वैश्य समाज में पारस्परिक खासा वैमनस्य और विघटन हो रहा था। जातीयता के भावों की पर्वाह न कर लोग व्यक्तिगत भेदभाव और रागद्वेप में लगे हुए थे। यदि यह कहा जाय कि, 'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' के जन्म लेने का भी प्रधान कारण वैश्य समाज का विघटन ही था तो शायद अनुचित न होगा। हमारी तो यह धारणा है कि, साधारणतया ब्राह्मणों में वैश्यों के प्रति किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था और सर्वसाधारण ब्राह्मण वैश्यों की आर्थिक उन्नति देख कर प्रसन्न और मस्त रहते थे। परन्तु कुछ वैश्यों ने जो कि, पारस्परिक रागद्वेप के शिकार हो रहे थे, अपना उल्लू सीधा करने के लिए ब्राह्मणों का सहारा लिया और अपने धन के प्रभाव से कुछ प्रभावशाली ब्राह्मणों को अपने



फतहपुर-निवासी

सिद्धहस्त चिकित्सक पं० जगन्नाथजी गुँसाई

अनुकूल बना लिया। हमारी स्मृति जहाँ तक हमें साथ देती है, हम यह कह सकते हैं कि, उस समय ब्राह्मण समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति अवश्य ही उन स्वार्थी वैश्यों के फेर में पड़ना पसन्द नहीं करते थे और उनकी यह भावना भी नहीं थी कि, वैश्य समाज के साथ किसी प्रकार का संघर्ष खड़ा किया जाय परन्तु दो चार सज्जनों ने अपने प्रभाव से 'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' के नाम पर साम्प्रदायिक वैमनस्य छेड़ दिया, जिसका परिणाम साम्प्रदायिकता के हित में तो शायद ही हुआ हो परन्तु यह तो अवश्य देखने में आया कि, कटुता बढ़ने लगी और प्राचीन काल से श्रद्धा की दृष्टि से देखे जानेवाले ब्राह्मणों के प्रति कुछ लोगों की भावना भी बदल चली। अवश्य ही इस सभा ने उस समय मारवाड़ी समाज में एक प्रकार का बड़ा भारी आतंक उपस्थित कर दिया था और इसके नाम की धाक भी पड़ने लगी थी तथापि सार्वजनिक दृष्टि से यह कहना पड़ेगा कि, परिणाम दोनों ओर ही अच्छा नहीं हुआ। आवश्यकता यह है कि, पूजनीय ब्राह्मण समाज अपने पूर्व गौरव और महत्ता को समझे और अपनी भावी सन्तानों को ऐसी शिक्षा दे, जिससे वे प्राचीन काल के से सच्चे ब्राह्मण सिद्ध हों और सभी वर्णों का पहले जैसा नेतृत्व कर सकें।

आज ब्राह्मण समाज के प्रति चाहे लोगों की पहले जैसी श्रद्धायुक्त भावना न रही हो और उसका कारण भी स्पष्ट देख पड़ता हो, परन्तु हमारा तो अब भी यह विश्वास है कि, ब्राह्मण समाज यदि अपनी कमियों का सुधार कर सच्चे ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सके तो न केवल मारवाड़ी समाज ही, किन्तु सारा भारतवर्ष उसकी प्रधानता स्वीकार करने के लिए तैयार हो सकता है। आवश्यकता केवल यही है कि, प्राचीन समय के अनुसार वे सच्चे, ज्ञानी और त्यागी सिद्ध हों और लोकोपकार का व्रत धारण करें।

मारवाड़ी समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि सभी वर्णों के होने पर भी आर्थिक दृष्टि से वैश्य समाज की गणना कुछ समय से विशेष रूप से होने लगी है। वैश्यों में अग्रवाल, माहेश्वरी, ओसवाल, खंडेलवाल आदि उप-जातियाँ हैं, जो कि, आर्थिक दृष्टि से प्रायः सभी सम्पन्न कही जा सकती हैं। इतना होने पर भी यह कहना शायद अत्युक्ति नहीं है कि, इन उप-जातियों में भी सर्वापेक्षा अग्रवाल जाति की प्रधानता है। एक तो इस जाति के व्यक्तियों की संख्या सर्वापेक्षा अधिक है, दूसरे इस जाति के व्यक्ति सार्वजनिक कार्यों में भी अधिक भाग लेते हैं। यदि यह कहा जाय कि, इस जाति के कार्यों का नैतिक असर अन्य सभी समाजों पर पड़ता है तो शायद यह भी अनुचित नहीं है। हमने पहले बतलाया है कि, बंगाल में आने पर मारवाड़ी जाति के अभाव अभियोगों का विचार समाज की बड़ी पंचायत करती थी तथा वि० सं० १९१८ में जब बड़ी पंचायत में केवल अग्रवालों की ही प्रधानता रह गयी तब भी मारवाड़ी समाज के सार्वजनिक कामों का विचार उसी में होता रहा और उसका निर्णय प्रायः सभी समाजों के व्यक्ति मानते थे। परन्तु ई० सन् १९०० के बाद जब समाज में नयी जागृति उत्पन्न हुई और नवीन ढंग की सभा-सोसाइटियों का प्रचार होने लगा तो पंचायत की सत्ता घट चली और सभी समाजों में वर्ग विशेष के रूप में सभा-सोसाइटियों का दौरदौरा हो गया। इस अवस्था में अग्रवाल समाज में भी नयी पद्धति के अनुसार स्वतन्त्र रूप से जातीय सभा खोलने की चर्चा होने लगी। यह कहना उचित होगा कि, श्री० जमनालालजी बजाज की कल्पना और उन्हीं के विशेष उद्योग से 'अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा' का जन्म हुआ। पहला अधिवेशन सी० पी० प्रान्त के वर्धा नगर में बम्बई के सुप्रसिद्ध धार्मिक सेठ खेमराजजी बजाज के सभापतित्व में किया गया। उसके बाद बम्बई, कलकत्ता, अजमेर, उज्जैन, कानपुर और दिल्ली आदि नगरों में प्रतिवर्ष बड़े समारोह के

मारवाड़ी अग्रवाल महासभा—

वेंकटेश्वर प्रेस के संचालक, धर्मनिष्ठ



स्वर्गीय सेठ खेमराजजी बजाज (बंबई)

साथ महासभा के अधिवेशन होते रहे। यह कार्य इसी प्रकार प्रायः दस बारह वर्षों तक सफलतापूर्वक होता रहा। अग्रवाल महासभा ने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा सुन्दर उद्योग किया कि, उसके नाम का देखते-देखते डंका बजने लगा। उसका ऐसा प्रभाव जमा कि, उसके पहले शायद ही किसी दूसरी संस्था का जमा हो। यद्यपि कुछ कट्टर सांप्रदायिक व्यक्ति उससे तटस्थ भी रहे तथापि इस सभा ने समस्त भारतवर्ष में रहने-वाले अग्रवालों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। एक हजार के लगभग समस्त प्रान्तों में अपनी शाखा सभाएँ स्थापित की और उसके नाम की धाक पड़ने लगी। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा था कि, यही एक सभा है जो कि, केवल अग्रवालों की होने पर भी, मारवाड़ी समाज में सार्वजनिक प्रतिभा कायम कर सकती है। जो व्यक्ति उससे तटस्थ थे वे भी आगे चल कर उसके कार्यों से प्रभावित होने लगे। यह एक दूसरी बात है कि, चाहे वे अपनी जिद से या अन्य कारणवश महासभा में आकर नहीं मिले, तथापि महासभा के कार्यों और उसके प्रभाव से वे कायल होते देखे गये। बाल, वृद्ध और अनमेल विवाहों को रोकने में तो इस सभा ने ऐसा कार्य किया कि, लोगों का दृष्टिकोण ही बदल गया। इसके अतिरिक्त मृतक बिरादरी भोज को बन्द करने तथा फिजूलखर्चियों को हटाने में भी इतना भाग लिया कि सर्वसाधारण जनता महासभा की ओर विशेष रूप से आकर्षित होने लगी। ये कार्य तब तक होते रहे जब तक कि, संचालकों में सार्वजनिक जातीयता की भावना और समाज-संचालन की विशुद्ध नीति काम करती रही। ऐसा कई बार मौका आया कि, कुछ उग्र विचार के सुधारप्रिय व्यक्तियों ने क्रान्तिकारी सुधार करने की चेष्टा की और वैसा सुधार चाहनेवाले खास संचालकों में ही कई एक व्यक्ति थे, परन्तु, महासभा ने उनके वैसे विचारों को स्वतन्त्र विचार समझा और जब तक समाज का खासा बहुमत नहीं दीख पड़ा तब तक किसी भी विषय को प्रस्ताव का रूप नहीं दिया। उदाहरणार्थ 'विधवा विवाह' एक ऐसा

विषय था जिसकी आवश्यकता कुछ सदस्य अनुभव करते थे परन्तु, समाज का बहुमत उसके अनुकूल न होने से महासभा ने उस विषय को महत्व ही नहीं दिया और उस विषय को महासभा के स्टेज पर लाने में भी परहेज किया। महासभा ने उसी विषय को महत्व देना उचित समझा जिसके लिये व्यक्तियों के विचारों का आदान-प्रदान और काफी प्रचार होने पर जब देखा गया कि, बहुमत उसके अनुकूल हो गया है और तभी प्रस्ताव का रूप दिया गया। प्राचीन समाज नीति और पंचायत प्रथा सामाजिक कार्यों के लिए बहुमत को उतना महत्व नहीं देती थी जितना कि, नवीन सभा-सोसाइटियों की पद्धति देती है। पंचायत प्रथा और प्राचीन समाज नीति बहुमत पर झुकती अवश्य थी, पर जब तक सर्वसम्मति नहीं हो जाती तब तक प्रस्ताव अनिवार्य न होकर सम्मति के ही रूप में रहता था। मतलब यह कि, बहुमत होने पर भी स्वल्प मत बना ही रहता है और जब तक स्वल्प मत बना रहता है, सर्वसाधारण व्यक्तियों को पूरा सन्तोप नहीं हो सकता। यही समझ कर हमारे पूर्वजों ने बहुमत प्राप्त प्रस्ताव को सम्मति के रूप में पास करना उचित समझा था, जिसका स्पष्ट अर्थ यह था कि, उस विषय के अनुकूल मत न रखनेवाले व्यक्ति उस विपय से तटस्थ रह सकते थे और उस पर समाज ध्यान नहीं देता था। उसके बाद समाज में जैसा प्रचार होता तथा लोग उस प्रस्ताव द्वारा जैसा हानि लाभ अनुभव करते, तदनुसार विषय का सर्वसम्मत निर्णय होने का अवसर भी आ जाता था। यही भाव उस समय तक महासभा में भी काम करता रहा। यही कारण भी था कि, दस बारह वर्षों तक महासभा की दिन-प्रति-दिन उन्नति होती रही और उसका प्रभाव भी खूब जमा। कलकत्ते में जो व्यक्ति पहले दिन से महासभा से तटस्थ रहते आये थे, वे भी कोई ऐसा अनुकूल मौका देखने लगे कि, जिससे सम्मान के साथ महासभा में आ मिलते। कलकत्ते में तीसरी बार महासभा का अधिवेशन होनेवाला था। उस समय स्वागत-

कारिणी समिति में कुछ ऐसे व्यक्तियों ने भाग भी लिया था जो कि, इसके पूर्व महासभा के साथ सहानुभूति नहीं रखते थे। परन्तु अधिवेशन होने के प्रायः एक महीने पूर्व एक ऐसी घटना घटी कि, समाज का सार्व-जनिक संगठन होने के बजाय एक प्रकार का नया तूफान खड़ा हो गया। घटना यह थी कि, जानकी नामक एक बालविधवा का पुनर्विवाह झरिया के बाबू नागरमल ल्हीले के साथ कलकत्ते में हुआ। यह घटना समाज की प्रचलित प्रथा में सर्वथा नयी होने के कारण इससे बड़ी हलचल मची। विवाह गुपचुप नहीं, बल्कि बड़े प्रचार के साथ किया गया। इसका प्रमाण तो इसी एक बात से मिल जाता है कि, सर्वथा नयी बात होने पर भी उस पुनर्विवाह में प्रायः तीन सौ मारवाड़ी भाई शामिल हुए जिनमें कतिपय व्यक्ति ऐसे थे कि, जो कौतुहलपूर्वक शामिल हुए थे और कुछ व्यक्ति ऐसे थे जो कि, इस विषय की आवश्यकता समझते थे। यह घटना क्या घटी मानो समाज में भूचाल खड़ा हो गया। जो व्यक्ति महा-सभा के बन जाने से सामाजिक कार्यों से तटस्थ रहते हुए भी महासभा में आ मिलने का मौका देख रहे थे उनमें भी 'बासी कढ़ी' में उबाल आने की कहावत सिद्ध होती दीख पड़ने लगी। वे नये उत्साह से उठ खड़े हुए और उन्होंने ऐसा ऐलान किया कि, महासभा ही विधवा विवाह करा रही है। यद्यपि महासभा की ओर से स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया कि, होनेवाले विधवा विवाह में महासभा का कुछ भी हाथ नहीं है, क्योंकि महासभा ने इस विषय का अब तक कोई निर्णय नहीं किया है। जिन व्यक्तियों ने इस कार्य में भाग लिया है उनका वह स्वतन्त्र एवं व्यक्तिगत कार्य है। परन्तु इसका असर विरोधियों पर कुछ भी नहीं पड़ा और उन्होंने महासभा के विरुद्ध बड़े जोर का आन्दोलन उठाया और रातोरात कुछ व्यक्तियों ने 'अखिल भारतवर्षीय अग्रवाल महापंचायत' के नाम से एक संस्था खड़ी कर दी जो हर पहलू से महासभा का विरोध करने लगी। इस उधेड़बुन में महासभा के वार्षिक अधिवेशन का समय भी आ पहुंचा,

जो कि, कलकत्ते में होनेवाला था। मनोनीत सभापति श्री केशवदेवजी नेवटिया जब हवड़ा स्टेशन पर पहुँचे तो महासभा के हजारों सदस्यों और प्रेमियों ने बड़े उत्साह के साथ उनका स्वागत किया। परन्तु, विरोधियों ने काले झण्डों से उनके विरुद्ध प्रदर्शन किया। यहाँ तक नौबत आयी कि, कहीं-कहीं कीचड़, जूते और सोडावाटर की बोतलों का प्रयोग भी होता देखा गया। परिस्थिति इतनी भयंकर हो उठी कि, समाज में खासा द्वन्द्व मच गया।

महासभा ने अपने खुले अधिवेशन में विधवा विवाह का समर्थन नहीं किया और इस सम्बन्ध में पूर्ववत् अपनी तटस्थता ही प्रकट की। परन्तु इसका असर भी विरोधियों पर नहीं पड़ा। वे इतने अधिक आवेश में आ गये कि, खास-खास व्यक्तियों को चुन-चुन कर जाति से बहिष्कृत करने की घोषणा करने लगे। उस विवाह में शामिल होनेवाले मारवाड़ियों की संख्या तीन सौ के लगभग थी, परन्तु पंचायत में केवल उन १२ आदमियों का ही विचार किया गया जो कि, या तो महासभा में प्रमुख भाग लेनेवाले थे या कुछ व्यक्ति ऐसे थे जिनके साथ विरोधियों की पटती नहीं थी। इस प्रकार कुछ ही व्यक्तियों ने हठात् निर्णय कर डाला तो समाज में धड़ाबन्दी और पारस्परिक वैमनस्य और भी अधिक बढ़ने लगा। वास्तव में यह निर्णय सार्वजनिक नहीं था। यही कारण था कि, समाज में असन्तोष फैल गया। मामला-मुकदमा भी चला परन्तु कोई ऐसा मार्ग नहीं निकल सका जिससे समाज का यह विघटन किसी तरह से बन्द होता।

बहिष्कार की यह पद्धति बड़ी विचित्र थी। साधारणतया समाज की पुरानी नीति यह रही है कि, किसी भी व्यक्ति को जब जाति बाहर करने की आवश्यकता होती तो उसका सब पहलुओं से पूरा अनुसन्धान और विचार किया जाता और जब देख लिया जाता कि, विषय गुरुतर है, समाज के समस्त व्यक्तियों की एक राय है तथा अमुक निर्णय के विप-

रीत समाज का कोई व्यक्ति जाना नहीं चाहता, तो सर्वसम्मति से जाति-बहिष्कार का दण्ड दिया जाता था। जाति-बहिष्कार जैसे गुरुतर दण्ड का आधार बहुमत नहीं माना जाता था। परन्तु यहाँ निर्णय किया गया 'अखिल भारतवर्षीय अग्रवाल महापञ्चायत' के नाम से, परन्तु विचार के समय समस्त भारतवर्ष के अग्रवालों का मत जानना तो दूर रहा, स्थानीय अग्रवालों का भी सार्वजनिक मत नहीं लिया गया। इसका परिणाम जैसा होना था, वैसा ही हुआ। एक ओर तो इन लोगों ने १२ आदमियों को जाति बाहर करने की घोषणा की और दूसरी ओर समाज के अनेक व्यक्ति उन्हें अपनाने लगे। सबसे विचित्र बात यह भी देखी जाने लगी कि, जिन १२ व्यक्तियों को जिन लोगों ने जाति बाहर करने की घोषणा की थी, उनमें यह साहस प्रकट नहीं हुआ कि, जिन व्यक्तियों ने उन १२ आदमियों का साथ दिया है और खानपान तथा सामाजिक सम्बन्ध पूर्ववत् बना रखा है, उनका भी वह बहिष्कार करते अथवा कम से कम उनसे सामाजिक व्यवहार न रखते। देखा यह गया कि, उन १२ आदमियों का साथ देनेवाले व्यक्तियों की कभी रोक-थाम नहीं हुई और वे समाज में, यहाँ तक कि, बहिष्कृति की घोषणा करनेवालों के यहाँ भी पहले ही की तरह शामिल होते रहे। आगे चल कर इस विचित्रता का परिणाम यह हुआ कि, बहिष्कार पद्धति का महत्व ही घट गया। अब तो यहाँ तक हो गया है कि, सर्वसाधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या, बहिष्कार करनेवाले व्यक्ति भी कहीं-कहीं एक पंक्ति में बैठ कर हँसते-हँसते भोजन करते देखे जाते हैं। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि, चाहे उन १२ आदमियों का बहिष्कार पूर्ण रूप से सफल न हुआ हो, पर समाज में इस घटना से इतना जहर फैल गया कि, आगे चल कर समाज को वह दिन देखना पड़ा कि, जातीयता की दृष्टि से उसका कोई सिरधरू नहीं रहा।

इस वर्णन से पाठक यह न समझें कि, हमने इस विधवा विवाह और बहिष्कार सम्बन्धी विषय को किसी पक्षपातपूर्ण दृष्टि से लिखा है। हो

सकता है कि, कुछ व्यक्ति, जो कि, जातीयता की सार्वजनिक भावना से हट कर एक पक्ष के शिकार बन गये हैं, वे हमारे इस विवेचन को उचित न समझें, परन्तु हमने इन घटनाओं का जो उल्लेख किया है, उसका लक्ष्य यही है कि, कोई भी समाज क्यों न हो यदि उसमें समाज-नीति के आधार पर कार्य न होकर व्यक्तिगत भावना से या आवेश में आकर कार्य किया जाने लगता है तो वहाँ समाज की सार्वजनिकता और जातीयता के भाव नष्ट हो जाते हैं और यही आज हमलोग अपने समाज में मूर्त्तिमान देख रहे हैं। हो सकता है कि, जिस अवस्था में विधवा विवाह किया गया वह समाज-नीति के अनुकूल न हो और जिस प्रकार जिन कुछ व्यक्तियों ने आवेश में आकर बिना पूरा विचार किये ही, वहिष्कार कर डाला, वह भी समाज-नीति का घातक ही हो। यही कारण है कि हमने केवल वस्तु-स्थिति को ही सामने रखा है।

उचित तो यह था कि, जब विधवा विवाह किया गया तब विधवा विवाह को न चाहनेवाले व्यक्ति महासभा का विरोध न कर उसमें आ धमकते और अपने निश्चित बहुमत के आधार पर उस महाशक्तिशाली और बढ़ती हुई संस्था पर अपना कब्जा कर लेते। हमारी राय में इसका फल इतना सुन्दर होता कि उनके मतानुसार विधवा विवाह का प्रचार ही आगे न बढ़ पाता। परन्तु, खेद तो इस बात का है कि, लोग सभा-सोसाइटियों को अपनाने तो लगे हैं परन्तु सभा-सोसाइटियों की मूल नीति जो प्रजातन्त्रवाद है उसको कुछ भी नहीं समझते। वे तो यह समझते हैं कि, यदि उनके विचार के अनुसार कार्य नहीं होता है तो उस संस्था से ही हट जाना चाहिए और दूसरी संस्था बना कर उसका विरोध करना चाहिए। पर इसका परिणाम समाज-संगठन के लिए कितना हानिकर होता है इसकी वे पर्वाह नहीं करते। सच तो यह है कि इसी भूल के कारण आज सभा-सोसाइटियों की पद्धति अनुकूल सिद्ध नहीं हो रही है और मार-वाड़ी समाज उनके कारण असंगठित और धड़ाबन्दियों में परिणत हो गया है।

इस समय न तो प्राचीन समाज नीति के अनुसार जातीयता के भावों की रक्षा और समाज का संगठन हो रहा है और न नवीन सोसाइटियों की पद्धति के अनुसार प्रजातन्त्रवाद के सिद्धान्त का प्रचार हो रहा है। यही कारण है कि समाज ऐसी शोचनीय स्थिति में जा पहुंचा है कि, उसका सुधार और पुनर्गठन होना कठिन समझा जाने लगा है।

अब हम खास तौर पर दो शब्द महासभावादियों को तथा उन भाइयों के प्रति लिखना भी अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जिन्होंने १२ आदमियों के बहिष्कार की अनियमित घटना घटने पर भी, महासभा को जिस लक्ष्य से आगे बढ़ाया था उस लक्ष्य एवं ध्येय को सुरक्षित नहीं रखा। यदि वे लक्ष्य भ्रष्ट न होते तो उन पर जो भी मिथ्या आरोप लगाया गया था, वह ठहर नहीं सकता था और महासभा के कार्यों और उसकी प्रगति में कोई बाधा भी न पड़ सकती थी। पर खेद है कि, महासभा विरोधी आन्दोलन और बहिष्कार की घोषणा ने उन्हें चंचल और कर्त्तव्यच्युत कर दिया। वे भी इतने आवेश में आ गये कि, समाज-नीति और प्रजातन्त्रवाद आदि सभी को तिलांजलि दे बैठे। वे इतने अधीर हो गये कि, विधवा विवाह होने पर भी महासभा के मंच से जो विधवा विवाह के प्रति तटस्थता प्रकट की गयी थी, उसे निवाह नहीं सके। उनमें से वे व्यक्ति जो उग्र विचार रखते थे और महासभा के संचालकों में भी थे, बहुमत का दुरुपयोग करने पर उतारू हो गये। जिस प्रकार महापंचायतवालों ने बहिष्कार की विधि का दुरुपयोग किया, उसी प्रकार उन्होंने भी मनमाने ढंग से बहुमत का दुरुपयोग किया—महासभा की व्यापकता की दृष्टि से बहुमत प्राप्त न कर, उपस्थिति मात्र से बहुमत बना कर उज्जैन के अधिवेशन में विधवा विवाह के प्रस्ताव को पास करा लिया, जिसका परिणाम भी वैसा ही हुआ जैसा कि, बहिष्कार करनेवालों के कार्य का बहिष्कृत होनेवालों पर। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि, उज्जैन के जिस महाधिवेशन के समय विधवा विवाह का करना पास किया गया, वह क्या वास्तव में समाज के बहुमत

के आधार पर था ? यदि नहीं था और समस्त समाज का मत जाने बिना ही कुछ व्यक्तियों की उपस्थिति को बहुमत का साधन बना कर यह प्रस्ताव पास किया गया तो उसका मूल्य ही क्या था ? इस तरह के प्रस्ताव से किस प्रकार विधवा विवाह का प्रचार हो सकता था ? पर इन सब बातों की शायद उन्हें पर्वाह नहीं थी। पर्वाह थी अपनी व्यक्तिगत बात रखने की और समाज में क्रान्ति करने की। कुछ लोगों का ख्याल है कि, समाज का वातावरण दूषित हो जाने तथा कुछ व्यक्तियों का झुकाव राजनीति की ओर होने से वे सामाजिक कार्यों में भी राजनैतिक दृष्टिकोण से ही काम करने लगे। हो सकता है कि, इस बात में सच्चाई हो। परन्तु, यहाँ पर भी उन्होंने व्यावहारिकता को ठुकरा दिया। वे यदि यह विचारते कि, राजनीति समाज को नहीं बनाती—समाज ही राजनीति का निर्माता हुआ करता है तो वे ऐसा न करते। संसार में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि कहीं पर भी राजनीति ने समाज का निर्माण किया हो। राजनीति तो समाज-संगठन और समाज के बल पर ही निर्भर करती है। जहाँ समाज-बल सुदृढ़ नहीं होता, वहाँ राजनीति का मूल्य ही क्या है ? राजनीति का जीवन समाज-बल पर निर्भर करता है, अन्यथा वह जीवित ही नहीं रह सकती। हम मानते हैं कि, वर्तमान समय में राजनीति का महत्व बढ़ गया है और उसे अनुकूल बनाये बिना हमारा कोई भी कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न और सफल नहीं हो पाता, परन्तु राजनीति अनुकूल तब ही बन सकती है जब कि, सामाजिक संगठन सुदृढ़ हो। आज हम देखते हैं कि, यूरोपादि देशों के बड़े-बड़े राष्ट्रों में भी राजनीति उसी दल के हाथ में रहती है, जिसका सामाजिक संगठन मजबूत होता है। इसलिए राजनैतिक दृष्टिकोण से उन्होंने ऐसा किया हो तो भी किसी प्रकार समर्थनीय नहीं हो सकता। फिर क्रान्ति भी कई प्रकार की होती है। सामाजिक क्रांति अन्य प्रकार की क्रांतियों जैसी नहीं है, जो किसी व्यक्ति के प्रभाव से की जा सके। व्यक्तिगत रूप से तो विचारों की ही क्रान्ति की जा सकती

है, क्रियात्मक नहीं। विचारों की क्रान्ति जब होने लगती है तो जनता हानि लाभ को सोचने-समझने लगती है और जहाँ लाभ प्रतीत होने लगता है, वहां उसी के अनुकूल बहुमत तैयार हो जाता है और जब बहुमत बन जाता है तो वह क्रान्ति क्रियात्मक रूप धारण कर लेती है। सामाजिक क्रान्ति का यही व्यावहारिक रूप है। परन्तु, आज कुछ व्यक्ति 'क्रान्ति' शब्द के पीछे पागल हो रहे हैं। वे सामाजिक क्रान्ति की फिलासफी को कुछ भी नहीं जानते। हम क्रान्ति को मुर्दा नसों में जीवन पैदा करनेवाली समझते हैं परन्तु वह क्रान्ति समाज की आन्तरिक स्थिति के आधार पर हो और क्रान्ति करनेवाले सच्चे, सुदृढ़ और कष्टसहिष्णु भी हों। ऐसा होने ही पर हमारी सामाजिक क्रान्ति सफल हो सकती है।

हमारी राय में महासभा की प्रगति रुकने का यही सब से बड़ा कारण है और समाज में विघटन होने का भी यही हेतु है। जब तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाजनीति को नहीं समझेगा और आंख बन्द कर बिना आधार के पैर आगे बढ़ाता रहेगा तब तक न तो समाज का संगठन होगा और न जातीयता की ही भावना जागृत होगी।

कुछ सभा-सोसाइटियों के सम्बन्ध में हम ने यहाँ तक यथावश्यक विचार किया। इनके अतिरिक्त आगे चल कर और भी अनेकों सभा-सोसाइटियाँ बनीं परन्तु उन सब की आलोचना करना हमारे लिए शक्य नहीं।

उपर्युक्त वर्णन से पाठक यह अनुभव कर सकेंगे कि, सभा-सोसाइटियों की रचना से समाज का कितना हित-साधन हुआ और कितना अहित।

समाज की कुछ सार्वजनिक संस्थाएँ

मारवाड़ी समाज की सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं में 'कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी' सर्व प्रधान संस्था है। यह संस्था गोसेवा और गोरक्षा की भावना से आज से प्रायः ५३ वर्ष पूर्व स्थापित की गयी थी। इस संस्था को स्थापित

कलकत्ता पिंजरापोल—

के आधार पर था ? यदि नहीं था और समस्त समाज का मत जाने बिना ही कुछ व्यक्तियों की उपस्थिति को बहुमत का साधन बना कर यह प्रस्ताव पास किया गया तो उसका मूल्य ही क्या था ? इस तरह के प्रस्ताव से किस प्रकार विधवा विवाह का प्रचार हो सकता था ? पर इन सब बातों की शायद उन्हें पर्वाह नहीं थी। पर्वाह थी अपनी व्यक्तिगत बात रखने की और समाज में क्रान्ति करने की। कुछ लोगों का ख्याल है कि, समाज का वातावरण दूषित हो जाने तथा कुछ व्यक्तियों का झुकाव राजनीति की ओर होने से वे सामाजिक कार्यों में भी राजनैतिक दृष्टिकोण से ही काम करने लगे। हो सकता है कि, इस बात में सच्चाई हो। परन्तु, यहाँ पर भी उन्होंने व्यावहारिकता को ठुकरा दिया। वे यदि यह विचारते कि, राजनीति समाज को नहीं बनाती—समाज ही राजनीति का निर्माता हुआ करता है तो वे ऐसा न करते। संसार में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि कहीं पर भी राजनीति ने समाज का निर्माण किया हो। राजनीति तो समाज-संगठन और समाज के बल पर ही निर्भर करती है। जहाँ समाज-बल सुदृढ़ नहीं होता, वहाँ राजनीति का मूल्य ही क्या है ? राजनीति का जीवन समाज-बल पर निर्भर करता है, अन्यथा वह जीवित ही नहीं रह सकती। हम मानते हैं कि, वर्तमान समय में राजनीति का महत्व बढ़ गया है और उसे अनुकूल बनाये बिना हमारा कोई भी कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न और सफल नहीं हो पाता, परन्तु राजनीति अनुकूल तब ही बन सकती है जब कि, सामाजिक संगठन सुदृढ़ हो। आज हम देखते हैं कि, यूरोपादि देशों के बड़े-बड़े राष्ट्रों में भी राजनीति उसी दल के हाथ में रहती है, जिसका सामाजिक संगठन मजबूत होता है। इसलिए राजनैतिक दृष्टिकोण से उन्होंने ऐसा किया हो तो भी किसी प्रकार समर्थनीय नहीं हो सकता। फिर क्रान्ति भी कई प्रकार की होती है। सामाजिक क्रांति अन्य प्रकार की क्रांतियों जैसी नहीं है, जो किसी व्यक्ति के प्रभाव से की जा सके। व्यक्तिगत रूप से तो विचारों की ही क्रान्ति की जा सकती

है, क्रियात्मक नहीं। विचारों की क्रान्ति जब होने लगती है तो जनता हानि लाभ को सोचने-समझने लगती है और जहाँ लाभ प्रतीत होने लगता है, वहां उसी के अनुकूल बहुमत तैयार हो जाता है और जब बहुमत बन जाता है तो वह क्रान्ति क्रियात्मक रूप धारण कर लेती है। सामाजिक क्रान्ति का यही व्यावहारिक रूप है। परन्तु, आज कुछ व्यक्ति 'क्रान्ति' शब्द के पीछे पागल हो रहे हैं। वे सामाजिक क्रान्ति की फिलासफी को कुछ भी नहीं जानते। हम क्रान्ति को मुर्दा नसों में जीवन पैदा करने-वाली समझते हैं परन्तु वह क्रान्ति समाज की आन्तरिक स्थिति के आधार पर हो और क्रान्ति करनेवाले सच्चे, सुदृढ़ और कष्टसहिष्णु भी हों। ऐसा होने ही पर हमारी सामाजिक क्रान्ति सफल हो सकती है।

हमारी राय में महासभा की प्रगति रुकने का यही सब से बड़ा कारण है और समाज में विघटन होने का भी यही हेतु है। जब तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाजनीति को नहीं समझेगा और आँख बन्द कर बिना आधार के पैर आगे बढ़ाता रहेगा तब तक न तो समाज का संगठन होगा और न जातीयता की ही भावना जागृत होगी।

कुछ सभा-सोसाइटियों के सम्बन्ध में हम ने यहाँ तक यथावश्यक विचार किया। इनके अतिरिक्त आगे चल कर और भी अनेकों सभा-सोसाइटियाँ बनीं परन्तु उन सब की आलोचना करना हमारे लिए शक्य नहीं। उपर्युक्त वर्णन से पाठक यह अनुभव कर सकेंगे कि, सभा-सोसाइटियों की रचना से समाज का कितना हित-साधन हुआ और कितना अहित।

समाज की कुछ सार्वजनिक संस्थाएँ

मारवाड़ी समाज की सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं में 'कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी' सर्व प्रधान संस्था है। यह संस्था गोसेवा और गोरक्षा की भावना से आज से प्रायः ९३ वर्ष पूर्व स्थापित की गयी थी। इस संस्था को स्थापित

कलकत्ता पिंजरापोल—

करने की कल्पना पहले-पहल चूरू निवासी स्वनामधन्य राजा शिवबक्सजी बागला के हृदय में उदय हुई और उन्होंने अपना विचार सूर्यमलजी झूंझनूं-वाला, जुगलकिशोरजी रुइया और राय बद्रीदासजी मुकीम बहादुर आदि समाज के सम्भ्रान्त और कर्णधार सज्जनों के समक्ष प्रकट किया। इस पर समाज की सार्वजनिक विराट् सभा बुलाई गई। सर्वसम्मति से इस धार्मिक संस्था का बीजारोपण किया जाना निश्चित किया गया। परन्तु संस्था के नामकरण में लोगों का मतभेद दिखाई पड़ा। अधिकांश व्यक्ति गोशाला नाम रखने के पक्षपाती थे, परन्तु शिवबक्सजी चाहते थे कि, संस्था का कोई व्यापक नाम रखा जाय, जिससे गायों के अतिरिक्त अन्य पशु पक्षियों की भी रक्षा की जा सके। उन्होंने अपने प्रभावशाली शब्दों द्वारा उपस्थित जनता को समझाया कि गोमाताओं की रक्षा और सेवा करना तो हमारा परम धर्म है ही, इसके अतिरिक्त हमारा यह भी लक्ष्य होना जाहिये कि, गायों के सिवा अनेक पशु पक्षी ऐसे हैं जो कि, लूले, लंगड़े, अपाहिज और अन्धे हो जाते हैं तथा घोड़े आदि जानवर विना मौत मार दिये जाते हैं, उनकी भी जहां तक सम्भव हो, रक्षा की जाय। धर्मभीरु-समाज पर शिवबक्सजी के कथन का बहुत असर पड़ा और सर्वसम्मति से इस संस्था का नाम 'कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी' रखा गया। प्रधान कार्यालय बड़ा-बाजारमें खोला गया और कलकत्ते से प्रायः दस मील पूर्व की ओर सोद-पुर स्टेशन के पास जमीन खरीद कर पिंजरापोल का कार्य प्रारम्भ किया गया। पिंजरापोल का खर्च चलाने के लिये समस्त समाज ने मिल कर व्यापार पर काफी लाग और वित्ती देने की प्रतिज्ञा की। इसके अतिरिक्त विवाह शादियों और श्राद्धादि के समय दान दक्षिणा का भी प्रबन्ध किया गया। इस संस्था का इतना विस्तार हुआ कि, हजारों गायों का पालन-पोषण होने लगा और बंगाल में मारवाड़ी समाज का नाम हो गया। कल-कत्ता पिंजरापोल का असर इतना पड़ा कि, अन्य सभी स्थानों तथा प्रान्तों में जहाँ-जहाँ मारवाड़ियों का निवास था वहाँ-वहाँ भी गोशालाएँ खोली

जाने लगीं। 'कलकत्ता पिंजरापोल' का काम इतना बढ़ गया कि, केवल सोदपुर में गायों का रहना कठिन हो गया और हजारीबाग तथा रानीगंज आदि में गोचरभूमि के लिए, सुगम स्थानों पर पिंजरापोल की शाखाएँ खोलनी पड़ीं।

इस संस्था में प्रायः अढाई तीन लाख रुपये प्रति वर्ष खर्च होते हैं और इसकी पूर्ति व्यापार पर लगी हुई लाग-बित्ती और अतिरिक्त चन्दे से की जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, मारवाड़ी समाज की गोसेवा और गोभक्ति की भावना इस कार्य से भलीभाँति प्रकट होती है। परन्तु यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि, कोई भी संस्था क्यों न हो उसका अस्तित्व स्थायी उसी अवस्था में रह सकता है जब कि, या तो कोई ऐसा स्थायी कोश कायम किया जाय, जिसकी आय से वह संस्था चलाई जा सके या उसके लिए कोई ऐसा ठोस प्रबन्ध किया जाय कि, जिससे वह अपनी ताकत पर अपना कार्य निर्वाह कर सके। जब तक इस प्रकार का कोई उचित प्रबन्ध नहीं होता, तब तक उस संस्था का अस्तित्व संदिग्ध ही रहता है और निश्चित आय के न रहने पर उसका जीवन खतरे में पड़ जाता है। यह सत्य है कि, मारवाड़ी समाज ने इस संस्था की अनिश्चित अपस्था होने पर भी बड़ी खूबी के साथ इस संस्था को प्रायः ५० वर्ष तक चलाया और आज भी किसी प्रकार इसका अस्तित्व पहले जैसा ही बना हुआ है। परन्तु भविष्य में भी यह संस्था इसी प्रकार चल सकेगी, यह कहना कठिन है, क्योंकि समय बड़ी तेजी के साथ बदल रहा है। लोगों की गोरक्षा सम्बन्धी धार्मिक भावना में भी कमी आ रही है। वाणिज्य-व्यापार की अवस्था भी ह्रास पर है। जिस व्यापार के जरिये लाग बित्ती द्वारा पिंजरापोल को वार्षिक आय होती थी और प्रधानतया जिसके आधार पर यह संस्था जीवित रही वह इस समय घाटे में है। ये बातें ऐसी हैं, जिनको देखते हुए इस संस्था का स्थायित्व खतरे से खाली नहीं जान पड़ता। समय रहते इस धार्मिक और उपयोगी संस्था

को व्यापारिक नींव पर सुस्थिर करना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसा करने से ही यह संस्था स्थायी हो सकती है और न केवल गायों की रक्षा ही कर सकती है किन्तु, समाज और देश का भी उपकार कर सकती है। यह कम खेद की बात नहीं है कि, यह संस्था अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे करके भी अभी तक एक ही ढर्रे पर चल रही है। इसने कोई वास्तविक ठोस सुधार किया हो, अथवा अपने पैरों पर चलने की योग्यता प्राप्त की हो, ऐसा पता नहीं लगता। हम देखते हैं कि, यूरोप, अमेरिका आदि देशों में इस कार्य को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। वे न केवल गोधन की ही रक्षा करते हैं बल्कि गायों की नस्ल बढ़ा कर अधिकाधिक दूध पैदा करने लगे हैं जिसका परिणाम यह होता देखा जाने लगा है कि, गायों की रक्षा के अतिरिक्त वे देश और समाज के स्वास्थ्य और बल की वृद्धि भी करने लगे हैं। बात असल में यह है कि, उन्होंने इस कार्य को व्यापार के ढंग से करना शुरू किया है। पर हमारे यहाँ की अवस्था कुछ दूसरी ही है। हमने गोसेवा को एक धार्मिक रूढ़ि मान लिया है। चाहे वास्तविक गोसेवा होती हो या न होती हो पर एक गोशाला और पिंजरापोल खोल कर वर्ष भर में कुछ गायों को खिला पिला देने में ही हम अपने धार्मिक भावों की इतिकर्त्तव्यता मान लेते हैं। पर इससे वास्तविक और स्थायी लाभ नहीं होता। आवश्यकता यह है कि, गोरक्षा की भावना से हमें ऐसी संस्थाओं को व्यापार का रूप देना चाहिए, तब ही ये संस्थाएँ स्थायी हो सकती है और अपनी ताकत से काम चला सकती हैं। ऐसा करने से गायों का पालन पोषण तो सुगम होगा ही, इसके अतिरिक्त देश और समाज के स्वास्थ्य और बल की भी रक्षा हो सकेगी। साथ ही आज हमें दिनरात इस संस्था का खर्च पूरा करने की जो चिन्ता रहती है, वह भी न रहेगी। आशा है, धार्मिक जनता इस विषय का व्यावहारिक ढंग से विचार करेगी और इस संस्था को सुगम, ठोस और लाभकारी भी बनावेगी।

इस संस्था को खड़ा करने में प्रधान उद्योग सुप्रसिद्ध गोभक्त श्री हासानन्दजी वर्मा का रहा। ये गुजराती होते हुए भी कलकत्ते के बड़ेबाजार में मारवाड़ियों के संसर्ग में रहते थे। उन्होंने मारवाड़ियों से धन प्राप्त कर इस संस्था की पहले पहल लिलुवे में रिद्ध रोपना की थी। कलकत्ते में बछड़ों की जैसी रोमाञ्चकारी भयानक अवस्था है और जिस प्रकार नृशंस रूप में उनकी हत्याएँ होती हैं, उसे देख कर हासानन्दजी दुखी रहते थे और उन बछड़ों को बचाने तथा उनका पालन पोषण करने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने अपने जीवन का यही एक लक्ष्य बना लिया था। वे अनाथ बछड़ों को कसाइयों से छुड़ाते थे और उनको अपने कन्धों पर लाद कर धर्मभीरु जनता के द्वार-द्वार घूमते थे। ऐसी शायद ही कोई सभा या पञ्चायत होती थी, जहाँ बछड़ों के साथ पहुँच कर वे उनके कष्टों का रोना न रोते। उन्होंने न केवल लिलुवा में ही पर्याप्त जमीन का प्रबन्ध किया था, बल्कि कचरापाड़े में भी काफी जमीन ख़रीद कर गोशाला का कार्य विस्तृत किया था। बाद में उन्होंने 'कृष्ण गोशाला' को 'कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी' के हाथ में दे दिया और वे कलकत्ता छोड़ कर ब्रजभूमि में चले गये। वहाँ भी उन्होंने बहुत सी गोचर भूमि छुड़वाने का उद्योग किया। हासानन्दजी अब इस संसार में नहीं हैं, पर उनकी गोभक्ति और सच्ची सेवा आज भी अनुकरणीय बनी हुई है।

श्रीकृष्ण गोशाला—

कलकत्ते में विधवा सहायक फण्ड खोलने की आवश्यकता बहुत पहले से प्रतीत होने लगी थी। वि० सं० १९४८ में जब रायबहादुर भगवानदासजी बागला अपने पुत्र लक्ष्मीनारायण का विवाह करने रंगून से कलकत्ते आये तो उन्होंने सर्व प्रथम विधवा सहायक फण्ड खोलने की अभिलाषा प्रकट की थी और वे उसमें काफी धन भी लगाना चाहते थे। परन्तु उनकी इच्छा यह थी कि, यह संस्था किसी व्यक्ति विशेष की न

'रामचन्द्र गोयनका विधवा सहायक फण्ड'—

बन कर समस्त समाज की बने और यथा सामर्थ्य सभी भाई उसमें योग दें। परन्तु, उस समय कई विशेष कारणों से उस फण्ड की स्थापना नहीं हो सकी। पीछे वि० संवत् १९५६ में स्वनामधन्य बाबू रामचन्द्रजी गोयनका ने अपने धन से अपने नाम पर इस फण्ड को स्थापित कर दिया। उन्होंने पहले पहल १५ हजार रुपये नकद और हरिसन रोड का एक मकान जिसकी आय प्रायः साढ़े तीन सौ रुपये मासिक थी, फण्ड के हवाले किया। उसके बाद भी उन्होंने और उनके पुत्र सर हरीरामजी गोयनका ने समय-समय पर और भी धन दिया और उसकी स्थिति ठोस बना दी। यह फण्ड एक कार्य संचालक समिति के हवाले किया गया जिसके पहले सभापति रायबहादुर शिवप्रसादजी झूंझनूँवाला और मन्त्री बाबू गुलाबरायजी पोद्दार मनोनीत हुए। इस संस्था ने यह भी निश्चय किया कि, अनाथ विधवाओं के अतिरिक्त उन अनाथ बच्चों की भी सहायता की जाय जो कि, १५ वर्ष तक के हों। वि० सं० १९६१ की रिपोर्ट से पता लगता है कि, उस वर्ष राजपूताने के २१ ग्रामों में १४६ विधवाओं को सहायता दी गयी थी और उसमें ४८४) रुपये प्रति मास खर्च हुए थे। इस संस्था का कार्य आज तो और भी बढ़ गया है। आज रामचन्द्रजी का पाँचभौतिक शरीर इस संसार में नहीं है परन्तु उनकी आत्मा को अनाथ बच्चों और विधवाओं की ओर से आशीर्वाद मिल रहा है। ऐसी संस्थाओं की न केवल मारवाड़ी समाज में ही, किन्तु समस्त हिन्दू समाज में कितनी बड़ी आवश्यकता है, इसका विचार पाठक कर सकते हैं। हम आये दिन समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि, अमुक स्थान में विधर्मी गुण्डों ने हिन्दू अनाथ विधवाओं का हरण कर लिया और अनाथ बच्चे विधर्मी बना लिये गये। हिन्दू समाज इस आवश्यक कार्य पर अधिकाधिक ध्यान देकर इसी प्रकार और भी उचित व्यवस्था करे तो यह अनर्थ शीघ्र दूर हो सकता है।

ओजस्वी लेखक



स्वर्गीय पंडित माधवप्रसादजी मिश्र

जिस समय मारवाड़ी नवयुवकों में जागृति हुई उस समय समाज में पहला प्रश्न शिक्षा का आया। यद्यपि मारवाड़ी समाज वाणिज्य-व्यवसाय में यथेष्ट धन सम्पन्न हो चुका था, तथापि शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत अधिक पिछड़ा हुआ था। वाणिज्य-व्यापार की सुदक्षता और दानशीलता में विशेष ख्याति होने पर भी शिक्षा के सम्बन्ध में इस समाज की हेठी ही हुआ करती थी। समाज में शिक्षा-विस्तार का प्रश्न उठा और पण्डित माधवप्रसादजी मिश्र ने स्थानीय 'हिन्दी बंगवासी' में शिक्षा की आवश्यकता पर एक जोरदार लेखमाला शुरू की। उसका प्रभाव इतना पड़ा कि, वि० सं० १९६० में पं० दीनदयालुजी शर्मा जब कलकत्ते आये तो स्थानीय बाँसतल्ला ष्ट्रीट में स्थित हरूसेठ की ठाकुरबाड़ी में मारवाड़ी समाज की सार्वजनिक विराट् सभा की गयी। परिणामस्वरूप उसी दिन चन्दा लिखा जाना भी शुरू हो गया। परन्तु साधारण रकमों के सिवा बड़ी रकमें उस दिन नहीं लिखी जा सकीं। उस दिन की सभा में केवल २५०) रुपये मासिक और १६ हजार रुपयों का ही चन्दा लिखा गया। परन्तु विद्यालय उसी दिन स्थापित हो गया। १६ हजार से चन्दा आगे बढ़ने में यह कठिनाई हुई कि, कई प्रमुख व्यक्ति यह कहते रहे कि अमुक व्यक्ति पहले लिखे तो वे लिखें। इस प्रकार की उधेड़बुन में कई महीने निकल गये। ता० १६ मार्च वि० संवत् १९६१ में विद्यालय का पारितोषिक वितरणोत्सव पहले-पहल मि० ग्रियर साहब की अध्यक्षता में किया गया तो उस समय सुप्रसिद्ध सेठ दुलीचंदजी ककरानिया ने बड़ा उत्साह दिखाया और उन्होंने सर्व प्रथम ११०००) रुपये चन्दे में लिख दिये। फिर क्या था, चन्दा लिखा जाने लगा और सर हरीरामजी गोयनका और रायबहादुर शिवप्रसादजी झूंझनूंवाला ने भी इतने ही रुपये अपनी-अपनी ओर से लिख दिये। सबसे बड़ी उल्लेखनीय बात यह हुई कि, श्रीयुक्त छोटेलालजी मिश्र ने, मारवाड़ी न होते हुए भी, बड़े उत्साह

श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय—

के साथ अपने फर्म 'ममोजी मिश्र' के नाम से ११०००) लिखे। इसका प्रभाव वहुत अधिक पड़ा और उसी दिन चंदा ६७५००) तक पहुँच गया। वाद में निश्चय हुआ कि, कम से कम चंदा दो लाख का तो अवश्य किया जाय। श्री० हरीरामजी और दुलीचंदजी ने यह शर्त रखी कि, जवतक दो लाख रुपये न लिखे जाँय तव तक चंदा उगाहा न जाय। इस पर शिवप्रसादजी ने यह छाप लगाई कि, दो लाख रुपये चन्दा लिखा जाने पर यदि कोई सज्जन लिखे हुए चन्दे के रुपये न दे तो उससे अदालत द्वारा वसूल किये जाँय। उनके कथन का उपस्थित जनता पर वहुत प्रभाव पड़ा। चन्दा आगे वढ़ा, परन्तु दो लाख न हो सका। इस पर पं० माधवप्रसादजी मिश्र ने समाचार-पत्रों में वड़ी कड़ी आलोचना की और श्री जुहारमलजी खेमका, तोलारामजी गोयनका, मन्नालालजी चमड़िया और दौलतरामजी चोखानी आदि तत्कालीन प्रमुख उत्साही सज्जनों ने ऐसा उद्योग किया कि, दो लाख का चन्दा पूरा हो गया। इस प्रकार चन्दा हो जाने पर विद्यालय का कार्य जोर पकड़ गया और ई० सन् १९०८ में विद्यालय हाई स्कूल वनाया गया तथा कलकत्ता युनिवर्सिटी से सम्वन्धित भी हो गया।

विद्यालय का निज का मकान न होना लोगों को वहुत खटक रहा था। इसके लिये धन की आवश्यकता थी। समाज के कर्मवीर ६ उत्साही नवयुवकों ने प्रतिज्ञा की कि, 'भवन निर्माण के लिये जब तक तीन लाख रुपये जमा न कर लेंगे तव तक अपने सिर पर अपनी जातीय पगड़ी नहीं धारण करेंगे।' प्रतिज्ञा करनेवाले थे—(१) श्री रूड़मल गोयनका (२) श्री लक्ष्मीनारायण मुरोदिया (३) श्री फूलचन्द चौधरी (४) श्री रामकुमार गोयनका (५) श्री ज्वालाप्रसाद कानोड़िया और (६) श्री किसनदयाल जालान। श्री रामकुमार जालान ने पगड़ी तो नहीं छोड़ी पर दुपट्टा छोड़ने की घोषणा कर फुंकनी लड़ाने का सा काम किया। ये सभी कर्मवीर उत्साह के साथ चन्दा लिखाने में जुट पड़े। श्री जुहार-

मलजी खेमका महोदय ने यद्यपि पगड़ी नहीं उतारी थी, पर सच तो यह है कि, पगड़ी उतारनेवाले नवयुवकों की पगड़ी की लाज उन्होंने रखी। वे उन नवयुवकों के सरदार बने और ऐसे बने कि, उनका काम हलका ही नहीं किया, बल्कि कई प्रकार की विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होनेपर भी ता० ६ मार्च सन् १६११ के दिन पूरे नौ महीने के भीतर ३००२२३) रुपये लिखा कर तब दम लिया। इस प्रकार नौ महीनों में यह प्रतिज्ञा सफल हुई तो सुप्रसिद्ध ख्यातनामा डाक्टर कैलासचन्द्र बोस महोदय की प्रधानता में विराट् सभा की गयी और प्रतिज्ञा करनेवाले नवयुवकों ने सगर्व पगड़ी धारण की। बाबू रामकुमार जालान को भी एक दुपट्टा दिया गया।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, भवन निर्माण का चन्दा जिस समय लिखा जा रहा था, उस समय यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि, यह संस्था सार्वजनिक होगी या किसी सम्प्रदाय विशेष की? इसका कारण यह था कि, पहले चन्दा हुआ था, उसमें तथा इस बार के चन्दे में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोगों ने भी चन्दा लिखा, जिसमें जैनियों का भी काफी भाग था। उसी समय दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० पन्नालालजी का एक दिन विद्यालय के स्थान में व्याख्यान हुआ तो विद्यालय के अधिकारियों ने दूसरे दिन का व्याख्यान बन्द कर दिया। इस पर यह प्रश्न उठा था और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालों ने चन्दा लिखना बन्द कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि, चन्दे की रकम आगे बढ़ने से रुक गयी थी। जब इस प्रकार की अवस्था उपस्थित हो गयी तो अधिकारियों ने श्री धन्नूलालजी अग्रवाल—वकील हाईकोर्ट जो कि जैन थे—उनके समक्ष यह प्रतिज्ञा की कि, यह संस्था किसी भी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध न रख कर सार्वजनिक होगी। इस प्रकार यह प्रश्न हल किया गया तब चन्दा आगे बढ़ा और पूरा भी हो गया।

आवश्यक चन्दा हो जाने पर स्थानीय मछुवाबाजार में प्रायः पांच बीघा जमीन ली गयी। परन्तु ली हुई जमीन खाली कराने में बड़ी कठि-

नाइयां सामने आईं। वात यह थी कि, उक्त जमीन में मुसलमानों की वस्ती थी। उन्होंने एक ऐसा स्वांग रचा कि, रातोंरात एक स्थान पर पीर के होने की घोषणा कर दी। मामला इतना जटिल हो गया कि, किसी की हिम्मत न हुई कि, इस मिथ्या आडम्बर का मुकावला करे। परन्तु यह कहना होगा कि, उस समय श्री फूलचन्द चौधरी ने इतना साहस दिखाया कि, अपने प्राणों की वाजी लगा कर उस पीर को वनावटी सिद्ध कर दिया और जमीन खाली करा ली। तत्पश्चात् सन् १९११ में ही हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध जज सर आशुतोष मुखर्जी महोदय के करकमलों से भवन का शिलारोपण हुआ और एक दर्शनीय भवन का निर्माण हो जाने पर बंगाल के तत्कालीन गवर्नर से उसका वड़े समारोह के साथ उद्घाटन कराया गया।

इस समय विद्यालय में अंगरेजी, हिन्दी और संस्कृत आदि की शिक्षा हजारों छात्रों को दी जाती है। प्रति वर्ष काफी संख्या में छात्र उत्तीर्ण भी होते हैं। 'संस्कृत विभाग' में उत्तीर्ण छात्रों को छात्रवृत्ति भी दी जाती है। सर हरीरामजी गोयनका ने अपने पूज्य पिता श्री रामचन्द्रजी गोयनका के नाम पर इस विभाग में अतिरिक्त काफी सहायता देकर इसे दृढ़ वना दिया है।

इतना होने पर भी यहां पर अव यह लिखना आवश्यक है कि, यह विद्यालय मारवाड़ी समाज के लिये गौरव स्वरूप है और इसका विशाल भवन मारवाड़ी जाति की धनसम्पन्नता का सूचक भी है, तथापि यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि, मारवाड़ी जाति की जितनी ख्याति है और वाणिज्य-व्यापार में उसका जैसा स्थान है, उसको देखते हुए, यह विद्यालय कुछ भी नहीं है। इससे वृहत् मारवाड़ी समाज की शिक्षा सम्वन्धी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। उचित तो यह था कि, इस विद्यालय की तरह कई विद्यालय वनते और मारवाड़ियों के कालेज भी स्थापित होते। परन्तु खेद है कि, इस सार्वजनिक संस्था का कार्य जिस

सुप्रसिद्ध समाजसेवी



स्वर्गीय फूलचन्द चौधरी

उत्साह के साथ शुरू हुआ था, उसी उत्साह के साथ आगे नहीं बढ़ सका। ऐसा क्यों हुआ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है और विद्यालय के सम्बन्ध में बहुत सी बातें ऐसी हैं भी, जिन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। परन्तु यहां पर उन सभी बातों का उल्लेख न कर हम आगे चल कर प्रसंगानुसार उसके सम्बन्ध में लिखेंगे, जिससे पाठक समझ सकेंगे कि, इस सार्वजनिक शिक्षण संस्था का कार्य आगे न बढ़ने का हेतु क्या था?

बड़ाबाजार लाइब्रेरी—

कलकत्ते के बड़ेबाजार में सार्वजनिक पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित करने का श्रीगणेश पहले-पहल वि० सं० १९५८ के लगभग 'बड़ाबाजार लाइब्रेरी' की रचना से हुआ। इस संस्था को स्थापित करने में पं० केशवप्रसादजी मिश्र का हाथ सर्वोपरि रहा। इस लाइब्रेरी की स्थापना से बड़ेबाजार में पुस्तकालयों का बड़ा प्रचार हुआ और थोड़े ही अर्से में कई पुस्तकालय और वाचनालय देखे जाने लगे। आज तो कितने ही ऐसे पुस्तकालय भी देखने में आते हैं जो समाज में उच्च साहित्यिक ज्ञान का प्रचार कर रहे हैं। यह लाइब्रेरी जिस रूप में पहले-पहल बनी थी, उसी रूप में अपना काम बहुत मजे में आज भी चला रही है।

मारवाड़ी सहायक समिति
वाद में
मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी—

इस लोकोपकारी सार्वजनिक सेवा-संस्था का बीजारोपण ई० सन् १९१३ में मारवाड़ी समाज के उन कतिपय सज्जनों और उत्साही नवयुवकों द्वारा हुआ, जो समाज में सुधार और सेवा करने की भावना रखते थे। इस सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि, श्री जुगलकिशोरजी और घनश्यामदासजी बिड़ला—इन दोनों भाइयों की प्रेरणा और सर्व प्रथम उन्हीं की आर्थिक सहायता से इस संस्था की स्थापना हुई तो शायद अत्युक्ति न होगी। सच तो यह है कि, सर्व प्रथम

जहाँ श्रीयुक्त लक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया अपने कतिपय नवयुवकों के साथ इसके लिए प्रधान उद्योगी थे, वहाँ इन्हीं दोनों भाइयों की प्रेरणा काम कर रही थी। इस संस्था को स्थापित करने तथा उसका संचालन करने में लक्ष्मीनारायणजी मुरोदिये का हाथ सर्वापेक्षा बहुत अधिक रहा। सच तो यह है कि, उस समय लक्ष्मीनारायणजी ही एक ऐसे व्यक्ति देखे जाते थे जिन्होंने जन-सेवा करने में सबसे अधिक भाग लिया था।

पहले पहल इस संस्था का नाम 'मारवाड़ी सहायक समिति' रखा गया। पीछे विशेष कारणवश यह नाम बदल कर 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' कर दिया गया। इस सम्बन्ध में हम आगे चल कर लिखेंगे। पहले हमें यह बतलाना है कि, इस संस्था ने सर्व प्रथम निःशुल्क चिकित्सालय खोल कर अपना कार्य शुरू किया और सन् १९१४ में जिस समय वर्द्धवान में भयंकर बाढ़ आयी, उस समय इस संस्था ने इतनी तत्परता से काम किया कि, इसका नाम हो गया। देश की सेवा-संस्थाओं में इसकी गणना श्लाघनीय रूप में होने लगी। उसके बाद तो इस सस्था ने अपना दायरा इतना विस्तृत किया कि, आवश्यकता होने पर यह बंगाल प्रान्त के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी पहुँच कर कार्य करने लगी। जब कभी देश में अकाल, महामारी, भूकम्प और बाढ़ आदि का आक्रमण हुआ, यह संस्था अपने दलबल के साथ पहुंचने लगी। खुलना और मेदिनीपुर का अकाल, उड़ीसा का भयंकर बाढ़, विहार का प्रलयकारी भूकम्प तथा समय-समय पर होनेवाला जलप्लावन आदि विशेष विशेष घटनाओं के समय इस संस्था ने बड़ा काम किया। हजारों ही नहीं, किन्तु, लाखों रुपये खर्च कर इसने धनजन की रक्षा की। हरिद्वार तथा कुरुक्षेत्र आदि के विशाल मेलों में भी इस संस्था ने समय-समय पर सेवाकार्य किया। यहाँ पर हम सोसाइटी के प्रधान कर्मचारी नारायण महाराज का विशेष रूप से स्मरण करते हैं जिन्होंने अपने समय में सेवा एक अच्छा आदर्श उपस्थित कर दिया था।

सहृदय समाजसेवी



स्वर्गीय लक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया

मारवाड़ी समाज द्वारा आज तक जितनी भी सेवा-संस्थाओं का निर्माण हुआ, उन सबकी अपेक्षा इस संस्था का नाम बहुत अधिक हुआ और यही कारण है कि, इस संस्था के कार्यों पर आज लोगों का विश्वास इतना अधिक हो गया है कि, जब कभी इस संस्था द्वारा धन की अपील निकलती है तो दानशील व्यक्तियों की थैलियों का मुँह खुल जाता है। इस संस्था का प्रत्येक कार्य एक प्रबन्धकारिणी समिति द्वारा संचालित होता है और उसका संगठन प्रति वर्ष किया जाता है। हर्ष की बात है कि, अब इस संस्था ने स्थानीय चितपुर रोड में अपना निज का एक विशाल भवन भी बनवा लिया है, जिससे इसकी स्थिति और भी अधिक सुदृढ़ हो गयी है।

जिस समय पहले पहल इस संस्था ने निःशुल्क चिकित्सालय खोल कर सर्वसाधारण की सेवा करने का कार्य प्रारम्भ किया उस समय केवल डाक्टरी विभाग ही खोला गया था। पर कुछ समय के पश्चात् ही आयुर्वेदीय विभाग खोल कर शास्त्रोक्त दवाएँ निर्माण करने और उचित मूल्य पर बेचने की व्यवस्था भी की गयी। आज तो चिकित्सा विभाग में इतनी उन्नति हो गयी है कि, होमियोपैथिक चिकित्सा और सर्जरी की भी यथेष्ट व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त स्त्री-चिकित्सा और दन्त चिकित्सा का भी समुचित प्रबन्ध किया गया है। आवश्यकता होने पर संस्था के डाक्टर तथा वैद्य लोगों के घरों पर जाकर भी चिकित्सा करते हैं जिससे सर्वसाधारण का बड़ा उपकार हो रहा है और प्रति दिन हजारों व्यक्ति निःशुल्क चिकित्सा से लाभ उठा रहे हैं।

जब देखा गया कि, स्थानीय हलवाइयों ने पूड़ी-मिठाई के दाम अंदाज से बहुत अधिक कर रखे हैं जिसके कारण बाजारघाट उतरनेवाली साधारण जनता को खाद्य-वस्तुओं का बहुत अधिक दाम देना पड़ता है तो इस संस्था ने पूड़ी-मिठाई की दूकान खोल कर इतने अन्दाज का भाव कर दिया कि, उसका प्रभाव न केवल सभी हलवाइयों पर पड़ा बल्कि साधारण

जनता अधिक दाम देने से बच गयी। यह दूकान अब भी चल रही है।

इस संस्था ने अनुभव किया कि, राजस्थान के बहुत से स्थानों में रियासतों की ओर से बालकों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा का भी कोई प्रवन्ध नहीं है तो इसने कई स्थानों पर छोटी-छोटी पाठशालाओं के खोलने की व्यवस्था की और आज भी कई स्थानों पर ऐसी पाठशालाएँ चलाई जा रही हैं जिनमें एक हजार से अधिक बालक शिक्षा पाते हैं। सच तो यह है कि, मारवाड़ी समाज की यही एक ऐसी सार्वजनिक संस्था है, जो कि, सर्वापेक्षा बहुत ही अधिक सुदक्षता के साथ समाज तथा देश की सेवा करने में भाग ले रही है। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि, जहाँ बहुत सी संस्थाएँ अपनी प्रारम्भिक अवस्था में तो बहुत अधिक उत्साह दिखाती हैं, पर पीछे उनका वह उत्साह ढीला पड़ जाता है और कितनी ही संस्थाएँ तो वन्द भी हो जाती हैं, वहाँ यही एक संस्था ऐसी है जिसका कार्य जिस उत्साह से आरम्भ हुआ उसी उत्साह से बल्कि उससे भी अधिक उत्साह से आज भी हो रहा है।

इस संस्था के सम्बन्ध में अब हमें इतना ही और लिखना है कि, इसका नाम 'मारवाड़ी सहायक समिति' से बदल कर जो 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' किया गया, वह एक खेदजनक घटना थी और विशेष परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने से ही ऐसा किया गया था। बात यह थी कि, समिति के उत्साही कार्यकर्ताओं में से कुछ नवयुवक बंगाल सरकार द्वारा राजनीति के आधार पर गिरफ्तार कर निर्वासित कर दिये गये। उनके नाम ये हैं—(१) श्री० फूलचन्द चौधरी (२) श्री० हनुमानप्रसाद पोद्दार (३) श्री० ओंकारमल सराफ (४) श्री० ज्वालाप्रसाद कानोड़िया और (५) श्री० प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका। इस प्रकार इन नवयुवकों का गिरफ्तार होना मारवाड़ी समाज के लिए सर्वथा नयी बात थी। परिणाम स्वरूप समाज में हलचल मच गयी। लोगों के लिये यह समझना कठिन

हो गया कि, वास्तव में बात क्या है और ये गिरफ्तारियाँ क्यों हुई हैं ? समिति का अस्तित्व बड़े खतरे में पड़ा। गिरफ्तारियों के सम्बन्ध में समाज में जितने मुँह उतनी ही बातें सुनाई पड़ने लगी थीं। कुछ व्यक्तियों की तो यह धारणा भी देखी गयी कि, इन गिरफ्तारियों के पीछे समाज के ही कुछ व्यक्तियों का गुप्त हाथ है और उनमें से ही किसी व्यक्ति विशेष ने बंगाल सरकार को इधर-उधर की समझा कर ये गिरफ्तारियाँ करवाई हैं। इन बातों के आधार पर समाज में बड़ी उथल-पुथल मची। इन सब बातों में कितनी सचाई थी, यह कहना तो कठिन है; परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि, इसमें चाहे कोई सचाई हो या न हो, समाज में इस प्रकार की कल्पना का होना ही इस बात का द्योतक है कि, उस समय बृहत् मारवाड़ी समाज में पारस्परिक अविश्वास और पार्टीबन्दी की भावना बड़ी तेजी से काम करने लगी थी। यदि इस बात में कुछ भी सचाई हो तो यह मानना पड़ेगा कि, उसी समय से समाज के कुछ व्यक्तियों का नैतिक पतन शुरू हो गया था। खैर, जो भी कुछ हो, इस विषय पर हम विशेष कुछ लिखना अच्छा नहीं समझते। इतना ही लिख कर इसको समाप्त करते हैं कि इस विचित्र घटना के घटने पर भी समिति के सञ्चालकों ने आवेश में न आकर बड़ी गम्भीरता से काम किया। उन्होंने इस सेवा संस्था को बना रखने की पवित्र भावना से समिति का नाम बदल कर 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि, संस्था का सङ्कट टल गया और कुछ समय के बाद वे सभी नवयुवक भी छोड़ दिये गये, जो गिरफ्तार कर निर्वासित कर दिये गये थे। इस सङ्कट को टालने और संस्था को बना रखने में उस समय सुप्रसिद्ध डा० कैलासचन्द्र बोस और श्री० देवीप्रसाद खेतान ने बहुत ही परिश्रम और श्लाघनीय कार्य किया था।

कलकत्ते के बड़ेबाजार में यह संस्था भी अपने ढंग से बहुत अच्छी जन-सेवा कर रही है। इसमें भी प्रति दिन सैकड़ों रोगी निःशुल्क चिकित्सा से लाभ उठाते हैं। इस संस्था ने भी अपना भवन बना लिया है।

श्री विशुद्धानंद सरस्वती दातव्य औषधालय—

आज से प्रायः ४० वर्ष पूर्व स्वर्गीय रायबहादुर भगवानदासजी बागला की स्मृति में उनकी धर्मपत्नी ने काफी धन लगा कर हरिसन रोड में इस अस्पताल की स्थापना की। जिस मकान में अस्पताल खोला गया उस विशाल भवन को भी श्रीमती ने अस्पताल को ही दे दिया। इस अस्पताल का संचालन एक ट्रस्ट के हाथ में है जो यथासाध्य इसका संचालन कर रहा है।

मारवाड़ी हिन्दू अस्पताल—

मारवाड़ी समाज में अनेक सेवा-संस्थाओं के होते हुए भी इस अस्पताल का स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें उच्च श्रेणी की चिकित्सा निःशुल्क की जाती है। स्थानीय तथा बाहर के सैंकड़ों रोगी इसमें आकर स्थान पाते हैं। उनके लिये खानपान और स्थानादि का आवश्यक प्रबन्ध है। चिकित्सा सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विभाग खुले हुए हैं। इस संस्था ने स्थानीय अमहर्स्ट ष्ट्रीट में कई लाख रुपये लगा कर निज का विशाल भवन भी बनाया है।

श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी अस्पताल—

इसकी स्थापना आज से प्रायः बीस वर्ष पूर्व हुई थी। इस संस्था को बनाने के प्रधान उद्योगियों में विशेष कर जुहारमलजी खेमका, रायबहादुर रामजीदासजी बाजोरिया, रायबहादुर बलदेवदासजी दूदवेवाला, दौलतरामजी चोखानी एवं केशोरामजी पोद्दार आदि कतिपय सज्जनों के नाम प्रसिद्ध हैं। यदि यह कहा जाय कि, स्वर्गीय जुहारमलजी खेमका का

समाज में ओज के साथ काम करनेवाले



रायबहादुर रामजीदासजी बाजोरिया

स्थान सर्वोपरि है तो हमारी राय में यह उचित ही है, क्योंकि संस्था को अधिकाधिक धन का दान देनेवाले चाहे अन्य कतिपय सज्जन रहे हों परन्तु, यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि, दाताओं से धन प्राप्त करनेवाले भी जुहारमलजी ही थे। हमारा तो यह खयाल है कि, यदि जुहारमलजी चन्दा लिखाने में अग्रसर न होते तो पांच सात लाख रुपयों का चन्दा जो कतिपय दानशील सज्जनों ने लिखा था, वह वहीं रुक जाता और शायद आगे न बढ़ता, परन्तु जुहारमलजी का ही काम था कि, लगन के साथ जुट कर चन्दा बीस-पचीस लाख तक पहुंचा दिया। इस दृष्टि से उनका स्थान सर्वोपरि हो जाता है। इस संस्था द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर समाज की सेवा हो रही है। एलोपैथी, होमियोपैथी और आयुर्वेदीय आदि सभी प्रकार की चिकित्सा की जाती है। एक्सरे का भी अच्छा प्रबन्ध है। स्थानीय 'ईष्ट इण्डिया जूट एसोसियेशन' ने एक मुश्त २५ हजार रुपये देकर एक्सरे की मशीन का प्रबन्ध कर दिया है। समाज के दानशील सज्जनों ने हजारों और लाखों की तादाद में चन्दा देकर इसे सार्वजनिक संस्था बना दिया है। इसका संचालन एक प्रबन्धकर्तृ समिति के अधीन है, जिसका संगठन प्रति वर्ष किया जाता है। राय-बहादुर बाबू रामजीदासजी बाजोरिया तो इस संस्था के प्राण स्वरूप हैं। आप शुरू से ही इस संस्था के सेक्रेटरी बने हुए हैं। यद्यपि अस्पताल का संचालन-भार नियमानुसार कार्यकारिणी समिनि के हाथ में है, तथापि देखा यह जाता है कि, कार्वकारिणी समिति का संचालन भी एक प्रकार से रामजीदासजी ही करते हैं। सच तो यह है कि वर्तमान में आप ही इस संस्था के कर्णधार और सर्वेसर्वा हैं। इस संस्था की उन्होंने जो सेवा की है, वह किसी प्रकार भी भुलायी नहीं जा सकती। आवश्यकता इस बात की है कि, इस उपयोगी सार्वजनिक संस्था का संचालन भविष्य में सार्वजनिक भावना से हो।

इस संस्था की स्थापना ई० सन् १९३७ में कुछ सुधार प्रिय नवयुवकों के प्रयत्न से हुई। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि, मारवाड़ी अस्पताल की तरह इसके लिए पहले से कोई धन संग्रह नहीं किया गया। श्री भागीरथमल कानोड़िया, सीताराम सेखसरिया, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, रामकुमार भुवालका, वसन्तलाल मुरारका और वैजनाथप्रसाद देवड़ा आदि सज्जनों ने अपने उत्साह और सेवा की भावना के बल पर इसे खोल दिया। वे ही इस समय किसी तरह इसे चला रहे हैं। इस समय प्रायः अढाई हजार रुपये मासिक व्यय होता है। इन दो वर्षों में इस संस्था ने आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाया है आवश्यकना यह है कि, समाज के धनिक व्यक्ति इसका महत्व समझें और धन की सहायता देकर इसे स्थायी और सुदृढ़ वना दें। इसके लिये अच्छे मकान की बड़ी आवश्यकता है। हम श्री भागीरथमलजी कानोड़िया और सीतारामजी सेखसरिया की बड़ी सराहना करते हैं जो कि, इस संस्था को चलाने में वड़ा ही परिश्रम करते देखे जाते हैं।

मातृ-सेवा-सदन—

पुत्री-पाठशालाओं के सम्बन्ध में यही दोनों संस्थाएँ मारवाड़ी समाज में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दोनों संस्थाएँ अपने-अपने ढंग से अच्छा काम कर रही हैं। बालिकाओं की संख्या भी काफी है। एक समय था कि, समाज में स्त्री-शिक्षा पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता था, परन्तु नयी जागृति के होने से अब स्त्री-शिक्षा समाज में आवश्यक समझी जाने लगी है। लोगों की रुचि इस ओर दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है। परन्तु पुत्री पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में बड़ी सावधानी के साथ बहुत कुछ सुधार होने की आवश्यकता है। क्योंकि, पुत्री पाठशालाएँ ही एक ऐसा साधन हैं जिनके द्वारा हम भविष्य के लिये आदर्श और आवश्यक स्त्री-समाज तैयार कर सकते हैं।

मारवाड़ी बालिका विद्यालय और सावित्री पाठशाला—

मारवाड़ी समाज के लिये न तो आजकल के कथित सुधरे हुए स्वतंत्र देशों की तरह अप-टू-डेट फैशनवाली स्त्रियों का निर्माण करना आवश्यक है और न उन्हें कूपमण्डूक और मूर्खा रख कर अपाहिज बनाने की ही जरूरत है। आवश्यकता यह है कि, मारवाड़ी स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे कि, वे पुरुषों के नियंत्रण में रह कर अपने खास क्षेत्र गृह-कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र रहें और गृहस्थाश्रम को सब प्रकार से सुखद बना सकें। हो सकता है कि, वर्तमान वातावरण में अन्य समाजों में स्त्री-स्वातन्त्र्य और अप-टू-डेट फैशन का होना आवश्यक समझा जाता हो, परन्तु हमारी दृष्टि में ऐसा होना भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं है। फिर मारवाड़ी समाज की स्त्रियों के लिए तो यह और भी अधिक विचारणीय है। स्त्री-समाज के सम्बन्ध में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जिसकी तुलना कोई भी सभ्य देश नहीं कर सकता। भारतवर्ष की नारियों का जो आदर्श और परम ध्येय रहा है वह लौकिक की अपेक्षा आध्यात्मिक ही अधिक है। इसलिये आवश्यकता यह है कि, आधुनिक तड़क-भड़क और क्षणिक बातों पर विशेष ध्यान न देकर हमें अपने प्राचीन आदर्श के अनुसार स्त्री-समाज का निर्माण करना चाहिये। हम मानते हैं कि, समय की रफ्तार को देखते स्त्री-समाज को कूपमण्डूक न रख कर आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। परन्तु यह आवश्यकता क्षणिक आवेश में आकर अन्धाधुन्ध सुधार की भावना से की जायगी तो लाभ के बदले अधिक हानि होने की सम्भावना है। आवश्यकता यह है कि, स्त्रियों के सम्बन्ध में अपनी प्राचीन संस्कृति को विशेष रूप से ध्यान में रख कर ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि, वे समय की वर्तमान दौड़ में उचित हिस्सा ले सकें और अपने भारतीय आदर्श को बनाये रख सकें।

वैसे तो मारवाड़ी समाज में प्राचीन ढंग की व्यायामशालाओं का सर्वथा अभाव नहीं है तथापि नवीन पद्धति के अनुसार भी शारीरिक उन्नति करने के लिए समाज ने उपर्युक्त संस्थाओं का निर्माण किया।

बड़ाबाजार युवक सभा और मारवाड़ी स्पोर्टिंग क्लब—

'बड़ाबाजार युवक सभा' द्वारा स्थानीय चित्तरंजन एवेन्यू में दर्शनीय भवन बना कर सुसङ्गठित रूप में एक व्यायामशाला का सञ्चालन हो रहा है। इस संस्था को चलाने में श्री० प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका और इन्द्रचंदजी शुवालका का प्रमुख हाथ रहा है और वे ही इसके प्राण स्वरूप हैं। 'मारवाड़ी स्पोर्टिंग क्लब' द्वारा फुटबाल, क्रिकेट, हाकी और टेनिस आदि आधुनिक खेलों की व्यवस्था की जाती है।

मारवाड़ी छात्र निवास—

श्री० विशनदयालजी गजानन्द फर्म के मालिक स्वर्गीय गजानन्दजी पोद्दार के स्मारक स्वरूप उनके स्टेट की ओर से इस भवन का निर्माण हुआ है, जो कि मारवाड़ी समाज में बोर्डिङ्ग हाउस का काम कर रहा है। कालेजों में पढ़नेवाले स्थानीय और बाहर के अनेक छात्रों के रहने की इसमें व्यवस्था है।

शिल्प विद्यालय—

शिल्प और उद्योग-धन्धों को सिखाने के लिए भी समाज ने भाग लेना शुरू कर दिया है। इस दिशा में दो संस्थाएँ उल्लेखनीय हैं।

(१) हिन्दू शिल्प विद्यालय—इस संस्था को खड़ा करने का सर्व प्रधान श्रेय श्री० युगलकिशोरजी बिड़ला को है जिन्होंने समय समय पर मुक्तहस्त से आर्थिक सहायता देकर इसकी नींव को मजबूत किया है। कार्यकर्ताओं में स्व० पूरणचंदजी सराफ, पद्मराजजी जैन तथा भोलानाथजी बर्मन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस संस्था में कई प्रकार के शिल्पों की शिक्षा हिन्दुओं को दी जाती है।



स्वर्गीय नागरमलजी बाजोरिया
(फर्म—सूरजमल नागरमल)

(२) रामचन्द्र नागरमल बाजोरिया शिल्प-विद्यालय—सुप्रसिद्ध सूरजमल नागरमल फर्म के हिस्सेदार स्व० बाबू नागरमलजी बाजोरिया की स्मृति में सूरजमलजी जालान ने उनके धन की सहायता से यह विद्यालय स्थापित किया है जो आज बड़े पैमाने पर श्लाघनीय काम कर रहा है। इस संस्था की शिक्षा से समाज के निठल्ले व्यक्ति काम सीख सकते हैं और समाज की बेकारी दूर हो सकती है।

यद्यपि हमने इसके पहले बड़ाबाजार लाइब्रेरी का उल्लेख किया है तथापि इस समय मारवाड़ी समाज के द्वारा कितने ही निःशुल्क पुस्तकालय और वाचनालयों का संचालन हो रहा है। इनमें सर्व प्रथम स्थान स्वर्गीय बाबू पूरणचन्दजी नाहर द्वारा स्थापित 'श्री गुलाबकुमारी पुस्तकालय' का है। यह एक आदर्श और बहुमूल्य संग्रहालय है। इसमें हजारों अप्राप्य मुद्रित ग्रन्थ और हजारों बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ वर्तमान हैं। भारत के प्रायः सभी प्रतिष्ठित विद्वानों ने इस पुस्तकालय की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और यह पुस्तकालय मारवाड़ी समाज के लिये गौरव की चीज है। इसके अतिरिक्त श्री बड़ाबाजार कुमार सभा पुस्तकालय, हनुमान पुस्तकालय, सलकिया, मारवाड़ी सभा पुस्तकालय और महावीर पुस्तकालय आदि और भी कितने ही पुस्तकालयों और वाचनालयों का सञ्चालन समाज द्वारा हो रहा है।

पुस्तकालय और वाचनालय—

हमने कतिपय संस्थाओं का यथासाध्य उल्लेख किया। इनके अतिरिक्त और भी अनेक संस्थायें हैं जो कि, कई प्रकार से कार्य कर रही हैं परन्तु उन सभी संस्थाओं का उल्लेख करना अब हमारे लिये सम्भव नहीं है।

समाज में व्यक्तिगत कुभावना और पारस्परिक विद्रोह

सार्वजनिक संगठन और जातीयता के भावों का ह्रास

सन् १५६४ से लेकर सन् १९०० ई० तक मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों ने इस बंगाल प्रदेश में किस प्रकार उत्तरोत्तर उन्नति की और किस प्रकार पहले-पहल राजकाज और राजनीति में भाग लेकर बाद में व्यापारिक क्षेत्र में अपना स्थान कायम कर देशव्यापी ख्याति लाभ की इत्यादि सभी बातों का उल्लेख हमने पूर्व प्रकरणों में किया और हमने यह भी बतलाया कि, प्राचीन समय से चला आता हुआ सामाजिक संगठन किस प्रकार का था तथा समाज का संचालन किस प्रकार किया जाता था। इसके अतिरिक्त हमने यह भी बतलाने की चेष्टा की कि, जबसे नवीन सभा-सोसाइटियों का जन्म होने लगा, तब से किस प्रकार समाज की एकसूत्रता में धक्का लगा और किस प्रकार वृहत् मारवाड़ी समाज भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त हो गया।

अब हमें खेद के साथ यह बतलाना है कि, भिन्न-भिन्न सभा-सोसाइटियों के रूप में जब समाज बँट गया तो अवस्था यहां तक बिगड़ी कि, अनेक व्यक्ति सार्वजनिक सामाजिक संगठन और पारस्परिक सद्भावना के महत्व को भूल कर अपने अपने गुट में इतने स्वतन्त्र और स्वहम्मन्य बन गये कि, जातीयता के परम पवित्र भावों को खो बैठे। व्यक्तिगत भावना जाग पड़ी। सदियों से समाज में जहां यह भावना देखी जाती थी कि, किसी भी भाई को आगे बढ़ता तथा उन्नति करता हुआ देख कर अन्य सभी भाई अतिशय प्रसन्न होते थे, और उस भाई की उन्नति को जातीय

उन्नति समझते थे, वहाँ अब ईर्षा, डाह, तथा व्यक्तिगत कुभावना ने जन्म धारण कर लिया। पंच-पंचायती तथा सभा-सोसाइटियों में किसी भी भाई की विशेष बुद्धिमानी, विद्वत्ता, व्यावहारिकता और अनुभव-सम्पन्नता का कोई मूल्य ही नहीं रहा। वैसी बातें लोगों के हृदय में खटकने लगीं। यहाँ तक कुभावना बढ़ी कि, किसी व्यक्ति की उन्नति और समाज तथा वाणिज्य-व्यापार में उसका नाम तथा प्रभाव लोगों के दिलों में खटकने लगा। इस प्रकार की कुभावना ने कुछ व्यक्तियों को कर्त्तव्य-विमुख बना दिया और पारस्परिक मनमुटाव बढ़ने लगा। व्यावहारिक एवं सामाजिक कामों के अतिरिक्त व्यक्तियों की धार्मिक स्वतन्त्र भावना पर भी आघात किया जाने लगा। पाठक यह जान चुके हैं कि, जिस मारवाड़ी समाज में जैनियों और सनातनियों में आध्यात्मिक सिद्धान्तों में कई प्रकार के मतभेद होने पर भी पूर्वजों ने लौकिक दृष्टि से परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार बना रखा था, खेद है कि, उसी समाज में इस कुभावना के कारण धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता का विष फैलने लगा। वास्तव में धर्म क्या है और साम्प्रदायिकता किसे कहते हैं, इन सभी बातों को जानने और समझने की पर्वाह बहुत आदमियों को नहीं रही। वे मनमानी करने पर उतारू हो गये। परिणाम यह हुआ कि, बढ़ते हुए मारवाड़ी समाज की प्रगति रुक गयी और धड़ाबन्दियों के रूप में व्यक्तिगत विद्रोह शुरू हो गया।

यह विद्रोह किस प्रकार, किस समय हुआ, इसमें असली रहस्य क्या था और समय-समय पर कैसी-कैसी घटनाएँ घटीं, यद्यपि यह एक आँखों देखा निर्भ्रान्त इतिहास है, इसके लिये किसी प्रकार का सन्देह और प्रमाण संग्रह करने की जरूरत नहीं, तथापि हमारे सामने यह एक बड़ी भारी कठिन समस्या भी है कि, हम इस इतिहास की समस्त घटनाओं का हूबहू वर्णन करें या न करें? इस सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं तो हमारे सामने कई ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, जिनके कारण

हमारी लेखनी रुक जाती है और यह प्रश्न उठने लगता है कि, क्या समाज के व्यक्तियों में इतनी सहनशीलता आ गयी है कि, वे अपने से सम्बन्ध रखनेवाली सभी अच्छी या बुरी घटनाओं का हूबहू वर्णन और उस सम्बन्ध में की गयी सभी वास्तविक आलोचनाओं को सह सकेंगे ? वर्तमान में समाज का वातावरण जैसा दूपित हो रहा है उसे देखते क्या आश्चर्य है कि, कुछ व्यक्ति उन सभी सची बातों को भी सुनने के लिये तैयार न हों और उनका उलटा अर्थ लगा कर उसे व्यक्तिगत आक्रमण समझ बैठें। इत्यादि कई बातें ऐसी हैं जिनके कारण हमें असमंजस में पड़ जाना पड़ता है। परन्तु हम यह भी विचार करते हैं कि, मारवाड़ी समाज की इस समय जैसी विश्रृङ्खल अवस्था हो चली है, उसका मूल कारण भी वे ही घटनाएँ हैं जो कि, उस समय समाज में घटी थीं। इस प्रकार जब देखा जाता है कि, उस समय की उन घटनाओं का समाज पर बहुत बुरा असर पड़ा और उन्हीं के कारण आज समाज छिन्न-भिन्न हो रहा है तो ऐसे गुरुतर विपय पर कुछ न लिख कर उसे छोड़ देना भी जान बूझ कर इतिहास की हत्या कर डालना सा ही प्रतीत होता है। इतिहास का महत्व यही है कि, अच्छी या बुरी जैसी भी घटनाएँ हों उन सब पर प्रकाश डाला जाय, जिससे समाज की भावी सन्तानें यह निष्कर्प निकाल सकें कि, अमुक काम के करने से समाज की हानि हुई और अमुक काम करने से लाभ हुआ। इतिहास में यही विशेपता है कि, वह हमें अनुभूत शिक्षा देता है। इस दृष्टि से हमने यही उचित समझा कि, इस गुरुतर विपय का वर्णन हम इस ढंग से करें कि, जिससे किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप न हो और सिद्धान्त रूप से पाठक समझ जांय कि, वैसी घटनाओं के कारण ही उस समय समाज में विघटन हुआ था और आज उसकी ऐसी शोचनीय अवस्था हुई है।

इस सम्बन्ध का उल्लेख करने के पूर्व पाठकों को हम फिर यह वतला देना उचित समझते हैं कि, आगे चल कर हम जिन-जिन घटनाओं का

उल्लेख करेंगे, उनमें हमारा हेतु किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप करना न होगा। इस वर्णन का एक मात्र लक्ष्य यही होगा कि, पाठक किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई भली-बुरी धारणा न कर सिद्धान्त रूप से सार्वजनिक हानि लाभ का अनुभव करें और भविष्य के लिये कोई ऐसा उपाय सोच सकें कि, वैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो।

कुभावना की उत्पत्ति और उसका कारण—

समाज में व्यक्तिगत कुभावना का लक्षण पहले-पहल ई० सन् १६०० के लगभग बड़ी पंचायत में दीख पड़ने लगा था। पाठक जान चुके हैं कि, समाज की बड़ी पंचायत में सेठ ताराचन्द घनश्यामदास की प्रधानता वि० संवत् १६१८ से चली आ रही थी। इस फर्म का जिस समय जो भी कोई गुमाश्ता होता वही फर्म के प्रतिनिधि स्वरूप पंचायत में सरपंची के आसन पर बैठता था। इस फर्म के मालिकों ने स्वयं यहाँ आकर फर्म का काम सँभाला हो तथा पंचायत में सरपंची के आसन पर बैठे हों, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस फर्म के गुमाश्तों ने समय-समय पर बड़ी योग्यता से समाज का संचालन किया। उनकी प्रतिष्ठा समाज में मालिकों जैसी ही रही। अन्य सभी गुमाश्तों के संबंध में कुछ न लिख कर यहां हम श्री० जयनारायणजी पोद्दार के सम्बन्ध में ही विशेष रूप से लिखने की चेष्टा करेंगे। जयनारायणजी विक्रमी संवत् १६५३-५४ के लगभग पहले-पहल इस फर्म के प्रधान गुमाश्ते बन कर कलकत्ते में आये थे। उन्होंने पंचायत में बैठ कर अपने ओज और सभा-चातुर्य का ऐसा परिचय दिया कि, समाज में उनकी प्रतिभा का विस्तार होने लगा। यदि यह कहा जाय कि, उस समय उनकी तरह युक्तियुक्त और प्रभावपूर्ण एवं मधुर शब्दों में बोलनेवाला शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति रहा हो तो इसमें अत्युक्ति नहीं है। एक ओर तो उन्होंने समाज पर अपनी योग्यता का सिक्का जमा लिया और दूसरी ओर फर्म के वाणिज्य-व्यापार में इतनी सफलता प्राप्त की कि, आर्थिक दृष्टि से न

केवल फर्म को ही ठोस बना लिया, बल्कि अपने आप भी बड़े भारी धनिक बन गये। जयनारायणजी में सभा-चातुरी के अतिरिक्त सिद्धान्तवादिता भी बहुत थी। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह बतलाना असंगत न होगा कि, वे रामगढ़ के सुप्रसिद्ध महात्मा कालूरामजी के शिष्य थे। महात्मा कालूरामजी आर्यसमाजी होने के साथ-साथ व्यवहार-चतुर और नीति-निपुण भी बहुत थे। आज के ४५ वर्ष पूर्व वि० संवत् १९५० में इस पुस्तक का लेखक जब रामगढ़ में उनसे मिला था और जिज्ञासु के रूप में उनसे कई प्रश्न किये थे तो उन्होंने जिस अच्छे ढंग से सब प्रश्नों के उत्तर दिये थे वह सब आज भी लेखक को याद हैं। एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने स्पष्ट कहा था कि, भौतिक संसार में रहनेवाला कोई कैसा भी विद्वान् और सिद्धान्तवादी व्यक्ति क्यों न हो, यदि उसमें नीति-निपुणता और व्यावहारिक-चातुर्य नहीं है तो वह व्यक्ति अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। यही कारण है कि, जयनारायणजी में उनके संसर्ग से बहुत अधिक व्यावहारिकता, सभा-चातुरी और नीति-निपुणता आ गयी थी और वे आर्य-समाज के सिद्धान्तों को मानने लगे थे।

प्रसंगानुसार यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि, सेठ ताराचन्द घनश्यामदास के घर के सर्व प्रधान गुमाश्ते उस समय श्री० हरदत्तरायजी प्रह्लादका थे, जिन्होंने प्रबन्धादि करने में बहुत अधिक दक्षता दिखाई थी। हरदत्तरायजी को यह श्रेय प्राप्त हुआ कि, गुमाश्ते होने पर भी उनकी क्षमता मालिकों जैसी रही। आप जितने सुप्रबन्धकर्ता और कार्यकुशल थे उतने ही गम्भीर और बड़े भारी कूटनीतिज्ञ भी थे। सच तो यह है कि, हरदत्तरायजी और जयनारायणजी ने इस फर्म की बागडोर सँभाल कर इतनी उन्नति की कि, फर्म के साथ ही साथ उनका नाम भी बहुत अधिक विख्यात हो गया। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा कि, हरदत्तरायजी की गणना यद्यपि सर्व प्रधान मुनीम कह कर होती थी और जयनारायणजी केवल कलकत्ते के फर्म के

प्रधान थे, तथापि जयनारायणजी ने अपना प्रभाव इतना बढ़ा लिया था कि, वे और भी दो कदम आगे बढ़ गये थे। यहाँ तक देखा जाने लगा था कि, मालिकों के सामने कोई भी बड़े से बड़ा विषय उपस्थित होता तो उसका निर्णय या तो जयनारायणजी से सम्मति लेकर किया जाता था या उस विषय को जयनारायणजी पर ही छोड़ दिया जाता था। सारांश यह है कि, जयनारायणजी ने अपनी योग्यता से इतना अधिक प्रभाव जमाया था कि, न केवल फर्म के वाणिज्य-व्यापार ही का अपितु अन्य सभी प्रकार के घरेलू कामों का संचालन जयनारायणजी की सम्मति के बिना नहीं हो पाता था।

इस प्रकार जयनारायणजी का प्रभाव सर्वापेक्षा बहुत अधिक हो गया तो कुछ ऐसे व्यक्तियों के हृदय में उनकी प्रतिभा और प्रभाव खटकने लगा जो कि, या तो खास कर फर्म के रिश्तेदारों में थे या कौटुम्बिक थे। हम यहाँ पर किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख करना अच्छा नहीं समझते। पर हमें मालूम है कि, कुछ ऐसे व्यक्ति जयनारायणजी की बढ़ती हुई प्रतिभा से डाह करने लगे थे। उन्हें यह सहन नहीं होता था कि, 'ताराचन्द घनश्यामदास' के घर में उनका इतना प्रभाव हो। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे जो कि, व्यापारिक और सामाजिक क्षेत्र में उनके साथ ईर्षा करने लगे थे तथा पंच-पंचायती के समय जयनारायणजी की ओजपूर्ण युक्तियों के सामने ठहर नहीं सकते थे। ऐसे ही कुछ व्यक्ति प्रकट या अप्रकट में उनके प्रतिद्वन्दी बन गये और सभी कामों में उनके कामों में अडंगा लगाने लगे। यद्यपि यह कुभावना व्यक्तिगत रूप में प्रकट हुई थी तथापि आगे चल कर इसका परिणाम इतना व्यापक और भयंकर हुआ कि, यह जहर समस्त समाज में फैल गया। पाठकों को ध्यान में रखना चाहिये कि, सदियों से बढ़ते हुए मारवाड़ी समाज में पहले-पहल विघटन शुरू होने का वास्तविक हेतु यही कुभावना है जो कि, जयनारायणजी के विरुद्ध कुछ व्यक्तियों के हृदय में उस समय उत्पन्न हुई थी।

पहले-पहल समाज की बड़ी पंचायत में इस कुभावना ने अपना रूप दिखाना शुरू किया। प्रत्येक विषय में नुक्ताचीनी होने लगी। परिणाम यह हुआ कि, जिस पंचायत में विचार के समय आवेश को स्थान नहीं मिलता था, उसमें नुक्ताचीनी के कारण उसे स्थान मिलने लगा। कुछ घटनाएँ ऐसी घटीं कि, उनका निर्णय आवेश और हुल्लड़ के वातावरण में किया गया। जाति-बहिष्कार जैसा गुरुतम दण्ड बिना समुचित रूप से विचार किये ही आवेश में आकर घण्टों में दिया जाने लगा। उदाहरणार्थ कन्याहरण काण्ड के सम्बन्ध में रामचन्द्र डालमिया को उसके नौकर जमुना खत्री के लगाव पर हठात् जाति बाहर करना और मकान से गिर कर मुन्ना ब्राह्मण की मृत्यु के संबन्ध में शिवनारायण छपारिया को जाति बाहर का दण्ड देना आदि कतिपय कार्य ऐसे हुए, जिनका विचार आवेश में आकर बिना पूरा अनुसंधान किये कुछ घण्टों में ही किया गया। यद्यपि ये घटनाए गुरुतर थीं, परन्तु उनका विचार जल्दबाजी में किया गया। उनका असर समाज पर सन्तोपजनक नहीं पड़ा। कुछ समय के बाद ही बहिष्कार का दण्ड असफल होता देखा जाने लगा। समाज के कुछ व्यक्ति दण्ड के प्रतिकूल बन गये, जिसका परिणाम यह हुआ कि, पंचायत की सत्ता कमजोर पड़ने लगी। यहां पर हमारा मतलब यह नहीं है कि, इस प्रकार के गुरुतर विषय पर दण्ड न दिया जाता, परन्तु जाति बहिष्कार का दण्ड कोई साधारण दण्ड नहीं है। यह दण्ड उसी अवस्था में दिया जाना चाहिये, जब कि, पूर्ण रूप से अनुसन्धान किया जाकर समाज का एक मत प्रकट हुआ हो। परन्तु उस समय इन सभी आवश्यक बातों पर ध्यान नहीं दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि, न केवल समाज की सत्ता का ही ह्रास हो गया बल्कि कुछ व्यक्तियों का मन इतना बढ़ गया कि, सामाजिक कामों में वे हुल्लड़बाजी से काम लेने लगे। हमने पहले बतलाया है कि, जयनारायणजी आर्यसमाजी विचार के होने के कारण समाज में सुधार की भावना रखते थे और पंचायत के कार्यों में जहां तक

सुप्रसिद्ध सुधारक



स्वर्गीय देवीवक्सजी सराफ

सम्भव होता इसी दृष्टिकोण से काम करने की चेष्टा करते थे। परन्तु कुभावनाग्रस्त कुछ मनचले व्यक्तियों ने उन्हें आर्यसमाजी और सुधारक बतला कर ऐसा प्रचार किया कि, पंचायत का वातावरण दूषित हो गया।

लगभग उसी समय नवीन ढंग की सभा-सोसाइटियों का प्रचार भी होने लगा था। जो लोग पंचायत में कुभावना का जोर बढ़ता देख विरोधी हो रहे थे, वे भी सभा-सोसाइटियों की ओर झुकने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि, जो मारवाड़ी समाज दीर्घ काल से पंचायत की सत्ता से एक सूत्र में आबद्ध चला आता था, वह भिन्न-भिन्न सभा-सोसाइटियों के रूप में दीख पड़ने लगा। इस प्रकार एक ओर तो पंचायत की सार्वत्रिक सत्ता घटने लगी और दूसरी ओर नवीन सभा-सोसाइटियों के रूप में मनमानी गुटबंदियाँ और धड़ावन्दियों का दौर-दौरा हो गया।

पाठकों को यहाँ पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि, उस समय समाज में हरीरामजी गोयनका और शिवप्रसादजी झूँझनूंवाला इन दोनों व्यक्तियों का प्रभाव सर्वोपरि था। यदि यह कहा जाय कि, समाज में उस समय उनकी इच्छा के बिना कोई काम नहीं हो सकता था, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। परन्तु खेद के साथ कहना होगा कि, जिस समय कुछ व्यक्तियों के हृदय में जयनारायणजी के विरुद्ध दुर्भाव पैदा हुआ और वह पहले-पहल बड़ी पंचायत में प्रकट होने लगा, उस समय इन दोनों प्रभावशाली सज्जनों ने इस दुर्भाव को दबाने में कोई प्रभावशाली प्रयत्न नहीं किया। उस समय वे मौन धारण कर द्वारिका के बसुदेव बन गये। परिणाम यह हुआ कि, मध्यम श्रेणी के कुछ मनचले व्यक्तियों का हौसला और भी अधिक बढ़ गया। आगे चल कर तो यह भी देखा गया कि, वे मनचले व्यक्ति कहीं-कहीं पर उनके प्रभाव के भी बाधक होने लगे। मालूम नहीं, उनकी चुप्पी में क्या रहस्य था? पर यह तो स्पष्ट देखने

में आया कि, उनका हस्तक्षेप न होना समाज के लिये घातक सिद्ध हुआ और पारस्परिक वैमनस्य और धड़ाबन्दियों का साम्राज्य छा गया।

कुछ मनचले व्यक्तियों ने एक ऐसी गुप्त गोष्ठी कायम की, जिसका निर्माण नियमबद्ध न होने पर भी उसका कार्य हलचल मचा देनेवाला सिद्ध हुआ। इस गोष्ठी के दस-पाँच सदस्य किसी स्थान पर जमा हो जाते थे या किसी मकान के चौंतरे पर बैठ कर परामर्श कर लिया करते थे। शायद यही कारण था कि, इस गोष्ठी को लोग 'चौंतरा पंचायत' भी कहने लगे थे। उनके इस प्रकार के विचित्र संगठन का एक मात्र लक्ष्य यह प्रकट होता था कि, किसी प्रकार सेठ ताराचन्द घनश्यामदास की सरपंची को मिटाना और उनके प्रधान मुनीम जयनारायणजी के बढ़ते हुए प्रभाव को नष्ट करना। समाज का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि, इस प्रकार की कुभावना से होनेवाली हलचल ने समाज-समुद्र को गंदला बना दिया और उसका परिणाम समाज के सामने यह आया कि, व्यक्ति-विद्वेष मूलक पारस्परिक विद्रोह आरम्भ हो गया।

हमने जिस गुप्त गोष्ठी का उल्लेख ऊपर किया है और यह बतलाया है कि, उसका कोई नियमबद्ध संगठन नहीं था, यद्यपि यह सोलहों आना सत्य बात है, तथापि यहाँ पर यह लिखना सत्य से परे न होगा कि, गोष्ठी के पीछे बड़ी-बड़ी शक्तियाँ काम करती थीं। कुछ व्यक्ति तो ऐसे भी थे, जो कि, प्रकट रूप में तो जयनारायणजी के मित्र और साथी बने हुए थे परन्तु अप्रकट में उनका प्रभाव घटाने के लिए गोष्ठी को गुप्त परामर्श दिया करते थे। यही कारण था कि, इस गुप्त गोष्ठी का चक्र बड़े जोर से चला।

वि० संवत् १९६६ में हठात् एक ऐसी घटना घटी कि, गुप्त गोष्ठीवालों को और भी आगे बढ़ने का सहारा मिल गया। घटना यह थी कि, जयनारायणजी के मँझले पुत्र श्री दीपचन्दजी की स्त्री का असमय में ही शरीरान्त हो गया। जयनारायणजी ने १६ संस्कारों के अनुसार अपनी

पुत्रबधू का अन्त्येष्टि कर्म कराया। अन्त्येष्टि करानेवाले बड़ाबाजार के सुप्रसिद्ध वैद्य पं० रामदयालुजी शर्मा सिंघानेवाले थे। फिर क्या था? कुछ व्यक्तियों ने भोलीभाली अपढ़ जनता को भड़काना शुरू कर दिया कि, मृत व्यक्ति का अन्त्येष्टि कर्म कराना सनातन-धर्म-विहित कर्म नहीं है। इस कर्म को करानेवाले या तो नास्तिक होते हैं या आर्यसमाजी। अन्त्येष्टि क्रिया करना सनातन-धर्म के अनुकूल है या प्रतिकूल, इसका विचार किसी ने नहीं किया। इसके अतिरिक्त किसी ने यह भी नहीं सोचा कि, १६ संस्कारों का महत्व क्या है? जयनारायणजी और पं० रामदयालुजी के विरुद्ध समाज में एक बड़ा आन्दोलन खड़ा हो गया। गुप्त गोष्ठीवाले उस समय स्वयं परदे की आड़ में छिपे रह कर इस आन्दोलन को 'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' के नाम पर चलाने लगे। हमारा यह विश्वास है कि, ब्राह्मण समाज उस समय वैश्यों के झगड़े में पड़ना नहीं चाहता था और ब्राह्मण समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति इस आन्दोलन में पड़ना उचित नहीं समझते थे, तथापि गुप्त गोष्ठीवाले कुछ चलते-पुर्जे व्यक्तियों ने कुछ ब्राह्मणों को अपने प्रभाव में कर लिया। इस तरह ये लोग धनिकों के प्रभाव में आकर उक्त सभा के नाम से आन्दोलन का संचालन करने लगे। गुप्त गोष्ठी द्वारा 'सनातनधर्म' नामक दैनिक पत्र निकला। उसने उचित-अनुचित सभी प्रकार से मनमानी हाँकनी शुरू की। बदले में 'सत्य सनातन-धर्म' का प्रादुर्भाव हुआ और जैसे को तैसा उत्तर दिया जाने लगा। इन पत्रों का जन्म क्या हुआ, मानो समाज में दोनों ओर किसी भी अच्छे से अच्छे व्यक्ति के लिए अपनी इज्जत बचाना कठिन हो गया। उस समय कुछ ऐसा वातावरण हो गया था कि, झूठी-सच्ची बातें गढ़ कर गाली निकालना और अपने से भिन्न विचार रखनेवाले व्यक्ति को किसी प्रकार बदनाम करना एक मामूली खेल हो गया था। 'सनातन-धर्म' और 'सत्य सनातन-धर्म' दोनों ही पत्र खुराफातों से भरे रहते थे और अपने-अपने पक्षवालों की रुचि बिगाड़ने और फूट तथा वैर बढ़ाने का काम

करते थे। इनसे समाज के निष्पक्ष व्यक्तियों को घृणा होने लगी थी। यही कारण था कि, लेखक ने उस समय स्थानीय 'मारवाड़ी'* पत्र में एक लेखमाला दस अंकों में लिख कर दोनों ओर की खुराफातों का विरोध किया था और यह दिखाया था कि, इस प्रकार की खुराफातों से किसी भी सम्प्रदाय या धर्म की वृद्धि नहीं हो सकती। इसका परिणाम तो यही निश्चित है कि, समाज के व्यक्तियों में पारस्परिक वैमनस्य की गांठ इतनी सुदृढ़ हो जायगी कि, आगे चल कर सुलझाई न सुलझ सकेगी और फल यह होगा कि, वृहत् मारवाड़ी समाज, समाज कहाने योग्य भी नहीं रहेगा। लेखक को इस बात का हर्ष है कि अवश्य ही उस समय उक्त लेखमाला का असर समाज पर पड़ा था और दोनों ओर के खिलाड़ी कुछ नरम भी पड़ गये थे। परन्तु इतना होने पर भी दुर्भाव और विद्वेष का आन्दोलन सर्वथा दब गया हो, ऐसा भी नहीं हुआ।

गुप्त गोष्ठीवालों ने बाहर से कुछ ऐसे नामी गरामी विद्वानों और वक्ताओं को बुलाया कि, जो सनातन-धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् समझे जाते थे और भोलीभाली जनता पर अपना रंग जमा सकते थे। आनेवाले विद्वानों में सर्व श्री पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र मुरादाबादी, दिल्ली के पं० हरिनारायणजी शास्त्री, बाणीभूषण पं० नन्दकिशोरजी शुक्ल और सुप्रसिद्ध पं० भीमसेनजी शर्मा थे जो पहले कई वर्ष आर्यसमाज के लीडर रह चुके थे और 'आर्यसिद्धान्त' पत्र में अपने आपको स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य घोषित किया करते थे एवम् चूरू के सेठ माधोप्रसादजी खेमका के अग्निष्टोम यज्ञ कराने के समय इटावा में पशु-हिंसा के भावों को लेकर आर्यसमाज से हट कर सनातनी बन गये थे।

इन विद्वानों का जब कलकत्ते में आगमन हुआ तो यद्यपि समाज का वातावरण बहुत अधिक दूषित हो रहा था, तथापि कुछ विचारशील और निष्पक्ष व्यक्तियों ने यह समझा कि, अन्त्येष्टि क्रिया को लेकर जो आन्दो-

* 'मारवाड़ी' साप्ताहिक पत्र—राधाकृष्णजी टीवड़ेवाला द्वारा सम्पादित

लन चल रहा है उसकी मीमांसा इन विद्वानों द्वारा हो जायगी और निश्चय ही ये लोग अन्त्येष्टि क्रिया को वैदिक सनातन-धर्म के अनुकूल करार देंगे। परन्तु हुआ इसके विपरीत। आये हुए विद्वान् सोलह संस्कारों के महत्व की ओर न ध्यान देकर सांप्रदायिकता की ओर झुक गये और धनिकों के प्रभाव में आकर अन्त्येष्टि कर्म का निषेध करने लगे। उनका अखाड़ा हरिसन रोड स्थित 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी विद्यालय' में प्रायः डेढ़ महीने तक प्रति दिन लगता था। उन्होंने इसी विषय को लेकर मनमाने ढंग से बहुत अधिक प्रचार किया और समाज में इतनी कटुता बढ़ गयी कि, लोगों के दिल फट गये। आश्चर्य तो यह देखने में आया कि, इन विद्वानों ने सनातन-धर्म के १६ संस्कारों की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया और साम्प्रदायिकता को महत्व देकर विरोध ही बढ़ाते गये। हमारी तो यह धारणा है कि, यदि ये विद्वान् सांप्रदायिक कुभावना और झगड़े को प्रोत्साहन न देकर सिद्धान्त पर ध्यान देते तो अन्त्येष्टि कर्म की मीमांसा हो जाती। साथ ही समाज का बढ़ता हुआ वैमनस्य भी दब जाता। पर खेद है, उन्होंने ऐसा नहीं किया। उस समय यह अनुभव होने लगा था कि, सांप्रदायिक भावना और उसके कारण समाज में उठ खड़ा होने-वाला झगड़ा इतना भयानक होता है कि, अच्छे से अच्छे व्यक्ति को भी विचारशून्य बना देता है और वास्तविकता तथा अवास्तविकता पर विचार नहीं किया जाता। शायद यही कारण था कि, उस समय समाज में सांप्रदायिक उच्छृंखलता आ गई थी। इस प्रकार सांप्रदायिक वातावरण जब खूब दूषित हो गया तब गुप्त गोष्ठीवालों ने अनुकूल मौका पाकर एक दूसरी चाल चली और वह चाल यह थी कि, 'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' से समाज के कुछ व्यक्तियों को जिनमें जयनारायणजी पोद्दार प्रमुख थे ऐसे पत्र दिलवाये गये कि, 'तुम सनातनधर्मी हो या नहीं, लिखित उत्तर दो।' कहना न होगा कि, कुछ व्यक्तियों के पास जब ऐसे पत्र आये तो समाज में हलचल मच गयी। कुछ व्यक्तियों ने इन पत्रों को अनधिकार चेष्टा

और नादिरशाही हुक्म समझा। कुछ व्यक्ति जो कि, सांप्रदायिकता के शिकार हो चुके थे अपने अधिकार के घमण्ड में ताण्डव नृत्य करने लगे। जिन व्यक्तियों के पास पत्र आये, उनमें कतिपय व्यक्ति कट्टर सनातनधर्मी भी थे और कुछ आर्यसमाजी, जैनी और सुधारप्रिय समझे जाते थे। आये हुए पत्रों के उत्तर वे अपने-अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार सरलता से दे सकते थे परन्तु उस समय समाज में कुछ ऐसा दूषित वातावरण फैल गया था कि, सरलता से उत्तर देना भी कठिन दीख पड़ने लगा। सच तो यह है कि, उन पत्रों का लक्ष्य धर्म-विश्वास का अनुसन्धान करना नहीं था, लक्ष्य था कुछ लक्षित व्यक्तियों पर दबाव डाल कर उन्हें विचलित करना और समाज में उनकी प्रतिष्ठा और नैतिकता नष्ट करना। साधारणतया 'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' द्वारा पत्र लिखाये जाने में गुप्त गोष्ठीवालों का यही लक्ष्य था और इसी लक्ष्य से पत्र दिलवाये गये थे। इसका नतीजा यह हुआ कि, जो व्यक्ति कट्टर सनातनी थे वे भी इस प्रकार दवाव से उत्तर देना अनुचित और जबर्दस्ती समझने लगे। इन पत्रों के कारण समाज में पारस्परिक कटुता इतनी बढ़ी कि, मनुष्यों के हृदय में भीतर ही भीतर व्यक्तिगत वैमनस्य की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। इस आन्दोलन ने समाज में कई प्रकार से हलचल मचा दी। कुछ व्यक्तियों ने इस कार्य को सर्वथा अनुचित समझ कर भी समाज में शान्ति बनाये रहने की दृष्टि से उत्तर लिख दिया तो कुछ व्यक्यों ने जो कि, दवाव में आनेवाले न थे ऐसा उत्तर दिया कि, जिसमें बड़ी आलोचना की गयी। कुछ व्यक्तियों ने पत्र लिखते समय 'ॐ' अथवा 'ओ३म्' लिखा तो उस पर भी आपत्ति की गयी और 'ॐ' के स्थान पर 'श्री' लिखने पर जोर दिया गया। उस समय मालूम होता था कि, 'ॐ' या 'ओ३म्' का महत्व उनके यहाँ नहीं है और 'श्री' ने ही सनातन-धर्म पर एकाधिकार जमा लिया है। इस विषय को लेकर बड़ी-बड़ी आलोचनाएँ हुईं और स्पष्टतया यह अनुभव होने लगा कि, यह व्यक्तिगत दुर्भाव का ही परि-

णाम है कि, साम्प्रदायिकता की आड़ में मृत व्यक्ति का अन्त्येष्टि कर्म कराने तथा 'ॐ' या 'ओ३म्' का निषेध भी हो सकता है।

सच तो यह है कि, इस आन्दोलन का सारा दारमदार उस समय गुप्त गोष्ठीवालों पर था। उनकी ओर से जितने भी प्रयत्न किये जाते थे वे जयनारायणजी को ही लक्ष्य करके होते थे। यह दूसरी बात है कि, उनका प्रयत्न ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा और बैमनस्य फैलता गया त्यों-त्यों अन्य व्यक्ति भी लपेट में आ गये पर असली लक्ष्य जयनारायणजी ही बनाये गये थे। जयनारायणजी पहले पहल बहुत सुदृढ़ बने रहे और किसी प्रकार भी विचलित नहीं हुए परन्तु ऊपर के कथन से पाठक समझ गये होंगे कि, जयनारायणजी के विरुद्ध कुछ चलते-पुर्जे व्यक्तियों का षड्यंत्र था और उस षड्यंत्र के पीछे बड़े बड़े प्रभावशाली व्यक्तियों की छिपी हुई शक्ति काम कर रही थी। यद्यपि जयनारायणजी वैसे कई व्यक्तियों के दबाये नहीं दबे तथापि यह लिखना अनुचित न होगा कि, श्री० हरदत्तरायजी प्रहलादका ने—जिन्हें जयनारायणजी अपना हार्दिक मित्र और सुहृद् समझते थे जयनारायणजी पर कुछ ऐसा दबाव डाला कि, उन्हें नरम हो जाना पड़ा। हरदत्तरायजी बड़े कूटनीतिज्ञ थे ही। उन्होंने जयनारायणजी, उनके पुत्र रामचन्द्रजी और दीपचन्दजी पर यह कह कर दबाव डाला कि, किसी भी व्यक्ति विशेष का धार्मिक विश्वास बलपूर्वक नहीं बदला जा सकता। जिसका जैसा विश्वास है वह वैसा ही रहेगा। परन्तु समाज में जो दूषित वातावरण हो रहा है, उसे दबा देना ही बुद्धिमानी है। इन बातों का इतना प्रभाव पड़ा कि, जयनारायणजी गंभीर बन गये। यद्यपि उनसे यह बात छिपी हुई न थी कि, इस आन्दोलन का वास्तविक रहस्य क्या है और कौन कौन व्यक्ति इसमें भाग ले रहे हैं, तथापि जयनारायणजी ने अपने मित्र हरदत्तराय की बातों का अनादर नहीं किया और समाज का वैमनस्य दूर करने की भावना से जिस प्रकार हरदत्तरायजी ने चाहा, 'मारवाड़ी ब्राह्मण सभा' के नाम

सनातनी होने का पत्र लिख दिया। अब क्या था ? चाहे किसी दूसरे व्यक्ति ने पत्र का उत्तर दिया हो या न दिया हो, जयनारायणजी के पत्र लिख देने पर गुप्त गोष्ठीवालों की फतह हो गयी। वे अपने 'आदर्श परिश्रम' को सफल समझ कर विजय का डंका बजाने लगे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि, वाह्य दृष्टि से उनकी जीत हुई। परन्तु उसी दिन से वृहत् मारवाड़ी समाज में आन्तरिक भेदभाव और वैमनस्य की खाई इतनी चौड़ी हो गयी कि, उसका पट जाना तो दूर रहा, वह दिन-दिन बढ़ती ही चली गयी और समाज के दो टुकड़े हो ही गये।

अब प्रश्न यह रहा कि, इस प्रकार की कार्यवाही से वास्तव में क्या सनातन-धर्म का हित साधन हुआ ? इसका उत्तर तो वे ही सज्जन दे सकते हैं, जिन्होंने इस मामले को इतना तूल दिया था। परन्तु, देखा तो यह गया कि, अब तक समाज में जो व्यक्तिगत द्वेष सम्प्रदाय की आड़ में काम कर रहा था वह चौड़े आ कर दलबन्दी में परिणत हो गया। बात यह है कि जोर-जबर्दस्ती और अत्याचार से जो कार्य किया जाता है, उसमें कभी सफलता भी दिखाई पड़े तो भी उसकी वह सफलता स्थायी नहीं होती, और फिर उसका परिणाम तो समय पाकर बहुत ही भयंकर होता है। ऐसी ही अवस्था उस समय मारवाड़ी समाज की हुई। जिस ढङ्ग से दबाव डालकर कुछ व्यक्तियों से पत्र लिखाये गये और बहुमत के बल पर उनका बलपूर्वक नैतिक पतन कराया गया, उसीका यह परिणाम था कि, आगे चलकर न केवल साम्प्रदायिकता का ही खात्मा हुआ बल्कि समाज में प्रत्यक्षतया दो दल हो गये। पहले आन्दोलन में जहाँ सनातन-धर्म और आर्यसमाज का झगड़ा व्यक्त होता था, वहाँ अब जिद्दा-जिद्दी की भावना रह गयी। जातीयता के भावों का स्थान व्यक्तिगत अहम्मन्यता ने ले लिया। विचित्रता तो यह देखने में आई कि, इस दलबंदी में किसी भी सम्प्रदाय की प्रधानता नहीं रही। जो दल सुधारक कहा जाने लगा उसमें सनातनी, आर्यसमाजी और जैनी

आदि सभी सम्प्रदायों के व्यक्ति दीख पड़ने लगे। कुछ सनातनी
भी पहले की धांधली के कारण सुधारक रूप में प्रकट होने लगे।
जो दल पुराने खयालों का था और पहले आन्दोलन को चलाने में जिसने
विशेष रूप से भाग लिया था, उसमें भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति
देखे जाने लगे। यहाँ तक हुआ कि, यदि कोई व्यक्ति चरित्रभ्रष्ट और
आचारहीन भी था तो भी चलता-पुर्जा, प्रभावशाली और धनिक होने के
कारण पार्टियों में महत्वपूर्ण स्थान पाने लगा। सच तो यह है कि, रूढ़ि-
वादी और सुधारक नाम से प्रत्यक्षतया समाज में दो दल हो गये और
समाज का रहा-सहा नियंत्रण भी नष्ट हो गया।

हमारी इच्छा यह थी कि, इस प्रकार दो दलों में विभक्त समाज के
सम्बन्ध में हम प्रत्येक घटना का विस्तार के साथ उल्लेख करें, पर यह
समझ कर कि, ऐसा करने से ज्ञातीयता के महत्व को न समझनेवाले कुछ
व्यक्ति हमारी समालोचना का कटु अर्थ लगाने लगेंगे जिससे समाज में
और भी अधिक विघटन पैदा हो जायगा—अतएव हम यहाँ पर विस्तार
के साथ न लिख कर कुछ ऐसी घटनाओं का संकेत मात्र ही करेंगे जिससे
पाठक यह समझ सकें कि, उन घटनाओं के कारण ही समाज में दलबन्दी
को प्रश्रय मिला।

विद्यालय में सांप्रदायिक भेदभाव
अधिकारों के अपहरण की चेष्टा
गीता का प्रस्ताव—

पाठक जान चुके हैं कि, 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय'
मारवाड़ी समाज की एक सार्वजनिक
संस्था है और इसमें किसी न किसी रूप
में प्रायः सभी संप्रदायवालों ने सहायता
की है। पाठक यह भी जान चुके हैं
कि, भवन निर्माण सम्बन्धी धन-संग्रह करने के समय एक बार प्रश्न
उपस्थित होने पर स्पष्टतया यह घोषित किया गया था कि, यह संस्था
सार्वजनिक होगी और इस पर किसी विशेष संप्रदाय का प्रभुत्व न रहेगा।
परन्तु पुराने विचारों के कुछ चलते-पुर्जे व्यक्तियों ने इस सार्वजनिक

संस्था पर सब से पहले अपना एकाधिपत्य जमाने का प्रयत्न करना शुरू कर दिया। जिन व्यक्तियों ने अपने सिर की पगड़ी उतार कर प्रतिज्ञा की थी और बड़े परिश्रम से धन-संग्रह किया था तथा भवन बनाने के लिए मछुआबाजार स्ट्रीट में जो जमीन खरीदी गई थी उस जमीन को खाली कराने में अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी—ऐसे कुछ व्यक्ति कार्यकारिणी से हटाये जाने लगे। यह दुर्भाव यहाँ तक बढ़ा कि, एक ऐसा प्रस्ताव भी पास किया गया कि, "इस संस्था की कार्यकारिणी समिति का वही व्यक्ति सदस्य हो सकेगा, जो गीता की पुस्तक हाथ में लेकर धर्मपूर्वक यह शपथ करेगा कि, मैं सनातनधर्मी हूँ और सनातन-धर्म के अनुसार ही कार्य करूँगा।" पुराने विचारवालों की संख्या अधिक होने के कारण सहज में ही यह प्रस्ताव पास हो गया। परन्तु इस प्रस्ताव के पास होने से समाज में बड़ी हलचल मची। निष्पक्ष व्यक्ति यह समझने लगे कि, यह सरासर अन्याय है। जब सनातनी, आर्यसमाजी और जैनियों से यह कह कर धन लिया गया कि, यह संस्था सार्वजनिक रहेगी तो इस प्रकार का प्रस्ताव पास करना अन्य सम्प्रदायों के धनदाताओं का जान-बूझ कर अपमान करना और उनके स्वत्वों का अपहरण करना है।

यद्यपि इस प्रकार के विचारवालों की संख्या उस समय बहुत कम थी तथापि न्याय अल्पमतवालों के अनुकूल था। उन्होंने अल्प मत होने पर भी अपने स्वत्वों और अधिकारों की रक्षा के लिए प्रस्ताव के विरुद्ध आन्दोलन करना शुरू कर दिया। अवश्य ही उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि, पुराने विचारवालों के बहुमत के सामने उनके अधिकारों की रक्षा न हो सकेगी। ऐसा हुआ भी। तीन चार मीटिंगें करने पर भी बहुमत से वे हार गये। पर उन्होंने अपना उद्योग नहीं छोड़ा। जो व्यक्ति बिना सोचे-समझे प्रभावशाली व्यक्तियों के इशारे पर मत दे आते थे, उनकी आलोचना की जाने लगी और जब उनसे पूछा गया कि, 'तुमने विषय को समझ कर मत दिया या किसी के दबाव से?' तब इसका असर

ऐसा पड़ा कि, इशारे पर वोट देनेवाले व्यक्ति शरमा गये और जब आखिरी मीटिंग की गई तो वे उपस्थित ही नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि, अन्त में गीता की शपथ का प्रस्ताव रद्द हो गया। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि, अल्प मत होने पर भी यदि सच्चाई और न्याय अनुकूल होता है तथा अन्दोलन का संचालन गंभीरता से किया जाता है तो उसमें सफलता अवश्य मिलती है। गीता सम्बन्धी प्रस्ताव से उत्पन्न होनेवाले वातावरण में कुछ ऐसा ही परिणाम देखने में आया। परन्तु, खेद है कि, गीता का प्रस्ताव कायम न रहने पर भी लोगों के मन एक दूसरे की तरफ से साफ न हो सके। कुछ व्यक्तियों के हृदय में कटुता बढ़ी तो कुछ व्यक्ति यह समझने लगे कि, सार्वजनिक संस्था घोषित कर जो धन संग्रह किया जाता है, उसमें भी अपने बहुमत के जोर पर कुभावनाग्रस्त कुछ व्यक्ति लाभ उठाने लगते हैं। ऐसी अवस्था में धन न देकर वैसी सार्वजनिक कहे जानेवाली संस्था से उदासीन रहना ही उन्होंने ठीक समझा। परिणाम यह हुआ कि, सर्वसाधारण धनिकों ने फिर से धन की सहायता करना बन्द कर दिया। विद्यालय ने अब तक जो धन संग्रह किया था वह और आगे नहीं बढ़ सका। इस प्रकार के भावों के कारण इस शिक्षा-संस्था का कार्य भी यहीं रुक गया, आगे नहीं बढ़ सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, कुछ व्यक्तियों के हृदय में यदि सांप्रदायिक भेदभाव पैदा नहीं होता और गीतावाला प्रस्ताव उपस्थित ही नहीं किया जाता तो समाज के सभी संप्रदायों के धनशील व्यक्ति इस संस्था को अपनी सार्वजनिक जातीय संस्था समझ कर आवश्यकतानुसार धन देते रहते और इस मूलभूत विद्यालय का दायरा इतना बढ़ जाता कि, हाई-स्कूल के अतिरिक्त समाज में कई एक कालेज भी खुल जाते और समाज के सिर पर विद्या-विहीन जाति होने का जो कलंक है वह सहज में धुल जाता। परन्तु, समाज का दुर्भाग्य था कि, कुछ लोगों की धींगाधींगी, धांधली और बेसमझी से लोगों के मन फट गये और उन्होंने धन देने से अपना हाथ

खींच लिया जिसका नतीजा यह हुआ कि, इस शिक्षा-संस्था द्वारा वास्तविक कार्य सम्पन्न नहीं हो सका। यद्यपि सांप्रदायिक भावना को लेकर 'माहेश्वरी विद्यालय' 'श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी विद्यालय' और 'श्री डीडू माहेश्वरी विद्यालय' आदि निर्माण तो हुए पर समाज के सार्वजनिक शिक्षा-क्षेत्र का आवश्यकता के अनुसार विस्तार न हो सका।

कलकत्ते में वैश्य महासभा और कुछ अप्रिय घटनाएँ

'वैश्य महासभा' का अस्तित्व पुराना है। इसका सम्बन्ध सभी जातियों और संप्रदायों के वैश्यों से है। इसका वार्षिक अधिवेशन प्रति वर्ष किसी न किसी प्रान्त में होता रहता है। इस संस्था की स्थापना आगरे के सुप्रसिद्ध जज लाला वैजनाथजी और मेरठ के रिटायर्ड सेशन जज लाला केदारनाथजी अग्रवाल ने की थी। इन दोनों सज्जनों ने इस संस्था द्वारा सार्वजनिक भावना से वैश्य समाज की वर्षों तक बड़ी सेवाएँ की। सामाजिक और व्यापारिक विषयों के अतिरिक्त शिक्षा के सम्बन्ध में तो इन्होंने और भी अधिक अनुकरणीय कार्य किया। दिल्ली में 'रामजस कालेज' इन्हीं की कीर्ति है जो कि, लाला केदारनाथजी के पिता लाला रामजसजी की स्मृति आज भी करा रही है।

लाला वैजनाथजी और केदारनाथजी की इच्छा थी कि, कलकत्ते में महासभा का अधिवेशन किया जाय। वे समझते थे कि, कलकत्ता व्यापार का केन्द्र एवं अन्तर्जातीय स्थान है और वहाँ सभी सम्प्रदायों के वैश्य निवास करते हैं। कलकत्ते में महासभा का अधिवेशन होने से वैश्यों का बहुत अधिक हित-साधन हो सकता है। उनकी प्रेरणा से कलकत्ते में चर्चा शुरू हुई। धन्नूलालजी अग्रवाल अटर्नी-एट-ला ने इस विषय को 'मारवाड़ी एसोसियेशन' एवं 'वैश्य सभा' में उठाया और 'वैश्य महासभा' का अधिवेशन कलकत्ते में करना निश्चित हो गया। ई० सन् १९१२ में महासभा को निमंत्रण दिया गया। स्वागताध्यक्ष श्री धन्नूलालजी अग्र-





श्रीयुक्त देवीप्रसादजी खेतान

वाल और मन्त्री बाबू देवीप्रसाद खेतान मनोनीत हुए और सभी विचारों के व्यक्ति स्वागत समिति के सदस्य बने। चिम्मनलालजी गनेड़ीवाले के प्रस्ताव और सर्वसम्मति से देहरादून निवासी भक्तराज लाला बलदेवसिंहजी महासभा के सभापति चुने गये। भारतवर्ष के अनेक वैश्य नेता महासभा में शामिल होने के लिए बड़ी संख्या में आये। स्थानीय 'कर्जन थियेटर' के हाल में महासभा का अधिवेशन पहले दिन बड़ी धूमधाम से किया गया। पहले दिन का अधिवेशन क्या था, मानो धनिक वैश्य समाज का एक जीता-जागता प्रदर्शन था। परन्तु खेद है कि, पहले दिन की सफलता को देख कर मारवाड़ी समाज के कुछ ऐसे व्यक्ति, जो कि दस पांच दिन पहले से ही यह समझने लगे थे कि, इस अधिवेशन का संचालन सुधारप्रिय लोगों के हाथ में है और इसका सारा श्रेय भी उन्हीं को मिलेगा, ईर्षालु हो गये और सभापति के विरुद्ध आवाज उठाने लगे। उन्होंने यह प्रचार किया कि, लाला बलदेवसिंहजी के कुटुम्ब में विधवा विवाह हो चुका है और यही कारण है कि, महासभा में विधवा विवाह पास किया जावेगा। विरोध करनेवालों में कई ऐसे व्यक्ति भी थे जो बलदेवसिंहजी में बड़ी श्रद्धा रखते थे और कलकत्ते तथा देहरादून में बड़े प्रेम से उनके साथ भोजन करते थे, परन्तु साम्प्रदायिक कुभावना एक ऐसी चीज है कि, लोगों का मन फेर देती है। कुछ व्यक्तियों ने रातोंरात कर्जन थियेटर के मालिक मि० मैडन से मिल कर ऐसा उद्योग किया कि, दूसरे दिन कर्जन थियेटर में ताला लग गया। पर महासभा का अधिवेशन इससे नहीं रुका। कर्जन थियेटर के सामने ही 'यंगमैन्स-क्रिश्चियन एसोसियेशन' के हाल में दूसरे दिन का अधिवेशन किया गया। थियेटर के मालिक मि० मैडन को जब मालूम हुआ कि, उन्हें कुछ लोगों ने धोखा दिया है तो उन्होंने खेद प्रकट करते हुए थियेटर-हाल का ताला भी खुलवा दिया। इस घटना का जब रहस्य प्रकट हुआ तब उससे समाज में बड़ी भारी हलचल मची। इस कार्य में भाग लेनेवाले व्यक्तियों से लोग

घृणा करने लगे। लेखक को याद है कि, इस घटना के सम्बन्ध में स्वागताध्यक्ष श्री छन्नूलालजी अग्रवाल अटर्नी-एट-ला ने भाषण देते हुए कहा था कि, 'विपक्षियों द्वारा आज ऐसा घृणित कार्य हुआ है, जिसका समर्थन, राजनीति, धर्मनीति और समाजनीति कोई भी नहीं कर सकती।' उन्होंने यह भी कहा था कि, 'समाज के कुछ व्यक्तियों का मनोभाव यदि ऐसा ही दूषित बना रहा तो एक दिन अवश्य ऐसा आवेगा कि, मारवाड़ी समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।' वैश्य महासभा का अधिवेशन सफलता के साथ सम्पन्न हो गया। परन्तु उसके विरुद्ध जो चालें चली गयीं उनसे समाज में जो वैमनस्य उत्पन्न हुआ, वह दूर नहीं हो सका।

विलायत-यात्रा और समाज में प्रचण्ड आन्दोलन

मारवाड़ी समाज में वि० संवत् १९४३ में जब कि, इन्द्रचंदजी दुधोड़िया और इन्द्रचंदजी नाहटा ने पहले पहल विलायत-यात्रा की तभी से विलायत-यात्रा का आन्दोलन शुरू हुआ। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, मारवाड़ी जाति की गणना धर्मभीरु कह कर होती है। शुद्ध निरामिष खानपान और आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में इस जाति की गणना प्रमुख रूप में होती है। स्मृतियों और पुराण-इतिहासादि ग्रन्थों से पता लगता है कि, इस देश का सम्बन्ध विदेशों से बहुत अधिक रहा है। हमारे पूर्वजों ने प्राचीन समय में विदेशों की यात्रा कर वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचार किया था और उन देशों को अपने अधीन कर पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध भी किये थे। परन्तु पीछे कुछ ऐसा समय आया कि, विदेशों का आवागमन बन्द हो गया। इसका कारण यह था कि, पहले जो विदेश-यात्रा होती थी, वह संघबद्ध हुआ करती थी, जिससे खानपान में किसी प्रकार की अड़चन नहीं हो पाती थी। पीछे जब व्यक्तिगत यात्रा होने का समय आया तो शुद्ध खानपान में सुगमता न देख कर विलायत-यात्रा का विरोध





शिक्षाप्रेमी स्वर्गीय नौरंगरायजी खेतान

होने लगा। तत्कालीन धर्माचाय और समाज-संचालकों ने कुछ ऐसा प्रचार किया कि, विदेशों में खानपान की पवित्रता नहीं रह सकती। अतः विदेश-यात्रा करना उचित नहीं है। समाज में यह भावना सदियों तक रही और विदेश-यात्रा निषिद्ध समझी जाने लगी। परन्तु योरपवालों ने जब भारतबर्ष में आना शुरू किया और भारतवर्ष की राजसत्ता उनके हाथ में आ गई तो विदेशों के साथ पुनः सम्पर्क हो गया। भारत की सभ्यता और राजनीति बदलने लगी। विदेशी सभ्यता के प्रभाव और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विदेश-यात्रा का प्रश्न फिर से उठ खड़ा हुआ। परन्तु, इतना होने पर भी सदियों से देशवासियों के हृदय में कुछ ऐसे भाव जम गये थे कि, विदेश-यात्रा करना लोग एक प्रकार से सामाजिक अपराध मानने लगे थे। इस अवस्था में किसी विशेप कारणवश कोई व्यक्ति विदेश-यात्रा करता तो वह समाजभुक्त नहीं रहता था।

वि० संवत् १९४३ में मारवाड़ी समाज के उपर्युक्त दो युवकों ने जो कि, विदेशी भापा के विद्वान् हो गये थे, विलायत-यात्रा की। ये दोनों युवक ओसवाल जाति के थे। जब संवत् १९४६ में वे वापिस लौटे तो ओसवाल समाज में बड़ा भारी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इतनी हलचल मची कि, ओसवाल समाज में विलायत यात्रा के पक्ष और विपक्ष में दो दल बन गये। ये दोनों दल 'श्रीसंघ' और 'विलायती' के नाम से प्रसिद्ध हुए। यद्यपि सिद्धान्त रूप से दोनों ही पक्षवाले विलायत-यात्रा के पक्षपाती नहीं थे, तथापि इनमें एक पक्ष ऐसा था कि, जिसने समय की आवश्यकता को अनुभव कर विलायत-यात्रा का विरोध न कर प्रायश्चित्त के आधार पर उसका समथन किया और जो दो युवक विलायत जाकर आये थे, उन्हें प्रायश्चित करा कर समाजभुक्त कर लेने का पक्ष लिया। परन्तु ओसवाल समाज न तो एक मत हो सका और न सार्वजनिक रूप में विलायत-प्रत्यागत दोनों युवक ही समाजभुक्त किये गये। साधारणतया लोगों का बहुमत विलायत-यात्रा के विपक्ष में था, जिससे कोई स्पष्ट निर्णय नहीं

हो सका। ओसवाल समाज में यह झगड़ा बहुत वर्षों तक रहा और आज भी किसी न किसी रूप में बना हुआ है। परन्तु, नतीजा यह हुआ कि, वे दोनों ही युवक विलायत वापिस चले गये और वहीं रहने लगे। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह देखने में आया कि, उनकी सन्तानों के लिये भी समाज का द्वार बन्द ही रखा गया। उसके बाद वि० संवत् १९८० के लगभग जब कि, उक्त सज्जनों का शरीरान्त हो चुका तो समाज के कुछ व्यक्तियों ने उनकी सन्तानों को समाज में लेने का पुनः आन्दोलन उठाया। परिणामस्वरूप इन्द्रचंदजी दुधोड़िया की सन्तानों को तो समाज में ले लिया गया पर इन्द्रचंदजी नाहटा की सन्तानें अब भी अलग समझी जाती है और अधिकतर विलायत में ही रहती हैं।

इस प्रकरण में अब हमें उसके बाद की विलायत-यात्रा सम्बन्धी घटनाओं पर लिखना है जो कि, प्रायः २५ वर्ष बाद मारवाड़ी समाज में घटी थीं। पाठक जानते हैं कि, मारवाड़ी समाज में नौरंगरायजी खेतान एक प्रमुख व्यक्ति हुए। आपने उस समय एण्ट्रेन्स पास किया था, जिस समय मारवाड़ी समाज में शायद ही किसी ने किया हो। आपने भारत सरकार की सर्विस में स्थान पाया और पेंशन प्राप्त कर जयपुर राज्य में भी जेलर बन कर काम किया। आप बड़े विद्या-प्रेमी थे। आपने अपने सभी पुत्रों को बड़ी सावधानी के साथ शिक्षित बनाने का प्रयत्न किया। मारवाड़ी समाज में जिस समय आधुनिक उच्च शिक्षा का नाम भी नहीं था उस समय आपने अपने पुत्रों को आगे बढ़ाया। इस प्रकार आपके कई पुत्र जब बी० ए०, एम० ए० और वकील बन गये तो आपने अपने पुत्र कालीप्रसाद एम० ए० को बैरिस्टर बनाना चाहा। उस समय तक समाज विलायत-यात्रा के पक्ष में नहीं था। परन्तु, नौरंगरायजी की मिलनसारी और व्यक्तिगत प्रभाव के कारण आपको समाज की सहानुभूति प्राप्त हो गई। चिम्मनलालजी गनेड़ीवाले ने बड़ा साथ दिया। उनके उद्योग से 'मारवाड़ी एसोसियेशन' का समर्थन भी प्राप्त हो गया। सन् १९११ में

समाज के पहले बैरिष्टर



श्री कालीप्रसाद खेतान एम० ए० बी० एल० बैरिष्टर-एट-ला
एफ० आर० एस० ए०

जिस समय 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' के भवन-निर्माण का शिलान्यास कलकत्ता हाईकोर्ट के जज तथा यूनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर सर आशुतोष मुखर्जी ने किया, उस समय आम सभा में कालीप्रसाद को विलायत भेजने की घोषणा की गई और करतल-ध्वनि से उसका स्वागत किया गया। उसके बाद कालीप्रसाद को बगीचे में जो भोज दिया गया, उसमें समाज के प्रायः सभी विचारों के व्यक्ति शामिल हुए थे। कहने का तात्पर्य यह है कि, यहाँ तक तो सब काम सहानुभूतिपूर्वक होता रहा, परन्तु जब कालीप्रसाद विलायत चले गये तो पीछे से कुछ लोगों का विचार बदलने लगा। यहाँ तक कि, जिन चिम्मनलालजी गनेड़ीवाले ने सबसे अधिक साथ दिया था, वे भी प्रतिकूल दीख पड़ने लगे। यहाँ पर इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि, दलबन्दी ही इसका कारण थी। कालीप्रसाद सवा वर्ष के बाद जब बैरिस्टरी पास कर वापिस आये तब समाज में आन्दोलन उठा। विलायत-यात्रा के सम्बन्ध में लोगों के भाव पहले जैसे न रह कर अनुकूल होते जा रहे थे। समाज में दो दल हो गये। एक बार बड़ा भारी हुड़दंग मचा। इस अवस्था में भी समाज यदि समझ जाता और इस सम्बन्ध में कोई उचित व्यवस्था कर सकता तो समाज में दलबन्दियों को प्रोत्साहन न मिलता। परन्तु पूर्व के आन्दोलनों से लोगों के हृदय में पारस्परिक अविश्वास और वैमनस्य पैदा हो गया था, इसलिए सार्वजनिक रूप से कोई निर्णय नहीं हो सका। परन्तु समय विलायत-यात्रा के अनुकूल चल रहा था। लोगों के भावों में परिवर्तन हो रहा था। परिणाम यह हुआ कि, श्री० भजनलालजी लोहिया की दौड़धूप और प्रयत्न से श्री० बृजमोहन बिड़ला के विवाह के समय कालीप्रसाद समाजभुक्त समझे गये। इतना होने पर भी समाज में विलायत-यात्रा सुगम न हो सकी। व्यक्तिगत रूप से कुछ व्यक्ति प्रतिकूल ही बने रहे और ऐसा प्रयत्न करने लगे कि, विवाहादि अवसरों पर समाज में कालीप्रसाद सम्मिलित न हो सके। यहाँ यह विचारणीय है कि, मारवाड़ी

समाज में जब कभी सार्वजनिक रूप में किसी विषय का विचार होता है तो समाज के व्यक्ति मौके पर अपने विचारों को स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं करते, चुप्पी साध लेते हैं और पीछे जब कोई निर्णय हो जाता है तो उसके विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। पाठक घटनाओं पर सावधानी के साथ विचार करेंगे तो मालूम होगा कि, इसी प्रवृत्ति के कारण समाज की न तो सत्ता जमी और न सार्वजनिक संगठन ही सुदृढ़ हुआ। यही कारण था कि, आगे चल कर समाज में विलायत-यात्रा को लेकर ऐसी ऐसी घृणित और अप्रिय बातें भी देखने में आईं कि, जिनके कारण समाज में ऐक्य स्थापित होने के बजाय धड़ाबन्दियों को ही प्रोत्साहन मिलता गया। हमने पहले बतलाया है कि, समय विलायत-यात्रा के अनुकूल था और इसी कारण से अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध होने पर भी विलायत-यात्रा का प्रचार बढ़ने लगा। जहाँ समाज के निर्णय को कोई नहीं मानता और निर्णय करने की सुन्दर व्यवस्था नहीं होती वहाँ यही होता है कि, समाज के व्यक्ति न केवल निडर ही बन जाते हैं बल्कि मनमानी भी करने लगते हैं। विलायत-यात्रा के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसा ही देखा जाने लगा। विलायत-यात्रा के सम्बन्ध में समाज का डर लोगों के हृदयों से जाता रहा। पंक्तिभुक्त बने रहने की लालसा नष्ट हो गयी। नतीजा यह हुआ कि, विलायत-यात्रा बढ़ी। 'नाथूराम रामकिशन' फर्म के गजानन्दजी खेमका के पुत्र श्री रामकुमार अपनी छात्रावस्था में ही घर छोड़ अमेरिका चले गये और प्रायः दस वर्ष वहीं रह कर किसी तरह अपना काम चला कर अध्ययन करते रहे। पर जब वे वापिस आये तो उनके विरुद्ध कोई विशेष आन्दोलन नहीं हुआ। इसका कारण शायद यह था कि, वे समाज के माने हुए नेता जुहारमलजी खेमका के कुटुंबी थे और सहज में ही समाज-भुक्त कर लिये गये। इस प्रकार समाज की भावना बदलती गयी तो लोग और भी स्वतन्त्र हो गये। दुर्गाप्रसाद चमड़िया ने चीन की यात्रा की। बम्बई से श्री० गोविन्दलालजी पित्ती आदि और कलकत्ते से देवीप्रसादजी

समाज के ओजस्वी वक्ता और कर्मठ विद्वान्



श्रीयुक्त पद्मराजजी जैन

खेतान ने सपरिवार विलायत-यात्रा की। बाबू पद्मराजजी जैन भी अपने भाई धर्मचंद रानीवाले के साथ विलायत हो आये। बाद में कानपुर के कमलापतजी सिंहानिया और उनके पुत्र पद्मपतजी भी विलायत गये। लक्ष्मणप्रसादजी पोद्दार ने भी सस्त्रीक बच्चों सहित विलायत-यात्रा की। घनश्यामदासजी बिड़ला तो कई बार विलायत हो आये। उनके छोटे भाई बृजमोहनजी सस्त्रीक सारे यूरोप में घूमे। पर समाज में अब वह बात नहीं रही कि, विलायत जानेवाले के विरुद्ध कोई आवाज उठती। आज तो यह अवस्था है कि, विलायत-यात्रा करने में अब किसी प्रकार का सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं रहा है और जो लोग पहले घोर विरोधी बने हुए थे, उनमें भी अनेक व्यक्ति पक्ष में देखे जाने लगे हैं। अब तो यह अवस्था हो गयी है कि, स्वतन्त्रतापूर्वक जाना-आना ही सुगम नहीं हो गया है, बल्कि कुछ व्यक्ति वहाँ रह कर वाणिज्य-व्यापार भी करते हैं जिनमें श्री रामेश्वरलालजी बजाज और श्री खूबचंदजी सेठिया आदि प्रसिद्ध हैं। खूबचंदजी तो सपत्नीक रहने लगे हैं और खानपान तथा पहराव-उढ़ाव अपनी संस्कृति के अनुसार करते हैं।

इस सम्बन्ध में विशेष रूप से अब हमें यह कहना चाहिये कि, विलायत-यात्रा को लेकर समाज में विघटन और पारस्परिक कटुता तो बहुत बढ़ी और इसी कटुता के कारण समाज पुनः संगठित नहीं हो पाया। परन्तु, विलायत-यात्रा का निषेध भी नहीं रहा।

समाज में पारस्परिक कुभावना और कटुता फैलने के सम्बन्ध में

कुछ विशेष घटनाएँ— हमने अब तक कई विषयों का उल्लेख किया। इनके अतिरिक्त और भी छोटी-बड़ी कई बातें हैं, जिनके कारण समाज में ऐक्य नहीं हो सका। उनमें से कुछ बातें ये हैं—

(१) श्री० लक्ष्मीनारायण खेमाणी समाज में सुधार की भावना रखनेवाले व्यक्ति हैं। खेद की बात है कि, उनकी छोटी बहिन जब बाल विधवा हो गयी तो उन्हें बड़ा भारी दुःख हुआ। समाज के दूषित वातावरण को

देख कर वे रात दिन चिन्ताग्रस्त रहने लगे। उन्होंने अपनी बहिन को 'जालन्धर कन्या महाविद्यालय' में सदा के लिये भर्ती करा दिया। उनका लक्ष्य यह रहा कि, सुसंगठित महाविद्यालय में रह कर वह सेवा कार्य कर सकेगी और पवित्र वातावरण में रह कर अपने जीवन के दिन काट सकेगी। इस प्रकार जब उन्होंने अपनी बहिन को महाविद्यालय में दाखिल कर दिया तो इस विषय को लेकर कुछ व्यक्तियों ने यहाँ तक उनका विरोध किया कि, लक्ष्मीनारायण की माता और उनके छोटे भाई को उभाड़ कर उनके द्वारा उन पर फौजदारी मामला चलाया गया जिसका हेतु यह था कि, लक्ष्मीनारायण अपनी बहिन को ले जाकर महाविद्यालय में भर्ती कराने के अपराधी समझे जाते और उन्हें जेल की सजा हो जाती। इस मामले के संचालन में समाज के बड़े-बड़े प्रभावशाली व्यक्ति देखे गये, जिससे मालूम होता था कि, लक्ष्मीनारायण तो घटना विशेष के कारण बलि के बकरे बनाये जा रहे हैं पर वास्तव में कुछ चलते-पुर्जे व्यक्तियों का पारस्परिक वैमनस्य ही इसमें काम करता है। कुछ प्रमुख व्यक्ति दोनों ओर ही खुल्लमखुल्ला जुट गये थे। सब से बड़ा आश्चर्य और खेद तो उस समय हुआ जब कि, 'मारवाड़ी एसोसियेशन' जैसी समाज की सार्वजनिक संस्था में लक्ष्मीनारायण के विरुद्ध मामला चलाने के लिये समाज के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने चन्दा लिखा था। मालूम होता था कि, कुछ व्यक्तियों के हृदय में इतनी सी सद्भावना भी नहीं है कि, एक बाल-विधवा बहिन का जीवन विशुद्धता से कट सके, ऐसे पवित्र भावों को रखने-वाले भाई को कम से कम फौजदारी मामले में फँसाने के लिये तो सहायता न की जाय। यद्यपि इस मामले में उनकी एक न चली और विद्वान् मजि-स्ट्रेट ने असली कारण पर पहुँच कर लक्ष्मीनारायण को यह कह कर बरी कर दिया कि, यह कुछ व्यक्तियों के पारस्परिक वैमनस्य का मामला है, इस पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। मामले का विचार जैसा होना आवश्यक था, वैसा ही हुआ। परन्तु इस मामले को लेकर समाज में

पारस्परिक कटुता इतनी बढ़ी कि, समाज के विघटन रूपी अग्निकुण्ड में इसने घृताहुति देने का काम किया।

(२) समाज में जिस समय जयनारायणजी के विरुद्ध आन्दोलन उठा और कुछ व्यक्तियों को सनातनी होने का पत्र लिखने पर मजबूर किया गया तथा विलायत-यात्रा के सम्बन्ध में धूम मची उस समय कुछ व्यक्तियों ने यहाँ तक ज्यादती की कि, गुप्त गुट बना कर अपने से विपरीत भाव रखनेवाले व्यक्तियों के विरुद्ध बड़ी घृणित कार्रवाइयाँ करने लगे। उनका चक्र ऐसा चला कि, उनकी पार्टी में शामिल न होने के कारण हर प्रकार से लोग लांछित और अपमानित किये जाने लगे। किसी भाई के यहाँ ब्राह्मण भोजन है तो उसमें विघ्न करने के लिये ब्राह्मणों को भोजन के लिये जाने से मना किया गया। कई मौकों पर दक्षिणा मिलने की आशा से ब्राह्मण न रुक सके तो उन्हें दक्षिणा के रुपये दे दिये गये। कोई भाई अपने माता-पिता का खर्च करता था और भाड़े के मकान में रहता था तो मालिक मकान पर दबाव डाल कर उसकी बनाई हुई मिठाइयां उठवा दी गईं। जो भाई बासों में जीमते और वहीं सोते बैठते थे, उनका बासे में जीमना और रहना बन्द कराया गया। कहीं-कहीं कुछ लोगों पर इतना प्रभाव डाला गया कि, बहिन-बेटी, जँवाई और भाइयों का आना-जाना भी बन्द करा दिया गया। मतलब यह कि, उस समय कुछ ऐसी-ऐसी घृणित कार्रवाइयाँ की गईं, जिनसे समाज-समुद्र बड़ा ही गन्दा हो गया और कोई ऐसा उपाय शेष नहीं रहा कि, जिससे समाज में प्रेम और जातीयता के भावों को स्थान मिल सकता। पाठक विचार करें कि, यह समाज का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या था?

(३) वृद्ध-विवाह से सम्बन्ध रखनेवाली एक घटना भी ऐसी थी कि, जहाँ सुधार-प्रिय युवकों ने उसे रोकने का प्रयत्न किया, वहाँ कुछ व्यक्तियों ने पार्टीबन्दी की भावना से उस विवाह को कराने में भाग लिया। नवयुवकों की मुस्तैदी से वह विवाह नहीं हो सका और रातोंरात प्रबन्ध कर

एक सुयोग्य नवयुवक गजानन्द मस्करा के साथ उस लड़की का विवाह किया गया। उसकी बारात में प्रायः दो हजार जाति-भाई शामिल हुए थे। सारांश यह कि, इस प्रकार के पारस्परिक विरोधी भावों के कारण समाज में अविश्वास और दलबन्दी बढ़ने लगी।

(४) समाज का यह दुर्भाग्य देखा गया कि, कुछ व्यक्तियों ने मिल कर समाज में यदि कोई प्रबन्ध करना चाहा तो इस भावना से कि, अमुक कार्य सुधारकों द्वारा किया जा रहा है अथवा उस काम को पुराने विचार-वाले कर रहे हैं, दोनों ओर से ही उसे नहीं होने दिया गया। इन्हीं भावों का परिणाम था कि, समाज में समय-समय पर आवश्यकतानुसार होनेवाले प्रयत्न भी सफल नहीं हो सके।

घृतान्दोलन और समाज-सत्ता की पूर्णाहुति—

घृतान्दोलन समाज का नया विषय नहीं, पुराना है। पहले-पहल कलकत्ते के बड़ेबाजार में यह आन्दोलन वि० संवत् १९४२ में उठा था और उस समय निकृष्ट घृत बेचनेवाले दस बारह व्यक्ति दण्डित किये गये थे। उसके बाद वि० सं० १९६० में यह आन्दोलन दूसरी बार उठा। उस समय के आन्दोलन का आधार था 'गण्टूर का घृत' जो कि, आपत्ति-जनक समझा गया था। परन्तु, उस समय घृत के कुछ व्यापारियों ने दस्तखत नहीं किये, जिससे सार्वजनिक रूप में कोई निर्णय नहीं हो सका। तीसरी बार फिर से यह आन्दोलन वि० सं० १९७५ में इतनी भयंकरता के साथ उठा कि, न केवल मारवाड़ी समाज में, बल्कि हिन्दुस्थान भर में तहलका मच गया। बात यह थी कि, गण्टूर के दूषित घृत के अतिरिक्त चर्बी मिश्रित घी का प्रचार भी होने लगा था। ऐसा दूषित घी कहीं-कहीं पर ही बिकता था, परन्तु, व्यापारियों के कम्पीटिशन और पारस्परिक विरोध के कारण उन्हीं के द्वारा कुछ ऐसा भण्डाफोड़ हुआ कि, किसी न किसी रूप में प्रायः सभी व्यापारी फँस गये। पहले-पहल समाज के सामने किन्हीं एक दो व्यापारियों ने गुप्त रूप से शिकायत

की परन्तु, जब समाज ने अनुसन्धान किया तो पता लगा कि, किसी न किसी रूप में जान-अनजान में घृत के सभी व्यापारी इसमें दोषी हैं। समाज में जब यह आन्दोलन उठा तो अनुसन्धान करने में श्री० रंगलाल खेमाणी, नागरमल मोदी, रामदेव चोखानी और 'कलकत्ता-समाचार' के सम्पादक कुँवर गणेशसिंह आदि ने बड़ा परिश्रम किया। घृत के प्रायः सभी व्यापारियों के बही-खाते तलब किये गये और उनका विचार करना निश्चय हुआ। परन्तु, किस प्रकार विचार किया जाय, यह समस्या बड़ी कठिन थी, क्योंकि समाज-सत्ता पारस्परिक वैमनस्य के कारण खत्म हो चुकी थी। पार्टीबन्दी और वैमनस्य का जहर समाज में फैला हुआ था। बड़ी पंचायत प्रतिभाहीन हो चुकी थी। ऐसी अवस्था में सर्व-साधारण व्यक्तियों ने गंगाघाट पर अनशन करते हुए धरना दिया, जिसका प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि, पुराने और नये विचारवाले सभी व्यक्ति प्रभावित हो गये। कहना चाहिये कि, उस समय ऐसा शमा बंध गया था कि, सभी पार्टियों के व्यक्ति घृतान्दोलन में एक हो गये। परिणाम यह हुआ कि, इस विषय का विचार करने के लिये समाज की एक 'प्रतिनिधि पंचायत' का संगठन किया गया। सभी ग्रामों और शहरों के व्यक्ति जो कलकत्ते में निवास करते थे जनसंख्या के हिसाब से अधिक से अधिक चार और कम से कम दो तथा एक प्रतिनिधि चुने गये। इस प्रकार संगठित होनेवाली प्रतिनिधि-पंचायत के सदस्यों की संख्या पहले दिन ११२ थी। एक ओर गंगाघाट पर धरने का जोर बढ़ रहा था और दूसरी ओर समाज की यह 'पार्लमेण्ट' विचार करने पर तुली हुई थी। कारबार बन्द हो गया था। देश में हलचल मची हुई थी। पंचायत का कार्य स्थानीय 'श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी विद्यालय' के विशाल भवन में शुरू हुआ। पहला दिन था। खासी सनसनी थी। सारा कलकत्ता देखता था कि, मारवाड़ी समाज क्या और कैसा निर्णय करता है। धरनेवाले इस बात पर तुले हुए थे कि, सब से पहले 'गोपीराम राम-

चन्द्र' फर्म का विचार किया जाय। इसी फर्म का नाम पहले-पहल पेश हुआ। प्रश्न उठा कि, उपस्थित विषय का विचार किस नीति और किस आधार पर किया जाय। यहाँ पर यह बतलाना शायद अनुचित न समझा जायगा कि, इस पुस्तक का लेखक भी अपने शहर चूरू की ओर से प्रतिनिधियों में से एक था। जिस समय नीति निर्धारित होने लगी और कितने ही सज्जनों ने सुझाव पेश किये, उस समय लेखक ने भी सिद्धान्त रूप से चार बातें पेश की थीं—वे इस प्रकार थीं—

(१) सब से पहले इस बात पर ध्यान रखना होगा कि, हमारे धर्म और आचार पर किसी प्रकार का आघात न हो।

(२) इस बात की सावधानी के साथ मीमांसा करनी होगी कि, कोई निर्दोष भाई दण्डित न हो जाय।

(३) दण्ड ऐसा निर्धारित किया जाय कि, जिसे समाज सहन कर सके।

(४) दण्ड देने की जो नीति कायम की जाय, उसका पालन उसी रूप में सभी अभियुक्तों के साथ अन्त तक हो।

इस सुझाव का समर्थन तो सिद्धान्त रूप में उस समय उपस्थित सभी प्रतिनिधियों ने किया था, परन्तु उत्तेजना और आवेश फैला हुआ था। सब प्रकार से सोच लेने का समय ही नहीं था। 'गोपीराम रामचन्द्र' का मामला जब पेश हुआ तो सर्वसम्मति से वह फर्म दोषी करार दिया गया। जब दोषी सिद्ध हो गया तो उसके मालिक श्री फूलचन्दजी टिकमाणी को कैसा दण्ड दिया जाय, यह प्रश्न उपस्थित हुआ। कुछ व्यक्ति आवेश और उत्तेजना के वातावरण में उन्हें यावज्जीवन जाति बाहर रखने के पक्ष में थे। परन्तु कुछ व्यक्तियोंने जिनमें इस पुस्तक का लेखक भी था इस बात पर जोर लगाया कि, जाति बाहर का दण्ड उस अवस्था में ही दिया जा सकता है जब कि, अभियुक्त एक दो व्यक्ति ही होते हैं, यहाँ तो संख्या बहुत अधिक है, इस अवस्था में जाति बाहर का दण्ड देने

से बहुत सम्भव है कि, समाज में विश्रृङ्खलता उत्पन्न हो। उनमें से विशेष कर दुलीचन्दजी ककरानिया ने हैसियत के अनुसार अधिक से अधिक आर्थिक दण्ड देने पर जोर दिया। परन्तु उत्तेजनाग्रस्त वातावरण में इस नीति से काम लेना पास न हो सका और फूलचन्दजी को एक वर्ष के लिये जाति बाहर और एक लाख रुपये दण्ड देने की आज्ञा सुना दी गई। इस प्रकार होने से गंगाघाट का धरना उठ गया और अन्य अभियुक्तों का विचार आगामी मीटिंग में होना निश्चय होकर उस दिन की कार्यवाही समाप्त की गई।

इस निर्णय का प्रभाव इतना पड़ा कि, मारवाड़ी समाज की सुदृढ़ता की प्रशंसा सभी समाजों में होने लगी। स्थानीय सभी समाचार-पत्रों ने प्रशंसायुक्त लेख लिखे जिनमें तत्सामयिक 'इंग्लिशमैन' और 'स्टेट्समैन' ने तो अपने अग्रलेखों में यहाँ तक लिखा कि, 'यद्यपि मारवाड़ी समाज में विद्या का बाहुल्य नहीं है, तथापि सामाजिक शासन करने की पूर्ण योग्यता है, जो घृतान्दोलन के निर्णय से प्रकट होती है।' म्युनिसिपैलिटी के बड़े-बड़े आफिसरों ने पंचायत को धन्यवाद देते हुए पत्र लिखे।

उधर फूलचन्दजी ने समाज का निर्णय पाकर उसी दिन एक लाख रुपये पंचायत में भेज दिये और अपने घर में एक सच्चे बहिष्कृत की तरह संयम से रहने लगे। फूलचन्दजी ने अपने आचरण से दिखा दिया कि, समाज सर्वोपरि है और उसकी आज्ञा का पालन करना एक सामाजिक व्यक्ति के लिये कर्त्तव्य कर्म ही नहीं, किन्तु अनिवार्य है। यहाँ पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि, फूलचन्दजी की तरह समाज के व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को समझने लगें तो आज मारवाड़ी समाज में जो विश्रृङ्खलता और मनमानी फैल रही है उसका खातमा होकर समाज की सत्ता पुनः कायम हो।

उसके बाद पंचायत की बैठकें लगातार होती रहीं और जो व्यक्ति दोषी समझे गये वे निश्चित नीति के आधार पर अपराध की गुरुता

के अनुसार दण्डित किये गये। यह कार्य प्रायः डेढ़ महीने तक होता रहा। कुछ व्यक्ति जो कि, निर्दोष पाये गये, वे बरी कर दिये गये। जब तक समाज के व्यक्तियों की भावना पवित्र बनी रही, बड़ी खूबी से कार्य हुआ और पंचायत की सत्ता का बड़ा रंग जमा। परन्तु, खेद के साथ लिखना होगा कि, आगे चल कर इस प्रतिनिधि पंचायत में भी पक्षपात की बू आने लगी। विचाराधीन व्यक्तियों के नामों की जो सूची बनायी गयी थी और उसी के अनुसार क्रमशः मामलों का विचार होता था, वह कुछ ऐसे ढंग से बनायी गयी थी कि, चीनीपट्टी के कुछ व्यापारियों के नाम अन्त में रखे गये थे। जब उनके मामले का नम्बर आया तो गड़बड़ होती दीख पड़ने लगी। मालूम हुआ कि, प्रतिनिधि पंचायत के पहले-पहल जो ११२ सदस्य मनोनीत हुए थे, उनके अतिरिक्त बाद में ऐसे छोटे-छोटे ग्रामों के व्यक्ति जिनकी संख्या कलकत्ते में एक, दो या चार ही हैं सावधानी के साथ प्रतिनिधियों में शामिल किये गये हैं और कुछ व्यक्ति इस बात की चेष्टा में हैं कि, वैसे व्यक्तियों के मत के जोर पर कुछ व्यक्ति निर्दोष प्रमाणित कर दिये जावें। एक मामले के विचार के समय जब पहले-पहल कुछ व्यक्तियों की ओर से ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ तो खासी हलचल मच गयी थी। बात यह थी कि, एक फर्म का बही-खाता भले प्रकार न देखा जाने के कारण उस मीटिंग में पहले तो वह मामला स्थगित कर दिया गया परन्तु बाद में कुछ व्यक्तियों ने पुनः जोर लगाया कि, उस मामले का विचार उसी दिन किया जाय। पर जब यह कहा गया कि, पूरा अनुसन्धान न होने के कारण उसी मीटिंग में ही मामला पहले स्थगित हो चुका है तो उसका पुनः विचार कैसे किया जा सकता है। इस पर फिर जोर लगाया गया कि, वोट ले लिये जांय कि, इस मामले का विचार उस दिन किया जाय या नहीं? मालूम होने लगा था कि, उन्होंने यह अन्दाज लगा लिया था कि, उस दिन की उपस्थिति में उनका बहुमत है और यही कारण है कि, वे इस बात पर जोर लगा रहे हैं। इस प्रकार

की दुर्भावनायुक्त नयी बात उस दिन प्रकट होने लगी तो इस पुस्तक के लेखक को बड़ा दुःख हुआ। वह सोचने लगा कि, जो कार्य प्रायः डेढ़ महीने से सुचारु रूप से सम्पन्न होता आया है, उसे कुछ व्यक्ति इस प्रकार मटियामेट कर देना चाहते हैं। उसने उसी दिन विचार करने का विरोध किया और बतलाया कि, पूरा अनुसन्धान न होने के कारण जो मामला आज की मीटिंग में ही स्थगित कर दिया गया है, उसका विचार पुनः आज की पंचायत में नहीं हो सकता और ऐसा करना नियम के विरुद्ध है। परन्तु कुछ व्यक्ति वोटों का अन्दाज लगा कर इस बात पर तुले ही हुए थे कि, जिस प्रकार भी हो आज ही निर्णय कर लिया जाय। इस मनोवृत्ति को पहिचान कर लेखक ने फिर कहा कि, 'जो मनोवृत्ति आज प्रकट हो रही है, यदि उसी के अनुसार काम किया जायगा तो अब तक का किया हुआ काम सभी मिट्टी में मिल जायगा और इसका नतीजा यह होगा कि, प्रतिनिधि पंचायत के कारण समाज में एक नये सामाजिक संगठन का जो मार्ग सामने आया है, वह नष्ट हो जायगा। अतः मैं इसका घोर विरोध करता हूँ और इस अनियमित कार्य को होने नहीं दूँगा।' फिर क्या था, जो व्यक्ति तुले हुए बैठे थे उनमें से कुछ जामे के बाहर हो गये और पंचायत में हुल्लड़ मचा। व्यक्तियों की अलग-अलग गोष्ठियाँ होने लगीं। रंग-ढंग ऐसा हो चला कि, शायद पंचायत टूट जायगी। लेखक ने फिर कहा कि, 'जिस प्रकार की दूषित मनोवृत्ति आज प्रकट हुई है, इस अवस्था में वह पंचायत में रहना नहीं चाहता और अपना इस्तीफा पेश करता है और जो काण्ड आज हुआ है उसे वह समाचार-पत्रों में प्रकाशित करेगा जिस पर जनता विचार करेगी।' परन्तु उस समय हरीरामजी गोयनका ने बिगड़ती हुई परिस्थिति को सँभाल लिया। उनमें यह विशेपता बराबर ही देखी जाती थी कि, वे बिगड़ी को बनाना जानते थे। उन्होंने अपने प्रभाव से निर्णय कर दिया कि, 'जो मामला आज पहले स्थगित हो चुका है उसका पुनः विचार आज की मीटिंग में नहीं

हो सकता।' इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी शान्ति स्थापित कर दी। इस प्रकार जब हरीरामजी ने वास्तविक नेता का काम किया तो उस दिन का विघटन रुक गया। परन्तु बाद में भी कुछ ऐसी कार्यवाहियाँ होती ही रहीं जिनसे किसी भी समय बड़ा भारी विघटन हो सकता था। दो चार दिन के बाद लेखक को एक गुमनामी पत्र पोष्ट द्वारा मिला, जिसमें लिखा गया था कि, 'पंचायत में तुम उछल-कूद मचाते हो। याद रखो कि, तुम्हारी यही रफ्तार बनी रही तो सरे बाजार कपाल-क्रिया कर दी जावेगी।' लेखक ने यह पत्र पंचायत में पेश कर दिया और कहा कि, अच्छा यही होगा कि, पंचायत ही इस पर विचार करे। इस पर पंचायत ने पत्र लिखनेवाले की निन्दा की और यह कहा गया कि, ऐसा पत्र लिखनेवाले समाज के शत्रु हैं—अतः ध्यान न दिया जाय। लिखने का मतलब यह है कि, इन कार्यवाहियोंने पंचायत में हलचल मचा दी थी। स्वार्थियों की चल नहीं सकी और जो व्यक्ति दोषी थे वे दोषी करार दिये गये और निर्दोष बरी कर दिये गये, परन्तु जिन व्यक्तियों ने वोटों के जोर पर अपने कुछ व्यक्तियों को बचाने के लिये उचित अनुचित प्रयत्न किये थे, वे अपने कार्य में जब सफल नहीं हुए तो 'चोर-चोर मौसेरे भाई' बन कर गुप्त परामर्श करने लगे।

कुछ व्यक्ति जो कि, 'गोपीराम रामचन्द्र' आदि को जातीय दण्ड देने से असंतुष्ट थे वे, और कुछ व्यक्ति जिन्होंने अपने गुट के कुछ व्यक्तियों को बचाने के लिये अन्त में अनुचित चेष्टा की थी और सफल मनोरथ नहीं हुए थे वे, फिर से यह चेष्टा करने लगे कि, जिन व्यक्तियों को 'जाति-बहिष्कार' का दण्ड दिया गया है वह रद्द कर दिया जाय। यहाँ पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि, जिस समय यह षड्यन्त्र रचा गया उस समय पंचायत का कार्य प्रायः समाप्त होता देख कुछ निष्पक्ष व्यक्ति जो पंचायत में बराबर ही उचित बातों का पक्ष ओज के साथ लिया करते थे, कलकत्ते



रायबहादुर सर बद्रीदासजी गोयनका, केटी० सी० आई० ई०

के बाहर चले गये थे जिनमें भोलारामजी चूड़ीवाला और इन पंक्तियों का लेखक भी था। यही कारण था कि, उनका षड्यन्त्र सफल हो गया और 'जाति बाहर' का दण्ड रद्द कर दिया गया। परन्तु इसका परिणाम इतना बुरा हुआ कि, समाज की गुरुता का जो प्रभाव इस प्रतिनिधि पंचायत के कार्यों से जमा था, वह नष्ट हो गया। लोग समझने लगे कि, उस पंचायत का महत्व ही क्या है, जो आज दण्ड निर्धारित करती है और कल स्वार्थी व्यक्तियों के प्रभाव में आकर रद्द कर देती है। कुछ लोग यह कहते भी देखे गये कि, दण्ड सम्बन्धी नीति बनाने के समय जाति-बहिष्कृति का दण्ड न देकर केवल आर्थिक दण्ड ही निर्धारित किया जाता तो पंचायत का प्रभाव कहीं अधिक जमता। पर पहले तो आवेश में आकर 'जाति-बाहर' का सिद्धांत स्वीकार किया गया और बाद में स्वार्थभरी कुभावना के कारण उसे मटियामेट भी कर दिया गया। सच तो यह है कि, जिस प्रतिनिधि पंचायत के नये तरीके ने समाज-संगठन में जान डाल दी थी, उसी के इस आकस्मिक परिवर्तन ने समाज की रही सही आशा का भी नाश कर दिया। इसके बाद डेडराज जालान के असवर्ण विवाह का विचार करने के लिये यद्यपि एक बार फिर से प्रतिनिधि पंचायत का संगठन किया गया परन्तु पहली पंचायत के अन्तिम परिणाम के कारण कोई ठोस निर्णय नहीं हो सका और वह पंचायत भी खटाई में पड़ गयी। यही कारण है कि, फिर से समाज-संगठन का नामोनिशान ही नहीं रहा और आज यह अवस्था है कि, सर्वत्र विशृंखलता ही नजर आ रही है।

समाज की वर्त्तमान अवस्था—

समाज में सार्वजनिक संगठन और जातीयता के पवित्र भावों का ह्रास किस प्रकार हुआ और किस प्रकार लोगों में पारस्परिक सद्भावना घट कर व्यक्तिगत कुभावना काम करने लगी, इत्यादि विषयों पर हमने अब तक यथासाध्य प्रकाश डाला। अब हमें समाज की वर्तमान स्थिति पर भी थोड़ा सा प्रकाश डालना है। सच तो यह है कि, इस विशाल मार-

वाड़ी जाति का इस समय सार्वजनिक रूप में कोई संगठन नहीं है। समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति प्रायः निरंकुश बनते जा रहे हैं और सामाजिक नियंत्रण कुछ भी नहीं रहा है। एक समय था, जब कि, समाज की बड़ी पंचायत सार्वजनिक हित की भावना से समाज का संचालन करती थी और उसके निर्णय को मानना समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये अनिवार्य कर्त्तव्य समझता था। परन्तु बड़ी पंचायत का अस्तित्व अब नहीं के बराबर है। उसके बाद नवीन ढंग की सभा-सोसाइटियों का समय आया और भिन्न-भिन्न रूप में सामाजिक संस्थाएँ प्रकट होने लगीं। व्यक्तियों में उत्साह और उछल-कूद भी बहुत देखी गयी परन्तु परिणाम जो कुछ हुआ, वह भी पाठक जान चुके हैं। आज तो यह अवस्था है कि, अनेक सभा-सोसाइटियों का किसी न किसी रूप में अस्तित्व तो है पर समाज का सार्वजनिक संगठन और नियमबद्ध संचालन कर सके, ऐसी क्षमता किसी भी संस्था में नहीं है। वर्तमान में जितनी भी सभा-सोसाइटियाँ हैं उनके सम्बन्ध में यदि यह भी कहा जाय कि, वे प्रायः सब की सब सार्वजनिक संगठन करने में बाधक हैं तो शायद अत्युक्ति नहीं होगी। इस समय तो अवस्था यह है कि, समाज-सूत्र से बिखर कर समाज के व्यक्ति सभा-सोसाइटियों की गुट-बन्दियों में बँट गये हैं। वे व्यक्तिगत सत्ता के इतने आदी बन गये हैं कि, वे अब सार्वजनिक संगठन के महत्व की पर्वाह ही नहीं करते। व्यक्तिगत रूप से जो जिसके मन में आता है, वही कर बैठता है। न तो किसी पर किसी तरह का नियन्त्रण है और न कोई ऐसी प्रभावशालिनी संस्था ही है कि, वैसे व्यक्तियों का नियन्त्रण कर सके। यही कारण है कि, समाज के व्यक्तियों में उच्छृङ्खलता के भाव बढ़ते जा रहे हैं। व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता और दंभ तो इतना बढ़ रहा है कि, 'समाज जाय खाक में, हम काहिलों को क्या' वाली कहावत चरितार्थ होने लगी है। जातीयता का भाव न रहने से ही समाज-संगठन के महत्व को लोग भूलते जा रहे हैं और यदि समाज-संगठन के

सुप्रसिद्ध समाजसेवी



रायबहादुर रामदेवजी चोखानी

लिये किसी सार्वजनिक संस्था को कायम करने का उद्योग भी होता है तो सर्वसाधारण व्यक्ति उसकी उपेक्षा ही करते हैं।

हम यहाँ पर 'अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन' (All India Marwari Federation) के सम्बन्ध में कुछ लिखें तो शायद अनुचित न होगा। इस संस्था का जन्म दो तीन वर्ष पहले इसलिये हुआ कि, सांप्रदायिक और सामाजिक मतभेदों को छोड़ कर अन्य सभी सार्वजनिक विषयों पर उचित ध्यान दिया जाय जिससे राजनैतिक, व्यापारिक और शिक्षा आदि सभी सार्वजनिक क्षेत्रों में मारवाड़ी समाज का हित-साधन और उसके वास्तविक स्वत्वों की रक्षा हो सके। पर खेद है कि, इस प्रकार विवादरहित सार्वजनिक भावना से युक्त संस्था की ओर भी सर्वसाधारण भाइयों का उतना झुकाव नहीं हुआ, जितना कि, होना चाहिये था।

आज वृटिश भारत में राजनैतिक उथल-पुथल मची हुई है। नाना प्रकार के परिवर्तन सामने आ रहे हैं। ऐसी अवस्था में निर्भ्रान्त आवश्यकता यह है कि, मारवाड़ी समाज समय रहते चेत जाय और सावधान होकर अपनी सम्मिलित शक्ति से ऐसा प्रयत्न करे जिससे उसे भविष्य में हानिग्रस्त न होना पड़े। भारतवर्ष में मारवाड़ी समाज का दायरा सर्वव्यापी कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है क्योंकि, जहाँ अन्य प्रान्तों के व्यक्तियों का स्वार्थ खास कर उनके प्रान्त में ही देखा जाता है वहाँ मारवाड़ी समाज का स्वार्थ किसी खास प्रान्त में न होकर प्रायः भिन्न-भिन्न सभी प्रान्तों में फैला हुआ है। जिस-जिस प्रान्त में मारवाड़ी समाज के व्यक्ति रहते हैं, उस-उस प्रान्त में वाणिज्य-व्यवसाय करते हैं और अपनी सारी सम्पत्ति वहीं पर लगा देते हैं। उन्होंने उसी प्रान्त को अपना घर बना लिया है। सच तो यह है कि, उसी में वे जीते हैं और उसी में मरते हैं। पूर्वजों का जन्मस्थान राजपूताना तो उनके लिये केवल स्मृति मात्र और तीर्थस्थान रह गया है। इस अवस्था में विशेष रूप से यह आव-

श्यक हो गया है कि, मारवाड़ी समाज बड़ीमुस्तैदी के साथ ऐसा प्रयत्न करे कि, जिससे किसी भी प्रान्त में जहां वे बस गये हैं उनके अधिकार मूल निवासियों की तरह समझे जांय और उनकी करोड़ों की सम्पत्ति और स्वत्वों की रक्षा समान रूप से हो सके। सब से बड़ी बात यह है कि, कुछ प्रान्तों में तो मारवाड़ी समाज को लक्ष्य कर अभी से कुछ ऐसा प्रयत्न होने लगा है कि, जिससे मारवाड़ी समाज को भविष्य में अत्यधिक हानिग्रस्त होना पड़ेगा। प्रान्तवासियों की यह भावना इतनी बढ़ती देखी जाती है कि, आगे चल कर इसका परिणाम क्या होगा, पहले से यह कह देना कठिन है। इत्यादि कई बातें ऐसी हैं कि, समस्त बृटिश भारत में फैली हुई मारवाड़ी जाति का भविष्य अन्धकार में है। दुःख इस बात का है कि, ऐसी परिस्थिति को सामने देख कर भी लोग लापर्वाह बने हुए हैं। जो 'मारवाड़ी सम्मेलन' सांप्रदायिक और सामाजिक 'तूं-तूं मैं-मैं' से परे हैं, उसमें शामिल होने के लिये भी लोग तैयार नहीं हैं। सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि, समाज के ऐसे अनेक व्यक्ति जो अधिक धनशाली और बड़े-बड़े व्यापारी हैं, जिनकी लाखों करोड़ों की सम्पत्ति उद्योग-धन्धों आदि व्यावसायिक कार्यों में लगी हुई है, वे भी अपने कर्त्तव्य से विमुख हो रहे हैं। शायद उन्हें भविष्य की कुछ भी चिन्ता नहीं है। वे इस बात का ख्याल भी नहीं करते कि, यह परिस्थिति उनके लिये ही अधिक घातक हो सकती है। हो सकता है कि, साधारण जनता जो कि, धनसम्पन्न नहीं है और किसी तरह मेहतन मजदूरी कर अपना काम चलाती है, वह चाहे विशेष ध्यान न दे परन्तु पूंजीपति और बड़े-बड़े व्यापारियों को तो यह होश होना ही चाहिये कि, यदि वे समय रहते नहीं चेतेंगे तो उनकी कैसी शोचनीय अवस्था होगी। यह एक ऐसा विषय है कि, जिसको सफल करने के लिये पूंजीपति और बड़े-बड़े व्यापारियों को ही सब से पहले आगे आना होगा और उनके धन-बल से ही यह कार्य सम्पन्न हो सकेगा। आजकल संसार में सभी कार्य धन-बल के आधार

पर प्रोपैगैण्डा से सिद्ध होते हैं। जो व्यक्ति वर्ष भर में लाखों करोड़ों रुपये अपने व्यवसाय में इधर-उधर करते रहते हैं, उनके लिये इस कार्य में आ जुटना कोई असाध्य कार्य नहीं है। मारवाड़ी समाज को समय रहते चेत जाना चाहिये और सांप्रदायिक तथा सामाजिक झगड़ों को विशेष महत्त्व न देकर इस बृटिश भारत में जातीयता की भावना से जुट जाना चाहिये और अपने अच्छे से अच्छे संगठन द्वारा संसार को दिखा देना चाहिये कि, देश में उनका क्या अधिकार है ? हमारी तो यह दृढ़ धारणा है कि, मारवाड़ी समाज में कोई ऐसा मतभेद नहीं है कि, वह समाज को एक सूत्र में न ला सके। हम तो यह समझते हैं कि, दुर्भाग्य से समाज के सामने तिनके की ओट में पहाड़ आ गया है और अपना थोड़ा सा दृष्टिकोण बदलने से ही सहज में मैदान साफ हो सकता है। आवश्यकता केवल यह है कि, सर्वसाधारण भाई जातीयता का भाव धारण करें और देखें कि, मारवाड़ी समाज में कितनी शक्ति है और भविष्य में वह क्या कर सकता है। परमात्मा जाति भाइयों को सुबुद्धि दे जिससे समाज का कल्याण हो सके, यही हमारी कामना है।

८

राजनीति और साहित्य

वर्तमान समय में साधारणतया लोगों की यह धारणा देखी जाती है कि, मारवाड़ी समाज स्वभावतः व्यापारपटु है और वाणिज्य-व्यापार से धन कमाना भी जानता है, परन्तु राजनीति और साहित्य में उसका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। यह धारणा साधारणतः सही है, क्योंकि, इधर प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से मारवाड़ी समाज का खास विषय वाणिज्य-व्यापार ही रहा है तथापि यह कहना कि, मारवाड़ी समाज का राजनीति और साहित्य से कोई उल्लेखनीय सम्पर्क नहीं रहा—यह एक ऐसी बात है जिसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि, जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं, उन्हें इतिहास का कुछ भी ज्ञान नहीं है। हम इस प्रकरण में इन दोनों विषयों पर अलग-अलग विचार करेंगे और पाठकों को यह बतलावेंगे कि, राजस्थान में मारवाड़ी जाति का निर्माण ही राजनीति के

आधार पर हुआ था और राजनैतिक क्षेत्र ही सदैव से उसका क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है। इसके अतिरिक्त राजस्थानियों ने डिंगल भाषा में जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह आज भी संसार के स्वाभिमानी और स्वतन्त्र देशों के लिये कर्त्तव्य-कर्म का पाठ पढ़ानेवाला अमर सन्देश है।

राजनीतिक क्षेत्र में मारवाड़ी समाज

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि हम विचार करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि, राजस्थान में मारवाड़ी जाति का अस्तित्व क्षात्र-धर्म और राजनीति पर ही अवलम्बित रहा है। इतिहास बतलाता है कि, जिस जिस समय राजनैतिक क्षेत्र में विप्लव खड़ा हुआ, उस उस समय न केवल राजसत्ता-धारी राजपूत नरेशों ने ही अपना बलिदान किया प्रत्युत् राजस्थान के ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और अछूत कहे जानेवाले सभी वर्णों के व्यक्तियों ने देश, धर्म और अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये क्षात्र-धर्म का ज्वलन्त परिचय दिया है। हमारी इच्छा तो थी कि, हम इस विषय में विस्तार के साथ लिखने की चेष्टा करें और पाठकों को बतलावें कि, किस किस समय किन किन विशेष विशेष व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में अपने त्याग और अद्भुत कार्य-कलापों के द्वारा आश्चर्यजनक कार्य किया था। परन्तु, इस पुस्तक में अब हमारे पास इतना स्थान नहीं रहा कि, हम उन सभी बातों को विस्तारपूर्वक अंकित कर सकें। हमने प्रथम अध्याय में उस समय की जो भी संक्षिप्त रूपरेखा खींची है, उससे पाठक सार रूप से समझ सकेंगे कि, मारवाड़ी जाति की उत्पत्ति ही राजनीति के आधार पर हुई थी। इसके अतिरिक्त यह भी इतिहास प्रसिद्ध बात है कि, राजस्थान के व्यक्ति अपनी मातृभूमि से चल कर जिस समय अन्य प्रान्तों में आये उस समय भी उनका दृष्टिकोण राजनीति की भावना से सर्वथा शून्य नहीं था। हमने चौथे और पाँचवें अध्याय में बतलाया है कि, ईस्वी सन् १५६४ में पहले-पहल जब मारवाड़ी जाति के व्यक्ति बंगाल में



श्रीमती जानकीदेवी बजाज
(धर्मपत्नी-सेठ जमनालालजी बजाज)

आये उस समय उनका क्षेत्र राजनीतिक ही था। यह एक दूसरी बात है कि, राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते हुए, उन्होंने अपने वाणिज्य-व्यापार का भी जरिया खोज निकाला और आगे चल कर व्यापारिक क्षेत्र में प्रधान स्थान प्राप्त करने में वे सफल हुए। परन्तु, बंगाल में मारवाड़ी जाति की जो उत्तरोत्तर प्रगति हुई उसका कारण उनकी राज-नीतिक चातुरी और व्यापारिक योग्यता ही थी। पाठक जान चुके हैं कि, ई० सन् की १८ वीं शताब्दी में तो बंगाल की राजसत्ता और राज-नीति का संचालन जगतसेठ आदि प्रमुख मारवाड़ी व्यक्तियों ने ही किया था। उसके बाद अवश्य ही यह एक अद्भुत और खेदजनक घटना घटी कि, पलासी काण्ड के परिणाम स्वरूप बंगाल की राजसत्ता विदेशियों के हाथ में चली गई और नवाब मीरकासिम द्वारा सन् १७६३ में जगतसेठों की हत्याएँ हुईं तो विशेप परिस्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण मारवाड़ी जाति राजनीतिक क्षेत्र से हट गई और केवल वाणिज्य-व्यापार ही करने लगी। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि, देश के राजनीतिक क्षेत्र में यह एक महान् और विचित्र परिवर्तन था। जिस प्रकार जगत्गुरु कहलानेवाले इस महान् देश पर विदेशियों की राजसत्ता का सूत्रपात होना आश्चर्यजनक था उसी प्रकार मारवाड़ी जाति का राजनीति से हट कर केवल वाणिज्य-व्यापार में लग जाना उससे भी अधिक आश्चर्यजनक हुआ। सच तो यह है कि, देश का यह दुर्भाग्य था जिसके कारण ही इतना परिवर्तन हो सका और आगे चल कर स्वदेश और स्वधर्म पर अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देनेवाली इस जाति को देश की राजनीति से अपने को अलग कर लेना पड़ा।

यह अवस्था सन् १६०० तक रही। इस लम्बे अर्से के भीतर अवश्य ही कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि, मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने सामूहिक रूप से प्रत्यक्षतया राजनीति में भाग लिया हो। शायद यही कारण भी है कि, मारवाड़ी जाति के सम्बन्ध में लोगों की आज यह

धारणा हो चली है कि, वह व्यापारी जाति है और राजनीति से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हमने यह बतलाया है कि, सन् १६०० के बाद जब महारानी विक्टोरिया का देहावसान हो गया तो देश की राजनीतिक परिस्थिति फिर से बदलने लगी। ब्रिटिश राज-कर्मचारियों ने कुछ ऐसी नीति ग्रहण की कि, जिससे देशवासी सशंकित हो गये। तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन के 'वंगभंग' आदि कुछ कार्य ऐसे सामने आये, जिनसे देशवासियों में असन्तोष उत्पन्न हो गया। यद्यपि उस समय मारवाड़ी जाति अपने देशव्यापी वाणिज्य-व्यापार में शीर्ष स्थान प्राप्त कर उल्लेखनीय आर्थिक उन्नति कर रही थी और उसके लिये कुछ ऐसा विशेष वातावरण भी हो चला था कि, राजनीतिक विषयों में भाग लेना उसके लिये कोई आवश्यक कार्य नहीं रह गया था, तथापि जातिगत संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता। विशेष परिस्थिति के उपस्थित हो जाने के कारण उस पर एक बार दूसरा आवरण पड़ सकता है पर उसकी वास्तविकता नष्ट नहीं होती। इस अवस्था में यह कैसे सम्भव होता कि, प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक केवल वाणिज्य-व्यवसाय करते हुए भी मारवाड़ी जाति अपने जातिगत संस्कार राजनीति को भूल जाती। यही कारण था कि, जब देश में नवीन राजनीतिक आन्दोलन शुरू हुआ तो मारवाड़ी जाति के नवयुवक राजनीति में पुनः भाग लेने के लिये मुस्तैद हो गये। इस सम्बन्ध में हमने पूर्व अध्याय में यथासाध्य प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

स्थानीय 'मारवाड़ी एसोसियेशन' 'वैश्य सभा' और 'वुद्धिवर्द्धिनी सभा' के नवयुवक सदस्यों ने पहले-पहल राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया था। प्रचार की दृष्टि से 'वुद्धिवर्द्धिनी सभा' ने सब से अधिक भाग लिया। यदि यह कहा जाय कि, उसके सभापति पं० सखाराम गणेश देउस्कर ने मारवाड़ी नवयुवकों में राजनीति की भावना जागृत की तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने नवयुवकों को ऐसी शिक्षा दी कि, वे दिलचस्पी के साथ राजनीति में भाग लेने लगे। बंगभंग होने पर सन्

सुप्रसिद्ध सुधारिका



श्रीमती पार्वतीदेवी डीडवानिया

१९०५ में जब विदेशी वस्तुओं का वायकाट शुरू हुआ, उस समय मारवाड़ी जाति के लिये बड़ी कठिन परिस्थिति उपस्थित हो गयी थी क्योंकि मारवाड़ियों का सम्बन्ध उस समय पूर्णतया विदेशी व्यापार से था। परन्तु समाज के नवयुवकों ने देश की पुकार पर ध्यान दिया और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पर्वाह न कर जब जहाँ इस विषय का आन्दोलन होता और व्याख्यानादि होते वहाँ समाज के कतिपय नवयुवक पहुंच ही जाते थे और स्वदेशी के प्रचार और विदेशी के वायकाट में अपना मत देते थे। इसके बाद ई० सन् १९०९ में शासन-सुधार के नाम पर सरकारी कौंसिलों में जाति विशेष के आधार पर कतिपय सीटों की व्यवस्था हुई तो 'मारवाड़ी एसोसियेशन' की ओर से समय समय पर रायबहादुर शिवप्रसादजी झूंझनूंवाला, सर हरीरामजी गोयनका, रायबहादुर रामदेवजी चोखानी, केशोरामजी पोद्दार, रंगलालजी जाजोदिया, देवीप्रसादजी खेतान और सर बद्रीदासजी गोयनका आदि कौन्सिल और असेम्बली के सदस्य बने। इसके अतिरिक्त कारपोरेशन में भी कई व्यक्तियों ने भाग लिया। यह भी देखा गया कि, सन् १९१३ में उग्र राजनीति में भाग लेने के कारण मारवाड़ी जाति के प्रति बंगाल सरकार के भी कान खड़े हो गये थे। पाठक जान चुके हैं कि, उस समय बंगाल सरकार ने श्री० फूलचन्द चौधरी, ज्वालाप्रसाद कानोड़िया, हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका और ओंकारमल सराफ आदि नवयुवकों को गिरफ्तार कर निर्वासित कर दिया था। अवश्य ही दोप प्रमाणित न होने के कारण वे सब के सब कुछ समय के बाद ही छोड़ दिये गये। परन्तु, इससे मारवाड़ियों की राजनीति में प्रगति का प्रमाण तो मिल ही जाता है।

अव हम इस सम्बन्ध में विशेष कुछ न लिख कर पाठकों का ध्यान असहयोग आन्दोलन की ओर आकर्षित करेंगे जो कि, महात्मा गांधी के तत्वावधान में पहले-पहल सन् १९२० में प्रारम्भ हुआ था और जिसकी प्रगति उत्तरोत्तर होती रही। महात्मा गान्धी ने असहयोग और सविनय

कानून भंग का जो साधन देशवासियों के सामने रखा, वह राजनीतिक क्षेत्र में एक नयी चीज थी। इसी के फलस्वरूप आज भारतवर्ष के शासन में इतना परिवर्तन हो गया है कि, 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' इस समय भारत के ८ प्रान्तों में प्रजासत्तात्मक शासन कर रही है। सन् १९२० से लेकर अब तक इस बीस वर्ष के अर्से में देशवासियों ने राजनीतिक क्षेत्र में जैसा अद्भुत भाग लिया और भारी से भारी कष्ट उठाते हुए अपने स्वार्थों का बलिदान किया उसमें मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों ने भी यथा-साध्य अपना कर्त्तव्य-पालन करने में कोई त्रुटि नहीं की है। देश के स्वाभिमानी, पढ़े-लिखे और सच्चे नेताओं के अतिरिक्त प्रकट या अप्रकट रूप में मारवाड़ी जाति के व्यक्तियों ने सब से अधिक भाग लिया है। सभी प्रान्तों और सभी समाजों के व्यक्तियों ने कष्टसहिष्णु बन कर बहुत बड़े स्वार्थ का परित्याग किया और उनकी सेवाएँ इतिहास में अमर रहेंगी, परन्तु, मारवाड़ी समाज की ओर से जितना लोक-दिखाऊ नहीं किन्तु, ठोस कार्य हुआ, उसका जोड़ शायद दूसरा नहीं है। यह एक मानी हुई बात है कि, कोई भी विषय क्यों न हो, उसका संचालन धना-भाव के कारण पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि, मारवाड़ी समाज ने प्रकट या अप्रकट रूप में इस आवश्यकता की सब से अधिक पूर्ति की तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों के पास धन का बाहुल्य नहीं था उन्होंने तन मन से देश की सेवा करने में कमी नहीं की। सब से बड़ी बात यह देखी गई कि, जहाँ अन्य जातियों के व्यक्तियों ने अपने-अपने प्रान्तों में ही अधिक भाग लिया, वहाँ मारवाड़ी समाज के व्यक्तियों ने समस्त प्रान्तों में श्लाघनीय कार्य किया। विशेषता यह कि, जिस मारवाड़ी समाज के सम्बन्ध में लोगों का यह आम खयाल है कि, मारवाड़ी जाति की स्त्रियाँ सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं ले सकतीं उन्होंने भी इस आन्दोलन में न केवल भाग ही लिया बल्कि जेलों की यातनाएँ भी सहर्ष स्वीकार कीं। हम यहाँ ऐसी

देश की पुकार पर सर्व प्रथम सत्याग्रह में
भाग लेने वाली



श्रीमती इन्दुमती गोयनका

सभी वीरांगनाओं के नाम उल्लेख करने में समर्थ नहीं हैं तथापि कुछ महिलाओं के नाम जो हमें याद हैं, यहाँ पर देते हैं—सर्व प्रथम बाबू पद्मराज जैन की सुकुमारी पुत्री इन्दुमती गोयनका का नाम हम नहीं भुला सकते जिन्होंने आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाया था और कलकत्ते से सर्व प्रथम जेल गयी थी। श्रीमती जानकी देवी बजाज, श्रीमती पार्वती देवी डीडवानिया, श्रीमती सज्जन देवी मुहणोत, श्रीमती भगवान-देवी सेखसरिया, श्रीमती गंगादेवी मोहता, श्रीमती गीतादेवी चांडक और श्रीमती सरस्वती देवी गाड़ोदिया आदि अनेक महिलाएँ ऐसी रहीं जिन्होंने यह दिखा दिया कि, राजस्थान की जो नारियाँ आवश्यकता होने पर रणचण्डी बन कर शत्रु-संहार में उद्यत होती थीं उन्हीं की सन्तति आज भी देश की पुकार पर स्वाधीनता-आन्दोलन में उतर कर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकती है।

अब हम उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में लिखेंगे जिन्होंने क्रियात्मक रूप से देश के राजनैतिक आन्दोलन में विशेष रूप से भाग लिया है और ले रहे हैं।

अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी नेता

लाला लाजपतराय—

मारवाड़ी समाज अपने उन वीर नेता पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय को नहीं भूल सकता जिन्होंने अपने वलिदानों से हरियाणा प्रान्त और अग्रवाल जाति का नाम उज्ज्वल कर दिया है। लाला लाजपतराय की गणना उन महा-पुरुषों में थी जिन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है। उन्होंने अपनी युवावस्था में ही देश-सेवा-व्रत धारण किया था और देश की सेवा करते हुए ही उन्होंने अपने प्राण-विसर्जन किये। वे देश के लिये जीये और देश के लिये ही मरे। उन्होंने देश की सेवा करते हुए बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ की। मांडले जेल में वर्षों निर्वासित

रहे। बाद में यूरोप भेज दिये गये। पर किसी प्रकार भी वे देश-सेवा से विरत नहीं हुए। वे देश के सर्वमान्य नेता थे। यही कारण था कि, सन् १९२० में वे कांग्रेस के अध्यक्ष मनोनीत हुए थे और उन्हीं की प्रधानता में महात्मा गान्धी का असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव पास हुआ था।

सेठ जमनालाल वजाज—

दूसरा नंबर सेठ जमनालाल वजाज का है जिन्होंने ऑनरेरी मैजिस्ट्रेटी और रायवहादुरी आदि सरकारी उपाधियों को त्याग कर महात्मा गान्धी के नेतृत्व में देश-सेवा का व्रत लिया। धन-संपन्न होने पर भी उन्होंने कभी ऐश आराम की पर्वाह नहीं की। देश के लिये कई वार जेल की यंत्रणाएं सहीं और आज तक सह रहे हैं। जव से 'तिलक स्वराज्य फण्ड' की स्थापना हुई तब से वे कांग्रेस की ओर से उसके कोषाध्यक्ष रहे और आज भी हैं। वे देश के प्रमुख नेताओं में से हैं। यही कारण है कि, वे आज भी कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के सदस्य वने हुए हैं। उनके त्याग और वलिदान ने मारवाड़ी जाति का विशेष गौरव वढ़ाया है और यह प्रमाणित कर दिया है कि, देश का उद्धार करने के पथ में मारवाड़ी जाति पश्चात्पद नहीं है।

सेठ गोविन्ददास मालपाणी—

तीसरा स्थान हम जब्बलपुर के लब्ध प्रतिष्ठित देशभक्त सेठ गोविन्ददास मालपाणी का समझते हैं। उनका त्याग इतना महान् है कि, जिसका जोड़ 'राष्ट्रीय महासभा' के इतिहास में मिलना कठिन है। उनका कथन है कि, 'मेरे पूर्वजों ने विदेशी राजसत्ता के जमाने में सहयोग दिया उसी का यह परिणाम है कि, मुझे आज प्रायश्चित्त करना पड़ता है।' शायद यही कारण है कि, उन्होंने अपनी विशाल पैतृक संपत्ति से अपना अधिकार त्याग दिया है और एक राजनैतिक सन्यासी की तरह देश-सेवा-व्रत के व्रती बने हैं।



देशभक्त स्वर्गीय लाला लाजपतराय

हमारी दृष्टि में चतुर्थ स्थान बरार-केशरी श्री बृजलाल बियाणी को दिया जा सकता है। आपने मध्य-प्रदेश व बरार में इतनी अधिक जागृति और कार्य कर दिखाया है कि जिससे आपकी गणना सार्वजनिक नेताओं में होने लगी है। यही कारण है कि, आप स्टेट कौंसिल के प्रजा की ओर से सदस्य निर्वाचित हुए हैं। आपका त्याग भी महान् है।

बरार-केशरी श्री बृजलाल बियाणी—

देश के सर्वमान्य नेताओं में पाँचवाँ स्थान हम मारवाड़ी समाज के विद्वद्वर डा० राममनोहर लोहिया, पी एच० डी० को दिये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करके भी व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर न झुक कर युवावस्था में ही अपने को देश-सेवा में लगा दिया है। इस समय उनको यह गौरव प्राप्त है कि, राष्ट्रीय महासभा की ओर से वे 'पर-राष्ट्र-सचिव' का कार्य कर रहे हैं।

डा० राममनोहर लोहिया, पी-एच० डी०—

इसके अतिरिक्त हम वर्धा के वयोवृद्ध श्री० श्रीकृष्णदास जाजू, शोलापुर के श्री० रामकृष्णदास जाजू, कलकत्ते के बाबू घनश्यामदास बिड़ला, अमलनेर के प्रताप सेठ, जामनेर के श्री० राजमल ललवानी, बंबई के राजा गोविन्दलाल पित्ती और भिवानी के पंडित नेकीराम शर्मा के शुभ नामों को भी नहीं भुला सकते जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपने त्याग, कष्ट सहिष्णुता और बलिदानों के द्वारा अखिल भारतीय नेता कहलाने का सा गौरव प्राप्त किया है।

अन्य नेता—

विभिन्न प्रान्तों में कार्य करनेवाले मारवाड़ी नवयुवक

यद्यपि देश के वर्तमान वातावरण में मारवाड़ी समाज के हजारों व्यक्तियों ने असहयोग और सविनय-आज्ञा-भंग आन्दोलनों में भाग लिया

है और आज भी ले रहे हैं, उन सब का नामोल्लेख करना हमारे लिये सम्भव नहीं है तथापि कुछ विशेष-विशेष व्यक्तियों के नाम जो इस समय हमें स्मरण होते हैं, यहाँ लिख देना हम आवश्यक समझते हैं।

वंगाल प्रान्त— सर्व श्री पद्मराज जैन, बसन्तलाल मुरारका, नागरमल मोदी, सीताराम सेखसरिया, रामकुमार भुवालका, वैजनाथ केडिया, कन्हैयालाल चितलांगिया, मेघराज सेवक, वृजलाल गोयनका, हीरालाल लोहिया, पांडेय नन्दलाल 'अटल', नथमल डालमिया, रामचरण भरतिया, रामेश्वरलाल शर्मा, बनवारीलाल भालोटिया (रानीगंज), सागरमल अग्रवाल (बराकर), विलासराय अग्रवाल (भेड़ामारा), प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, गंगाप्रसाद भोतिका, तुलसीराम सरावगी, रंगलाल जाजोदिया, चिरंजीलाल सराफ और भागीरथमल कानोड़िया आदि। इनमें अनेक व्यक्तियों ने देश की पुकार पर सक्रिय भाग लेकर जेल-यात्रा की और कतिपय व्यक्ति अन्य प्रकार से राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग देते रहे हैं।

वम्बई— श्रीनिवास बगड़का, मदनलाल जालान, राजा नारायणदास पित्ती, रामेश्वर जाजोदिया और शोलापुर के श्रीकृष्णलाल शारदा आदि अनेकों व्यक्ति हैं जिन्होंने समय-समय पर राजनीति में भाग लिया है और बराबर लेते रहते हैं।

मध्य-प्रदेश— सच तो यह है कि, राजनीतिक आन्दोलनों में मध्यप्रदेश के मारवाड़ियों ने सर्वापेक्षा बहुत अधिक भाग लिया है। इसका कारण हम यह समझते हैं कि, श्री० श्रीकृष्णदासजी जाजू, जमनालालजी बजाज, गोविन्ददासजी मालपाणी और वृजलालजी बियाणी आदि नेताओं का प्रधान क्रीड़ा-क्षेत्र मध्य-प्रदेश और बरार ही रहा है। यहाँ पर हम श्री पूनमचन्द रांका, केशरबाई पोद्दार, शिवदास डागा, नरसिंहदास अग्रवाल, राधाकृष्ण तोषनीवाल, किशनलाल गोयनका, कुन्दनमल फिरोदिया, द्वारकादास भैया आदि के नामोल्लेख

देश के नाम पर महान् त्याग का आदर्श
रखने वाले, स्टेट कौंसिल के सदस्य



सेठ गोविन्ददासजी मालपाणी (जब्बलपुर)

कर देना भी अपना कर्त्तव्य समझते हैं जिन्होंने समय-समय पर अनेक कष्ट उठाये हैं और इस समय भी देश-सेवा के लिये कटिबद्ध देखे जाते हैं।

बिहार प्रान्त—**श्री** मोतीलाल केजड़ीवाल, हीरालाल सराफ, गौरीशंकर डालमिया, बृजलाल डोकाणी, द्वारकाप्रसाद गुटगुटिया, रामलाल सरावगी और श्रीयुक्त रामकृष्णदास डालमिया आदि कितने ही व्यक्तियों ने देश के सक्रिय आन्दोलनों में भाग लिया है और बराबर लेते हैं।

संयुक्त प्रदेश—इस प्रान्त के श्री रामेश्वर अग्रवाल, अचलसिंह जैन, संगमलाल अग्रवाल, नवलकिशोर भरतिया, पद्मपति सिंहानिया, रामकुमार नेवटिया, महावीरप्रसाद पोद्दार और रामदास अग्रवाल आदि कितने ही कार्यकर्ताओं के नाम प्रसिद्ध हैं।

वर्मा—श्री सोनीराम पोद्दार, बनारसीलाल केडिया और रामनिवास बागला आदि कितने ही व्यक्ति किसी न किसी रूप में वर्मा की राजनीति में भाग लेते रहते हैं।

सिंध—सिंध के कार्यकर्ताओं में श्री शिवरतन और रामगोपाल मोहता के नाम उल्लेखनीय हैं।

पंजाब—श्री पं० नेकीराम शर्मा, (भिवानी), श्री केदारनाथ गोयनका (दिल्ली), और श्री लक्ष्मीनारायण गाड़ोदिया (दिल्ली) आदि।

अजमेर—**अ**जमेर के कार्यकर्ताओं में श्री हरविलास सारदा, चांदकरण शारदा, कृष्णगोपाल गर्ग, खरवा-नरेश स्वर्गीय ठाकुर साहब गोपालसिंह, बाबा नरसिंहदास अग्रवाल और स्वामी नरसिंहदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजपूताना—**रा**जपूताना ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत नहीं, तो भी राष्ट्र की समस्या के बाहर वह भी नहीं है। इस समय तो राजस्थान का प्रश्न सारे देश का प्रश्न हो रहा है। हम देखते हैं कि, राजस्थान में अनेक व्यक्ति काम करते आये हैं और आज

भी करते देखे जाते हैं। उनमें से ठा० केशरीसिंह बारहठ, कुंवर प्रतापसिंह बारहठ, श्री० विजयसिंह 'पथिक', अर्जुनलाल सेठी, रामनारायण चौधरी, जयनारायण व्यास, हीरालाल शास्त्री, मोतीलाल कुनाड़िया, स्वर्गीय स्वामी गोपालदास, खूबराम सराफ, सत्यनारायण सराफ, चन्दनमल बहड़ एवं स्वामी लक्ष्मीदास आदि के नाम हैं जिन्होंने राजस्थान की विभिन्न रियासतों में बहुत अधिक कार्य किया है और कर रहे हैं।

वर्तमान प्रान्तीय और केन्द्रीय कौंसिलों और असेम्बलियों के मारवाड़ी सदस्य

अब हम वृटिश भारत के विभिन्न प्रान्तों में जो मारवाड़ी व्यक्ति कौंसिलों और असेम्बलियों में हैं उनके नाम यहाँ देते हैं।

कौंसिल आफ स्टेट—(१) आनरेबुल राजा गोविन्दलाल पित्ती (बम्बई) और (२) आनरेबुल वृजलाल बियाणी (अकोला)।

सेण्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली—(१) श्री बैजनाथप्रसाद बाजो-रिया (२) सेठ गोविन्ददास मालपाणी (३) सेठ शिवदास डागा (४) रायबहादुर सेठ भागचन्द सोनी।

बंगाल लेजिस्लेटिव कौन्सिल—श्री० सेठ हनुमानप्रसाद पोद्दार।

बंगाल लेजिस्लेटिव असेम्बली—(१) श्री० ईश्वरदास जालान (२) रायबहादुर मंगतूराम तापड़िया, (३) श्री० देवीप्रसाद खेतान।

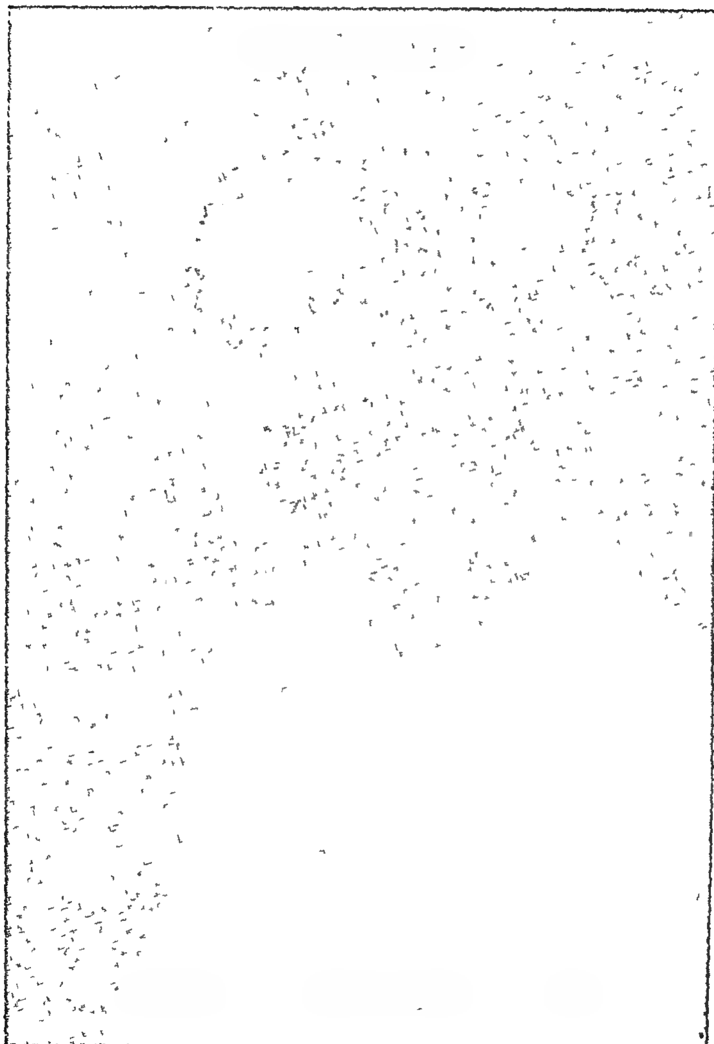
बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली—श्री वृजलाल डोकाणी, श्री गौरीशंकर डालमिया।

उड़ीसा लेजिस्लेटिव असेम्बली—(१) श्री प्रह्लादराय लाठ (२) श्री रंगलाल मोदी।

आसाम लेजिस्लेटिव असेम्बली—श्री केदारनाथ शर्मा।

आसाम लेजिस्लेटिव कौंसिल—(१) रायसाहब बालाबक्ष हंसारिया (२) रायबहादुर रामेश्वर सहरिया (३) श्री गजानन्द अग्रवाल।

सुप्रसिद्ध देशभक्त कर्मवीर



वरार-केशरी श्रीयुक्त बृजलालजी बियाणी

संयुक्त प्रदेश लेजिस्लेटिव असेंबली—(१) सेठ अचलसिंह (२) सेठ पद्मपति सिंहानिया।

बंबई लेजिस्लेटिव असेंबली—(१) सेठ राजमल ललवानी (२) श्री कुंदनमल फिरोदिया (३) श्री० शालिग्राम भरतिया।

बंबई लेजिस्लेटिव कौंसिल—श्री० प्रेमराज शालिग्राम।

वर्मा—(१) श्री रामनिवास बागला और (२) श्री बनारसी-लाल केड़िया।

मध्य-प्रदेश और बरार लेजिस्लेटिव असेंबली—(१) आनरेबुल छगनलाल भारूका (मिनिष्टर फार कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज) (२) सेठ गोपालदास मोहता (३) श्री भीखनलाल चांडक (४) श्री पुष-राज कोचर (५) श्री जमनालाल चोपड़ा (६) श्री सुगनचन्द लूणावत-(७) श्री खुशालचन्द खजांची (८) श्री दीपचन्द लक्ष्मीचन्द (९) श्री गुलाबचन्द चौधरी (१०) श्री रामगोपाल तिवारी (११) श्री मोहनलाल खण्डेलवाल (१२) श्री बद्रीनारायण अग्रवाल (१३) श्री सुगनचन्द चुन्नीलाल (१४) श्रीमती दुर्गाबाई जोशी।

बहुत संभव है कि, इनमें कुछ व्यक्तियों के नाम छूट गये हों। यदि ऐसा हुआ हो तो वे हमें क्षमा करेंगे।

साहित्य-क्षेत्र में मारवाड़ी समाज

मारवाड़ी जाति के सम्बन्ध में कुछ लोगों को यह भ्रम है कि, साहि-त्यिक विषयों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक ऐसी बात है जिसके सम्बन्ध में यह कहना ही उपयुक्त होगा कि, जो व्यक्ति ऐसा सम-झते हैं वे स्वयं ही संसार के साहित्य से परिचित नहीं हैं। सच तो यह है कि, मारवाड़ी जाति का प्राचीन राजस्थानी साहित्य जो कि, डिंगल भाषा में आज भी परिपुष्ट बना हुआ है, वह किसी भी स्वाभिमानी देश

के साहित्य से कम महत्वपूर्ण नहीं है। जिस समय राजस्थानी साहित्य का प्रचार था, उस समय न केवल राजस्थान ही, अपितु समस्त भारतवर्ष एक जीवित देश था और हिन्दुस्थान कहलाने के योग्य था। राजस्थानी साहित्य का ही यह प्रभाव था कि, न केवल पुरुष ही अपने कर्त्तव्य कर्म पर आरूढ़ रहते थे बल्कि कर्त्तव्य की पुकार और आवश्यकता होने पर गृहललनाएँ भी अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया करती थीं। राजस्थानी साहित्य में वह शक्ति थी कि, किसी भी व्यक्ति के लिये अपनी, अपने देश की और अपने समाज की मान-मर्यादा, आन-वान और शान को वना रखने में अपने प्राणों की वाजी लगा देना एक मामूली-सा कार्य समझा जाता था। यह एक दूसरी वात है कि, वर्तमान समय में डिंगल भाषा के राजस्थानी साहित्य का प्रचार सीमावद्ध और वहुत ही कम हो गया है और जिन व्यक्तियों ने इस साहित्य को न तो पढ़ा है, न सुना है और न उसका किसी प्रकार मनन ही किया है वे इसकी गुरुता और महानता को नहीं समझ सकते। परन्तु, जिन व्यक्तियों ने संसार के साहित्य को समझने की चेष्टा की है और साथ ही राजस्थानी साहित्य का भी अध्ययन किया है, वे कह सकते हैं कि, राजस्थान का साहित्य वह अमर साहित्य है जिसकी जोड़ संसार के किसी भी साहित्य में नहीं है। उसमें एक साथ ही कर्त्तव्यपरायणता, शौर्य और सौन्दर्य वहता दिखाई पड़ता है। उस साहित्य के कारण ही राजस्थान की पुण्यभूमि भारतवर्ष की सशक्त भुजा के समान थी। वह मर्दों का देश था। वहाँ मर्द ही पैदा होते थे।

इस सम्बन्ध में सर जार्ज ग्रियर्सन, एल० पी० टेसीटोरी, एवं कर्नल जेम्स टाड जैसे विदेशी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से राजस्थानी साहित्य की प्रशंसा की है। सर आशुतोष मुखर्जी जैसे महापण्डित ने उसका गौरव गान गाया है। हम यहाँ पर उन सभी विद्वानों की सम्मतियां उद्धृत कर ग्रन्थ का कलेवर नहीं बढ़ाना चाहते। यहाँ पर सिर्फ वर्तमान समय के

कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उद्गार अवश्य उद्धृत करेंगे जो कि, हाल ही में उन्होंने सन् १९३७ की एक सभा में प्रकट किये थे। उन्होंने कहा था कि—

"भक्ति रस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी कोटि का पाया जाता है। राधाकृष्ण को लेकर हर एक प्रान्त ने मन्द या ऊँची कोटि का साहित्य पैदा किया है। लेकिन राजस्थान ने अपने रक्त से जिस साहित्य का निर्माण किया है उसकी जोड़ का साहित्य और कहीं नहीं पाया जाता। उसका कारण यह है कि, राजस्थानी कवियों ने कठिन सत्य के बीच में रह कर युद्ध के नगारों के बीच अपनी कविताएँ निर्माण की थीं। प्रकृति का ताण्डव रूप उनके सामने था। क्या आज कोई केवल अपनी भावुकता के बल पर फिर वैसा काव्य निर्माण कर सकता है ?

राजस्थानी भाषा के साहित्य में जो भाव है, जो उद्वेग है, वह राजस्थान का खास अपना है। वह केवल राजस्थान के लिये ही नहीं, सारे भारतवर्ष के लिये गौरव की वस्तु है। राजस्थान का यह साहित्य कवियों के हृदय के अन्तस्तल से निकला है। अतः यह प्रकृति के बहुत समीप है।

मुझे क्षितिमोहन सेन महाशय से हिन्दी काव्य का आभास मिला था पर आज जो मैंने पाया है वह बिलकुल नवीन वस्तु है। आज मुझे साहित्य का एक नवीन मार्ग लिया है। मैं सुना करता था कि, चारण कवि युद्ध के समय उत्तेजना-वर्द्धक कविताएँ सुना सुना कर लोगों को प्रोत्साहित करते रहते थे पर आज मैंने उन कविताओं का रसास्वादन किया और मुझे इस साहित्य में इतना जोर मालूम पड़ा कि, जिसका प्रकाशन देश के लिये बहुत आवश्यक है।"

यह उक्ति है वर्त्तमान समय के साहित्य-सम्राट् की। इस एक ही उद्धरण से पाठक समझ सकेंगे कि, संसार के साहित्यिक क्षेत्र में राज-

स्थानी साहित्य का कितना बड़ा स्थान है। इसके अतिरिक्त आधुनिक समय में भी राजस्थानियों ने साहित्य में कुछ कम भाग लिया हो, यह बात भी नहीं है। इस सम्बन्ध में भी हम विशेष रूप से लिखने का प्रयत्न करेंगे।

राजस्थानी साहित्य का भले प्रकार परिचय कराने के लिये हजारों पृष्ठ लिखे जा सकते हैं। परन्तु यहाँ हमें उसका संकेत मात्र ही कर देना उचित मालूम होता है।

सन्त-साहित्य—

भारतवर्ष अध्यात्मवाद के लिये परम्परा से अपना स्थान सर्वोपरि रखता आया है। यही कारण है कि, इसे जगद्गुरु कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ था। दर्शन, योग, मन्त्र-शास्त्र, तन्त्रविद्या, भक्ति आदि विषयों के साधक और प्रचारक जितने भी भारतवर्ष में प्रकट हुए हैं, उन सब की गणना हम 'सन्त' कह कर करते हैं। ऐसे महापुरुषों का प्रादुर्भाव राजस्थान की भूमि में बहुत अधिक संख्या में होने का प्रमाण मिलता है। उन सन्तों ने अपने दिव्य ज्ञान और आत्मिक अनुभव साहित्य के रूप में तथा मौखिक प्रकट कर जिज्ञासुओं का बड़ा भारी उपकार किया है। पतितों के उद्धार में, अज्ञानियों के भ्रम निवारण में तथा मनुष्यों के कर्त्तव्य-कर्म का निर्धारण करने में उन्होंने अतुलनीय भाग लिया है। उन्होंने जो भी वाणी, वाक्य, पद्य और गद्य के रूप में प्रकट किये हैं वा ग्रन्थ ही निर्माण किये हैं, वे सब सन्त साहित्य के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं।

राजस्थान के सन्तों की वाणियाँ और पद्यावलियाँ गाँव-गाँव में मुखरित देखी जाती हैं। अवश्य ही यह एक अत्यन्त खेदजनक बात है कि, सन्त-साहित्य का जितना प्रकाशन होना चाहिये था उतना न होकर आज वह अप्रकाशित रूप में दबा हुआ पड़ा है। हम यहाँ पर सन्त साहित्य का आभास मात्र करा देना ही आवश्यक समझते हैं। यथा—(१) दादू वाणी (२) सुन्दर ग्रन्थावली (३) राघवदासजी की भक्तमाल (४) बखनाजी

की वाणी (५) गोरख ग्रन्थावली (६) जनगोपाल ग्रन्थावली (७) गरीबदास की रचना (८) नामदेव परिचयी (६) रैदास परिचयी (१०) रज्जब ग्रन्थावली (११) मंगल ग्रन्थावली (१२) कबीर परिचयी (१३) ध्रुवदास बाणी (१४) चितावणी जोग ग्रन्थ (१५) सन्तदास ग्रन्थावली (१६) परसराम ग्रन्थावली (१७) जगजीवन की बाणी (१८) बावनी संग्रह (१६) स्वामी अग्रदास पद संग्रह (२०) नागा रासो (२१) जोगी पृथीनाथ रचनावली (२२) अमृत ग्रन्थावली आदि सैंकड़ों सन्त महात्माओं के ग्रन्थ राजस्थान में पाये जाते हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि, उन सभी के सम्बन्ध में हम यहाँ पर प्रकाश डाल सकें। सच तो यह है कि, राजस्थान के सन्तों की बाणियाँ और रचनाएँ आज भी राजस्थानियों में आध्यात्मिक भावना को बना रखने में समर्थ बनी हुई हैं।

डिंगल भाषा का लिखित साहित्य—

यह साहित्य बहुत अधिक संख्या में राजस्थान के चारणों के गाँवों, ठिकानेदारों की कोटड़ियों और बड़े-बड़े राज्यों के पुस्तक-भण्डारों में विद्यमान है। यह प्रधानतया वीर रसात्मक है और राजस्थान की ऐतिहासिक गाथाओं से परिपूर्ण है। इस साहित्य में बहुत अधिक ओज है। मुर्दा-नसों में भी खून दौड़ा देने की शक्ति इसी साहित्य में पाई जाती है। सच तो यह है कि, नवमी शताब्दी से लेकर आज तक का इतिहास इस साहित्य में उपलब्ध होता है।

इस साहित्य का अधिकांश भाग राजस्थान की चारण जाति द्वारा रचा हुआ है।* कुछ भाग राजपूत नरेशों ने भी निर्मित किया है। हजारों काव्य-ग्रन्थ इस साहित्य में देखे जाते हैं। पर खेद है कि, यह प्रायः

---

* पाठक यह जान कर खुश होंगे कि कुछ समय से बंगाल में राजस्थान का अनुकरण कर 'चारण दल' स्थापित हुआ है और राजस्थान के चारणों की तरह देशवासियों को जगाने की चेष्टा होने लगी है।

सारा का सारा भण्डार अप्रकाशित होने के कारण आज हमारे लिये लाभप्रद सिद्ध नहीं हो रहा है। हम यहाँ पर पाठकों के जानने के लिये डिंगल साहित्य के कुछ निर्माताओं के नाम दे देना आवश्यक समझते हैं।

(१) बारहठ ईश्वरदासजी (२) बारहठ आशानन्दजी (३) कविराजा बाँकीदानजी आसिया (४) कविराजा मुरारीदानजी (५) कविराजा सूर्यमल्लजी मिश्रण (६) महाराजा पृथ्वीराजजी, बीकानेर (७) कविराजा करणीदानजी (८) गुंसाई गणेशपुरीजी (६) बारहठ कृष्णसिंहजी (१०) बारहठ ऊमरदानजी लालस (११) जवानजी भट्ट (१२) महाराजा मानसिंहजी, जोधपुर (१३) कविराजा दयालदासजी सिंढायच (१४) सांइया झूला (१५) गाडण केशोदास (१६) कुम्भकर्ण सांदू (१७) दुरसाजी आढा (१८) ओपाजी आढा (१६) अलूजी कविया (२०) मेहाजी बीठू (२१) रासाजी बीठू (२२) बीठू सूजा (२३) खिड़िया जगा आदि।

इसी प्रकार हजारों कवियों द्वारा यह साहित्य परिपुष्ट हुआ है। उनके रचे हुए हजारों डिंगल भाषा के ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध होते हैं। यही साहित्य यदि आज हिन्दी भाषा में प्रकाशित कर दिया जाय तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि, वीररस की जो कमी हिन्दी साहित्य में खटकती है, उसकी न केवल पूर्ति ही हो बल्कि डिंगल साहित्य के प्रकाशन से देश की बिखरी हुई शक्ति का पुनः संगठन हो जाय।

डिंगल भाषा का मौखिक साहित्य—

डिंगल भाषा का मौखिक साहित्य तो राजस्थान के घर-घर में प्रत्येक व्यक्ति की जबान पर रह कर जीवन-ज्योति का संचार करता है। काफी संख्या में ऐतिहासिक डिंगल गीत, दोहे और सोरठे राजस्थान के गाँव-गाँव में सुनने को मिलते हैं। उनके बनानेवालों का अधिकांश में पता नहीं लगता पर उनका प्रभाव इतना पड़ता देखा जाता है कि, वेद-वाक्य

की तरह जनता उन पर विश्वास करती है। वास्तव में इस मौखिक साहित्य में सूत्र रूप से कर्त्तव्य-कर्म का पाठ भरा हुआ है।

डिंगल भाषा का नीति साहित्य—

डिंगल भाषा में नीति साहित्य का अभाव रहा हो, यह बात नहीं है। ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने नीति के सम्बन्ध में अनुभूत शिक्षा दी है। हिन्दी साहित्य में नीतिकार बहुत थोड़े हैं पर राजस्थानी साहित्य में नीतिकारों का बाहुल्य है। सब से अधिक प्रसिद्धि कृपारामजी खिड़िया की रचना 'राजिये रा सोरठा' ने प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त हमें और अनेक नाम मिलते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—किशनिया, छोटिया, केलिया, ईलिया, भैरिया, फूसिया, बावजी, बींझरा, दादुवा, जेठुवा, दानिया, नागजी, नाथिया, नोपला, सगतिया, मोतिया, धींसिया आदि।

जैनियों द्वारा रचा साहित्य—

राजस्थान में चारणों के साहित्य के सिवा जो साहित्य सब से अधिक उपलब्ध होता है वह जैनियों द्वारा रचा साहित्य है। यह साहित्य इतनी अधिक संख्या में राजस्थान में मिलता है कि, भारतीय भाषाओं में सब से उत्कृष्ट समझे जानेवाले बंगला साहित्य का अकेले ही मुकाबला कर सकता है। जोधपुर, बीकानेर और जेसलमेर आदि के जैन ग्रन्थगारों में लाखों की संख्या में जैन ग्रन्थ मिलते हैं। इस साहित्य में सब से अधिक विशेषता यह है कि, यह भारत के समस्त प्रान्तों में थोड़ी बहुत कठिनाई से समझा जा सकता है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि, यदि इस साहित्य का प्रकाशन-कार्य आगे बढ़े तो इतिहास के क्षेत्र में नये-नये अन्वेपण होने लगेंगे।

अन्य कवियों द्वारा रचा पिंगल साहित्य—

चारणों और जैनियों ने जो रचनाएँ की हैं उसके अलावा भी राजस्थान में साहित्य-निर्माण का बहुत बड़ा कार्य हुआ है। वहाँ के राजदरबारों में हजारों कवियों ने आश्रय पाया है। राज्याश्रय पाकर उन्होंने हिन्दी को जो रत्न प्रदान किये हैं, वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। यद्यपि वे

कवि सारे के सारे राजस्थानी ही नहीं थे पर उनकी काव्य-रचना का सारा श्रेय राजस्थान को ही है कारण राजस्थान की साहित्य-प्रियता का आश्रय पाकर ही वे फले-फूले थे। इस प्रकार के कवियों में हम 'विहारी सतसई' के निर्माता बिहारीलालजी एवं पद्माकर आदि अनेकों कवियों के नाम ले सकते हैं। साथ ही पिंगल-साहित्य के निर्माण में राजस्थान के राजाओं ने भी काफी सहयोग दिया है। जयपुर के महाराजा सवाई प्रतापसिंहजी स्वयं एक सिद्ध कवि थे। उनके लिखे सारे ग्रन्थ 'व्रजनिधि ग्रन्थावली' के नाम से प्रकाशित भी हो चुके हैं। कृष्णगढ़ नरेश महाराजा नागरीदासजी ने करीब ६ दर्जन काव्य ग्रन्थों का सृजन किया है। मतलब यह कि, राजस्थान की प्रत्येक रियासत के राजवंशों में समुद्भव राजाओं और उनके द्वारा आश्रय पाये हुए कवियों ने प्रचुर परिणाम में पिंगल साहित्य का भी निर्माण किया है। यह साहित्य राजकीय पुस्तकालयों, कविराजों के वंशधरों एवं साहित्य-प्रेमियों के पुस्तक-भण्डारों में बहुत पाया जाता है। यहां पर हम जयपुर के एक कवि 'मुंशी गुमानीरामजी' को भी नहीं भुला सकते जिन्होंने बहुत ही सरस भाषा में 'दीवाने हाफिज' जैसे सुप्रसिद्ध फारसी ग्रन्थ का हिन्दी दोहों में अनुवाद किया है।

राजस्थानी स्त्रियों द्वारा रचा साहित्य—

राजस्थान की स्त्रियों ने समय-समय पर जो रचनाएँ की हैं वे भी भुलाने के योग्य नहीं है। इनमें मीरांबाई का नाम सर्वोपरि है। मीरांबाई के पद न केवल राजस्थान में ही, किन्तु समस्त भारतवर्ष में आदरणीय समझे जाते हैं। सच तो यह है कि, महात्मा तुलसीदास की रामायण का प्रचार जैसे देशव्यापी है वैसे ही मीरांबाई के पद सर्वसाधारण हिन्दू जनता द्वारा गाये जाते हैं। मीरांबाई ने भक्ति का जो स्रोत बहाया है, वह राजस्थान को पुनीत करता हुआ सारे भारतवर्ष में फैल गया है। मीरांबाई के अतिरिक्त राजस्थान की महिलाओं के जो नाम साहित्य-रचना के सम्बन्ध में मिलते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—(१) गिरिराज

कुंवरि (२) जाड़ेचीजी श्री प्रतापबाला (३) तुलछराय (४) प्रताप कुँवरि (५) चन्द्रकला (६) बाघेली विष्णुप्रसाद कुंवरि (७) बाघेली रणछोड़ कुंवरि (८) बीरां (९) रसिकबिहारी (वनीठनी) (१०) रत्न कुंवरि (११) सहजो बाई (१२) सुन्दर कुंवरि (१३) समान-बाई आदि।

लोक साहित्य—

राजस्थान में लोक साहित्य का बड़ा प्रचार है जो कि, लोकगीतों, कहानियों, पहेलियों और कहावतों के रूप में प्रकट होता है। राजस्थान के अनुभवी पूर्वजों ने लोक-साहित्य की रचना इस ढंग से की कि, साधारण बोलचाल और व्यवहार में इसका प्रयोग सदैव होता रहता है। लोक-साहित्य सर्वसाधारण व्यक्तियों को हर समय कर्त्तव्य-कर्म की शिक्षा देने में अपना विशेष स्थान रखता है। विशेषता यह है कि लोक-साहित्य में परिणाम और अनुभूत सिद्धान्त भरे पड़े हैं जिनसे साधारण पढ़े-लिखे मनुष्यों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य की शिक्षा मिलती है।

(१) लोकगीत—राजस्थान के लोकगीतों की संख्या बहुत बड़ी है। हमारी माताएँ, बहनें, बेटियाँ और स्त्रियाँ रात-दिन इन्हें घर-घर में गाती हैं। खेती करता हुआ किसान, हल चलाता हुआ हलवाहा, भेड़ बकरी और गायों को चराता हुआ चरवाहा, जेली लिये जाता हुआ जाट, ऊँट पर यात्रा करनेवाला ओठी लोकगीतों द्वारा न केवल अपनी आत्मा को ही तृप्त करता है बल्कि सुननेवाले व्यक्तियों को भी कर्त्तव्य-कर्म और व्यवहारिक शिक्षा देने में समर्थ होता है। इन लोकगीतों का एक बृहत् संग्रह हाल में ही 'राजस्थान के लोकगीत' के नाम से 'न्यू राजस्थान प्रेस' से 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(२) कहावतें—राजस्थान की कहावतें एक ऐसी चीज हैं जिनमें अनुभवों का सार भरा हुआ है। यदि यह कहा जाय कि, कहा-वतों के रूप में गागर में सागर भर दिया गया है तो अत्युक्ति नहीं

है। राजस्थान की अनुभूत कहावतें मनुष्यों के लिये धर्मोपदेश का काम करती हैं।

(३) कहानियाँ—मौखिक कहानियाँ तो राजस्थान में इतनी अधिक सुनी जाती हैं जितनी शायद ही किसी अन्य प्रान्त में प्रचलित हों। माताएँ अपने बच्चों को कहानियाँ सुना-सुना कर न केवल उनका मनबहलाव ही करती हैं बल्कि उन्हें शिक्षा भी देती जाती हैं। जहाँ दस-पाँच आदमी बैठ जाते हैं, वहाँ कहानियों का शमा बँध जाता है और लोगों का मनो-रंजन और ज्ञान दोनों बढ़ते रहते हैं।

(४) पहेलियाँ—पहेलियाँ ऐसी चीज हैं कि, वह चित्तविनोद का काम तो विशेष रूप से करती ही है, पर साथ ही सुननेवाले व्यक्ति के लिये विचार करने की शक्ति का विकास भी करती हैं। इनका प्रचार राज-स्थान में बहुत देखा जाता है।

कथा एवं गल्प साहित्य—

राजस्थानियों ने जिस प्रकार अनेक विषयों में अपनी तेजस्विता दिखाई है, उसी प्रकार उनका गल्प साहित्य भी उनकी एक खास चीज है। यह साहित्य राजस्थान की भिन्न-भिन्न रियासतों में अपनी-अपनी बोली के आधार पर लिखा हुआ देखा जाता है। यह भण्डार भी बहुत विस्तृत है। इस गल्प-साहित्य में जो सब से अधिक विशेषता है वह यह है कि, उसमें बीच-बीच में दोहों और सोरठों का समावेश इस प्रकार किया गया है कि, उसमें बड़ी सरसता आ गयी है, जो अन्य भाषाओं के गल्प साहित्य में नहीं देखी जाती। राजस्थान की गल्पों में अनेकों वीरों के बलिदानों का इतिहास भरा पड़ा है। 'राजस्थानी बाताँ' नाम से कुछ गल्पों का संग्रह अभी हाल में ही प्रकाशित भी हुआ है। राजस्थान की गल्पें साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं।

राजस्थान में जिस समय आजकल के से नाटक और सिनेमाओं का प्रचार नहीं था, उस समय मारवाड़ी समाज ने अपने ख्यालों का बहुत अधिक प्रचार किया था। एक समय था कि, इस समाज में ख्यालों का बड़ा प्रचार रहा और उनके द्वारा हजारों व्यक्ति अपना चित्त-विनोद करते थे। ख्यालों का समय बहुत पुराना नहीं किन्तु कुछ ही वर्षों पूर्व तक बड़ी उन्नति में देखा जाता था। नाट्य-कला की दृष्टि से ख्यालों का महत्व कम नहीं था। उनमें सभी रसों का समावेश रहता था और सुननेवालों को इतिहास, साहित्य और संगीत का आनन्द एक साथ ही मिला करता था। ऐसे अनेकों व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने ख्यालों का साहित्य निर्माण कर ख्याति पाई है। उनमें हम देखते हैं कि, पं० प्रह्लादीराम पुरोहित, पं० झालीराम शर्मा, प्रेमसुख भोजक, गोविन्दराम दर्जी, वजीरा तेली और नानूलाल राणा के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। नानूलाल राणा के रचित ख्यालों का तो इतना अधिक प्रचार हुआ कि, उनसे हिन्दी के प्रचार में बहुत अधिक सहायता मिली। यह एक दूसरी बात है कि, ख्यालों का साहित्य सर्वथा निर्दोष न रहा हो और उनमें ऐसी बातें भी आ गयी हों जिनसे वास्तविक लाभ न भी हुआ हो परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि, इन ख्यालों द्वारा भी लोगों को बड़ी भारी व्यावहारिक शिक्षा मिला करती थी। कुछ वर्षों से ख्यालों का प्रचार बहुत कम हो गया है और लोगों की रुचि सिनेमाओं की तरफ झुक पड़ी है।

ख्यालों का साहित्य—

इतिहास निर्माण तो राजस्थान की बपौती कही जा सकती है क्योंकि वहाँ के काव्यों, गल्पों, गीतों एवं ख्यातों सब में ही तो इतिहास भरा पड़ा है। शायद ही कोई ऐसी रियासत या ठिकाना हो जिसकी 'ख्यात' और परम्परा का उल्लेख न पाया जाता हो। सारांश यह है कि, राजस्थान ही भारतवर्ष में एक ऐसा प्रान्त रहा है, जिसकी सहायता से भारतवर्ष का वास्तविक

इतिहास-निर्माण—

इतिहास लिखा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि, इतिहास की वास्तविक रचना अब तक सम्पूर्ण रूप से न हो सकी हो। तथापि इतिहास के उपकरण आज भी जितने अधिक राजस्थान में उपलब्ध हो सकते हैं, उतने अन्य स्थानों में नहीं। हम यहाँ पर राजस्थान के कतिपय प्रसिद्ध इतिहास-निर्माताओं का परिचय मात्र करावेंगे।

मुहणोत नैणसी—आप १८ वीं सदी के प्रारम्भ में जोधपुर में हुए थे। आप ओसवाल समाज के जगमगाते रत्न थे। आपका स्थान राजस्थान के इतिहास-निर्माताओं में बहुत ऊँचा है। आपने 'नैणसी की ख्यात' नामक वृहत् ग्रन्थ रचा है जो कि, आज भी इतिहास लिखनेवालों के लिये पथ-प्रदर्शन का काम करता है।

कविराजा दयालदासजी सिंढायच—आपका जन्म बीकानेर में हुआ था। आपने अपने नाम से 'दयालदासजी की ख्यात' लिख कर बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। यह इतिहास-ग्रन्थ भी राजस्थान के इतिहास-निर्माण में बड़ा प्रामाणिक माना जाता है।

कविराजा श्यामलदासजी—आपका उद्भव उदयपुर (मेवाड़) में हुआ था। आप साहित्य और इतिहास के महान् पंडित थे। इस बीसवीं सदी में भी आपकी ओजस्विता कुछ वर्षों तक मूर्तिमान् जगमगा रही थी। आपने अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वीर विनोद' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर न केवल राजस्थान का ही, किन्तु इतिहास-क्षेत्र में समस्त भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया। यह ग्रन्थ महाराणा उदयपुर की ओर से मुद्रित भी हुआ, किन्तु, खेद है कि, कतिपय राजनीतिक कारणों से यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका। इस ग्रन्थ की दो प्रति उदयपुर से बाहर होने का पता मिलता है जिनमें एक हस्तलिखित प्रति माननीय गौरीशंकरजी हीराचन्द ओझा के पास है और दूसरी मुद्रित प्रति ठा० किशोरसिंह बार्हस्पत्य, पटियालावालों के वंशधरों के पास है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ



मुहणोत नैणसी

आपका प्रादुर्भाव बूंदी में हुआ था। आप भी साहित्य और इतिहास के महान् ज्ञाता थे। आपने भी 'वीर सतसई' आदि अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त 'वंशभास्कर' नाम से एक वृहत् इतिहास-ग्रन्थ का निर्माण किया। यह ग्रन्थ जोधपुर से चार भागों में प्रकाशित भी हो चुका है। यह ग्रन्थ भी राजस्थान के इतिहास-निर्माण में बहुत अधिक सहायक समझा जाता है। इसकी टीका ठा० कृष्णसिंहजी सौदा बारहठ ने की है।

कविराजा सूर्यमल्लजी मिश्रण—

इस बीसवीं सदी के इतिहास-प्रेमियों में मुंशीजी का स्थान प्रमुख रहा है। राजस्थानी साहित्य को अपने लेखों और पुस्तकों द्वारा प्रकट कर हिन्दी भाषा का जितना उपकार उन्होंने किया है उतना शायद ही किसी ने किया हो। उनमें यह विशेषता और भी अधिक देखी जाती थी कि, इतिहास-प्रेमी कोई भी अदना से अदना व्यक्ति उनसे अपनी शंकाओं का समाधान करा सकता था। प्रायः २५ वर्ष पूर्व इस पुस्तक के लेखक ने अग्रवाल जाति के सम्बन्ध में पत्र द्वारा उनसे कई प्रश्न किये थे तो उन्होंने बहुत ही सन्तोषजनक उत्तर प्रदान किया था तथा राजस्थान की समस्त जातियों के इतिहास का एक वृहत् ग्रन्थ भी जो कि, उन्होंने संकलित किया था, भेज दिया था। इससे उनकी सहृदयता का पता लगता है। उन्होंने बीसों ग्रन्थ और सैंकड़ों प्रबन्ध लिखे। आज उनकी दी हुई निधि से काशी की 'नागिरी प्रचारिणी सभा' उनके स्मारक रूप एक ऐतिहासिक ग्रन्थमाला प्रकाशित कर रही है। उनका संग्रहालय तो जोधपुर में सर्वोपरि था।

मुंशी देवीप्रसादजी—

आज के इतिहास-क्षेत्र में जो सम्मान ओझाजी को प्राप्त है वह किसी से छिपा नहीं है। सच तो यह है कि, पुरातत्वानुसंधान और इतिहास-निर्माण में आप राजस्थान के देदीप्यमान रत्न हैं। प्राचीन लिपियों की पहिचान और अनुसंधान के लिये तो

महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकरजी हीराचन्द ओझा—

आप सर्वोपरि समझे जाते हैं। आप सिरोही राज्य के निवासी हैं और वर्तमान में अजमेर में रहते हैं। आपने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य से मारवाड़ी समाज का जो गौरव बढ़ाया है, वह अद्वितीय है। 'राजपूताने का इतिहास' और 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' आदि ग्रन्थ आपकी महान् प्रतिभा और गंभीर गवेषणा के परिचायक हैं। हर्ष की वात है कि, समस्त हिन्दी संसार ने 'ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ' नामक एक वृहत् गन्थ आपको समर्पित कर आपका अभिनन्दन किया है।

पं० रामकर्णजी आसोपा—

आप जोधपुर के निवासी हैं। इस समय आपकी अवस्था ८० वर्ष के ऊपर होने पर भी आप ऐतिहासिक खोज करते रहते हैं। शिलालेखों के पढ़ने में आपका स्थान अद्वितीय समझा जाता है। आपने मारवाड़ राज्य का एक वहुत ही प्रामाणिक इतिहास लिखा है। आपकी विद्वत्ता पर कलकत्ते के ख्यातनामा विद्वान् सर आशुतोष मुखर्जी ने मुग्ध होकर आपको कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रोफेसर नियुक्त किया था। आपने डिंगल भाषा के कोश-निर्माण में वहुत ही श्लाघनीय परिश्रम किया है।

स्व० पूरणचन्दजी नाहर—

कलकत्ते के मारवाड़ियों में स्वर्गीय पूरणचन्द जी नाहर का स्थान ऐतिहासिक विषय में सर्व प्रधान कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। आपने इतिहास-ग्रन्थों, शिलालेखों और अन्य उपकरणों के संग्रह के साथ-साथ 'ऐतिहासिक जैन लेख संग्रह' नामक ग्रन्थ का कई भागों में सम्पादन कर इतिहास-निर्माण का भी बहुत बड़ा कार्य किया है। आपका स्थापित किया हुआ पुस्तकालय मारवाड़ी समाज के लिये तो गौरव की वस्तु है ही पर वह सारे भारतवर्ष के विद्वानों के लिये तीर्थ-क्षेत्र भी है।

उपर्युक्त विद्वानों के अलावा पण्डित गोपाललालजी व्यास, झालरापाटन एवं श्री जगदीशसिंहजी गहलोत आदि अन्य अनेक विद्वान् भी इतिहास-निर्माण के पवित्र कार्य में लगे हुए हैं, जिन सब का उल्लेख करने में हम असमर्थ हैं।

राजस्थान के साहित्य-क्षेत्र में जयपुर के सर गोपीनाथजी पुरोहित, पं० हरिनारायणजी पुरोहित, पं० गिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी और बीकानेर के पण्डित सूर्यकरणजी पारीक, प्रो० नरोत्तमदासजी स्वामी, ठा० रामसिंहजी, अगरचन्दजी नाहटा और भँवरलालजी नाहटा एवं पटियाला के ठा० किशोरसिंहजी वार्हस्पत्य आदि के नाम भी बहुत प्रसिद्ध हैं।

प्रवासी मारवाड़ी समाज के कुछ साहित्य-सेवी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र— हम यहाँ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में सर्व प्रथम लिखना उचित समझते हैं। हमने पहले बतलाया है कि, उनके पूर्वज मारवाड़ से चल कर पहले दिल्ली और बाद बंगाल में आये थे। मारवाड़ी समाज को ही यह गौरव भी प्राप्त है कि, वर्तमान हिन्दी भाषा के जन्मदाता भारतेन्दुजी ही माने जाते हैं। भारतेन्दुजी के विषय में हम क्या लिखें? सारा हिन्दी-संसार आज उनके नाम पर मोहित है। वे जितने बड़े गद्य के लेखक थे, उतने ही बड़े कवि भी थे। उन्होंने अपनी ३४ वर्ष की उम्र में प्रायः १७५ ग्रन्थ लिखे। उनके सम्बन्ध में विशेष कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है।

लाला श्रीनिवासदास— मारवाड़ी समाज के साहित्य-सेवियों में दिल्ली के रईस लाला श्रीनिवासदासजी का प्रमुख स्थान था, यदि हम यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। विक्रमी संवत् १९०० के पश्चात् मारवाड़ी समाज ने कतिपय ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न कीं कि, हिन्दी संसार में उन्होंने बहुत अधिक काम किया। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विक्रमी संवत् १९०८ में जन्म धारण कर हिन्दी संसार में आचार्य पद प्राप्त किया उसी प्रकार उसी वर्ष लाला श्रीनिवासदास का भी आविर्भाव हुआ। ये दोनों समकालीन थे और साहित्य-सेवी भी। भारतेन्दु ने ३४ वर्ष की अवस्था में अपनी ईहलीला संवरण

की तो इन्होंने ३६ वर्ष में अपना कार्य समाप्त किया। परन्तु इस अल्प काल में ही इन दोनों आत्माओं ने हिन्दी की जो सेवाएँ कीं वह इतिहास में अमर रहेंगी।

लाला श्रीनिवासदासजी के पूर्वज सुप्रसिद्ध फर्म पारखजीवालों के यहाँ गुमाश्तागिरी करते थे। यही कारण था कि, श्रीनिवासदासजी ने भी प्रखर बुद्धि होने के कारण २१ वर्ष की अवस्था में ही पारखजीवालों की कोठी का काम प्रधान रूप से सँभालना शुरू कर दिया था। आपकी अभिरुचि जितनी अधिक साहित्य में रहती थी उतनी ही वाणिज्य-व्यापार में प्रकट होती थी। आप २२ वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मजिष्ट्रेट बनाये गये। आपने संवत् १९०८ में जन्म धारण कर १९४४ तक ३६ वर्ष की अल्पायु में अनेक ग्रन्थ रचे जिनमें 'तप्तासवरण' 'संयोगिता स्वयंबर' 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'परीक्षा गुरु' आदि कई ग्रन्थ उच्च कोटि के हैं। इतना ही नहीं, आज इस जमाने में भी उन ग्रन्थों की समता करनेवाली शायद ही कोई रचना पाई जाती हो।

लेखक को अपनी किशोरावस्था में उपन्यास पढ़ने की एक धुन सवार थी और किसी भी प्राप्त उपन्यास का पढ़ना उसके लिये अनिवार्य सा हो गया था—उस समय स्वर्गीय शिवप्रसादजी सराफ ने लाला श्रीनिवासदासजी लिखित 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक और 'परीक्षा गुरु' दो पुस्तकें लाकर दीं और पढ़ने को कहा। सच तो यह है कि, इन दोनों पुस्तकों को पढ़ लेने के बाद उसने अन्य नाटकों और उपन्यासों को पढ़ना ही छोड़ दिया। लाला श्रीनिवासदासजी लेखक होने के साथ-साथ उच्च कोटि के भावुक कवि भी थे। आपकी कृतियाँ मौलिक, व्यावहारिक और अनुभूत सिद्धान्तों से भरी हुई होती थीं। खेद है कि, आपके जैसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अब समाज में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं।



स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्तजी व्यास

साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्तजी व्यास—

मारवाड़ी समाज की स्वाभाविक प्रतिभा का तो इसी बात से पता लगता है कि, जिसमें साहित्याचार्य, घटिकाशतक पंडित अम्बिकादत्तजी व्यास जैसे साहित्यसेवी प्रगट हुए थे। आपकी प्रतिभा महान् थी। आप में वह दैवी शक्ति विद्यमान थी कि, तत्काल रचना करने में आपने आश्चर्य-जनक नाम पैदा किया था।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द—

हमने पहले बतलाया है कि, इनके पूर्वजों ने मुर्शिदाबाद के नवाबों के समय बंगाल की राजनीति में प्रमुख स्थान पाया था। इसके बाद यह घराना जब काशी में जा बसा तो इनकी भी बहुत अधिक ख्याति हुई। ये भी इतिहास के बहुत प्रेमी थे। इन्होंने 'इतिहास तिमिरनाशक' आदि कई पुस्तकें और फुटकर लेख लिखे।

सेठ अर्जुनदासजी केडिया—

आप बीकानेर राज्यान्तर्गत रतननगर के रहनेवाले उस केडिया वंश के रत्न थे जिसने वैश्य होते हुए भी समय-समय पर क्षत्रियत्व का तेज प्रकट किया था। अर्जुनदासजी में काव्य-रचना की बड़ी शक्ति थी। आप हिन्दी काव्य के बड़े मर्मज्ञ समझे जाते थे। आपकी रचनाएँ बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों से आदर पाती थीं। आपकी फुटकर कविताओं का तो कहना ही क्या। इनके अतिरिक्त आपका लिखा हुआ 'भारती-भूषण' नामक ग्रन्थ आज हिन्दी संसार में एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है।

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार—

सुप्रसिद्ध सेठ 'ताराचन्द घनश्यामदास' के वंशधर सेठ कन्हैया-लालजी पोद्दार का स्थान यदि यह कहा जाय कि, बड़े-बड़े साहित्य-विशारदों से कम नहीं है तो यह अत्युक्ति नहीं होगी। आप अलंकार के इतने मर्मज्ञ विद्वान् हैं जिसकी आचार्य पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने एक समय अतुलनीय प्रशंसा की थी। आपके रचे हुए काव्य-ग्रन्थों में 'काव्य कल्पद्रुम' आदि

ग्रन्थ बड़े महत्व के समझे जाते हैं और हिन्दी की कई परीक्षाओं में पाठ्य ग्रन्थों की तरह पढ़ाये जाते हैं। हाल ही में आपका लिखा 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

डा० भगवानदासजी—

काशी के डा० भगवानदासजी का स्थान दार्शनिकता में अद्वितीय समझा जाता है। आपके पूर्वजों ने बंगाल में आकर १८ वीं सदी में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। व्यापारिक-क्षेत्र में 'शिवगोपालदास मनोहरदास' का फर्म बहुत प्रसिद्ध रहा है। उसी फर्म के मनोहरदासजी के नाम पर 'मनोहरदास का कटरा' कलकत्ते में आज भी प्रसिद्ध है। भगवानदासजी की गणना भारत के ख्यातनामा दार्शनिक विद्वानों में है।

बाबू रूड़मलजी गोयनका—

कलकत्ते के मारवाड़ी समाज के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि, बाबू रूड़मलजी पहले साहित्य-सेवी थे तो यह उचित ही होगा। रूड़मलजी ही में यह विशेषता रही कि, बाहर से आया हुआ कोई भी विद्वान् उनसे मिले बिना नहीं जाता था। उनका साहित्य-संग्रह एक बहुमूल्य चीज थी जिसे उन्होंने 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' को प्रदान कर दिया।

बाबू बालमुकुन्दजी गुप्त—

हिन्दी संसार में ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति होंगे जिन्होंने बालमुकुंद गुप्त जैसी सेवा की हो। आप सिद्धहस्त पत्रकार थे। आप में यह विशेषता देखी जाती थी कि, किसी भी विषय की आलोचना-प्रत्यालोचना करते थे तो बड़े-बड़े विद्वानों के छक्के छुड़ा देते थे। 'भारतमित्र' के सम्पादक रहते हुए आपने विभक्ति प्रत्यय के सम्बन्ध में 'आत्माराम' के नाम से जो आलोचना की थी, वह हिन्दी संसार में एक विशेष बात थी। आपकी रचना में विनोद की मात्रा भी बहुत अधिक रहा करती थी। आप राजनीतिक चुटकियाँ तो ऐसी लिया करते थे कि, आपकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं था। इसका प्रमाण आपका लिखा हुआ 'शिवशंभु का चिट्ठा' हैं। बाल-



साहित्य रसिक सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार, मथुरा

मुकुन्दजी ने कलकत्ते के मारवाड़ी समाज की 'भारतमित्र' पत्र का सम्पादन करते हुए बड़ी भारी सेवा की। आपने अनेकों ग्रन्थ भी लिखे।

राधाकृष्णजी टीवड़ेवाला— इनके सम्बन्ध में इतना ही लिखना है कि, आज के पचास वर्ष पूर्व जिस समय मारवाड़ी समाज में समाचार-पत्रों के महत्व का बहुत कम ज्ञान था उस समय इन्होंने अपनी आर्थिक अवस्था अच्छी न होने पर भी अपने जीवन का लक्ष्य साहित्य-सेवा और समाचार-पत्र प्रकाशित करना बना लिया था। इन्होंने पहले-पहल 'मारवाड़ी व्यापारी' और बाद में 'बड़ाबाजार गजट' नामक पत्र प्रकाशित किये। तत्पश्चात् अपने निज का 'कृष्ण प्रेस' खोल कर साप्ताहिक 'मारवाड़ी' अपने जीवन पर्यन्त चलाते रहे। लेखक का सम्बन्ध इनसे बहुत रहा है। इनमें यह धुन विशेष रूप से देखी जाती थी कि, इधर-उधर से जो कुछ प्राप्त होता, वे इसी में लगा देते थे। इन्हें मारवाड़ी समाज का प्रथम पत्रकार कह सकते हैं।

रामप्रतापजी भुवालका— ये साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति थे, परन्तु अनुभवी बहुत थे। व्यापारिक और सामाजिक अनुभव के आधार पर व्यवहारोपयोगी विषयों का लक्ष्य कर इन्होंने 'शिक्षादर्पण' नामक एक पुस्तक लिख कर प्रकाशित की थी। इस पुस्तक का प्रचार उस समय के मारवाड़ी समाज में बहुत अधिक हुआ। एक समय यह पुस्तक मारवाड़ी समाज में एक अच्छे मास्टर का काम करती थीं।

शिवचन्द्रजी भरतिया— इनकी गणना मारवाड़ी समाज के इने-गिने साहित्यिकों में होती थी। इन्होंने न केवल अनेक पुस्तक ही लिखीं बल्कि 'वैश्योपकारक' आदि पत्रों का सम्पादन भी किया। ये कई भाषाओं के जानकार थे।

आप फतहपुर के रहनेवाले थे। आपमें काव्य-रचना का माद्दा विशेष देखने में आता था। आपकी रचनायें अधिकांश में भक्ति-रस की हैं। आपके पुत्रों ने आपके सारे ग्रन्थ प्रकाशित भी कर दिये हैं। साहित्य-सेवा के साथ-साथ आप बड़े भारी समाज-सेवी और सहृदय महानुभाव थे। आप से जो मिला, वह आपका ही हो गया। आपका राज-काज में विशेष प्रभाव देखा जाता था। यह प्रभाव आज भी आपके वंश में बना हुआ है। आपके सभी पुत्र-पौत्र सुशिक्षित और समाज-सेवी हैं। आपके पौत्रों में श्री श्रीगोपालजी नेवटिया अच्छे कवि और लेखक हैं। इन्होंने भी कई ग्रन्थ लिखे हैं।

रामदयालजी नेवटिया—

आप माहेश्वरी समाज के उदीयमान नक्षत्र हैं। आप बराबर वृन्दावन में ही निवास करते हैं। आप राजनीति और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हैं। हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, सम्पादन और लेखन आपकी एक खास महत्ता है। लिखने का तात्पर्य यह है कि, इस विषय के ग्रन्थों का दान आपकी ही ओर से हिन्दी-साहित्य को मिला है। आपकी विद्वत्ता से मारवाड़ी समाज गौरवान्वित है।

भगवानदासजी केला—

ये जितने संस्कृत के विद्वान् थे, उतने ही हिन्दी के ओजपूर्ण लेखक भी थे। विशेषता यह थी कि, किसी विषय की ठकुरसुहाती आलोचना न कर वास्तविक समालोचना किया करते थे। यदि यह कहा जाय कि, उस समय हिन्दी में प्रबन्ध रचना के ये आचार्य थे, तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

पं० माधवप्रसादजी मिश्र—

ये पंडित माधवप्रसादजी के अनुज थे, परन्तु विद्या बुद्धि में उनसे कम नहीं थे। ये जितने मार्मिक लेखक थे, उतने ही ओजस्वी वक्ता भी थे। इनकी रचित राष्ट्रीय कविताएँ तो उन दिनों सर्वथा एक नई चीज समझी जाती थी।

पं० राधाकृष्णजी मिश्र—



स्वर्गीय सेठ अर्जुनदासजी केड़िया



हनुमानप्रसादजी पोद्दार— ये बीकानेर राज्यान्तर्गत रतनगढ़ के रहनेवाले हैं। इनके पूर्वज कलकत्ते में कपड़े का काम करते थे। हनुमानप्रसादजी ने अपनी किशोरावस्था में ही हिन्दी लिखने-पढ़ने में अतिशय मन लगाया। धारणा शक्ति बहुत थी। लेखक का परिचय इनसे उसी समय से है जब कि, ये समाचार-पत्रों में छोटे-छोटे लेख लिखने लगे थे। यदि यह कहा जाय कि, उस समय के मारवाड़ी नवयुवकों में सब से अच्छी हिन्दी इनकी ही होती थी, तो यह उचित ही है।

स्वदेशी आन्दोलन के समय इन्होंने राजनीति में भी भाग लिया। एक बार बंगाल सरकार ने कतिपय अन्य मारवाड़ी नवयुवकों के साथ इन्हें निर्वासित भी कर दिया था। वहाँ से छुटने पर ये भक्तराज जयदयालजी गोयनका के सम्पर्क में आये। * कई वर्ष बम्बई में रह कर व्यवसाय करते रहे परन्तु आर्थिक सफलता प्राप्त नहीं कर सके। इनकी रुचि आध्यात्मवाद की ओर बढ़ने लगी। वहीं से इन्होंने 'कल्याण' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना शुरू किया, जो अब गोरखपुर गीता प्रेस से बड़ी उन्नति के साथ निकलता है और एक दृष्टि से हिन्दी का सर्व-श्रेष्ठ मासिक पत्र समझा जाता है। इसकी ग्राहक संख्या इतनी है जितनी कि, हिन्दुस्थान के किसी भी मासिक पत्र की शायद ही हो। इसका प्रचार

---

* भक्तराज जयदयालजी गोयनका बीकानेर राज्य के चूरू शहर के रहनेवाले हैं। मारवाड़ी समाज में आपकी गणना गृहस्थाश्रम में होते हुए भी सन्त पुरुषों में होती है। आपके द्वारा समाज का लौकिक और पारलौकिक उपकार होता देखा जाता है। आपके अनुयायी भी बहुत हैं। आप में यह विशेपता है कि वेदान्त के सिद्धान्तों को मानते हुए भी कर्म-योग को बहुत अधिक महत्व देते हैं। आपका कहना है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में रह कर भी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस समय आप मारवाड़ी समाज के गौरव समझे जाते हैं।

भी हिन्दुस्थान के सब प्रान्तों में विशेष रूप से है। श्री हनुमानप्रसादजी आजकल गोरखपुर में रहते हुए निःस्वार्थ भाव से इस मासिक पत्र का सम्पादन करते हैं और अपने सदुपदेशों द्वारा बहुतों को उपकृत करते हैं। आपका व्यावहारिक और आध्यात्मिक ज्ञान दिन-प्रति-दिन वृद्धि प्राप्त कर रहा है। आपने अपना जीवन इतना सादा बना लिया है कि, समाज के लिए अनुकरणीय हो रहा है। आपके लिखे हुए 'प्रेम-दर्शन' आदि कई एक अमूल्य ग्रन्थ हिन्दी भाषा में आध्यात्मिक और भक्ति-रस के साहित्य की वृद्धि कर रहे हैं। सच तो यह है कि, हनुमानप्रसादजी का स्थान इस समय मारवाड़ी समाज में महान् समझा जाने लगा है।

पं० झावरमलजी शर्मा— आप में हिन्दी-प्रेम बचपन से ही देखा जाता है। आपका कार्य-काल 'कलकत्ता समाचार' से शुरू होता है। इतिहास से आपको बहुत प्रेम है। इतिहास सम्बन्धी पुस्तकें जहाँ से भी प्राप्त हो सकती हो, आप संग्रह कर लेते हैं। आपने खेतड़ी और सीकर राज्यों का इतिहास लिखा है और इस समय शेखावटी का एक वृहत् इतिहास लिख रहे हैं।

पं० हनुमानदत्तजी जोशी— इनका बाल्यकाल यद्यपि संकट का रहा तथापि इस समय अपने बुद्धि बल से अपनी अच्छी उन्नति कर ली है। ये जितने हिन्दी के अच्छे लेखक हैं, उतने ही ओजस्वी वक्ता भी देखने में आते हैं। इस समय कई वर्षों से कलकत्ते में 'मारवाड़ी ब्राह्मण' नामक साप्ताहिक पत्र का संचालन और सम्पादन निज का प्रेस खोल कर स्वतन्त्रता से करते हैं।

उपर्युक्त साहित्य सेवियों के अतिरिक्त राजस्थान में तथा वृटिश भारत में ऐसे अनेक प्रतिभासम्पन्न साहित्य-सेवी और भी हुए हैं और हैं, जिनका उल्लेख करना भी आवश्यक है परन्तु पुस्तक के विस्तार-भय से हम ऐसा नहीं कर सके, इसका हमें खेद है। आशा है वे सज्जन हमें क्षमा करेंगे।

उपसंहार

इस ग्रन्थ के आठ अध्यायों में हमने अब तक जो वर्णन किया है, उससे पाठक समझ सकेंगे कि, देश के इतिहास में मारवाड़ी जाति का क्या स्थान है और उसकी अपनी रीति-नीति एवं संस्कृति समय-समय पर कैसी रही है।

अब इस पुस्तक को समाप्त करने के पूर्व उपसंहार के रूप में विशेष कुछ न लिख कर हमें केवल समाज के प्रति कुछ विशेष निवेदन करना है और वह यह है कि, यद्यपि मारवाड़ी जाति का पूर्वेतिहास महान् है और वर्त्तमान समय में भी उसकी देशव्यापी ख्याति हो रही है, तथापि यह कहना अनुचित नहीं है कि, समय जिस प्रकार तेजी से बदल रहा है और संसार में अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्जातीय दृष्टिकोण जिस प्रकार दूषित होता नजर आ रहा है, उससे यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है कि, हो न हो संसार में कोई भारी परिवर्तन होनेवाला है। ऐसी परिस्थिति में किसका अस्तित्व रहेगा और किस का नहीं, यह कहना कठिन है। लक्षणों से तो यही प्रतीत होता है कि, जो देश अथवा जो समाज समय रहते पहले से ही सावधान हो जायगा और अपना सर्वतो-मुखी संगठन बनाये रख सकेगा, उसका अस्तित्व रहेगा और जो देश अथवा समाज समय रहते सावधान न होकर लापर्वाह बना रहेगा, उसका अस्तित्व रहना कठिन हो जायगा। आज चाहे इस तथ्य को कोई अनुभव करे या नहीं, पर हमारी दृष्टि में तो जो वातावरण इस समय तैयार हो रहा है उसका नतीजा बहुत शीघ्र हमारे सामने आवेगा।

मारवाड़ी समाज की विशेषता इसी में है कि, वह समय रहते इस कठिन परिस्थिति का अनुभव करे और सावधान एवं सतर्क होकर

जातीयता की भावना के आधार पर अपना सुसंगठन कर ऐसा कर्त्तव्य कर्म निर्धारित करे, जिससे वह अपने पूर्व गौरव और अस्तित्व की रक्षा कर सके।

यह एक ऐतिहासिक सत्य और अनुभव सिद्ध बात है कि, चाहे कोई भी राष्ट्र या समाज क्यों न हो उसकी महानता, उसकी वास्तविकता और उसका अपना असलीपन तबतक ही कायम रह सकता है जब तक कि उसकी संस्कृति का तिरोभाव न हो। इतिहास इस बात का साक्षी है कि, अवसर विशेष के कारण समय समय पर अनेक बार संसार की बड़ी बड़ी जातियों और बड़े बड़े राष्ट्रों में बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं, परन्तु इस प्रकार महान् से महान् परिवर्तन होने पर भी जो जाति अथवा जो देश अपनी संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ रहा है, उसका पुनरुत्थान होते देर नहीं लगी। परन्तु जिस समाज अथवा राष्ट्र ने अपनी संस्कृति की रक्षा नहीं की अथवा उसकी रक्षा करने की पर्वाह नहीं की और किसी दूसरी शक्ति के आधीन बन कर उसके ही रंग में रंग गया, उसका नामो-निशान भी नहीं रहा, उसे संसार में आज कोई याद भी नहीं करता। इस दृष्टि से अपनापन बनाये रखने के लिए मारवाड़ी समाज को पहले से सतर्क और सावधान बन कर कार्य करना होगा। हम जानते हैं और हमने पूर्व प्रकरणों में खेद के साथ बतलाया है कि, कुछ वर्षों से समाज में विघटन हो रहा है और उसका सिरधरू कोई नहीं है और उसका परि-णाम यह हो रहा है कि, समाज अवनति की ओर जाने लगा है। अवश्य ही यह खेद जनक बात है, तथापि समाज का यह विघटन अमिट है, यह मान लेने के लिए हम तैयार नहीं हैं। हमारा अनुभव है और हम दावे के साथ कह सकते हैं कि, समाज में आज जो विघटन नजर आ रहा है उसमें सिवाय कुछ व्यक्तियों की नासमझी के सिद्धान्त कुछ भी नहीं है और हमने इस विषय का इधर में भले प्रकार अनुभव भी किया है कि दैव-दुर्विपाक से समाज में जो अनैक्य आ गया है उसका खेद जनक

अनुभव समाज के सभी फिर्कों के व्यक्ति करने लगे हैं। अब आवश्यकता केवल यही है कि, समाज में कोई ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जो कि समाज में जातीयता की भावना पैदा करे और समाज के सर्वसाधारण व्यक्ति यह समझने लगें कि इस ब्रिटिश भारत में हमारा अस्तित्व गौरव के साथ तभी रह सकता है जब कि हम अनैक्य को छोड़ कर जातीयता के रंग में रंग जांय और व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा जातीय स्वार्थों को विशेष महत्व देने लगें। हमारी राय में मारवाड़ी समाज के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है। पाठक पहले के उद्धरणों से जान चुके हैं कि मारवाड़ी समाज ने बराबर ही "जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी हि दीजै" का अनुसरण किया है और जिस समय जैसी आवश्यकता हुई है उसी तरह अपनी स्थिति को सम्हाला है। इसके सिवा मारवाड़ी जाति में यह स्वाभाविक विशेषता रही है कि जिस कार्य को उसे करना होता है वह कार्य वह सहज में सम्पन्न कर लेती है। जहां अन्य समाजों के व्यक्तियों को किसी कार्य को सफल बनाने में वर्षों लगाने पड़ते हैं वहां मारवाड़ी समाज के व्यक्ति उसे बहुत शीघ्र कर लेते हैं। इत्यादि बातें ऐसी हैं कि, मारवाड़ी समाज सचेत और कर्त्तव्यपरायण बनाने में सहायक सिद्ध हो सकें। हमें आशा ही नहीं किन्तु पूर्ण भरोसा है कि मारवाड़ी समाज बहुत शीघ्र अपना दृष्टिकोण बदल कर आवश्यकता के अनुसार अपना सामाजिक संगठन करने में समर्थ होगा और वह देखेगा कि इस कठिन परिस्थिति में भी उसका भविष्य उज्ज्वल है।

समाज के प्रति हमें यह भी कहना है कि जिस प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में हमने अब तक लिखा है उसकी रक्षा हमें विशेष सावधानी से करनी होगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि, हम अपनी प्राचीन संस्कृति के पीछे इतने बेखबर बन जांय कि वर्तमान समय की रफ्तार की ओर ध्यान ही न दें। यदि प्राचीन संस्कृति की ओर ही हम झुकेंगे और नवीन सुधारों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों को न अपनावेंगे तो भी हम किसी

काम के न रहेंगे। आवश्यकता तो यह है कि हम, अपनी संस्कृति की रक्षा सिद्धान्त रूप से करें और उसे ठोस सिद्धान्त मान कर सभी प्रकार के नवीन सुधारों की ओर बढ़ें तभी हमारा अस्तित्व रहेगा और हम संसार को दिखा सकेंगे कि हमारी संस्कृति महान् है और हम उसकी रक्षा करते हुए संसार के सभी वर्तमान सुधारों में सफलता के साथ भाग ले सकते हैं।

एक बात और भी ध्यान देने की है और वह यह है कि, आधुनिक संसार आज जिस प्रकार वैज्ञानिक नये नये ढङ्ग से आगे बढ़ रहा है और नाना प्रकार की नयी नयी उन्नतियां दीख पड़ती हैं, उसके साथ ही साथ हम यह कहे बिना भी नहीं रहेंगे कि,संसार के व्यक्तियों का नैतिक ह्रास भी होने लगा है। आज "प्राण जाय पर प्रण नहिं जाई" की भा[illegible] घटती जा रही है। लोग क्षणिक स्वार्थ के वशीभूत होकर नैतिकता [illegible] भूल रहे हैं। राजस्थान की यह विशेषता थी कि, अपनी बात को बनाये रखने के लिये उसने कभी नैतिकता का परित्याग नहीं किया अपनी बात बनाये रखने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया [illegible] जाति उसी राजस्थान की सन्तान है। उसे इसके लिए स[illegible] को [illegible] होगा कि, सर्वस्व चला जाय पर वह किसी भी क्षणिक व्य[illegible] है स्वार्थ के पीछे अपनी नैतिकता का परित्याग न करें। यदि मारवा[illegible]ाज उपर्युक्त कतिपय सिद्धान्तों पर आरूढ़ रहा तो उसका भविष्य उज्ज्वल है और उसका मंगल ही मंगल है। परमात्मा जाति भाइयों को सुबुद्धि दे और इस प्राचीन एवं अपनी मान-मर्यादा रखनेवाली जाति का कल्याण करे।

॥ ॐ शान्तिः ॥ शान्तिः ॥ शान्तिः ॥